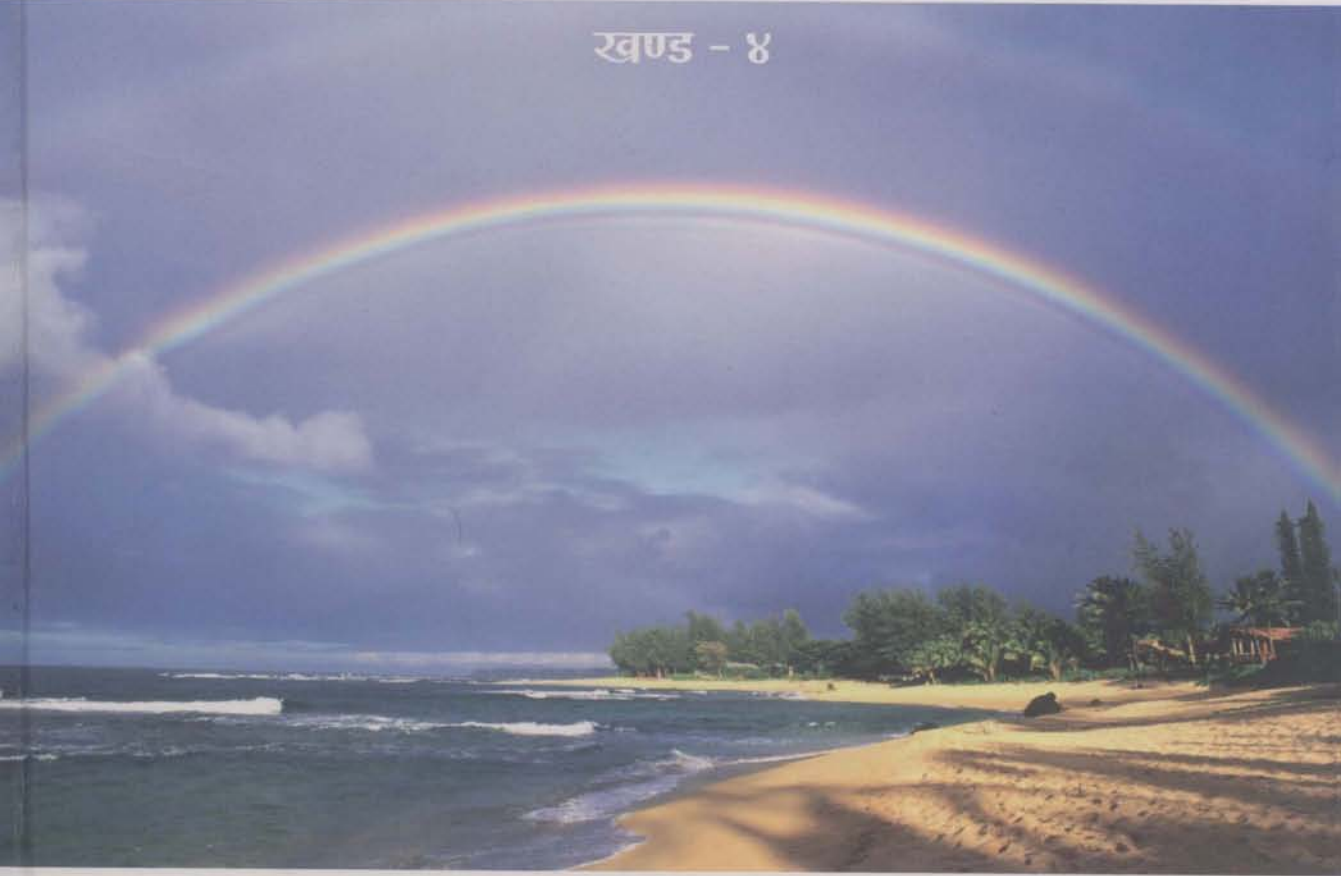


हिन्दीविवेचनसमन्वित
तत्त्वबोधविधायिनी टीकालङ्कृत

॥ सन्मति - तर्कप्रकरण ॥

खण्ड - ४



सूत्रकार :
सिद्धसेन दिवाकरसूरि

वृत्तिकार :
तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरि

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कलिकुण्ड
धोलका - ३८७८१०



શ્રી ઉમરા શ્વે. મૂ. જૈન સંઘ મંડળ



શ્રી પદ્મપ્રભસ્વામી ભગવાન
ઉમરા (સૂરવ)



मेरा मुझ में कछु नाहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सोंपतें, क्या लागत है मेरा ॥

युवाशिविर के आद्यप्रणेता
परम पूज्य भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा के
चरणों में
सादर समर्पण

श्री शंखेश्वरपार्थनाथाय नमः

श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि विरचित

सन्मति - तर्कप्रकरण

श्री तर्कपञ्चानन-वादिमुख्य-अभयदेवसूरि विरचिता

तत्त्वबोधविधायिनी वृत्ति

(द्वितीयः काण्डः)

आ० जयसुंदरसूरि कृत

हिन्दी विवेचन

[चतुर्थ खण्ड]

आशिषदाता : न्यायविशारद आचार्यश्री विजयभुवनभानु सू.म.

एवं सिद्धान्तदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यश्री विजय जयघोष सू.म.सा.

आर्थिक लाभार्थी : श्री उमरा जैन श्वे० संघ, उमरा, सूरत-७

प्रकाशक : दिव्यदर्शन ट्रस्ट

C/o, कुमारपाळ वि. शाह

३९, कलिकुंड सोसायटी, कलिकुण्ड तीर्थ, धोळका - ३८७४१०, गुजरात

प्रथमावृत्ति

वि.सं.२०६६

प्रति ३००

* सा विद्या या विमुक्तये *

प्रथमावृत्ति

वीर नि.सं.२५३६

विक्रमसंवत्-२०६६

प्रति ३००

सन्मतितर्कप्रकरण

[सर्वाधिकार श्रमणप्रधान जैन संघ को स्वायत्त]

★ प्राप्तिस्थान ★

१. दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ३९, कलिकुंड सोसायटी, धोळका-३८७४१०
२. श्री भुवनभानुसूरि ज्ञानमंदिर -- दिव्य दर्शन ट्रस्ट, C/o कल्पेश वि. शाह
२९, ३० वासुपूज्य बंगलोझ, फन रिपब्लिक के सामने, रामदेव नगर चार रस्ता,
सेटेलाईट, अमदावाद. फोन : ०७९-२६८६०५३१
३. श्रेयस्कर अंधेरी गुजराती जैन संघ,
श्री आदिपार्थ जिनालय, जय आदिनाथ चोक, करमचंद जैन पौषधशाळा,
एस.वि.रोड, इरला, विलेपार्ले (वे.), मुंबई-४०००५४

मुद्रक : श्री पार्थ कोम्प्युटर्स, ५८ पटेल सोसायटी, जवाहर चोक, मणिनगर, अमदावाद-३८०००८

आ.श्री भुवनभानुसूरिजन्मशताब्दीवर्ष

परमोपकारी सुविशुद्धब्रह्ममूर्ति कर्मसाहित्य निष्णात, चारित्र सभ्राट
सिद्धान्तमहोदधि सुविशाल गच्छाधिपति सकल संघ समाधिदाता प.पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में भावपूर्ण वन्दनावलि

धन्यवाद-अभिनंदन

वि.सं. २०६५ के चातुर्मासार्थ बिराजमान पू.आचार्य जयसुंदर सू. के बहुमानार्थ
श्री उमरा जैन संघ-सूरत ने अपनी ज्ञाननिधि में से विशाल धनराशि का
सद्व्यय किया है - एतदर्थ उस संघ को सहस्रशः धन्यवाद ।

आशिवचन

प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानु सू.म.सा.

दुष्काल में घेवर मीले वैसा यह 'सम्मति-तर्क०' टीका-हिंदी विवेचन ग्रन्थ आज तत्त्वबुभुक्षु जनता के करकमल में उपस्थित हो रहा है । आज की पाश्चात्य रीतरसम के प्रभाव में प्राचीन संस्कृत-प्राकृत शास्त्रों के अध्ययन में व चिंतन-मनन में दुःखद औदासीन्य दिख रहा है । कई भाग्यवानों को तत्त्व की जिज्ञासा होने पर भी संस्कृत, प्राकृत एवं न्यायादि दर्शन के शास्त्रों का ज्ञान न होने से भूखे तड़पते हैं, ऐसी वर्तमान परिस्थिति में यह तत्त्वपूर्ण शास्त्र, प्रचलित भाषा में एक पक्वान्न-थाल की भांति उपस्थित हो रहा है।

दरअसल राजा विक्रमादित्य को प्रतिबोध करने वाले महाविद्वान् जैनाचार्य श्री सिद्धसेनदिवाकर महाराज ने जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद-अनेकांतवाद का आश्रय कर एकांतवादी दर्शनों की समीक्षा व जैनदर्शन की सर्वोपरिता की प्रतिष्ठा करने वाले श्री संमतितर्क (सन्मति तर्क) प्रकरण शास्त्र की रचना की। इस पर तर्कपंचानन वादी श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने विस्तृत-व्याख्या लिखी जिसमें बौद्ध-न्याय-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसकादि दर्शनों की मान्यताओं का पूर्वपक्षरूप में प्रतिपादन एवं उनका निराकरण रूप में उत्तर पक्ष का प्रतिपादन ऐसी तर्क पर तर्क, तर्क पर तर्क की शैली से किया है कि अगर कोई तार्किक बनना चाहे तो इस व्याख्या के गहरे अध्ययन से बन सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु अन्यान्य दर्शनों का बोध एवं जैन दर्शन की तत्त्वों के बारे में सही मान्यता एवं विश्व को जैनधर्म की विशिष्ट देन स्वरूप अनेकान्तवाद का सम्यग् बोध प्राप्त होता है।

इस महान शास्त्र को जैसे पढते चलते है वैसे वैसे मिथ्या दर्शन को मान्य विविध पदार्थ व सिद्धान्त कितने गलत है इसका ठीक परिचय मिलता है, व जैन तत्त्व पदार्थों का विशद बोध होता है। इससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल होता चलता है । सम्यग्दर्शन की अधिकाधिक निर्मलता चारित्र की अधिकाधिक निर्मलता की संपादक होती है । इसीलिए तो 'निशीथ-चूर्पि' शास्त्र में संमति-तर्क आदि के अध्ययनार्थ आवश्यकता पडने पर आधाकर्म आदि साधु-गोचरी-दोष के सेवन में चारित्र का भंग नहीं ऐसा विधान किया है । यह संमति-तर्क शास्त्र बढिया मनःसंशोधक व तत्त्व-प्रकाशक होने से इस पंचमकाल में एक उच्च निधि समान है । मुमुक्षु भव्य जीव इसका बार बार परिशीलन करें व इस हिन्दी विवेचन के कर्ता मुनिश्री अन्यान्य तात्त्विक शास्त्रों का ऐसा सुबोध विवेचन करते रहे यही शुभेच्छा !

वि.सं.२०४० आषाढ कृ.११

आचार्य विजय
भुवनभानुसूरि

❖ प्रकाशक का भावविश्व ❖

जमाना गुजर गया पूर्वकालीन तीन (१-२-५) खण्डों के प्रकाशन को। अब सन्मतितर्कप्रकरण का चतुर्थ खण्ड प्रकाशित करते हुए हमारे आनन्द को कोई सीमा नहीं।

प.पू.स्व. आचार्य गुरुदेव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. के वर्तमान काल में अगणित उपकारों को याद करते हैं नेत्र सजल हो जाते हैं।

इस महापुरुष का यह जन्मशताब्दी वर्ष चल रहा है। उदार एवं विशाल दृष्टि रख कर इस महापुरुष ने श्री जैनशासन-जैन संघ के उत्कर्ष के लिये संकुचित दृष्टिकोण को छोड़ कर जो प्रचण्ड पुरुषार्थ किया है उसे कोई भुला नहीं सकता।

आपने स्वयं निर्मल-पवित्र-स्वच्छ संयम का पाँच महाव्रतों का पालन किया एवं सैंकड़ों पुण्यात्माओं को संयमपथ के प्रवासी बना दिये। उपदेश साहित्य के क्षेत्र में आप अजोड बने रहे। जैन धार्मिक शिक्षण शिविर के माध्यम से आपने हजारों गुमराह युवाओं को व्यसन एवं उन्मार्ग की बदी से छुड़ाये और परोपकार-धर्मश्रद्धा-सदाचार के सन्मार्ग में जोड़ दिये।

आपने ही मुंबई में वि.सं. २०३६-३७ वर्षों में सन्मतितर्क प्रकरण के हिन्दी विवेचन के लिये विक्रमी कदम उठाया था। समय के अभाव में आपने इस महाकाय कार्य को मुनि जयसुंदर विजयजी को सौंप दिया - यह आप की अमूल्य दीर्घदृष्टि थी। प्रथम खंड श्री मोतीशा लालबाग जैन ट्रस्ट - (भूलेश्वर-मुंबई) की ओर से प्रकाशित किया गया था। शेष दो खंड हमारे दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हुआ था। श्रुतोद्धार के इसी सिल-सिले में आज यह चतुर्थखण्ड प्रकाशित हो रहा है।

हम सदैव ऋणी रहेंगे सिद्धान्तमहोदधि प.पू.आ.श्री प्रेमसूरीश्वरजी म.सा. - न्यायविशारद प.पू. आ. श्री भुवनभानु सू.म. सा. एवं सुविशाल गच्छाधिपति प.पू. आ.श्री जयघोष सू.म. सा. के, जिन की असीमकृपा से हम इस ग्रन्थराज के प्रकाशन के लिये सक्षम बने हैं।

- कुमारपाल वि. शाह

सम्पादक के उद्गार

परमात्मा की असीम कृपा और पूज्य गुरुभगवंतो की शुभाशिष, आज सन्मतितर्क० ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड का एवं उस के अनुवाद-विवेचन का सम्पादन कार्य पूरा हुआ है।

यह मूल ग्रन्थ एवं उस की व्याख्या का चौथा खंड जो पहले गुजरात विद्यापीठ — अमदावाद की ओर से, सुखलाल एवं बेचरदास की जोड़ीने सम्पादित कर के प्रकाशित करवाया था, उस सम्पादन का इस आवृत्ति में उपयोग किया गया है। तथा, लिम्बडी श्वे.मू.जैन संघ के अमूल्य ज्ञानभंडार से प्राप्त हुई सन्मतितर्क० (सटीक) प्रति की जब जब जरूरत लगी, उपयोग किया गया है।

पूर्व सम्पादन में जहाँ जहाँ सम्पादन त्रुटियाँ पूर्णविराम आदि की गलती मालूम पड़ी उन को सुधारना पडा है। तथा बड़े बड़े परिच्छेदों का विषयसंदर्भ न तूटे ऐसी सावधानी रख कर छोटे छोटे परिच्छेदों में विभाजन किया गया है। पूर्व सम्पादन में जहाँ जहाँ त्रुटियाँ दृष्टिगोचर हुयी उन्हें संशोधित कर के, संमार्जित कर के यथासंभव शुद्धिकरण करने का प्रयास किया गया है। प्रमाणवार्तिक के श्लोक आदि का स्थाननिर्देश जो बाकी था वह भर दिया गया है।

इस सम्पादन में कुछ कुछ टीप्पणीयाँ हमने जोड़ी है। बहुशः टीप्पणीयाँ पूर्व मुद्रित प्रकाशन में से भी यहाँ जोड़ दी है, जो प्रायः भूतपूर्व सम्पादक सुखलाल-बेचरदास ने जोड़ी हुई है।

इस चतुर्थ खण्ड में पूर्ण द्वितीय काण्ड, 9 से ४३ मूल गाथा एवं व्याख्या तथा मूल एवं व्याख्या का हिन्दी विवेचन समाविष्ट किया गया है। संस्कृत व्याख्या में जहाँ पूर्वमुद्रित में कौंस अन्तर्गत शीर्षक थे उन में बहुत स्थान पर हमने जरूरी परिवर्तन किया है। हिन्दी विवेचन के सब शीर्षक हमारे जोड़े हुए हैं।

विशेषतः इस संस्करण के साथ मूल एवं व्याख्या का हिन्दी विवेचन प्रस्तुत किया है। सम्भव है, छद्मस्थतावश इस सम्पादन-संशोधन-विवेचन कार्य में कोई त्रुटि या क्षति रह गयी हो, मालूम पडने पर वाचक गण अवश्य उन का संमार्जन करे यह प्रार्थना है।

जैन शासन - जैन संघ की यह बलिहारी है कि मुझे ऐसी सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस के लिये सदैव जैनशासन - जैन संघ का मैं आभारी रहूँगा।

विशेषतः सिद्धान्त महोदधि ब्रह्मचर्यसम्राट् पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म. सा. उन के पद्मालंकार न्यायविशारद पू. आ. श्री विजय भुवनभानु सू.म. सा. तथा उन के पट्टविभूषक प.पू. सिद्धान्तदिवाकर ग.प. आचार्य जयघोष सू.म.सा. का मैं सदा के लिये ऋणी रहूँगा, जिन्होंने मुझे अमूल्य संयम जीवन का प्रदान कर के, मुक्तिमार्ग की आराधना में जोड़ कर, स्वाध्याय की रुचि जगा कर ऐसी श्रुत सेवा के कार्य में जोड़ कर, अपूर्व कर्मनिर्जरा में सहभागी बनाया है — उन्हें कोटि कोटि वन्दन।

तदुपरांत मेरा शिष्यगण एवं अन्तेवासियों को अनेक धन्यवाद हैं जिन्होंने मुझे अन्य कार्यों से निश्चिन्त बना कर इस कार्य में अविरत प्रवृत्ति करने के लिये प्रचुर सहयोग दिया।

श्रमण भगवान महावीर-प्रस्थापित वर्तमान चतुर्विध संघ का भी जितना उपकार माना जाय, कम है।

लि० जयसुंदर विजय

भाद्रपद सुदि १५ - सं. २०६६

प्रस्तावना

बहुत बहुत आनंद एवं गौरव की बात है कि सिद्धसेन दिवाकर सूरि विरचित (प्राकृत में) सन्मति-तर्कप्रकरण, आचार्य तर्कपंचानन श्री अभयदेवसूरिजी विरचित संस्कृत व्याख्या (एवं मूल और व्याख्या सहित उभय) के हिन्दी विवेचन का चतुर्थ खण्ड आप के करकमल की शोभा है।

इस के पहले १-२-५ ये तीन खंड प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा खंड मुद्रणाधीन है। तीसरे खंड में प्रथमकाण्ड की ५ से ५४ मूल गाथा (या कारिका) तथा उन की व्याख्या का समावेश कर के प्रथम काण्ड पूरा किया है। उस में समस्त ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषोभयान्तक है — यह विस्तार से निवेदन किया है। चौथे खण्ड में — जिस को 'ज्ञानमीमांसा' कहा जाता है — उपयोगात्मक ज्ञान भी अन्योन्य सापेक्ष सामान्य विशेषोभयग्राही दर्शन-ज्ञान उभयस्वरूप है — इस तथ्य का सविस्तर निरूपण है।

प्रारंभ में, उपयोग द्वैविध्य का निरूपण (पृ.१) करने के बाद प्रमाण के सामान्य लक्षण की चर्चा की गयी है (पृ.२ से २१५) तदनन्तर विस्तार से प्रत्यक्ष प्रमाण की मीमांसा प्रस्तुत है (पृ.२१६ से ३३६) जिस में न्यायदर्शन-बौद्धदर्शन-विन्ध्यवासी-जैमिनीय रचित लक्षणों की समीक्षा कर के सिद्धान्ती की ओर से प्रत्यक्ष लक्षण का निरूपण किया गया है। पृ.३२७ से ३३३ तक चार्वाकमत की समीक्षा की गयी है। इस में इन्द्रियों की प्राप्य-अप्राप्य कारिता (पृ.२७८ से २९०) तथा तिमिरभाववाद (पृ.२९१-२९२) की महत्त्वपूर्ण चर्चा है। फिर प्रत्यक्ष के भेदों की सिद्धान्तानुसारी मीमांसा है।

तदनन्तर (पृ.३३३ से ३८२ में) अनुमान के प्रामाण्य की चर्चा है। उस में चार्वाक, बौद्ध, अक्षपाद, मीमांसकों के अनुसार लक्षण की समालोचना की गयी है।

तदनन्तर, (पृ.३८३ से ३८५ में) प्रमाण की इयत्ता के बारे में चर्चा प्रस्तुत है। इस विभाग में बौद्ध-नैयायिक-मीमांसकों की मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। प्रसङ्गतः उपमान-अर्थापत्ति-अभाव के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निरसन है, अनुमान में उन का अन्तर्भाव किया गया है। आखिर सिद्धान्तीमतानुसार (पृ.४४१) प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों की प्रतिष्ठा की गयी है।

उपयोगद्वय (दर्शन-ज्ञान) की चर्चा से ले कर प्रमाणद्वय की पूरी चर्चा प्रथम गाथा की व्याख्या के रूप में की गयी है।

दूसरी गाथा में दर्शन और ज्ञान के जो स्व-स्व आकार सामान्य-विशेषरूप हैं वे भी अन्योन्याकार से गर्भित ही है यह दिखाया गया है। सारांश, अन्योन्य निर्विभाग वृत्ति द्रव्य-पर्याय ग्राही दर्शन और ज्ञान उभय प्रमाणभूत होने का निष्कर्ष कहा गया है।

अब तीसरी गाथा (पृ.४४५) से ले कर ३१ वीं गाथा तक (पृ.४९७) केवलदर्शन-केवलज्ञान के क्रम/यौगपद्य एवं भेदाभेद की विस्तार से चर्चा की गयी है। यह चर्चा श्रे. जैनदर्शन में बहुत

महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। प्रसङ्गतः इस में केवली के कवलाहार की चर्चा (पृ.४७० से ४८१) भी विस्तार युक्त है। बाद में गाथा ३२-३३ में सम्यग्दर्शन की सम्यग्ज्ञानरूपता तथा सम्यग् ज्ञान में नियत सम्यग्दर्शनत्व, सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यक् ज्ञान की वैकल्पिकता दर्शायी गयी है। उस के बाद गाथा ३४ से ४३ (अन्तिम) तक केवल उपयोग की सादि-अपर्यवसितता इत्यादि छोटे-मोटे विषयों की संक्षिप्त चर्चा है। महो० यशोविजयविरचित ज्ञानबिंदु में भी यह चर्चा है।

व्याख्याकार श्री अभयदेव सूरिजी भगवंत की व्याख्या बहुत ही विशद, गम्भीर एवं तलस्पर्शी है। उन की व्याख्या में कुछ पदार्थों का विशेष स्पष्टीकरण आदि मिलता है जो प्रशंसापात्र हैं। यथा

१. पृ.५९ में (यतो न जैनस्य... वशात्) जैनों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि एक व्यक्ति समवायतुल्य किसी एक सम्बन्धस्थानीय शक्ति के प्रभाव से अनेक शक्तियों को धारण कर रखे। हमारे मत में तो एक व्यक्ति अनेकशक्ति आत्मक ही होती है। एवं शक्तियाँ भी एकव्यक्ति आत्मक हैं, वह किसी अन्य शक्ति के प्रभाव से नहीं किन्तु उस के उत्पादक कारणों के प्रभाव से।
२. (पृ.७६) 'जुगवं दो णत्थि उवओगा' नियुक्ति के अर्थ में कहा है — इन्द्रियजन्यज्ञान और मनोविज्ञान की एक साथ उत्पत्ति का निषेध नहीं है किन्तु मानसिक दो विकल्पों की समकालीनता का निषेध है।
३. (पृ.७७) गुण और पर्याय के लिये कहा है कि गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी होते हैं।
४. पृ.१८१ में कहा है — 'एक ज्ञान एक विषय में निर्णयरूप और अन्य विषय में अनिर्णयरूप' — ऐसा एकान्तवाद में संगत नहीं होता।
५. पृष्ठ २०० में कहा है — हमारा मत यह है कि वे ही विशेष कथंचित् अन्योन्य समानपरिणाम (सामान्यात्मक) को धारण करनेवाले हैं।
६. पृ.२४० में अवच्छेदक — अवच्छेद्य परिभाषा का प्रयोग है।
७. पृ.२६९ में मानस ज्ञान को अतीतानागतार्थग्राहि दिखाया है। तथा 'मेरा भाई कल आयेगा' इस प्रकार के अनागतार्थग्राहि प्रातिभ ज्ञान का उल्लेख है।
८. पृ.३२३ में कहा है कि इन्द्रियों में अर्थाधिगम के प्रति परम्परा से उपचरित साधकतमत्व का निषेध नहीं है। तथा अनिन्द्रियजन्य प्रातिभ ज्ञान को प्रत्यक्षरूप दिखाया है।
९. पृ.३२५ में दर्शन और अर्थावग्रह का भेद दिखाया है। उपरांत, ईहा-अपाय-धारणा के लक्षण दिखाये हैं।
१०. पृ.४०० में मीमांसा श्लोकवार्तिक के अनुसार स्वरूप-पररूप से वस्तु की सद्-असदात्मकता दिखायी है।

११. पृ.४६५ में पुद्गल संयोग का उत्कृष्ट असंख्य काल दिखाया है।
१२. पृ.४९८ में कहा है कि सम्यग्ज्ञान होने पर नियमतः सम्यग्दर्शन होता है किन्तु सम्यग्दर्शन होने पर भी यदि एकान्तरुचि है तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, अनेकान्तरुचि है तो सम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार इस व्याख्याग्रन्थ में अनेक जैन सिद्धान्त के प्रमेयों का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है।

स्व. पूज्यपाद आ. गुरुदेव श्री प्रेम सू.म.सा. की संयम एवं स्वाध्याय के लिये अमूल्य प्रेरणा, स्व. पू.गुरुदेव आ. भुवनभानु सू.म.सा. का वैराग्यपीयूषपान, संयम में स्थिरीकरण, स्वाध्याय में प्रोत्साहन आदि तथा वर्तमान सुविशाल ग.प.पूज्य गुरुदेव श्री जयघोष सू.म.सा. का वात्सल्य-सहानुभूति-आगमादि का अध्यापन, स्वाभाविक उदारता करुणा का यह प्रभाव है कि इस ग्रन्थ का हिन्दी विवेचन करने का मैंने कुछ साहस किया है। मैं इन सभी का ऋणी हूँ।

हिन्दी विवेचन में छद्मस्थतावश मेरी अनेक गलती हो सकती है एतदर्थ मिच्छामि दुक्कडं। अधिकृत अभ्यासी विद्वान् अवश्य सुधारा कर के पढ़ेंगे।

अधिकृत मुमुक्षु वर्ग इस ग्रन्थ का अभ्यास कर के एकान्तवाद की कदाग्रहता से मुक्त बनें यही शुभकामना।

— जयसुंदर विजय

आसो वदि २०६६ आसो वदि ६

श्री उमरा जैन संघ (सूरत) में सुकृत परम्परा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसू० म० सा० के आदेश से पू० आचार्य श्रीजयसुंदरसूरिजी म० सपरिवार का वि०सं० २०६५ में उमरा के जैन संघ (सूरत)के विशाल उपाश्रय में चातुर्मास हुआ। अनेकविध आराधनाओं से श्रीसंघ का हृदय पुलकित हो ऊठा। श्रीसंघ मंदिर बना रहा था। पूज्यश्री महात्माओं के एवं ट्रस्टीगण के प्रयत्नों से, सिद्धपुर (उ० गु०) के जैन मंदिर से श्री पद्मप्रभस्वामी (मूलनायक करने के लिये) तथा श्री आदीश्वर प्रभु, श्री सुपार्थनाथ प्रभुजी प्राप्त हुए। तथा निकट में रोयल सोसायटी में बनने वाले जिनालय में मूलनायक के लिये श्री मुनिसुव्रत स्वामी प्रभु प्राप्त हुए। फिर तो समस्त उमरा संघ हर्षविभोर बन गया। अब तो प्रभुजी की प्रतिष्ठा भी धामधूम से सम्पन्न हो गयी है।

* सन्मतितर्क० चतुर्थखण्ड - विषय निर्देश *

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
१दर्शन-ज्ञानोपयोग स्वरूपम्	१३व्यापार द्वारा अर्थग्रहण मानने पर अनवस्था
१एकान्तिक उपयोग अप्रमाण	१४नीलादि अर्थ में तीन प्रकार के कर्मत्व की अनुपपत्ति
२मूलगाथा-१ व्याख्या प्रारम्भ	१५विज्ञानवादित्त का निरसन, अर्थ प्रत्यक्ष से सिद्ध
२द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक ग्राह्य	१६निराकारज्ञान से अर्थव्यवस्था अशक्य - विज्ञानवादी
२उपयोगभेद-प्रमाणमतभेद	१७'अर्थ का ज्ञान' इस प्रतीति से निराकारज्ञान का निरसन
३प्रमाणस्वरूप मीमांसा	१८'अर्थ की बुद्धि' इस प्रतीति से पृथक् बुद्धि की सिद्धि
३प्रमाणतत्त्वविविधव्याख्या	१८'प्रकाशता' से अतिरिक्त नीलादि उपलब्धि का निषेध
४बोधमात्र प्रमाण - पक्ष में अव्याप्ति	१९षष्ठी विभक्ति भेदनियामक नहीं
५वैभाषिक प्रमाणलक्षण निरसन	१९बोध की निराकारता का निरसन, साकारता का समर्थन
६बोध में अर्थाकारता असंगत - निराकार बोधवादी	२०चक्षु आदि से रूप के उपलम्भ की अनुपपत्ति का निरसन
७प्रमाण स्वगत अर्थाकारवेदी नहीं हो सकता	२१साकारवाद में अर्थव्यवस्था की अनुपपत्ति का आपादन
८निराकार बोधवाद में नियत विषयव्यवस्था की अनुपपत्ति	२१विज्ञानवाद में स्वतन्त्र बाह्यार्थ-असिद्धि भूषण है
८निराकारबोधपक्ष में इन्द्रियसंनिकर्ष से नियतार्थव्यवस्था	२२साकारज्ञानप्रमाणवादनिरसनम्
९चक्षु आदि सामग्री नीलादिविषयता की प्रयोजक	२२सिंहावलोकन-संदर्भस्मृति
९साकारवाद में नियत व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न	२३अहमाकार प्रतीति शरीरविषयक नहीं है।
९ज्ञानसाकारता का ग्रहण साकार/निराकार ज्ञान से ?	२३ग्राह्य से भिन्न, ग्राहकज्ञान के निषेध का निरसन
१०निराकारवाद में प्रत्यासत्तिनियमाभाव प्रसंग का उत्तर	२४सुखादि बाह्यार्थग्राहक नहीं होते, ज्ञान होता है।
११अनुमान या अर्थापत्ति से बाह्यार्थ का ग्रहण असम्भव	२५अर्थापत्ति अर्थग्राहकज्ञान की असाधक
१२प्रतिभासमान पिण्डाद्याकारवत् स्तम्भादि बाह्यार्थसिद्धि	२५बुद्धि का स्वरूप - स्वपरार्थग्रहण
१२साकारज्ञान से बाह्यार्थ असिद्धि	२५नीलादि की ज्ञानमयता का निषेध
१२निराकार ज्ञान से ही बाह्यार्थसिद्धि		
१३निराकार ज्ञान बाह्यार्थ का ग्राहक नहीं - विज्ञानवादी		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
२६नील-नीलसंवेदन का भेद अबाधित	३८पुरुषप्रवृत्ति प्रमाणाधीन नहीं होती
२७प्रकाशता की नीलादिआकाररूपता असंगत	३८पुरुषार्थोपयोगी साधन का प्रदर्शकत्व प्रवर्तकत्व कैसे ?
२८प्रकाशता की ग्राह्यरूप से भासित नीलादि आकारता मानने में अन्योन्याश्रय	३९बौद्धमतानुसार प्रमाणस्वरूप का निरूपण
२८तदाकारता में तद्ग्राहकता की व्याप्ति असिद्ध	४०प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रापकत्व
२८तद्ग्राहकता का नियामक ज्ञानक्षणों का कार्य-कारणभाव अशक्य	४०बौद्धमत में प्रत्यक्षग्राह्य क्षणिक पदार्थ 'प्राप्य' नहीं होता
२९सारूप्य का एकान्त भेद-अभेद पक्ष दोषग्रस्त	४१अनुमान में प्रदर्शित अर्थप्रापकत्व की उपपत्ति
२९नीलाकार ज्ञान से नीलव्यवस्था मानने पर अतिप्रसंग	४१विकल्प भी वस्तुलक्षी प्रवृत्ति कारक होता है
३०चक्षु से रूपोपलब्धि के व्यवहार की निराकारवाद में संगति	४२पीतशंखग्राहि ज्ञान में प्रामाण्यापत्ति का निरसन
३०साकारवाद में धर्मकीर्त्तिनिरूपित प्रमाणलक्षण की अनुपपत्ति	४३प्रत्यक्ष/अनुमान से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं
३०स्वरूप संवेदनात्मक प्रमाणलक्षण में प्रत्यक्षबाध	४४बौद्धमतप्रदर्शितप्रमाणलक्षणनिरसनम्
३१एकसामग्रीअधीनता से व्यवहार उपपत्ति उभयपक्ष में शक्य	४४बौद्धमत में स्वतःप्रामाण्यनिश्चय की व्याख्या
३१बाह्यार्थसिद्धि का मुख्य आधार प्रत्यक्षप्रतिभास	४४प्रदर्शकत्व प्रापकत्वरूप नहीं
३२साकारवाद में नियत अर्थव्यवस्था असंभव	४४उपेक्षणीय — अर्थ का तीसरा प्रकार ?
३३साकारवाद में साकारताजनक के जनक की अनवस्था — दोष	४५उपेक्षणीय — अर्थ का समर्थन
३३प्रकाशता में अर्थाकार प्रवेश मानने पर परलोकभंग का प्रसंग	४५बौद्धमत में प्रदर्शितार्थप्रापकत्व की अनुपपत्ति
३४मीमांसकप्रमाणलक्षणेऽनधिगतार्थाधि- गन्तृत्वस्य निरसनम्	४६दृश्य-प्राप्य के एकीकरण का प्रयास व्यर्थ
३४मीमांसामत का अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व विशेषण दुर्घट	४६लोकव्यवहारसिद्धप्रमाणलक्षण से नित्यानित्य अर्थ की सिद्धि
३६एकान्ततः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व का असंभव	४७प्रत्यक्षगृहीत सन्तान का विकल्प से समर्थन अशक्य
३६प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष को ज्ञातार्थज्ञान के लिये उपालम्भ अनुचित	४८सन्तान वस्तुतत्त्व की सिद्धि से बौद्धमत में आपत्ति
३७पुनः पुनः निश्चयकारक प्रमाण की सार्थकता	४८बौद्धमतानुसार अनेकान्तवाद की सिद्धि
३७समानविषयक शाब्दादिज्ञानों का प्रामाण्य युक्तियुक्त	४९नैयायिकमतेन प्रमाणलक्षणम्
		४९नैयायिकमतानुसार सामग्री में प्रामाण्य दुर्घट
		४९विवक्षानुसार साधकतमत्व की उपपत्ति अशक्य
		५०सन्निपत्यजनकत्व साधकतमत्व नहीं हो सकता
		५१कारकसाकल्य में साधकतमत्व का उपपादन प्रयास
		५२सन्निपत्यजनन एक अतिशय, वही साधकतमत्व
		५२सामग्री में साधकतमत्व की उपपत्ति

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
५३सामग्री के साधकतमत्व के प्रति प्रश्न-समाधान	६८स्वभिन्नवेद्यतास्वभाव की प्रदीप-सुखादि में अनुपपत्ति
५४सामग्री की प्रमाणता का निषेध कारकसाकल्य के चार विकल्प	६९आत्मा और मन का संयोग अनेकापत्तिग्रस्त
५४A सकलकारकरूप साकल्य दुर्घट	७०ईश्वर को मनःप्रेरणा के लिये अदृष्ट सहाय असंगत
५४कर्त्ता-कर्म-करण में एकान्त भेदाभेद दुर्घट	७१आत्मा-सुखादि-संवेदन का कथंचिद् अभेद
५६B कारकसाकल्य कारकधर्मरूप नहीं है	७३एक साथ अनेकज्ञानानुत्पत्ति से मन की सिद्धि — नैयायिक
५६C कारकसाकल्य कारककार्य नहीं	७४मन अणु होने पर भी सुखादि संवेदन के साथ शब्दश्रवणापत्ति
५७नित्य कारणों से क्रमिक कार्यात्पत्ति दुर्घट	७४कर्णविवरगत गगन श्रोत्रेन्द्रियता निष्प्रमाण
५८आत्मा गगनादिभेद के लोप का संकट तदवस्थ	७४उपचरित वस्तु से कार्यसिद्धि दुष्कर
५८सामर्थ्यभेद के विना कालभेद अशक्य	७५युगपद् ज्ञानोत्पादअनुभव भ्रमरूप नहीं है
५९जातिभेद के बदले शक्तिभेद से कार्यभेद क्यों नहीं	७६यौगपद्याभिमान और मन की सिद्धि में अन्योन्याश्रय
६०साकल्य सकल कारणों का कार्य नहीं-तृतीय विकल्पनिषेध चालु	७६'जुगवं दो णत्थि उवओगा' सूत्र का वास्तविक अर्थ
६०साकल्य के विना सकल कारणों से साकल्य की अनुत्पत्ति	७७ज्ञानग्राहक ज्ञान की प्रत्यक्षता असिद्ध
६१साकल्यरूप करण की उत्पत्ति में अनवस्था	७८आम आदमी में सर्वज्ञताप्रसक्ति का समर्थन
६१सकलकारणकार्यरूप साकल्य प्रत्यक्षादिसिद्ध नहीं	७९स्वसंविदितज्ञानपक्ष में साधारण्यापत्ति का निराकरण
६२D कारणसाकल्य पदार्थान्तरस्वरूप भी नहीं	७९अनुव्यवसाय की कल्पना का निरसन
६२साकल्यवादसमर्थक वचनों का निरसन	८०तृतीयादिज्ञानकल्पना का बचाव निरर्थक
६३अव्यभिचारादिविशेषणयुक्त सामग्री के प्रामाण्य का निरसन	८०विषयान्तर संचार से तृतीयादिज्ञान का बाध अशक्य
६४प्रमाण और प्रमिति का कथंचिद् भेदाभेद	८१ईश्वर की या शक्तिप्रत्यक्ष की कल्पना का निरसन
६४प्रमाण अबोधस्वरूप नहीं होता	८२नित्य आत्मा में क्रमिक शक्ति-आधिर्भाव अशक्य
६५नैयायिकादिसंमत-ज्ञानपरतःसंवेदन-निरसनम्	८३पारमार्थिक अर्थ के निर्णय द्वारा विज्ञानवाद का निरसन
६५वैशेषिकमतानुसार विशिष्ट उपलब्धि का प्रामाण्य दुर्घट	८४भावधर्म का स्वीकार — भाव का अस्वीकार भ्रान्तिमूलक क्यों नहीं ?
६५ज्ञान के स्व-परसंवेदित्व की चर्चा में नैयायिकादिमत का प्रतिषेध		
६७मन-इन्द्रिय साधक नैयायिक के अनुमान में हेतु असिद्ध		
६७सुखादिसंवेदन में इन्द्रियसंनिकर्षजन्यत्व हेतु व्यभिचारी		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
८४बौद्धमत में सर्व अनुमान उच्छेद की आपत्ति	१०२	...नीलादि में जडादिसमारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति
८५लिंग और अनुमान की समकालीनता आपत्तिग्रस्त	१०३	...सुखादि के दृष्टान्त में साध्यवैकल्य
८६अनुमान लिंगजन्य होने पर लिंगरूपता की आपत्ति	१०३	...सुखादि में ज्ञानरूपतासाधक तर्काभास
८७स्वसंवेदनपक्ष में ऐक्यादि आपत्ति का निरूपण	१०४	...सुख और अनुग्रह की भिन्नता का पक्ष भी अयुक्त
८७ऐक्यादि आपत्ति का निरसन	१०४	...सुख और अनुग्रह दोनों के बीच कारण-कार्यभाव असत्
८८लिंग के दो स्वरूप अनवस्था दोषग्रस्त	१०५	...जडतासमारोपव्यवच्छेद असंगत
८९एक ही ज्ञान से स्व-पर का ग्रहण निर्बाध है	१०५	...जैनमतसिद्ध सुखादिगतजडताअभाव से बौद्ध को इष्टापत्ति नहीं
९०लिंग से होनेवाली उत्पत्ति पर समय के विकल्प	१०६	...सुखादि में ज्ञानत्वनिश्चयवत् नीलादि में जडत्वनिश्चयसिद्धि
९१अनुमानोच्छेद की बीभिषिका दोनों पक्षों में समान	१०६	...स्तम्भादि में ज्ञानरूपता की सिद्धि प्रकाशन हेतु से अशक्य
९१लिंग में अनुमान की कारणता का अपलाप अशक्य	१०७	...नीलादि की पारमार्थिकता प्रमाणसिद्ध नहीं
९२समारोपव्यवच्छेद एवं बाह्यार्थपक्ष में युक्तितुल्यता	१०७	...केशोण्डुक शब्दार्थ — टीप्पणी में
९३बौद्धमत में समारोपव्यवच्छेद अशक्य	१०८	...स्तम्भादि में असत्त्व-साधक अनुमान अप्रमाण
९३समारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति तदवस्थ	१०८	...स्तम्भादि की अपारमार्थिकता का अनुमान बाधक कैसे ?
९४अनुमान से समारोपव्यवच्छेद अशक्य	१०८	...परमार्थगोचर समारोप का व्यवच्छेद अशक्य
९५बौद्धमत में ज्ञान की स्वप्रकाशता विरोधग्रस्त	१०९	...स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु में साध्यद्रोह दोष
९५नील की प्रतिभासमात्ररूपता विरोध ग्रस्त	११०	...स्वच्छदर्शनगोचरत्व का स्वप्न में व्याप्तिग्रह निरर्थक
९६बौद्धमत में प्रतिभासमात्र के अभाव की आपत्ति	१११	...दृष्टान्त में साध्यशून्यता या हेतु में साध्यद्रोह दोष
९७स्व-परग्रहण व्यापारनिषेध का असंभव	११२	...नीलादि में परमार्थसत्ताबाधक हेतु बाधमुक्त
९७अन्योन्यग्रहण की आपत्ति उभयपक्ष में तुल्य	११२	...जैनोक्त हेतु में बौद्ध आशंका
९७ज्ञान एवं ज्ञानस्वरूप में भी भिन्नाभिन्न-कालविकल्प	११३	...‘वह नहीं’ इस बाधबुद्धि की अनुपपत्ति-बौद्धाशंका चालु
९८विकल्प में परतः अवभासन हेतु असिद्ध	११४	...बाधबुद्धि का स्पष्टीकरण - जैन
९९ज्ञान और अवभासन की व्याप्ति का ग्रहण निरर्थक	११४	...बाध्यबाधकभाव निषेध करने पर बौद्धनिग्रह
९९मिथ्याविकल्प द्वारा गृहीत व्याप्ति से सत्य अनुमान अशक्य	११५	...समारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति
१००	...गृहीत जडपदार्थ में प्रकाश अयोग अनुपपन्न		
१०१	...नील में ज्ञानत्व की सिद्धि का प्रयास अनुचित		
१०२	...समारोपव्यवच्छेद के लिये शास्त्ररचना व्यर्थ		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
११६	...शास्त्रादि की निरर्थकता/सार्थकता	१२९	...भिन्नकालीन अर्थों में विशेषण-विशेष्यभाव नहीं
११६	...सुनिश्चितअसंभवद् बाधकप्रमाणत्वं हेतु अव्यभिचारी	१३०	...समकालीन अर्थों में विशेषण-विशेष्य भाव नहीं
११७	...प्रमेय एवं प्रमाण की शून्यता का निरसन	१३१	...कल्पनाप्रेरित वि.वि.भाव की स्पष्टता
११८	...प्रतिभासभेद के अपलाप की अयुक्तता	१३१	...पूर्वज्ञान सामर्थ्य/सहकार का प्रत्यक्षग्रहण असम्भव
११८	...‘सर्वधर्म मायातुल्य’कथन की अयुक्तता	१३२	...शुद्ध दर्शन असंनिहितविशेषण का असंवेदक
११९	...निर्विकल्पप्रत्यक्षप्रमाणवादिवैभाषिकमत- प्रदर्शनम्	१३३	...विकल्प के विना प्रवृत्ति अनुपपन्न
११९	...वैयाकरणमतप्रतिषेधेन स्वमतस्थापना बौद्धेन	१३३	...स्पष्टदर्शन ही प्रवृत्ति कारक
११९	...निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण - बौद्धमत	१३४	...विकल्पमति से प्रवृत्ति अशक्य
११९	...सविकल्प ही प्रत्यक्ष प्रमाणभूत-वैयाकरणमत	१३४	...भूतपूर्व अर्थक्रियासाधक अर्थ का वर्तमान अर्थ से अभेद कैसे ?
१२०	...प्रत्यक्ष प्रतीति वागर्भित नहीं होती-बौद्धमत	१३५	...उत्तरकालीन सविकल्प प्रत्यक्ष से तत्त्व का अवभास
१२१	...अर्थों की शब्दाकारता प्रमाणसिद्ध नहीं	१३५	...अध्यक्ष से अभेदतत्त्व का अवभास अशक्य
१२१	...चाक्षुष प्रत्यक्ष में शब्द का भान असंभव	१३६	...स्मृतिसहकृत अध्यक्ष सत्यार्थग्राहि नहीं
१२२	...एक इन्द्रिय से सर्वेन्द्रियगम्य विषय ग्रहण की आपत्ति	१३६	...दर्शनप्रदर्शित अर्थ का स्मृति द्वारा उल्लेख निष्प्रमाण
१२२	...चाक्षुष दर्शन और वागनुसन्धान में भेद का आपादन	१३७	...पूर्वदर्शन से पूर्वरूपताविशेषित अर्थ का ग्रहण अशक्य
१२२	...शब्दाश्लिष्ट बोधसंवेदन की अवास्तविकता	१३७	...दृष्टता दर्शन से गृहीत नहीं होती
१२३	...भिन्नज्ञानग्राह्य अर्थ विशेषण नहीं बनता	१३८	...दृष्टता अर्थस्वरूप नहीं, पूर्वज्ञानस्वरूप है
१२४	...स्मृतिगत उपराग से दर्शन के उपराग की सिद्धि अशक्य	१३८	...दृश्यमान और स्मर्यमाण के भेद का उपपादन
१२५	...बालक में संकेतित अर्थ-आश्लेष की अनुपपत्ति	१३९	...पूर्वरूपता का ग्रहण माने तो भाविरूपता के ग्रहण की आपत्ति
१२५	...वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती-परावाक् चतुर्भेद	१३९	...पूर्व-भाविरूपता उभय के प्रति असंनिकृष्टता तुल्य
१२६	...टीप्पणी-वाक्यपदीयटीका पाठ	१४०	...पूर्वरूपता का ग्रहण मानने पर त्रिकालदर्शित्व प्रसक्ति
१२७	...निर्विकल्प के विना वाक् संस्मरण और विकल्प का असम्भव	१४१	...उत्तरकाल में पूर्वरूपता का चाक्षुषग्रहण असम्भव
१२८	...केवलसविकल्पप्रामाण्यस्थापना तन्निरसनं च	१४२	...प्रत्यक्ष से जात्यादिविशिष्ट अर्थ का ग्रहण असम्भव
१२८	...नियतदेशादिस्थित वस्तुग्राहि प्रत्यक्ष की स्थापना	१४३	...जातिसिद्धि के तर्क निरर्थक
१२८	...नियतदेशादिविशेषण-विशेष्यभाव का प्रत्यक्ष असंभव	१४४	...सविकल्प प्रत्यक्ष भी साक्षात् प्रवृत्तिकारक नहीं
१२९	...अनुमानोपलब्ध अर्थ प्रत्यक्षार्थ का विशेषण नहीं बनता		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
१४५	...व्यवहारअक्षम निर्विकल्पप्रत्यक्ष का प्रामाण्य कैसे ?	१६५	...विकल्पशून्य निर्विकल्पानुभवसिद्धि का निरसन
१४६	...निश्चयसापेक्ष निर्विकल्पप्रामाण्य उपपत्ति	१६६	...विकल्प की असदर्थता का साधन-निरसन
१४६	...प्रवृत्ति के अन्वय-व्यतिरेक निश्चयसंलग्न	१६६	...अर्थदर्शक निर्विकल्प ज्ञान पर चक्रक दोषापत्ति
१४७	...विकल्पबुद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान ?	१६७	...शब्दसंयोजना विना भी गोदर्शनरूप निर्णय
१४८	...निश्चयविकल्प अनुमान - बौद्ध	१६८	...निरंशवस्तुजन्य दर्शन निरंशग्राहि ऐसा विधान असंगत
१४९	...निर्विकल्प से प्रवृत्ति का समर्थन	१६९	...निर्विकल्प को वस्तुग्राहि मानने पर स्वर्गादिविवाद कैसे ?
१५०	...अनुमान से अर्थाध्यवसाय अनुपपन्न	१७०	...स्वर्गादिदायकसामर्थ्य का निर्विकल्प
१५१	...सविकल्पप्रत्यक्षत्व-स्वार्थनिर्णयज्ञानप्रामाण्ययोः साधनम् - उत्तरपक्षः	१७१	...एक पदार्थ में शक्ति-अशक्ति धर्मद्वय की अनुपपत्ति
१५१	...सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष है, स्वार्थ निर्णयज्ञान प्रमाण है - सिद्धान्ती	१७२	...निर्णयात्मक अनुभवपक्ष में अनिष्टप्रसञ्जन का निरसन
१५२	...ग्राहकप्रमाणाभाव-आद्यविकल्प का निरसन (पृ.२०४ पं.१ तक)	१७३	...अभ्यासादि की सहायता से विकल्प का उत्पादन अप्रमाण
१५३	...ऐक्याध्यवसाय करनेवाला कौन ?	१७४	...एक प्रघट्टक के अस्मरण का दृष्टान्त अनुपयुक्त
१५३	...ईश्वरादिविकल्प की तरह ऐक्याध्यवसाय अशक्य	१७५	...सामर्थ्यानुभव से सामर्थ्यविकल्प न होने की बौद्ध आशंका
१५४	...विकल्प-अविकल्प ऐक्याध्यवसाय की दुर्घटता	१७६	...बौद्ध आशंकित सामर्थ्यविकल्पाभाव का निरसन
१५५	...अविकल्प के मुकाबले में विकल्प की बलवत्ता असंगत	१७७	...एक ज्ञान में भ्रान्त-अभ्रान्त धर्मद्वय की संगति
१५६	...एकान्तभेद में सम्बन्ध की अनुपपत्ति	१७८	...पारमार्थिक सत्स्वरूपव्यवहार योग्यता का अनुमान असंगत
१५७	...विकल्प-निर्णय/अनिर्णय का भेद या अभेद असंगत	१७९	...प्रत्यक्ष के अविषय में अनुमान प्रवृत्ति कैसे ?
१५८	...कथंचिद् अभेदपक्ष में, विकल्प में निजस्वरूप से सविकल्पतापत्ति	१७९	...दृश्य-प्राप्य के एकत्व की बुद्धि आभासिक नहीं
१५९	...विकल्प की परमार्थनिर्विषयता अयुक्त है	१८०	...निरंशवस्तुसामर्थ्य प्रामाण्य-प्रयोजक नहीं
१६०	...विषय और अविकल्प में तादात्म्य/तदुत्पत्ति असंगत	१८१	...अर्थजन्यत्व अर्थग्राहकताप्रयोजक नहीं
१६१	...विकल्प-अविकल्प के ऐक्याध्यवसाय का निश्चायक कौन ?	१८२	...ज्ञान में अर्थकारणता साधक अन्वय-व्यतिरेक निष्फल
१६२	...सर्वज्ञ ज्ञानक्षण से समानकालीन अर्थक्षण के ग्रहण का असम्भव	१८२	...प्रतिभासविषय ज्ञान का निमित्त - अध्ययन का निरसन
१६४	...सब विकल्प विशदताविकल नहीं	१८२	...अन्वय-व्यतिरेक के विना कारण नहीं ... इत्यादि बौद्धमत का निरसन
१६४	...निर्विकल्प ज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं	१८४	...अनुमान से अनुमेय की सिद्धि दुष्कर
		१८५	...कारण की विज्ञानविषयता पर दो विकल्प

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
१८६	...तदुत्पत्ति-तत्सारूप्य का व्यभिचार प्रामाण्यवञ्चक	२०५	...संनिहित-असंनिहित प्रत्यक्ष के लिये योग्या-योग्यता की चर्चा
१८७	...स्तम्भनिर्विकल्पबोध में सविकल्पत्व आपत्ति	२०६	...विशेषणविशिष्टार्थग्राही प्रत्यक्ष में वैशद्याभाव का निरसन
१८८	...विज्ञानकृतक्षणिकत्वनिश्चयपक्ष में अनुमानप्रवृत्तिनिरर्थकता	२०७	...व्यवहित सकलार्थसमुदाय के भान की प्रसक्ति का निरसन
१८९	...दर्शन में विकल्पजनकत्व के विघटन का प्रसंग	२०७	...हेतु-विषय के भेद से विकल्प में भेदापत्ति का निरसन
१९०	...विकल्प निर्विषयक होने मात्र से अप्रमाण नहीं	२०८	...वाग्रूपताविशिष्ट या वाग्रूपतापन्न अर्थप्रति-भास ? दो विकल्प
१९१	...प्रज्ञाकर मतानुसार भी अनुमान अप्रमाण	२०८	...एक संवेदन गृहीत अर्थ अन्य संवेदन का विषय कैसे ? — उत्तर
१९२	...अनुमान में विकल्प का अन्तर्भाव नहीं	२०९	...समानकाल/भिन्नकाल के दो विकल्पों में दोषों का निरसन
१९३	...विकल्प के दर्शन का प्रामाण्य अनुपपन्न	२१०	...वस्तुमात्र अनेकविरोधाभासिधर्मशाली — अनेकान्तवाद
१९३	...भावि प्राप्य अर्थ में दर्शन की प्रमाणता अधटित	२१०	...चिर भूतकालीन अर्थों की प्रतीति की आपत्ति का निरसन
१९४	...एकत्व में दर्शन की प्रमाणता विवादास्पद	२११	...विकल्पमात्र में अर्थप्रत्यक्षीकरण-स्वभाव का निषेध अनुचित
१९५	...चित्रप्रतिभासबुद्धि में एकत्वसाधक हेतु अनैकान्तिक	२१२	...संवेदन में स्थिर-स्थूलअर्थविषयता का उपपादन
१९६	...विवेचन अशक्यता का दूसरा अर्थ अनन्यवेद्यत्व में दोष	२१३	...विकल्प से अर्थक्रियासमर्थरूप के भान की उपपत्ति
१९६	...एकत्व/नानात्वादिसर्वविकल्परहित तत्त्व की समीक्षा	२१४	...अन्योन्याश्रयादि दोषाशंकाओं का प्रत्युत्तर
१९७	...चित्रप्रतिभास में नानात्व का निषेध असंगत	२१५	...फलसाधनयोग्यता की परोक्षता ...इत्यादि निरूपण का प्रत्युत्तर
१९८	...विकल्प के विना अर्थग्रहण का असम्भव	२१६	...प्रमाणभेदवक्तृव्ये न्यायमतीयप्रत्यक्षलक्षण समीक्षा
१९९	...सदृशाकार जल-मरीचिका की तरह असत्य नहीं	२१६	...प्रमाणभेदों का निरूपण-न्यायदर्शन के प्रत्यक्षलक्षण की समीक्षा
१९९	...सर्वत्र व्यवस्थाभंग का अनिष्ट प्रसंग	२१७	...इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष—नैयायिक
२००	...एक ज्ञान की अनेकवस्तुविषयता में अविरोध	२१८	...रूपादिउल्लेख की व्यर्थता का निरसन
२०१	...प्रथम दर्शन में ही एकानेकस्वरूप वस्तु का बोध	२१९	...संनिकर्ष के छः प्रकार
२०२	...विवादास्पद स्तम्भादिज्ञान मानस नहीं, अध्यक्ष है	२२०	...समवाय-समवेतसमवाय
२०३	...अनुमान से सविकल्प में प्रत्यक्षत्वसिद्धि		
२०३	...वस्तुविषयीकरण के विना निश्चयस्वरूपता का असंभव		
२०४	...प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता में बाधक चर्चा — दूसरा विकल्प		
२०४	...अनुमान प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता का बाधक नहीं		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
२२१	... 'संनिकर्ष' पद में 'सं' की व्यर्थता का निरसन	२४०	...जात्यादित्रय एवं शब्द-अर्थ में कल्पनाद्वय का निरसन
२२२	...सं-इन्द्रिय इत्यादि पदों की सार्थकता	२४०	...जात्यादि का प्रतिभास मिथ्या नहीं
२२३	...ज्ञान-सुखादि के एकत्व का निरसन	२४१	...आकारान्तरानुषक्तवस्तुभासकत्व — चौथा विकल्प
२२३	...प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में अव्यपदेश्य पद की सार्थकता	२४२	...निर्विकल्प और सविकल्प के उत्पादकों में साम्य
२२४	...इन्द्रिय-शब्दउभयजन्य ज्ञान का नमूना	२४२	...परस्पर सापेक्षता के विरह में सामग्रीवाद का भंग
२२५	...इन्द्रिय-शब्दउभयजन्य ज्ञान भी शाब्दबोध ही है	२४३	...द्विविध भावशक्ति के द्वारा अनुपयुक्तता का समाधान
२२६	...व्यपदेशकर्मभूतज्ञान का व्यवच्छेद अशक्य	२४४	...एक विषयता और प्रतिभासभेद की विकल्प में उपपत्ति
२२७	...अव्यपदेश्य-पद द्वारा शब्दब्रह्मवाद-निरसन अनुचित	२४५	...प्रत्यक्षलक्षण के ज्ञानपदार्थ में फलादि विशेषण-तीन पक्ष
२२७	...अव्यभिचारि विशेषण सार्थकता	२४६	...इन्द्रियसंनिकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप-दूसरा पक्ष
२२८	...भ्रान्तजलज्ञान का विषय मरीचि कैसे ?	२४७	...ज्ञान पद की स्वरूप विशेषणता पक्ष में मुसीबतपरम्परा
२२९	...अव्यभिचारपदव्यवच्छेद की स्पष्टता	२४८	...संनिकर्ष एवं इन्द्रियों के प्रामाण्य का समर्थन
२३०	...अव्यभिचारपद-व्यावर्त्य मरीचि में जलज्ञान-अन्य मत	२४८	...तुला की तरह सुवर्णादि के प्रामाण्य का समर्थन
२३१	...अव्यभिचारि सुख में अतिव्याप्ति निवारणार्थ ज्ञानपद सार्थक	२५०	...इन्द्रियगतिअनुमान में प्रत्यक्षत्वापत्ति
२३२	...सुखव्यावृत्ति हेतु 'ज्ञान' पद का ग्रहण सार्थक	२५०	...अकारकभूत निर्णय में अतिव्याप्ति वारण/आपादन
२३२	...सुखव्यावृत्ति हेतु ज्ञानपद निरर्थक	२५१	...धूमादि के साधकतमत्व पर आक्षेप का प्रतिकार
२३३	...ज्ञानपदसार्थकतानिरूपण दूसरे प्रकार से	२५२	...धूमादि में साधकतमत्व के निषेध का निरसन
२३३	...व्यवसायात्मक पद की सार्थकता का निरूपण	२५३	...अज्ञानमय संनिकर्ष भी प्रमाण कैसे?
२३४	...सौगतैः न्यायमतीयविकल्पप्रामाण्य-निरसनम्	२५४	...प्रमाण की ज्ञानरूपता में दोषवृद्ध
२३४	...विकल्परूप व्यवसाय अप्रमाण — बौद्ध	२५५	...सामग्रीविशेषणपक्ष की अयोग्यता का विमर्श
२३५	...विकल्प अर्थजन्य होता नहीं — बौद्धवादी	२५६	...फलविशेषणपक्षसमर्थनेन नैयायिकप्रत्युत्तरः
२३६	...जात्यादिविशिष्टार्थग्राही विकल्प में प्रत्यक्षत्व का असम्भव	२५६	...फलविशेषणादि पक्षत्रय के आक्षेप का प्रतिकार-नैयायिक
२३७	...विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण-नैयायिक	२५७	...सुखसाधनत्व की प्रत्यक्षता का उपपादन-अन्यमत
२३७	...विकल्पप्रत्यक्षत्वस्थापनया बौद्धमतप्रतिक्षेपः		
२३८	...विशेषण-विशिष्टार्थग्राहकता के संदर्भ में दो प्रश्न		
२३८	...प्रत्यक्षत्व विशेषणविशिष्टार्थग्रहण से विरुद्ध नहीं		
२३९	...प्रत्यक्षत्व के साथ विशेषणादि सामग्रीजन्यत्व का अविरोध		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
२५८	...इन्द्रियसूत्र में मन के अग्रहण का कारण	२७६	...अनागत अर्थ भी प्रेरणा का विषय होता है
२५८	...प्रत्येक इन्द्रिय के लक्षण	२७७	...सूत्रोक्त लक्षण की संशयादि में अतिव्याप्ति तदवस्थ
२५९	...इन्द्रियलक्षण के बाद तुरंत मन का निरूपण क्यों नहीं ?	२७८	...अक्षपादीय प्रत्यक्षलक्षणं मिथ्या-जैनमतम्
२६०	...अव्यवधान से मन के निरूपण का दूसरा कारण	२७८	...चक्षुरिन्द्रियप्राप्तकारित्वनिरसनम्
२६०	...सांख्यवादी विन्ध्यवासिकृत प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा	२७८	...नास्तिक कथित प्रत्यक्ष की व्याख्या तथ्यविहीन
२६१	...श्रोत्रादि की वृत्ति का विकल्प द्वारा परीक्षण	२७८	...नैयायिक अभिमत प्रत्यक्षलक्षण का प्रतिकार - जैन
२६२	...श्रोत्रादि से अर्थान्तररूप वृत्ति में प्रतिनियत-विशेष के स्वरूप की छानबीन	२७८	...चक्षुरिन्द्रियतथ्यता की परीक्षा
२६२	...अर्थाकार परिणतिरूप वृत्ति होने पर विकल्पत्रयी	२७९	...प्रत्यक्ष या अनुमान से चक्षुसनिकर्ष की अप्रसिद्धि
२६३	...ईश्वरकृष्णप्रदर्शित प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा	२८०	...चक्षुरश्मि की कल्पना व्यर्थ
२६३	...नैयायिककृतं मीमांसासूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणनिरसनम्	२८१	...संनिकृष्ट अर्थ द्योतक बहिरिन्द्रिय का विचार
२६३	...मीमांसकसूत्रप्रदर्शितप्रत्यक्षलक्षण का निरसन	२८२	...तेजोद्रव्य में अनुद्भूत रूप एवं स्पर्श की असिद्धि
२६४	...धर्मग्रहण का अनिमित्त वह प्रत्यक्ष किस का ?	२८२	...नेत्ररश्मिसाधक अनुमान का प्रतिबंध
२६५	...योगिप्रत्यक्ष में धर्म-अनिमित्तत्व दिखानेवाला प्रसङ्गसाधन	२८३	...मार्जारनेत्रकिरणवत् दिन में सूर्य किरण मानने की विपदा
२६६	...योगिप्रत्यक्ष प्रति प्रसङ्गसाधन की असंगतता	२८४	...प्रदीपरश्मि की अन्तराल में अनुपलब्धि की समीक्षा
२६६	...मीमांसक प्रदर्शित प्रसङ्गपूर्वक विपर्यय से निषेध किस का ?	२८५	...चक्षु में स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकता का अनुमान - नैयायिक
२६७	...मीमांसक की धर्मी-निषेधांशका का उत्तर	२८६	...पृथ्वी आदि में किरणसिद्धि का अनिष्ट
२६८	...गीध-मार्जारादि का सातिशय प्रत्यक्ष भी मर्यादित	२८६	...नारीनेत्रों के रश्मि की सिद्धि में हेतुदोष एवं प्रत्यक्षबाध
२६८	...मानसप्रत्यक्ष की विशेषता के प्रदर्शनद्वारा नैयायिक का समाधान	२८७	...नेत्र में तैजसत्वसाधक अनुमान का निरसन
२७१	...मनोविज्ञान भावार्थग्राहि होने में आक्षेप-प्रतिकार	२८८	...तैजसद्रव्य का अन्तर्भाव चन्द्रकिरण की तरह प्रदीप में
२७१	...भाविरूपता का वि० वि० भाव कैसे ?	२८९	...नीलादिरूप में रूपप्रकाशकत्व हेतु साध्यद्रोही ?
२७२	...संनिकर्ष के विना प्रतिभा कैसे प्रत्यक्ष ?	२९०	...प्रदीप में रूपप्रकाशनव्यभिचार का वारण निष्फल
२७३	...प्रतिभा प्रत्यक्षेतर ज्ञान नहीं है	२९०	...प्रदीप से रूपदर्शन या रूप से प्रदीप दर्शन ?
२७४	...प्रतिभा अप्रमाण नहीं	२९१	...प्रसंगात् तमसः तेजोऽभावरूपता निरसनम्
२७४	...प्रातिभ प्रत्यक्ष के लिये वि०वि० भाव संनिकर्ष	२९१	...तमस् में तेज-अभावस्वरूप का निरसन
२७५	...सत्सम्प्रयोग० सूत्र का विद्यमानोपलम्भ अर्थ असंगत		

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
२९२	...तमस् को आलोकाभावरूप मानने पर भी दोष तदवस्थ	३११	...धर्मस्वरूप अव्यभिचारितादि ज्ञान से भिन्न या अभिन्न
२९३	...नयनरश्मि में रूपप्रकाशकत्व की सिद्धि अशक्य	३१२	...अव्यभिचारित्व ज्ञान का स्वरूप — इस पक्ष में दोष
२९४	...स्फटिकान्तरित वस्तुदर्शन की न्यायमत में अनुपपत्ति	३१२	...अव्यभिचारिपद की निरर्थकता का अन्य हेतु
२९५	...स्फटिकान्तरित वस्तुदर्शन में अन्ततः योग्यता शरण	३१३	...मिथ्याजलज्ञान में मरीचि का प्रतिभास विकल्पग्रस्त
२९५	...समवाय असिद्ध होने से नेत्रसंयुक्त समवाय की असिद्धि	३१४	...केशोन्दुकज्ञान एवं मरीचि-उदक ज्ञान की तुलना
२९६	...भाव-अभाव का वि.वि.भाव सम्बन्ध असंगत	३१४	...मरीचिजलज्ञान की मरीचिसंनिकर्ष से उत्पत्ति असंभव
२९७	...चक्षु में अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वसाधक व्यतिरेकी हेतु	३१५	...इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से भ्रम की उपपत्ति का व्यर्थप्रयास
२९८	...श्रोत्रेन्द्रिय अप्राप्तार्थप्रकाशकत्ववादी बौद्धमत का प्रतिक्रम	३१६	...विशेष पर्यवसायि भ्रम की समीक्षा
२९९	...अन्यमतावलम्ब से अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व साधन अनुचित	३१६	...भ्रमस्थल में विशेषग्राहिता के जरिये ज्ञानद्वय प्रसक्ति
३०१	...मन-इन्द्रियसम्बन्ध के असम्भव का प्रतिपादन	३१६	...सा०वि० उभयग्राहि एक ज्ञान में विरोधप्रसक्ति
३०३	...ज्ञान और सुख के एकत्व में प्रत्यक्षविरोध का परिहार	३१७	...असद् विशेष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में दोषसन्तान
३०३	...प्रत्यक्ष के न्यायदर्शनीय लक्षण में 'अव्यपदेश्य' पद की व्यर्थता	३१८	...स्वविषयाकार संवरण एवं अन्याकार का धारण अयुक्तिक
३०४	...प्रत्यक्षलक्षणगत 'अव्यभिचारि' पद की समीक्षा	३१९	...'अव्यपदेश्य' पद द्वारा इष्टसिद्धि हो जाने से अव्यभिचारि-पद व्यर्थ
३०५	...असत् अवयवी का प्रतिभास कैसे ?	३१९	...'व्यवसायात्मक' पद समीक्षा
३०६	...प्रतिभासितजलसामान्यप्राप्ति का असम्भव	३२०	...'अव्यभिचारि' पद से व्यवसायात्मक पद की चरितार्थता
३०६	...जातिवाद में अनेक दोष	३२१	...न्यायदर्शानोक्त प्रत्यक्षलक्षण समर्थन के विविध वक्तव्यों की समीक्षा
३०७	...ज्ञान की अव्यभिचारिता कैसे ?	३२२	...अक्षादि व्यापार यथार्थ अर्थाधिगम का कारण नहीं है
३०८	...प्रवृत्तिसामर्थ्य के द्वारा अव्यभिचारिता का बोध कैसे ?	३२३	...इन्द्रियों में औपचारिक साधकतमत्व का अनिषेध
३०८	...सत्य वस्तु पाँच प्रकार से विषय बनेगी	३२४	...जैनसिद्धान्ते प्रत्यक्षस्य सभेदस्य स्वरूपम्
३०९	...मानससंनिकर्ष से अव्यभिचारिता का ज्ञान कैसे ?	३२४	...जैनसिद्धान्तानुसारि प्रत्यक्षलक्षणम्
३०९	...अव्यभिचारितादि धर्म ज्ञान से भिन्न या अभिन्न	३२५	...मतिज्ञान के भेदों में हेतु-फलभाव का निरूपण
३१०	...धर्म-धर्मिभाव समीक्षा		

पृष्ठ	विषय
३२६	...मति-स्मृति आदि शब्द मति के पर्यायशब्द — सैद्धान्तिक पक्ष
३२७	...चार्वाकस्य प्रत्यक्षेतरप्रमाण निषेधवादः
३२७	...गृहीतग्राहि ज्ञान भी प्रमाण
३२७	...चार्वाक की ओर से प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाण का प्रतिक्षेप
३२८	...चार्वाकवादप्रतिविधानम्
३२९	...भ्रान्त अनुमान भी व्याप्ति के बल से प्रमाण
३३०	...प्रत्यक्ष की तरह अनुमानप्रामाण्य की संगति
३३१	...चार्वाक के लिंगसिद्धिकारक प्रमाणविषयक प्रश्न का उत्तर
३३२	...क्षणिकत्वनिश्चय की सिद्धि से अनुमानव्यर्थता — चार्वाक
३३२	...क्षणिकत्वनिश्चय न होने से अनुमान सार्थक — बौद्ध
३३३	...विकल्प द्वारा व्याप्तिग्रह में निर्विकल्प समर्थ
३३३	...चार्वाक की पूर्वाक्त विविध युक्तियों का निरसन
३३४	...तीन से अधिक हेतु का निषेध कैसे? — आशंका
३३५	...चतुर्विध अनुपलब्धि और उस का अयोग
३३६	...हेतु के तीन ही प्रकार - इस कथन की स्पष्टता
३३७	...अत्यन्त असत् का विरोध कैसे — आक्षेप का प्रतिकार
३३७	...तीन से अधिक अतिरिक्त अर्थ हेत्वाभास होने में प्रमाणपृच्छा
३३८	...रस से रूप के अनुमान में समानकारण- जन्यत्वमूलक अविनाभाव
३३९	...‘तीन प्रकार का हेतु’ इस कारिकांश के अर्थ का दूसरा प्रकार
३४०	...नैयायिक प्रदर्शित अनुमानलक्षण की समालोचना
३४०	...लक्षणगत ‘तत्पूर्वक’ पद की विविध व्याख्या
३४१	...संस्कार में लक्षण की अतिव्याप्ति की आशंका — निवारण

पृष्ठ	विषय
३४२	...अनुमानलक्षण अव्यभिचारपदानुवृत्ति
३४२	...व्यवसायात्मक पद की अनुवृत्ति
३४२	...अव्यपदेश्य - पद की अनुवृत्ति
३४३	...उपमान में अतिव्याप्ति और अनुमानादिपूर्वकों में अव्याप्ति
३४३	...अतिव्याप्ति-अव्याप्ति का निवारण
३४४	...सम्बन्धप्रत्यक्षविनाश के बाद अनुमिति प्रत्यक्षपूर्वक कैसे? — उत्तर
३४५	...पूर्व-शब्द अध्याहार विना प्रत्यक्षफल में अनुमानत्वप्रवेश
३४६	...स्मृति आदि भी अनुमानप्रमाण - वात्स्यायन
३४७	...अन्य विद्वानों की ओर से अनुमानसूत्र की व्याख्या
३४८	...अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व का समुच्चय
३४८	...‘त्रिविध’ पद की अन्य प्रकार से व्याख्या — अन्य मत
३४९	...कारण से कार्य यानी योग्यता का अनुमान
३५०	...अनुमानप्रवृत्तिविरोध मिथ्या— उत्तर
३५१	...अनुमान के उच्छेद की विपदा का स्पष्टीकरण
३५२	...कारणदर्शनकाल में कार्यात्पत्ति प्रत्यक्षा- पत्तिनिरसन
३५३	...कार्यात्पत्तिकालीनप्रत्यक्षापत्ति का निरसन
३५४	...कारण से कार्य का नहीं, योग्यता का अनुमान- असंगत
३५४	...धर्मि-धर्मभाव बुद्धिकल्पित होने की आशंका — उत्तर
३५४	...अभेदावस्था में भी स्वभावहेतु की संगति का प्रयास व्यर्थ
३५५	...विकल्प द्वारा कल्पित हेतु से अनुमान अनुचित
३५६	...पूर्ववत् अनुमान के विवरण का निष्कर्ष
३५६	...शेषवत् अनुमान का ऊहापोह
३५७	...उभयतटव्यापिता वृष्टि का कार्य — स्पष्टता
३५८	...सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रकार का विवरण

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
३५८	...अन्यत्रदर्शन का शेषवत् में अन्तर्भाव शंका — समाधान	३७५	...पक्षधर्मताविरुद्ध कुमारीलवचननिषेध
३५९	...अन्यत्रदर्शन की पदार्थरूप से अघटमानता	३७६	...पक्षधर्मता के बल से धूम में अग्निकार्यत्व का अव्यभिचार
३६०	...रूप से स्पर्शानुमान सामान्यतोदृष्ट	३७६	...सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रह से अनुमान तथा पक्षधर्मता
३६०	...वत्-प्रत्यय का तुल्यता अर्थ ले कर पूर्ववत् की व्याख्या	३७७	...अनुपलब्धि पक्षधर्म क्यों नहीं ?
३६१	...शेषवत् यानी परिशेषानुमान द्वारा आत्मसिद्धि	३७८	...पूर्ववत्-शेषवत् आदि का निरसन
३६२	...सामान्यतोदृष्ट और पूर्ववत् का तफावत	३७९	...कादाचित्कत्वहेतुक शब्द में एकद्रव्यत्वसिद्धि
३६३	...इच्छादि में पारतन्त्र्य का सामान्यतोदृष्ट अनुमान	३८०	...शब्द में कार्यत्वादिसिद्धि अतः एक-द्रव्यत्व असिद्ध — बौद्ध
३६४	...पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट का एक ही उदाहरण	३८१	...सांख्यकल्पित पूर्ववत् आदि अनुमान का निषेध — बौद्ध
३६५	...अनुमानसूत्र की तीन व्याख्या पर विमर्श	३८२	...शाबरभाष्यानुमानलक्षणसमीक्षा
३६६	...नैयायिकप्रदर्शितानुमानलक्षणस्य प्रतिषेधः	३८२	...शाबरभाष्योक्त ज्ञातसम्बन्धमूलक अनुमान-व्याख्या की समीक्षा
३६६	...प्रथमव्याख्यान सर्वदोष मुक्त	३८३	...प्रमाणसंख्या — तत्र सौगतमतम्
३६६	...प्रथमव्याख्यान असंगत — बौद्ध	३८३	...प्रत्यक्ष/अनुमान दो ही प्रमाण — बौद्ध
३६७	...मेघ के (= कारण के) एकधर्म से अपरधर्म सिद्धि में दोष	३८४	...अप्रत्यक्षप्रमाण का अनुमानान्तार्थाटक अनुमानप्रयोग
३६८	...उन्नतत्वादिविशेषज्ञानी को भाविवृष्टि अनुमान असंगत	३८४	...प्रमाणान्तर के अभावसाधक निश्चय के असंभव का निरसन
३६८	...प्रक्रियावर्णन एवं अकार्य-कारण भूत लिंग की निःसारता	३८५	...प्रत्यक्ष-परोक्षभिन्न अर्थ प्रमेय नहीं
३६९	...तादात्म्य-तदुत्पत्ति के विना अव्यभिचार नहीं	३८५	...प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्रमेयान्तराभाव की सिद्धि
३७०	...पार्थिवत्व हेतु से लोहलेख्यत्व अनुमान की प्रसक्ति	३८७	...मीमांसकस्य शाब्दप्रमाणान्तरस्थापना
३७१	...सकलोपसंहारेण अविनाभाव का ग्रहण अशक्य	३८७	...प्रत्यक्षानुमानभिन्न शब्दप्रमाण सिद्धि — मीमांसक
३७२	...कार्य-कारणभावग्राहक विशिष्ट प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह	३८८	...शब्द के द्वारा सामान्यादि की अर्थ धर्मी में सिद्धि का व्यर्थ प्रयास
३७२	...अनुमानप्रामाण्य एवं पक्षधर्मता के लोप की शंका	३८९	...शाब्द में अनुमानलक्षणाभाव — मीमांसक
३७३	...सकलोपसंहारेण व्याप्तिग्रहः अनुमानप्रामाण्यं च	३८९	...उपमानं प्रमाणान्तरं — मीमांसकः
३७३	...सकलोपसंहारेण व्याप्तिग्रह और अनुमानप्रामाण्य	३८९	...उपमान एक स्वतन्त्रप्रमाण — मीमांसक
३७४	...कुमारीलमतनिरसन के साथ पक्षधर्मत्वसमर्थन	३९०	...उपमान के प्रामाण्य का समर्थन — मीमांसक
		३९१	...प्रत्यक्ष/अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं

पृष्ठ	विषय
३९२	...उपमानस्य स्वरूपं प्रमाणान्तरत्वं च - नैयायिकमतेन
३९२	...नैयायिकमते में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण
३९३	...अनुमान में उपमान अन्तर्भावनिषेध
३९५	...अर्थापत्तिः स्वतन्त्रप्रमाणम्-मीमांसकः
३९५	...अर्थापत्ति मीमांसकमते में स्वतन्त्र प्रमाण
३९६	...विविध अर्थापत्तियों के विविध साध्यों की स्पष्टता
३९७	...मीमांसामतानुसार अभावप्रमाण निर्देश
३९८	...अनुमान से अभावोपलब्धि अशक्य
३९९	...अभाव के प्रागभावादि ४ प्रकार
४००	...स्व-पर रूप से वस्तुमात्र सद्-असद् उभयरूप
४०१	...बौद्धमतेन शब्दादिसमीक्षया मीमांस- कादिप्रतिक्षेपः
४०१	...शब्द प्रमाणान्तरनिषेध - बौद्धमत
४०१	...शब्द में अर्थनिरूपणयोग्यता का निषेध
४०२	...उपमान अपूर्वार्थबोधक न होने से अप्रमाण - बौद्ध
४०२	...सादृश्यज्ञान की क्रमबद्धता का निरूपण
४०३	...पूर्वकालीन गोप्रत्यक्ष से गवयसादृश्यग्रहण की उपपत्ति
४०४	...वैसदृश्य में सप्तमप्रमाणत्वापत्ति
४०५	...उपमानविषयनैयायिकमतसमीक्षा - बौद्धः
४०५	...उपमान प्रमाणान्तरवादीनैयायिकमते का निरसन
४०६	...गवय विशेष में गवयशब्दवाच्यता गृहीत है
४०६	...व्यवहारकालीन व्यक्ति में संज्ञासंज्ञीभाव का ग्रहण अशक्य
४०७	...संज्ञा-संज्ञीसंबन्धज्ञान उपमानफल - नैयायिकतर्क
४०८	...गवयशब्दवाच्यता स्मृतिरूप है - बौद्धनिष्कर्ष
४०९	...बौद्धकृता अर्थापत्तिलक्षणसमालोचना
४०९	...सम्बन्धमूलकअर्थापत्ति अनुमानरूप - बौद्ध
४१०	...अनुमानलक्षण से अर्थापत्तिलक्षण अपृथग्
४१०	...प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का विषय शक्ति क्या है ?

पृष्ठ	विषय
४११	...प्रत्यक्षादिपूर्वक अर्थापत्ति अनुमानरूप तथा शब्दनित्यत्वनिषेध
४१२	...उपमानपूर्वक - अभाव-श्रुतार्थापत्तित्रय- समालोचना
४१२	...उपमानपूर्वक आदि अर्थापत्तियों की समीक्षा का निष्कर्ष
४१३	...अभावप्रमाण के प्रथम प्रकार की समालोचना
४१४	...अभावप्रमाण के दूसरे प्रकार का निरसन- बौद्ध
४१५	...अभावप्रमाण के तीसरे प्रकार की समीक्षा- बौद्ध
४१६	...मीमांसकप्रथित अभाव चतुर्विधता का निरसन
४१७	...भावों का भेद अभावांशाधीन नहीं, स्वतः है - बौद्ध
४१८	...कार्याभाव कारणाभाव स्वतः व्यावृत्त न मगने पर अनवस्था
४१८	...अभाव की वस्तुरूपता की उपपत्ति का सही तरीका
४१९	...वस्तुरूपता साधक प्रमेयत्व हेतु तुच्छ अभाव में साध्यद्रोही
४२०	...मीमांसककथित उद्भवाभिभवव्यवस्था का निरसन
४२०	...असदर्थग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान भ्रान्तिरूप
४२१	...नैयायिककथित अभावप्रत्यक्षप्रक्रिया की समालोचना
४२२	...अभाव में संयुक्तविशेषणता की अनुपपत्ति
४२३	...यहाँ घट का अभाव है - इस प्रत्यक्ष में आनन्तर्य क्यों ?
४२४	...सैद्धान्तिक जैनमतेन त्रिलक्षणहेतुपरीक्षा
४२४	...सैद्धान्तिकजैनमतानुसार प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणद्वय- स्थापनान्तर्गतत्रिलक्षणहेतुवादी बौद्धमतपरीक्षा
४२५	...अभावव्यवहार के लिये शशशुंग दृष्टान्त के बारे में शंका
४२५	...अभावप्रत्यक्ष से ही अभावव्यवहार सिद्धि - समाधान

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
४२६	...अन्वय के विना भी व्यतिरेकी हेतु में ज्ञापकत्व की सिद्धि	४४०	...तादात्म्यादि अन्य सम्बन्ध प्रयोज्य प्रतीति का अनुमान कैसे ?
४२७	...प्राणादि में बुद्धिसन्तान से व्याप्ति की शंका का निरसन	४४१	...परोक्षप्रमाणस्वरूप-विभागप्रदर्शकं जैनमतम्
४२७	...शक्तिभेद के विना कार्यभेद मानने पर क्षणिकताभंग	४४१	...जैनमतानुसार शब्दादिप्रमाण
४२८	...व्यतिरेक रहने पर अन्वय के अवश्यभाव की शंका	४४१	...जैनमतानुसार परोक्षप्रमाण के लक्षण और प्रकार
४२९	...पक्षधर्मत्व में हेतुलक्षणत्व का निरसन - उत्तर	४४२	...प्रत्यक्ष के मुख्य-संव्यवहार दो भेद
४२९	...बौद्धमत से भी हेतु में पक्षधर्मता की असंगति	४४३	...दर्शन-ज्ञानालम्बनयोः सामान्य-विशेषाकारवत्त्वम् आद्यगाथाव्याख्यासमाप्तिश्च
४३०	...पक्षधर्मता के लक्षण की अघटमानता	४४३	...सामान्याकार दर्शन विशेषाकार ज्ञान
४३१	...पक्ष के विविध लक्षणों की अघटमानता	४४४	...द्वि० काण्डे द्वि० गाथा तद्व्याख्यारम्भश्च
४३१	...अविनाभाव के सिवा अन्य हेतुलक्षणों की व्यर्थता	४४४	...आत्मा दर्शनमय आत्मा ज्ञानमय
४३२	...विवादस्पद धर्मी में पक्षधर्मत्व की उपयोगिता का निरसन	४४५	...तृतीय गाथा - तद्व्याख्यानं च
४३४	...सपक्षवृत्तित्व के बल से हेतु में साधकता की शंका का निरसन	४४६	...केवलज्ञान-दर्शनयोः क्रमवादे पूर्वपक्षारम्भः - चतुर्थगाथा तद्व्याख्या च
४३५	...पक्षधर्मता के विना महासमुद्र में अग्निबोध के आक्षेप का उत्तर	४४६	...पूर्वपक्ष में ज्ञान-दर्शनभिन्नकालता का प्रदर्शन
४३६	...एकसामग्र्यधीनता की कल्पना से कार्यानुमानप्रसङ्ग	४४७	...केवलि णं - सूत्र का पूर्वपक्षाभिमत व्याख्यान
४३७	...तादात्म्य के विना प्रतिबन्धाभाव की शंका का समाधान	४४७	...उत्तरसूचक सूत्र का व्याख्यान
४३८	...अविनाभावग्रहण में अनुपलम्भसहकृत प्रत्यक्ष असमर्थ	४४७	...स्वभावतः उपयोगों में कालभेद
४३९	...अविनाभाव का ग्राहक ऊहसंज्ञक स्वतन्त्र प्रमाण - जैन मत	४४८	...पूर्वपक्षप्रदर्शितव्याख्याने दोषनिरूपणम्
४३९	...कार्य-स्वभाव-अनुपलब्धि अविनाभाव के विना निरर्थक	४४८	...पूर्वपक्षकृत व्याख्यान में दूषणोद्धार
४४०	...उपलब्धिलक्षण अप्राप्त से भी अभाव का अनुमान	४४९	...क्रमशः ग्रहण के प्रतिपादन में भी पुनः दोष
		४५०	...सूत्र की विपरीतव्याख्या से होढदान दूषणप्राप्ति
		४५१	...अनुमानेन यौगपद्यस्थापनम् पंचमगाथा तद्व्याख्यानं च
		४५१	...केवल-ज्ञानदर्शन की समकालीनता का अनुमान
		४५२	...षष्ठ-सप्तमगाथे तद्व्याख्यानं च
		४५२	...क्रमवाद में आगमविरोध का उपदर्शन
		४५३	...क्रमवाद में द्रव्यापेक्षया अपर्यवसितत्व अघटमान
		४५४	...क्रमवाद एकान्त में विरोध
		४५४	...अष्टमगाथा तद्व्याख्यानं च
		४५५	...ग्रन्थकर्तुः स्वपक्षनिरूपणे नवमगाथा तद्व्याख्यानं च
		४५५	...समकालीन उपयोगद्वय का अभाव अभेद साधक

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
४५६	...दशमगाथा तद्ब्याख्यानं च	४६५	...केवलिमुक्ति के असम्भवदोष का परिहार- दिगम्बर पूर्वपक्ष
४५६	...ज्ञान-दर्शन अभेदपक्ष में सर्वज्ञता की घटमानता	४६६	...सुनिश्चितरूप से बाधकप्रमाण का असम्भव बलवान्- दिगम्बर
४५७	...ज्ञान-दर्शनोपयोगविषये पूज्यानां मतत्रयम् - एकादशगाथा	४६६	...तीन विकल्पों से कवलाहार का निरसन - दिगम्बर
४५७	...श्रीजिनभद्रगणि-मल्लवादि-सिद्धसेनदिवाकरसुरि के मतभेद	४६७	...स्वाभाविक तीर्थस्थापनप्रवृत्ति के प्रश्न का उत्तर - दिगम्बर
४५७	...आवरणक्षय के बाद उपयोगभिन्नता नहीं	४६८	...दिगम्बराभिप्रायनिरसनम् व्याप्त्यभिप्रायश्च - श्वेताम्बरः
४५८	...एक उपयोग की साकार-निराकारोभयग्राहकता अविरुद्ध	४६८	...दिगम्बरमतनिरसनारम्भ - श्वेताम्बर उत्तरपक्ष
४५८	...गाथा-१२ भेदपक्ष में अदृष्ट/अज्ञात का भाषण दोषरूप	४६८	...क्षयोपशम क्रमोपयोग का कारण न होने की शंका - दिगम्बर
४५९	...गाथा-१३ भेदपक्ष में केवली में असर्वज्ञता की प्रसक्ति	४६८	...कारणसामग्री बलवती होने से समकालोत्पत्ति - श्वेताम्बर उत्तर
४६०	...गाथा-१४, भेदपक्ष में केवलदर्शन के आनन्त्य का लोप	४६९	...बलवती कारणसामग्री से कार्योत्पत्ति अवश्य
४६०	...यौगपद्यवादी के मत में दर्शन में आनन्त्य की उपपत्ति	४७०	...केवलि-कवलाहारबाधक-साधक प्रमाण निदर्शनम्
४६१	...गाथा-१५, क्रमवादपक्ष में शक्तितः अपर्यवसितत्वादि की संगति	४७०	...केवली में भुक्ति का कारण क्षुधावेदनीय का उदय
४६२	...छद्मस्थ-केवलिनोः वैजात्यमिति दिगम्बरपक्षः	४७०	...केवलि में दिगम्बरमान्य अतज्जातीयत्व की समीक्षा
४६२	...पंचज्ञानाभाव की तरह उपयोगद्वयाभाव- अभेदवादी	४७१	...दिगम्बर के औदारिक-आहारित्वादि कुतर्कों का निरसन
४६२	...छद्मस्थ में वह केवली में भी हो- यह नियम नहीं- दिगम्बर	४७२	...विग्गहगइ-सूत्र कवलाहारस्थापक
४६३	...केवलिकवलाहारनिषेधः - दिगम्बरः	४७३	...कवलाहार के विना देशोनपूर्वकोटी पर्यन्त शरीरस्थिति असम्भव
४६३	...केवली में कवलाहारनिषेधक युक्ति	४७३	...धूम से अग्नि-अनुमान लोपापत्ति
४६३	...आहारीसूचक सूत्र लोमाहारविषयक	४७४	...धूम से अग्नि-अनुमान के समर्थन की प्रस्तुत में तुल्यता
४६४	...कवलाहार के विना शरीरस्थितिभंगकल्पना अयुक्त	४७५	...केवली की निराहार शरीरस्थिति की सीमा के सूचक सूत्र
४६४	...कवलाहारविरह में शरीरस्थिति का कालनियम नहीं	४७६	...मुक्तिलोप की आशंका पर विकल्पद्वय का प्रत्युत्तर
४६४	...केवलिमुक्ति के असम्भवदोष का आपादन - श्वेताम्बर	४७७	...विग्गहगइ... सूत्रों से कवलाहार की सिद्धि

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
४७७	...दिगम्बरकथित बाधकप्रमाण के असम्भव की असिद्धि	४९२	...गाथा-२८-२९ अस्पृष्टविषयक श्रुत दर्शनरूप क्यों नहीं ? प्रश्न का उत्तर
४७८	...सुनिश्चित बाधकप्रमाण के असम्भव की समीक्षा	४९२	...अवधिज्ञान के लिये अवधिदर्शनशब्द उचित
४७८	...संवादित्व ही उचित प्रमाणलक्षण	४९३	...गाथा-३० केवल बोध भी उभयोपयोगात्मक एक है
४७९	...बुभुक्षादिकल्प में दोषापादन का निवारण	४९३	...चक्षुदर्शनादि नवविध उपयोग - व्याख्या
४८०	...अनन्तवीर्यता के साथ कवलाहार अविरोध	४९४	...मनःपर्यव-केवलज्ञान-केवलदर्शन उपयोगों की व्याख्या
४८१	...केवलि में भूख-प्यासादिक्लेश के अभाव का कथन असार	४९५	...सूत्रकार अभिप्राय का अन्यथा व्याख्यान अनुचित
४८१	...गाथा-१६ मति और श्रुतज्ञान समविषय, अवधि-मनःपर्यव भिन्नविषय	४९६	...दर्शन-मतिज्ञान का अभेद मानने पर आगमविरोध
४८२	...गाथा-१७ केवलज्ञान सकलार्थ - निरावरण-अनन्त-अक्षय	४९७	...गाथा-३१, ३२ केवल उपयोग युगपद् एक होने का समर्थन
४८३	...अक्रमिक अभिन्न ज्ञान-दर्शन में 'केवल' शब्दप्रयोग की उपपत्ति	४९७	...सम्यग्दर्शन भी आभिनिबोधरूप है
४८३	...एकान्त ज्ञानाद्वैतवाद अमान्य	४९८	...गाथा-३३, सभी दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप नहीं होते
४८४	...गाथा १८ अन्यदार्शनिक सूत्रों का सादृश्य, किन्तु अर्थ में विशेषता	४९८	...केवलज्ञान एकान्त से अनुत्पादरूप भी नहीं
४८५	...गाथा-१९, मनःपर्यवज्ञान के विषयों का दर्शनबोध क्यों नहीं ?	४९९	...गाथा-३४, ३५ केवलज्ञान का कथंचिद् विनाश सयुक्तिक है
४८६	...गाथा-२०, एकरूप केवलोपयोग की ज्ञानदर्शनोभयरूपता - जैनमत	५००	...गाथा-३६ केवलज्ञान कथंचिद् उत्पत्तिशील है
४८७	...गाथा-२१, ज्ञान और दर्शन के भेद की सदृष्टान्त स्पष्टता	५००	...आत्मा और केवलज्ञान में भेदांशका
४८८	...गाथा-२२-२३-२४, छद्मस्थ को दर्शनमूलक ही ज्ञान, केवल में नहीं	५०१	...गाथा-३७, ३८, ३९ आंशका निरसन- एकान्त भेद या अभेद नहीं
४८९	...गाथा-२५, अवग्रह मतिज्ञान का भेद है तो दर्शन से नया क्या लेना ?	५०२	...गाथा-४० अनेकान्त का उदाहरण पुरुष, जो राजा बना
४९०	...गाथा-२६, मनःपर्यायज्ञान में दर्शनव्याख्या की अतिव्याप्ति नहीं	५०३	...गाथा-४१, राजदृष्टान्त का जीव-केवलिपर्याय में उपनय
४९१	...अर्थाकार विकल्पग्राहक मनःपर्याय दर्शनरूप क्यों नहीं ? प्रश्न का उत्तर	५०४	...गाथा-४२, द्रव्य पर्याय का कथंचिद् भेद मान्य
४९१	...गाथा-२७ मति-श्रुतमूलक अर्थोपलम्भ में दर्शन निरवकाश	५०५	...गाथा ४३ केवलज्ञान और आत्मा का अन्योन्य कथंचिद् अभेद
		५०५	...श्रीभगवतीसूत्र का भावार्थ
		५०६	...श्री अरिहन्तों में कुसमय-विशासकत्व युक्तिसंगत समाप्त
		५०७-५१२	परिशिष्टम्।

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः

श्रीमद् विजय प्रेम-भुवनभानु-जयघोषसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः

सन्मति - तर्कप्रकरणम्

तत्त्वबोधविधायिनी (टीका)

चतुर्थखण्डः

(द्वितीयः काण्डः)

(दर्शन-ज्ञानोपयोगस्वरूपम्)

एवमर्थाभिधानस्वरूपज्ञेयस्य सामान्य-विशेषरूपतया द्व्यात्मकत्वं प्रतिपाद्य 'ये वचनीयविकल्पाः संयुज्य-मानयोरनयोर्नययोर्भवन्ति सा स्वसमयप्रज्ञापना, अन्यथा तु सा तीर्थकृदासादना' (काण्ड 9-43) इति यदुक्तम् तदेव प्रपञ्चयितुम्, 'उपयोगोऽपि परस्परसापेक्षसामान्यविशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शनज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः 10 प्रमाणम् दर्शनज्ञानैकान्तस्वरूपप्रमाणम्' इति दर्शयितुं प्रकरणमारभमाणो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकाभिमतप्रत्येक-दर्शन-ज्ञानस्वरूप-प्रतिपादिकां गाथामाहाचार्यः -

* एकान्तिक ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग अप्रमाण *

सन्मतितर्कप्रकरण के प्रथम काण्ड में ज्ञेय-स्वरूप की मीमांसा की गयी। उस में कहा गया कि अर्थाभिधान (अर्थसंज्ञक) यानी ज्ञेयपदार्थ के दो ही मुख्य भेद हैं - सामान्य और विशेष। विशेषतः 15 प्रथम काण्ड की 43 वीं गाथा में (तृतीय खंड में) यह ध्यान पर लाया गया कि सामान्य और विशेष के ही प्रतिपादन करने वाले द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक दो नय हैं - उन के परस्पर सापेक्ष संकलन द्वारा अनेक विकल्प यानी प्रकार फलित होते हैं - इसी लिये इस ढंग से होने वाली प्ररूपणा अनेकान्तगर्भित होने से स्वसमय यानी जैन सिद्धान्तों की सही प्ररूपणा है। उस से विपरीत भाषण करना - यह तो तीर्थंकर भगवान की आशातना है। - इस संदर्भ में, द्वितीय काण्ड की प्रथमगाथा का अवतरण 20 करते हुए तत्त्वबोधविधायिनी व्याख्या के कर्ता श्री अभयदेवसूरिजी कहते हैं कि - यथार्थ प्ररूपणा में जैसे सामान्य और विशेषरूप ज्ञेय परस्पर सापेक्ष दिखाये गये हैं वैसे ही उन ज्ञेय का प्रकाशक चैतन्यमय उपयोग भी परस्पर सापेक्ष ज्ञान-दर्शन उभयरूप ही होता है। तात्पर्य, उपयोग की दो धाराएँ हैं - दर्शन एवं ज्ञान, दर्शनोपयोग विशेष-अविनिर्मुक्त सामान्य के ग्रहण में तत्पर रहता है और ज्ञानोपयोग सामान्य-अविनिर्मुक्त विशेष के ग्रहण में तत्पर रहता है - ऐसे ही दो उपयोग प्रमाण की कक्षा में 25 गिने जाते हैं। जब कि एकान्त सामान्य या एकान्त विशेष के ग्रहण में तत्पर दर्शन या ज्ञान उपयोग प्रमाणभूत नहीं है।

इस तथ्य का उपदर्शन कराने के लिये उपयोग प्रकरण के प्रारम्भ में मूलग्रन्थकार सिद्धसेनाचार्य द्रव्यार्थिकनय को सम्मत दर्शन एवं पर्यायार्थिकनय को सम्मत ज्ञान उपयोग के स्वरूप की सूचक, दूसरे ज्ञानकाण्ड की पहली गाथा प्रस्तुत करते हैं -

(मूलम्) जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।

दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥१॥

(त.बो.वि.व्याख्या) द्रव्यास्तिकस्य सामान्यमेव वस्तु, तदेव गृह्यते अनेनेति ग्रहणं दर्शनमेतद् उच्यते । पर्यायास्तिकस्य तु विशेष एव वस्तु, स एव गृह्यते येन तद् ज्ञानम् अभिधीयते । ग्रहणं विशेषितम्
5 इति विशेषग्रहणमित्यभिप्रायः । द्वयोरपि अनयोरन्ययोरेष प्रत्येकमर्थपर्यायः अर्थ = विषयं पर्येति = अवगच्छति
यः सोऽर्थपर्यायः ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः ।

उपयोगस्य चानाकार-साकारते सामान्य-विशेषग्राहकते एव तत्र तत्राभिधीयते । अविद्यमान आकारः
भेदो ग्राह्यस्य अस्येत्यनाकारं दर्शनमुच्यते । सह आकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्तते यद् ग्राहकं तत् साकारं ज्ञानमित्युच्यते ।
निराकार-साकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणम् न तु निरस्तेतराकारौ,
10 तथाभूतवस्तुस्वविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशविकलैकांशस्वोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च ।
तेनैकान्तवाद्यभ्युपगमः → “बोधमात्रं प्रमाणम्, साकारो बोधः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशिष्टः स एव
ज्ञातृव्यापारोऽर्थदृष्टताफलानुमेयः संवेदनाख्यफलानुमेयो वा, अनधिगतार्थाधिगन्ता इन्द्रियादिसम्पाद्यः,
अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपोऽबोधस्वो वा साधकतमत्वात्

गाथार्थः :- जो सामान्य का ग्रहण - वही दर्शन है, विशेषित वही ज्ञान है । दोनों ही नयाँ
15 का यह अपना-अपना अर्थ अभिगम है ॥ १ ॥

✽ द्रव्यास्तिक - पर्यायार्थिक नयों के ग्राह्य का स्वरूप ✽

द्रव्यास्तिक नय का ग्राह्य विषय है सामान्य जो कि वस्तुरूप है । सामान्य जिस से गृहीत हो
ऐसे ग्रहण को दर्शन कहते हैं । पर्यायास्तिक नय का विषय है विशेषात्मक वस्तु । जिस से विशेष
गृहीत हो ऐसा ग्रहण ही ज्ञान कहा जाता है । मूल गाथा में 'विसेसियं णाणं' ऐसा कहा है उस
20 का यही मतलब है - विशेषग्राहि ज्ञान । द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दोनों नयों का यह अपना अपना
ग्राह्य विषय है । अर्थ यानी विषय का, पर्याय यानी बोधक । दोनों ही नय इतरनयार्थसापेक्ष अपने
अर्थ के ग्राहक हैं, यह फलितार्थ है ।

✽ उपयोग - साकारानाकारभेद - प्रमाणस्वरूपनिरूपण ✽

जैन शास्त्रों में अनेक स्थल में साकार एवं निराकार उपयोग का उल्लेख आता है । वहाँ अनाकारता
25 यानी सामान्य-ग्राहकता और साकारता यानी विशेष-ग्राहकता यही अर्थ अभिप्रेत है । जिस के ग्राह्य विषय
में आकार यानी भेद अर्थात् विशेष का कोई स्पर्श नहीं है उस उपयोग को अनाकार एवं दर्शन कहा
गया है । अनेक आकार यानी भेद अर्थात् विशेष जिस के ग्राह्यक्षेत्र में अन्तर्भूत हैं ऐसे साकार उपयोग
को ज्ञान कहा गया है ।

[द्रव्य में रूप-रस-गन्धादि अनेक धर्म होते हैं । चाक्षुष ज्ञान रूप का ग्रहण करेगा किन्तु उस
30 द्रव्य में रहे हुए रस या गन्ध का अपलाप नहीं करेगा, तभी वह प्रमाणभूत माना जायेगा । अन्य
धर्मों का अपलाप करने पर वह अप्रमाणभूत कहा जायेगा - वैसे ही] निराकार उपयोग प्रवर्तमान

प्रमाणम्” – इत्यादिस्वोऽयुक्तः।

[प्रमाणस्वरूपमीमांसा]

तथाहि— ‘बोधः प्रमाणम्’ इति वदन्तो वैभाषिकाः* पर्यनुयोज्याः— किं बोधमात्रस्य प्रामाण्यम् आहोस्वित् बोधविशेषस्य ? यदि बोधमात्रस्य तदा तल्लक्षणप्रणयनमयुक्तम् व्यवच्छेद्याभावात्, अबोधस्य व्यवच्छेद्यत्वेऽपि संशय-विपर्ययादीनां बोधस्वभावत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिः। न च संशयादीनामपि प्रमाणता, 5

होगा तब वस्तु में सामान्य - विशेष उभय धर्म के होते हुए भी विशेष वहाँ उपसर्जनीभूत यानी गौण अर्थात् अनुद्भूत रहेगा, जब कि अपना विषय सामान्य मुख्यरूप से वहाँ भासित होगा - ऐसा सामान्य ग्राही उपयोग, विशेष का अपलाप न करने पर ही प्रमाणभूत ठहरेगा। साकार उपयोग भी अपने विषयभूत विशेष को अवभासित करेगा तब अन्य सामान्याकार का अपलाप न करने पर ही वह प्रमाणभूत कहा जायेगा। दूसरे आकार के अपलाप करने पर वे दोनों ही प्रमाणता से च्युत हो 10 जायेंगे, क्योंकि वैसा कोई विशेष या सामान्य भाव ही नहीं है जो परस्परनिरपेक्ष हो - जिस का ग्रहण करनेवाला कोई उपयोग हो। वैसा उपयोग होगा तो विषयशून्य होगा, अत एव उसका प्रामाण्य युक्तिबाह्य हो जायेगा। वस्तुतः वैसे उपयोग का सत्त्व ही युक्तिबाह्य है जो एक सामान्यादि अंश से सर्वथा विनिर्मुक्त अन्य विशेष अंश का अवभासन करता है। नतीजतन, प्रमाण के बारे में एकान्तवादियों के जो विविध मत हैं वे सब अप्रमाण है - 15

कोई (प्रभाकरभट्ट) कहता है ज्ञान मात्र प्रमाण ही होता है। कोई सौत्रान्तिकादि वादी कहते हैं कि साकार (सविकल्प) ज्ञान ही प्रमाण है। कोई कुमारिलभट्टादि वादी कहता है - अनधिगत अर्थ का ग्राहक साकार ज्ञान ही प्रमाण है। कोई मीमांसक वादी यह भी कहता है कि अनधिगतार्थाधिगन्तु ज्ञातव्यापार प्रमाण है, वह ज्ञातव्यापार यद्यपि परोक्ष है फिर भी अर्थगत होता है, अथवा स्वजन्यसंवेदनात्मक कार्य से भी ज्ञातव्यापार अनुमित होता है। कोई वादी कहता है कि अनधिगत अर्थ का ग्राहक इन्द्रियादिप्रेरित व्यापार 20 प्रमाण है। कोई नैयायिकादि वादी कहता है ‘अव्यभिचारी आदिविशेषणों से विशिष्ट अर्थोपलब्धि’ की जनक सामग्री या उसका एक अंश ही प्रमाण है - चाहे वह ज्ञानरूप हो या तो ज्ञानभिन्न यानी चक्षु आदि इन्द्रियरूप हो। सब अपने अपने अभिमत पदार्थ को अर्थोपलब्धि में प्रकृष्ट साधक होने से ‘प्रमाण’तया स्वीकारते हैं।

* प्रमाणतत्त्व की विविध व्याख्या - उन की मीमांसा *

अब व्याख्याकार विस्तारपूर्वक प्रमाणतत्त्व की मीमांसा (पृष्ठ ३ से पृष्ठ ५०० तक) प्रारम्भ करते 25 हैं। बौद्ध मत की वैभाषिक शाखा निराकार बोध को ‘प्रमाण’ मानती है। सौत्रान्तिक शाखा साकार बोध को ‘प्रमाण’ मानती है, विज्ञानवादी शाखा अनेकज्ञान-संतानात्मक साकार बोध को ही प्रमाण मानती है किन्तु बाह्यार्थ की ज्ञान से पृथक् सत्ता का स्वीकार नहीं करती। ‘बोध प्रमाण है’ ऐसा बोलने वाले वैभाषिकमतवादियों की समीक्षा का प्रारम्भ करते हुए व्याख्याकार महर्षि कहते हैं कि वैभाषिकों

*. अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते, प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैरादृतः। योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम्।। अधिकार्थिभिः वैभाषिकादिमतस्वरूपं षड्दर्शनसमुच्यते बृहद्भूतो (भारतीयज्ञानपीठप्रकाशिते पृ० ७२ तः ७५ पृष्ठमध्ये) सर्वदर्शनसंग्रहे चावलोकनीयम्।

लोक-शास्त्रविरोधात्। लोकप्रसिद्धं च प्रमाणं व्युत्पादयितुमारब्धम् तत्र चेन्द्रियादेरपि प्रमाणतायाः प्रसिद्धेर्बोधस्य प्रामाण्येऽव्याप्तिश्च लक्षणदोषः। न चाऽबोधस्वरूपेन्द्रियादेर्लोकः प्रमाणतां न व्यपदिशति 'प्रदीपेनोपलब्धम्' 'चक्षुषा दृष्टम्' 'धूमेनावगतम्' इति लौकिकानां व्यवहारदर्शनात्। न चौपचारिकं तेषां प्रामाण्यम् प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वेन मुख्यप्रामाण्योपपत्तेः। अत एव शास्त्रान्तरेष्वपि विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाऽबोधरूप-

5 विशेषत्यागेन सामान्यतः "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" [याज्ञ० स्मृ० २।२२] इत्युक्तिः।^१ किञ्च, 'प्रमीयतेऽनेन' इति प्रमाणशब्दः करणविशेषप्रतिपादकः, करणविशेषत्वं चास्य विशिष्टोपलब्धि-स्वरूपकार्यजनकत्वेन, कार्यस्य चाऽव्यभिचारादिस्वरूपप्रमितिरूपत्वात् तज्जनकेनापरेण साधकतमेन भाव्यम् एकस्यैव स्वात्मनि करणक्रियाविरोधात्, ततो बोधाबोधस्वरूपस्य प्रमितिजनकस्य प्रमाणतोपपत्तेः 'बोधमात्रं प्रमाणम्' इत्यात्राऽव्याप्तिर्लक्षणदोषः प्राप्नोतीति स्थितम्। अथ बोधविशेषः प्रमाणम् तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-

10 कः पुनरसौ बोधस्य विशेषः ? यद्यव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टत्वं तदा प्रमितिस्वभावस्य तस्य प्रमाणता-को यह प्रश्न किया जाय - क्या बोधमात्र (यानी कोई भी ज्ञान) प्रमाण है या बोधविशेष (यानी विशिष्ट गुणशाली बोध) प्रमाण है ? बोधमात्र को प्रमाण माना जाय तो 'मात्र' शब्द से किसी संशयादि का व्यवच्छेद अशक्य हो जाने से प्रमाण के लक्षण का व्युत्पादन-प्रयास निरर्थक ठहरेगा। हाँ, अबोधस्वरूप जो कोई होगा उस का व्यवच्छेद आप कर पायेंगे, लेकिन संशय-विपरीतज्ञान(भ्रम)-अनध्यवसाय आदि 15 का व्यवच्छेद न होने से उन में अतिव्याप्ति प्रसक्त होगी! अर्थात् वे भी बोधात्मक होने से उन को प्रमाणभूत मानने की समस्या खड़ी होगी। यदि आप संशयादि को भी प्रमाणभूत करार देंगे तो वह लौकिक-विरुद्ध एवं शास्त्रविरुद्ध कृत्य होगा, क्योंकि लोक में एवं शास्त्रीय व्यवहारों में संशयादि प्रमाण नहीं गिने जाते।

अगर आप, लोक में कैसे प्रमाण की प्रसिद्धि है - इस तथ्य का प्रकाशन करना चाहते हैं - तो 20 आप के 'बोधमात्र प्रमाण है' इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी होगा, क्योंकि लोक तो इन्द्रिय या प्रदीप आदि को भी प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियादि बोधरूप नहीं है फिर भी उन का लोक में प्रमाणरूप से व्यवहार होता है। आम जनता में ऐसा वाक्यप्रयोग दीखता है - दीपक से देख लिया, नेत्र से देखा, धूम से (अग्नि को) जान लिया। यदि आप कहें कि दीपकादि गौणरूप से - उपचार से प्रमाण हैं - तो यह अयोग्य है क्योंकि प्रमितिक्रिया में जो प्रकर्षरूप से साधक हो उसी को गौण नहीं मुख्यरूप से ही प्रमाण माना जाता 25 है, प्रदीपादि भी प्रमितिक्रिया के प्रकृष्ट साधक हैं - इसलिये मुख्यरूप से प्रामाण्य उस में संगत हो सकता है। यही कारण है - अन्य शास्त्रों में भी सामान्यरूप से विशिष्ट-उपलम्भ के साधक पदार्थों को प्रमाण घोषित किया है चाहे वह बोधात्मक हो या बोधभिन्न स्वरूप हो। - याज्ञ० स्मृति में कहा गया है - प्रमाण के तीन प्रकार हैं - लिखित (ताम्रपत्रादि), साक्षि और भुक्ति (यानी स्वानुभव कब्जा)।

✽ बोधमात्र को प्रमाण मानने पर अव्याप्ति दोष ✽

30 यह भी जान लीजिये कि प्रमाणशब्द की व्युत्पत्ति हे जिस (करण) से प्रमिति की जाय। इस व्युत्पत्ति

१. लिखितं - शासनादि लोके पत्रादि तत् प्रमाणम्। साक्षिणः - पुरुषाः प्रमाणम्। भुक्तिः - अनुभवः प्रमाणम्। प्रमेय क० पृ. ३ प्र. पं. ११, टि. ४०-४१-४२। षड्द. स. बृ. वृत्तौ पृ.२०७ पं. १७-१९। (इति भूतपूर्वसम्पादकटीप्पण्याम्)

प्रसक्तिः। न चाभ्युपगम्यत एवेति वाच्यम् करणविशेषस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः।

अत एव 'निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणम्' [] इति वैभाषिकोक्तमसंगतम्।
अपि च, कर्मण्यसौ प्रमाणमभ्युपेयते। यत उक्तम् [प्र० वा० २-३०८]

▼ 'सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि' - इति। कर्मता च बोधसहभाविनोऽर्थस्य तद्बोधापेक्षया
न सम्भवति, तत्समानकालस्य तत्कृतविकार्यत्वाद्ययोगात्। अकर्मस्त्वे च तत्र कारणे क्रियायाः कथं 5
प्रतिनियमः ? तदभावे चैकसामग्र्यधीनतायामपि सर्वः सर्वस्य बोधो भवेत्। किञ्च, एकसामग्र्यधीनत्वस्य
द्वयोरप्यविशेषात् यथा बोधोऽर्थस्य ग्राहकस्तथाऽर्थोऽपि बोधस्य किं न भवेत् ? तन्न निराकारो बोधः
के जरिये प्रमाणशब्द असामान्य करण का वाचक सिद्ध होगा। यहाँ करण तो वही होगा जो विशिष्ट
अर्थोपलब्धि स्वरूप कार्य को जन्म दे। यही उस करण की असामान्यता कही जायेगी। विशिष्ट अर्थोपलब्धिरूप
कार्य व्यभिचारमुक्त प्रमितिस्वरूप (प्रमात्मक) होने से वह स्वयं तो अपने आप को जन्म नहीं दे सकता, 10
क्योंकि कार्य स्वयं अपना ही करण बन के अपनी जननक्रिया करे ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि वह
युक्तिविरुद्ध है। फलतः उस का जनन करने वाला कोई दूसरा ही साधकतम करण होना जरूरी है जो
कि असाधारण करण रूप माना जा सके। ऐसा करण तो प्रदीपादि भी है इसलिये जो भी प्रमितिजनकस्वभाव
करण हो वही 'प्रमाण' पदवी ग्रहण करेगा चाहे वह बोधात्मक हो या अबोधात्मक (प्रदीपादि), क्योंकि
विशिष्ट अर्थोपलब्धि का जनक जो कोई हो वही प्रमाण है। इस तथ्य के आलोक में आप का 'बोधमात्र 15
ही प्रमाण है' यह लक्षण अबोधरूप प्रदीपादि में अव्याप्तिदोष- प्रस्त जाहीर होता है।

अब बोधमात्र को नहीं, बोध विशेष यानी विशिष्ट बोध को जो लोग प्रमाण मानते हैं उन
को यह प्रश्न है कि उस बोध की क्या विशिष्टता है जिससे उसे 'प्रमाण' पदवी मिले ? यदि कहें
कि अव्यभिचार आदि विशेषण-विशिष्टता के जरिये बोधविशेष प्रमाण है, तो ऐसी विशिष्टता करण
में नहीं किन्तु प्रमितिरूप फल में होने से प्रमितिरूप बोध में प्रमाणत्व की अतिव्याप्ति होगी। यदि 20
कहें कि यही हमें मान्य है तो यह विभ्रम है क्योंकि प्रामाणिक व्यवस्था में प्रमाण तो करणविशेषरूप
होता है न कि फल (प्रमिति) स्वरूप।

❖ वैभाषिक प्रमाणलक्षण निरसन ❖

'प्रमाण बोधात्मक ही हो' ऐसा नियम न होने से, वैभाषिकने जो 'निराकार बोध प्रमाण' ऐसा
लक्षण कहा है वह भी असंगत ठहरेगा। वैभाषिकमतानुसार यह कहा जाता है कि अर्थ और बोध 25
दोनों एक ही सामग्री के कार्यरूप होने से, जिस अर्थ की समान सामग्री से बोध जन्म लेगा उस
अर्थ में वह बोध प्रमाण होगा। एकसामग्री ही अब विषय-विषयी भाव प्रयोजक है, इसीलिये बोध
को अब साकार मानने की जरूर नहीं। अतः वैभाषिक मत में बोध निराकार माना हुआ है। बोध
अपनी समान सामग्री के अधीन अर्थ को विषय बनाता है इसलिये बोधक्रिया का कर्म वही अर्थ
है और उसी कर्मतापन्न अर्थ के विषय में वह बोध प्रमाण माना जायेगा। प्र० वा० में कहा भी है 30
- 'अपने कर्म (कर्मभूत अर्थ) के विषय में (प्रकाशनात्मक) व्यापार से युक्त होने के कारण बोध (स्वयं
अकारक होते हुए भी) सव्यापार हो ऐसा प्रतीत होता है।'

▼ तद्वशात् तद्व्यवस्थानादकारकमपि स्वयम्। इत्युत्तरार्द्धम् प्रमाणवार्तिके।

प्रमाणं सम्भवति ।

अथ मा भून्निराकारो बोधः प्रमाणम् साकारस्त्वसौ प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम् । ननु च बोधस्य प्रमाणस्वरूपत्वादर्थकारात्मकत्वमयुक्तम् प्रमेयस्वरूपापत्तेः । न च प्रमेयरूपमेव प्रमाणं भवितुमर्हति, प्रमाणस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रतिभासात् । न च तथात्वेन प्रतिभासमानमपि प्रमेयरूपं युक्तम्, प्रमाण-
5 प्रमेययोरन्तर्बहिर्व्यवस्थितत्वेनायभासनात्, भेदेन च प्रतिभासमानं नान्यथाऽधिगन्तुं युक्तम् । न हि प्रतिभासः साक्षात्करणाकारत्वात् प्रत्यक्षस्वोऽर्थव्यवस्थापकः प्रमाणान्तरादनुग्रहं बाधां वा प्रतिपद्यते । उक्तं च— [] प्रमाणस्य प्रमाणेन न बाधा नाप्यनुग्रहः । बाधायामप्रमाणत्वमानर्थक्यमनुग्रहः* । इति । सर्वदा बहिर्विच्छिन्नार्थावभासिनोऽध्यक्षस्याऽप्रमाणत्वे प्रमाणान्तराऽप्रवृत्तिरेव । न चाध्यक्षेण ज्ञानमेव बहिरर्थाकारं वेद्यते न

अब वैभाषिक के सामने यह कहना है कि यदि बोध एकसामग्री-अधीनता के जरीये अर्थ सहभू
10 होगा, तो उस बोध से निरूपित कर्मता उस अर्थ में नहीं घट सकेगी। कर्म वही होता है जो क्रिया से विकार्य, निष्पाद्य या गम्य होता है। यहाँ तो अर्थ बोधक्रिया का सहभावी है, सहभावी अर्थ बोधक्रिया का विकार्य नहीं हो सकता, फिर उस का वह कर्म कैसे कहा जा सकेगा ? जब वह अर्थ उस बोध का कर्मभूत ही नहीं है तब अमुक ही कारण के प्रति यह क्रिया है ऐसा नैयत्य भी नहीं हो सकेगा। परीणाम यह होगा कि कोई भी बोध किसी भी कारण के साथ प्रतिनियत न होने से (या तो अविषयक
15 होगा, अथवा) सर्वविषयक बन बैठेगा।

यह भी एक समस्या होगी - बोध और अर्थ दोनों एक सामग्रीनिर्भर होने में कोई अन्तर नहीं है, तब बोध जैसे अर्थ का ग्राहक होता है वैसे अर्थ क्यों बोध का ग्राहक नहीं होता ? जब सामग्री समान हो तब कार्य भी सजातीय होना चाहिये, उस के बदले एक कार्य ग्राहक और दूसरा कार्य ग्राह्य - ऐसा भेद कैसे ? निष्कर्षः - निराकार बोध को प्रमाण मानना असंभव है।

20 * बोध में अर्थाकारता असंगत - निराकार बोधवादी *

अब साकार-बोध-प्रमाणवादी कहता है - 'निराकार बोध अर्थ प्रमिति के लिये नियत न होने से वह प्रमाण नहीं है' - यह ठीक है फिर भी साकार बोध प्रमाण जरूर है - क्योंकि अर्थप्रमितिक्रिया के प्रति वही साधकतम है।

साकारवाद प्रतिपक्षी अब कहता है - साकार बोध यानी बोध में अर्थाकारता - अर्थाकारात्मकता
25 यानी जडता असंगत है, क्योंकि बोध प्रमाणस्वरूप है न कि प्रमेय (अर्थ) रूप। बोध को अर्थाकार मानने पर प्रमाणरूपता का भंग और प्रमेयरूपता की प्रसक्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रमेयरूप होता हुआ ही बोध प्रमाण होता है - तो वह प्रतिभासविरुद्ध है, अर्थग्राहकरूप से ही प्रमाण का प्रतिभास होता है न कि ग्राह्य अर्थाकाररूप से। अर्थग्राहकरूप से ही जो भासित होता है उस को भी प्रमेयात्मक समझ लेना युक्तिसंगत नहीं है। कारण, प्रमाण आन्तरिक वस्तु के रूप में और प्रमेय बाह्य वस्तु के
30 रूप में ही अवभासित होते हैं।

अन्योन्य भिन्नरूप से भासमान हो ऐसी दो वस्तु को परस्पर अभिन्नरूप से - अर्थात् प्रमाण को

*. 'अनुग्रह' इति सप्तम्यन्तपदम् 'प्रमाणेन अनुग्रह आनर्थक्यम्' इत्यन्वयो मृग्यः।

बाह्योऽर्थ इति कथं निराकारता तस्येति वक्तव्यम्, ज्ञानस्वतया बोधस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् अर्थस्य च ज्ञानस्वतयाऽप्रतिपत्तेः। न ह्यनहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासेऽहङ्कारास्पदबोधस्वस्येव ज्ञानस्वतया युक्ता। यदि त्वहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासः स्यात् तदा ज्ञानस्वादिभिन्नत्वात् तदात्मनः 'अहं घटः' इति प्रतिभासः स्यात्। न चान्यथाभूता प्रतिपत्तिरन्यथाभूतमर्थं व्यवस्थापयितुं शक्ता, प्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाप्यर्थव्यवस्थिति-प्रसक्तेरतिप्रसक्तिश्च नीलप्रतिपत्तेरपि पीतादिव्यवस्थापनाप्रसङ्गात्।

5

अथ साकारं विज्ञानमाकारप्रतिनियमात्। तत्प्रतिपत्त्यैवार्थापत्त्या तदाकारतां तज्जनकस्यार्थस्य व्यवस्थापयेदिति प्रतिकर्म व्यवस्था सिद्ध्यति। निराकारं तु विज्ञानं बोधमात्रतया व्यवस्थितं सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात् 'नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्य' इति प्रतिकर्म व्यवस्थानिबन्धनं न भवेदिति साकारं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। असदेतत्— 'सर्वार्थान् प्रति बोधमात्रतया निराकारस्याऽविशिष्टत्वात्' इति हेतोरसिद्धेः, निराकारत्वेऽपि चक्षुरादिवृत्त्या बोधस्य तत्रैव नियमितत्वात्। न च नियतत्वं तस्य सर्वार्थेषु, नीलादावेव

10

प्रमेयात्मक मान लेना - अयुक्त है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यक्षात्मक प्रतिभास को अपनी प्रमाणस्वता के निर्णय में या अर्थनिर्णय में अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा (यानी अनुग्रह) रखनी पड़े। प्रतिभास स्वयं अपने बल से ही अर्थ का व्यवस्थापक होता है, क्योंकि वह साक्षात्कारस्वरूप है। इसी लिये, साक्षात्कारस्वरूप होने से उस का कोई बाधक भी नहीं हो सकता। कहा गया है कि-

“प्रमाण को अन्य प्रमाण से न बाध पहुँचता है न तो अनुग्रह। यदि प्रमाण भी अन्य प्रमाण से बाधित होगा तो प्रमाण में अप्रमाण्य प्रसक्त होगा। यदि प्रमाण अन्यप्रमाण से अनुगृहीत होगा तो वह स्वयं (नपुंसक जैसा) असमर्थ यानी निरर्थक बन जायेगा।”

15

✽ प्रमाण स्वगत अर्थाकारवेदी नहीं हो सकता ✽

अपने से व्यवच्छिन्न यानी पृथक् बाह्य अर्थ के अवभासक प्रमाण को अप्रमाण घोषित करने वाले किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति कभी भी उपलब्ध नहीं है। यदि कहा जाय - 'प्रत्यक्ष प्रमाण कभी बाह्यार्थावभासी नहीं होता, वह तो बाह्यरूप से भासमान स्वगत अर्थाकार का ही अवभासी होता है, फिर प्रमाण को निराकार कैसे समझा जाय इसका तो जवाब दो ?।' - जवाब यह है कि प्रत्यक्षरूप में बोध का ज्ञानमयस्वरूप ही प्रतिभासित होता है, अर्थ ज्ञानमयस्वरूप भासित नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमाण में यदि अर्थाकार भासित होता है तो अर्थाकार ज्ञाननिष्ठ होने से अर्थ ज्ञानमय भासित होना जरूरी है - किन्तु वैसा होता नहीं है। 'अहम्' इस तरह के अनुभव का विषय बोधरूप ज्ञान होता है, जब कि 'नाहम्' इस तरह अर्थ का प्रतिभास होता है - तब अर्थ को ज्ञानमय कैसे कहा जाय ? यदि अर्थ का भी 'अहम्' इस तरह प्रतिभास होता है - तब तो वह भी ज्ञान से अभिन्न हो जाने से ज्ञानात्मक घटादि बाह्यार्थ का 'मैं घट हूँ' ऐसा प्रतिभास प्रसक्त होगा। यह नियम मानना चाहिये कि जिस आकार की अनुभूति हो उस के आधार पर उसी आकार के वस्तु स्वरूप की प्रतिष्ठा होगी, उस से विपरीत आकार वाले अर्थ की कभी नहीं। ऐसा नियम नहीं मानेंगे तो फलित यह होगा कि अर्थ प्रतिष्ठा किसी नियत प्रकारवाली अनुभूति को आधीन नहीं है, अत एव वह अनुभूति के बिना भी हो जाने की विपदा होगी। दूसरी हानि यह होगी की पीत-रक्तादि की

30

तस्य प्रतीतेः, समानत्वेऽपि वा पुरोवर्तिन्येव नीलादौ समानत्वस्य सम्भवात् सर्वार्थसाधारणी प्रतिपत्तिरिति निराकारज्ञानवादिनो न काचित् क्षतिः तथादृष्टत्वात्। 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' *। 'निराकारत्वे किमिति पुरोवर्तिन्येव नीलादौ प्रवर्तते विज्ञानम् ?' चक्षुरादिभिस्तत्रैव नियमितत्वादिति प्रतिपादितं प्राक्। 'कस्मात्तैस्तत्र

प्रतिष्ठा किसी नियत अनुभूतिसापेक्ष न होने से नीलानुभूति से पीतादि की प्रतिष्ठा प्रसक्त होगी।

5

✽ निराकारबोधवाद में नियत विषयव्यवस्था अनुपपन्न ✽

साकारवादी :- प्रतिनियत आकार विशिष्ट होने से विज्ञान साकार है। जैसा आकार अर्थ का होता है - तुल्य आकार ज्ञान का होता है, अत एव ज्ञानगत आकार के बोध से वह ज्ञान अपने जनकभूत अर्थ की समानाकारता की प्रतिष्ठा अर्थापत्ति से करता है। अर्थापत्ति यह है कि जनकभूत अर्थ के तथाविध (नीलादि) आकार के विना ज्ञान तथाविध (नीलादि) आकारशाली नहीं हो सकता। इस प्रकार ज्ञान के

10 प्रत्येक कर्म यानी विषय की 'यह नील है' - 'यह पीत है' इस प्रकार असंकीर्ण व्यवस्था तथा 'यह नील संवेदन' - 'यह पीत संवेदन' इस प्रकार सुचारु व्यवस्था सिद्ध हो सकती है।

निराकार विज्ञान से उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती। कारण, निराकार विज्ञान तो बोधमात्र स्वरूप है, उस में कोई अर्थ संबंधी आकार नहीं है - अतः वह प्रत्येक अर्थ के प्रति तुल्य ही है - उस का यह कार्य ही नहीं है कि 'यह संवेदन नीलसंबंधी है और वह पीतसंबंधी' ऐसा पृथक्करण करना।

15 कैसे वह इस स्थिति में नील-पीतादि प्रत्येक विषय की - या संवेदनों की प्रतिष्ठा करेगा ? निष्कर्ष :- 'ज्ञान साकार होता है' इस तथ्य को मान लो !

✽ निराकारबोधपक्ष में इन्द्रिय संनिकर्ष से नियतार्थव्यवस्था ✽

निराकारवादी :- यह प्रतिपादन जूठा है। निराकार ज्ञान अर्थ-संवेदन की व्यवस्था में असमर्थ सिद्ध करने के लिये जो यह हेतु दिया गया है कि निराकार ज्ञान बोधमात्र स्वरूप होने से प्रत्येक अर्थ

20 के प्रति निर्विशेषरूप है - यह हेतु ही असिद्ध है। बोध निराकार होते हुए भी नील अर्थ का नीलरूप से, पीत का पीतरूप से संस्थापन इस लिये कर सकता है कि वहाँ चक्षु एवं नील अथवा चक्षु एवं पीत का ही संनिकर्ष होता है। अतः ऐसा नियमन सहज हो जाता है कि जो ज्ञान चक्षु-नील संनिकर्षजन्य होगा वह स्वयं निराकार हो कर भी नील का ही संस्थापक बनेगा, एवं पीतादि संनिकर्ष से पीतादि का ही संस्थापक होगा।

25 निराकार ज्ञान सर्व अर्थों के प्रति निर्विशेष जरूर है किन्तु सर्व अर्थों के प्रति समानरूप से नियत नहीं है। नील-चक्षुःसंनिकर्षादि सामग्री के बल से वह नीलादि के प्रति ही नियत होता है - संबद्ध होता है। वास्तव में, निराकार ज्ञान की निर्विशेषता यानी समानता जो सर्व अर्थों के प्रति कही जाती है वह भी वास्तविक नहीं है - हाँ समानता है तो सिर्फ संमुख रहे हुए नीलादि के प्रति ही समानता हो सकती है - इसलिये वह निराकार होते हुए भी नील-पीत से ही सरोकार रखेगा

30 न कि सर्व अर्थों के प्रति सर्व सामान्य संबंध! इस ढंग से सोचने पर निराकार ज्ञानवाद में कोई चुट्टि नहीं रहती, क्योंकि जैसा अभी हमने कहा वैसा दिखता ही है। 'जब अपने सामने ही स्पष्ट

*. 'न हि' इत्यस्य स्थाने 'नास्ति' इति मीमांसाद० १-१-५ भा० पृ०१३ पं० २० - इति भूतपूर्वसम्पादकौ।

तन्नियम्यते' इति चेत् ? अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्— नहि कारणानि कार्यजननप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति, तत्र तस्य वैफल्यात्। साकारत्वेऽपि चायं पर्यनुयोगः समानः।

तथाहि— साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलादिकमेव पुरोवर्त्ति तत्सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति ? 'तेनैव तथा तस्य जननादि'ति चेत् समानमेतन्निराकारत्वेऽपि। किञ्च, चक्षुरादिजन्यं तद्विज्ञानं किमिति चक्षुराद्याकारं न भवति इति पर्यनुयोगे भवतापि 'वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्' इति वक्तव्यम्; तदस्माभिरभिधीयमानं 5 किमित्यसंगतं भवतः प्रतिभाति। अपि च साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते आहोस्विन्निराकारेण ? यदि साकारेण तदा तत्रापि प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। निराकारेण चेद् ? बाह्यार्थस्यापि

दिखता है तब उस में असंगति क्या है ?'

❖ चक्षु आदि सामग्री नीलादिविषयता की प्रयोजक ❖

यदि प्रश्न हो कि- ज्ञान आकारमुक्त है तब वह संमुख रहे हुए नीलादि की दिशा में ही प्रवृत्ति 10 कैसे करता है ? क्यों पृष्ठवर्त्ति पीतादि की ओर नहीं ? इस का उत्तर पहले ही कहा है कि चक्षु आदि सामग्री का यह प्रभाव है कि उस से उत्पन्न निराकार भी ज्ञान नियत विषय नीलादि की ओर ही प्रवृत्त होता है। ऐसा प्रश्न हो कि चक्षु आदि सामग्री उसे नील के साथ ही क्यों नियत करती है - तो इस का उत्तर है वस्तुस्वभाव। हर जगह यही आखरी उत्तर होता है। मिट्टी आदि कारण-सामग्री घट को ही क्यों उत्पन्न करती है - वस्त्रादि को क्यों नहीं ? अमुक अमुक कारण अमुक 15 ही कार्य को जन्म देते हैं न कि सर्व कार्य को ऐसा क्यों ? ऐसा प्रश्न उचित नहीं है क्यों कि यह तो स्वभाव है। स्वभाव के प्रति प्रश्न उठाने का कोई फल नहीं होता। स्वभाव के प्रति किये गये हजार प्रश्न भी निरर्थक होते हैं। फिर भी अगर प्रश्न करना ही है तो साकारवाद में भी वैसे ही प्रश्न सिर उठायेंगे।

❖ साकारवाद में नियत व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न ❖

साकारवाद में भी देखिये- साकार ज्ञान चक्षुआदि से संनिहित संमुखवर्त्ती नीलादि अर्थ को ही क्यों नीलादि के रूप में संस्थापित करता है ? उत्तर में आप यह कहेंगे कि संनिहित पुरोवर्त्ती नीलादि अर्थ से ही वह नीलाकार ज्ञान सत्ता पाया है इसलिये। ऐसा ही उत्तर निराकारज्ञान पक्ष में भी सरल एवं सुलभ है। यह भी साकारवादी को पूछा जाय कि साकार ज्ञान सिर्फ नीलादि अर्थमात्र से नहीं किन्तु चक्षु आदि से भी उत्पन्न हुआ है - तब क्या कारण है कि वह चक्षुआदि आकार 25 न हो कर नीलादिआकार ही होता है ?- यहाँ साकारवादी का यही उत्तर होगा कि आखिर तो हर एक प्रश्न का वस्तुगत तथास्वभाव से ही समाधान देना पडता है। साकारज्ञान का वैसा ही स्वभाव है कि वह चक्षु आकार न हो कर नीलादि-आकार ही होता है। बन्धु ! तब हमारे निराकार वाद में भी हम कहें कि निराकार ज्ञान का स्वभाव है कि वह आकारशून्य होते हुए भी नीलादि सामग्री से उत्पन्न होने पर नीलादिआकार ही होता है- तो इस में आप को असंगति क्यों भासती है ? 30

❖ ज्ञान साकारता का ग्रहण साकार/निराकार ज्ञान से ? ❖

साकारवाद में यह भी प्रश्न है कि - विज्ञान में जैसे नील अर्थ अपने समान नीलाकार के

तथाभूतेनैव प्रतिपत्तिप्रसक्तिः । न च बाह्ये प्रत्यासत्तिनियमाभावात् तथाभूतेन प्रतिपत्तिरिति वाच्यम् इतरत्रापि प्रत्यासत्तिनियमाभावस्य तुल्यत्वात्, शुक्ले पीताकारदर्शनात् । 'अभ्रान्ते न प्रतिनियमाभाव' इति चेत् ? निराकारेऽपि तर्ह्यभ्रान्तत्वादेव प्रतिनियमो भविष्यतीति किमाकारपरिकल्पनया ?

5 कथमाकारमन्तरेण प्रतिनियम इति न वाच्यम् आकारेऽस्य समानत्वात् । तथाहि— साकारवादिनोऽपि कथं प्रतिनियम इति प्रेरणायाम् 'प्रतिनियताकारपरिग्रह एव प्रतिनियमः' इति नोत्तरं युक्तम् प्रतिनियताकारपरिग्रहस्यैव प्रतिनियमरूपतयोपन्यस्तस्याद्यापि विचार्यमाणत्वात् ।

प्रभाव से भासित होता है जैसे विज्ञान की साकारता भी अपने से समान विज्ञानगत आकार (साकारताकार) से ही भासित होगी ? या अपने से समान आकार के बिना ही वह भासित होती है ? यदि स्वसदृश आकार से साकारता भासित होती है यह पहला पक्ष मानेंगे तो अनवस्था दोष पीछा करेगा । कारण, 10 उस साकारताआकार की प्रतीति के लिये भी नये आकार की परिकल्पना... इस का अन्त ही नहीं आयेगा । यदि दूसरा पक्ष अंगीकार कर ले कि नील भले नीलाकार के प्रभाव से गृहीत होता है किन्तु साकारता, बिना आकार ही गृहीत होती है । - तो निराकारवादी यही कहता है कि जब ज्ञान की साकारता, बिना किसी आकार से गृहीत होती है, जैसे विज्ञान भी बिना किसी आकार, नीलादि बाह्य अर्थ का ग्रहण क्यों नहीं कर सकता ?

15 * निराकारवाद में प्रत्यासत्तिनियमाभावप्रसंग का उत्तर *

साकारवादी :- साकारवाद में ज्ञानगत आकार के आधार पर प्रत्यासत्तिनियम बनता है कि, नीलाकार होने से इस ज्ञान का प्रत्यासन्न यानी सन्निकृष्ट विषय नील ही है, न कि पीत । निराकारवाद में ऐसा नियम नहीं हो सकेगा, अत एव प्रत्यासत्तिनियम न होने से, निराकार ज्ञान से नीलादि का अनुभव असम्भव है ।

20 निराकारवादी :- साकारवाद में प्रत्यासत्तिनियम का कथन मिथ्या है, क्योंकि श्वेतशंख में भी पीताकार का दर्शन होता है- यहाँ पीताकार होने पर भी पीत नहीं श्वेत ही प्रत्यासन्न = सन्निकृष्ट है । मतलब, साकारवाद में प्रत्यासत्तिनियमाभाव तुल्य है ।

साकारवादी :- शंख में श्वेत सन्निकृष्ट होने पर भी पीताकार का दर्शन होता है वह भ्रान्ति है । अभ्रान्त दर्शन में तो प्रत्यासत्तिनियम का भंग नहीं ही होता ।

25 निराकारवादी :- इस का फलितार्थ यही है कि प्रत्यासत्ति का नियम विज्ञान की अभ्रान्तता के बल पर ही हो सकता है न कि आकार के आधार पर । फिर प्रत्यासत्तिनियम के लिये आकार-परिकल्पना की जरूर क्या है ?

साकारवादी :- अभ्रान्तत्व होने पर भी आकार के बिना 'यह दर्शन नील से ही जनित है' इत्यादि प्रतिनियम नहीं हो सकता । वह तो साकारवाद में ही हो सकता है ।

30 निराकारवादी :- ऐसा मत बोलो— क्योंकि साकारवाद में भी यह समस्या समान है । कैसे यह देखिये— साकारवाद में जब ऐसा प्रश्न उठेगा कि उक्त प्रतिनियम कैसे संगत होगा ? - तो आप उत्तर में कहेंगे कि 'नियत नील या पीत आदि आकार को धारण करना' इसी का 'प्रतिनियम' यह

अथाऽनुमानाद् बाह्योर्थः प्रतीयते— तर्हि प्रतिबन्धसिद्धिर्वक्तव्या। न च बाह्योर्थोऽध्यक्षतः कदाचनपि सिद्धः, नापि तत्प्रतिबद्धो ज्ञानाकारः— इति न प्रतिबन्धसिद्धिः। तामन्तरेण न चाऽनुमानप्रवृत्तिरिति कथं बाह्यार्थसिद्धिः ? अथार्थापत्त्या बाह्योर्थोऽधिगम्यते। न, अर्थापत्त्यर्थस्वरूपप्रतिपत्तौ तस्याः प्रत्यक्षरूपताप्रसक्तेः। न च स्वरूपप्रतिपत्तिमन्तरेणाप्यनुमानवत् तस्याः प्रामाण्यम् अनुमानस्यावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेन प्राम्णयात् अत्र च तदभावात्। न चाप्यत्यन्तपरोक्षस्यार्थस्य केनचिदाकारेण विषयीकरणमिति न तस्य प्रतिपत्तिविषयता 5 सम्भवत्यपि इति नार्थापत्त्यार्थप्रतीतिः।

अथ दूरस्थितवृक्षादौ तत्पिण्डाद्याकारो यथा बाह्यवृक्षाद्यर्थव्यतिरेकेण न प्रतिभासविषयः तद्वत् पुरोवर्त्तिनि स्तम्भादौ तदाकारः सत्येव बाह्ये स्तम्भाद्यर्थे, इति सिद्ध एव बाह्योऽर्थः। न च वृक्षादावपि पिण्डाद्याकार 10 दूसरा नाम है। (तात्पर्य, नियताकार ग्रहण से स्पष्ट हो जायेगा कि वह नियत अर्थ से ही जनित है।) किन्तु ऐसा उत्तर उचित नहीं है। कारण, प्रतिनियम यानी नियत तत्तदाकार ग्रहण किस आधार 10 पर होगा यही तो यहाँ विचाराधीन है। यहाँ यह ध्यान में रहे कि वैभाषिकमत निराकार ज्ञानवादी एवं बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है, जब कि साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानता है, प्रत्यक्ष नहीं। तब विज्ञानवादी साकारज्ञान मानता है, बाह्यार्थ के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता।

* अनुमान से या अर्थापत्ति से बाह्यार्थ का ग्रहण असंभव *

ज्ञानवाद में बाह्यार्थ के निह्नव का दूषण दूर करने के लिये यदि सौत्रान्तिक बौद्ध की ओर 15 से कहा जाय कि — 'साकार प्रत्यक्षज्ञान से बाह्यार्थ का भान न होने पर भी आकारात्मक लिंग से बाह्यार्थ की अनुमिति जरूर हो सकती है। इस से ही ज्ञान की साकारता सार्थक हो जाती है।' — ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकार और बाह्यार्थ के बीच प्रतिबन्ध यानी व्याप्ति की सिद्धि करना होगा। जब यहाँ बाह्यार्थ ही कभी भी प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है तो उस के व्याप्य ज्ञानाकार की सिद्धि की बात ही कहाँ ? न लिंग सिद्ध है न लिंगी, तब व्याप्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती। व्याप्ति 20 के बिना अनुमान का अवतार अशक्य है, तो अनुमान से बाह्यार्थ की सिद्धि कैसे होगी ?

यदि कहें कि — बाह्यार्थ की सिद्धि, ज्ञानाकार की अन्यथा अनुपपत्ति स्वरूप अर्थापत्ति से होगी — तो यह असंगत है। अन्यथा अनुपपन्न किसी पदार्थ के बिना यदि अर्थापत्ति से साक्षात् अर्थस्वरूप का भान होगा तो वह अर्थापत्ति न हो कर प्रत्यक्षात्मा बन बैठेगी। यदि कहें कि — अर्थापत्ति से साक्षात् अर्थस्वरूपभान नहीं मानेंगे किन्तु अनुमान की तरह परोक्ष अर्थभान मानेंगे, इस तरह अर्थापत्ति 25 प्रमाणभूत मान सकते हैं। — यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान में जैसे प्रामाण्य की नींव है - लिंगजन्यत्व, जहाँ लिंग में अपने साध्य अर्थ की व्याप्ति गृहीत रहती है; अर्थापत्ति में ऐसी कोई प्रामाण्य की नींव नहीं है, अतः अर्थापत्ति यहाँ प्रमाण नहीं है। अर्थापत्ति किसी भी आकार से अत्यन्त परोक्ष अर्थ तक पहुँच नहीं पाती, तो अर्थापत्ति फलित ज्ञान की विषयता परोक्ष अर्थ में कैसे संगत हो सकती है ? अनुमान का विषय तो प्रत्यक्ष से पूर्वगृहीत रहता है, इसलिये अनुमान के द्वारा 30 'यह तो पहले देखा हुआ है' इस ढंग से अनुमान का विषय ज्ञानगृहीत हो सकता है। अर्थापत्ति का विषय पूर्वदृष्ट न होने से अर्थापत्ति के द्वारा बाह्यार्थ की प्रतीति अशक्य है।

एव वृक्षादिः तस्य स्व-पराभ्यां सन्निहितस्यान्यथाप्रतीतेः। असदेतत्— यतः स्व-पराभ्यामसौ सन्निहितः प्रतीयमानः साकारेण वा ज्ञानेन प्रतीयते निराकारेण वा ? यदि साकारेण इति पक्षस्तदाऽसावपि ज्ञानाकार एव, न बाह्योऽर्थ इति क्वचिदपि अर्थाऽसिद्धेरसिद्धो दृष्टान्तः। तथा च प्रतिबन्धाऽप्रसिद्धेर्न ज्ञानाकाराद् बाह्यार्थसिद्धिः। अथ निराकारेण तेन अर्थः स्व-पराभ्यां प्रतीयते इति प्रतिबन्धसिद्धिरभ्युपगम्यते पिण्डाद्याकारस्य

5 बाह्यार्थेन सह। नन्वेवं निराकारं ज्ञानं बाह्यार्थग्राहकं सिद्धमिति व्यर्थं ज्ञानाकारकल्पनम्। न च तत्रापि प्रतिभासमानो वृक्षो ज्ञानाकार एवेत्यपरमर्थं साधयति, तत्राप्यपरापरार्थकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात् कुतोऽर्थसिद्धिः ?

✽ प्रतिभासमान पिण्डाद्याकारवत् स्तम्भादिबाह्यार्थसिद्धि ✽

यदि यह कहा जाय— अर्थापत्ति से बाह्यार्थसिद्धि अशक्य नहीं है - देखिये, बाह्यार्थ वृक्षादि के न होने पर, दूर रहे हुए वृक्षादि के बारे में एक घनीभूत - पिण्डीभूत विशालाकार जो दीखता है

10 वह दर्शनगोचर ही नहीं हो सकता। इसी तरह समझ लो कि स्तम्भादि बाह्य अर्थ न होने पर, संमुखवर्ती स्तम्भादि के बारे में जो घन-लम्बाकार दिखता है वह प्रतीतिगोचर नहीं हो सकेगा। इस प्रकार अर्थापत्ति से बाह्य स्तम्भादि अर्थ की सिद्धि सरल है। ऐसा मत कहना कि वृक्षादि के बारे में पिण्डादिआकार ही वृक्षादि है क्योंकि पहले दूर से देखनेवाला जब स्वयं निकट पहुँच जाता है, अथवा अन्य व्यक्ति जो पहले से वहाँ सन्निहित (= निकटवर्ती) होता है, तब उन दोनों को वह

15 पिण्डादिआकार से नहीं किन्तु वृक्षादिरूप से ही प्रतीत होता है।

✽ साकार ज्ञान से बाह्यार्थ की असिद्धि ✽

— तो यह ठीक नहीं है। कारण, यहाँ दो विकल्प असंगत हैं - स्वयं को या पर को सन्निहित वृक्षादि साकार ज्ञान से प्रतीत होता है या निराकार ज्ञान से ? यदि पहले पक्ष में साकार ज्ञान से प्रतीति को मान लिया जाय तो उस में अपने आकार की ही प्रतीति फलित हुई, बाह्यार्थ की

20 प्रतीति नहीं, अतः वह वृक्षादि ज्ञानाकार ही है न कि बाह्य रूप। सारांश, इस पक्ष में कहीं भी बाह्य अर्थ सिद्ध नहीं होता तब वृक्षादि या स्तम्भादि का दृष्टान्त भी असिद्ध बन जाता है। यदि दूसरे पक्ष में, निराकार ज्ञान से स्व या पर को वृक्षादि अर्थ की प्रतीति मानी जाय तो पिण्डादिआकार की बाह्यार्थ के साथ व्याप्ति सिद्ध हो सकेगी। किन्तु इस से तो यही सार निकलेगा कि निराकार ज्ञान ही बाह्यार्थ का ग्राहक है। अब ज्ञान साकार होने की कल्पना करना निरर्थक है।

25 साकारवादी :- यहाँ भासता हुआ जो वृक्ष है वह बाह्य वृक्ष नहीं किन्तु वृक्षाकार ज्ञान ही उस में भासित होता है। ज्ञान के उस वृक्षाकार से ही ज्ञानभिन्न बाह्य वृक्ष की सिद्धि होगी, न कि निराकार ज्ञान से।

✽ निराकार ज्ञान से ही बाह्यार्थ सिद्धि ✽

निराकारवादी :- ज्ञानभिन्न बाह्यवृक्ष की सिद्धि भी ज्ञानाकार रूप ही क्यों न कही जाय ? मतलब

30 कि सिद्धस्वरूप ज्ञानाकार से अन्य एक बाह्य वृक्ष की सिद्धि होगी, वह सिद्धि भी ज्ञानरूप होने से ज्ञानाकार ही है अतः उस से अन्य एक बाह्य वृक्ष की सिद्धि..... इस तरह अन्य अन्य अर्थ की सिद्धि में अनवस्था दोष प्रसक्त होने से किसी भी अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। यदि कहें कि ज्ञानाकार

‘ज्ञानाकारात्’ इति चेत् ? ननु प्रतिबन्धाग्रहणे कथं ततस्तत्सिद्धिः इति पुनरपि तदेव वक्तव्यम् इत्यपर्यवसाना पर्यनुयोगानवस्था। तस्मान्निराकारादेव ज्ञानाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या।

अथ निराकारं ज्ञानं नीलादावर्थे ^Aव्यापारवत् प्रवर्तते उत ^Bनिर्व्यापारम्— इति कल्पनाद्वयम् प्रथमकल्पनायामपि ^Aअव्यतिरिक्तव्यापारवत् उत ^Bव्यतिरिक्तव्यापारवत् इति कल्पनाद्वयम्। ^aआद्यविकल्पे ज्ञानस्वरूपमेव न व्यापारः कश्चित्। न च व्यापार-तद्वतोरभेदो युक्तः, धर्मधर्मितया प्रतीतेः। ^bद्वितीयविकल्पेऽपि 5 सम्बन्धासिद्धिः, ततस्तस्योपकाराभावात्। उपकारेऽपि तस्य तन्निवर्तनेऽपरो व्यापारः कल्पनीय इत्यनवस्था। व्यापारस्यापि चार्थग्रहणव्यापृतावपरो व्यापारः परिकल्पनीय इत्यत्राप्यनवस्था। निर्व्यापारस्यापि व्यापारस्यार्थ-ग्रहणव्यापृतावर्थस्यापि ज्ञानग्रहणे व्यापृतिप्रसक्तिरित्यर्थस्यापि ज्ञानं प्रति ग्राहकता स्यात्। ^Bन च निराकारो

से ही बाह्यार्थ सिद्ध होगा - तो यहाँ बार बार इसी प्रश्न का सामना करना पड़ेगा कि जब तक ज्ञानाकार एवं बाह्यार्थ के बीच प्रतिबन्ध (= व्याप्ति) ही सिद्ध नहीं है तब तक ज्ञानाकार से बाह्यार्थ 10 — सिद्धि होगी कैसे ? आप यहाँ भी ‘ज्ञानाकार से’ ऐसा उत्तर देंगे तो पुनः वही प्रश्न सामने आयेगा — इस तरह प्रश्नों की अनवस्था प्रसक्त होगी — यानी प्रश्नों का अन्त नहीं आयेगा।

निष्कर्ष :- निराकार ही ज्ञान बाह्यार्थ का साधक है — यह मान लेना चाहिये।

✽ निराकार ज्ञान बाह्यार्थ का ग्राहक नहीं - विज्ञानवादी ✽

अब निराकारवादी के सामने विज्ञानवादी अपना विचार प्रस्तुत करता है। 15

नीलादि अर्थ-ग्रहण में प्रवृत्त निराकारज्ञान ^Aसव्यापार होता है या ^Bनिर्व्यापार ? विकल्प का तात्पर्य यह है कि निराकार ज्ञान साक्षात् अर्थ-ग्राही होता है या बीच में व्यापार के द्वारा अर्थग्रहण करता है ?

^Aप्रथम विकल्प में और भी दो विकल्प खड़े हैं- यदि निराकार ज्ञान सव्यापार होता है तो उस का व्यापार ^aअपने से अभिन्न होता है या ^bभिन्न होता है। इस में यदि ^aआद्य विकल्प माना 20 जाय तो - अभिन्न व्यापार ज्ञानमय हो जाने से स्वतंत्र व्यापार का नाम ही मिट जायेगा। अर्थात् ज्ञान निर्व्यापार ही कहना होगा। दूसरा दोष यह है कि व्यापार और व्यापारी (ज्ञान) में अभिन्नता का स्वीकार युक्तियुक्त नहीं है। कारण, ज्ञान धर्मि रूप में और (अभिन्न) व्यापार उस के धर्म रूप से प्रतीत होता है — धर्मि और धर्म में भेद ही होता है - अन्यथा धर्म-धर्मिभाव नहीं घटेगा।

दूसरे विकल्प में - भिन्न व्यापार एवं ज्ञान के बीच कोई संबंध प्रस्थापित नहीं हो सकेगा। 25 सम्बन्ध तब बनेगा जब ज्ञान का व्यापार के ऊपर कोई उपकार होता, किन्तु यहाँ वैसा कोई उपकार सम्भव नहीं है। कदाचित् उपकार मान लिया जाय तो उस में भेदाभेद दो विकल्प होंगे, भेद विकल्प में पुनः ज्ञान एवं उपकार के बीच संबंध प्रस्थापित करने के लिये नया उपकार मानना होगा। उस के लिये भी नया उपकार मानना होगा, उस के लिये भी नया उपकार... इस तरह नये नये उपकारों की कल्पना में अनवस्था दोष होगा। 30

✽ व्यापार द्वारा अर्थग्रहण मानने पर अनवस्था ✽

जैसे निराकार ज्ञान के व्यापार के प्रति उपकार के बारे में अनवस्था होती है वैसे ही व्यापार

बोधो निर्व्यापारोऽपि बोधस्वरूपत्वादर्थग्राहकः, अर्थस्याप्यर्थरूपतया बोधं प्रति ग्राहकतोपपत्तेः, ततो ग्राह्यरूपोऽसंस्पर्शात्त्र बोधस्य ग्राहकता। न च ग्राह्यार्थरूपान्यथानुपपत्त्या बोधस्य ग्राहकताव्यवस्था, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि—ग्राह्यरूपव्यवस्था ग्राहकरूपसंस्पर्शाद् ग्राहकरूपव्यवस्थापि ग्राह्यरूपसंस्पर्शादिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? न च समानकालयोर्नील-बोधयोर्ग्राह्य-ग्राहकभावव्यवस्था, कर्मकर्तृरूपत्वाऽसिद्धेः

5 न हि समानकालतायां निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्यरूपकर्मतासंभवः। समानकालस्य निर्वर्त्य-विकार्यताऽयोगात् प्राप्यरूपता च न तद्व्यतिरिक्ता सम्भवति समानकालयोर्द्वयोरपि ग्राह्य-ग्राहकभावाऽविशेषात्। तत्र

के द्वारा अर्थग्रहण में भी बीच में नये नये व्यापार की कल्पना करने पर अनवस्था प्रसक्त होगी। व्यापार अगर विना अन्य व्यापार ही अर्थग्रहण करेगा- तो निराकार ज्ञान भी व्यापार के विना ही अर्थ-ग्रहण कर लेगा। यदि ज्ञान व्यापार के द्वारा अर्थग्रहण करेगा— तो इस प्रक्रिया में व्यापार को भी अर्थग्रहण कराने के लिये कुछ सक्रिय होना पड़ेगा, उस के लिये एक और व्यापार (व्यापार का व्यापार) मानने जायेंगे तो उस के भी लिये और एक व्यापार... इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार है। दूसरी बात यह है कि अगर व्यापार के विना ही व्यापार अर्थग्रहण कराने में प्रवृत्त होगा - तो व्यापार के विना अर्थ भी ज्ञान-ग्रहण के लिये क्यों प्रवृत्त नहीं होगा ? व्यापार को जब व्यापार की जरूर नहीं - तो व्यापार की तरह अर्थ को भी ज्ञान-ग्रहण के लिये अन्य किसी व्यापार की जरूर नहीं है। अतः अर्थ में भी ज्ञानग्राहकता प्रसक्त होगी।

यदि ऐसा कहा जाय— 'व्यापार के विना भी बोधात्मकता के कारण निराकार ज्ञान अर्थग्राहक होगा, अर्थ ज्ञानग्राहक नहीं होगा क्योंकि वह बोधात्मक नहीं है' - तो इस के विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि व्यापार के विना भी अर्थात्मकता के जरिये अर्थ ज्ञानग्राहक होगा, बोध अर्थग्राहक नहीं होगा क्योंकि वह अर्थात्मक नहीं है। वास्तव में तो इतना ही मानना ठीक है कि अर्थ जैसे 20 बोधस्वरूप अस्पर्शी होने से ज्ञानग्राहक नहीं होता वैसे ही निराकार ज्ञान भी ग्राह्यार्थस्वरूपस्पर्शी न होने से वह बाह्यार्थग्राहक नहीं है। (तात्पर्य विज्ञानवादी का यह है कि बाह्यार्थ ही सिद्ध नहीं होगा।)

यदि ऐसा कहेंगे कि — 'निराकार बोध में अर्थग्राहकता की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी - अगर नहीं करेंगे तो अर्थ में ग्राह्यरूपता का ही भंग हो जायेगा। जब कोई ग्राहक नहीं है तब वह ग्राह्य ही कैसे ?' — तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष पीछा पकड़ेगा। देखिये - ग्राह्यस्वरूप की उपपत्ति के लिये 25 ज्ञान में ग्राहकस्वरूप का स्वीकार करना होगा - और ज्ञान में ग्राहकस्वरूप की उपपत्ति के लिये अर्थ में ग्राह्यस्वरूप को मानना पड़ेगा। इस तरह जब दोनों ही एक-दूसरे के मुँह देखते रहेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होगा ?

✽ नीलादि अर्थ में तीन प्रकार के कर्मत्व की अनुपपत्ति ✽

जैसे समानकालीन दायें-बायें दो गो-शृंग में एक शृंग अन्य शृंग का ग्राहक और दूसरा उस 30 का ग्राह्य ऐसा ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता वैसे ही समानकालीन नील एवं बोध में भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं घट सकता। (याद रखिये—पहले निराकारवादि ने अर्थसहभावी एकसामग्री-अधीन निराकार बोध को प्रमाण दर्शाया है।) ग्राह्य-ग्राहकभाव तो कर्म-कर्तृभाव पर निर्भर है। यहाँ नील एवं बोध

निराकारस्याप्यर्थव्यवस्थापकत्वं बोधस्येति 'विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्था' [] इति विज्ञानवादिनः।

अयुक्तमेतत्— सप्रतिघरूपतयाऽध्यक्षतो बाह्यस्य सिद्धेर्विज्ञप्तिमात्रत्वे तद्रूपताऽभावप्रसक्तिर्भवेत्। न चाध्यक्षतः सप्रतिघबाह्यरूपतया प्रतीयमानस्य 'विज्ञप्तिः' इति नामकरणे काचिन्नः क्षतिः। नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्व-बाह्यरूपत्वादेरर्थधर्मस्याऽव्यावृत्तेः। अतः सप्रतिघत्वादिरूपो बाह्योऽर्थः तद्विपरीतश्चान्तरो बोधोऽभ्युपगन्तव्यः— इति कथं विज्ञप्तिमात्रम् ?! न च सप्रतिघाकारतया बोधप्रतिपत्तिः। तद्विषयतया 5 तु तस्य प्रतिपत्तिरस्त्येव 'नीलविषयो बोधो मयाऽनुभूयते' इति निश्चयोत्पत्तेः। न च प्रतिभासनिश्चयमन्तरेणापरं पदार्थस्वरूपव्यवस्थितौ निबन्धनमुत्पश्यामः। ततो निराकारादेव बोधाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपेया।

में कर्म-कर्तृभाव ही असिद्ध है। व्याकरणशास्त्र♦ में कर्म(कारक) के तीन भेद दिखाये हैं। १ - निर्वर्त्य-जैसे 'पुत्र को जन्म देती है' यहाँ जन्म के पहले पुत्र नहीं था - असत् था - उस को उत्पन्न किया वह निर्वर्त्य कर्म हुआ। २ विकार्य (कर्म) जैसे 'लकड़ी को जलाते हैं' - यहाँ लकड़ी विद्यमान है 10 - उस का भस्मात्मक विकार निष्पन्न किया जाता है - यहाँ लकड़ी विकार्य कर्म है। ३ - प्राप्य कर्म जैसे 'सूर्य को देखता है' यहाँ दर्शन क्रिया का कोई भी उल्लेखार्ह प्रभाव सूर्य के ऊपर नहीं होता - वह प्राप्य कर्म है। नील और बोध समानकालीन होने से, इनमें से एक भी कर्मता का प्रकार नील (या बोध) में घट नहीं सकता क्योंकि न तो बोध नील का उत्पादक है, न विकार्य है। प्राप्य भी नहीं है क्योंकि प्रापरूपता भी वास्तव में तज्जन्यत्व आदि से पृथक् स्वरूप यहाँ सम्भव नहीं 15 है, क्यों कि समान कालीन दोनों ही पदार्थ (नील एवं बोध) एक-दूसरे के ग्राह्य अथवा ग्राहक होने में कोई नियामक विशेष नहीं है।

विज्ञानवादी कहता है कि - उपर्युक्त प्रकार से निराकार बोध से अर्थ की व्यवस्था शक्य ही नहीं है। इस से यही निष्कर्ष होगा कि बाह्य कोई अर्थ है ही नहीं (- क्योंकि उस का कोई व्यवस्थापक - साधक ही नहीं है।) जो कुछ है वह सिर्फ एकमात्र विज्ञानरूप ही है। 20

❖ विज्ञानवादीमत का निराकरण, अर्थ प्रत्यक्ष से सिद्ध ❖

विज्ञप्तिमात्रवस्तुवादी का यह कथन गलत है - क्योंकि विज्ञप्ति से भिन्न बाह्य पदार्थ सप्रतिघ (= ज्ञानमयता से विरुद्ध) जडात्मभाव से सभी को प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है। सिर्फ विज्ञप्ति को ही पदार्थ माना जाय तो बाह्य पदार्थ की जडरूपता शून्य हो जाने की विपदा प्राप्त होगी। यदि प्रत्यक्षानुभवसिद्ध जड एवं बाह्यरूप से प्रतीत होने वाले जड पदार्थ का 'विज्ञप्ति' ऐसा नूतन नामकरणविधि करने 25 का आप को शौख है - तो इस में हमें कोई आपत्ति नहीं है। 'विज्ञप्ति' ऐसा नाम करने पर भी बाह्यार्थ के जडत्व-बाह्यत्व आदि धर्मों की निवृत्ति नहीं की जा सकती। चैतन्य धर्मवाले आंतर बोध को जब आप स्वीकारते हैं तो उस से विपरीत जड एवं बाह्य अर्थ भी स्वीकारना पड़ेगा - तब एक मात्र विज्ञप्ति का ही स्वीकार कैसे किया जाय ?! बोध अनुभव चैतन्यमय होता है न कि जडत्वाकार। हाँ, चैतन्यमय बोध जडविषय (बाह्यार्थविषयक) हो सकता है - जैसे कि 'मुझे नीलविषयक बोध का 30 अनुभव होता है' - ऐसा निश्चय सभी को उत्पन्न होता है। वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा का एकमात्र

♦. देखिये सिद्धहेमशब्दानुशासन सूत्र २-१-३ बृहद्धृति।

असदेतद्— यतः 'निराकारं ज्ञानमर्थव्यवस्थापकम्' इति किं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते आहोस्विदनुमानत उतार्थापत्तेरिति विकल्पाः। तत्र न तावत् प्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिभासमानशरीरस्तम्भादिव्यतिरिक्तस्यापरस्य ज्ञानस्यानुपलम्भेनाऽसत्त्वात्। न च सुखाद्यान्तररूपेण अहंकारास्पदतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानरूपं प्रतीयत एवेति कथं तस्यानुपलम्भः ? यतः सुखादयो नान्तःस्पष्टव्यशरीरव्यतिरिच्यमानतनवः प्रतिभान्ति, 'अहम्' इति प्रत्ययोऽपि तथाभूतशरीरालम्बनतया संवेद्यत इति। न च तद्व्यतिरिक्तो बोधात्मा स्वप्नेप्यनुभवविषयः, इति न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तवपुर्राहकस्वरूपमवभातीति न तत् प्रत्यक्षावसेयम्। नाप्यनुमानाधिगम्यम् प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः। नाप्यर्थापत्तिस्तत्सद्भावमवगमयति तस्याः प्रामाण्यानुपपत्तेः। किं च, अनुस्मरणमात्रमर्थापत्तिः, न च 'इदं तत्' इत्युल्लेखवदनुस्मरणमदृष्टेऽर्थे प्रवृत्तिमासादयति। न

साधन दिखता है तो वह है प्रतिभास का निश्चय। निष्कर्ष यह है कि निराकार बोध से ही बाह्य 10 अर्थ की सिद्धि स्वीकारार्ह है, न कि विज्ञप्तिमात्र।

* निराकारज्ञान से अर्थव्यवस्था अशक्य- विज्ञानवादी *

निराकारवादी का यह कथन गलत है। कारण, तीन विकल्प (अभी कहेंगे वे) संगत नहीं होते। 'निराकार ज्ञान अर्थ की प्रतिष्ठा करता है' ऐसा ब्रह्मज्ञान आप को प्रत्यक्ष से, अनुमान से या अर्थापत्ति से हुआ है ? (१) प्रत्यक्ष से वैसा ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष में देह-गेह-स्तम्भादि का 15 प्रतिभास तो होता है किन्तु उन के प्रतिष्ठापकरूप में स्तम्भादि से अलग किसी स्वतन्त्र ज्ञान का प्रतिभास नहीं होता, अतः वह असत् है।

प्रश्न :- जिस का 'अहं' ऐसा उल्लेख होता है एवं अनुकूल (सुख) या प्रतिकूल (दुःख) रूप से जिस का आन्तरिक संवेदन होता है वही ज्ञान है जो अपने अपरोक्षसंवेदन से ही सिद्ध है - तब आप उस का निषेध क्यों करते हैं ?

20 उत्तर :- ठंडा पानी पीने पर भीतर में शीतल स्पर्श का संवेदन होता है, वह शीतलस्पर्श पानी एवं शरीर का ही गुणधर्म है - उस से अतिरिक्त नहीं है, ठीक इसी तरह वह सुख-दुःखसंवेदन भी जलस्पर्श की तरह भीतर में संविदित जरूर होते हैं किन्तु उन का अस्तित्व शरीर से पृथक् नहीं है। 'अहम्' ऐसा संवेदन भी भीतरी शरीर को ही विषय करनेवाला है, शरीर से भिन्न किसी तत्त्व को विषय नहीं करता। तात्पर्य, शरीर-स्तम्भादि से पृथक् कोई 'बोध' जैसा पदार्थ तो स्वप्न में भी 25 अनुभूत नहीं होता। निष्कर्ष, ग्राह्य स्तम्भ-शरीरादि से सर्वथा भिन्न मूर्ति जैसा कोई ग्राहक (बोध) स्वरूप प्रत्यक्ष में भासित नहीं होता। (२) वैसा बोध अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिस अर्थ का कभी भी प्रत्यक्ष में भान नहीं हुआ उस अर्थ का भान अनुमान से नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि पर ही हो सकती है। (३) अर्थापत्ति से भी शरीर-स्तम्भादिभिन्न बोध का उपलम्भ अशक्य है, क्योंकि अर्थापत्ति कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति 30 तो अन्यथा अनुपपन्न पूर्वदृष्ट अर्थ की स्मृति है। प्रस्तुत में स्तम्भादि से पृथक् बोध सर्वथा प्रत्यक्षादि से अदृष्ट ही है तब यहाँ 'यह तो वह है' (देवदत्त रात्रीभोजी है उस की तरह 'यह संवेदन है') ऐसा उल्लेखवाला अनुस्मरण होने की बात ही कहाँ ?! कभी भी किसीने संवेदन का स्वतन्त्र अनुभव

च ज्ञानस्वरूपं कदाचनापि दृष्टम् दृष्टौ वा तत एव तत्सिद्धेः किमर्थापत्त्या ?

अथ 'अर्थस्य ज्ञानम्' इति निराकारस्य ज्ञानस्य प्रतीतेस्तत्सद्भावः। न चार्थग्राहकत्वेन सर्वदा 'अर्थस्य ज्ञानम्' इत्येवंप्रतीयमानस्याऽविसंवादिप्रत्ययविषयस्य तस्याभावः, संवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः। अतो निराकाराऽविसंवादिप्रत्ययविषया बुद्धिः सिद्धेति युक्तमुक्तम्— 'निराकारा नो बुद्धिः' [] इति। असदेतत्— यतो निराकारा अर्थबुद्धिर्मया प्रतीयत इत्यपरा बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धिः प्रसज्येत, 5 तथा च सति आकारमन्तरेण केनाकारेण 'बुद्धिरर्थस्य' इति संयोज्य प्रतीयेत ? न हि 'इदं तत्' इत्यनिरूपिताकारमाकारान्तरेण नियोजनामर्हति। न च तथाऽप्रतीयमाना 'बुद्धिः' इति व्यपदेशमासादयति, शशशृङ्गादेरपि बुद्धित्वप्रसक्तेः। अथापि स्यात्— 'ममार्थबुद्धिरासीद्' इति नार्थाकारव्यतिरिक्ता सा प्रतिभाति

नहीं किया है, (अतः अर्थापत्ति की प्रवृत्ति अशक्य है) यदि किसीने किया है तो उस अनुभव (प्रत्यक्षादि) से ही बोधात्मा की सिद्धि हो जाती है, तब अर्थापत्ति की यहाँ क्या जरूर ?!

10

✽ अर्थ का ज्ञान— इस प्रतीति से निराकारज्ञान सिद्धि का निरसन ✽

निराकारवादी :- 'अर्थ (नीलादि) को जान रहा हूँ' इस प्रतीति में अर्थ के अतिरिक्त निराकार ज्ञान यानी बुद्धि भी प्रतिबिम्बित होती है - इस से निराकार ज्ञान सिद्ध होता है। 'अर्थ को जानता हूँ' यह प्रतीति होती है - जिस में कोई विसंवाद नहीं है, अर्थप्रकाशकता के रूप में निराकार ज्ञान उस प्रतीति का विषय है जिस का अपलाप नहीं हो सकता, अत एव उस का अभाव भी नहीं 15 कहा जा सकता। यदि अविसंवादी प्रतीति के विषय का निषेध करेंगे तो खुद संवेदन का भी निषेध करने की नौबत आयेगी क्योंकि विषय के विरह में ज्ञान किस का मानेंगे ?! तात्पर्य, अविसंवादी प्रतीति के विषयरूप में निराकार बुद्धि सिद्ध होती है, अत एव हमने जो कहा है कि 'हमारे मत में बुद्धि निराकार होती है' वह युक्तियुक्त ही कहा गया है।

विज्ञप्तिवादी :- यह कथन गलत है। कारण - यहाँ बुद्धि एवं अर्थ की ग्राहक एक नयी बुद्धि 20 खड़ी होगी जिस में यह प्रतीत होगा कि 'मुझे अर्थ का निराकार भान है।' अस इस नयी बुद्धि में नीलादि एवं (निराकार) बुद्धि दोनों ही अर्थ (भिन्न विषय) के रूप में प्रतीत होंगे। प्रश्न यह है - नीलादि अर्थ तो अपने आकार से प्रतीत होगा किन्तु निराकार बुद्धि कौन से आकार से प्रतीत होगी, जिस से 'अर्थ का ज्ञान' इस तरह सांयोगिक प्रतीति संभव हो सके ? जिस बुद्धि के आकार का 'इस रूप से' या 'उस रूप से' किसी भी रूप से निरूपण जब तक न किया जाय तब तक 25 अन्य किसी भी आकार से अर्थात् जल-फलादि अर्थ से उस का नियोग यानी संयोजन हो नहीं सकता। जो किसी भी आकारविशेष से नियोजित न हो सके— प्रतीत न हो सके उसे 'बुद्धि' शब्द से संबोधित करना अयुक्त है। यदि उसे युक्त माना जाय तो जिसका किसी आकार (स्वरूप) से भान अशक्य है वैसे खरगोशसिंग के लिये भी 'बुद्धि' ऐसा नामांकन युक्तियुक्त मानना पड़ेगा।

यदि कहा जाय- 'अर्थाकार से विप्रमुक्त "मुझे अर्थ की 'बुद्धि' हुई" इस ढंग से स्वतन्त्रतया 'बुद्धि' 30 का प्रतिभास नहीं होता। किन्तु जब अर्थ एवं बुद्धि की संयुक्त प्रतीति होती है तब बाह्याकार अर्थ के अतिरिक्त प्रकाशमय रूप से बुद्धि का भान होने के कारण, पृथक् ही व्यावृत्तरूप की कल्पना के

किन्तु पृथगपोद्धारपरिकल्पनया प्रकाशरूपतया व्यवस्थापिता 'बुद्धिः' इति व्यपदिश्यते। अयुक्तमेतत्— यतो नाऽव्यतिरेकेण प्रतीयमाना बुद्धिर्विकल्पेनापोद्धर्तुं शक्या, न च पृथक् प्रतीयते सेत्युक्तम्।

अथ सुख-स्तम्भाद्याकारतया यद्यन्तः(ः)स्प्रष्टव्यरूपादिकमेव ज्ञानं प्रतिभाति न पुनस्ततो व्यतिरिक्तमपरं ज्ञानम्— तथा सति संवेदनमात्रमेव प्रसक्तम्; एवं च 'चक्षुरादिना मया रूपं प्रतीयते' इति सम्बन्धाभावात् कथं प्रतीतिः ? अस्ति चेयं प्रतीतिः, तस्मादुपलभ्ये रूपादिकेऽभिमुखीभूतं चक्षुस्तत्प्रकाशत्वं विदधाति सा च बुद्धिरुच्यते। न च नीलाद्याकारमविद्यमानमेव तत्र प्रकाशत्वमुत्पन्नमिति वक्तव्यम्, विद्यमाननीलादिविषयस्य चक्षुरादिव्यापारादविद्यमानस्य प्रकाशत्वस्यैव तत्रोत्पत्तेः, नीलादेस्तु पूर्वमेव भावात्। तथा च सति 'अर्थस्या बुद्धिः' इति व्यपदेशः सिद्ध एव। अत एवोक्तं— 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' (न्याय० १-१-१५) इति।

10 एतदप्यसत्— यतो न प्रकाशव्यतिरेकेण नीलादिरुपलभ्यते इति कुतः पूर्वव्यवस्थित एव नीलादौ प्रकाशता चक्षुरादेरुदयतीति वक्तुं शक्यम् ? न हि प्रकाशतारहितं कदाचिदुपलब्धं नीलादिकम्, उपलब्धे द्वारा जिस का अवधारण किया जाता है, उसी का 'बुद्धि' ऐसा सम्बोधन किया जाता है।' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ से अपृथक् प्रतीत होने पर, विकल्प के जोर से बुद्धि का पृथग् अवधारण शक्य ही नहीं है। पहले ही कह दिया है कि अर्थ से पृथक् किसी की (बुद्धि की) प्रतीति अनुभवारूढ 15 नहीं है।

✽ 'अर्थ की बुद्धि'— इस प्रतीति से पृथक् बुद्धि का साधन ✽

यदि कहा जाय — अर्थाकार से अतिरिक्त कोई ज्ञान तत्त्व यदि नहीं है, अन्तः स्पृश्य = अन्तः संवेद्यरूप से ज्ञान का ही सुखाकार या स्तम्भाकार प्रतिभास होता हो— तब फलितार्थ यह होगा कि अन्तिम तत्त्व 'संवेदन' ही सिद्ध होगा, फिर प्रश्न यह ऊठेगा कि अगर संवेदन से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो 'नेत्रों से मुझे रूप दीखता है।' ऐसी अनुभवसिद्ध प्रतीति नहीं हो पायेगी क्योंकि संवेदनमात्र को बाह्य वस्तु के रूप या चक्षु आदि के साथ कोई सम्बन्ध तो घटता नहीं है, क्योंकि आप के मतानुसार संवेदन से अतिरिक्त कोई रूपादि है नहीं जो चक्षु से दिखाई दे। (अवांतर शंका) संवेदन में पहले नीलरूपादिआकार 'प्रकाशता' धर्म नहीं था वह बाद में चक्षु से उत्पन्न हो गया ऐसा मानेंगे। (उत्तर) ऐसा मानने की जरूर नहीं है, नीलादि पदार्थ तो पहले से साबूत है, इस लिये 25 चक्षु आदि की क्रिया से सिर्फ 'प्रकाशत्व' धर्म ही वहाँ उत्पन्न होता है जो कि पहले अविद्यमान था। ऐसी स्थिति में अब 'अर्थ का ज्ञान' ऐसा शब्दप्रयोग वास्तविक सिद्ध होगा क्योंकि नीलादिविषय में प्रकाशता की उत्पत्ति होने से सम्बन्ध भी जन्य-जनक भावस्वरूप घट सकेगा। न्यायदर्शनकार ने इसी लिये कहा है कि 'बुद्धि-उपलब्धि-ज्ञान एकार्थक हैं।' यहाँ बुद्धि एवं ज्ञान को 'उपलब्धि' कहने का तात्पर्य ही यह है → ज्ञान या बुद्धि किसी (विषय) को उपलब्ध करती है।

30 ✽ 'प्रकाशता' से अतिरिक्त नीलादि उपलब्धि का निषेध ✽

तो यह भी गलत है। कारण, 'नीलादि तो पहले से ही अवस्थित थे, प्रकाशता बाद में नेत्रादि से उत्पन्न हुयी' ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि प्रकाशता की उत्पत्ति के पहले, अर्थात् प्रकाश के न

वा सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसक्तिः। अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति व्यतिरेक उपलभ्यत एव। न, 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' 'स्तम्भस्य स्वरूपम्' इत्यत्रापि व्यतिरेकोपलब्धेर्व्यतिरेकः स्यात्, 'प्रकाशस्य प्रकाशता' इति च दृष्टेर्भेदः प्रकाशतायाः स्यात्। अथात्रैकैव प्रकाशतोपलभ्यते नापरेति न प्रकाशस्यापरः प्रकाशो व्यतिरेकोपलम्भस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्— तर्हि नील-प्रकाशयोरपि न प्रत्यक्षप्रतीतो भेद इति तत्रापि समानन्यायतो व्यतिरेकस्यासिद्धेर्नीलाद्याकारैव प्रकाशता, सा च बुद्धिः, इति सिद्धा साकारता ज्ञानस्य। 5

अथ परोक्षा बुद्धिर्निराकारा च ततः साकारत्वमुभयस्याऽसिद्धम्। असदेतत्— निराकारस्य बोधस्य 'बुद्धिः बुद्धिः' इति विकल्पेऽप्यप्रतिभासनात्। अर्थापत्तेश्च प्रक्षयः प्रकाशमात्रेणाऽर्थस्य सिद्धत्वाद्, व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम्। ततश्च यदुक्तम्— 'निराकारमेव ज्ञानमर्थोन्मुखमुपलभ्यमानं प्रतिनियमेन कथं होने पर, अकेले नीलादि की उपलब्धि कभी किसी को होती नहीं है। तात्पर्य, जब भी नीलादि उपलब्ध हुआ प्रकाशता के साथ ही उपलब्ध हुआ है। यदि बिना प्रकाश ही नीलादि उपलब्ध होगा तो नेत्रादि की आवश्यकता न होने से अब अंधे या देखनेवाले या बंद आँखवाले सभी को दूर-निकट आगे-पीछे रही हुई सभी वस्तु देखने लगेगी, सब सर्वदर्शी हो जायेंगे। 10

❖ षष्ठी विभक्ति भेद नियामक नहीं होती ❖

यदि कहें कि - 'नील का प्रकाश' इस तरह भेददर्शक षष्ठी विभक्तिप्रयोग से नील और प्रकाश के बीच भेद सूचित होता है। - तो ठीक नहीं क्योंकि 'धंभे का स्वरूप, शिलापुत्रक (मसाला पिसने के लिए शिलाखण्ड) का देह' - इत्यादि प्रयोगों में व्यतिरेकदर्शक षष्ठी होने से यहाँ भी खंभा और उस के स्वरूप के बीच भेद मानना पड़ेगा। उपरांत, 'प्रकाश की प्रकाशता' ऐसा भी प्रयोग दिखता है अतः यहाँ प्रकाश और प्रकाशता के बीच भी भेद गले पड़ेगा। यदि कहा जाय कि - 'प्रकाश की प्रकाशता' प्रयोग सुनने पर भी एक ही प्रकाशत्व विदित होता है दूसरा कोई प्रकाशत्व विदित नहीं होता, प्रकाश से पृथक् किसी प्रकाशत्व की उपलब्धि यहाँ तो प्रत्यक्षबाधित है इसलिये प्रकाश का कोई दूसरा प्रकाश नहीं होता। - तो नील और प्रकाश के बारे में भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष से कोई भेद यहाँ उपलब्ध नहीं होता। न्याय उभयत्र समान लागू होगा। अतः नील और प्रकाश के बीच 'नील का प्रकाश' ऐसे प्रयोग मात्र से भेद सिद्ध न होने के कारण मानना होगा कि प्रकाशता भी नीलादि का ही आकार है और प्रकाशता ही बुद्धि है इसलिये बाह्य अर्थ न होने पर भी ज्ञान की साकारता सिद्ध होती है। 20

❖ बोध की निराकारता का निरसन, साकारता का समर्थन ❖

उक्त प्रकार से ज्ञान की साकारता सिद्ध होने पर भी यदि हठ किया जाय कि - 'बुद्धि तो निराकार ही है किन्तु वह परोक्ष भी है इसलिये उस की निराकारता का प्रत्यक्ष से भान अशक्य है। इसीलिये उस की साकारता भी न तो आप सिद्ध कर सकेंगे, न हम, क्योंकि बुद्धि परोक्ष है।' - तो यह भी गलत है। 'बुद्धि-बुद्धि' इस ढंग से बुद्धि का विकल्प भान सभी को होता है (यानी वह परोक्ष नहीं है) किन्तु उस में (यानी विकल्प में) प्रतिभासित होने वाले बोध में निराकारता भासित नहीं होती। नीलादिआकार प्रकाशमात्र से नीलादि अर्थ यानी अर्थाकार भी सिद्ध है, अत एव निराकार बोध की अनुपपत्ति के द्वारा अर्थापत्ति का प्रयोग भी प्रक्षीण यानी निरवकाश हो जाता है। अर्थापत्ति का जब यहाँ कोई उपयोग ही नहीं है तब उस के लिये अर्थ से भिन्न अथवा बुद्धि की ग्राहक अन्य 25 30

सर्वसाधारणमिति सिद्धः प्रतिकर्म प्रत्ययः' - इति, [] तदप्ययुक्तम्; यतो न किञ्चिन्नीलाद्याकारप्रकाश-
ताव्यतिरेकेणोपलभ्यतेऽपरमिति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते ? प्रकाशता तु यदि निराकारा
स्यात् प्रतिकर्म व्यवस्था न भवेत्, नह्यालोकमात्रेणामिश्रितघटादिरूपेण तद्रूपप्रकाशनं युक्तम्।

- कथं तर्हि चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यवस्था ? बाह्यार्थवादिपरिकल्पिते परोक्षे रूपादौ तदाकारा
5 प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यते इति तथाव्यपदेशः सम्भवी। प्रकाशता वाऽपोद्धारपरिकल्पनयाऽनादिवासनानियमाद्
भिन्ना व्यपदिश्यत इति न किञ्चिदयुक्तम्। यद्वा, पूर्वसामग्रीतश्चक्षुरादिरूपाद्याकारप्रकाशता बुद्धिस्वभावोपजायते
इत्येकसामग्र्यधीनतया तथाव्यपदेशः। दृश्यते हि प्रदीप-प्रकाशयोः समानकालयोः 'प्रदीपेन घटः प्रकाशितः'

- बुद्धि (अर्थापत्ति) की कल्पना भी निरर्थक सिद्ध होती है। ऐसी वास्तविकता होने पर - आपका जो
यह निवेदन है कि - 'ज्ञान निराकार होता है एवं नियमतः नील या पीत आदि से संलग्न होने
10 के कारण नील या पीत अर्थ के प्रति अभिमुख रहता हुआ ही गृहीत होता है। तब कैसे कह सकते
हैं कि वह सर्वसाधारण यानी नील-पीत आदि सभी का प्रतिभासक बन बैठेगी ? नियमतः संलग्नता
के कारण नील के प्रति अभिमुख निराकार बोध नील का और पीत के प्रति अभिमुख निराकार ज्ञान
पीत का ही प्रतिभास करायेगा - इस तरह प्रत्येक विषयों की अलग अलग प्रतीति घट सकती है।'
- यह निवेदन भी अब गलत ठहरेगा। कारण, जो कुछ भी उपलम्भ होता है वह नीलादिआकार
15 प्रकाश ही है, उस को छोड़ कर और कुछ भी पृथक् उपलब्ध नहीं है, फिर नील या पीत अर्थ
के साथ ही प्रत्यासन्नता यानी अभिमुख्य या संलग्नता की कल्पना किस के लिये ?! स्पष्ट बात है
कि प्रकाशता या बोध या प्रकाश स्वयं निराकार होगा तो संलग्नता का नियम ही घट न सकने
से प्रतिविषय व्यवस्था की शक्यता ही नहीं बनती। जिस में घटादिस्वरूप किसी आकार का मिश्रण
ही नहीं है वैसे केवल आलोकमात्र से कभी भी घटादिस्वरूप का प्रतिभासन होना युक्तियुक्त नहीं है,
20 क्योंकि तब तो घटादि भी पटादि का प्रतिभासक बन बैठेगा।

* चक्षु आदि से रूप के उपलम्भ की अनुपपत्ति का निरसन *

- प्रश्न :- जब घटादिरूप का प्रकाशन साकार ज्ञान से होने का आप प्रस्थापित करते हैं तब
'चक्षु आदि से रूप का उपलम्भ होता है'- ऐसे अनुभवों की या ऐसे व्यवहारों की स्थापना कैसे करेंगे ?
आप के मत में तो रूपप्रकाशन कार्य चक्षु से नहीं, साकार ज्ञान से होता है।
25 उत्तर :- 'चक्षु आदि से रूप का उपलम्भ होता है' ऐसी प्रतीतियों की स्थापना इस ढंग से
सरलता से हो सकती है कि बाह्यार्थवादियों ने (सौत्रान्तिक ने) जो परोक्ष रूपादि की कल्पना कर
रखी है उस के स्थान में हमारे मत से 'चक्षु आदि के द्वारा रूपादिआकार प्रकाशता का जन्म होता
है' यही माना गया है। अतः चक्षु से रूपोपलब्धि की प्रतीति का व्यवहार स्थापित करना संभवित
है। अथवा साकारवाद में भी जनसमुदाय में अनादिकालीन अर्थ एवं प्रकाशता के भेद की वासना

▼. शंकराचार्यकृत-योगभाष्यविवरणे (३/१७)- "यथैव मृगतृष्णिकातोयमलीकमपि सत्यादूषरादपोद्ध्यते, यथा च स्थाणोः पुरुषः
पुरुषाच्च स्थाणोः, शुक्तिकातश्च रजतमपोद्ध्यते, यथैव च मृगतोयादयो यथाभूतोषरादिवस्तुप्रतिपत्तिहेतवः यथा च लिप्यक्षराणि
संकेतापेक्षत्वात् कृतसमयरूपाणि अकारादिवर्णादपोद्ध्यन्ते- अथ च सर्वाण्येतानि यथाभूतार्थप्रतिपादनोपायं प्रतिपद्यन्ते- न च तावता
मिथ्यात्वमेषां नास्ति तथा....." इत्याद्युक्तम्।

इत्येकसामग्र्यधीनतया व्यपदेशः। न ह्येककालयोरत्रापि प्रकाश्य-प्रकाशयोः कार्यकारणभाव उपपद्यते। ननु यदि साकारं विज्ञानमभ्युपगम्यते तदा चक्षुरादिकोऽर्थः प्रतिक्षिप्तः एव भवेत्, चक्षुराद्याकारस्य संवेदनमात्रस्यैवोपलब्धेर्न तदाकाराच्चक्षुराद्यर्थव्यवस्था स्यात्। यतो न बाह्यार्थस्तदाकारं च विज्ञानं द्वयमुपलम्भविषयः, तत्त्वे वा ज्ञानमेव, तत्रापि साकारम्, तत्राप्यर्थस्य पुनरप्युपलब्ध्यभ्युपगमे ज्ञानाकारेऽन्तर्भावः इति न कदाचित् स्वरूपेणोपलब्धिर्भवेदिति नार्थव्यवस्था। असदेतत्— कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थपरिकल्पना 5 अर्थापत्त्या वा परेषामभिमतैति तदभ्युपगमादर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्टः इत्यभिधानात्

रूढ होने के कारण अपोद्धारकल्पना यानी काल्पनिक पृथक्करण के बल से प्रकाशता से भिन्न रूप का व्यवहार एवं चक्षुजन्य प्रकाशता से (अपोद्धार =) पृथक्करण-कल्पना के द्वारा रूप में चक्षुजन्यता का व्यवहार घटाया जा सकता है। इस में कोई असमञ्जसता नहीं है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अपनी अपनी पूर्वोपस्थित तथाविध सामग्री के वशात् 10 चक्षुआदि आकार एवं रूपादि आकार एवं उन दोनों में जन्य-जनक भाव आकार— ऐसी त्रिमूर्ति प्रकाशता जो कि बुद्धिस्वरूप ही है— जन्म लेती है। उस में (कथंचिद् भिन्नाभिन्न) चक्षु आकार प्रकाशता एवं रूपादि आकार प्रकाशता दोनों ही समान सामग्री पर अवलम्बित होने के कारण 'चक्षु आदि से रूप का उपलम्भ होता है' ऐसा व्यवहार संगत होता है। दिखता भी है कि - प्रदीप एवं उस का प्रकाश दोनों ही तैलादि सभान सामग्री पर अवलम्बित समकालीन होने पर भी 'प्रदीप से घट का प्रकाश 15 हुआ' ऐसा अनुभव या व्यवहार किया जाता है। स्पष्ट है कि एक ही काल में उत्पन्न प्रदीप से प्रकाश्य घट एवं उस का प्रकाश दोनों के बीच कार्य-कारणभाव तो घट ही नहीं सकेगा, सिर्फ घटाकार प्रकाशता और प्रदीपाकार प्रकाशता उन दोनों में ही समकालीन कार्य-कारण भाव घट सकता है।

✽ साकारवाद में अर्थव्यवस्था की अनुपपत्ति का आपादन ✽

यदि कहा जाय— 'आप साकार ज्ञानवाद का पुरस्कार करते हैं तब 'चक्षु से (या प्रदीप से) 20 घट का उपलम्भ (या प्रकाश) हुआ' ऐसी प्रतीतियों के बावजूद भी चक्षु या प्रदीप का निषेध ही फलित होगा। कारण, आप के मत में तो चक्षु आदि भी संवेदन का आकारमात्र ही है न कि कोई बाह्य वस्तु। फलतः चक्षु आदि अर्थ का स्वरूपनिश्चय (= व्यवस्था) असंभव होगा क्योंकि आकारमात्र से किसी का स्वरूपनिश्चय नहीं होता। देखिये - 'चक्षु से घट देखता हूँ' इत्यादि प्रतीति में 9चक्षुरूप बाह्यार्थ और २चक्षुआकार विज्ञान - ये दो तो उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि आप स्वतन्त्र बाह्यार्थ मानते 25 ही नहीं। यदि कहें कि स्वतन्त्र नहीं किन्तु ज्ञान में प्रतिबिम्बित आकारस्वरूप बाह्यार्थ मानते हैं - तो वह ज्ञानमय ही तत्त्व हुआ न कि बाह्यार्थ। ज्ञान तो अभ्यन्तर तत्त्व है। ज्ञानमय तत्त्व भी साकारज्ञानवाद में अर्थाकार ही आप को मानना होगा। उस साकार ज्ञान में यदि आप अर्थ की स्वतन्त्र उपलब्धि बतायेंगे तो उस का भी अन्तर्भाव तो ज्ञानाकार में ही करना होगा। फलतः, बाह्यार्थ ज्ञानाकार रूप से ही भासित होगा किन्तु कभी भी अपने असाधारण स्वरूप से उसका स्फुट प्रतिभास नहीं 30 हो सकेगा। अतः साकार ज्ञानवाद में कैसे भी अर्थव्यवस्था घट नहीं सकेगी।'

✽ विज्ञानवाद में स्वतन्त्रतया बाह्यार्थ असिद्धि भूषण है ✽

— तो यह भी गलत है। बाह्यार्थसिद्धि तो आप कार्यव्यतिरेक से या अर्थापत्ति प्रमाण से करना

यथोक्तदोषानुपपत्तिः। अथवा विज्ञानवादेऽर्थासिद्धिप्रेरणं सिद्धसाध्यतया न दोषावहमिति साकारमेव ज्ञानं प्रमाणमभ्युपपन्नाः सौत्रान्तिक-योगाचाराः।

[साकारज्ञानप्रमाणवादिनिरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते— निराकारं विज्ञानमर्थग्राहकमिति न प्रत्यक्षतः प्रतीयते शरीर-स्तम्भादिव्य-

- 5 चाहते हैं। कार्यव्यतिरेक यानी कार्य का व्यतिःसहचार ऐसा है कि अर्थ नहीं होता तब ज्ञानरूप कार्य भी नहीं होता। अर्थापत्ति इस तरह है कि बाह्यार्थ के बिना बाह्याकार विज्ञान असंगत होता हुआ अर्थतः बाह्यार्थ को सिद्ध करेगा। हम भी इन दोनों का स्वीकार कर के यही कहते हैं कि इस तरह सिद्ध होता हुआ बाह्यार्थ भी प्रकाशकोटि आरूढ एक किस्म का ज्ञानाकार ही है। अब कोई असंगति या दोषप्रसक्ति नहीं रहती। 'फिर भी स्वतन्त्र ज्ञानभिन्न बाह्यार्थ तो विज्ञानवाद में सिद्ध नहीं ही हुआ न' ऐसे अर्थासिद्धि
- 10 की यदि आप आपत्ति देना चाहेंगे तो सुन लो कि वह तो हमारे लिये इष्टापत्ति ही है। हम जो सिद्ध करना चाहते हैं वही आप आपत्ति के रूप में पेश कर रहे हो तब आप के मत में सिद्धसाधन दोष ही गले पड़ेगा। हमारे मत में कोई दोषप्रवेश नहीं होगा। सौत्रान्तिक एवं योगाचार (= विज्ञानवादी) मत का निष्कर्ष यही है - साकार ज्ञान प्रमाण है (बाह्यार्थ हो या न हो।)

✽ सिंहावलोकन - संदर्भस्मृति ✽

- 15 [वैभाषिक के 'बोधः प्रमाणं' (पृ०३-पं०३) निरूपण के बाद 'निराकारो बोधः प्रमाणं' (पृ०५-पं०२) इस वैभाषिक मत के प्रतिवाद में साकार ज्ञानवादीने (पृ०६-पं०२) अपना मत प्रस्तुत किया। उस के विरोध में ननु च... (पृ०६-पं०२) से ले कर पीतादि... प्रसंगात् (पृ०७-पं०५) यहाँ तक निराकारवादी का बयान हुआ। साकारवादीने अथ साकारं (पृ०७-पं०५) ... ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् (पृ०७-पं०९) तक अपना ब्युगल बजाया। उस के प्रतिकार में असदेतत्... (पृ०७-पं०९) से लगा कर साकारवाद का प्रतिकार चालु
- 20 किया। पुनः साकारज्ञानवादी ने बाह्यार्थनिहन्व से बचने के लिये अथानुमानाद्... (पृ०११-पं०१) तथा, अथार्थापत्त्या... (पृ०११-पं०३) एवं अथ दूरस्थित (पृ०११-पं०७) आदि प्रयास किया। पुनः निराकारवादी ने असदेतत् (पृ०१२-पं०१) से 'बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या' (पृ०१३-पं०२) पर्यन्त साकार वाद का निषेध किया। अब विज्ञानवादी अथ निराकारं.. (पृ०१३-पं०३) ग्रन्थ से निराकारवाद का निषेध कर के विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना करता है। निराकारवादी अयुक्तमेतद् (पृ०१५-पं०२) से बचाव करता है।
- 25 विज्ञानवादी असदेतत् ... (पृ०१६-पं०१) कह कर खंडन करता है। पुनः अथ 'अर्थस्य... (पृ०१७-पं०२) इत्यादि निराकारवादी ने कहा। विज्ञानवादी ने असदेतत् (पृ०१७-पं०५) से उस का खंडन किया। पुनः अथ सुख... (पृ०१८-पं०३) से निराकारवादी ने जो कहा उस का एतदप्यसत्... (पृ०१८-पं०१०) कह कर खंडन किया। साकारवाद में कथं तर्हि... (पृ०२०-पं०४) यह प्रश्न उठाया तो उस का भी साकारवादियों ने बाह्यार्थवादि... (पृ०२०-पं०४) से जवाब भी दे दिया। इस प्रकार बाह्यार्थ माननेवाले साकारज्ञानवादी
- 30 सौत्रान्तिक एवं बाह्यार्थ न माननेवाले साकारज्ञानवादी योगाचार मत (= विज्ञानवादी), दोनों का वक्तव्य पूर्ण हुआ। अब उन दोनों के प्रतिवाद में सिद्धान्तपक्ष में यह कहा जायेगा कि बाह्यार्थ वास्तविक है, ज्ञान निराकार-साकार कथंचिद् उभयरूप मान्य है। बाह्यार्थशून्य साकारज्ञानवाद अप्रामाणिक है।]

✽ बाह्यार्थ का साधन, निराकार विज्ञान का निरसन-सिद्धान्तपक्ष ✽

अब साकार ज्ञानवादी के प्रति सिद्धान्तपक्ष का यह कहना है कि - साकार ज्ञान पक्ष में जो निराकार

तिरेकेणानुपलम्भतः 'तस्याऽसत्त्वात्'.. (पृ०१६-पं०२) इत्यत्र हेतुरसिद्धः, अहंकारास्पदस्य सुखादेर्ज्ञान-
विशेषस्याऽन्तः स्वसंवेदनप्रत्यक्षानुभूयमानस्य सत्त्वात्। न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याप्यसत्त्वम् स्तम्भाद्याकार-
स्यापि ज्ञानस्याऽसत्त्वप्रसक्तेः। न हि तथाप्रतिभासव्यतिरेकेणापरमत्रापि सत्त्वनिबन्धनम्। न च 'अहम्'
इति प्रत्ययोऽन्तःस्पष्टव्यशरीराद्यालम्बनः, शरीरस्य सप्रतिघत्वेनाऽपरप्रत्यक्षविषयत्वेन चाऽज्ञानरूपतया
मुख्याहंप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। ज्ञानस्यैवाप्रतिघानन्यवेद्यरूपस्यान्तर्मुखाकारस्य मुख्याहंप्रत्ययविषयत्वात्। 'अहं 5
कृशः' इत्यादिशरीरालम्बनस्य त्वहंप्रत्ययस्यौपचारिकत्वाद्, उपचारनिबन्धनत्वस्य च प्राक्^१ प्रतिपादितत्वात्।

तेन 'निराकारस्य ज्ञानस्य स्वप्नेऽप्यसंवेदनाद् न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तं ग्राहकस्वरूपं प्रतिभाति'
(पृ०१६-पं०५) इति प्रत्युक्तम्। 'नीलमहं वेद्यि' इति बाह्यनीलार्थग्राहकस्यान्तर्ग्राह्याद् व्यतिरिक्तस्य स्वसंवेदना-

पक्ष का खंडन करते हुए कहा गया था (पृ०१६-पं०१५) कि - 'प्रत्यक्ष से यह सिद्ध नहीं होता कि
(निराकार) विज्ञान अर्थसंवेदक है क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा स्तम्भ-कुम्भ-शरीरादि से पृथक् (निराकार) ज्ञानतत्त्व 10
का संवेदन नहीं होने से नि० ज्ञान असत् है।' - यहाँ हम कहेंगे कि शरीरादि से पृथक् ज्ञान असत्
है यह हेतु ही असिद्ध है। (जिस के द्वारा आप विज्ञान के अर्थसंवेदकत्व का निहनव करना चाहते
हैं!) कारण, शरीरादि से पृथक् जिस का 'अहं' इस आकार से भीतर में अपने खुद के प्रत्यक्षात्मक
संवेदन के रूप में सुखादिगर्भित अनुभव स्वयंसिद्ध है उस की सत्ता का निहनव नहीं हो सकता। जो
प्रत्यक्षात्मक अपने खुद के संवेदन से अनुभवसिद्ध हो उस के असत्त्व की घोषणा उचित नहीं है, अन्यथा 15
आप के माने हुए स्तम्भादिआकार ज्ञान का भी असत्त्व घोषित करना पड़ेगा। संवेदनात्मक प्रतीति के
बिना अन्य कोई साधन तो साकार ज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के लिये, आप के पास भी नहीं है।

✽ अहमाकारप्रतीति शरीरविषयक नहीं है ✽

ऐसा नहीं है कि 'अहम्' आकार प्रतीति, अंतरंग भाग से स्पर्श से वेद्य शरीरादि को ही विषय
करती हो। ऐसा नहीं होने का कारण सुनिये— शरीर को कई प्रत्याघात होते हैं, ज्ञान के लिये कोई 20
पत्थरादि का प्रत्याघात नहीं होता। उपरांत, शरीर अन्य लोगों के प्रत्यक्ष का विषय बनता है जब
कि ज्ञान सिर्फ स्व से ही संवेद्य होता है, अन्य किसी को अपने ज्ञान का संवेदन नहीं होता। तथा,
शरीर अचेतन होने से अज्ञान रूप होता है जब कि ज्ञान तो चैतन्यशील है। शरीर का भान बहिर्मुख
होता है जब कि ज्ञान का भान हमेशा अन्तर्मुख आकार से ही होता है। इस से यह फलित होता
है कि निरुपचरित 'अहम्' आकार प्रतीति का विषयत्व शरीर में नहीं घटता, वह ज्ञान में ही घट 25
सकता है। हाँ, कभी कभी 'मैं पतला हूँ' ऐसी अहमाकार प्रतीति का विषयत्व शरीर में भासित होता
है किन्तु वह तो गौण है, उपचरित है, मुख्य रूप से नहीं है। अनादिकालीन वासना ही उस का
मूल है वह पहले नास्तिकमत के प्रतिकार में कहा जा चुका है।

✽ ग्राह्य से भिन्न, ग्राहकज्ञान के निषेध का निरसन ✽

पहले जो कहा है (पृ०१६-पं०२४) कि - 'सपने में भी निराकार ज्ञान का अनुभव नहीं होता, 30

१. प्रथमखंडे पृ०३२५ मध्ये पंचमादिपंक्तयोऽवलोकनीया।

- ध्यक्षतो ज्ञानस्याहमहमिकया प्रतीतेः। न चान्तः सुखादयो बहिश्च नीलादयः परिस्फुटवपुषः स्वसंविदिताः प्रतिभान्ति, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तं निराकारं ज्ञानस्वरूपमर्थग्राहकमाभाति, सुखादेरर्थग्राहकत्वाऽयोगादिति वक्तव्यम्— यतो बाह्यं प्रति सुखादीनां नैवाऽस्माभिरपि ग्राहकत्वमभ्युपगम्यते। न हि सुखादयो भावनोपनेयजन्मानो बहिरर्थसंनिधिमन्तरेणाऽपि प्रादुर्भवन्तः पदार्थव्यक्तीनां नियमेनोद्घोतकाः, स्ववपुःपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषाम्।
- 5 चक्षुरादिप्रभवास्तु संविदो बहिरर्थमुद्भासयन्त्यः स्पष्टावभासा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथगवसीयन्त इति पदार्थग्राहिण्यस्ता एवाभ्युपगमनीयाः। सुखादिवेदनं तु हृदि परिवर्तमानं बाह्यार्थसंविदः पृथगेव, न तत् बाह्यार्थग्राहकतयाऽभ्युपगमविषयः। तदेवं ग्राह्याद् व्यतिरेकेण निराकारज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वादनुमानमपि तत्सत्त्वप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत एव विप्रतिपत्तिसद्भावे।

- अत एव ग्राह्य विषय (रूपादि) से पृथक् ग्राहक के लिवाश में, प्रत्यक्ष प्रमाण से, निराकार ज्ञान की प्रतीति नहीं होती'- इस कथन का भंग पूर्वोक्त संदर्भ से हो जाता है। कारण, 'मैं नील को जानता हूँ' इस अनुभवसिद्ध प्रतीति में भीतर में 'ग्राह्य नील से अतिरिक्त' एवं 'बाह्य नील वर्ण का ग्राहक' ऐसा ज्ञान, अपने आप अपने को पीछान लेने वाले प्रत्यक्ष भान में अहमहमिका से यानी स्पष्टरूप से भासित होता ही है।
- 10 अत एव ग्राह्य विषय (रूपादि) से पृथक् ग्राहक के लिवाश में, प्रत्यक्ष प्रमाण से, निराकार ज्ञान की प्रतीति नहीं होती'- इस कथन का भंग पूर्वोक्त संदर्भ से हो जाता है। कारण, 'मैं नील को जानता हूँ' इस अनुभवसिद्ध प्रतीति में भीतर में 'ग्राह्य नील से अतिरिक्त' एवं 'बाह्य नील वर्ण का ग्राहक' ऐसा ज्ञान, अपने आप अपने को पीछान लेने वाले प्रत्यक्ष भान में अहमहमिका से यानी स्पष्टरूप से भासित होता ही है।

- आशंका - भीतर में सुख-दुःखादि एवं बाहर नीलादि पदार्थ स्पष्ट आकार धारण करते हुए अपने आप को पीछानते हुए लक्षित होते हैं - किन्तु नीलादि का ग्रहण करता हुआ कोई भी नील-सुखादि भिन्न निराकार ज्ञानात्मक पदार्थ भासित ही नहीं होता। कारण, सुख अपने को ग्रहण करता है न नीलादि को - इस स्थिति में नीलादि से भिन्न सुखादि जिस तरह नीलादि को ग्रहण नहीं कर पाता तो ऐसे ही भिन्न ज्ञान भी कैसे उन को ग्रहण करेगा ?

✽ सुखादि बाह्यार्थग्राहक नहीं होते, ज्ञान होता है ✽

- 20 समाधान :- ऐसी आशंका उचित नहीं। कारण, एक बात स्पष्ट है कि नीलादि बाह्य को सुखादि ग्रहण कर सकता है ऐसा तो हम लोग भी नहीं मानते। सुखादि तो मन की विचित्र भावनाओं के बल से जन्मलाभ करते हैं इसलिये बाह्य नीलादि अर्थ के संनिधान के विना भी उत्पन्न हो जाते हैं। अत एव (तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होने के कारण) आवश्यक नहीं है कि वे किसी वस्तु (बाह्य नीलादि) का प्रकाश करें। उन का स्वरूप सिर्फ अपने ही पिण्ड में तन्मय बना रहता है। दूसरी ओर, यह तो अवश्य मानना होगा कि बाह्य पदार्थ का उद्भासन करने में व्यस्त नेत्रादिजन्य अनुभूतियाँ पदार्थ को ग्रहण करती हैं, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक सहचार से उन का स्पष्ट प्रतिभास होता है कि वे सुखादि से पृथग् अस्तित्व में हैं। हृदय में स्फूर्त होने वाला सुखादि का संवेदन तो नीलादि बाह्यार्थ संवेदन से पृथग् ही लक्षित होता है, अत एव उन का बाह्यार्थग्राहकरूप में स्वीकार नहीं हो सकता।

- 30 निष्कर्ष, उक्तरूप से नीलादि बाह्यार्थ से पृथक् ही उन के ग्राहकरूप में निराकार ज्ञान की सिद्धि अपने आप को पीछानने वाले प्रत्यक्ष से निर्बाध होती है। अत एव विवादप्रसंग में प्रत्यक्ष प्रसिद्धि के ठोस आधार पर अनुमान प्रमाण भी बाह्यार्थविषयक ज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के लिये अकुंठित है।

यच्च 'अर्थापत्तेरप्रामाण्याद् नातस्तत्प्रतिपत्तिः' (पृ०१६-पं०७) इति, तत् सिद्धसाधनमेव। यदपि 'निराकारा मया बुद्धिः प्रतीयते' इति बुद्धेरप्यपरा बुद्धिर्ग्राहिका...' इत्याद्युक्तम् (पृ०१७-पं०५) तदप्यसंगतमेव। यतः स्वपरार्थग्राहकं बुद्धेः स्वरूपम्, तेन च रूपेण स्वसंविदि प्रतिभासमाना कथं शशशुद्धादिवदव्यवस्थितस्वरूपा भवेत् ? यदपि 'तदव्यतिरिक्ततया प्रतीयमाना न विकल्पेनाप्यपोद्धर्तुं शक्या' इति (पृ०१८-पं०२) तदप्यसंगतम्, ग्राह्यार्थस्वरूपविविक्ततया स्वरूपेण तत्प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। यदपि 'प्रकाशतारहितं नीलादिकं 5 नोपलभ्यते, तथोपलम्भे सर्वः सर्वदर्शी भवेद्' इति (पृ०१८-पं०११) - अत्रापि यदि ज्ञानं विना नीलादिकं नोपलभ्यते इत्युच्यते तदा सिद्धसाध्यता, तदन्तरेण तदुपलम्भस्याऽनिष्टेः। अथ नीलमेव प्रकाशरूपमिति प्रतिपाद्यते - तदयुक्तम्, नीलस्य जडतया प्रकाशरूपत्वानुपपत्तेः, परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया जडाजडयोरेकत्वाऽयोगात्।

यदपि 'नीलस्य प्रकाश' इति व्यतिरेकः 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादाविवाभेदेऽपि संभवति' इति 10 (पृ०१९-पं०१) तदपि न सम्यक्; दृष्टान्ते हि प्रत्यक्षावगतोऽभेदो भेदप्रतिभासस्य बाधकः; न तु दार्ष्टान्तिके

* अर्थापत्ति अर्थग्राहक ज्ञान की असाधक *

पहले जो आपने कहा था (२८-१६) कि - 'अर्थ से अतिरिक्त कोई अर्थग्राहक निराकार ज्ञान अर्थापत्ति से सिद्ध नहीं है, क्योंकि खुद अर्थापत्ति ही अप्रमाण है उस से ज्ञान का प्रकाशन कैसे शक्य होगा?' - इस में तो हमें भी इष्टापत्ति है। कारण, हमारे मत में भी अर्थापत्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। 15

* बुद्धि का स्वरूप है स्व-पर अर्थ को ग्रहण करना *

यह जो कहा था (१७-२०) - 'मुझे निराकार अर्थबुद्धि अनुभूत होती है, ऐसे अनुभव में, बुद्धि और अर्थ को ग्रहण करने वाली एक अन्य बुद्धि माननी पड़ेगी, किन्तु निराकार बुद्धि (निराकार होने से) 'अर्थ का बोध' इस रूप में किस आकार से संयोजन कर के प्रतीत होगी?... इत्यादि' - जो कहा था वह भी संगत नहीं है। कारण, बुद्धि स्वयं अर्थाकार न होते हुए भी स्वभावतः स्व 20 और पर (यानी अर्थ) को ग्रहण करती है जो कि उस का स्वरूप ही है। उसी स्वरूप से उस का (बुद्धि का) और ग्राह्य अर्थ का, उभयग्राहक संवेदन में स्फुट प्रतिभास भी होता है। उस के ऊपर शशसिंगतुल्य यानी अनिश्चित स्वरूप का आरोप कैसे हो सकता है ?

इसी संदर्भ में जो कहा था (१८-१३) - बुद्धि जब अर्थाभिन्न रूप से प्रतीत होती है तब कैसा भी विकल्प उस को (बुद्धि को) अर्थ से पृथक् अपोद्धृत कर के दिखाने के लिये शक्तिमान नहीं 25 है। - यह कथन भी गलत है। ग्राह्य अर्थ के स्वरूप से (जडत्व से) विलक्षण (चैतन्य) स्वरूप से बुद्धि का प्रतिभास होता है यह तथ्य पहले (प्रथम खण्ड में) कहा जा चुका है।

* नीलादि की ज्ञानमयता का निषेध *

यह पर्यनुयोग कि - नीलादि में चक्षु आदि संनिकर्ष से प्रकाशता का आविर्भाव कहना शक्य नहीं है क्योंकि नीलादि का उपलम्भ कभी भी प्रकाशता से विनिर्मुक्तरूप से नहीं होता, यदि वैसा 30 होता तब तो सभी को चक्षु आदि होने से सारे जगत् का प्रकाश हो जाने पर जीवमात्र सर्वदर्शी बन जायेगा। (१८-३२) - इस पर्यनुयोग के ऊपर भी पर्यनुयोग आ पड़ेगा कि आप क्या कहना चाहते हैं ? नीलादि अर्थ के विना कभी भी नीलादि ज्ञान का उपलम्भ नहीं होता ऐसा यदि कहना

- प्रत्यक्षारूढोऽभेदप्रतिभासः समस्ति। तथाहि— ग्राह्यरूपं स्तम्भाद्यनन्यव्यापृतत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति, प्रकाशता तु स्तम्भादिकर्मणि व्यापृतत्वेन ग्राहकतया प्रतिभातीति न स्तम्भ-तत्संवेदनयोरभेदावभासोऽध्यक्षारूढोऽवभाति। न केवलं ग्राहकाकारोऽन्यव्यापृतत्वेन प्रतिभाति किन्त्वाह्लादादिस्वभावतया अहङ्कारास्पदश्च प्रतिभास-निश्चयाभ्यामवसीयते, तद्ग्राह्यस्तु तद्विपरीतत्वेन। न चाध्यक्षसिद्धभेदयोर्नीलतत्संवेदनयोः कुतश्चित्
- 5 प्रमाणादेकताऽवसातुं शक्येति न भेदप्रतिभासस्य बाधा। न च नीलादिरेव ज्ञानरूपः 'अहं नीलादिः' इत्यनवगमात्। तेन 'नीलाद्याकारैव प्रकाशता सा च बुद्धिरिति साकारता ज्ञानस्य' इति यदुक्तम् (पृ०१९-पं०५) तदपि निरस्तं दृष्टव्यम्।

- चाहते हैं तब तो इष्टापत्ति है। नीलादि अर्थ विनिर्मुक्त नीलादि के ज्ञान का उपलम्भ हमें भी इष्ट नहीं है। किन्तु यदि उपलम्भ के सहचार के बल पर आप नीलादि को ही ज्ञानमय कहना चाहते
- 10 हैं तो वह नितान्त गलत है, क्यों कि नीलादि बाह्य अर्थ जड है उस में ज्ञानमयत्व स्वभाव घट नहीं सकता। जड पदार्थ एवं ज्ञानमय पदार्थ के लक्षण एक-दूसरे से क्रोशों दूर रहने वाले है इसलिये जड एवं चेतना में अभेद नहीं हो सकता।

✽ नील और नीलसंवेदन का भेद अबाधित ✽

- नील और प्रकाश (बोध) दोनों में भेद साधक 'नील का प्रकाश' इस उल्लेख के प्रति जो कहा
- 15 था कि (१९-१५) — 'नील का बोध' ऐसा भिन्न विभक्तिवाला उल्लेख तो अभेद होने पर भी होता आया है, जैसे 'शिलापुत्रक का पिण्ड' इस उल्लेख में जो शिलापुत्रक है (चन्दनादि घिसने का शिलापट्ट है) वही पिण्ड है, भिन्न नहीं है। — वह भी गलत कहा था। शिलापुत्रक के उदाहरण में तो प्रत्यक्षप्रमाण से अभेद सिद्ध है जो कि भेद का बाध करता है, जब कि प्रस्तुत 'नील का बोध' इस अनुभव में अभेद प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है जो भिन्न विभक्तिवाले उल्लेख से सिद्ध होनेवाले भेद का बाध कर सके।
- 20 देखिये, ग्राह्य स्तम्भादि पदार्थ जब प्रतीत होते हैं तब अन्य किसी के ग्रहण में तत्पर हो इस ढंग से प्रतीत न हो कर सिर्फ ग्राह्यरूप से ही प्रत्यक्ष में प्रतीत होता है। दूसरी ओर प्रकाशता (यानी बोध) कर्मापन्न स्तम्भादि को ग्रहण करने में तत्पर हो ऐसे भासित होने से ग्राहकस्वरूप से ही संविदित होता है। इस से यही फलित होता है कि स्तम्भ और उस के संवेदन में अभेदानुभव कहीं भी प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। ग्राहक के आकार में भासित होने वाली प्रकाशता में सिर्फ अन्य (स्तम्भादि) के ग्रहण में
- 25 तत्परता ही भासित नहीं होती, अपि तु उस में (प्रकाशता में) आह्लादस्वभावता एवं अहमाकारता (अहंत्व) भी भासित होते हैं। सिर्फ भासित ही नहीं होते किन्तु उत्तर काल में अनुव्यवसाय से निश्चित भी किये जाते हैं। ग्राह्य स्तम्भादि में न तो आह्लादकस्वभावता भासित होती है न अहंत्व। इस प्रकार नील एवं उस के संवेदन में भेद तो प्रत्यक्ष से स्फुट हो जाता है किन्तु उन दोनों का एकत्व तो किसी भी प्रमाण से उपलक्षित नहीं हो सकता। अत एव 'नील का बोध' इस अनुभूति में लक्षित
- 30 होने वाले भेद के अनुभव में कोई भी बाधा नहीं है।

नीलादि को ही ज्ञानमय-ज्ञानस्वरूप-ज्ञानाभिन्न इसलिये नहीं मान सकते, चूँकि ज्ञानतत्त्व का 'मैं नीलादि हूँ' ऐसा भान कभी नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि आप का (१९-२३) — 'प्रकाशता

यदपि- 'प्रकाशतामात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम् (पृ०१९-पं०७)' तदपि सिद्धमेव साधितम्; अर्थप्रकाशताया अर्थव्यतिरिक्ताया बुद्धित्वेन तदपरबुद्धिकल्पनाया असिद्धत्वात्। यदपि 'नापरं नीलाद्याकारप्रकाशताव्यतिरेकेणोपलभ्यते इति कस्यार्थं प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते' (पृ०२०-पं०१) तदपि नीलाद्यर्थग्रहणपरिणतेर्ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेरयुक्ततया स्थितम्। 'प्रकाशता तु यदि निराकारा भवेत् प्रतिकर्म व्यवस्था न स्याद्' इति यदुक्तम् (पृ०२०-पं०२) तदप्यसंगतमेव; यतः प्रकाशता किं 5 नीलाद्याकारा, आहोस्विद् ग्राह्याकाराऽभ्युपगम्यते ? यदि प्रथमो विकल्पः तदा वक्तव्यम् किमेकदेशेन नीलाद्याकारा प्रकाशता, आहोस्वित् सर्वात्मनेति ? तत्र यद्येकदेशेन तदा सांशैका प्रकाशता प्रसक्तेत्यनेकान्त-सिद्धिः। अथ सर्वात्मना तदा प्रकाशताया जडरूपनीलादिस्वभावत्वाद् विज्ञानिरूपताऽभावप्रसक्तिः, जडस्य प्रकाशरूपताऽयोगात्। अथ ग्राह्याकारा, एवमपीतरेतराश्रयत्वम्।

नीलादिआकारमय ही है और उसे ही बुद्धि भी कहते हैं अतः ज्ञान की साकारता सिद्ध हो गयी'- 10
ऐसा कथन निरस्त हो जाता है।

✽ प्रकाशता की नीलादिआकाररूपता असंगत ✽

यह जो कहा था कि - "नीलादिआकारात्मक प्रकाश से ही नीलादि अर्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः नीलादि की सिद्धि के लिये अर्थापत्ति को अवकाश न होने से, अर्थ से भिन्न अथवा बुद्धि 15 की ग्राहक अन्य बुद्धि (अर्थापत्ति) की कल्पना निरर्थक है"- (पृ०१९-पं०३१) यह तो हमारे ही सिद्ध मत की आप सिद्धि करने जा रहे हैं। अर्थप्रकाशता अर्थ से भिन्न है क्योंकि वह खुद ही बुद्धिस्वरूप है। अत एव उस की सिद्धि के लिये अन्य बुद्धि की कल्पना आवश्यक ही नहीं है। यह जो कहा था - "नीलादिआकारमय प्रकाश से पृथक् किसी नीलादि अर्थ का उपलम्भ ही नहीं होता, फिर उस अर्थ में किस की प्रत्यासत्ति की कल्पना आप लोगों के द्वारा की जायेगी ?" (पृ०२०-पं०१५) - यह कथन भी युक्तिबाह्य ही है, क्योंकि ज्ञानप्रकाश ही नीलादि अर्थ की प्रत्यासत्ति होने पर नीलादिअर्थग्रहणाकार 20 परिणाम में ढलता हुआ स्वयं विदित होने से प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है। यह जो कहा था- (पृ०२०-पं०१७) प्रकाशता को निराकार मानेंगे तो 'नीलप्रकाश, पीतविषयकप्रकाश' ऐसी पृथक् पृथक् विषयों की व्यवस्था ही नहीं घटेगी - घट-पटादिआकार शून्य केवल आलोक से घटादि का प्रकाशन शक्य नहीं...' यह भी संगत नहीं है, कारण यह है कि साकारवाद में ये दो विकल्प अनुत्तीर्ण रहते हैं - (१) प्रकाशता को आप सिर्फ नीलादिआकार ही मानेंगे या (२) ग्राह्य रूप में भासित होने वाले नीलादि आकार 25 वाली मानेंगे ? (१) प्रथम विकल्प में और भी दो विकल्प अनुत्तीर्ण रहते हैं - (A) - प्रकाशता एक अंश में नीलादिआकार होती है या (B) सर्वांशों में ? A प्रथम विकल्प में किसी एक अंश में प्रकाशता को नीलादिआकारस्वरूप मानने पर एक ही प्रकाशता को निरंश नहीं, सांश मानना होगा, फलतः अनेकान्तवाद का विजय होगा। B यदि दूसरे विकल्प में प्रकाशता को सर्वांशों में नीलादिआकार मानेंगे तो प्रकाशता भी जड नीलादिस्वभावमय हो जाने से उस के विज्ञानस्वरूप का भंग प्रसक्त होगा, 30 क्योंकि जड नीलादिपदार्थ में प्रकाशरूपता संगत नहीं है।

(२) मूल विकल्पों में दूसरा विकल्प :- प्रकाशता को ग्राह्यरूप में भासित होनेवाले नीलादिआकारवाली

तथाहि— ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धौ तदाकारा प्रकाशता सिध्यति, तत्सिद्धौ च ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न हि देवदत्तस्य प्रतिनियताकारतासिद्धौ यज्ञदत्तस्य तदाकारतासिद्धिर्दृष्टा। न च प्रकाशतासाकारतासिद्धिमन्तरेणापि ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिः, निराकारज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वप्रसक्तेः।

5 न च 'यद् यदाकारं तत् तस्य ग्राहकम्' इति व्याप्तिसिद्धिः, अन्यथोत्तरनीलक्षणः पूर्वनीलक्षणस्य ग्राहकः स्यात्। न च तस्याऽज्ञानरूपत्वान्नायं दोषः, देवदत्तनीलज्ञानस्य यज्ञदत्तनीलज्ञानग्राहकताप्रसक्तेः। न च तयोः कार्यकारणभावाऽभावाद्नायं दोषः, सदृशसमन्तरज्ञानक्षणं प्रत्युत्तरज्ञानक्षणस्य ग्राहकताप्रसक्तेः। अथ तत्र तादृग्विधसारूप्याभावाद्नायं दोषः। ननु तथाविधं सारूप्यं यदि कथंचित्सारूप्यमभिधीयते मानेगे तो इस में भी अन्योन्याश्रय दोष प्रवेश होगा।

10 * प्रकाशता की ग्राह्यरूप से भासित नीलादि आकारता मानने में अन्योन्याश्रय *

अन्योन्याश्रय दोष इस तरह होगा - ग्राह्य नीलादि का नियत नीलादि आकार सिद्ध होने पर प्रकाशता ग्राह्याकार सिद्ध होगी, एवं प्रकाशता ग्राह्यनीलादिआकार सिद्ध होने पर ही ग्राह्य नीलादि का नियत नीलादिआकार सिद्ध होगा। इस तरह अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। अन्योन्याश्रय दोष के रहते हुए नीलादि आकार ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसा नहीं देखा कि देवदत्त का नियत आकार सिद्ध होने पर ही यज्ञदत्त का नियत आकार प्रसिद्ध हो। यदि कहें कि - 'प्रकाशता में नीलादिसाकारता की सिद्धि के बिना भी स्वतन्त्र रूप से ही ग्राह्य का नियत आकार प्रकाशता द्वारा सिद्ध कर देंगे।' - तो ऐसा कहने पर यह फलित होगा कि प्रकाशता में नियताकार सिद्ध न रहने पर भी - यानी प्रकाशता निराकार होने पर भी उस से ग्राह्य में नियताकार की सिद्धि शक्य है। इस का निष्कर्ष यह हुआ कि निराकार ज्ञान भी घट-पटादि नियत विषयतास्वरूप प्रतिकर्मव्यवस्था का हेतु बन सकता है।

* तदाकारता में तद्ग्राहकता की व्याप्ति असिद्ध *

निराकार ज्ञान में विषयव्यवस्थाहेतुता के अभाव की प्रसक्ति का आपादन करने के लिये यदि ऐसा नियम बनाया जाय कि - 'जो जिस के आकार को धारण करे वह उस का ग्राहक बने' - तो ऐसा नियम सिद्ध होना शक्य नहीं है क्योंकि ऐसा नियम मानने पर तो उत्तर नीलक्षण पूर्वनीलक्षण का ग्राहक बन जायेगा क्योंकि पूर्वनीलक्षण से उत्पन्न उत्तरनीलक्षण पूर्वक्षण के नीलाकार को धारण करने वाला ही है। यदि कहें कि - 'नीलक्षण तो जड है अज्ञानरूप है इस लिये वह किसी का भी ग्राहक बने ऐसा दोष नहीं हो सकता।' - तो दूसरा दोष यह आयेगा कि देवदत्त का नीलज्ञान यज्ञदत्त के नीलज्ञान का आकार धारण करता हुआ ज्ञानरूप है, अज्ञानरूप नहीं है, अतः देवदत्त का नीलज्ञान यज्ञदत्तीय नीलज्ञान का ग्राहक बन बैठेगा।

30 * तद्ग्राहकता का नियामक ज्ञानक्षणों का कार्यकारणभाव अशक्य *

यदि ऐसा बचाव करें कि - 'यज्ञदत्त और देवदत्त के नीलज्ञानों में कार्यकारणभाव न होने से वे एक-दुजे के ग्राहक नहीं बन सकते।' - तो नया एक दोष प्रसक्त होगा - पूर्वकालीन जो समान

तदाऽनेकान्तवादापत्तिः। अथ सर्वात्मना सारूप्यम् तदोत्तरक्षणस्य पूर्वक्षणरूपताप्रसक्तिरित्येकक्षणमात्रं सर्वः सन्तानो भवेत्। न च पूर्वोत्तरक्षणयोः परपक्षे भिन्नमभिन्नं वा एकान्ततः सारूप्यं संभवति, भेदपक्षे सामान्यवादप्रसक्तेः, अभेदपक्षे तु तदभावप्रसक्तेः। न च परपक्षे सारूप्यग्रहणोपायः संभवतीत्युक्तम्।

किञ्च, यदि नीलाकारं ज्ञानमनुभूयत इति बाह्योप्यर्था नीलतया व्यवस्थाप्यते तर्हि त्रैलोक्यगत-नीलार्थव्यवस्थितिस्ततो भवेत्, सर्वनीलार्थसाधारणत्वात्तस्य। अथ नीलाकारताऽविशेषेऽपि कश्चित् 5 प्रतिनियमहेतुस्तत्र विद्यते यतः पुरोवर्त्तिन एव नीलादेस्ततो व्यवस्था, तर्हि अनाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य तत्

एवं समनन्तर (जिस के उत्तर में समान ज्ञानक्षण ने जन्म लिया है) ज्ञान क्षण है उस के प्रति उत्तरकालीन ज्ञानक्षण ग्राहक हो जायेगा क्योंकि उन दोनों में कार्यकारणभाव भी मौजूद है। यदि कहा जाय - उत्तर ज्ञानक्षण के साथ समनन्तर ज्ञान क्षण का कारण-कार्यभाव होने पर एवं सादृश्य होने पर भी अपेक्षित तथाविध सारूप्य नहीं होने से ग्राहकता का प्रसंजन नहीं हो सकेगा। - तो यहाँ 10 प्रश्न है कि वह अपेक्षित सारूप्य कथञ्चित् (कुछ अंशों में) ही है या समग्ररूप से सारूप्य है ? यदि कथञ्चित् ही है तब तो अनेकान्तवाद का विजय हो गया। यदि पूर्वक्षण-उत्तरक्षणों का सर्वप्रकार सारूप्य मानेंगे तब तो पूर्वापरक्षणस्वरूप पूरा सन्तान सर्वथा सारूप्य होने के कारण, अभिन्नता की प्रसक्ति से एक क्षणमात्र बच जायेगा।

✽ सारूप्य का एकान्त भेद-अभेद पक्ष दोषग्रस्त ✽

15

दूसरी बात यह है कि सारूप्य को पूर्वक्षण या उत्तरक्षण से एकान्तरूप से न तो भिन्न मान सकते हैं न तो एकान्त से अभिन्न। भिन्न मानेंगे तो न्यायवैशेषिकमत की तरह द्रव्यादि से पृथक् स्वतन्त्र सामान्य यानी जातिपदार्थ के स्वीकार की विपदा आयेगी। यदि एकान्त से अभिन्न मानेंगे तो सिर्फ पूर्व या उत्तरक्षण ही शेष रहेंगे, सारूप्य जैसी कोई चीज ही नहीं बचेगी। यह भी एक संकट है कि एकान्त क्षणिक अर्थवादि के मत में क्षणद्वयस्थायी कोई ग्रीहिता न होने के कारण पूर्व 20 एवं उत्तर क्षण के सारूप्य का ग्रहण भी संभवित नहीं है, क्षणभंगनिरसन के अवसर में (द्वितीयखण्डे पृ० १८२,२४०) यह कह दिया है।

✽ नीलाकार ज्ञान से नीलव्यवस्था मानने पर अतिप्रसंग ✽

यह भी सोचना जरूरी है कि - नीलाकार ज्ञान के अनुभव के बल से यदि बाह्य अर्थ नील होने की स्थापना की जाय तो वह नीलाकार सर्व बाह्य नील अर्थों में मौजूद होने से उन सभी 25 त्रिलोकवर्ती बाह्य नील अर्थों की स्थापना एक ही नीलाकार ज्ञान से हो जाने का अतिप्रसंग खड़ा होगा। यदि यह कहा जाय - 'ज्ञान में नीलाकार अवश्य है, लेकिन सिर्फ उस के ही बल पर बाह्य पदार्थ नील होने की स्थापना नहीं करते हैं अपि तु और भी कोई एक ऐसा नियम ढूँढते है जिस के बल पर ज्ञान के द्वारा सामने रहे हुए नियत नीलादि अर्थ की स्थापना वास्तविक बन सके।' - तो इस कथन के सामने यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान निराकार होने पर भी ऐसा कोई एक 30 नियम ढूँढ लो कि जिस से नियत ही नीलादि अर्थ की स्थापना निर्बाध हो सके। मतलब, नियत अर्थस्थापना के लिये ज्ञान को साकार होने की कल्पना निरर्थक है।

एव नियमहेतोः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं भविष्यतीति तत्साकारतापरिकल्पनं व्यर्थम्। यदपि 'चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यते' इतिव्यपदेशनिबन्धनं चक्षुरादिजन्यत्वं रूपाकारप्रकाशस्य उक्तम् (पृ०२०-पं०४), तदपि स्वजाड्याविष्करणमात्रम्; यतो यथा प्रत्यासत्त्या चक्षुरादिकं समानकालं भिन्नकालं वा भिन्नं रूपाद्याकारं ज्ञानं जनयति तथैव निराकारमपि ज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा स्वग्राह्यं भिन्नमपि ग्रहीष्यति। न हि

5 चक्षुरादेर्विभिन्नकार्योत्पादनवद् विभिन्नग्राह्यग्रहणे शक्तिप्रक्षयः कश्चिद् ज्ञानस्य संभवी।

अथ विभिन्नकार्योत्पादनमप्यसंभवीति नाभ्युपगम्यते तर्हि 'प्रमाणमविसंवादि' (प्र.वा.१-६)▼ इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमनर्थकं धर्मकीर्तोरसज्यते, अविसंवादित्वस्यार्थक्रियाज्ञानजनकत्वलक्षणस्याऽभावात्। अथ व्यावहारिकमेतत् प्रमाणलक्षणं न पारमार्थिकम्— 'किं तर्हि पारमार्थिकमिति वक्तव्यम् ? 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा' इति चेत् ? न, अत्रापि यद्यज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशः स्वसंविदितोऽर्थग्रहणपरिणाम आत्मसम्बन्धी

10 * चक्षु से रूपोपलब्धि के व्यवहार की निराकारवाद में संगति *

यह जो कहा गया था - (पृ०२०-पं०२७) "चक्षु आदि से रूप की उपलब्धि होती है - ऐसे व्यवहार की संगति के लिये चक्षु आदि से रूपाकार प्रकाश के उद्भव को मानना होगा।" - यह भी सिर्फ आप की बुद्धिजडता का ही प्रकाशनमात्र है, क्योंकि जिस प्रत्यासत्ति यानी संनिकर्ष के बल पर चक्षु आदि अपने समानकाल या भिन्न काल में अपने से भिन्न रूपादिआकार (रूपादिग्राहक) ज्ञान को जन्म

15 देते हैं उसी प्रत्यासत्ति के द्वारा निराकार ज्ञान भी अपने समानकाल या भिन्न काल में अपने से भिन्न अपने ग्राह्य रूपादि को ग्रहण कर सकता है। ऐसा कोई संभव नहीं है कि 'साकार ज्ञानपक्ष में चक्षु आदि के द्वारा अर्थभिन्न ज्ञान तो उत्पन्न हो लेकिन उस ज्ञान के द्वारा (ज्ञान निराकार होने पर भी) अपने से भिन्न ग्राह्य को ग्रहण करने की शक्ति प्रक्षीण हो जाय।'

* साकारवाद में धर्मकीर्तिनिगदित प्रमाणलक्षण की अनुपपत्ति *

20 यदि कहें कि - 'चक्षुआदि से अर्थभिन्न यानी साकार ज्ञानात्मक कार्य का उद्भव भी असंभव हो ऐसा हम नहीं मानते हैं।' - तो यह जान लो कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों ने प्रमाण का जो यह लक्षण कहा है - 'अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है' यह लक्षणकथन निरर्थक ही ठहरेगा। क्यों ? इसलिये कि असंवादित्व का अर्थ आपने यही माना है कि अर्थक्रियाज्ञानजनकत्व, किन्तु वह संभव नहीं होगा। कारण, साकार ज्ञानवाद में अर्थक्रिया एवं उस का ज्ञान ही असंभव होगा। यदि कहें कि 'वह प्रमाणलक्षण

25 पारमार्थिक नहीं है, सिर्फ व्यवहार के लिये है।' - तो बताओ कि पारमार्थिक प्रमाणलक्षण क्या है ? यदि कहेंगे कि 'अज्ञात अर्थ का प्रकाश' यही पारमार्थिक प्रमाणलक्षण है तो यह आप के मत के साथ संगत नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व का जो स्वसंविदित अर्थग्रहणपरिणाम है उसी को अज्ञात अर्थ का (यानी वास्तव बाह्यार्थ का) प्रकाश माना जाय तो हमारे ही मत में आप का प्रवेश हो जायेगा, क्योंकि जैन मत में यही कहा गया है। अब तो विवाद न रहने से कोई दोष नहीं रहता है।

30 * स्वरूप संवेदनात्मक प्रमाणलक्षण में प्रत्यक्षबाध *

यदि कहा जाय - '(ज्ञान के) अपने स्वरूप का ही अपने आप भान होता है' ऐसा प्रमाणवार्तिक

▼. प्रमाणव्याख्यावैविध्यं ग्रन्थनामोल्लेखसहितं दृष्टव्यं भूतपूर्वसम्पादकयुगलसम्पादितसंस्करणे ४६५ पृष्ठे षडङ्कटीप्पण्याम्।

तदाऽस्मन्मताभ्युपगम इति न कश्चिदोषः। अथ 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' (प्र.वा.१-६) इति वचनाद् अज्ञातार्थप्रकाशः स्वरूपसंवेदनमात्रम् तदाध्यक्षबाधा दोषः, स्वपरवेदकत्वेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतिपत्तेरिति प्रतिपादितत्वात् प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च।

एतेन 'एकसामग्र्यधीनतया चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यते इति व्यपदेशः' (पृ०२०-पं०७) इत्येतदपि निरस्तम्। भिन्नानामेकसामग्र्यधीनत्वलक्षणप्रतिबन्धाऽविरोधे ग्राह्यग्राहकलक्षणस्यापि तस्याऽविरोधात्। यथा 5
चैकसामग्र्यधीनानां चक्षुरादीनां समानसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमः, तथा ग्राह्य-ग्राहकयोरपि समानकालत्वा-
ऽविशेषेऽपि विज्ञानं ग्राहकमेव अर्थस्तु ग्राह्य एवेति प्रतिनियमो भविष्यति। अथैकसामग्र्यधीनत्वं रूपप्रति-
नियमश्चक्षुरादेर्नेष्यते तर्हि प्रमाणादिव्यवहारस्य सकलस्य विलोपात् साकारज्ञानाभ्युपगमोऽसंगत एव स्यात्।

यदपि 'कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थकल्पनाऽर्थापत्त्या वा परेषामिति तदभ्युपगमेनोच्यते अर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्टः' इत्युक्तम् (पृ०२१-पं०५), तदपि परदर्शनाऽनभिज्ञतां ख्यापयति; न हि जैनानां 10

में धर्मकीर्ति ने कहा है, मतलब, ज्ञानभिन्न अर्थ का भान नहीं होता। अतः अज्ञातार्थप्रकाश स्वरूपसंवेदन से अतिरिक्त कुछ नहीं है।' — तो इस लक्षण में प्रत्यक्षबाधा दोष है। वह इस प्रकार है - स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष से ही संविदित होता है कि ज्ञान स्व-पर यानी ज्ञान और विषय उभय का संवेदनकारी है। सिर्फ अपने ही स्वरूप का संवेदनकारी हो ऐसा नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन पहले किया हुआ ही है और आगे भी यथावसर किया जायेगा। 15

✽ एकसामग्रीअधीनता से व्यवहार उपपत्ति उभयपक्ष में शक्य ✽

यह जो कहा था - 'चक्षुक्षण एवं रूपादिकक्षण एक ही पूर्वविज्ञानक्षणात्मक सामग्री से उत्पन्न होने के कारण, समकालीन होते हुए भी चक्षु से रूप का उपलम्भ होने का व्यवहार होता रहता है।' (पृ०२१-पं०१३) यह भी निरस्त हो जाता है। कारण, भिन्न भिन्न होने पर भी, एकसामग्रीअधीनता का नियम लागू करने में भी कोई विरोध नहीं है। एक ही सामग्री से उत्पन्न चक्षु एवं रूपादि समकालीन 20 होने पर भी जैसे उन में अपने अपने स्वरूप का नियमन रहता है (चक्षु आकार रूप से संकीर्ण नहीं होता, रूपाकार चक्षु से संकीर्ण नहीं हो जाता किन्तु दोनों की अपनी अलग पहिचान बनी रहती है); वैसे ही बाह्यार्थ एवं विज्ञान समकालीन होने पर भी विज्ञान का ग्राहकस्वरूप एवं बाह्यार्थ का ग्राह्य स्वरूप नियत रह सकता है। यदि कहा जाय - चक्षुआदि से भिन्न रूपाकार आदि की असंकीर्णता के लिये एकसामग्रीअधीनत्वादि कोई भी नियामक हम नहीं मानते। — तो ऐसे उच्छृंखल अनियतभाव 25 मानने पर तो पूरे प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार को भी निरर्थक मानना होगा। फिर ज्ञान की साकारता का भी नियम न रहने से साकारज्ञानवाद का स्वीकार भी असंगत बना रहेगा।

✽ बाह्यार्थसिद्धि का मुख्य आधार प्रत्यक्षप्रतिभास ✽

यह जो साकारज्ञानवादी ने कहा था कि "(पृ०२१-पं०३२) हम जो कहते हैं कि अर्थ का आकार प्रकाशता में अनुप्रविष्ट होता है (यानी बाह्यार्थ प्रकाशकोटिआरूढ ज्ञानाकार ही है) वह तो अभ्युपगमवाद 30 से कहते हैं, वास्तविक बाह्यार्थ का स्वीकार कर के नहीं। बाह्यार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व हमें अमान्य ही है। फिर भी आप कार्य के व्यतिरेक (व्यतिरेक सहचार) या अर्थापत्ति (अर्थ के विना अनुपपद्यमान

कार्यव्यतिरेकात् अर्थापत्त्या वाऽर्थपरिकल्पना किन्तु तद्ग्राहकप्रतिभासवशात्। साकारज्ञानवादिनस्तु यदि ज्ञानाकारोऽर्थव्यतिरेकेण नोपपद्यते इत्यर्थव्यवस्थापकस्तदाऽनियतार्थव्यवस्थापकः स्यात्। 'जनकस्यैव व्यवस्थापक' इति चेत् ? न, चक्षुरादेरपि व्यवस्थापकः स्यात्। 'तज्जनकत्वेऽपि चक्षुरादेरतदाकारत्वात्नेति' चेत् ? ननु चक्षुरादिजन्यत्वेऽपि किमिति तज्ज्ञानं तदाकारं न भवति चक्षुरादि वा स्वाकारज्ञानाजनकमिति वक्तव्यम् ? स्वहेतुबलायाततत्त्वभावत्वात् तयोरिति चेत् ? ननु निराकारज्ञानपक्षेऽपि तत्स्वाभाव्याद् ज्ञानमेव चक्षुरादिव्यतिरेकेण स्वजनकार्यव्यवस्थापकमिति किं नाभ्युपगम्यते न्यायस्य समानत्वात् ? किञ्च, ग्राहकस्यार्थजन्यत्वेन साकारता सा च प्रतिभासगोचरा एवं च ग्राहके आकारस्य जनकस्यैव प्रतिभासविषयत्वेऽन्यस्य

ज्ञानाकार) के बल पर ही बाह्यार्थ को सिद्ध करते हैं तो उस का एक बार अनैच्छिक स्वीकार कर के हमने कहा है कि कार्यव्यतिरेक या अर्थापत्ति से सिद्ध बाह्यार्थ भी ज्ञानाकार से अतिरिक्त नहीं है।" - ऐसा जो साकारवादीने कहा है वह भी अन्यदर्शन के मत की अज्ञानता का प्रदर्शनमात्र है। हमारे जैन मतानुसार बाह्यार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि उस के स्वतन्त्र अस्तित्व के ग्राहक प्रतिभास (यानी प्रत्यक्षादिप्रमाण) से ही हो जाती है, न कि कार्यव्यतिरेक या अर्थापत्ति से।

✽ साकारवाद में नियत अर्थव्यवस्था असंभव ✽

साकारज्ञानवाद में दूषण यह है कि उस मत में यदि अर्थ के विना अनुपपद्यमान (= असंगत) ज्ञानाकार यदि अर्थ का व्यवस्थापक (= साधक) माना गया तो वह सिर्फ अर्थ का ही व्यवस्थापक होगा किन्तु नियत (नील ही है पीत नहीं एवंविध) अर्थ का व्यवस्थापक नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञानाकार की अनुपपद्यमानता अर्थ के साथ संलग्न है नील के साथ नहीं है। यदि कहा जाय - जो भी उस ज्ञानाकार का जनक होगा उसी का ही ज्ञान व्यवस्थापक बनेगा, इस प्रकार नियत अर्थ का व्यवस्थापक बन सकता है। - तो यह भी अयुक्त है क्योंकि नील अर्थ से उत्पन्न ज्ञानाकार चक्षुआदि से भी उत्पन्न होता है, अतः वह ज्ञानाकार अपने जनक चक्षु आदि का भी व्यवस्थापक बन जाने की विपदा होगी। यदि कहें कि - चक्षु आदि ज्ञान के जनक होने पर भी ज्ञान नीलाकार जैसे होता है वैसे चक्षुआकार नहीं होता, अत एव चक्षु आदि का भी व्यवस्थापक हो जाने की विपदा नहीं होगी - तो यहाँ आप को ही उत्तर देना पड़ेगा कि (१) चक्षु आदि से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान चक्षुआकार क्यों नहीं होता ? (२) अथवा नील जैसे स्वाकार ज्ञान को उत्पन्न करता है वैसे चक्षु आदि भी स्वाकार ज्ञान को क्यों उत्पन्न नहीं करता ? यदि ऐसा उत्तर दिया जाय - 'यह तो ज्ञान का या चक्षु आदि का स्वभाव ही वैसा होता है, स्वभाव के बारे में प्रश्न नहीं हो सकता कि वह ऐसा क्यों है ? अपनी कारण सामग्री से ही वस्तु तथास्वभाव उत्पन्न होती है। मतलब, नील अर्थ, प्रकाश, चक्षु आदि कारणसामग्री का ऐसा ही स्वभाव है कि वे सब मिल कर नीलाकार ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।' - अहो ! तब तो निराकार ज्ञान वाद में भी ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञान निराकार होते हुए भी जब नील अर्थ, प्रकाश, चक्षु आदि कारणसामग्री से उत्पन्न होता है तब उस का स्वभाव ही है कि वह चक्षु आदि का व्यवस्थापक न बन कर सिर्फ अपने जनक नीलादि अर्थ का ही व्यवस्थापक बनता है। स्वभावात्मक न्याय यानी युक्ति तो उभयपक्ष में समान है।

तज्जनकस्य कल्पनाप्रसक्तिः, तत्राऽप्येवमित्यनवस्था भवेत्। तत्र साकारज्ञानानुभववशादर्थव्यवस्था।

प्रकाशतानुप्रविष्टता चार्थाकारस्याऽयुक्तैव वस्त्वन्तरानुप्रवेशाऽसम्भवात्। सम्भवे वा प्रकाशताया अपि चैतन्यरूपताया पृथिव्याद्यनुप्रवेशात् परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिर्भवेत्। यदपि 'अर्थवादिन एवायं दोषो ज्ञानवादे तु सिद्धसाध्यता' (पृ०२२-पं०१) इति, तदपि न्यायबहिष्कृतम्, प्रमाणसिद्धस्याप्यर्थस्याऽभावो यदि न दोषाय भवेत् ज्ञानाभावोऽपि न दोषाय स्यात्। न च शून्यताभ्युपगमात् तदभावोऽपि न दोषावह 5

✽ साकारवाद में साकारताजनक के जनक की अनवस्था - दोष ✽

यह भी एक अधिक दूषण होगा - साकारवाद में ग्राहक की साकारता को अर्थजन्य ही मानेंगे, और उस साकारता को भी प्रतिभासगोचर ही मानना होगा। अन्यथा साकारता सिद्ध नहीं होगी। प्रतिभास भी साकारता-आकार तभी माना जा सकेगा जब कि वह साकार रूप अर्थ से उत्पन्न होगा। एवं जनक आकार को ही प्रतिभास का विषय मानने पर साकारता भी जनक हो कर ही प्रतिभास का विषय 10 बन सकेगी। उस के लिये खुद साकारता को भी किसी का जनक मानना होगा, उस के जनक को भी किसी से जन्य मानना पड़ेगा, ऐसा नहीं मानेंगे तो साकारता अजनक होने से उस का प्रतिभास ही संगत नहीं होगा। अगर वैसा मानेंगे तो उस का भी जनक, उसका भी जनक... इस प्रकार जनक की कल्पना का विराम ही नहीं होगा - अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। निष्कर्ष, साकारज्ञान के अनुभव के बल पर अर्थ की व्यवस्था मानना शक्य नहीं है। 15

✽ प्रकाशता में अर्थाकार प्रवेश मानने पर परलोकभंग का प्रसंग ✽

अभ्युपगम कर के जो कहा था कि - अर्थाकार प्रकाशता में अनुप्रविष्ट होता है - वह भी अयुक्त ही है क्योंकि एक वस्तु के स्वरूप का अन्यवस्तु में अन्तःप्रवेश सम्भव ही नहीं है। (अश्व के स्वरूप में गधे के स्वरूप का अन्तःप्रवेश सम्भव ही नहीं है।) यदि ऐसा भी हो सकता, तो पृथ्वी आदि आकार का प्रकाशता (यानी चैतन्य) में अनुप्रवेश की भाँति चैतन्य रूपता का अनुप्रवेश 20 पृथ्वी आदि में हो जाता, फलतः चैतन्य सर्वतः लुप्त हो जाने से, परलोकगामी आत्मा की कथा ही समाप्त हो जायेगी, फिर परलोक को जलाञ्जलि दे दो। यह जो अर्थतः कहा था (पृ०२२-पं०८) - 'अर्थव्यवस्था का अनियम अथवा अर्थ की असिद्धि का आपादन तो बाह्यअर्थअस्तित्ववादी के सिर पर ही दोषरूप है, विज्ञानवाद में तो ज्ञानभिन्न अर्थ का अस्तित्व न होने से कोई दोष नहीं है, अपि तु सिद्धसाधनता ही है।' - यह कथन भी न्यायविरुद्ध है। प्रमाणसिद्ध अर्थों की व्यवस्था या असिद्धिदोष 25 का वारण करने के बजाय आप उस के अभाव को ही मान्य करने में कोई दोष नहीं मानेंगे तो 'ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है' इस मान्यता में भी दोष नहीं होगा।

ऐसा मत कहना कि- 'हम 'सर्व शून्यम्' वादी बन जायेंगे अतः ज्ञानाभाव में भी सिद्धसाधनता होने से दोष नहीं रहेगा' - क्योंकि शून्यता की स्थापना के लिये भी प्रमाण का अस्तित्व मानना होगा, 'सर्व शून्यम्' पक्ष में अगर प्रमाण को भी नहीं मानेंगे तो शून्यता की सिद्धि ही नहीं कर 30 पायेंगे।

निष्कर्ष यह सिद्ध होता है कि - अर्थ का अपलाप कर के 'साकारज्ञान प्रमाण है' ऐसा पक्ष

इति वक्तव्यम् तत्रप्रतिपादकप्रमाणाभावात् शून्यतेति न साकारज्ञानप्रमाणवादोऽभ्युपगमाहोऽनेकदोषदुष्टत्वादिति स्थितम् ।

॥ मीमांसकीय प्रमाणलक्षणेऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वस्य निरसनम् ॥

जैमिनीयाभिमतस्य तु ज्ञातृव्यापारस्य फलानुमेयस्य यथा प्रमाणता न संभवति तथा स्वतःप्रामाण्यं
5 निराकुर्वद्भिः प्रदर्शितम् (प्र.खण्डे ८८-५) इति न पुनः प्रतन्यते। यदपि अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं ज्ञातृ-
व्यापारविशेषणत्वेन प्रतिपादितम् (पृ०२-पं०१२) तदप्यसंगतमेव; यतः प्रमाणं वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते
वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः। न चाधिगते वस्तुनि किं कुर्वत् तत्रप्रमाणतामाप्नोतीति
वक्तव्यम् विशिष्टप्रमां विदधतस्तस्य प्रमाणाप्रतिपादनात्। न च पूर्वोत्पन्नैव प्रमा तेन जन्यते, प्रमित्यन्तरोत्पाद-
स्वीकारयोग्य नहीं है क्योंकि उस में अनेक दोषों का खतरा है।

10 अत्र प्रतिविधीयते.. (पृ०२२-पं०३) यहाँ से प्रारम्भ कर के ग्रन्थकर्तानि बाह्यार्थ की स्थापना, ज्ञान
स्वरूपतः निराकार किन्तु अर्थप्रभावतः साकार (सविषयक) हो कर प्रमाण होता है, बाह्यार्थ के अस्तित्व
के विना केवल साकार ज्ञान अप्रमाण है (पृ०२२-पं०३१) - इस चर्चा को पूर्ण किया।

✽ मीमांसामत का अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व विशेषण दुर्घट ✽

जैमिनी ऋषि प्रणीत मीमांसा दर्शन में 'अनधिगतार्थ का अधिगन्ता ज्ञातृव्यापार' प्रमाणरूप माना
15 गया है। अर्थ की अपरोक्षता रूप फल के उदय से वहाँ ज्ञातृव्यापार का अनुमान किया गया है।
इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में (पृ०८८-पं०२६) ज्ञाता का व्यापार प्रमाणात्मक नहीं हो सकता यह स्वतः
प्रामाण्य की असंगति दिखाते हुए विस्तार से कहा गया है। अतः उस का पुनः निरूपण नहीं करेंगे।
हाँ, वहाँ सिर्फ ज्ञातृव्यापार के असम्भव की विशेष चर्चा की गयी थी। उस के विशेषणभूत
अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व यानी अज्ञातार्थप्रकाशकत्व (पृ०३-पं०१८) की चर्चा नहीं की गयी, वह कैसे
20 असंगत है यह अभी कहते हैं। - प्रमाण का इतना ही कृत्य है कि वह व्यभिचारादिदोषरहित प्रमात्मक
ज्ञान का उत्पादन करे, इस प्रकार के स्वरूप से ही प्रमाण सर्वत्र अनुभवगोचर होता है, जिस वस्तु
का प्रमात्मक ज्ञान वह कराता है उस वस्तु का उस के पूर्व अधिगम हुआ हो या न हुआ हो उस
के साथ प्रमाण को कोई ताल्लुक नहीं है।

यदि पृष्ठा जाय - प्रमाण तो तभी प्रमाणात्मक बन सकता है जब कि वह किसी भी प्रकार
25 अज्ञात रह गये अर्थ का प्रकाशन करे, यदि उस का विषयभूत अर्थ पूर्वज्ञात रहेगा तो उस को (प्रमाण
को) क्या नया करना है जिस से कि वह अपनी प्रमाणात्मकता को सुरक्षित रख सके ? - तो इस
का उत्तर यह है कि जिस वस्तु का पहले प्रकाशन हो चुका है उस का पुनः प्रकाशन करते समय
पूर्व प्रमा से कुछ विशिष्ट यानी अधिक स्पष्टतादि विशेष गर्भित प्रमा को प्रमाण उत्पन्न करेगा -
जो पूर्व में नहीं हुआ है, इस तरह प्रमाण पूर्वज्ञात अर्थ का प्रकाशन करते समय भी अपनी प्रमाणात्मकता
30 को सुरक्षित रख सकता है। हम ऐसा नहीं कहते कि पहले जो प्रमा उत्पन्न हो चुकी है उसी का
पुनर्जनन प्रमाण करता है, हम तो कहते हैं कि पूर्वज्ञात अर्थ की नयी प्रमा को - विशिष्ट प्रमा
को ही प्रमाण उत्पन्न कर सकता है, इसी वजह उस का प्रामाण्य अक्षुण्ण है।

कत्वेन प्रमाणत्वात्। न च प्रमित्यन्तरजनकत्वेऽप्यधिगते विषये तस्याऽकिञ्चित्करत्वेनोपालम्भविषयता, स्वहेतुसन्निधिबलादधिगतमनधिगतं वा वस्तुध्विगच्छतोऽप्रेक्षापूर्वकारितयोपालम्भविषयतानुपपत्तेः।

न चैकान्ततोऽनधिगतार्थाऽधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं तस्याऽवसातुं शक्यम् तद्व्यर्थतथाभावित्वलक्षणं संवाददवसीयते। स च तदर्थांतरज्ञानवृत्तिः। न चाऽनधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य प्रामाण्यमुपपन्नम्। न चाप्रमाणेन संवादप्रत्ययेन प्राक्तनस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम् अतिप्रसङ्गात्। 5

यदि कहा जाय- प्रमाण को यदि पूर्वज्ञात अर्थ के विषय में नयी प्रमा का जनक मानेंगे तो भी ज्ञात का ही ज्ञापन करने से उस के (प्रमाण के) ऊपर व्यर्थता का उपलम्भ जारी रहेगा। - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण का तो इतना ही कार्य है कि वस्तु का यथार्थ अधिगम = ज्ञापन करना। अपने पूर्वक्षण में जैसी हेतुसामग्री सन्निहित रहेगी वैसा कार्य वह करेगा ही। पूर्वज्ञात अर्थ के अधिगम की सामग्री होगी तो वह पूर्वज्ञात अर्थ का प्रकाशन करेगा, पूर्व में अज्ञात अर्थ 10 की सामग्री होगी तो उस से जन्य प्रमाण पूर्व में अज्ञात अर्थ का प्रकाशन करेगा। प्रमाण को तो अपनी हेतुसामग्री के अनुरूप कार्य करना है, उस को यह नहीं देखना है कि मैं जिस अर्थ का प्रकाशन कर रहा हूँ वह पूर्वज्ञात है या पूर्व में अज्ञात ? मैं जो अर्थ प्रकाशन कार्य कर रहा हूँ वह व्यर्थ है या अव्यर्थ ? उस को तो अपनी तथाविध सामग्री के अनुरूप अपना कर्तव्य ही अदा करना है। अब उस के ऊपर अपनी अप्रेक्षापूर्वकारिता यानी विना सोच कर ही काम करने की आदत के द्वारा 15 व्यर्थता का अभियोग लगाना युक्तिसंगत नहीं है।

एकान्तरूप से जो अज्ञातार्थाधिगमात्मक ज्ञान है उसी में ही प्रामाण्य का स्वीकार करेंगे (न कि कथंचिद् अज्ञातार्थ में) तो ऐसे प्रामाण्य का अवबोध ही अशक्य हो जायेगा। कारण, प्रामाण्य की व्याख्या ज्ञातुव्यापारप्रमाणवादी मीमांसक के मत में ऐसी है - अर्थतथाभाव प्रामाण्य है; जैसा अर्थ हो वैसा ही ज्ञान हो यही प्रामाण्य है; ऐसा प्रामाण्य का बोध मीमांसक मत के मुताबिक अर्थक्रियावभासि 20 संवादज्ञान से ही होता है; संवाटरूपता तो पूर्वज्ञात अर्थ के उत्तरकालीन ज्ञान में ही रहती है। इस का मतलब यह हुआ कि पूर्वज्ञात अर्थग्राहक उत्तरज्ञानात्मक संवादी ज्ञान से ही पूर्वज्ञान का प्रामाण्य गृहीत हो सकता है। यहाँ मुसीबत यह है कि खुद संवादीज्ञान का ही प्रामाण्य संकटग्रस्त है क्योंकि वह तो पूर्वज्ञातार्थग्राही ही है जब कि मीमांसक तो पूर्वअज्ञात अर्थग्राहि ज्ञान को ही प्रमाण मानने पर तुला है। जब वह संवादिज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा तब तक तो वह अप्रमाणभूत ही 25 रहेगा, अप्रमाणभूत संवादिप्रतीति पूर्वतन प्रतीति के प्रामाण्य की व्यवस्था करने लग जाय यह संभव नहीं है। फिर भी अप्रमाण संवादिज्ञान से प्रामाण्यग्रहण मानेंगे तो भ्रम-संशय आदि अप्रमाणज्ञान से भी प्रामाण्यग्रहण हो जाने का महान् संकट खडा होगा। निष्कर्ष, जैसे पूर्वगृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाले अर्थक्रियानिर्भासी (जलज्ञान के अनन्तर जो जलपानजन्य तृषोपशमरूप अर्थक्रिया का प्रकाशक) संवादिज्ञान को पूर्वगृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण ही मानना पड़ेगा - वैसे ही साधननिर्भासि (यानी 30 तृषोपशम के साधन भूत जल का प्रकाशक) पूर्वकालीन ज्ञान को भी प्रामाणात्मक मानना ही पड़ेगा चाहे वह भी पूर्वज्ञात अर्थग्राहि क्यों न हो ?!

अतो यथा अधिगतार्थाधिगन्तुरर्थक्रियानिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यम् तथा साधननिर्भासिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यम् । न च सामान्यविशेषतादात्म्यवादिन एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रमाणस्य संभवति, इदानीन्तनास्तित्वस्व्य पूर्वाऽस्तित्वाभेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसम्भवात् । कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभ्युपगमे अस्मन्-तानुप्रवेशप्रसक्तिः ।

- 5 अथाऽप्रेक्षापूर्वकारितया प्रमाणस्यानुपालम्भविषयत्वेऽपि पुरुषस्य प्रेक्षापूर्वकारिणोऽधिगतविषयमपि प्रमाणं पर्येषमाणस्योपालम्भविषयता, स हि पूर्वाधिगते वस्तुनि प्रेक्षापूर्वकारी किमित्यधिगमाय प्रमाणान्तरमन्वेषते निष्पन्नप्रयोजनापेक्षया हेतुं व्यापारयतः प्रेक्षापूर्वकारिताहानिप्रसक्तेः । नैतदेवम्, यतः प्रीत्यतिशयादेः प्रयोजनस्याऽनिष्पन्नस्य भावात् तन्निष्पत्त्यर्थमुपायान्वेषणं न प्रेक्षापूर्वकारितां तस्योपहन्तुं समर्थम् । तथाहि-

✽ एकान्ततः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्व का असंभव ✽

- 10 दूसरी बात यह है कि जैनदर्शनादि के मत में तो सामान्य एवं विशेष पदार्थों में कथंचित् अभेद ही मान्य है, अतः उन के मत में कोई भी तथाकथित नूतन अर्थ भी सर्वथा अगृहीत नहीं है । सामान्य पदार्थ मिट्टी एवं नूतन जात घट (विशेष)- इन दोनों का तादात्म्य है अत एव वर्तमानकालीन घट का अस्तित्व पूर्वकालीन मिट्टी के अस्तित्व से अभिन्न ही है । इस स्थिति में नूतन जात वर्तमानकालीन घट भी पूर्वकालीन मिट्टीज्ञान से कथंचित् गृहीत ही है, इसलिये वर्तमानकालीन घट का ज्ञान भी पूर्वज्ञात
- 15 अर्थ का ही अधिगन्ता है, अनधिगत अर्थ का अधिगन्ता नहीं है । इस का मतलब यही हुआ कि सामान्य-विशेषतादात्म्यवादीयों के मत में, प्रमाण में एकान्तरूप से अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृत्व स्वरूप प्रामाण्य सम्भव ही नहीं है । यदि कहा जाय कि - एकान्तरूप से नहीं किन्तु कथंचिद् अनधिगत अर्थ के अधिगन्तृत्व को ही हम प्रमाण का लक्षण मानेंगे - तो स्याद्वादअपरनाम कथंचिद्वाद में आप का लाचारी से भी प्रवेश हो जायेगा जो आप के लिये अनिष्ट है ।

- 20 ✽ प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष को ज्ञातार्थज्ञान के लिये उपालम्भ अनुचित ✽

- यदि ऐसा कहा जाय - ज्ञात अर्थ के अधिगम से प्रमाण द्वारा प्रमाता के सिर पर अप्रेक्षापूर्वकारिता का उपालम्भ तो हम नहीं देना चाहते । किन्तु प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष अधिगतविषयक ज्ञान को भी 'प्रमाण' की कक्षा में बैठाना चाहेगा तो उपालम्भ का भाजन क्यों न बनेगा ? प्रश्न यह है कि प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष (जो कि पिष्टपेषण कभी नहीं चाहेगा वह) पूर्वज्ञात वस्तु को पुनः जानने के लिये अन्य प्रमाण
- 25 के उदय को क्यों ढूँढेगा ? अन्य प्रमाण से जानने के लिये आयास करने के पहले ही जब 'अर्थज्ञान' कार्य निष्पन्न हो चुका है, फिर भी पुनः उसी को जानने के लिये चक्कर चलाते रहेंगे तो बुद्धिमत्ता की कमी का ही प्रदर्शन होगा ।

- तो यह ठीक नहीं है । प्रमाण का प्रयोजन सिर्फ 'अर्थज्ञान' नहीं है, सात्तिशय प्रीति-आह्लाद आदि भी प्रमाणकार्य ही है । मनपसंद चीज को आदमी एक बार देख कर संतुष्ट नहीं हो जाता,
- 30 उसे तृप्ति नहीं होती, जिनेश्वरप्रभु की नयनरम्य प्रतिमा का जितनी बार दर्शन करें, नयी नयी आह्लादक अनुभूतियाँ होती हैं । अत एव प्रेक्षक उस का बार बार दर्शन करता है । जब तक संतुष्टि न हो तब तक प्रयोजन अनिष्पन्न रहने से पुनः पुनः उसी अर्थ को जानने के लिये दृष्टा अन्वेषण करे

सुखसाधने विषये पुनः पुनः प्रमां जनयतः प्रीत्यतिशयजनकत्वेन सप्रयोजनत्वात् प्रमाणान्वेषणस्य न तदन्वेष्युः पुरुषस्योपालम्भाहता। न च निश्चिते विषये न किञ्चिन्निश्चयान्तरेण प्रयोजनम् यतस्तदर्थं प्रमाणान्वेषणं न वैयर्थ्यमनुभवेत् - यतो भूयो भूयः उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते, दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चित्य परित्यजेत्, अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम्।

5

अत एवैकविषयाणामपि शाब्दानुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम् प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रीत्यतिशयादेश्च सद्भावात्। न च प्रथमप्रत्ययेनैवार्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शने प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थ इति तत्रापरप्रमाणान्वेषणं वैयर्थ्यमनुभवेत्, पुरुषप्रवृत्तेः प्रमाणाधीनत्वाभावात्, विशिष्टप्रमाया एव प्रमाणाधीनत्वात्, तां च जनयतः उपेक्षणीयादौ विषये प्रमाणस्याऽप्रवर्तकस्यापि प्रमाणत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात्। प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात्

तो उस में प्रेक्षापूर्वकारिता की हानि होना शक्य नहीं है। फिर से सुनिये— सुख के उपायभूत विषय 10 में बार बार प्रमा को (दर्शनादि को) करनेवाला पुरुष उपालम्भपात्र नहीं हो सकता, क्योंकि नये नये प्रमाण का अन्वेषण (बार बार प्रमाणभूत प्रतीति करते रहने पर), अपर अपर सातिशय प्रीति-आह्लाद उत्पन्न करता हुआ अपनी सार्थकता को सिद्ध करता है।

* पुनः पुनः निश्चयकारक प्रमाण की सार्थकता *

‘निश्चित विषय का पुनः पुनः निश्चय निष्प्रयोजन है’ ऐसा कथन अनुचित है; पुनः पुनः निश्चय 15 करानेवाला प्रमाण-प्रचार निरर्थक नहीं हो सकता; क्योंकि पहली बार जब आदमी किसी चीज को देखता है (प्रमा हो जाती है) तब उस को उस विषय की ऐसी दृढीभूत प्रतीति नहीं होती जिस से कि वह जरूरत के समय तत्काल याद आ जाय। पुनः पुनः वस्तु को देखने पर इतनी दृढ अनुभूति होती है जिस से कभी भी तत्काल उस का स्मरण हो जाता है। अनुभवसिद्ध है कि आदमी एक बार किसी सुख के उपाय को देख कर उसे अपना नहीं लेता किन्तु बार बार देखने पर दृढ निश्चय 20 होता है तब उसका स्वीकार कर लेता है। तथैव, एक बार दुखजनक चीज को देखते हुए ही झटके के साथ उस से मुँह मोड़ नहीं लेता किन्तु बार बार देखने पर ‘यह दुःखजनक है’ ऐसा दृढीभूत निश्चय होते हुए ही उस से पल्ला छुड़ा लेता है। अगर इस तथ्य का स्वीकार न किया जाय तो उलटा ऐसा होगा कि हर कोई आदमी एकबार ही किसी चीज को देख कर फौरन ही उस को अपना लेगा या उस से मुँह मोड़ लेगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा दीखता नहीं है। प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष इसी 25 लिये उपालम्भपात्र नहीं किन्तु धन्यवादपात्र है।

* समानविषयक शाब्दादिज्ञानों का प्रामाण्य युक्तियुक्त *

यदि अधिगत अर्थविषयक ज्ञान को ‘अप्रमाण’ माना जाय तो शाब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों का प्रामाण्य संकटग्रस्त बन जायेगा। किंतु बलिहारी है कि अधिगत अर्थग्राही ज्ञान भी प्रमाण होता है इसी लिये शब्दादि तीन का प्रामाण्य सुरक्षित रहता है। किसी एक विषय का पहले शाब्द ज्ञान 30 हो जाय तब श्रोता उस के लिंग ज्ञान के द्वारा उसी पदार्थ का अनुमान करता है (परार्थ अनुमान में ऐसा ही होता है।) अनुमिति के बाद ज्ञाता को उस पदार्थ के दर्शन की तीव्र उत्कंठा होने पर वह उस के दर्शनार्थ प्रयास कर के उस अर्थ का प्रत्यक्ष बोध करता है तब उस को सातिशय आह्लाद

तदभावे नोक्तफलजनकस्य प्रमाणत्वव्याघातः। न च पुरुषार्थसाधनप्रदर्शकत्वमेव तस्य प्रवर्तकत्वम्, तत्सद्भावेऽपि 'प्रवर्तितोऽहमनेनात्र' इति तद्ग्रहणेच्छाभावे प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। न च प्रवृत्त्यभावे तस्य प्रदर्शकत्वलक्षणो निजो व्यापार एव नोपपद्यते इति वक्तव्यम् प्रतीतिबाधोपपत्तेः। न हि चन्द्रार्काद्य-
र्थविषयमध्यक्षमप्रवर्तकत्वात् न तत्प्रदर्शकमिति लोकप्रतीतिः। तत्र अनधिगतार्थगन्तुत्वमपि ज्ञातृव्या-

- 5 या प्रीति ही सिर्फ नहीं होती अपि तु शब्द एवं अनुमान से ज्ञात अर्थ का वर्णविशेष, संस्थान-विशेष आदि भी अवगत होता है। अधिगत अर्थग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानने पर शाब्दबोध के बाद समानविषयक अनुमिति या प्रत्यक्ष ज्ञान को भी अप्रमाण मानने का संकट खड़ा होगा ही।

* पुरुषप्रवृत्ति प्रमाणाधीन नहीं होती *

- ऐसा मत कहना - "पहली प्रतीति से ही जब अर्थक्रियासशक्त वस्तु के दर्शन में पुरुष प्रवृत्त
10 हुआ एवं उस को उस अर्थ की उपलब्धि हो गयी; फिर क्या जरूर कि वह उस अर्थ के बारे में अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखे ? अन्य प्रमाण की अपेक्षा व्यर्थ है" - इस कथन के निषेध करने का अभिप्राय यह है कि यदि पुरुष को विशिष्ट प्रमा की अपेक्षा हो तब उसे प्रमाण का अन्वेषण करना अनिवार्यरूप से आवश्यक है चूँकि विशिष्ट प्रमा का जन्म प्रमाणाधीन होता है। किन्तु, पुरुष की प्रवृत्ति सर्वदा प्रमाणाधीन नहीं होती। (शुक्ति में रजत के भ्रम से भी रजतग्रहणार्थ पुरुष की प्रवृत्ति
15 हो जाती है।) ऐसा भी प्रमाण होता है जो प्रमा को तो उत्पन्न करता है किन्तु उस का विषय उपेक्षापात्र होने से, उस प्रमाण से कोई प्रवृत्ति नहीं होती, फिर भी दार्शनिक जगत् में उस को प्रमाण तो माना ही जाता है यह प्रसिद्ध तथ्य है। प्रमाण से प्रमा उत्पन्न होने के बाद प्रवृत्ति करना - न करना यह तो पुरुषेच्छा को अधीन है। इच्छा के विरह में सिर्फ प्रमारूप फल के जनक प्रमाण का प्रमाणत्व व्याहत नहीं हो जाता।

20 * पुरुषार्थोपयोगी साधन का प्रदर्शकत्व 'प्रवर्तकत्व' कैसे ? *

- यदि कहा जाय - 'प्रमाण तो प्रवर्तक ही होता है, यहाँ प्रवर्तकत्व का मतलब है पुरुषार्थ के लिये उपयोगी साधन को प्रदर्शित करना। यदि इस प्रकार प्रमाण प्रवर्तक नहीं होगा तो प्रमाण कैसे ?' - ऐसा कथन निकम्मा है। मान लो कि प्रमाण ने तथाविध साधन को प्रदर्शित कर दिया, यानी वह प्रवर्तक बन गया, किन्तु उस का मतलब यह नहीं कि प्रमाण बलात् पुरुष को उस पुरुषार्थ
25 की सिद्धि के लिये खड़ा कर दे, पुरुषार्थ प्राप्ति की इच्छा न भी हो, तब पुरुष को यह भान ही नहीं होगा कि 'मुझे इसने इस कार्य के लिये प्रवृत्त किया।' इस स्थिति में प्रवर्तकत्व न होने पर भी प्रमाण का प्रमाणत्व लुप्त नहीं होगा। यदि कहें कि - जिस ज्ञान से पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हुई ऐसे ज्ञान में पुरुषार्थसाधन का प्रदर्शकत्वरूप अपना असाधारण व्यापार ही कैसे घटित होगा ? अपने व्यापार के विना उस ज्ञान को प्रमाण कैसे कहा जाय ?- तो यह ठीक नहीं है। कारण, 'भ्रमात्मक
30 प्रतीति को बाध पहुँचाना' यह भी प्रमाण का ही नीजी व्यापार है जो प्रवृत्ति के न होने पर भी घटित होता है जिस से प्रमाण का प्रमाणत्व अक्षुण्ण रहता है। प्रबुद्ध लोक में ऐसा तो व्यवहार नहीं है कि चन्द्र-सूर्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान अपने विषयभूत चन्द्रादि के ग्रहण के लिये प्रवर्तक न

पारविशेषणमुपपत्तिम् । अतोऽनधिगतार्थाधिगन्ता ज्ञातृव्यापारोऽर्थप्रकटताख्यफलानुमेयो जैमिनीयपरिकल्पितो न प्रमाणमिति स्थितम् ।

卐 बौद्धमतेन प्रमाणस्वरूपनिदर्शनम् 卐

सौगतैस्तु 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्' (प्र.वा.१-६) इति वचनाद् अविस्वादादकत्वं प्रमाणलक्षणमुक्तम् । अविस्वादादकत्वं च प्राप्तिनिमित्तप्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्यप्रदर्शकत्वम् । यतोऽर्थक्रियार्थिपुरुषस्तशि- 5
र्वर्त्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते, यदेव चार्थक्रियानिर्वर्त्तकवस्तुप्रदर्शकं तदेव तेनाऽन्विष्यते । प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके न ज्ञानान्तरमिति ते एव च लक्षणार्हे । तयोश्च द्वयोरप्यविस्वादादकत्व-
मस्ति लक्षणम् । प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधनं दृष्टतयाऽवगतं प्रदर्शितं भवति, अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गा-
ऽव्यभिचारितयाऽध्यवसितम् इत्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । न ह्याभ्यां प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न
प्राप्तिरिति । नान्यत् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वम्, तच्च शक्तिरूपम् । 10

होने मात्र से उन के प्रदर्शक भी नहीं है, प्रदर्शक तो है ही ।

निष्कर्ष, जैमिनि मत में ज्ञातृव्यापार को प्रमाण बताते हुए जो 'अनधिगत अर्थ अधिगन्तृत्व' ऐसा विशेषण ज्ञातृव्यापार का किया गया है वह संगत नहीं ही है । इस से यह भी सिद्ध होता है कि जैमिनि मत में जो यह कल्पना की गयी है कि - "यद्यपि ज्ञातृव्यापार प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है किन्तु 'अर्थप्राकट्य' संज्ञक विषयगत अभिनवजात संस्कारात्मक लिंग से अनधिगतार्थज्ञापक ज्ञातृव्यापार 15
की अनुमिति होती है" - यह कल्पना प्रमाणभूत नहीं है ।

✽ बौद्धमतानुसार प्रमाणस्वरूप का निरूपण ✽

बौद्धदर्शन के पंडितों का कथन यह है - प्रमाण का लक्षण अविस्वादादकत्व है, क्योंकि प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में उन के धर्मकीर्त्ति आदि आचार्यों का वचन है 'अविस्वादी ज्ञान प्रमाण है ।' अविस्वादादकता का अर्थ है "वस्तु की प्राप्ति में निमित्तभूत प्रवृत्ति का हेतुभूत जो अर्थ है— जिस से अर्थक्रिया सम्पन्न हो सकती है — उस को प्रदर्शित करना ।" — इस का तात्पर्य यह है— जिस को अर्थक्रिया (शीतापनयनादि) की गरज हो ऐसा पुरुष, अर्थक्रिया के लिये सक्षम (अग्नि आदि) अर्थ को ढूँढता है । उस अर्थ को ढूँढने के लिये जैसा ज्ञान होना चाहिये वह यदि अप्रमाण (भ्रमादि) स्वरूप होगा तो पुरुष की प्रवृत्ति सफल नहीं होगी, प्रमाणस्वरूप होगा तभी सफल होगी । अत एव अर्थक्रिया का गर्जी पुरुष अपना ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण— यह तलाशेगा । मतलब कि वह अर्थक्रिया के लिये सक्षम ऐसे अर्थ 25
को दिखानेवाले ज्ञान (= प्रमाण) को ही चाहेगा । ऐसे ज्ञान तो प्रत्यक्षरूप या अनुमान, दो ही होते हैं, जो अर्थक्रियासक्षम अर्थ को प्रदर्शित करें । दो से अतिरिक्त ऐसा कोई (शाब्दादि) ज्ञान ही नहीं होता जो अर्थक्रियासक्षम अर्थ को प्रदर्शित कर सके । अतः वे दो ही लक्ष्यभूत कहे जा सकते हैं । उन दोनों में अविस्वादादकत्व लक्षण संगत होते हैं । देखिये :- अर्थक्रिया में सक्षम स्वरूपवाले अर्थ को प्रत्यक्ष से जब देखा गया तब उस को अवगत कर के वह उसी अर्थ का ज्ञाता के समक्ष प्रदर्शन 30
करता है, इसी लिये प्रत्यक्ष 'प्रमाण' भूत हो सकता है । अनुमान भी अर्थक्रियासक्षम अर्थ के अव्यभिचारी लिंग के अवगम के द्वारा अविनाभावि अर्थ का अध्यवसायी होता है । इस प्रकार— प्रत्यक्ष और अनुमान

उक्तं च— “प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् तदेव च प्रापकत्वम् अन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थापितायाः प्राप्तेः कथं प्रवर्तकज्ञानशक्तिस्वभावता ? तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तुक्षणग्राहि तद्ग्राहकत्वं च तस्य प्रदर्शकत्वम् तथापि क्षणिकत्वेन तस्याऽप्राप्तेः तत्सन्तान एव प्राप्यते इति सन्तानाध्यवसायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो दृष्टव्यः। अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्वं यद्यपि न सम्भवति तथापि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन

5 पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्प्रापकत्वमुच्यते” []।

एतदुक्तं भवति— प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्यः। स च निवृत्तत्वात् प्राप्तिविषयः। सन्तानस्त्वध्यवसायः प्रवृत्तिपूर्विकायाः प्राप्तेर्विषय इति तद्विषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम्। अनुमानेन त्वारोपितं

दोनों में अर्थक्रियासक्षम अर्थ का प्रदर्शकत्व रूप लक्षण संगत होता है, यानी वे दोनों अर्थ के प्रापक होते हैं। ऐसा नहीं होता कि उन दोनों के द्वारा प्रदर्शित अर्थ के लिये प्रवृत्ति करने पर उस की

10 प्राप्ति न हो। तथाविध अर्थ का प्रदर्शकत्व यही वास्तव में प्रापकत्व है जो कि एक विशिष्ट शक्तिरूप है।

✽ प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रापकत्व का स्वरूप ✽

कहा गया है — प्रापणशक्ति ही प्रामाण्य है और प्रामाण्य ही प्रापकत्व है। शक्ति के बदले प्रापणक्रिया को ही यदि प्रामाण्य रूप माना जाय तो बौद्ध मत में संगत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम ज्ञान तो सिर्फ अर्थ का अवगम करता है, फिर दूसरे क्षण का ज्ञान ही वस्तु का प्रापक बनता है, ऐसा नहीं

15 माना जायेगा तो यह प्रश्न होगा कि प्राप्ति (यानी प्रापकत्व) तो दूसरे क्षण के विकल्प ज्ञान के स्वभाव के रूप में तय की गयी है, अब वह प्रथमक्षण के प्रवृत्तिकारकज्ञानशक्तिरूप स्वभाववाली कैसे मानी जायेगी ? प्रथमक्षण के और दूसरे क्षण के - दोनों ज्ञानों का स्वभाव अलग अलग है, पहला शक्तिस्वभाव है और दूसरा प्रापणस्वभाव है, उन दोनों का ऐक्य कैसे माना जाय ? यह समझना जरूरी है कि प्रत्यक्ष तो क्षणमात्रवस्तुग्राहि होने से उस में प्रदर्शकत्व जो है वह क्षणग्राहकत्वस्वरूप

20 ही है। किन्तु प्राप्ति की बात अलग है — वस्तु क्षणिक होने से प्रदर्शन के बाद उसी का प्रापण शक्य नहीं है, अनन्तर क्षण की, यानी सन्तान की ही प्राप्ति शक्य है। इस का फलितार्थ यह होगा कि प्रत्यक्ष का जो सन्तानविषयक अध्यवसाय है वही प्रदर्शकव्यापार है, यही उस का प्रापकत्व है और प्रामाण्य भी। अनुमान का प्रामाण्य प्रत्यक्ष के मुकाबले में कुछ अन्यथा है। अनुमान वस्तुस्पर्शी (स्वलक्षणग्राही) नहीं होता किन्तु (सामान्यग्राही यानी) अवस्तुग्राही होता है। अत एव अनुमान में वास्तविक

25 वस्तुप्रापकत्व घटेगा नहीं। तथापि अनुमानगृहीत आकार में बाह्यवस्तु का अध्यवसाय हो जाता है जिस से अर्थी पुरुष की वहाँ प्रवृत्ति भी होती है। इस प्रकार अध्यवसित वस्तु का आकार पुरुषप्रवृत्ति में निमित्त बनता है इसी को उस का प्रापकत्व कहा जा सकता है और प्रामाण्य भी।

✽ बौद्धमत में प्रत्यक्षग्राह्य क्षणिक पदार्थ ‘प्राप्य’ नहीं होता ✽

कहने का तात्पर्य यह है — बौद्ध मत में पदार्थमात्र क्षणिक है इसलिये वह प्रत्यक्ष से ग्राह्य

30 होने पर भी उस का प्राप्य नहीं होता क्योंकि ग्रहण के बाद उस क्षण की निवृत्ति (= ध्वंस) हो जाती है। तो प्रत्यक्ष के बाद प्राप्त होने वाला कौन है — इस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष के बाद प्राप्ति के लिये पुरुषप्रवृत्ति होने पर सन्तान की ही प्राप्ति होती है जो प्रत्यक्ष का ग्राह्य नहीं है

वस्तु गृहीतम् स्वाकारो वा तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वात् प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषयं तस्य प्रापकत्वम् अपि तु आरोपित-बाह्योरभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्तकत्व-प्रापकत्वे अस्य दृष्टव्ये। तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थः प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकाराऽभेदेनाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम्। उक्तं च “ततोऽपि विकल्पात् तदध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवृत्तेः प्रवृत्तौ च प्रत्यक्षेणाऽभिन्नयोगक्षेमत्वात्” [] तथाऽपरमप्युक्तम्— “न ह्याभ्यामर्थं परिच्छेद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते” [] इति। अत्र च 5 प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि परिच्छेदः सन्तानविषयोऽध्यवसायो द्रष्टव्यः, तथा प्रामाण्यं वस्तुविषयं द्वयोरिति च। उक्तमत्रापि— ‘सन्तानविषयत्वेन वस्तुविषयत्वं द्वयोरुक्तम्’। [] लौकिकं चैतदविसंवादकत्वं प्रामाण्यम्

किन्तु प्रत्यक्ष से गृहीत क्षण के साथ अभिन्न रूप से अध्यवसित होता है - यानी वह अभेदमानी अध्यवसाय का विषय होने से अध्यवसेय कहा जाता है। यह अध्यवसेय संतान ही प्राप्य होता है। यहाँ प्रापक तो अध्यवसाय है किन्तु वह प्रत्यक्ष के द्वारा प्रदर्शितार्थ के सन्तानीय को ही अध्यवसित 10 करता है अत एव प्रत्यक्ष को भी प्रदर्शित अर्थ का प्रापकत्व प्राप्त होता है और यही प्रत्यक्ष का प्रामाण्य है।

✽ अनुमान में प्रदर्शित अर्थप्रापकत्व की उपपत्ति ✽

अनुमान के प्रामाण्य का स्वरूप कुछ अलग है। अनुमान से कभी भी वस्तुक्षण का ग्रहण नहीं होता किन्तु आरोपित (कल्पित) वस्तु का ही ग्रहण होता है; अथवा सिर्फ अपने आकार का ही ग्रहण 15 होता है। दो में से एक भी वस्तुभूत नहीं होने से प्रवृत्ति का विषय बन ही नहीं सकते। अत एव उस अवस्तुभूत अर्थ का प्रापकत्व भी नहीं घट सकता। इस स्थिति में प्रवर्तकत्व और प्रापकत्व इस ढंग से हो सकेगा कि बाह्य पदार्थ एवं आरोपित अर्थ दोनों में अभेद के अध्यवसाय के द्वारा बाह्य अग्नि आदि पदार्थ के विषय में प्रवृत्ति होने पर उस की प्राप्ति होगी - यानी वस्तुभूतार्थ के विषय में ही प्रवर्तकत्व एवं प्रापकत्व घटेगा। फलितः यह हुआ कि अनुमान का ग्राह्यार्थ अवस्तुभूत 20 है किन्तु उस के साथ अपने आकारसादृश्य प्रयुक्त अभिन्नरूप से अध्यवसित बाह्य पदार्थ वस्तुभूत ही है। फलतः परम्परया वस्तुभूत अर्थ का प्रदर्शन होने पर प्रदर्शितार्थप्रापकत्व उस में घटित होता है - यही अनुमान का प्रामाण्य है।

✽ विकल्प भी वस्तुलक्षी प्रवृत्ति कारक होता है ✽

कहा भी गया है - उस विकल्प (विकल्परूप अनुमान) से भी (अभेद के) अध्यवसाय के द्वारा 25 प्रवृत्ति तो वस्तु में ही होती है। (इस प्रकार) प्रवृत्ति के बारे में प्रत्यक्ष (और विकल्प) के योगक्षेम भिन्न नहीं होने के कारण प्रवृत्ति अनुमान से भी होती है। दूसरा यह भी कहा गया है - ‘प्रत्यक्ष और अनुमान से अर्थ का बोध कर के प्रवृत्ति करने वाला अर्थक्रिया में धोखा प्राप्त नहीं करता।’ यहाँ इतना याद रखना चाहिये कि सविकल्प प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों से जो परिच्छेद होता है वह स्वलक्षणस्पर्शी नहीं किन्तु सन्तानविषयक अध्यवसायरूप ही होता है। उपरांत, दोनों का प्रामाण्य 30 और वस्तुविषयत्व भी उपरोक्त रीति से तुल्य योगक्षेम से बना रहता है। इस विषय में ऐसा भी कहा गया है कि - “दोनों का वस्तुविषयत्व सन्तानविषयत्व के द्वारा प्राप्त होता है।”

यतो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुषः संवादकः प्रमाणमुच्यते, तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

न च क्षणिकस्य ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदनवस्थितेः कथं प्रापकतेत्याशङ्कनीयम्, प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्राऽसम्भवादित्युक्तत्वात्। न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ संनिकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्, यतो यद्यप्यनेकस्मात् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वं नान्यत्, तच्च प्रथमज्ञानक्षण एव सम्पन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानक्षणानां तद् उपयोगि, प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेश-कालाऽऽकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोस्तयोरेव प्रामाण्यम् न ज्ञानान्तरस्य, तेन प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणे प्रामाण्ये पीतशंखादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति। न हि

यहाँ जो अविस्वादाकरूप प्रामाण्य कहा गया है वह लोकनीति के अनुसरण से कहा है। लौकिक में उसी पुरुष को संवादी एवं प्रमाण कहा जाता है जो अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप अर्थ की प्राप्ति कर दिखावे। वैसे ही यहाँ भी प्रत्यक्ष और अनुमान भी सदृश या विकल्पित अर्थ की अभेद अध्यवसाय द्वारा प्राप्ति कर दिखाता है, इतना समझ रखना चाहिये।

प्रश्न :- ज्ञान तो क्षणिक है, जिस को आप प्रापकता के जरिये प्रमाण कहते हैं, लेकिन अर्थप्राप्तिकाल में पूर्व क्षण के ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता क्योंकि वह क्षणभंगुर है, तब उस ज्ञान को प्रापक कैसे माना जाय ? प्रमाण कैसे कहा जाय ?

उत्तर :- पहले ही कह दिया है कि प्रापकत्व यहाँ सिर्फ अर्थक्रियासमर्थार्थ का प्रदर्शकत्व ही है, और किसी प्रकार का उपलम्भरूप प्रापकत्व नहीं है क्योंकि प्रदर्शित अर्थ क्षणिक होने से उस का उपलम्भरूप प्रापकत्व संभव ही नहीं है।

यदि शंका की जाय कि - 'जो अध्यवसेय अर्थ प्राप्त होता है उस का जो संनिकृष्ट अनन्तर पूर्ववर्ति अध्यवसायात्मक अन्य ज्ञानक्षण है उसी को प्रापक मान लेना चाहिये, उस के बदले व्यवहित पूर्ववर्ति प्रत्यक्ष को प्रापक क्यों माना जाय ?' - तो इस का यह समाधान है कि अर्थ की प्राप्ति एवं उस के लिये जो प्रवृत्ति होती है वह यद्यपि किसी एक ज्ञान क्षण से चट सम्पन्न नहीं हो जाती, अनेक ज्ञानक्षणों से सम्पन्न होती है, फिर भी उन ज्ञानक्षणों में से किस को प्रापक माना जाय - यह यदि सोचा जाय तो वह 'अर्थप्रदर्शकत्व' रूप ही फलित होता है न कि अन्य कोई। अध्यवसाय के पूर्वजात प्रत्यक्ष से ही अर्थप्रदर्शकत्व सम्पन्न हो चुका है फिर उत्तरोत्तरज्ञानक्षणों को पिष्टपेषणस्वरूप पुनः अर्थप्रदर्शक मानने का संभव नहीं है।

अर्थक्रिया के लिये उपयोगि ऐसी प्राप्यमाण वस्तु जब भी प्राप्त होती है तब नियतदेश - नियतकाल नियताकार संबद्ध ही प्राप्त होती है, प्रत्यक्ष एवं अनुमान (न कि अध्यवसाय) ही तथाविध वस्तु के प्रदर्शक हो सकते हैं, अत एव उन दो को ही प्रमाण कहना वाजिब है, शेष अध्यवसाय-संशयादि ज्ञानान्तर को प्रमाण कहना वाजिब नहीं।

❖ पीतशंख ग्राहि ज्ञान में प्रामाण्यापत्ति का निरसन ❖

तथा :- प्रदर्शित अर्थ का प्रापकत्व ही सच्चा प्रमाणलक्षण है। शंख आदि के पीतरूप ग्रहण करने वाले ज्ञानक्षणों भी प्रापक जरूर हैं लेकिन प्राप्ति होगी तो श्वेत शंख की, पीत शंख की नहीं,

तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति, यदेशकालाकारं वस्तु तैः प्रदर्शितम् न तत् तथा प्राप्यते—यच्च यथा प्राप्यते न तैस्तत् तथा प्रदर्शितम्, देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वात् न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता। एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलादिप्रदर्शकस्य मरिच्यादिवस्तुन्तरप्राप्तौ प्रदर्शितप्रापकत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तिरिति न किञ्चिदप्रमाणं भवेत्।

प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं च ज्ञानं न नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम्। तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः 5 प्रदर्शितः, स च तथाभूतोऽसत्त्वान्न प्राप्तुं शक्यः इति न तत् प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम्। अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शाब्दादेः साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादर्थादनुत्पत्तेः। तत् स्थितं प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं

मतलब कि जिस प्रकार का (पीत) प्रदर्शन है उस प्रकार की प्राप्ति नहीं है। अत एव उस में 'प्रदर्शित प्रापकत्व' लक्षण की अतिव्याप्ति संभव नहीं। पीतशंखादिग्राहक ज्ञान प्रदर्शित अर्थ के प्रापक नहीं है। जिस प्रकार के नियतदेश या नियतकाल या नियताकार (पीतादि) से सम्बद्ध वस्तु उन से प्रदर्शित 10 है उसी प्रकार की वस्तु उन से प्राप्त नहीं होती। देश-कालादि भेद वस्तुभेद का साधक है यह सुनिश्चित तथ्य है। श्वेताकार शंख एवं प्रदर्शित पीताकार शंख दोनों आकारभेद के कारण भिन्न है। अत एव प्रदर्शित पीताकार शंख का प्रापक वह अध्यवसाय ज्ञान नहीं हो सकता।

यदि अध्यवसाय से पीतशंख प्राप्त न होने पर भी श्वेत शंख (आखिर शंख) प्राप्त होता है इतने मात्र से उस को प्रदर्शितार्थ प्रापक कह दिया जाय, यानी प्रमाण कहा जाय, तो किसी भी 15 ज्ञान को अप्रमाण करार देना असंभव ही हो जायेगा; क्योंकि मृगजल की घटना में जलादिवस्तु का प्रदर्शन करने वाला ज्ञान होने पर जब किरणादिअन्यवस्तु प्राप्त होगी तब भी यथाकथंचिद् प्रदर्शितप्रापकता (प्रदर्शित चकचकायमान अर्थ प्रापकता) यहाँ भी अक्षुण्ण है ऐसा मान लेंगे।

* प्रत्यक्ष/अनुमान से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं *

प्रत्यक्ष एवं अनुमान के सिवा जो कोई शाब्दबोधादि ज्ञान माना जाता है वह प्रत्यक्ष या अनुमान 20 की भाँति नियत देश-काल-आकारवाले प्रदर्शित अर्थ के प्रापक नहीं है। शाब्दबोधादि ज्ञान कभी अगोव्यावृत्तिस्वरूप अभाव (तुच्छ) अर्थ का, या तो कल्पित भावस्वरूप अर्थ का — इस प्रकार अनियत अर्थ का प्रदर्शन करते हैं। अभाव या कल्पित भाव स्वरूप अर्थ वास्तविक नहीं होता, असत् होता है। असत् होने के नाते उस की प्राप्ति अशक्य है। मतलब, शाब्दबोधादि ज्ञान प्रदर्शितार्थप्रापक न होने से प्रमाणभूत नहीं हो सकता। शाब्दबोधादि को अनियतार्थप्रदर्शक बताया गया है उस का कारण 25 यह है कि वह साक्षात् या परम्परा से स्वप्रतिपाद्यार्थजन्य नहीं होता, केवल वासना से जन्य होता है। अतः निष्कर्ष यही हुआ कि अविस्वादाकता प्रापणशक्तिस्वरूप है और यह प्रापणशक्तिरूप प्रामाण्य सिर्फ प्रत्यक्ष/अनुमान दो में ही संमत है।

प्रश्न :- प्रत्यक्ष-अनुमानयुगल में अर्थप्रापकता यानी अर्थप्रापणशक्ति मानने के लिये क्या आधार है ? 30

उत्तर :- किसी भी प्रमाण की अन्तर्निहित प्रापणशक्ति अर्थ के अविनाभाव-मूलक होती है। 'अर्थ के विना अनुत्पत्ति' यही प्रमाण की प्रापकता का मूलाधार है। इस का निश्चय, दर्शनात्मक प्रत्यक्ष

प्रामाण्यं द्वयोरेव। प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते। तथाहि—दर्शनं यतोऽर्थादुत्पन्नं तददर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनात् निश्चिन्वदार्थाविनाभावित्वं प्रापणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव। ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम्।

5

卐 बौद्धमतप्रदर्शितप्रमाणलक्षणनिरसनम् 卐

एतदप्युक्तम्, यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सति वस्तुन्यर्थप्राप्तेः। एतच्च प्राक् (पृ०३७-पं०१०) प्रतिपादितम्। उपेक्षणीये च विषये पुरुषस्य तद्विषयार्थित्वाद्यभावे प्राप्तिपरित्यागयोरभावेऽपि तत्प्रदर्शकत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य न कश्चिद् व्याघात उपलभ्यते।

अथ “इष्टानिष्टसाधनार्थव्यतिरेकेणोपेक्षणीयस्यार्थान्तरस्याभावान्न तत्प्रदर्शकं किञ्चिज् ज्ञानं समस्तीति

10 के अनन्तर होने वाले विकल्प से होता है। देखिये -

✽ बौद्धमत में स्वतःप्रामाण्यनिश्चय की व्याख्या ✽

प्रत्यक्षात्मक दर्शन (जिस को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा जाता है) जिस अर्थ से उत्पन्न होता है उस अर्थ के प्रदर्शक के रूप में अपने को निरूपित करने वाले सदृश व्यवसाय (सविकल्प) ज्ञानरूप निश्चय को जन्म देता है। जिस अर्थ को दर्शन प्रदर्शित करता है वही उस का प्राप्य (यानी प्रदर्श्य) है, स्वयं उस का प्रदर्शक यानी प्रापक है। इस प्रकार की प्रापणशक्ति जो कि अर्थाविनाभावितारूप ही है या तो अर्थाविनाभावमूलक है, उस का भी अपने आप ही स्वानुरूपव्यवसाय के उत्पादन से निश्चय हो जाता है। इसी को स्वतः प्रामाण्यनिश्चय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे अर्थानुभूतिरूप ज्ञान का ग्रहण स्वतः नहीं किन्तु व्यवसायरूप ज्ञानान्तर से होता है वैसा प्रामाण्यबोध के बारे में नहीं है। प्रामाण्यबोध तो उपरोक्त ढंग से स्वतः होता है।

20 बौद्धवादियों के इस पूरे कथन का निष्कर्ष यह है कि ‘अविसंवादकत्व’ यही प्रमाण का लक्षण युक्तिसंगत है।

✽ प्रदर्शकत्व प्रापकत्वरूप नहीं है - बौद्धमतप्रतिषेध ✽

बौद्धवादियों का यह कथन अयुक्त है। ‘अर्थप्रदर्शकत्व’ को ही प्रापकत्व कहना गलत है। वस्तु सत् होने पर भी उस अर्थ की प्राप्ति सिर्फ अर्थप्रदर्शनमात्र से नहीं होती किन्तु उस की प्राप्ति की 25 यदि पुरुष को इच्छा हो तब वह उस के लिये प्रवृत्ति करेगा तभी अर्थप्राप्ति होगी - यह पहले कहा जा चुका है (पृ०३८-पं०१७)। दूरवर्ती वृक्ष का या आकाश का या तो दूरवर्ती पर्वत का - इत्यादि विषयों का दर्शन होने पर भी वे विषय उपेक्षापात्र होने से उन की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है, न तो उन से भागने की इच्छा होती है। ऐसे स्थलों में पुरुष को कोई इच्छा न होने से न तो प्राप्ति होती है न परित्याग। फिर भी यहाँ अर्थप्रदर्शकत्वरूप प्रामाण्य अक्षुण्ण है, उस में 30 कोई बाधा नहीं है।

✽ उपेक्षणीय-यह अर्थ का तीसरा प्रकार नहीं है - शंका ✽

शंका :- अर्थ के दो ही प्रकार होते हैं इष्ट का साधक और अनिष्ट का साधक। इन दोनों

कथं प्रापकत्वाभावेऽपि प्रदर्शकत्वस्य सम्भवेन दोषापादनं क्रियते ? तथा च तृतीयविषयाभावमवगत्यैवोक्तम् 'अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात्' []। तथा 'हितहितप्राप्ति-परिहारयोः' [] इति च। तृतीयविषयाभावश्च सर्वस्य वस्तुनो राशिद्वयेऽन्तर्भावात्। तथाहि— तृतीयं वस्तु नेष्टसाधनम् उपेक्षणीयत्वात्, यच्च तत्साधनं न भवति तस्यानिष्टसाधनराशावन्तर्भावः।" एतच्चायुक्तम् स्वसंविदितवस्त्वपहनवस्य युक्तिशतेनापि कर्तुमशक्यत्वात्। तथाहि— यथा तद् वस्तु इष्टसाधनं न भवति तथाऽनिष्टसाधनमपि न भवति; 5 इष्टानिष्टसाधनयोर्यत्नोपादेयत्वहेयत्वदर्शनात् उपेक्षणीयस्य चायत्नसाध्योपादानत्यागविषयत्वात् कथमिष्टानिष्टसाधनयोरन्तर्भावः ? तद् न प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्।

न च बौद्धाभ्युपगमेन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं क्वचिदपि ज्ञाने संभवति। तद्धि सन्तानाश्रयेण सौगतैः

से पृथक् तीसरा कोई प्रकार (उपेक्षणीय जैसा) है नहीं। अत एव तृतीय प्रकार का प्रदर्शक कोई ज्ञान भी नहीं है। इस का फलितार्थ यही हुआ कि प्रदर्शक हो लेकिन प्रापक न हो ऐसा कोई ज्ञान ही 10 नहीं है। तब प्रापकत्व न होने पर भी प्रदर्शकत्व का संभव दिखा कर, प्रापकत्वरूप प्रामाण्य के लक्षण में आपने दोषप्रदर्शन कैसे कर दिया ? तृतीय प्रकार के नास्तित्व को अवगत कर के ही यह कहा गया है - 'अर्थ या अनर्थ का (इष्ट या अनिष्ट का) विवेक ज्ञान अनुमानाधीन है।' तथा 'हित की प्राप्ति एवं अहित से निवृत्ति' इत्यादि कहा गया है - तृतीय प्रकार होता तो यहाँ इष्ट/अनिष्ट एवं हित/अहित के द्वन्द्व के साथ उस का भी उल्लेख अवश्य होता। सच तो यह है कि सभी पदार्थों 15 का उक्त दो राशि (इष्ट/अनिष्ट या हित/अहित) में ही समावेश है, इसी लिये तृतीय प्रकार की सम्भावना फिजुल है। देखिये— आप का मान्य उपेक्षणीय (तृतीय पदार्थ) इष्टसाधक तो नहीं है, दुनिया की यही चाल है कि जो इष्टसाधक नहीं होता उस का अन्तर्भाव अनिष्टसाधक पदार्थराशि में ही कर लिया जाता है।

❖ तृतीय अर्थप्रकार उपेक्षणीय का समर्थन ❖

समाधान :- ऐसी शंका अयुक्त है। इष्ट-अनिष्ट से भिन्न उपेक्षणीयस्वरूप तृतीय प्रकार, सभी को प्रायः स्वसंवेदन (जात अनुभव) से ही सिद्ध है, जो अनुभवसिद्ध है उस का अपलाप सैंकड़ों तर्क करने से भी शक्य नहीं है। देखिये— आपने जो अन्त में कहा कि जो इष्टसाधक नहीं होता उस का अनिष्टसाधक में अन्तर्भाव होता है यह गलत है, क्योंकि जैसे वह इष्टसाधक नहीं है वैसे ही वह (गगनादि) अनिष्ट साधक यानी हानिकारक भी नहीं है। समझो कि कोई चीज इष्ट है तो पुरुष 25 उस के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है। कोई चीज अनिष्ट होती है तब पुरुष प्रयत्नपूर्वक उस से दूर भागता है। किन्तु गगनादि तृतीय प्रकार के पदार्थ ऐसे हैं जो इष्ट भी नहीं, अनिष्ट भी नहीं, अत एव उस की प्राप्ति या परिहार के लिये कोई प्रयत्न भी नहीं होता। तब कैसे उपेक्षणीय (गगनादि) का इष्ट-अनिष्ट युगल में अन्तर्भाव शक्य है ? निष्कर्ष यह हुआ कि प्रापकत्व के दिना भी प्रदर्शकत्व सम्भव है, प्रापकत्व और प्रदर्शकत्व एक चीज नहीं है। 30

❖ बौद्धमत में प्रदर्शितार्थप्रापकत्व की अनुपपत्ति ❖

सम्यग् विचार करने पर लगता है कि किसी भी ज्ञान में बौद्धमतानुसार प्रदर्शितार्थप्रापकत्व की

परिकल्प्यते। न च सन्तानः संभवति— स हि स्वरूपेण वा वस्तुसन् भवेत् सन्तानिरूपेण वा ? न तावत् स्वरूपेण, सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुसतोऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्तिः सामान्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् इति न तस्य स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता। सन्तानिरूपेणाऽपि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूता, न तद्व्यतिरिक्तः सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः। सन्तानिनां चोत्पत्त्यन-
5 न्तरध्वंसित्वात् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्। दृश्य-प्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात्; यत्र हि देश-कालाऽऽकारभेदादभेदेन प्रतीयमानस्यापि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते तत्र स्वरूपेण भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः येन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसंगतं भवेत् ?

अथ संवृत्त्या सन्तानस्य स्वरूपसिद्धेः पूर्वोक्तमदूषणम्। तथा च प्रतिपादितम्— 'सांख्यवहारिकस्य प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्' []। नन्वेवं लोकव्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रमाणस्याभ्युपगम्यते

10 संगति नहीं है। प्रत्यक्ष में उस की संगति करने हेतु बौद्धवादी सन्तान का आशरा लेते हैं। वास्तव में सन्तान ही संभव नहीं है। यदि वह है तो १स्वरूप से वास्तविक है या २सन्तानि (क्षण) रूप से ? एक का भी समुचित उत्तर नहीं है। १सन्तानि से पृथक् अपने ही स्वरूप से सन्तान की वस्तुसत् रूपता बौद्ध नहीं मानते हैं। मानेंगे तो अनेकक्षणव्यापक सन्तान होने से क्षणिकवाद की मौत हो जायेगी, उपरान्त अनेकक्षणव्यापक (यानी नित्य) सामान्य पदार्थ का भी स्वीकार करना होगा। सामान्य
15 को अस्वीकार करने का कोई बहाना नहीं रहेगा। तात्पर्य, स्वरूपसत् न होने से सन्तानि प्रवृत्ति का विषय बन नहीं सकता, प्रवृत्ति के बिना प्राप्ति भी शक्य नहीं है। अगर उसे २सन्तानिरूप से सत् मानेंगे, उस का फलितार्थ तो यही होगा कि सन्तानि ही सत् हैं, उन से अतिरिक्त कोई सन्तान पदार्थ नहीं बचता जिस की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति संगत हो। सन्तानि भी प्रवृत्तिविषय बन नहीं पायेगा क्योंकि प्रवृत्ति के लिये अनेक क्षण चाहिये, सन्तानि तो क्षणिक होने से उत्पत्ति के बाद तुरंत ही
20 ध्वस्त हो जायेगा, कैसे उस में प्रवृत्ति होगी और उस की प्राप्ति भी प्रवृत्ति के बिना नहीं होगी। उस का नतिजा यही आया कि बौद्ध मत में विज्ञान में प्रदर्शितार्थप्रापकत्व संगत नहीं होता।

✽ दृश्य-प्राप्य के एकीकरण का प्रयास व्यर्थ ✽

बौद्ध मत में तो प्रत्यक्ष प्रदर्शित अर्थक्षण (दृश्य) और प्राप्तिविषय (प्राप्य) अर्थक्षण भिन्न भिन्न ही होता है। जब बौद्ध वादी, भिन्न क्षणों में अनुवर्तमान फलादि वस्तु के ऐक्य की प्रतीति सभी
25 को होने पर भी देश-काल-आकार के भेद का प्रसञ्जन कर के उन फलादि वस्तुओं में भेद का प्रतिपादन करता है, तब स्वरूपतः जहाँ भेद सिद्ध है ऐसे पूर्वोत्तर (दृश्य-प्राप्य) क्षणों में अभेद का व्यवहार किस मुँह से कहेगा ? जब अभेद ही नहीं है तब साधननिर्भासि (इष्टप्रापक) ज्ञान में प्रदर्शितार्थप्रापकत्व कैसे माना जा सकता है ?

✽ लोकव्यवहारसिद्धप्रमाणलक्षण से नित्यानित्य अर्थ की सिद्धि ✽

30 बौद्ध :- आपने जो सन्तान के स्वरूपसत्त्व का निरसन किया वह ठिक नहीं है क्योंकि सन्तान को भी संवृति यानी कल्पना के प्रभाव से — अर्थात् लोकव्यवहार अनुरोध से हम स्वरूपसत् मान कर ही चलते हैं। इस में क्षणिकवाद की मौत होने का दूषण नहीं लगेगा, क्योंकि सन्तान कल्पनानिर्मित

तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तद् अभ्युपगम्यताम् लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः। न च तथाभूततद्ग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वात्रिर्विषयत्वम्, सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः। तन्नाध्यवसितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं पराभ्युपगमेन संभवति। तथाहि— यदेवाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् न च सन्तानस्तेन पूर्वमुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते ? न च क्षणमात्रभाविनां सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्ठभाविनाध्यवसायेन तददृष्टस्यैव विषयीकरणम्। न चान्यथाभूतवस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं 5 युक्तम्, तथाभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात्। अथात्र प्रवृत्तेन रजतं न प्राप्यते इति न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्, तर्हि सन्तानेऽध्यवसिते क्षणः प्राप्यत इति प्रकृतेऽपि न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्।

है। ऐसा ही मान्यवरोंने कहा है — 'यह जो प्रमाण का लक्षण (प्रदर्शितार्थप्रापकत्व) कहा गया वह सांख्यवहारिक प्रमाण का है।'

जैन :- यदि आप लोकव्यवहार के अनुरोध से प्रमाण का लक्षण 'प्रदर्शितार्थप्रापकत्व' रूप कहते 10 हैं तो प्रमाण को नित्यानित्य अर्थ का प्रदर्शक मानना यही बेहतर (अच्छा) है, क्योंकि वस्तु को नित्यानित्य मानने पर ही सारे लोकव्यवहार की संगति होती है। जैसे — आत्मा को नित्य समझ कर ही लोग मुक्त होने के लिये सब पारलौकिक विधान करते हैं, एवं अनित्य समझते हैं तभी मनुष्यात्मा का देवात्मा के रूप में परिवर्तन करने के लिये धार्मिक विधि-विधान किया जाता है। अत एव नित्यानित्य वस्तु का प्रदर्शक ज्ञान (प्रमाण) निर्विषयक भी नहीं है क्योंकि युक्तिबाधित नहीं है। प्रत्युत, पूर्व में 15 जो सन्तान के स्वरूपसत् आदि विकल्प-चर्चा में युक्तियां कही गयी हैं उन से तो आप का प्यारा सन्तानरूप विषय ही युक्तिबाधित सिद्ध होता है। निष्कर्ष, बौद्धमान्यतानुसार प्रत्यक्ष में अध्यवसित अर्थ (सन्तान) की प्रापकता सम्भव या संगत नहीं होती।

✽ प्रत्यक्ष अगृहीत सन्तान का विकल्प से समर्थन अशक्य ✽

देखिये — प्रत्यक्ष के द्वारा जिस अर्थ का ग्रहण किया गया हो उसी अर्थ का अध्यवसाय से 20 (विकल्प से) समर्थन-प्रतिपादन किया जाता है — यह आप का मान्य नियम है। अब देखो— संवृत्तिसत् सन्तान तो प्रत्यक्ष से गृहीत ही नहीं है तो विकल्प से उस का अध्यवसाय कैसे सम्भव है ? दर्शन (प्रत्यक्ष) का विषय तो क्षणिक अर्थ है जिस को आप सन्तानि कहते हैं; अतः दर्शन के बाद होनेवाला अध्यवसाय दृष्ट क्षणिक अर्थ को विषय करे यह तो ठीक है किन्तु अदृष्ट सन्तान को कैसे विषय करेगा ? जब एक प्रकार की वस्तु का ग्रहण होता है तब अन्य प्रकार की वस्तु के अध्यवसाय 25 में प्रदर्शितार्थप्रापकत्वरूप प्रामाण्य मानना न्यायोचित नहीं है। फिर भी आप उस में प्रामाण्य मान लेते हैं तो सीप में रजत के भ्रान्त अध्यवसाय में भी प्रामाण्य का स्वीकार मले में आ पड़ेगा। यदि कहा जाय — 'यहाँ तो प्रवृत्ति के बाद रजतप्राप्ति होती नहीं (सीप उपलब्ध होती है) इस लिये दिसंवाद के कारण वह ज्ञान प्रदर्शितार्थप्रापक न होने से प्रमाण नहीं होगा।' — अच्छा, तो प्रस्तुत में भी सन्तान के अध्यवसाय के बाद क्षण की प्राप्ति होती है न कि सन्तान की, अतः यहाँ 30 भी प्रदर्शितार्थप्रापकत्व रूप प्रामाण्य नहीं घट सकेगा। अर्थात् क्षणप्राप्ति करानेवाला प्रत्यक्ष सन्तानप्रापक न होने से मिथ्या बन जायेगा।

अथात्र सन्तान एव प्राप्यते, तर्हि स एव वस्तुसन् भवेद् इति न सामान्यधर्माः स्वरूपेणाऽसन्तो-
 ऽभ्युपगन्तव्याः। अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः; यदुक्तं भवद्भिः— “दर्शनेन क्षणिकाऽक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य
 विषयीकरणात् कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम् किन्तु प्रत्युताऽप्रमाणम्
 विपरीतावसायाक्रान्तत्वात्, क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणम् अनुरूपाऽध्यवसायाऽजननात्, नीलरूपे तु
 5 तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणम्”— इति तद् विरुध्यते।

किञ्च, एवंवादिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाऽक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यम् नीलादौ तु प्रामाण्यं
 प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापपत्तिः। न च क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानावसायोत्पत्तौ दर्शनस्य

✽ सन्तान वस्तुतत्त्व की सिद्धि से बौद्धमत में आपत्ति ✽

यदि कहा जाय — सन्तान के अध्यवसाय के बाद क्षण की नहीं, सन्तान की ही प्राप्ति होती
 10 है — तो सन्तान ही सद् वस्तुरूप से सिद्ध हुआ। अब आप सत्ता-द्रव्यत्वादि जातिभूत धर्मों को असत्स्वरूप
 नहीं मान सकेंगे क्योंकि अनेक सन्तानियों में अनुगत अनेकक्षणव्यापक सन्तान को सत् मानने पर
 तो अनेक सत् या द्रव्यादि पदार्थों में अनुगत सत्ता-द्रव्यत्वादि नित्य जातियों को भी वस्तुसत् मानना
 होगा। सन्तान कहो या सामान्य, कोई फर्क नहीं रहता। इस प्रकार जब अक्षणिक सन्तानादि वस्तुसत्
 पदार्थ आपने मान लिया तब कहीं पर जो आपने यह निवेदन किया है कि - “दर्शन तो न क्षणिक
 15 न अक्षणिक - बिलकुल साधारण (= शुद्ध) अर्थ को ही विषय बनाता है। अबुझ लोग यद्यपि वासनादि
 भ्रमनिमित्त से भ्रान्त हो कर उस शुद्ध क्षण में अक्षणिकत्व का आरोप कर बैठते हैं, तथापि दर्शन
 उस के अक्षणिकत्व को प्रदर्शित नहीं करता, अत एव अक्षणिकत्व के विषय में दर्शन प्रमाण नहीं
 है अपितु अप्रमाण ही है, क्योंकि दर्शन तो अक्षणिकत्व धर्म से विपरीत शुद्धता या नीलत्वादि के
 व्यवसाय में (= ग्रहणक्रिया से) व्यग्र रहता है। तो क्या क्षणिकत्व के विषय में वह प्रमाण मान
 20 लिया जाय ? नहीं, क्योंकि हमारे मत में वस्तु क्षणिक होने पर भी दर्शन के उत्तरक्षण में क्षणिकत्वरूप
 से कोई अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता। तो किस विषय में दर्शन प्रमाण है ? उत्तर है कि नीलादिक्षण
 को विषय करने के बाद दर्शन नीलादिरूप निश्चायक अध्यवसाय को उत्पन्न करता है। जिस अर्थ
 के निश्चायक अध्यवसाय को दर्शन उत्पन्न करे उसी अर्थ के विषय में दर्शन प्रमाणभूत माना जाता
 है इस नियम के अनुसार, दर्शन को नीलादिरूप विषय में प्रमाण माना जाता है।’ — ऐसा जो
 25 निवेदन किया है उस में भी विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि आप तो अब अक्षणिकत्व के बारे में
 दर्शन को प्रमाणभूत न मानते हुए भी अक्षणिक सन्तान की सिद्धि का स्वीकार करने लग गये हैं।

✽ बौद्धमतानुसार अनेकान्तवाद की सिद्धि ✽

बौद्धवादी ने यह जो कह दिया कि — ‘दर्शन क्षणिकत्व या अक्षणिकत्व के विषय में अप्रमाण
 है और नीलादि विषय में प्रमाण है’ — इस में तो सिर धुनाते रहने पर भी जैनदर्शन के अनेकान्त
 30 वाद का स्वीकार गले में आ पड़ा। दूसरी बात यह है कि दर्शन नीलादिक्षणग्राही है जब कि अध्यवसाय
 दर्शन से विपरीत सन्तानग्राही अध्यवसाय के रूप में उत्पन्न होता है इसलिये दर्शन नीलादि के विषय
 में भी प्रमाण नहीं हो सकता, जैसे मरिचि (किरण) ग्राही दर्शन के बाद उत्पन्न होनेवाले जलाध्यवसाय

प्रामाण्यं युक्तं मरिचिकास्वलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव, यतो 'यदेव मया तत्त्वतो दृष्टं तदेव प्राप्तम्' इत्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते। न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिः - इति प्राक् (पृ०४६-पं०३) प्रतिपादितम्, स्वरूपेण तु तस्याऽसत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं सम्भवति अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम्।

‡ नैयायिकमतेन प्रमाणलक्षणनिरूपणम् ‡

5

नैयायिकास्तु "अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्" [] इति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपन्नाः तज्जनकत्वं च प्रामाण्यमिति च। अथ सामग्र्याः प्रमाणत्वे साधकतमत्वमनुपपन्नम् सामग्री ह्यनेककारकस्वभावा तस्य चानेककारकसमुदाये कस्य स्वरूपेणातिशयो वक्तुं शक्येत ? तथाहि— सर्वस्मात् कारणकलापात् कार्यमुपजायमानमुपलभ्यते तदन्यतमापायेऽप्यनुपजायमानं कस्य कार्योत्पादने साधकतमत्वमावेदयतु ? न च समस्तसामग्र्याः साधकतमत्वम् अपरस्याऽसाधकतमस्याभावे तदपेक्षया साधकतमत्वस्यानुपपत्तेः असाधकतममपेक्ष्य साधकतमत्वव्यवस्थितेः। न च अनेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य का प्रामाण्य नहीं होता। प्रामाण्य की स्थापना तो 'जो मैंने देखा उसी को वास्तव में मैंने प्राप्त कर लिया' ऐसे अध्यवसाय में ही करना उचित है। क्षणिक सन्तानिस्वरूप से दृष्ट हो कर सन्तान प्राप्त होता हो ऐसा भी घटता नहीं यह पूर्व में (पृ०४६-पं०१६) दूसरे विकल्प की चर्चा में कह आये हैं, एवं स्वरूपसत् रूप से भी संतान प्राप्तिविषय नहीं है यह भी पहले (पृ०४६-पं०१२) कहा है। निष्कर्ष, न्यायबिन्दुटीकाकार धर्मोत्तर द्वारा प्रस्तुत विमर्श के अनुसार भी वास्तविकरूप से 'प्रदर्शितार्थ का प्रापक हो वह प्रमाण है' ऐसा लक्षण सम्भव नहीं है, अत एव प्रदर्शितार्थप्रापकत्वरूप संवादकत्व भी उस के मतानुसार प्रमाण का लक्षण घट नहीं सकता।

10

15

‡ नैयायिक मतानुसार सामग्री में प्रामाण्य दुर्घट ‡

नैयायिकवादी कहते हैं - अव्यभिचार असंदिग्ध बोधाबोधरूपता आदि विशेषणों से विशिष्ट ऐसी अर्थोपलब्धिकारक सामग्री प्रमाण है। प्रमाणमात्र का ऐसा लक्षण न्यायदर्शन में स्वीकृत है। एवं तथाविधउपलब्धिजनकत्व ही प्रामाण्य माना गया है। ऐसा लक्षण भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण का अर्थ है जो प्रमा के उद्भव में साधकतम हो, वह साधकतमत्व सामग्री में दुर्घट है। सामग्री में तो अनेक कारक शामिल रहते हैं, अनेक कारकों के समुदाय में कौन किस से स्वरूपतः बढिया (= सातिशय) है यह कैसे कहा जा सकता है ? कार्य किसी एक कारक से नहीं, सभी कारकों के संमिलन से उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। उन में से किसी भी एक के विरह में कार्य उत्पन्न नहीं होता, तब कार्योत्पत्ति में कौन साधकतम है यह कौन बोलेंगा ? सम्पूर्ण सामग्री को, यानी हर एक कारक को साधकतम कहना गलत है, क्योंकि जब सभी कारक साधकतम ही माना जायेगा तो असाधकतम कोई बचता ही नहीं फिर किस का व्यवच्छेद कर के किस को साधकतम कहेंगे ? कोई कारक असाधकतम हो तभी उस की अपेक्षा अन्य कारक को साधकतम कह सकते हैं अन्यथा नहीं।

30

‡ विवक्षानुसार साधकतमत्व की उपपत्ति अशक्य ‡

शंका :- कार्य यद्यपि अनेककारकजन्य होता है, फिर भी उन कारकों में किस को करण या

“विवक्षातः कारकाणि भवन्ति” [] इति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षात इति वक्तव्यम् पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तुव्यवस्थितेरयोगात्। अथ कर्म-कर्तृविलक्षणस्याऽव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य प्रमाणत्वात् यथोक्तदोषानुषङ्गः। असदेतत् अनेकसन्निधानात् कार्यस्य स्वरूपलाभे एकस्य तदुत्पत्तौ विलक्षण्याभावे साधकतमत्वानुपपत्तेः। तत्र कर्मकर्तृविलक्षण्यमपि साधकतमत्वम्।

5 अत्र चानेकपक्षानुद्भाव्य उद्घोतकराध्ययनप्रभृतिभिः साधकतमत्वं निरस्तम् ते च पक्षा ग्रन्थगौरवभयाद्ग्रेह प्रदर्शयन्ते।

“सन्निपत्यजनकत्वे पूर्वोदितदोषाभावः। तथाहि— अनेकसन्निधौ कार्यनिष्पत्तेः साधकतमत्वानुपपत्तिः, तस्मिंस्तु सति यदा नियमेन कार्यमुपजायते तदा कथं न तस्य साधकतमत्वोपपत्तिः ?” — असदेतत्,

साधकतम माना जाय यह तो दृष्टा की इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि शब्दशास्त्रीयोंने ही कहा है कि 10 'वक्ता की इच्छा से कर्तृ-करणादि कारक व्यवस्था होती है।' इस न्यायोक्ति से सिद्ध है कि अमुक ही कारक को साधकतम माना जायेगा जो प्रमाण कहा जायेगा।

समाधान :- ऐसा कथन गलत है, क्योंकि इस में तो वक्ता पुरुषों की इच्छा का महत्त्व रहा, कोई पुरुष की इच्छा किसी एक कारक को साधकतम मानने की होगी तो अन्य पुरुष की अन्य कारक को साधकतम मानने की इच्छा होगी - ऐसी स्थिति में कोई स्पष्ट निःशंक प्रमाणादिवस्तुव्यवस्था 15 शक्य नहीं रहेगी।

शंका :- जो कारक अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्ट हो कर उपलब्धि का जनक हो, किन्तु कर्म एवं कर्ता से भिन्न हो ऐसे एक (करणनाम) कारक को साधकतम यानी प्रमाण मान लेंगे। अब सभी को प्रमाण मानने की अव्यवस्था का दोष नहीं होगा।

समाधान :- यह कथन गलत है क्योंकि जब सभी कारक मिल कर ही कार्य को जन्म देते 20 हैं तब किसी एक कारक में कर्म से या कर्ता से भिन्नता का अभ्युपगम ही शक्य नहीं है, विवक्षा होने पर उस को भी कर्म या कर्ता बना सकते हैं। फलतः किसी भी प्रकार से साधकतमत्व की संगति न होने से उपरोक्त प्रमाण का लक्षण भी संगत नहीं हो सकता।

'अर्धोपलब्धि में जो साधकतम हो वह प्रमाण है' ऐसी व्याख्या के प्रति उद्घोतकर-अध्ययन आदि विद्वानों ने अनेकधा पक्ष-प्रतिपक्ष कर के 'साधकतमत्व' पदार्थ का निरसन किया है। (देखिये-न्यायसूत्र 25 प्रथमसूत्र की भूमिका में न्यायवार्तिक)। उन पक्ष-प्रतिपक्षों को ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ सन्मतित्वृत्तिकार प्रदर्शित नहीं कर रहे हैं।

✽ सन्निपत्यजनकत्व साधकतमत्व नहीं हो सकता ✽

कोई वादी कहता है — 'सन्निपत्यजनकत्व को साधकतमत्व माना जाय तो उपरोक्त अव्यवस्था आदि दोष की संभावना नहीं रहती। सन्निपत्यजनकत्व का अर्थ है - जिस के निकटतम उपस्थित 30 होने पर ही कार्य निष्पन्न हो। देखिये— जब अनेक कारणों के सन्निधान से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं तब तो किस को साधकतम कहा जाय — यह समस्या होने से किसी भी कारण में साधकतमत्व का मेल नहीं बैठेगा। दूसरी ओर शेष कारणों के रहते हुए भी कोई एक ऐसा कारण होता है जो

एवं प्रमाणत्वस्याऽव्यवस्थितिप्रसक्तेः। तथाहि— दीपादेः प्रकाशस्य सामग्र्येकदेशस्य कस्याञ्चिदवस्थायां प्रमाणत्वेनाऽभिमत्स्य सद्भावेऽपि प्रमेयाभावात् कार्याऽनिष्पत्तौ तत्सद्भावे तु तन्निष्पत्तौ तस्यापि प्रदीपवत् सन्निपत्यकारकत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिर्भवेत्। तथा प्रमातुरपि मूर्च्छाद्यवस्थायामनवधाने वाऽन्यकारकसन्निधानेऽपि कार्यानुत्पत्तौ तदवधानादिसन्निधाने तज्जन्यकार्यनिष्पत्तेः सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमत्वप्रसक्तिः।

अत्र कारकसाकल्यस्य साधकतमत्वेनाभ्युपगमात् पूर्वोक्तदोषाभावं केचिन्मन्यन्ते। तथाहि— नैकस्य 5 प्रदीपादेः सामग्र्येकदेशस्य करणता अपि तु कारकसाकल्यस्य। तदभावे कारकसाकल्याभावेनाभिमत्कार्याऽसत्त्वमिति प्रमातृ-प्रमेयसद्भावे कारकसाकल्यस्योत्पत्तौ प्रमितिलक्षणस्य कार्यस्य भाव एव। अथ मुख्यप्रमातृ-

अन्त में ही उपस्थित होता है, उस की उपस्थिति के विलम्ब से कार्योत्पत्ति में विलम्ब होता है, जब वह अतिनिकटरूप से उपस्थित हो जाता है तब नियमतः कार्योत्पत्ति हो जाती है। तब क्यों उस में साधकतमत्व न माना जाय ?' -

प्रतिवादी कहता है यह गलत है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमाणत्व की व्यवस्था तूट पड़ेगी। कारण देखिये— प्रत्यक्ष की कारणसामग्री सब उपस्थित है किन्तु पदार्थ के ऊपर दीपक का प्रकाश नहीं है तब तक चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, जब प्रकाश अति निकट आ गया तो तुरंत चाक्षुष प्रत्यक्ष हो गया, इसलिये आप उस को साधकतम मान कर प्रमाण घोषित करेंगे; किन्तु मान लो कि प्रकाश के आने पर खुद (मक्खी आदि) विषय ही कहीं गुम हो गया, चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो पाया, अचानक 15 (मक्खी) विषय वहाँ आ गया, चाक्षुष प्रत्यक्ष हो गया— इस स्थिति में प्रदीप या प्रकाश की तरह वह विषय भी सन्निपत्यजनक हो गया- साधकतम बन गया, इस लिये विषय को भी यहाँ प्रमाण मानने की आपत्ति आ पड़ेगी। एवं कभी चाक्षुष प्रत्यक्ष की सब सामग्री उपस्थित है किन्तु बेहोशी या व्याषङ्ग आदि के कारण ज्ञाता का (प्रमाता का) वहाँ ध्यान (अवधान) नहीं है, तब अन्य कारक होने पर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, अचानक ज्ञाता होश में आ गया, व्याषङ्ग चला गया, तब 20 चाक्षुष प्रत्यक्ष का उद्भव हो जाता है— ऐसी स्थिति में प्रमाता को या प्रमाता के अवधानादि को भी सन्निपत्य जनक होने से साधकतम मानने का अनिष्ट प्रसङ्ग होगा।

✽ कारक साकल्य में साधकतमत्व का उपपादन - प्रयास ✽

यहाँ कुछ विद्वानों का उत्तर ऐसा है :-

कारकसाकल्य ही साधकतमत्व है — इस मान्यता में पूर्वोक्त किसी भी दोष को अवकाश नहीं 25 है। देखिये— प्रत्यक्षादि कार्य के प्रति सामग्री अन्तर्गत कोई एक दीपक आदि को नहीं, किन्तु उस से मिलित कारकसाकल्य को ही करण मानना चाहिए। प्रदीप की अनुपस्थिति में यह कारकसाकल्य ही खंडित हो जाता है फलतः अभिमत् प्रत्यक्षादिरूप कार्य जन्म नहीं लेता। ऐसे ही, अवधानयुक्त प्रमाता और विषयवस्तु रूप प्रमेय के होने पर प्रमाता के प्रयत्न से शेष कारकसाकल्य अखंड बन जाता है और प्रत्यक्षादि प्रमारूप कार्य उदित होता है। यदि कहें कि — “प्रमाता और प्रमेय दो तो 30 मुख्य हैं और उन के होने पर प्रमाता के प्रयत्नों से शेष कारक भी जूट जाने से बात तो आखिर यही सामने आती है जो सन्निपत्यजनकता के लिये नियम के रूप में कही गयी है। सन्निपत्यजनकता

प्रमेयसद्भावेऽपि पूर्वोदितस्य नियमस्य तुल्यता। न, कारकसाकल्यभावाभावाभिन्नत्वात् तन्मुख्यगौणभावस्य। तथाहि— कथंचित् कारकवैकल्ये तयोः सत्त्वेऽपि गौणता तत्साकल्ये कुतश्चिद् निमित्तान्तरात् यथोक्त-प्रमितिलक्षणकार्यनिष्पत्तावगौणता, प्रमातृ-प्रमेययोः तयोश्चानुपपत्तौ साकल्यस्याऽसत्त्वम् अतः कारकसाकल्ये कार्यस्यावश्यंभाव इति तस्यैव साधकतमत्वम्।

- 5 अनेककारकसन्निधाने उपजायमानोऽतिशयः सन्निपत्यजननं साधकतमत्वं यद्युच्येत तदा न कश्चिद् दोषः। तथाहि— सामग्र्यैकदेशकारकसद्भावेऽपि प्रमितिकार्यस्यानुत्पत्तेरेकदेशस्य न प्रमाणता, सामग्रीसद्भावे त्ववश्यंतया विशिष्टप्रमितित्वरूपोपपत्तेः एकदेशतया तस्या एव सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमता। न चात्र किमपेक्षया तस्याः साधकतमत्वम् अन्यस्मिन्नसाधकतमे साधके साधकतरे वा सति तदपेक्षया तस्याः

- के बारे में कहा गया था कि सन्निपत्यजनक के उपस्थित होने पर नियमतः कार्य उत्पन्न होता है — ऐसा ही नियम प्रस्तुत में मुख्य प्रमाता-प्रमेय के लिये कहा जा रहा है। — तो यह ठीक नहीं है, प्रमाता या प्रमेय की गौण-मुख्यता स्वतः नहीं होती किंतु कारकसाकल्य के अभाव एवं भाव के ऊपर अवलम्बित होती है। देख लीजिए — (प्रमाता कुछ कारणवश किसी कारक को नहीं जुटा पाया तब) प्रमाता और प्रमेय के रहते हुए भी कर्मवश कोई कारक उपस्थित न रहा तब वही कारक मुख्य बन जायेगा, प्रमाता-प्रमेय गौण बन जायेंगे। मान लो किसी अन्य निमित्त से वह कारक प्रारम्भ से ही उपस्थित है तब तो प्रत्यक्षादि प्रमात्मक बोधकार्य उत्पन्न हो कर ही रहेगा, वहाँ प्रमाता और प्रमेय गौण नहीं बनेंगे। इस बात में और सन्निपत्यजनकता के पूर्वोदित नियम में इतना फर्क हो जाता है। निष्कर्ष यही है कि प्रमेय एवं प्रमाता के न रहने पर कैसे भी कारकसाकल्य नहीं बन पाता, उन के होते हुए ही कारक एकजुट हो जाते हैं, कारकसाकल्य कैसे भी होना चाहिये, उस के बिना कार्य नहीं होता, इसलिये कारकसाकल्य को साधकतम कह सकते हैं।

- 20 * संनिपत्यजनन एक अतिशय, वही साधकतमत्व *

- सन्निपत्यजनकतावादी को यदि सन्निपत्यजननरूप अतिशय — जो कि अनेक (सर्व) कारकों के संनिहित रहने पर ही प्रादुर्भूत होता है — साधकतम अभिमत हो तो कोई दोष नहीं होगा। देखिये— सामग्री का एक एक अवयव पृथक् पृथक् रहते हुए भी प्रमारूप कार्य उत्पन्न नहीं होता, अत एव एक एक अवयव को प्रमाण नहीं मान सकेंगे। किन्तु सामग्रीरूप में सभी अवयव मिल कर कार्य करेंगे तो अवश्य विशिष्ट प्रमा का उद्भव होगा। इसी लिये एक एक कारक के बदले सामग्री में ही सन्निपत्य जननातिशय रहेगा, वही साधकतमत्व कहा जा सकता है।

* सामग्री में साधकतमत्व की उपपत्ति *

- सामग्री पक्ष में पहले जो कहा था कि - “सामग्री को किस की अपेक्षा से साधकतम कहेंगे ? सामग्री से अतिरिक्त कोई असाधकतम हो, या साधक किं वा साधकतर हो तभी उन की अपेक्षा सामग्री को साधकतम कहना उचित हो सकता है, ऐसा तो कुछ है नहीं तब सामग्री साधकतम कैसे ?” — ऐसा प्रश्न अनुचित है क्योंकि सामग्री को प्रमाण मानने पर भी उस के एक एक अवयव (कारक) की जनकता तो अक्षुण्ण ही रहती हैं (क्योंकि उन सभी के मिलने से ही सामग्री बनती है)। सामग्री

साधकतमत्वमुपपन्नमिति प्रेरणीयम् यतो न सामग्र्यन्तर्गतानामेकदेशानां जनकत्वव्याघातः तेषामेव धर्ममात्रत्वात् सामग्र्यस्येति, जनकैकदेशापेक्षया तत्सामग्र्यस्य साधकतमत्वात् प्रमाणत्वमुपपन्नमेव।

एतेन यत्परैः प्रेरितम्— “किल सामग्री करणम् तच्च कर्तृकर्मापेक्षम् सामग्रीजनकत्वेन तयोर्व्यापृतेरर्थान्तरभूतयोरभावात् किमपेक्ष्य साधकतमत्वमासादयेद्” [] इति — तदपि निरस्तम्; यतः कर्तृ-कर्मणोः सामग्रीजनकत्वेन स्थितयोः कथमसत्त्वम् ? तत्सद्भावे च तदपेक्षा कथं न तस्याः करणता ? 5 अथापि स्यात् — तस्यास्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातः अन्यतः सिद्धस्य करणत्वसद्भावात्। असदेतत्— यतो दृश्यत एव प्रदीपादेस्तज्जन्यस्यापि करणत्वसद्भाव इति न कश्चिद्व्याघातस्तज्जन्यत्व-करणत्वयोः। ततोऽव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री बोधाबोधस्वभावा तदेकदेशभूतकारणजन्या प्रमाणम्। वैशेषिका अयेतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपादयन्ति। एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषणविशिष्टोपलब्धिः

या समग्रता उन अवयवों का ही धर्मविशेष है। अतः उन एक एक अवयवों को जनकता होते हुए 10 उन्हें साधक या साधकतर मानेंगे और उन की अपेक्षा सामग्र्य को साधकतम मानने में कोई आपत्ति नहीं है। निष्कर्ष, सामग्री का प्रामाण्य सुघटित है।

* सामग्री के साधकतमत्व के प्रति प्रश्न-समाधान *

सामग्री में उपरोक्त प्रकार से प्रमाणत्व या साधकतमत्व प्रसिद्ध है तब दूसरों के एक प्रश्न का भी समाधान मिल जाता है। प्रश्न-समाधान देखिये— 15

प्रश्न :- हालाँकि सामग्री करण है किन्तु करण तो कर्ता-कर्म सापेक्ष ही होता है। किन्तु समस्या यह है कि कर्ता-कर्म सामग्री के जनक होते हैं, इसलिये सामग्री कर्ता-कर्म का व्यापाररूप है। व्यापार व्यापारी से पृथक् नहीं होता, अतः सामग्री से अतिरिक्त यहाँ कोई कर्ता-कर्म शेष नहीं बचते। तब कर्ता-कर्म सापेक्ष करण भी छू हो गया। तब किस की अपेक्षा रख कर सामग्री को साधकतम कहेंगे ?

समाधान :- कर्ता-कर्म सामग्री के जनक है, सामग्री कर्ताकर्मजन्य है यह तो ठीक है किन्तु इतनेमात्र 20 से कर्ता-कर्म असत् कैसे माने जाय ? व्यापार से व्यापारी पृथक् नहीं होता इत्यादि वाङ्मात्र से कर्ता-कर्म का अभाव दिखाना अयुक्त है। कर्ता और कर्म सत् हैं, क्यों उन की अपेक्षा सामग्री की करणता न मानी जाय ? यदि कहा जाय — ‘सामग्री तो कर्ता-कर्म जन्य है, जो जिस से जन्य हो वह उस का करण नहीं होता, क्यों कि करण तो कर्ता-कर्म निरपेक्ष अन्य किसी उपाय से ही सिद्ध रहता है। उदा० — शिल्पी के सब लोहे के औजार शिल्पीनिर्मित नहीं होते, वे तो लुहार से सिद्ध होते 25 हैं।’ — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ‘करण अवश्य अन्यतः सिद्ध हो’ ऐसा कोई नियम नहीं है। आदमी जब स्वयं दीप जला कर प्रकाश कर के लेखनादि करता है तब लेखनकर्ताजन्य दीपादि भी करण बनते ही हैं। इसलिये सामग्री में कर्तृ-कर्मजन्यत्व एवं कर्तृ-कर्मसापेक्ष करणत्व, दोनों के साथ रहने में कोई बाधा नहीं है।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि — 30

अव्यभिचारादि विशेषणों से विशिष्ट अर्थापलब्धिजनक अपने ही एक एक देशभूत कारकों से उत्पन्न होने वाली, चाहे बोधरूप हो या जडस्वरूप हो, ऐसी सामग्री ही प्रमाण है।

प्रमाणस्य सामान्यलक्षणम् तथा स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजन्यत्वादिविशेषणविशेषिता
सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणम् इति स्थितं सामग्री प्रमाणमिति ।

॥ सामग्रीप्रामाण्यनिषेधः कारकसाकल्ये विकल्प-चतुष्कम् ॥

अत्र प्रतिविधीयते— यत् तावदुक्तम् 'कारकसाकल्यस्य करणत्वेनाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभावः' इति
5 - अत्र वक्तव्यम्— किमिदं कारकसाकल्यम् ? किं ^Aसकलान्येव कारकाणि ^Bआहोस्वित् तद्धर्मः, ^Cउत
तत्कार्यम्, ^Dकिंवा पदार्थान्तरम् इति पक्षाः ।

^Aतत्र न तावत् सकलान्येव कारकाणि साकल्यम् कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः तत्सद्भावे
वा नान्येषां कर्तृकर्मरूपता सकलकारकव्यतिरेकेणान्येषामभावात् भावे वा न कारकसाकल्यम् । अथ तेषामेव
कर्तृकर्मरूपता । न, तेषां करणत्वाभ्युपगमात्, न च कर्तृकर्मरूपाणामपि तेषां करणत्वम् तेषां परस्परविरोधात् ।
10 तथाहि— ज्ञानचिकीर्षाधारता स्वातन्त्र्यं वा कर्तृता, निर्वर्त्यादिधर्मयोगिता कर्मत्वम्, प्रधानक्रियानाधारत्वम्

न्यायदर्शन की तरह वैशेषिक दर्शन में भी प्रमाणसामान्य का यही लक्षण कहा गया है। यदि
वैशेषिकदर्शन में जड सामग्री को प्रमाण मानने में झिझक हो तो ऐसा कहिये कि, 9- तथाविध सामग्री
से जन्य अर्थोपलब्धि जब अव्यभिचारादि विशेषणों से विशिष्ट हो तब वही प्रमाणसामान्य का लक्षण
है, क्योंकि वह अपने कारणों को प्रमाणाभासों से व्यवच्छिन्न करती है, पृथक् कर दिखाती है। २
15 - वही उपलब्धि अगर इन्द्रियजन्यत्वादिविशेषणों से विशिष्ट हो तब प्रमाणविशेष (प्रत्यक्ष) का लक्षण
बन जाती है। आखिर बात यही सिद्ध होती है कि सामग्री ही प्रमाण है।

✽ सामग्री की प्रमाणता का निषेध, कारकसाकल्य के चार विकल्प ✽

कारकसाकल्य की अब प्रतिक्रिया की जाती है। यह जो कहा गया कि — 'कारकसाकल्य को
कारण मानने में पूर्वोक्त कोई दोष नहीं है।' उस के सामने ये विकल्प प्रश्न हैं — क्या है यह करणात्मक
20 कारकसाकल्य ? ^Aसभी कारक या ^Bउन कारकों का कोई धर्म ? ^Cया उन का कोई कार्य ^Dअथवा
कोई अन्य ही पदार्थ ? ये चार विकल्पप्रश्न हैं।

✽ A सकलकारकरूप साकल्य दुर्घट ✽

(A) पहला विकल्प, सकलकारकरूप साकल्य कारणरूप से घटता नहीं है। कर्ता-कर्म को छोड़
कर उन में करणत्व ही घट नहीं सकता। अर्थात् जिस कार्य के प्रति कोई कर्ता या कर्म नहीं होगा
25 उस कार्य का कोई करण भी नहीं हो सकता। यदि कहेंगे कि कर्ता और कर्म भी मानेंगे तो सवाल
यह होगा कि किस को कर्ता और कर्म मानेंगे ? सकल कारकों के समुदाय से अतिरिक्त तो कोई
कर्म या कर्ता नहीं होगा। यदि कारकसमुदायबाह्य व्यक्ति को भी यहाँ कर्म और कर्ता रूप में स्वीकार
लेंगे तो कारक-साकल्य कहाँ रहा ? अब तो कारकवैकल्य हो गया, चूँकि कर्ता-कर्म तो कारक समुदाय
से बाह्य पृथक्भूत है। अब बोलेंगे कि — 'समुदित कारक ही स्वयं कर्ता और कर्मरूप मान लेंगे-
30 कारकों से बहिर्भूत नहीं मानेंगे, अतः कारक वैकल्य नहीं होगा।' - तो यह भी असंभव है, क्योंकि
आप तो समुदित कारकों को 'करण' मानते हैं। यदि बोलेंगे - 'करण भी मानेंगे एवं कर्ता-कर्म भी
मान लेंगे - क्या बाध है ?' - विरोध ही बाध है, एक ही समुदाय में पूर्णतया कर्तृत्व-कर्मत्व और

करणत्वम् एतानि परस्परविरुद्धानि कथमेकत्र सम्भवन्ति ? अथापरापरनिमित्तभेदादेकत्र कर्तृ-कर्म-करणरूपताया अविरोधः। ननु तान्यपि निमित्तानि किं सकलकारकेभ्यो ^aव्यतिरिक्तानि उताऽ^bव्यतिरिक्तानीति वाच्यम्। ^bयद्यव्यतिरिक्तानीति पक्षः तदा तदभेदे तेषामप्यभेदः तेषां वा भेदे कारकस्यापि भेदः अन्यथाऽव्यतिरेकाऽसिद्धेः। ^aअथ व्यतिरिक्तानि तदा सम्बन्धाऽसिद्धिः। न च समवायलक्षणः सम्बन्धः, तस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्य-मानत्वाच्च। न च एकान्तभेदे विशेषण-विशेष्यभावादिकोऽपि सम्बन्धः कश्चित् संभवति, तत्रापि सम्ब- 5
न्धान्तरकल्पनातोऽनवस्थाप्रसक्तेः। न च तस्य सम्बन्धरूपत्वात् सम्बन्धान्तरमन्तरेणापि सम्बद्धत्वान्नानवस्था, करणत्व तीनों का समावेश विरुद्ध है। कैसे यह सुनिये - कर्ता उसे कहते हैं जो ज्ञान एवं चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा) का आधार हो। अथवा कर्ता वह है जो स्वतन्त्र हो। अर्थात् अन्य कारकों से स्वयं प्रेरित न होता हुआ स्वयं ही अन्य कारकों को कार्यान्वित करनेवाला हो। कर्म उस को कहते हैं - कर्ता के प्रयत्न से जो जन्म पावे, या विकृत (रूपान्तरित) होवे या जो प्राप्त हो। (निवर्त्य 10
= घट बनाता है, विकार्य = चावल पकाता है, प्राप्य = गाँव जा रहा है।) करण उस को कहते हैं जो प्रधान क्रिया का आधार न हो। (उदा० कुठार से काष्ठ में छेदन क्रिया होती है वह प्रधान क्रिया है, उस का आश्रय काष्ठ है न कि कुठार।) यहाँ स्पष्ट है कि कर्तृत्व-कर्मत्व और करणत्व परस्पर विरुद्ध हैं वह एक ही कारकसमुदाय में कैसे समाविष्ट रहेंगे ?

✽ कर्ता-कर्म-करण में एकान्त भेदाभेद दुर्घट ✽

15

प्रश्न :- जैसे अग्रभाग एवं पृष्ठ भाग रूप निमित्तों के भेद से एक ही मुहर में परस्पर विरुद्ध राजाछाप-रानीछाप दोनों का समावेश माना जाता है ऐसे ही स्वातन्त्र्य आदि पृथक् पृथक् निमित्तों के भेद से एक ही कारकसमुदाय कर्ता-कर्म-करण मानने में क्या बाध है ?

उत्तर :- एकान्त भेद या एकान्त अभेद पक्ष में बाध ही है। कहिये - वे निमित्त उन सकल कारकों से ^aभिन्न है या ^bअभिन्न ? ^bयदि अभिन्न कहेंगे तो निमित्तों के अन्योन्य अभेद से कारकों 20 में भी अभेद प्रसक्त होने से साकल्य किन का कहेंगे ? यदि उन निमित्तों को अन्योन्य भिन्न मानेंगे तो कारक भी भिन्न भिन्न होने से, एक समुदाय जैसा कुछ भी न रहा, तब कर्ता आदि तीनों का एक में समावेश कहाँ होगा ? निमित्तों के अन्योन्य भेद होने पर भी कारकों का भेद नहीं मानेंगे तो निमित्त एवं कारकों का अव्यतिरेक = अभेद पक्ष असत् बन कर रहेगा। ^aयदि प्रथम पक्ष में, कारकों एवं निमित्तों का भेद मानेंगे तो निमित्तों का कारकों के साथ कोई सम्बन्ध न रहने से कर्ता 25 आदि कुछ नहीं बनेगा। समवाय सम्बन्ध को मान कर भी समाधान नहीं बनेगा। क्योंकि पहले उस का खंडन हो चुका है, आगे भी किया जायेगा।

एकान्त भेद पक्ष में तो विशेषण-विशेष्य भाव भी कहीं नहीं घटता, क्योंकि विशेषण-विशेष्य भाव के लिये भी और एक सम्बन्ध की कल्पना करनी ही पड़ेगी, उस सम्बन्ध के सम्बन्ध की कल्पना भी करनी ही पड़ेगी, इस तरह अन्य अन्य सम्बन्ध की कल्पना का अन्त नहीं होगा। यदि कहें 30 कि - 'प्रथम कल्पित सम्बन्ध ही अन्य सम्बन्ध के विना भी अपना सम्बन्ध स्वयं कर लेगा - अतः नयी नयी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी' - यह भी गलत है, क्योंकि एकान्तभेद पक्ष में जो एक व्यक्ति के सम्बन्धरूप में काम करता है वह अन्य व्यक्ति के (या अपने) सम्बन्ध के रूप में काम

एकान्तभेदे सम्बन्धरूपताया एवाऽयोगात्। कथंचिन्निमित्तानां कारकेभ्योऽभेदे अनेकान्तवादापत्तिः। तत्र सकलकारणानि साकल्यम्।

५ अथ कारणधर्मः साकल्यम्। ननु सोऽपि ^अयदि कारकाऽव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रम् कारकमात्रं वा। अथ ^बव्यतिरिक्तस्तदा 'सकलकारकधर्मः साकल्यम्' इति सम्बन्धाऽसिद्धिः, सम्बन्धेऽपि यदि सर्व- कारणेषु युगपदसौ सम्बध्यते तदा बहुत्वसंख्यातत्पृथक्त्व-संयोग-विभाग-सामान्यानामन्यतमस्वरूपाऽऽपत्तिस्तस्येति तदूषणेन तस्य दूषितत्वात् न साधकतमत्वमुपपत्तिमत्।

८ अथ तत्कार्यं साकल्यम्। तदप्ययुक्तम्— नित्यानां साकल्यजननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तेः। ततश्चैकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः तज्जनकस्वभावस्य कारणेषु पूर्वोत्तरकालभाविनस्तदेव भावात्। तथाहि— यदा यज्जनकमस्ति तत् तदोत्पत्तिमत् यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम्, अस्ति च

10 नहीं कर सकेगा क्योंकि उन में भी एकान्त भेद है।

यदि ऐसा कहा जाय — 'निमित्तों का कारकों से सर्वथा भेद नहीं है, कथंचिद् अभेद भी जरूर है' — तब तो अनेकान्तवाद गले में आ पड़ेगा।

निष्कर्ष :- ^असकल कारणों का साकल्य असंगत है।

✽ ^बकारकसाकल्य कारकधर्मरूप नहीं है ✽

15 सकल कारक = साकल्य यह पहला पक्ष निरस्त हो गया। ^बअब दूसरा पक्ष है कारणों का धर्म है कारकसाकल्य। पूर्ववत् इस पक्ष में भेद-अभेद विकल्पों की असंगति आयेगी। ^अयदि वह धर्म कारणों से सर्वथा अभिन्न होगा तब या तो एकमात्र धर्म अस्तित्व में रहेगा या तो एकमात्र कारक ही अस्तित्व में होगा, कारक और उन का धर्म ऐसा द्वैत नहीं रहेगा। ^बयदि दूसरा विकल्प सर्वथा भेद का मान लेंगे तो 'सकल कारकों का धर्म = साकल्य' इस वाक्य में षष्ठी विभक्ति के लिये कोई सम्बन्ध चाहिये जो कि सिद्ध नहीं है। यदि किसी सम्बन्ध को सिद्ध कर लेंगे तो उस को कैसा मानेंगे ? क्या वह एक होता हुआ भी एक साथ सभी कारणों से जुड़ेगा ? हाँ। तब तो वह सम्बन्ध बहुत्वसंख्या आदि पाँच पदार्थों में से कोई एक या उन के जैसा ही होगा। बहुत्व संख्या, तत्पृथक्त्व, संयोग, विभाग और जाति ये पाँच पदार्थ ऐसे ही हैं जो एक होते हुए भी अनेक आश्रयों के साथ जुड़े रहते हैं। फलितार्थ यह है कि बहुत्व आदि पदार्थों की सिद्धि के ऊपर जो दूषण लगे 25 हुए हैं वे सब दूषण प्रस्तुत में इस कारणधर्म के ऊपर भी लग जायेंगे, वह धर्म भी दूषित हो कर रहेगा — कुछ काम का न होगा।

निष्कर्ष :- कारकधर्मरूप साकल्य की किसी भी रूप में संगति नहीं होगी।

✽ ^ककारक साकल्य कारकों का कार्य नहीं है ✽

८ तीसरे विकल्प में, साकल्य को कारकों का कार्य मानना अयुक्त है। नित्य कारकों का साकल्योत्पाद 30 स्वभाव सदा अक्षुण्ण होने से सर्वदा सभी साकल्यों का उद्भाव जारी रहेगा। उसका नतीजा यह होगा कि उस साकल्य से किसी एक प्रमाण की उत्पत्ति के साथ साथ उन से उत्पाद्य सभी प्रमाणों की एक साथ उत्पत्ति गले में आ पड़ेगी। कारण, पूर्वोत्तर सर्वकालभावि साकल्यजनकस्वभाव उन कारकों

पूर्वोत्तरकालभावितानां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमतं जनकमात्मादिकं कारणमिति कथं न तदैव सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः ? अथ आत्मादिके सत्यपि तदा तानि न भवन्ति न तर्हि तत् तत्कारणम् नापि तानि तत्कार्याणीति सकृदपि तानि ततो न भवेयुरिति सकलं जगत् प्रमाणविकलमापद्येत । न च, आत्मादिके तत्करणसमर्थे सत्यपि स्वयमेव यथाकालं तानि भवन्ति — इति वक्तव्यम् तेषां तत्कार्यताऽभावप्रसक्तेः । तस्मिन् सत्यपि तदाऽभावात् स्वयमेवान्यदा च भावात् । न च स्वकालेऽपि कारणे सत्येव भवन्तीति 5 तत्कार्यता, गगनादिकार्यताप्रसक्तेः — गगनादावपि सत्येव तेषां भावात् । न च गगनादेरपि तत् प्रति कारणत्वस्येष्टेर्नायं दोषः, प्रमितिलक्षणस्य तत्फलस्यापि व्योमादिजन्यतया आत्माऽनात्मविभागाभावप्रसक्तेः ।

में उस समय में भी अक्षुण्ण है। देखिये — जिस काल में जिस का उत्पाद उपस्थित रहेगा उस काल में उस की उत्पत्ति होती है, उदा० तत्कालीन प्रमाण का कारण (साकल्य) उस काल में संनिहित रहने पर उस प्रमाण की उत्पत्ति उस काल में होती है। वैसे ही, पूर्वोत्तरकाल में (क्रमशः) उत्पन्न माने 10 जानेवाले सभी प्रमाणों का उत्पादक आत्मादि कारण, जो कि नित्य माने गये हैं, जब जिस वक्त मौजूद है तब क्रमिकता को छोड़ कर वे सब प्रमाण जो कि उन से उत्पन्न होने वाले हैं, एक साथ क्यों उत्पन्न नहीं होंगे ? नित्य आत्मादि के संनिहित होते हुए भी वे सभी प्रमाण उत्पन्न नहीं होते हैं तो मानना पड़ेगा कि नित्य आत्मादि उन के उत्पादक नहीं है, वे प्रमाण भी उन आत्मादि के कार्यभूत नहीं है। फलतः, नित्य आत्मादि से एक बार भी एक भी प्रमाण की उत्पत्ति न होने से सारा जगत् 15 प्रमाणशून्य बन जायेगा।

✽ नित्य कारणों से क्रमिक कार्योत्पत्ति दुर्घट ✽

आशंका :- नित्य आत्मादि कारण प्रमाणोत्पादन के लिये समर्थ ही है, फिर भी कार्यभूत प्रमाणों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे पूर्वोत्तर क्रम से ही उत्पन्न होते हैं, एकसाथ नहीं।

उत्तर :- ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि कारण के संनिहित रहने पर भी जब वे प्रमाण एक 20 साथ उत्पन्न नहीं होते हैं तब अन्वय व्यभिचार दोष के जरिये उन प्रमाणों में नित्यआत्मादि के कार्यत्व का अभाव ही प्रसक्त होगा, क्योंकि कारणभूत आत्मादि के होने पर भी विवक्षित काल में वे कार्य नहीं होते और किसी भी काल में स्वयमेव अपनी मर्जी से उत्पन्न हो जाते हैं।

आशंका :- अपनी मर्जी से नहीं उत्पन्न होते, जब कभी उत्पन्न होते हैं तब नित्य आत्मादि के संनिहित रहते हुए ही उत्पन्न होते हैं, अत एव उन में आत्मादिजन्यत्व का अभाव नहीं होगा। 25

उत्तर :- यह कहना गलत है, क्योंकि अब गगनादिजन्यत्व भी प्रमाणों में प्रसक्त होगा। कारण यह कि नित्य गगनादि के संनिहित रहने पर ही उन प्रमाणों का जन्म होता है। यदि कहें कि — 'गगनादि को भी उन प्रमाणों के कारण मान लेते हैं, इष्टापत्ति है, कोई दोष नहीं।' — तो यह भी असंगत है, क्योंकि इस तरह प्रमाणफलभूत प्रमिति भी गगनादिजन्य ही मान लेना होगा, इस स्थिति में आत्मादि को कारण कहो या गगनादि को, कुछ भेद न होने से आत्मादि और गगनादि 30 का भेद, यानी आत्मा-अनात्मा का भेद ही लुप्त हो जायेगा।

अथ यत्र प्रमितिः समवेता स एव आत्मा न व्योमादिरिति न तद्विभागाभावः। ननु 'समवेता' इति कोर्थः ? 'समवायेन सम्बद्धा' इति चेत् ? ननु तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन व्योमादावपि प्रमितेः सम्बन्धात् तत्परिहारेणात्मनो विभागः। न च समवायाऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात्रायं दोषः, समवायस्याभावप्रसक्तेः। अथ यदा यत्र यथा यद् भवति तदा तत्र तथा तदात्मादिकं कर्तुं समर्थमिति नैकदा सकलत-
 5 दुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः। न, स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदाऽयोगात्, अन्यथा दृश्यपृथिव्यादिमहाभूतकार्यनानात्वस्य कारणं किमदृष्टं पृथिवीपरमाण्वादिचतुर्विधमभ्युपेयते ?, एकमेवनंशं नित्यं सर्वगं सर्वोत्पत्तिमतां समवायिकारणमभ्युपगम्यताम्।

✽ आत्मा-गगनादिभेद के लोप का संकट तदवस्थ ✽

पूर्वपक्षी :- आत्मा एवं गगनादि का भेद लुप्त नहीं होगा, क्योंकि प्रमितिरूप फल जिस में समवेत
 10 होता है वह आत्मा है, जिस में समवेत नहीं होता वह गगनादि अनात्मा है।

उत्तरपक्षी :- 'समवेत' का क्या अर्थ है ? 'समवाय से सम्बद्ध' ऐसा कहने पर आत्मा का अनात्मा से विभाग अशक्य है क्योंकि समवाय को आप एक, नित्य एवं सर्वगत (सर्वसम्बद्ध) मानते हैं अतः आत्मा की तरह गगनादि से भी प्रमिति समवाय से सम्बद्ध रहेगी, गगनादि का परिहार नहीं करेगी। यदि कहें - 'समवाय तो एक ही है, किन्तु 'समवायी' गगन या आत्मा भिन्न भिन्न है इस लिये
 15 कोई विभागलोप का दोष नहीं है।' - ऐसा कहने पर तो समवाय की हस्ती ही मिट जायेगी, क्योंकि समवाय का योगदान न होने पर भी प्रमिति का एवं शब्द का समवायी (क्रमशः) आत्मा एवं गगनादि स्वतः ही आपने भिन्न मान लिये हैं फिर समवाय की कल्पना आधारहीन ही बन जायेगी।

✽ सामर्थ्यभेद के बिना कालभेद अशक्य ✽

पूर्वपक्ष :- जो भी कार्य जैसे भी जहाँ जिस काल में उत्पन्न होता है, आत्मादि कारण भी वैसे
 20 वहाँ उसी काल में उस कार्य करने में समर्थ रहता है। ऐसा मानने पर अब आत्मादिजन्य सभी प्रमाणों की उत्पत्ति एक साथ हो जाने का अतिप्रसंग दूर हो जाता है। सभी काल में आत्मादि कारण स्वकार्य करने में समर्थ नहीं होते।

उत्तरपक्ष :- कार्यात्पत्ति में इस प्रकार भिन्नकालीनता का समर्थन तभी सम्भव है जब आत्मादि कारणों में स्वभावतः सामर्थ्यभेद माना जाय। जिस काल में वह कार्य करने को समर्थ है उस काल
 25 में उस में स्वाभाविक तत्कार्यसामर्थ्य मानना होगा, जिस काल में वह उस कार्य को करने में असमर्थ है उस काल में आत्मादि में उस कार्य के स्वाभाविक सामर्थ्य का अभाव, उस कार्य को न करनेवाला सामर्थ्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न समर्थ-असमर्थ स्वभाव मान्य रखना होगा, तभी कार्यों में कालभेद संगत होगा। यदि आप सामर्थ्यभेद बगैर ही स्वतः कालभेद मान लेंगे तो पृथ्वी-जल-तेज-वायु के अतीन्द्रिय अदृश्य चतुर्विध परमाणुओं की कल्पना भी व्यर्थ ठहरेगी क्योंकि
 30 परमाणुभेद विना भी दृश्य पृथ्वी-जलादि चार महाभूतात्मक कार्यों का भेद आप की उक्त मान्यता के अनुसार स्वतः ही हो जायेगा। आगे चल कर आप सभी विविध उत्पत्तिशील कार्यों की उत्पत्ति के लिये एक, नित्य, निरंश, सर्वव्यापक समवायिकारण को ही मान लेंगे तो चल जायेगा, कार्यों का

अथ कारणजातिभेदमन्तरेण न कार्यभेद उपपद्यते— तर्हि कारणशक्तिभेदमन्तरेणापि न कार्यभेद उपपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अथ यथा शक्त्यैकमनेकाः शक्तीर्विभक्ति — तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तेः — तथैव तद् अनेकं कार्यं विधास्यतीति न शक्तिभेदपरिकल्पना। असदेतत्— यतो न जैनस्यायमभ्युपगमः यदुत् भिन्नाः शक्तीः कयाचित् प्रत्यासत्तिलक्षणया शक्त्या एकः कश्चिद्धारयतीति, किन्तु तत् तदात्मकम् तदपि तथाविधं न कस्याश्चित् शक्तेः अपि तु स्वकारणवशात्। न चैकस्यानेकात्मकत्वमदृष्टमेव परिकल्प्यते 5 अनेकरूपाद्यात्मकस्यैकस्य पटादेः प्रमाणतः प्रतिपत्तेः, अन्यथा गुण-गुणिभाव एव न भवेत्, समवायस्य तन्निमित्तस्याभावात्। ततो नित्यानि चेत् सकलकारणानि साकल्यजननस्वभावानि, सकलकालभाविसाकल्यस्य तदैवोत्पत्तिप्रसक्तिः। न चेत् तज्जननस्वभावानि नैकदापि तदुत्पत्तिः अतज्जननस्वभावात् सकृदपि तस्यानुत्पत्तेः।

भेद तो कारणभेद के बिना ही स्वतः हो जायेगा।

✽ जातिभेद के बदले शक्तिभेद से कार्यभेद क्यों नहीं ? ✽

10

पूर्वपक्ष :- एक समवायिकारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति मानने पर कार्यों का वैविध्य लुप्त हो जाने के डर से हम मानते हैं कि कारण भी भिन्न भिन्न जातिवाले होने चाहिये— कारणों के जाति भेद के बिना कार्यों का वैविध्य दुर्घट है।

उत्तरपक्ष :- कार्यों के कालादिभेद की संगति के लिये पहले हमने कहा है कि सामर्थ्य (शक्ति) भेद के बिना वह दुर्घट है। अब आपने कारणों के जातिभेद का नाम लिया, लेकिन जातिभेद से 15 अनेक कारणों को मानने के बजाय एक (ही समवायि)कारण में शक्तिभेद मान कर तत्प्रयुक्त कार्यभेद मानना बहुत ही अच्छा है। वही मानना चाहिये।

पूर्वपक्ष :- शक्तिभेद मानने की भी जरूर नहीं है। एक व्यक्ति में ऐसी भी शक्ति मानना ही होगा जिससे कि वह अनेक शक्तियों को अपने में धारण कर के रख सके। यदि प्रत्येक शक्ति को धारण करने के लिये अनेक शक्तियों की कल्पना करेंगे तो पुनः उन शक्तियों को धारण करने के 20 लिये अनेक शक्तियों की पुनः पुनः कल्पना करनी पड़ेगी उस का अन्त नहीं होगा। अब सोचना है कि जिस शक्तिविशेष से एक व्यक्ति अनेक भिन्न भिन्न शक्तियों को धारण करेगी, उस शक्तिविशेष से एक व्यक्ति साक्षात् कार्यभेद का - विविध कार्यों का निष्पादन भी कर सकती है - इस तरह ही उस की कल्पना कर लो, फिर अनेक शक्तियों की कल्पना निरर्थक है।

उत्तरपक्ष :- आपकी बात गलत है। जैनों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि एक व्यक्ति अनेक शक्तियों 25 को समवायितुल्य किसी एक सम्बन्धस्थानीय शक्ति के प्रभाव से ही धारण कर रखे। जैनों का तो भेदाभेदवाद - अनेकान्तवाद सर्वोपरि प्रमुख सिद्धान्त है, एक व्यक्ति का भिन्न भिन्न शक्तियों के साथ कथंचित् अभेद ही है। अनेक शक्तिआत्मक ही एक व्यक्ति है। एक व्यक्ति का अनेकशक्तिमय स्वभाव भी किसी अन्य शक्ति के जरिये नहीं है किन्तु उस व्यक्ति के उत्पादक कारणों का ही वह प्रभाव होता है जिस से एक व्यक्ति भी अनेकशक्तिमयस्वभावसम्पन्न उत्पन्न होती है। 30

एक और अनेकशक्तिआत्मक, इस में कोई विरोध नहीं है। यह कोई अदृष्ट-अप्रसिद्ध कल्पना भी नहीं है। यह प्रमाणसिद्ध है कि एक ही वस्त्र अनेक रूप-स्पर्शादिआत्मक होता है, इस का अस्वीकार

न च सहकारिसव्यपेक्षाणि तानि तज्जनयन्ति नित्यस्थानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षाऽयोगात् । न च संभूयैकार्यकारित्वं तेषां सहकारित्वम्, एकान्तनित्यवादे तस्यापि निषिद्धत्वात् । तत्र सकलकारणकार्यमपि साकल्यं संभवति ।

किञ्च, किमसकलानि कारणानि साकल्यं जनयन्ति उत सकलानि ? न तावदसकलानि अतिप्रसङ्गात् । नापि सकलानि, साकल्यमन्तरेण 'सकलानि' इति व्यपदेशाभावात्, भावे वा अकिञ्चित्करं साकल्यमिति तत्परिकल्पना व्यर्था । किञ्च, यथा प्रत्यासत्त्या तानि साकल्यं जनयन्ति तथैव प्रमितिमप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यपरिकल्पना । अथ साकल्यस्य साधकतमत्वात् तदभावे नाकरणिका प्रमित्युत्पत्तिस्तर्हि साकल्योत्पत्तावपि तेषामपरं साकल्यलक्षणं करणमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा अकरणिका साकल्यस्यापि कथमुत्पत्तिः ?

करेंगे तो रूप-स्पर्शादि गुण और वस्त्र गुणी — इन में गुण-गुणीभाव का मेल ही नहीं बैठेगा । समवायमूलक गुण-गुणीभाव शक्य नहीं है यह कई बार कह दिया है ।

10 * साकल्य सकल कारणों का कार्य नहीं — तृतीयविकल्पनिषेध चालु *

उक्त चर्चा का नतीजा यही है कि नित्य सकल कारण यदि साकल्य के उत्पादकस्वभाव से सम्पन्न मान लिये जाय तो पूर्वोत्तरकालभावि समूचे साकल्यों की एक साथ प्रथम से ही उत्पत्ति प्रसक्त होगी । यदि नित्य सकल कारण साकल्यउत्पादनस्वभावसम्पन्न नहीं होंगे तो एक भी साकल्य की कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । कारण, नित्य पदार्थों में साकल्यउत्पादनस्वभाव ही नहीं है, अत एव एक 15 बार भी साकल्य की उत्पत्ति नहीं होगी ।

यदि कहा जाय— 'नित्य पदार्थ तो साकल्यजननस्वभावसम्पन्न होते ही हैं किन्तु सहकारी कारण सापेक्ष रह कर ही वे साकल्यों का उत्पादन करते हैं । सहकारी कारणों के विरह में नहीं करते हैं।' — तो यह गलत है, क्योंकि नित्य पदार्थ कभी सहकारियों के मुहताज नहीं होते चूँकि वे सहकारीयों के द्वारा उपकृत होना असंभव है । यदि कहें कि — 'नित्य एवं सहकारी ऐसा विभाग नहीं होता किन्तु सभी कारण एक साथ मिल कर कार्य करते हैं यही उन का अन्योन्य सहकारिस्वभाव है।' 20 — यह भी गलत है क्योंकि नित्य एकान्तवाद में परस्पर सापेक्षता का सम्भव भी न होने से 'एकसाथ मिल कर कार्य करना' असम्भव है । अत एव तीसरा विकल्प — साकल्य सकल कारणों का कार्य है — सम्भव नहीं है ।

* साकल्य के विना सकल कारणों से साकल्य की अनुत्पत्ति *

25 साकल्य में अन्य विकल्प भी संगत नहीं होते । देखिये — साकल्य का उत्पादन कौन करते हैं ? सकल कारण या असकल कारण ? असकल कारणों से यदि साकल्य की उत्पत्ति मानी जाय तो अन्य कार्यों की भी अपूर्ण कारणसामग्री से उत्पत्ति होने का अतिप्रसंग होगा । यदि सकल कारणों से 'साकल्य' की उत्पत्ति मानेंगे तो वह सम्भव नहीं है क्योंकि साकल्य-उत्पत्ति के पहले (साकल्य के न होने से) 'सकल' का ही सम्भव नहीं है और 'सकल' कारणों के विना साकल्य उत्पन्न नहीं होगा । दूसरी बात 30 यह है कि सकल कारण जब साकल्य को उत्पन्न करेंगे तो किसी न किसी सम्बन्ध को जोड़ कर ही करेंगे; अब ऐसा ही मान लेना चाहिये कि जिस सम्बन्ध से साकल्य को उत्पन्न करेंगे उस सम्बन्ध से डायरेक्ट प्रमिति को ही उत्पन्न कर देंगे, फिर बीच में साकल्य की जरूरत क्या ?

अथ तदुत्पत्तावपि करणमभ्युपगम्यते तर्हि तदुत्पत्तावप्यपरं करणमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था। अथ करणोत्पत्तौ नापरं करणमभ्युपगम्यत इति नानवस्था तर्हि उपलब्ध्युत्पत्तावपि न करणमभ्युपगन्तव्यमिति न साकल्यप्रमाणपरिकल्पना युक्तिसंगता।

न च साकल्यस्य अध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् अध्यक्षबाधितोऽयं विकल्पकलापः,— आत्माऽन्तःकरण-तत्संयोगादेः कारणसाकल्यस्यातीन्द्रियत्वेनाऽध्यक्षाऽविषयत्वात् तत्पूर्वकत्वेन पूर्ववदादेरनुमानस्याप्यभ्युपगमाद् 5 न ततोऽपि साकल्यसिद्धिः; केवलं विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणमध्यक्षसिद्धं कार्यं करणमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्परिकल्पना, तच्च साकल्यमिति न कल्पयितुं शक्यम् आत्मादिकरणसद्भावे कार्यस्योपपत्तावपरपरिकल्पनेऽदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तितोऽपरापरादृष्टपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसक्तेः। तत्र सकलकारणकार्यमपि साकल्यम्।

* साकल्यरूप करण की उत्पत्ति में अनवस्था *

यदि कहा जाय — प्रमिति की उत्पत्ति के प्रति साकल्य ही साधकतम (करण) है, अतः करण 10 के बिना (साकल्य के बगैर) प्रमिति की उत्पत्ति संभव नहीं है। — तो यह दोष होगा कि साकल्य की उत्पत्ति के लिये भी अन्य साधकतम साकल्यरूप करण का उत्पादन मानना पड़ेगा। नहीं मानेंगे तो करण के बिना साकल्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि साकल्योत्पत्ति के लिये दूसरे साकल्यरूप करण की उत्पत्ति को मान्य करेंगे तो उस दूसरे साकल्य के लिये तीसरे, तीसरे साकल्य के लिये चौथे, इस तरह अन्य अन्य करण की कल्पना का अन्त नहीं होगा। यदि इस अनवस्था के भय 15 से दूसरे करण की उत्पत्ति को अमान्य करेंगे तो उपलब्धि (प्रमिति) की उत्पत्ति के लिये भी करण (साकल्य) को मानने की जरूर न रहेगी। निष्कर्ष :- प्रमिति की उत्पत्ति के लिये करण (यानी प्रमाण) के रूप में साकल्य की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है।

* सकलकारणकार्यरूप साकल्य प्रत्यक्षादिसिद्ध नहीं *

पूर्वपक्ष :- क्यों आप ऐसी विकल्पों की जाल में उलझ रहे हो ? यह पूरा विकल्पजाल प्रत्यक्ष 20 से बाधित है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से कारकों का साकल्य सिद्ध ही है।

उत्तरपक्ष :- नहीं जी, प्रमाण की बात चल रही है यह तो याद है न ! प्रमिति की सामग्री में आत्मा है, मन है, उन का संयोग है और भी अदृष्टादि है, ये सब अतीन्द्रिय हैं अत एव उन का साकल्य भी अतीन्द्रिय है तो प्रत्यक्षसिद्ध कैसे ? अनुमानपोचर भी नहीं हो सकता क्योंकि पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट तीनों ही अनुमान आप को प्रत्यक्षमूलक ही मान्य है और प्रत्यक्ष ही नहीं है 25 तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान कैसे होगा ? यानी अनुमान से भी साकल्य की सिद्धि असंभव है।

पूर्वपक्ष :- ' तो अर्थापत्ति से सिद्धि होगी — सुनो ! विशिष्टार्थोपलब्धिरूप कार्य तो प्रत्यक्षसिद्ध है, करण के बिना कार्य हो नहीं सकता, इस अर्थापत्ति से साकल्यरूप करण की कल्पना करनी है !'

उत्तरपक्ष :- नहीं, इस अर्थापत्ति से सिर्फ करण की ही सिद्धि जरूर होगी, किन्तु वह साकल्य ही है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मादि कारण स्वयं ही करण हैं, उन के होने पर प्रमिति कार्य 30 निष्पन्न हो ज़रूरी है, फिर भी किसी अन्य अदृष्ट करण की कल्पना करेंगे तो एक तो यह अदृष्ट की अधिक कल्पना का दोष, दूसरा— उस की उत्पत्ति लिये अन्य अदृष्ट की, उस की भी उत्पत्ति

० अथ पदार्थान्तरं सकलकारणेभ्यः साकल्यम् तदा यत् किञ्चित् पदार्थान्तरं तत् साकल्यम् प्रसज्यत इति यस्य कस्यचित् पदार्थान्तरस्य सद्भावे अर्थोपलब्धिर्भवेदिति सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसक्तिः। तत्र कारकसाकल्यं प्रमाणम्। तेन 'प्रमातृ-प्रमेययोरभावे साकल्याभावः'...(पृ०५१-पं०६) इत्यादि प्रतिक्षिप्तम्, तत्सद्भावेऽपि भवदभिप्रायेण साकल्यानुपपत्तेः।

5 यदपि 'मुख्यगौणभावस्य कारकसाकल्यभावाभावनिमित्तत्वात्' (पृ०५२-पं०१) इत्यादि, तदपि व्योमकुसुमावतंसकभावाभावकृतदेवदत्तसौभाग्याऽसौभाग्यप्रख्यं दृष्टव्यम्। एतेन 'सन्निपत्यजननं साधकतमत्वम्' यद् व्याख्यातम् (पृ०५२-पं०५) तदपि निरस्तम् तस्यापि साकल्यार्थत्वात्। यदपि 'साकल्यं हि तेषामेव धर्ममात्रम् नैकान्तेन वस्त्वन्तरम्' इति (पृ०५३-पं०१) तदपि अनेकान्तवादिमतानुप्रवेशं भवतः सूचयति अन्यथा

के लिये अन्य अदृष्ट की कल्पना... अन्त ही नहीं होगा।

10 निष्कर्ष :- साकल्य सकल कारणों का कार्य है यह तीसरा विकल्प भी गलत है।

* कारणसाकल्य पदार्थान्तरस्वरूप भी नहीं *

चौथा विकल्प साकल्य एक स्वतन्त्र पदार्थ ही है जो कि सकल कारणों से अतिरिक्त है — यह भी ठीक नहीं है। अभिप्राय यह है कि कारणों से अतिरिक्त जो कोई वस्तु है वह सब स्वतन्त्र पदार्थ होने से 'साकल्य' बन जायेंगे। फलतः किसी भी स्वतन्त्र पदार्थ से सभी को हर काल में 15 सभी अर्थों की उपलब्धि रूप कार्य प्रसक्त होगा, इस लिये सभी ज्ञाता सर्वज्ञ बन बैठेंगे।

चार में से एक भी विकल्प युक्तिसह न होने से 'कारकसाकल्य प्रमाण हैं' यह सत्य नहीं है। अत एव, पहले (पृ०५१-पं०२८ में अर्थतः) जो कहा था कि 'प्रमाता और प्रमेय के विना कारक साकल्य घटित न होने से प्रमाता आदि के विरह में कार्य होने की विपदा नहीं होगी' ... इत्यादि अब निषिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रमातादि के होने पर भी आप के मतानुसार साकल्य ही घटित (युक्तिसंगत) 20 न होने से विपदा का अन्त होना दुष्कर है।

* साकल्यवादसमर्थक वचनों का निरसन *

पहले (पृ०५२-पं०१९) जो साकल्यवादी ने कहा था — 'प्रमेय और प्रमाता स्वतः गौण-मुख्य नहीं होते किन्तु कारकसाकल्य के अस्तित्व एवं अभाव पर अवलम्बित होते हैं' - यह भी इस निवेदन के तुल्य है कि देवदत्त का सौभाग्य एवं असौभाग्य गगनपुष्पमय मुकुट के अस्तित्व एवं अभाव पर 25 अवलम्बित है। तात्पर्य, जैसे यहाँ गगनपुष्प असत् है वैसे ही पूर्वोक्त चर्चा के अनुसार कारकसाकल्य भी असत् है। यह जो व्याख्या की गई थी (पृ०५२-पं०२१) साधकतमत्व यानी 'सन्निपत्य जननं' (अनेक कारकों के संनिहित रहने पर ही उत्पन्न होना) - यह व्याख्या भी साकल्य-तुल्य ही होने से निरस्त हो जाती है। साकल्य कहिये या संनिपत्य-जननं कहिये कुछ फर्क नहीं है।

यह जो कहा था (पृ०५३-पं०९) — 'साकल्य (= सामग्र्य) तो सामग्री-अन्तर्गत कारकों का ही 30 धर्ममात्र है, ऐसा नहीं कि वह उन कारकों से सर्वथा एकान्ततः पृथक् स्वतन्त्र वस्तु है' — इस से तो यही सूचित होगा कि अनेकान्तवादी के मत में आप अनजान स्थिति में भी पहुँच गये। यदि एकान्तवाद मानेंगे तो (१) सकल कारकों से साकल्य एकान्ततः अभिन्न मानने पर साकल्य जैसा कुछ

साकल्यस्य सकलेभ्योऽभेदे धर्ममात्रमिति न साकल्यम् धर्ममात्रं वा भवेदिति न धर्मिणः। एकान्तभेदे तु वस्त्वन्तरमेव तत् इति 'न वस्त्वन्तरम्' (पृ०६२-पं०७) इत्यभिधेयशून्यं वचः। वस्त्वन्तरपक्षे तु दोषाः प्रतिपादिता एव (पृ०६२-पं०७)। यदपि प्रमातृ-प्रमेयजन्यत्वेऽपि सामग्या न करणत्वव्याहतिः' इति, (पृ०५३-पं०७) तदपि न संगतम्; सामग्यास्तज्जन्यत्वेऽनवस्थाद्यनेकदोषापत्तेः प्रतिपादनात्।

यदपि 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्' (पृ०४९-पं०६) इत्युक्तम् 5 तदप्यसंगतम्, अव्यभिचारादेरुपलब्धिविशेषणस्य भवदभिप्रायेणाऽयोगात्, यथा च तस्याऽयोगस्तथा प्रत्यक्षलक्षणे प्रदर्शयिष्यामः। सामग्री च तज्जनिका यथा न संभवति तथाभिहितमेव साकल्यं विचारयद्भिः (पृ०५४-पं०६)। यच्च अबोधस्वभावस्यापि प्रदीपादेः प्रमाणत्वं प्रतिपाद्यते (पृ०४-पं०२), तदप्यसंगतमेव; अबोधस्वभावस्य तस्य प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वाऽयोगात्। यच्च लोकस्तेषां 'दीपेन मया दृष्टम्' 'चक्षुषाऽवगतम्' 'धूमेन प्रतिपन्नम्' इति व्यवहरति (पृ०४-पं०२) तदुपचारतः, यथा 'ममायं पुरुषः चक्षुः' इति, न मुख्यतः, मुख्यतस्तु 10

रहा ही नहीं, सिर्फ सकल कारक ही शेष रह गये, ^Bअथवा सिर्फ साकल्य ही बचा, कोई कारकरूप अनेक धर्मी नहीं बचे। (२) यदि साकल्य को सकल कारकों से भिन्न मानेंगे तो वह स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध होगा, लेकिन तब 'वह स्वतन्त्र वस्तु नहीं है' ऐसा आप का वचन निरर्थक ठहरेगा। उपरांत एकान्तभेदपक्ष में साकल्य को स्वतन्त्र वस्तु मानने पर जो पहले चौथे विकल्पो के द्वारा दोष कह आये हैं वे सब लागू हो जायेंगे। यह जो कहा था (पृ०५३-पं०२८) — 'सामग्री को प्रमाता एवं प्रमेय 15 से जन्य मानने पर भी सामग्री को करण मानने में कोई बाध नहीं है' — वह भी असंगत है, क्योंकि प्रमाण की उत्पत्ति के लिये प्रमाता-प्रमेयजन्य सामग्री को करण कहेंगे तो उस सामग्री की उत्पत्ति के लिये उन प्रमाता-प्रमेय से जन्य अन्य करण को भी मानना होगा, उस अन्य करण के लिये और एक करण — इस प्रकार अप्रामाणिक कल्पना का अन्त नहीं होगा — यह दोष एवं अन्य कई दोष प्रसक्त होते हैं जो पहले कहा जा चुका है। 20

❖ अव्यभिचारादिविशेषणयुक्त सामग्री के प्रामाण्य का निरसन ❖

यह जो कहा था — (पृ०४९-पं०१८) 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्ट अर्थोपलब्धि की जनक सामग्री प्रमाण है' — वह भी असंगत है क्योंकि आप के ही मतानुसार अर्थोपलब्धि में अव्यभिचारादिविशेषण संगत नहीं होते — क्यों नहीं होते वह आगे प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण (२७८ तः ३३२ पृष्ठेषु) कथन में दिखायेंगे। तथा, साकल्य के विमर्श में यह भी कह चुके हैं (पृ०५४-पं०१८) कि सामग्री उस उपलब्धि 25 की जनक बने यह संभव नहीं है। तथा, अज्ञानात्मक (जडात्मक) प्रदीपादि का दृष्टान्त दे कर आपने उस में प्रमाणत्व का प्रतिपादन किया है (पृ०४-पं०२९) वह भी अनुचित है; क्योंकि जडस्वरूप दीपक प्रमितिक्रिया में साधकतम हो नहीं सकता।

पूर्वपक्ष :- 'दीपक से मैं देख पाया, — मैंने चक्षु से देखा, — धूम से मैंने अग्नि का अनुमान किया'... इत्यादि (पृ०४-पं०२२) बहुशः लोकव्यवहार होता है। यहाँ जडस्वरूप दीपकादि को ही करण 30 गिना जाता है।

उत्तरपक्ष :- ठीक है, उपचार से हो सकता है जैसे - 'यह बेटा तो मेरी आँख है' ऐसा उपचार से

बोधस्यैव प्रमितिं प्रति तादात्म्यादव्यवहितं साधकतमत्वम् चक्षुरादेस्तु बोधव्यवधानाद् गौणम्। न च व्यपदेशमात्रात् पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था, उपचारतोऽपि 'नड्वलोदकं पादरोगः' इत्यादिव्यपदेशप्रवृत्तेः।

न च प्रमाणस्य प्रमितिरूपता विरुद्धा, स्वरूपे विरोधाऽसिद्धेः। न च प्रमाण-प्रमित्योरेकान्ततोऽभेद एवाभ्युपगम्यते, कथंचिद् बोधादर्थपरिच्छित्तिविशेषस्य भेदात् प्राक्तनपर्यायनिरोधेन कथंचिदवस्थितस्यैव बोधस्यार्थपरिच्छित्तिविशेषरूपतयोत्पत्तेः, अन्यथा कार्यकारणभावविरोधात् इत्यसकृत् प्रतिपादितत्वात्। एतेन 'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।' [याज्ञ्य० स्मृ० २-२२] इति यत् शास्त्रान्तरेषु बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानम् (पृ०४-पं०५) तदप्युपचारेण व्याख्येयमित्युक्तं भवति, अन्यथा प्रमाणविरोधः प्रदर्शितन्यायेन। यदपि 'तत्कार्यभूता वा उदितविशेषणोपलब्धिस्तस्य सामान्यलक्षणम्' (पृ०५३-पं०८) इत्युक्तम् तदप्यसङ्गतम्;

लोकव्यवहार होता है। प्रमितिक्रिया के प्रति मुख्यरूप से बोध स्वयं ही साधकतम है न कि चक्षु-धूमादि, क्योंकि चक्षुआदि का प्रमिति के साथ तादात्म्य न होने से वे प्रमिति से दूरवर्ती हैं इसलिये साधकतम नहीं हो सकते, साधकतम वही हो सकता है जो कार्य (प्रमिति) से निकटतम हो, वैसा बोध स्वयं ही है। क्योंकि प्रमिति के साथ उस का तादात्म्य होने से वह व्यवधानरहित है। चक्षुआदि गौण करण हैं क्योंकि वे दूरवर्ती हैं। लोक में होने वाले व्यवहारमात्र से वस्तुसत्य की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती, लोकव्यवहार तो गौणरूप से यानी औपचारिकरूप से भी होता है जैसे कि गोष्पद के पानी को उपचार से 'पाँव की बिमारी' ही कहा जाता है, वास्तव में वह स्वयं बिमारी नहीं किन्तु बिमारी की जननी है।

* प्रमाण और प्रमिति का कथंचिद् भेदाभेद *

प्रमाण और प्रमिति में अभेद के स्वीकार में कोई विरोध-सम्भव नहीं है, प्रमिति यह प्रमाण (बोध) का ही एक विशिष्ट स्वरूप है, किसी भी व्यक्ति का अपने स्वरूप के साथ कोई विरोध नहीं होता। शंका :- प्रमाण-प्रमिति में अभेद मानने पर हेतु-फलभाव आदि का लोप हो जायेगा। समाधान :- लोप नहीं होगा, क्योंकि हम एकान्त आग्रह रख कर प्रमाण-प्रमिति का सर्वथा आत्यन्तिक अभेद नहीं मानते हैं, कथंचिद् भेद भी मानते हैं, पूर्वकालीन हेतुस्वरूप जो प्रमाणात्मक बोध है वही उत्तरकाल में विशिष्ट प्रमित्यात्मक बोध में फलरूप से परिणत हो जाता है, इस प्रकार पूर्वकालीन हेतुरूप बोध और उत्तरकालीन फलात्मक प्रमिति में कथंचिद् भेद भी अक्षुण्ण है। तात्पर्य, पूर्वकालीन बोध में जो अविशिष्टपर्याय था, वह बोधरूप में तदवस्थ रहते हुए भी अविशिष्ट रूप से निरुद्ध हो कर विशिष्टअर्थावबोधात्मक पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। इस प्रकार से नहीं मानेंगे और एकान्त भेद ही मानेंगे तो प्रमाण-प्रमिति में कारण-कार्यभाव, विरोध के कारण नहीं माना जा सकेगा - कई बार इस तथ्य का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है।

* प्रमाण अबोधस्वरूप नहीं होता *

प्रमाण बोधात्मक ही हो सकता है ऐसा सिद्ध हो जाने से, अन्य अन्य शास्त्रों में बोध-अबोध उभयसाधारण रूप से प्रमाण की जो यह व्याख्या कही गई है (पृ०४-पं०२७) कि - लिखे हुए दस्तावेज, साक्षिपुरुष एवं उपभोग स्वरूप वस्तु पर कब्जा ये तीनों ही प्रमाण हैं - यह व्याख्या निरस्त हो जाती है क्योंकि प्रमाण अबोधस्वरूप नहीं हो सकता। हाँ - इस व्याख्या से लिखित आदि को उपचार से ही प्रमाण मान सकते हैं, मुख्यरूप से मानने जायेंगे तो पूर्वोक्त युक्तियों के मुताबिक अबोधात्मकता

न हि यथोक्त-विशेषणोपलब्धिः पराभ्युपगमेन संभवति। नापि पराभ्युपगतप्रमाणकार्यतयाऽसौ सिद्धा येन स्वकारणं प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात्।

तन्नाक्षपाद—कणभुग्मतानुसारिपरिकल्पितमपि प्रमाणसामान्यलक्षणमुपपत्तिकमम्। तस्मात् 'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्' इत्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणमनवद्यम्।

‡ नैयायिकादिसंमत-ज्ञानपरतःसंवेदन - निरसनम् ‡

5

ननु चाऽत्रापि स्वग्रहणविधुरस्य ज्ञानस्य नैयायिकादिभिरभ्युपगमाद् बौद्धैस्त्वर्यग्रहणविधुरस्येति स्वार्थ-निर्णीतिस्वभावताऽसिद्धा। तथाहि— नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति— घटादिज्ञानं स्वग्राह्यं न भवति ज्ञानान्तरग्राह्यं वा, ज्ञेयत्वाद् घटादिवत्।

अत्र प्रयोगे हेतुः स्वरूपासिद्धः आश्रयासिद्धश्च धर्मिणो ज्ञानस्याऽप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माऽप्रतिपत्तेः।

का प्रमाण के साथ स्पष्ट ही विरोध होगा।

10

✽ वैशेषिक मतानुसार विशिष्ट उपलब्धि का प्रामाण्य दुर्घट ✽

पहले (पृ०५४-पं०१ में) कहा गया था कि वैशेषिक दर्शन भी नैयायिकस्वीकृत प्रमाणसामान्यलक्षण का अंगीकार करते हैं। (नैयायिक स्वीकृत लक्षण के निरसन से वैशेषिकमत का निरसन स्वतःसिद्ध है।) विकल्प में वैशेषिक मत में कहा गया था — अथवा तो तथाविध सामग्री से उत्पन्न होने वाली वह कार्यभूत अव्यभिचारिणी-आदि विशेषणविशिष्ट उपलब्धि ही प्रमाणभूत है क्योंकि लक्षण का कार्य 15 व्यवच्छेद है और यह विशिष्ट उपलब्धि अपनी कारणभूत सामग्री का प्रमाणाभासों से व्यवच्छेद कर देती है—

इस वृत्तान्त के विरोध में व्याख्याकार कहते हैं कि यह वैकल्पिक वैशेषिक मत भी असंगत है, क्योंकि प्रमिति का प्रमाण से सर्वथा भेदपक्ष में उपरोक्त प्रकार की विशिष्ट उपलब्धि संभव ही नहीं है। उपरांत, उन के मतानुसार 'तथाविधसामग्रीरूप प्रमाण का कार्य उक्त विशिष्टोपलब्धि है' ऐसा 20 भी सिद्ध नहीं है, (वह पहले कहा जा चुका है) तब वह अपने कारण का प्रमाणाभासों से व्यवच्छेद भी कैसे कर पायेगी ?

निष्कर्ष :- अक्षपाद एवं कणाद मत के अनुसार उक्त प्रमाणसामान्य का लक्षण युक्तियुक्त नहीं है। निर्दोष युक्तिसंगत लक्षण तो यही है (जो जैन मत में कहा गया है-) 'स्व एवं (पर) अर्थ के निर्णायकस्वरूपवाला ज्ञान ही प्रमाण है'। 25

✽ ज्ञान के स्व-परसंवेदित्व की चर्चा में नैयायिकादिमत का प्रतिषेध ✽

आपने जैन मत से जो यह कहा -- स्व एवं अर्थ का निर्णायक ज्ञान प्रमाण है - इस के विरुद्ध नैयायिकादि मानते हैं - कि ज्ञान स्वयं स्व का निर्णायक (ग्राहक) नहीं होता। दूसरी ओर विज्ञानवादी बौद्ध (योगाचार) मानते हैं कि ज्ञान अर्थ का (बाह्यार्थ का) ग्राहक नहीं होता। इस प्रकार नैयायिक एवं बौद्ध के मतानुसार ज्ञान में स्व एवं अर्थ के निर्णय का स्वभाव असिद्ध है। 30

पहले नैयायिक वादी अपना मत कहता है - 'घटादिविषयक ज्ञान स्वविषयक नहीं होता, अथवा अन्यज्ञान से ज्ञात होता है, क्योंकि वह ज्ञेय है; जैसे घटादि वस्तु।'

न चाश्रयासिद्धस्य परैर्गमकत्वमभ्युपगम्यते अन्यथा सामान्यादिनिषेधे 'सामान्यस्याऽसिद्धौ परं प्रत्याश्रयासिद्धौ हेतुः' इति दोषोद्भावनमयुक्तियुक्तं भवेत्।

अथ घटादिज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः। ननु तत्प्रसिद्धिरध्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यान्नानधिकारात् ? न तावदध्यक्षतः, तस्येन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वाभ्युपगमात्, न च ज्ञानस्य चक्षुरादीन्द्रियेण संनिकर्षः, न च तद्व्यतिरिक्तमिन्द्रियान्तरमस्ति। अथ मनोलक्षणमन्तःकरणमस्ति तस्य च ज्ञानेन संयुक्तसमवायः संनिकर्ष इति तत्प्रभवमध्यक्षं तत्र प्रवर्तते इति। तथाहि— आत्मना मनः संयुक्तम् आत्मनि च समवेतं ज्ञानमिति मनोज्ञानेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नतदेकार्थसमवेताध्यक्षग्राह्यत्वाद् घटादिज्ञानस्य कथमाश्रयासिद्धत्वादिहेतोर्दोषः ? युक्तमेतद् यदि इन्द्रियं मनः सिद्धं भवेत्। अथानुमानात् तत्सिद्धिः। तथाहि— घटादिज्ञानज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजम् प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानवत्। न,

10 स्वप्रकाशवादी कहते हैं कि इस अनुमानप्रयोग में हेतु स्वरूपासिद्ध है एवं आश्रयासिद्धि दोष भी है। ज्ञानपरोक्षतावादी नैयायिक मत में घटादि ज्ञान ही प्रत्यक्षादिसिद्ध न होने से स्वयं (पक्ष ही) असिद्ध है अतः आश्रयासिद्धि दोष हुआ। तथा ज्ञानरूप धर्मि प्रसिद्ध न होने से उस का आश्रित ज्ञेयत्व हेतु भी स्वरूपतः असिद्ध हो गया। नैयायिकवर्ग आश्रयासिद्ध हेतु को सद्धेतु नहीं मानते हैं। यदि उसे सद्धेतु मानेंगे तो जातिपदार्थ के निषेधकों के प्रति उसने जो कहा है कि 'सामान्य के निषेध 15 के लिये जो हेतु प्रयुक्त होगा वह आश्रयासिद्ध दोष से दुष्ट बन जायेगा क्योंकि हेतु के आश्रयरूप जाति का आप अस्वीकार करते हैं' ऐसा कहते हुए नैयायिकने जो दोषाविर्भाव किया है वह अयुक्त ठहरेगा।

नैयायिक :- घटादिज्ञान प्रमाणसिद्ध ही है फिर हमारे अनुमानप्रयोग में हेतु को आश्रयासिद्धि दोष कैसे होगा ?

20 **जैन :** किस प्रमाण से घटादिज्ञान को आप सिद्ध करेंगे ? प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमानप्रमाण से ? इन दो के अलावा तीसरे किसी प्रमाण का तो यहाँ कुछ उपजने वाला नहीं है। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से (संयोजन से) उत्पन्न होता है अत यहाँ प्रत्यक्ष से ज्ञानसिद्धि असंभव है, चक्षुआदि पाँच में से एक भी इन्द्रिय का ज्ञान के साथ संनिकर्ष नहीं होता। चक्षु आदि पाँच के अलावा और कोई इन्द्रिय ही नहीं है।

25 **नैयायिक :-** पाँच के उपरांत भी एक 'मन' इन्द्रिय है, उस को अन्तःकरण (अभ्यन्तर इन्द्रिय) कहा जाता है। ज्ञान के साथ मन का संयुक्तसमवाय संनिकर्ष होता है तब मन इन्द्रिय से ज्ञान का (उस ज्ञान से भिन्न) प्रत्यक्षज्ञान होता है। संयुक्तसमवाय संनिकर्ष कैसे है यह देखिये - मन से संयुक्त है आत्मा, उस में ज्ञान समवेत (यानी समवाय संबंध से रहनेवाला) है - इस प्रकार मनःसंयुक्त (आत्मा) का समवाय ज्ञान में रह गया। तात्पर्य घटादि ज्ञान मनरूपी इन्द्रिय - ज्ञानरूप अर्थ के संनिकर्ष से 30 उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष से, जो कि ज्ञान के ही समान अधिकरण आत्मा में समवेत है - उस से घटादिज्ञान गृहीत होता है, इस प्रकार घटादि ज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध होने पर ज्ञेयत्व हेतु आश्रयासिद्धि दोष से दूषित कैसे होगा ?

अस्य हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्। न हि घटादिज्ञानज्ञानस्याध्यक्षत्वं सिद्धम् इतरेतराश्रयत्वात्। तथाहि-
मनइन्द्रियसिद्धावस्याध्यक्षत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनइन्द्रियसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्।
न च घटादिज्ञानाद् भिन्नमपरं ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयत इति विशेष्यासिद्धश्च हेतुः।

सुखादिसंवेदनेन व्यभिचारी च। तथाहि— तत्संवेदनं 'अध्यक्षत्वे सति ज्ञानम्', न च तज्जन्यमिति
व्यभिचारः। अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः। तथाहि— सुखादिसंवेदनमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजम् अध्यक्षज्ञानत्वात् 5
चक्षुरादिप्रभवरूपादिवेदनवत्, सुखादिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यः ज्ञेयत्वात् घटवत्। नन्वेवं व्यभिचारविषयस्य पक्षी-
करणे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्। तथाहि— 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्' इत्यत्राप्यात्मादे-
र्व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणान्न व्यभिचारः। शक्यं ह्यत्रापि वक्तुम् 'अनित्य आत्मादिः प्रमेयत्वात् घटवत्'।
न चात्र प्रत्यक्षबाधः अन्यत्रापि तस्य समानत्वात्। न हि सुखाद्यविदितस्वरूपं पूर्वं घटादिवदुत्पन्नं

जैन :- आप के मत में मन इन्द्रिय प्रमाणसिद्ध हो तब तो उपरोक्त कथन ठीक है, किन्तु मन 10
कहाँ सिद्ध है ? प्रत्यक्ष से तो वह सिद्ध नहीं।

* मन इन्द्रिय साधक नैयायिक के अनुमान में हेतु असिद्ध *

नैयायिक :- अनुमान से तो सिद्ध है। देखिये — 'घटादि के ज्ञान का (ग्राहक) ज्ञान इन्द्रियार्थ-
संनिकर्षजन्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष होते हुए ज्ञानमय है, उदा० चक्षुआदिजन्य रूपादिज्ञान।

जैन :- यह गलत है क्योंकि हेतु में विशेषण असिद्ध है। घटादि के ज्ञान का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' 15
होने में प्रमाण क्या है ? उस के प्रत्यक्षत्व की सिद्धि ही अन्योन्याश्रयदोष से दूषित है - ज्ञान का
ज्ञान मनोजन्य है किंतु उस में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि तब होगी जब मन को 'इन्द्रिय' सिद्ध किया
जाय। (वही तो अभी साध्यकोटि में है)। जब तक प्रत्यक्षत्व की सिद्धि नहीं होगी तब तक 'प्रत्यक्ष
होते हुए' इस विशेषण से युक्त हेतु की सिद्धि न होने से मन में इन्द्रियजन्यत्व की सिद्धि नहीं होगी।
इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। हेतु में विशेषण की असिद्धि उपरांत विशेष्य भी असिद्ध है 20
क्योंकि घटादिज्ञान से अतिरिक्त उस के ग्राहक रूप में कोई दूसरा ज्ञान अनुभवगोचर नहीं है तो
'ज्ञानत्व' हेतु का विशेष्य भी कहाँ सिद्ध है ?

* सुखादिसंवेदन में इन्द्रियसंनिकर्षजन्यत्व हेतु व्यभिचारी *

'प्रत्यक्ष होते हुए ज्ञानत्व' हेतु असिद्ध तो है, सुखादि के संवेदन में व्यभिचारी भी है। देखिये
— सुखादि के संवेदन में 'अध्यक्षत्व एवं ज्ञानत्व' हेतु है लेकिन वह इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से जन्य नहीं 25
है। यहाँ हेतु के साथ साध्य नहीं होने से हेतु में व्यभिचार दोष स्पष्ट है।

नैयायिक :- सुखादि संवेदन भी घटादिज्ञान-ज्ञान के साथ पक्ष में ही अन्तर्गत है, अतः उस
में भी हेतु से उक्त साध्य सिद्ध होने पर, कोई दोष (व्यभिचार) सावकाश नहीं है। देखिये — 'सुखादिसंवेदन
(पक्ष) इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से जन्य है, क्योंकि वह अध्यक्षज्ञानमय है, उदा० नेत्रादिजन्य रूपादिसंवेदन।
अथवा 'सुखादि विषय स्वभिन्नज्ञान से संवेद्य है, क्योंकि 'ज्ञेय' है, उदा० घट। यहाँ स्वभिन्नज्ञानसंवेद्यता 30
सिद्ध होने पर इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यता भी स्वभिन्नज्ञान में अध्यक्षज्ञानत्व हेतु से सिद्ध हो जायेगी।

जैन :- अरे ! इस प्रकार जिस स्थल में व्यभिचार प्रदर्शित किया जाय उस को भी पक्षान्तर्गत

पुनरिन्द्रियसम्बन्धोपजातज्ञानान्तराद् वेद्यत इति लोकप्रतीतिः, अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदय-
मासादयदुपलभ्यते। 'आत्मनि क्रियाविरोधः' इति चेत् ? न, स्वरूपेण पदार्थस्य विरोधाभावात् अन्यथा
प्रदीपादेरप्यपरप्रकाशविकलस्वरूपप्रकाशविरोधः स्यात्। 'तस्य तत्स्वरूपं कुतः सिद्धमिति चेत् ? प्रदीपादौ
कुतः ? तथादर्शनमितरत्रापि समानम्।

5 न चैकस्य स्वभावोऽपरत्राप्यभ्युपगमार्हः, अन्यथा स्वपराऽप्रकाशस्वभावो घटगतः प्रदीपेऽप्यभ्युपगमनीयो
भवेत्। न च तदवगमात् पूर्वमप्रतीयमानमपि सुखाद्यभ्युपगन्तुं युक्तम् श्रवणसमयात् प्राक् पश्चाच्च शब्दस्य

कर लेने की चेष्टा करने पर कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं कहा जा सकेगा, व्यभिचार दोष ही नामशेष
हो जायेगा। देखिये — 'शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है, उदा० घट' इस प्रयोग के प्रतिकार में
आत्मा में जब (प्रमेयत्व होने पर भी अनित्यत्व न होने से) प्रमेयत्व हेतु में व्यभिचार प्रदर्शित करेंगे

10 तब व्यभिचारस्थान आत्मादि को भी पक्ष अन्तर्गत कर लेने से व्यभिचार निरवकाश बन जायेगा।
मतलब, यहाँ भी कह सकेंगे 'आत्मा अनित्य है क्योंकि प्रमेय है, उदा० घट।' 'यहाँ तो प्रत्यक्ष से
बाध है' ऐसा कहना व्यर्थ रहेगा क्योंकि सुखादि में स्वभिन्नज्ञानसंवेद्यता अथवा सुखादिसंवेदन में
इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यता की सिद्धि के काल में भी प्रत्यक्षबाध तुल्य ही है। ऐसा अनुभव किसी को
नहीं है कि पहले तो घटादि की तरह सुखादि भी अज्ञातरूप से उत्पन्न हो गये, बाद में इन्द्रिय

15 के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञानान्तर से उसका भान हुआ — ऐसी कोई लोकप्रतीति नहीं है। लोकानुभव
तो इस से उल्टा है, शुरु से ही सुखादि स्वसंविदित स्वरूप से ही उत्पन्न होते हुए अनुभूत होते
हैं। यदि कहें कि — "घटादि स्वयं स्ववेदनक्रियाचित नहीं होता क्योंकि स्व में स्वसंबंधि क्रिया का
विरोध सुविख्यात है, सुशिक्षित नर भी अपने कन्धे पर आरोहण नहीं कर पायेगा (दूसरे के कन्धे
पर चढ़ सकता है।)" — तो यह कथन गलत है, क्योंकि यह न्याय सर्वत्र लागु नहीं होता, स्वविषयक

20 क्रिया जिस पदार्थ का स्वभाव ही है वहाँ कोई विरोध नहीं होता। 'आत्मा स्व को जानता है' यहाँ
स्व में स्वविषयक ज्ञानक्रिया मानने में क्या विरोध है ? अगर ऐसा विरोध प्रामाणिक मानेंगे तो,
जिस के प्रकाशन के लिये दूसरे प्रदीप का संनिधान जरूरी नहीं होता, ऐसे अपने आप अपना प्रकाश
(स्वरूप प्रकाश) करनेवाले प्रदीपादि में भी आप को विरोध प्रसक्त होगा।

यदि पूछा जाय कि — सुखादि में स्वप्रकाश स्वरूपता कैसे सिद्ध हुई ? तो प्रदीपादि के लिये
25 भी ऐसा प्रश्न प्रसक्त होगा। उत्तर में आप कहेंगे कि प्रदीप में तो वैसा सभी को दीखता है —
तो यहाँ हम भी यही कहते हैं कि सुखादि में स्वप्रकाशस्वरूपता सभी को अनुभूत होती है। दोनों
में समान बात है।

✽ स्वभिन्नवेद्यतास्वभाव की प्रदीप — सुखादि में अनुपपत्ति ✽

घटादि के उदाहरण से ज्ञान में स्वभिन्नवेद्यतास्वभाव का अंगीकार अनुचित है। कोई स्वभाव
30 एक में है तो दूसरे में भी उस का स्वीकार उचित नहीं होता। अन्यथा, घट में जैसे स्वपर अप्रकाशकस्वभाव
है वैसे प्रदीपादि में भी स्वपरअप्रकाशकस्वभाव (ज्ञेयत्वहेतु के बल से) मान लेना पड़ेगा। जिस काल
में सुखादि का संवेदन होता है उस के पूर्वकाल में अज्ञातस्वरूप सुखादि के अस्तित्व का स्वीकार

सत्ताभ्युपगमप्रसंगतो नित्यत्वापत्तेः। न चात्मनो ज्ञानाच्चार्थान्तरभूता एव सुखादयोऽनुग्रहादिविधाधिनी भवेयुः, इतरथा योगिनोऽपि ते तथा स्युः। न च तेषां तत्राऽसमवायान्नायं दोषः, समवायस्य निषिद्धत्वात्। तत्र सुखादिग्रहणे मनइन्द्रियसिद्धिः। अत एव च 'आत्मा मनसा युज्यते तत्र च समवेताः सुखादयः' (पृ०६६-पं०६) इत्यादिप्रक्रियाऽनुपपन्नैव।

न च निरंशयोरात्ममनसोः संयोगः संभवी, एकदेशेन तत्संयोगे सांशत्वप्रसक्तेः, सर्वात्मना संयोगे 5 उभयोरेकत्वप्राप्तेः। यदि च यत्र मनः संयुक्तं तत्र समवेतं ज्ञानं समुत्पादयति तदा सर्वात्मनां व्यापितया समानदेशत्वेन मनसस्तैः संयुक्तत्वात् सर्वात्मसमवेतसुखादिषु तदेवैकं ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि

करना भी अनुचित है, क्योंकि संवेदन के पूर्व या उत्तरक्षण में वस्तु का अज्ञात भी अस्तित्व मान लेने पर शब्द में नित्यत्व के स्वीकार की विपत्ति हो जायेगी, क्योंकि जिस काल में शब्द का संवेदन होता है उस के पूर्व और उत्तरकाल में सुखादि की भाँति शब्द की सत्ता का भी स्वीकार बाधमुक्त 10 है। तात्पर्य, सुखादि स्वयं ही प्रकाशरूप होने से ज्ञानमय ही है (— अनुकूल संवेदन का ही दूसरा नाम सुख है।) और ज्ञान या सुखादि भी आत्मद्रव्य के पर्यायस्वरूप होने से आत्मरूप ही है, आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्माभिन्न ही सुखादि अनुग्रहादि के कारक होते हैं। यदि अनुग्रहादिकारक सुखादि को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो अन्य जीवों के सुखादि से योगी आत्मा को भी अनुग्रहादि होने की आपत्ति आयेगी क्योंकि सुखादि जैसे योगी से भिन्न है वैसे अन्य जीवों से भी भिन्न है। 15 “अन्य जीवों में सुखादि का समवाय होता है, योगियों में नहीं होता अतः योगियों को अनुग्रहादि की आपत्ति नहीं होगी।” — ऐसा कहना निर्मूल है, क्योंकि पहले कई बार समवाय का निरसन हो चुका है। निष्कर्ष :- सुखादिग्रहण के आधार पर मन-इन्द्रिय की सिद्धि असंभव है। फलतः नैयायिकों की यह पूर्वोक्त कल्पित प्रक्रिया (पृ०६६-पं०२७) 'सुखादि का समवाय आत्मा में, आत्मा से संयुक्त मन, संयुक्त समवाय सनिकर्ष से सुखादि का अनुभव' — भी निरस्त हो जाती है क्योंकि समवाय निरस्त 20 है और सुखादि स्वसंवेदि है।

✽ आत्मा और मन का संयोग अनेकापत्तिग्रस्त ✽

यह भी जान के रखो कि आत्मा और मन दोनों ही निरंश है — निरवयव हैं, सावयव हो उन का ही संयोग हो सकता है, आत्मा एवं मन का किसी एक अंश से संयोग मानेंगे तो उन दोनों में सावयवत्व प्रसक्त होगा, यदि समूचे द्रव्य-द्रव्य का संयोग मानेंगे तो उन दोनों में एकत्व 25 प्रसक्त होगा क्योंकि स्व में स्व का ही समुच्चयरूप से संयोग घट सकता है।

दूसरी विचारणीय बात है कि प्रत्येक आत्माओं के भिन्न भिन्न मन की कल्पना निरर्थक ठहरेगी। वह इस प्रकार :- मन जहाँ संयुक्त होता है वहाँ समवाय संबंध से ज्ञान को जन्म देता है यह आप का ही सिद्धान्त है। अब देखिये — प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है एवं समान देश में सर्व आत्मा अवस्थित हैं अतः मन का संयोग एक आत्मा से होगा तो सर्व आत्माओं के साथ भी होना अनिवार्य 30 है। इस स्थिति में प्रत्येक जीवों में समवेत सुख-दुःखादि का एक ही ज्ञान सभी जीवात्माओं में जन्म पायेगा, फिर अलग अलग आत्मा के लिये पृथक् पृथक् मन की कल्पना क्यों की जाय ?

भिन्नमनःपरिकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च 'यस्य सम्बन्धि यन्मनः तत्समवेतसुखादिज्ञाने तदेव हेतुरिति नायं दोषः', प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वस्यैव तत्रासिद्धेः। न हि तत्कार्यत्वेन तत्सम्बन्धिता, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र चानाधेयाऽप्रहेयातिशये तत्कार्यताऽयोगात्। नापि तत्संयोगात्, तस्यापि तत्रैकदेशेन सर्वात्मना वाऽयोगात्, योगेऽपि व्यापकत्वेन समानदेशिसर्वात्मभिर्युगपत्संयोगात् प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वानुपपत्तेः। न च यददृष्टप्रेरितं

5 तत् प्रवर्तते तत्सम्बन्धीति वक्तव्यम्, अदृष्टस्याऽचेतनत्वेन प्रतिनियतविषय(?)ये तत्प्रेरकत्वाऽयोगात्, प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चैश्वरप्रेरित एवासौ तत्प्रेरक इति न तत्परिकल्पनावैयर्थ्यम् अदृष्टप्रेरणामन्तरेणेश्वरस्य साक्षान्मनःप्रेरकत्वोपपत्तेरदृष्टपरिकल्पना वैफल्यापत्तेः।

न चेश्वरस्य सर्वसाधारणत्वाददृष्टविकलस्य मनःप्रेरकत्वे न ततस्तस्य प्रतिनियतात्मसंबन्धितेति अदृष्टपरिकल्पना, तस्याऽचेतनत्वेनेश्वरसहितस्यापि प्रतिनियतमनःप्रवृत्तिहेतुत्वाऽयोगात्, अचेतनस्यापि

10 यदि कहा जाय कि - 'यह दोष निरवकाश है, क्योंकि जिस मन का जो स्वामी होगा उसी आत्मा में समवेत सुखादि के ज्ञान को वह उस आत्मा में ही जन्म देगा न कि अन्य आत्मा में।' - तो यह कहना बेकार है क्योंकि सर्व आत्मा जब सर्वव्यापी एवं समान देश अवस्थित है तब 'अमुक मन का स्वामी अमुक ही आत्मा है' ऐसा प्रतिनियत सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कह सकते - 'जिस आत्मा से जो मन पैदा हुआ है वही आत्मा उस का सम्बन्धी बनेगा' - क्योंकि

15 मन नित्य है, वह किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ, उस में किसी भी जीव से किसी भी प्रकार के प्रभाव का, न तो आधान हो सकता है न तो प्रख्यवन हो सकता है।

यदि कहेंगे कि - 'जिस आत्मा से जो मन संयोग बनायेगा, वही उस का सम्बन्धी बन पायेगा' - तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, पहले ही कह दिया है कि निरवयव आत्मा में एकदेश या समुचे रूप से मन का संयोग अशक्य है, कदाचित् शक्य बन जाय तो सभी आत्मा सर्वव्यापक एवं समानदेशवर्ती

20 होने से एक मन का संयोग सभी के साथ होगा, प्रतिनियत सम्बन्ध नहीं हो पायेगा।

यदि कहा जाय - जिस आत्मा के अदृष्ट से जो मन सक्रिय बनेगा वह उसी आत्मा का संबन्धी कहा जायेगा। - तो यह गलत है क्योंकि अदृष्ट स्वयं जड है वह किसी भी मन को प्रतिनियत जीव के लिये ही सक्रिय नहीं कर सकता। फिर भी वैसा मानेंगे तो ईश्वरकर्तृत्व की कल्पना ही विध्वस्त हो जायेगी। यदि कहें कि "अदृष्ट जड होने से यद्यपि स्वयं मन को प्रेरित नहीं कर सकता

25 किन्तु ईश्वर से स्वयं प्रेरित हो कर वही अदृष्ट (यहाँ व्याख्या में अदृष्ट के लिये 'अदस्' सर्वनाम का 'असौ' पुल्लिङ्ग प्रयोग आर्ष होने से अदुष्ट है, अथवा असौ का अर्थ आत्मा लेना है) मन को सक्रिय बना सकता है" - तो बड़ी आपत्ति यह होगी - ईश्वर क्यों अदृष्ट द्वारा मन को प्रेरित करे - साक्षात् ही अपने सामर्थ्य से मन को प्रेरित कर देगा - बीच में अदृष्ट की क्या जरूर ? यानी अदृष्ट की कल्पना ही अब निष्फल बन जायेगी।

30 * ईश्वर को मनःप्रेरणा के लिये अदृष्ट सहाय असंगत *

यदि ऐसा कहा जाय - ईश्वर तो कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण है। यदि अदृष्टनिरपेक्ष ही ईश्वर मन का प्रेरक बन जायेगा तो सभी आत्माओं के लिये विना पक्षपात प्रेरणा हो जाने से

चेतनसहितस्य प्रवर्तने मनसोऽदृष्टविकलस्य चेतनसहितस्य प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्यदृष्टपरिकल्पनावैयर्थ्यं पुनः प्रसज्यते। न च प्रतिनियमनिमित्तमदृष्टकल्पना; तस्यापि स्वतःप्रतिनियतत्वाऽसिद्धेः। 'येनात्मना यद् अदृष्टं निर्वर्तितं तत् तस्य इति प्रतिनियमसिद्धिः' इति चेत् ? ननु किमिदमात्मनोऽदृष्टनिर्वर्तकत्वम् ? 'तदाधारभाव' इति चेत् ? ननु समवायस्यैकत्वे आत्मनां च व्यापकत्वेनैकदेशत्वे 'प्रतिनियत एवात्मा प्रतिनियतादृष्टाधारः' इत्येतदेव दुर्घटम्। समवायाऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् प्रतिनियमे समवायाभावप्रसक्तेः। 5 इत्यात्मसुखाद्योस्तत्संवेदनस्य कथंचित्तादात्म्यमभ्युपेयम् अन्यथा तदेकार्थसमवेतज्ञानग्राह्यत्वेन सुखादयो न

किसी एक मन का किसी नियत एक ही आत्मा के साथ सम्बन्ध दुष्कर बन जायेगा। अत एव ईश्वर को अदृष्ट की अपेक्षा रहती है। — तो यह भी निर्दोष नहीं है। कारण, ईश्वर अदृष्ट द्वारा मन को जब प्रेरणा करेगा तब अदृष्ट को तो जड होने के कारण पता ही नहीं है कि मुझे नियत किसी एक आत्मा के प्रति एक ही नियत मन को प्रेरित करना है। ऐसी दशा में प्रतिनियत मन की प्रवृत्ति 10 दुःशक्य बनी रहेगी। यदि कहें कि — अचेतन भी अदृष्ट चेतन सनिहित यानी ईश्वरसनिहित (ईश्वर अधिष्ठित) हो कर किसी एक नियत मन को ही प्रवृत्त करेगा — तो पुनः अदृष्ट - कल्पना निरर्थक ठहरेगी, क्योंकि ऐसा भी कह सकते हैं कि अचेतन मन चेतन (ईश्वर) से अधिष्ठित हो कर किसी नियत एक आत्मा के साथ सम्बन्ध करेगा, बीच में अब अदृष्ट की कल्पना अनावश्यक है।

यदि कहा जाय — ईश्वरप्रेरित मन का नियत आत्मा के साथ सम्बन्ध (यानी यह मन इस 15 आत्मा का ही है, दूसरे का नहीं) उपपन्न करने के लिये उस आत्मा के अदृष्ट का प्रभाव मानना ही होगा, अन्यथा उसी आत्मा के साथ मन के सम्बन्ध का प्रतिनियम कैसे होगा ? — (उत्तर) 'वह अदृष्ट उसी आत्मा का ही है अन्य का नहीं' ऐसा प्रतिनियम भी कहाँ सिद्ध है ? अगर कहें कि — 'जिस आत्माने जिस अदृष्ट का निर्माण किया है वह अदृष्ट उसी आत्मा का माना जायेगा — इस प्रकार 'इस आत्मा का यह अदृष्ट' यह प्रतिनियम बन जायेगा' — तो यह ठीक नहीं है, पहले 20 तो यह दिखाईये कि 'अमुक अदृष्ट का उत्पादक यही आत्मा है' ऐसा किस निमित्त से मानेंगे ? 'वही आत्मा उस अदृष्ट का आधार है, अतः वह अदृष्ट उस आत्मा का है' इस तरह की आधारता को निमित्त दिखायेंगे — तो यह भी दुष्कर है। कारण, आप के मत में सभी आत्मा व्यापक और समान देशवर्ती है, समवाय तो एक ही है, वह सभी आत्मा से सम्बद्ध है। इस दशा में यही आत्मा अमुक अदृष्ट का आधार है ऐसा कहना अशक्य है। यदि कहें कि — समवाय एक होने से सर्वात्मसाधारण 25 है फिर भी समवायी आत्माएँ तो पृथक् पृथक् ही है, अतः नियत आधारता घट सकती है — तब तो समवाय की कल्पना ध्वस्त हो जायेगी, आत्मा पृथक् होने से ही अदृष्ट की नियत आधारता बन जाने पर समवाय की कोई जरूर नहीं रहती।

* आत्मा-सुखादि-संवेदन का कथंचिद् अभेद *

निष्कर्ष, आत्मादि, सुखादि एवं उन के संवेदन, इन सभी का आपस में कथंचिद् अभेदभाव ही 30 स्वीकार लेना उचित है। अन्यथा सुखादि गुण अपने आधारभूत आत्मा में उद्भूत ज्ञान से ही ग्राह्य होने का नियम असिद्ध हो जायेगा। 'सुखादि का अभेद जिस आत्मा से होगा उस आत्मा से अभिन्न

सिद्धिमासादयेयुः। तत्रादृष्टमपि मनसः प्रतिनियमहेतुः। न च 'येनात्मना यन्मनः प्रेर्यते तत् तत्सम्बन्धि' इति प्रतिनियमः, अदृष्टवदात्मनोऽप्यचेतनत्वेन तत् प्रत्यप्रेरकत्वात्। चेतनत्वेऽपि नानुपलब्धस्य प्रेरणामिति न नियतं मनः सिद्ध्यतीत्येकस्मात् ततो युगपत् सर्वसुखादिसंवेदनप्रसक्तिरित्युक्तन्यायेन सुखादिसंवेदन-स्यार्थसंनिकर्षजन्यत्वाभावाद् हेतुरनेन व्यभिचारी (पृ.६७-पं.४)

- 5 किञ्च, स्वसंविदितविज्ञानानभ्युपगमे 'सदसद्गर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलिवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः, तज्ज्ञानान्यसदसद्गर्गयोरनेकत्वाऽविशेषेऽप्येकज्ञानालम्बनत्वाभावात्, एकशाखाप्रभवत्वानुमानवत्। अथ सर्वज्ञज्ञानं स्वसंविदितमिति नानेकत्वानुमानस्य व्यभिचारः तर्हि

संवेदन से ही उस सुखादि का ग्रहण होगा — यह नियम अभेदपक्ष में सुसंगत है। तात्पर्य, 'यह मन उसी आत्मा का है' ऐसे नियतभाव का हेतु अदृष्ट नहीं हो सकता।

- 10 यदि कहें कि — 'जिस मन का जो प्रेरक होगा वह मन उसी आत्मा का सम्बन्धी बनेगा- 'ऐसा प्रतिनियम बन सकता है' — तो यह भी गलत है क्योंकि नैयायिकादि के मत में आत्मा भी मन की तरह स्वतः चेतन न होने से जड है अत एव वह किसी भी मन का प्रेरक नहीं बन सकता। कदाचित् आत्मा को स्वतः चेतन मान ले तो भी वह मन का प्रेरक नहीं बन सकता क्योंकि आप के मत में आत्मा भी असंनिकृष्ट मन का प्रेरक नहीं बन सकता, कौन सा मन कब किस
- 15 आत्मा को संनिकृष्ट बनेगा उस का कोई नियामक नहीं है। अन्ततः 'इस जीव का यह मन' ऐसा नियतभाववाला मन सिद्ध नहीं होता। तब एक ही मन से एकसाथ सर्व आत्माओं को सुखादिसंवेदन हो जाने की विपदा होगी।

- अब तक जो विमर्श किया गया उससे यह सिद्ध होता है जो हमने पहले ही (पृ.६७-पं.२४) कहा था कि "सुखादिसंवेदन इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य है क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानमय है" इस प्रयोग में हेतु व्यभिचारी
- 20 है, क्योंकि सुखादिसंवेदन में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष (मनःसंनिकर्ष) जन्यत्व का पूर्वोक्त प्रकार से अभाव ही सिद्ध हो रहा है। साध्य के विरह में रहनेवाला प्रत्यक्षत्वहेतु साध्यब्रोही ठहरता है।

- नैयायिकादि यदि ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानेंगे तो उन के इस निम्नोक्त अनुमान में हेतु पक्ष के एक अंश में व्यभिचारी ठहरेगा। अनुमानः- "सद् (द्रव्यादि) एवं असत् (अभावादि) का समुदाय किसी को एक ही ज्ञान (केवलज्ञान) के विषयभूत है; क्योंकि वह समुदाय अनेकात्मक है, जैसे पाँच
- 25 ऊँगलियाँ अनेकात्मक हैं तो वह हमारे एक ही ज्ञान में विषयभूत बनती हैं।" इस अनुमान में पक्ष के एक अंश में व्यभिचार दोष होगा। कारण, यहाँ पक्ष में सर्वज्ञ का ज्ञान भी अन्तर्भूत है, यदि वह स्वसंविदित नहीं है तो 'सर्वज्ञज्ञान एवं अन्य सदसत्समुदाय' यह अनेक होते हुए भी किसी एक ज्ञान के विषय नहीं होंगे। (ईश्वर तो एक ही है, उसके ज्ञान में अनेकत्व हेतु न रहने से वहाँ व्यभिचार नहीं बता सकते, इस लिये ईश्वरज्ञान और अन्य सदसत्समुदाय को मिला कर के उस में
- 30 अनेकत्व हेतु के रहने से, एकज्ञानविषयता के न रहने से, हेतु व्यभिचारी बन गया।) यदि कहें कि — 'सर्वज्ञ (ईश्वर) का ज्ञान तो स्वसंविदित मानते ही हैं, अतः अनेकत्व हेतु में व्यभिचार नहीं होगा।' — अरे तब तो, ईश्वरज्ञान में जैसे स्वात्मा में क्रियाविरोध नहीं मानते, इस दृष्टान्त के बल

तज्ज्ञानवदन्यज्ञानस्यापि न स्वात्मनि क्रियाविरोधः इति 'सर्वं ज्ञानं स्वसंविदितम् ज्ञानत्वात् सर्वज्ञज्ञानवत्' इति तद्वृष्टान्तबलात् स्वसंविदितसकलज्ञानसिद्धिः; 'घटादिज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम् ज्ञेयत्वात् घटवद्' इत्यत्र च व्यभिचारः।

अथ 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्या०द०१-१-१६) इति वचनात् आत्मेन्द्रियविषयसंनिधानेऽपि यतो युगपज्ज्ञानानि नोपजायन्ते ततोऽवसीयते अस्ति तत्कारणं यतस्तथा तदनुत्पत्तिरिति तत्कारणं मनः 5 सिद्धम्। ननु तदनुत्पत्तिर्मनःप्रतिबद्धा कुतः सिद्धा यतस्तस्यास्तदनुमीयेत ? अथात्मनः सर्वगतस्य सर्वार्थैः सम्बन्धात् पञ्चभिश्चेन्द्रियैरात्मसम्बद्धैः स्व(स्व)विषयसम्बन्धे एकदा किमिति युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते यद्यपु मनो नेन्द्रियैः सम्बन्धमनुभवेत् ? तत्सद्भावे तु यदैकेनेन्द्रियेणैकदा तत् सम्बध्यते न तदाऽपरेण, तस्य सूक्ष्मत्वात्, इति सिद्धा युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनोनिमित्तेति। नन्वेवं तस्यात्मसंयोगसमये श्रोत्रसंज्ञकेन

से तो अन्य ज्ञानों में भी क्रियाविरोध न होने से सकल ज्ञानों में स्वसंविदितत्व की सिद्धि निराबाध 10 होगी। देखिये - 'ज्ञानमात्र स्वसंविदित होता है क्योंकि ज्ञानमय होता है जैसे सर्वज्ञ (ईश्वर) का ज्ञान।'

आपने जो पहले यह अनुमान प्रस्तुत किया था कि "घटादिज्ञान अन्यज्ञानबोध्य है क्योंकि ज्ञेय है जैसे कि घट" - इस में अब ज्ञेयत्व हेतु में स्पष्ट ही साध्यद्रोह दोष है क्योंकि ज्ञेयत्व हेतु स्वसंविदित सर्वज्ञादि सभी के ज्ञान में रहता है।

✽ एकसाथ अनेकज्ञानानुत्पत्ति से मन की सिद्धि - नैयायिक ✽

15

नैयायिक - 'ज्ञान एकसाथ उत्पन्न नहीं होते हैं यही मन की सिद्धि करनेवाला लिंग है' यह न्यायदर्शन सूत्रवचन मन का साधन है। देखिये - आत्मा का सम्पर्क सभी इन्द्रियों के साथ सदैव रहता है और सभी इन्द्रियों के साथ अपने अपने विषयों का संनिकर्ष भी सदैव रहता है - तब जो प्रश्न होगा कि क्यों एक साथ सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ? इस के उत्तर की शोध में पता चलता है कि और भी एक कारण है जिस के वैकल्य से एक साथ अनेक 20 इन्द्रियों से अनेक ज्ञान नहीं हो पाते, वह कारण ही मन है - यह सिद्ध होता है।

जैन :- 'एक साथ अनेक ज्ञानानुत्पत्ति' मन के ही वैकल्य की बंदौलत है यह कहाँ सिद्ध है जिस से कि 'एकसाथ अनुत्पत्ति' लिंग से मन की अनुमिति हो सके ?

नैयायिक :- यदि अणु मन असिद्ध है, इन्द्रियों के साथ उस का सम्बन्ध असिद्ध है तो प्रश्न यह खडा होगा कि आत्मा सर्वव्यापि होने से सभी पदार्थों से यानी सभी इन्द्रियों से एक साथ सदैव 25 सम्बद्ध रहता है, आत्मसम्बद्ध पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के साथ एक ही काल में जब संनिकृष्ट हैं तब एक साथ अनेक ज्ञान क्यों जन्म नहीं पाते ? मन सिद्ध है एवं मन अणु भी है इसी लिये वह एककाल में एक ही इन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है तब अन्य इन्द्रिय से असम्बद्ध रहता है क्योंकि वह सूक्ष्म अणुमय है, अत एव एक साथ ज्ञान की अनुत्पत्ति मन की बंदौलत होना सिद्ध हो जाता है।

30

नभसापि संयोगात् संयुक्तसमवायाऽविशेषात् सुखादिवत् शब्दोपलब्धिरपि तदैव स्यात्, निमित्तस्य समानत्वेऽपि युगपज्ज्ञानानुपपत्तौ निमित्तान्तरमभ्युपगन्तव्यमिति नातो मनःसिद्धिः।

- न च कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशदेशस्य श्रोत्रत्वात् तेन च तदैव मनसः सम्बन्धाभावान्नायं दोषः; निरंशस्य नभसः प्रदेशाभावात्। न च संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं तस्य प्रदेशव्यपदेशनिमित्तम्, उपचरितस्य व्यपदेशमात्रनिबन्धनस्याऽर्थक्रियायामुपयोगाभावात्, न ह्युपचरिताग्नित्वो माणवकः पाकनिर्वर्तनसमर्थो दृष्टः। न च कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नभोभागस्य तथाविधस्यापि शब्दोपलब्धिहेतुत्वमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् तदुपलब्धेरन्यनिमित्तत्वात्। किंच, चक्षुराद्यन्यतमेन्द्रियसम्बन्धाद् रूपादिज्ञानोत्पत्तिकाले मनसः सम्बद्धसम्बन्धात्

✽ मन अणु होने पर भी सुखादिसंवेदन के साथ शब्दश्रवणापत्ति- जैन ✽

जैन :- मन को मानने पर भी सुखादिसंवेदन काल में शब्द का ज्ञान होने की विपदा तदवस्थ रहेगी।

- 10 जब मन आत्मा से संयुक्त है और आत्मा में सुख का समवाय सम्बन्ध है तब संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से सुख का संवेदन तो होगा, लेकिन उसी काल में मन आकाशरूप श्रोत्रनामक इन्द्रिय से भी संयुक्त है और आकाश में शब्द का समवाय है अतः संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से सुखसंवेदन के साथ साथ ही शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। यहाँ अणु मन दोनों ज्ञान की उत्पत्ति में समानरूप से निमित्त बनेगा। यदि इस विपदा को टालने के लिये किसी अन्य निमित्त की खोज करने जायेंगे तो उसी अन्य निमित्त की सिद्धि 15 होगी, उसी से एक साथ ज्ञानानुत्पत्ति की संगति भी बैठ जायेगी, फिर मन की सिद्धि रुक जायेगी।

✽ कर्णविवरगत गगन की श्रोत्रेन्द्रियता निष्प्रमाण ✽

नैयायिक :- सुखसंवेदन के समय मन का आकाश के साथ संयोग रहते हुए भी श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं होता, क्योंकि पूरा आकाश श्रोत्ररूप नहीं है, सिर्फ कर्णविवरगत आकाशभाग ही श्रोत्र है।

- 20 जैन :- आप के मत से जब आकाश निरंश है, उस का कोई स्वतन्त्र भाग जैसा तत्त्व ही नहीं है तब कर्णविवर गत आकाशभाग को ही श्रोत्रेन्द्रिय कहना बेकार है, मानना है तो निरंश पूरे गगन को 'श्रोत्र' मानना होगा या तो श्रोत्र को आकाशरूप होने की मान्यता छोड़नी पड़ेगी।

नैयायिक :- निरंश होने पर भी गगन में सप्रदेशता व्यवहारसिद्ध है, इसीलिये तो आकाशगत मूर्त्तसंयोग अव्याप्यवृत्ति होना मान्य रखा गया है।

- 25 ✽ उपचरित वस्तु से कार्यसिद्धि दुष्कर ✽

जैन :- गगन की सप्रदेशता का व्यवहार वास्तविक नहीं है, औपचारिक है। व्यवहार के लिये स्वीकृत औपचारिक पदार्थ किसी भी अर्थक्रिया के लिये उपयोगी नहीं बन जाता। अग्नि की तरह प्रचंड तापस्वभावी 'माणवक' नाम के पुरुष को उपचार से अग्नि ही कहा जाता है उस का मतलब यह नहीं है कि उस के सिर पर बरतन रख कर चावल पका लिया जा सके।

- 30 नैयायिक :- प्रस्तुत में तो देखा जाता है कि निरंश गगन के कर्णविवरगत भाग की कल्पना और उस में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यवहार करते हैं तो शब्दश्रवणात्मक अर्थक्रिया निष्प्रण होती है। इस तरह श्रोत्ररूप सीमित आकाश से ही शब्दोपलब्धि मानने में कोई हरकत नहीं।

मानसज्ञानं किं न भवेत् ? न च 'तथाविधादृष्टाभावात्' इत्युत्तरम्, अदृष्टनिमित्तयुगपज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तितो मनसोऽनिमित्तताभावात्। अश्वविकल्पसमये गोदर्शनानुभवाद् युगपज्ज्ञानुत्पत्तिश्चासिद्धा कथं मनोऽनुमापिका?

न चाश्वविकल्प-गोदर्शनयोर्युगपदनुभवेऽपि क्रमोत्पत्तिकल्पना, अध्यक्षविरोधात्। न चोत्पलपत्रशत-व्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः; अध्यक्षसिद्धस्य दृष्टान्तमात्रेणान्यथाकर्तुमशक्तेः, अन्यथा शुक्लशङ्खादौ पीतविभ्रमदर्शनात् स्वर्णेऽपि तद्भ्रान्तिर्भवेत्। 'मूर्त्तस्य सूच्यप्रस्यौत्तराधर्यव्यवस्थितमुत्पलपत्रशतं 5 युगपद् व्याप्तुमशक्तेः क्रमभेदेऽप्याशुवृत्तेस्तत्र यौगपद्याभिमानः' इति युक्तम्, आत्मनस्तु क्षयोपशमसव्यपेक्षस्य

जैन :- गगनांशरूप श्रोत्र शब्दोपलब्धि का निमित्त ही नहीं है। शब्दोपलब्धि का निमित्त तो कर्णविवरान्तर्गत कर्णपटलादि ही श्रोत्रेन्द्रियरूप है।

दूसरा प्रश्न यह है — मन जब नेत्रादि किसी एक इन्द्रिय से संनिकर्ष करता है तब रूपादिविज्ञान जैसे उत्पन्न होता है, उसी काल में मानसप्रत्यक्ष भी क्यों नहीं होता, जब कि उसी समय इन्द्रियसम्बद्ध 10 मन का आत्मा से सम्बन्ध तो मौजूद ही रहता है ?

नैयायिक :- उस काल में मानसप्रत्यक्षकारण अदृष्ट नहीं होने से मानसज्ञान नहीं हो सकता।

जैन :- यह उत्तर व्यर्थ है, क्योंकि इस का फलितार्थ यह निकलेगा कि एकसाथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने की वजह है तथाविधअदृष्टवैकल्य, न कि मन। (तब मन की निमित्तता का भंग प्रसक्त होगा।) 15

सच बात तो यह है कि जब अश्वदर्शन के बाद दृष्टा को अश्व का विकल्पज्ञान उदित होता है उसी समय गोसंनिकर्ष के द्वारा गडआ का दर्शन भी उत्पन्न होता है, यानी एकसाथ दो ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं, तब असिद्ध एकसाथज्ञानद्वयानुत्पत्ति को लिंग बना कर मन के अनुमान को अवकाश ही कहाँ बचता है ?

✽ युगपद् ज्ञानोत्पादअनुभव भ्रमरूप नहीं है ✽ 20

पूर्वपक्षी :- अश्वविकल्प के काल में साथ साथ गोदर्शन का अनुभव भले होता हो लेकिन कल्पना से वहाँ भी क्रमिक उत्पत्ति ही मानना चाहिये।

उत्तरपक्षी :- ऐसी कल्पना करने में स्पष्ट ही प्रत्यक्ष का विरोध है।

पूर्वपक्षी :- सहोत्पत्ति विषयक प्रत्यक्ष तो भ्रान्त है। उदा० एक सो कमल पत्रों का जब किसी नुकिली सुइ से वेध किया जाय तब जैसे आदमी को यह भ्रम होता है कि मैंने एकसाथ ही सभी 25 पत्रों का वेध कर दिया। वास्तव में तो वहाँ ऊपर से नीचे एक के बाद दूसरे का वेध होता है किन्तु अतिशीघ्र होने से क्रम लक्षित नहीं होता, इस लिये समकालीन वेध होने का अभिमान = भ्रम होता है। प्रस्तुत में भी ज्ञानद्वय की समकालीनता का अभिमान है।

उत्तरपक्षी :- प्रत्यक्षसिद्ध तथ्य को सिर्फ कमलपत्रवेध के दृष्टान्त के द्वारा उलटाने का प्रयास करना अयोग्य है। ऐसी तथ्य को उलटाने की चेष्टा करेंगे तो श्वेत शंख के विषय में रोगप्रस्त को 30 होनेवाले पीतभ्रम का उदाहरण ले कर सुवर्ण के पीतप्रत्यक्ष को भी भ्रान्त कहने लग जायेंगे।

कमलपत्र वेध प्रसंग में समकालीनता के प्रत्यक्ष को भ्रान्त मानना सयुक्तिक है क्योंकि ऊपर-

युगपत् स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य स्वयममूर्त्तस्याप्राप्तार्थग्राहिणो युगपत् स्वविषयग्रहणे न कश्चिद् विरोध इति किं न युगपद् ज्ञानोत्पत्तिः ? न च मनोऽपि सूक्ष्मप्रबन्मूर्त्तमिन्द्रियाणि तूत्पलपत्रवत् परस्परपरिहारस्थितस्वरूपाणि न युगपत् व्याप्तुं समर्थमिति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः; तथाभूतस्य तस्यैवाऽसिद्धेः। तथाहि— सिद्धे तद्विभ्रमे मनःसिद्धिः तत्सिद्धौ च युगपद् ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वाद् न मनःसिद्धिः।

ननु 'जुगवं दो णत्थि उवओगा' (आव. नि. ९७९) इति वचनाद् भवतोऽपि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः सिद्धैव। न, मानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वादस्य नेन्द्रिय-मनोविज्ञानयोर्यौगपद्यनिषेधः। न च "विवादास्पदीभूतानि ज्ञानानि क्रमभावीनि ज्ञानत्वात्, मानसविकल्पद्वयवद्" इत्यतोऽनुमानात् तद्विभ्रमसिद्धिः; नीचे रहे हुए सो कमलपत्रों का सम्पर्क सुए के अग्रभाग से एक साथ किया नहीं जा सकता, अतः सभी पत्रों का वेध यानी भेद क्रमशः ही हो सकता है, शीघ्रता के कारण वहाँ क्रम लक्षित न होने से समकालीनता का अभिमान हो सकता है। इस का मतलब यह नहीं है कि सर्वत्र ऐसा ही मान लेना।

आत्मा क्षयोपशम के मुताबिक स्वपरप्रकाशक ज्ञानस्वभाववाला है, स्वयं अमूर्त्त है, अप्राप्त यानी सम्पर्क के बिना भी अर्थ का ग्राहक है, अत एव सुए की तरह सम्पर्क की जरूर न होने से वह एकसाथ अपने विषय को ग्रहण करे उस में कोई विरोध नहीं है — ऐसी स्थिति में क्षयोपशम के बल से स्वभावानुसार एकसाथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति में क्या आश्चर्य है ?

* यौगपद्याभिमान और मन की सिद्धि में अन्योन्याश्रय *

पूर्वपक्षी :- मन भी सुए के अग्रभाग जैसा ही सूक्ष्म और मूर्त्त ही है, दूसरी ओर इन्द्रियाँ सो कमलपत्रों की तरह मूर्त्त होने के कारण अलग अलग एक दूसरे से पृथक् रहने के स्वभाववाली हैं। ऐसी इन्द्रियों के साथ मन विचारा एक साथ कैसे सम्पर्क कर पायेगा ? इस लिये एकसाथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति शक्य नहीं है।

उत्तरपक्षी :- मन सुए के अग्रभाग की तरह सूक्ष्म है, मूर्त्त है यह भी कहाँ सिद्ध है, अब तक तो मन की ही सिद्धि नहीं हुई, सूक्ष्मता आदि की बात कहाँ ? देखिये — ज्ञानद्वय का समकालीन प्रत्यक्ष विभ्रम होने का सिद्ध होने पर ही मन की सिद्धि हो सकती है और मन सिद्ध होने पर समकालीनज्ञानद्वय की उत्पत्ति की प्रतीति विभ्रमरूप होने की सिद्धि होगी। इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होने से मन की सिद्धि नहीं हो सकती।

* 'जुगवं दो णत्थि उवओगा' सूत्र का वास्तविक अर्थ *

पूर्वपक्षी :- एकसाथ अनेकज्ञान की अनुत्पत्ति तो आप के मत से भी सिद्ध है — आवश्यकनियुक्तिशास्त्र में कहा है कि 'एकसाथ दो उपयोग नहीं होते।'

उत्तरपक्षी :- वह जो कहा है उस का अर्थ है — 'एक साथ दो मानसिक सविकल्पज्ञान नहीं होते।' अतः इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान इन दोनों के समकालीनत्व का निषेध नहीं किया गया।

□. नाणम्मि दंसणम्मि अ इत्तो एगयरम्मि उवउत्ता। सक्वस्स केवलस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा।। [आ०नि० ७९७]

अस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। न चैतदनुमानबाधितत्वात् युग-
पत्रप्रतिपत्त्यनुभवः प्रत्यक्षमेव न भवति; 'अश्रावणः शब्दः सत्त्वात् घटवत्' इत्यनुमानबाधितत्वात् श्रावण-
शब्दज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षताप्रसक्तेः। न च सौगतमतमेतत् न जैनमतमिति वक्तव्यम् "सहभाविनो गुणाः,
क्रमभाविनः पर्यायाः" [] इति जैनैरभिधानात्। तथा च सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थ-
मुक्तम्— []

5

* सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्। शक्तिः क्रियानुमेया स्याद् यूनः कान्तासमागमे॥

तदेवं मनसोऽसिद्धेर्न घटादिज्ञानं तेन सन्निकृष्टमिति कुतस्तत्राध्यक्षज्ञानोत्पत्तिः ? इति यतस्ततस्तत्
प्रतीयेत, न चान्यत् तदुत्पत्तौ पराभ्युपगमेन निमित्तमस्ति, सद्भावे वेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिना
तद्ग्राहिणोऽध्यक्षता विरुध्येत। अथ ज्ञानान्तरस्यानध्यक्षत्वेऽपि घटज्ञानग्राहकता भविष्यतीति न धर्म्य-

पूर्वपक्षी :- अब तो हमारे लिये ज्ञानक्रमिकत्व की सिद्धि निर्विघ्न बन गयी। अनुमान :- 10
'विवादाधिकरण ज्ञानद्वय क्रमिक होते हैं क्योंकि ज्ञानमय है, जैसे आप के मानसिक सविकल्पज्ञानद्वय।'
इस अनुमान से तो अब अक्रमिकता का प्रत्यक्ष अनुभव बाधग्रस्त बन गया।

उत्तरपक्षी :- नहीं नहीं, इस अनुमान के पहले ही उक्त प्रत्यक्ष अनुभव से क्रमाभाव सिद्ध हो
जाने से, इस अनुमान का साध्य क्रमिकत्व प्रत्यक्षबाधित हो गया, तदनन्तर 'ज्ञानमय' हेतु प्रयुक्त होने
से वह कालात्ययापदिष्ट दोष का शिकार बन गया है। 15

पूर्वपक्षी :- इस से उल्टा, उक्त अनुमान से 'समकालीनत्वग्राही अनुभवात्मक प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष
रूप नहीं' ऐसा क्यों नहीं सिद्ध होगा।

उत्तरपक्षी :- ऐसा उल्टा मानेंगे तो शब्दप्रत्यक्ष का भी विलोप होने की विपदा होगी। देखिये
— 'शब्द श्रावणप्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि सत् है जैसे घट' — इस अनुमान के बाध से ऐसा ही सिद्ध
हो जायेगा कि शब्द का प्रत्यक्षानुभव प्रत्यक्षात्मक नहीं, विभ्रम है। 20

पूर्वपक्षी :- आप जो ज्ञान के अक्रमिकत्व को सिद्ध कर रहे हैं वह जैनमत नहीं है, बौद्ध का
मत है।

उत्तरपक्षी :- नहीं जी, जैनों का यही मत है। कहा गया है कि 'गुण सहभावी होते हैं, पर्याय
क्रमभावी होते हैं।' ज्ञान तो आत्मा का गुण ही है। जैन मनीषियोंने गुणों के सहभावित्व (यानी
समकालीनत्व) का निरूपण करते हुए यह कहा है - "महिलामेलाप में आह्लादनस्वरूप सुख, (महिलात्मक) 25
ज्ञेय के परिच्छेदस्वरूप विज्ञान एवं क्रिया से अनुमेय (भोग) शक्ति, इन तीनों का उदय होता है।"

* ज्ञानग्राहक ज्ञान की प्रत्यक्षता असिद्ध *

जब मन ही सिद्ध नहीं है तो घटादिज्ञान के साथ मन का संनिकर्ष भी सिद्ध नहीं, अब
घटादिज्ञानग्राहक अनुव्यवसाय प्रत्यक्ष का उद्भव भी कैसे होगा ? फलितार्थ यह होगा कि घटादिज्ञान
स्वतः या परतः किसी भी हेतु से गृहीत हो सकता है। कारण, मन (जो अभी सिद्ध नहीं है) के 30
अलावा दूसरा तो ज्ञानप्रतीति का, आप के मत में निमित्त ही नहीं है। यदि मीमांसक की भाँति

* न्यायविनिश्चयाद्यखंडे पृष्ठे १२८ मध्ये स्याद्वादमहार्णवनाम्नोद्धतमिदं पद्यम्।

सिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुर्भविष्यति घटज्ञानस्य ततः सिद्धेः। असदेतत्; स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वाद् अन्यथा सर्वज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्वं भवेत् इति तस्यापि सर्वज्ञताप्रसक्तिः। न च स्वज्ञानगृहीतं तद्गृहीतमिति नायं दोषः, स्वसंविदितज्ञानाभावे 'स्वज्ञानम्' इत्यस्यैवाऽसिद्धेः। स्वस्मिन् समवेतं स्वज्ञानमभिधीयते इति नायं दोष इति चेत् ? न, तस्याभावात् भावेऽप्यविशिष्टत्वाच्च। न

5 च स्वोत्पादितं 'स्वम्' इति वक्तव्यम्; तदुत्पादस्य परदर्शने तदाधेयत्वेन प्रसिद्धत्वात्, समवायाभावे च तस्याप्यसिद्धत्वान्नित्यस्य चेश्वरज्ञानस्येश्वरज्ञानत्वासिद्धेः।

ज्ञातता आदि दूसरे किसी निमित्त को घटज्ञान का ग्राहक (अनुमापक) मानेंगे तो उस घटज्ञान की प्रत्यक्षता (प्रत्यक्षप्राप्तता) का विरोध होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य होता है न कि ज्ञाततादिजन्य। तात्पर्य, ज्ञानग्राहक ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं होगा।

10 **पूर्वपक्षी :-** भले ही वह प्रत्यक्षात्मक न हो, लेकिन उस से एक बार घटादिज्ञानरूप धर्मी तो सिद्ध हो गया न ! तब हमने जो पहले ज्ञेयत्व हेतुक स्वतो अग्राह्यता या परतोप्राह्यता का अनुमान प्रस्तुत किया है उस में हेतु को आश्रयासिद्धि का दोष नहीं होगा, क्योंकि अप्रत्यक्षज्ञान से घटादिज्ञानरूप धर्मी सिद्ध हो चुका है।

उत्तरपक्षी :- आप का कथन गलत है। घटज्ञानग्राहक ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष होने से असिद्ध है, जैसे असिद्धबन्ध्यापुत्रगृहीत दण्ड भी असिद्ध यानी अगृहीत ही होता है वैसे ही असिद्ध ज्ञान से गृहीत घटज्ञान भी अगृहीत ही रह जाता है। ऐसा नहीं मानने पर सर्वज्ञ का ज्ञान, जो कि आप के लिये असिद्ध है, उस से गृहीत अतीन्द्रिय तत्त्व, आम आदमी के ज्ञान से भी 'गृहीत' बन जायेगा, नतीजतन आम जनता भी सर्वज्ञ बन जायेगी। हालाँकि आम आदमी का वह ज्ञान भले ही सिद्ध नहीं है, लेकिन सर्वज्ञज्ञान से आम आदमी को भी सभी वस्तु का ग्रहण मानने में क्या दोष है ?

20 *** आम आदमी में सर्वज्ञताप्रसक्ति का समर्थन ***

पूर्वपक्षी :- जो अपने ज्ञान से गृहीत हो उसी को हम 'गृहीत' कह सकते हैं, आम आदमी के लिये सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीय ज्ञान नहीं है, परकीय है, परकीय ज्ञान से कुछ भी अपने को गृहीत नहीं हो सकता।

उत्तरपक्षी :- जो ज्ञान असंविदित है वह स्वकीय है या परकीय—कह ही नहीं सकते।

25 **पूर्वपक्षी :-** ज्ञान जिस आत्मा में समवेत होगा वह उसी आत्मा के लिये 'स्वज्ञान' कहा जा सकता है। अतः आमजनता में सर्वज्ञता की प्रसक्ति का दोष नहीं रहेगा।

उत्तरपक्षी :- गलत बात है। समवाय है कहाँ ? है तो एक होने से सभी के लिये समानरूप से सम्बन्धकारक है। अतः एक ज्ञान सभी का ज्ञान बन कर रहेगा।

पूर्वपक्षी :- जिस आत्मा से ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह ज्ञान उस आत्मा का स्वज्ञान कहा जा सकता है, अब क्या दोष है ?

उत्तरपक्षी :- समवाय के बिना आप के मत में 'अमुक ज्ञान अमुक आत्मा से उत्पन्न हुआ' ऐसा बोल ही नहीं सकते, क्योंकि आप के मत में जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आश्रित

न च स्वसंविदितज्ञानवादेऽपि स्वसंविदितत्वाऽविशेषाद् देवदत्तज्ञानं यज्ञदत्तज्ञानं प्रसज्येत, यज्ञदत्तज्ञानस्य देवदत्ताऽसंविदितत्वात्, स्वज्ञानस्य कथंचित् स्वात्मना तादात्म्यात् तस्यैव तद्गुणतया परिणतेरिति प्रसाधितत्वात् । 'ज्ञानान्तरेण तस्य संवेदनात् नाऽगृहीतत्वमिति चेत् ? न, तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः, अग्रहणेऽगृहीतवेदनेन गृहीतस्य द्वितीयज्ञानस्याऽगृहीतरूपत्वाच्च तेन प्रथमग्रहणमिति तदवस्था धर्म्यसिद्धिः ।
— तेन “घटादिज्ञानस्य धर्मिणः द्वितीयेन, तस्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्था” 5
— इति यदुक्तम् तदप्यसङ्गतम् तृतीयादेर्ज्ञानस्याऽग्रहणे प्रथमस्याप्यसिद्धेरुक्तन्यायात् । यदि पुनस्तृतीयज्ञानेन स्वयमसिद्धेनापि द्वितीयं गृह्यते द्वितीयेन तथाभूतेनैव प्रथमम् तेनापि तथाभूतेनैवाऽर्थो गृहीष्यते इति द्वितीयज्ञानपरिकल्पनमपि व्यर्थमासज्येत ।

होता है उस आत्मा से उस ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। तात्पर्य, समवाय से तद्वृत्तित्व को ही तदुत्पत्तिरूप माना जाता है। जब तक समवाय असिद्ध है तब तक 'तदुत्पत्ति' भी असिद्ध होने से 'यह ज्ञान इसी आत्मा का' ऐसा बोलेंगे कैसे ? दूसरा दोष यह होगा कि ईश्वर का नित्य ज्ञान ईश्वरोत्पादित न होने से 'यह ईश्वर का ज्ञान' ऐसा भी बोल नहीं सकेंगे।

✽ स्वसंविदितज्ञानपक्ष में साधारण्यापत्ति का निराकरण ✽

पूर्वपक्षी :- आप के स्वप्रकाशज्ञानवाद में भी देवदत्त का ज्ञान ही यज्ञदत्त का भी कहा ही जायेगा क्योंकि ज्ञान स्वसंविदित है वह देवदत्त या यज्ञदत्त में पक्षपात नहीं करेगा। 15

उत्तरपक्ष :- नहीं, यज्ञदत्त का स्वसंविदित ज्ञान देवदत्त के लिये स्वसंविदित नहीं है फिर कैसे यज्ञदत्त का ज्ञान देवदत्त का कहा जायेगा ? वह ज्ञान यज्ञदत्त का ही होने में तादात्म्य ही नियन्त्रक है, यज्ञदत्तीय ज्ञान का यज्ञदत्त की आत्मा के साथ ही तादात्म्य है क्योंकि यज्ञदत्त की आत्मा ही अपने ज्ञान के रूप में परिणत बनती है, पहले यह तथ्य सिद्ध हो चुका है।

पूर्वपक्षी :- हमारे पक्ष में ज्ञान स्वसंविदित न होने पर भी सर्वथा अविदित = अगृहीत नहीं होता किन्तु उत्तरकालीन अन्य ज्ञान से प्रथमज्ञान गृहीत होता है अत एव उस से अर्थग्रहण संगत होगा। 20

उत्तरपक्षी :- बोलना मत, वह दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञान से, तीसरा चौथे ज्ञान से... इस तरह अनवस्था प्रसक्त होगी उस का क्या ? यदि तीसरा ज्ञान गृहीत नहीं होगा तो उस से ग्रहण किया गया दूसरा ज्ञान भी अगृहीत तुल्य ही बना रहेगा, अतः उस से प्रथमज्ञान (घटादिज्ञान) भी अगृहीत 25 यानी असिद्ध ही रह गया, अतः उस में स्वसंविदितत्व निषेध के लिये किये गये ज्ञेयत्वहेतुक अनुमान में धर्मी (घटादिज्ञान) की असिद्धि वज्रलेपवत् रही।

✽ अनुव्यवसाय की कल्पना का निरसन ✽

अत एव आपने जो पहले बयान किया था कि — “घटादिज्ञानरूपी धर्मी का द्वितीय ज्ञान से और द्वितीय ज्ञान का ग्रहण तीसरे ज्ञान से हो जाने पर, गृहीत द्वितीय ज्ञान से गृहीत प्रथम ज्ञान 30 रूपी धर्मी से, घटादि अर्थ की सिद्धि निष्पन्न है, अब चौथे, पाँचवे... ज्ञान की कल्पना नहीं करने से अनवस्था दोष नहीं होगा।” — वह संगत नहीं है, चूँकि तीसरे ज्ञान का चतुर्थज्ञान से, उस का

न च 'विदितोऽर्थः' इति ज्ञानविशेषणस्यार्थस्य प्रतिपत्तेः "अगृहीतविशेषणा च विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायत" [] इति विशेषणग्राहिज्ञानं द्वितीयं परिकल्प्यते। न च विशेषणस्यापरविशेषणविशिष्टता प्रतीयते येन तृतीयादिज्ञानपरिकल्पना युक्तिसङ्गता भवेदिति वक्तव्यम्, विशेषणस्यैव तृतीयादिज्ञानपरिकल्पनामन्तरेण ग्रहणाऽसम्भवादित्युक्तेः, स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगम एव ज्ञानविशेषणविशिष्टार्थप्रतिपत्तिः संभविनी अन्यथा तदयोगादनवस्थाऽनिवृत्तेः। न च विषयान्तरसञ्चारादनवस्थानिवृत्तिः, यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनादि विषयान्तरम् तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिर्विषयान्तरसञ्चारः, न चापरापरज्ञानग्राहिज्ञानसन्तत्युत्पत्तावश्यक्यंभाविबाह्य-साधनादिविषयसन्निधानम् येन तत्र ज्ञानस्य सञ्चारो भवेत्। सन्निधानेऽपि 'अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव पंचम ज्ञान से जब तक ग्रहण नहीं मानेंगे तब तक पूर्वोक्तन्यायानुसार द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान का भी ग्रहण शक्य न होने से वह असिद्ध ही बना रहेगा। यदि कहा जाय कि स्वयं अगृहीत तीसरे ज्ञान से द्वितीय ज्ञान का ग्रहण शक्य है, तो स्वयं अगृहीत द्वितीय ज्ञान से पहले का और स्वयं अगृहीत प्रथम ज्ञान से अर्थ का ग्रहण भी शक्य होने से, प्रथमज्ञानप्राहक अनुव्यवसाय की कल्पना भी बेकार है।

✽ तृतीयादिज्ञानकल्पना का बचाव निरर्थक ✽

यदि कहा जाय — "अर्थ ज्ञात हुआ" इस प्रकार का जो अर्थसंवेदन होता है उस में विषयतासम्बन्ध से ज्ञान अर्थ के विशेषण के रूप में संविदित होता है, विशेष्यरूप में अर्थ का भान होता है। यह प्रसिद्ध तथ्य है कि विशेषण अज्ञात रहने पर कोई पदार्थ उस के विशेष्यरूप में भासित नहीं होता। इस परमार्थ के फलस्वरूप यह मानना होगा कि विशेषणभूत ज्ञान का अन्य ज्ञान से ग्रहण होता है। इस द्वितीय ज्ञान को मानने पर तृतीय ज्ञान को उस के ग्राहकरूप में मानने की आपत्ति इस लिये निरवकाश है कि द्वितीय ज्ञान से विशिष्ट हो कर कोई नया विशेष्य प्रतीत नहीं होता, अगर वह भी किसी नये ज्ञानरूप विशेषण से विशिष्ट हो कर प्रतीत होता तब तो तीसरे ज्ञान की कल्पना करनी पडती।" —

ऐसा कहना गलत है क्योंकि विशेषणप्राहक दूसरा ज्ञान भी जब तक तीसरे ज्ञान से ज्ञात नहीं रहेगा तब तक वह अज्ञात रहने से विशेषणरूप से प्रथमज्ञान को कैसे भासित कर सकेगा ? इस ढंग से होनेवाली अनवस्था को रोकने के लिये ज्ञान को स्वसंविदित स्वीकारना होगा, तभी ज्ञानात्मक विशेषण से विशिष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव हो सकेगा। स्वसंवेदन न मानने पर तो, परतः प्रकाश मानने पर अन्य अन्य ज्ञान की आवश्यकता के कारण अनवस्था तदवस्थ रहेगी।

✽ विषयान्तर संचार से तृतीयादिज्ञान का बाध अशक्य ✽

पूर्वपक्षी :- दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान गृहीत हो जाने पर नये नये विषयों में ज्ञान का सञ्चार होते रहने से, तीसरे-चौथे ज्ञान का उत्थान ही नहीं होगा, अपने आप अनवस्था टल जायेगी।
उत्तरपक्षी :- नहीं, विषयान्तरसंचार का मतलब यह है कि विवादास्पद ज्ञान (यानी धर्मिज्ञान) होने के बाद उस के सीलसीले में उस के साधक साधनादि ही विषयान्तर है जिस का अन्वेषण उत्थित होगा — यही विषयान्तर संचार संभवित है न कि अन्य किसी बाह्यविषय में संचार। ऐसा नियम

बलीयस्त्वान्' [] नान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषये ज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः ? न चादृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनाप्यनवस्थानिवृत्तेः संभवाद्, अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमानेऽदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः, स्वसंवेदनेऽपि चादृष्टस्य शक्तिप्रक्षयाभावात्।

एतेन 'ईश्वरादेरनवस्थानिवृत्तिः' इति प्रतिविहितम् तस्याऽदृष्टकल्पनत्वात् प्रतिषिद्धत्वाच्च। न च शक्तिप्रक्षयाच्चतुर्थज्ञानादेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तिः, धर्मिग्रहणस्यैवमभावापत्तेः। किञ्च, शक्तिर्यद्वात्मनोऽव्यतिरिक्ता 5 तदा तत्क्षये आत्मनोऽपि क्षयापत्तिः। व्यतिरिक्ता चेत् ? तत एव ज्ञानोत्पत्तेरनर्थक आत्मा भवेत्। न

नहीं है कि नये नये ज्ञानसन्तान की उत्पत्ति के काल में बाह्य साधनादिरूप विषय का संनिधान अवश्य रहेगा, जिस से कि तृतीय-चतुर्थादि ज्ञानोत्पाद रुक जाय और दूसरे विषय में ज्ञान का संचार हो जाय। कदाचित् अन्य विषय के संनिधान का नियम मान लिया जाय, फिर भी अप्रकाशज्ञानवाद में विषयान्तरसंचार रुक कर तृतीयादिज्ञानोत्पाद की ही प्रसक्ति होगी। कारण यह नियम है कि जब 10 अन्तरंग एवं बहिरंग ऐसे दो कारण (सामग्री) का संनिधान युगपद् हो जाय तब बहिरंग से भी अन्तरंग सामग्री बलवती होने से बहिरंग कार्य रुक जायेगा, अन्तरंग कार्य ही जन्म लेगा। प्रस्तुत में तृतीयादि ज्ञानोत्पत्ति की सामग्रीरूप ज्ञान अन्तरंग साधन है जब कि बाह्य साधनादि विषय बहिरंग है। अतः विषयान्तरसंचार न होगा, तृतीयादि ज्ञान ही जन्म लेते रहेंगे — अनवस्था ज्यों की त्यों रहेगी।

पूर्वपक्षी :- विषयान्तरसंचार से न रुकनेवाली अनवस्था आखिर अदृष्ट से रुक जायेगी। 15

उत्तरपक्षी :- नहीं, ऐसी अदृष्ट की कल्पना किये बिना सिर्फ स्वसंविदित ज्ञान का स्वीकार कर लेने पर भी अनवस्था रुक सकती है। अदृष्ट की कल्पना सिर्फ ऐसे कार्यों के पीछे की जाती है जहाँ उस के बिना प्रस्तावित कार्य की उत्पत्ति ही न हो सके। स्वसंवेदन पक्ष में भी अदृष्ट की शक्ति का विलय नहीं हो जाता। तात्पर्य, अदृष्ट के द्वारा अनवस्था को रोकने की कल्पना करने के बजाय अदृष्ट को स्वसंवेदन ज्ञान के उत्पाद में ही प्रयोजक क्यों न माना जाय ? 20

* ईश्वर की या शक्तिप्रत्यक्ष की कल्पना का निरसन *

अनवस्था के निरसनार्थ अदृष्ट की कल्पना के प्रतिविधान की तरह ईश्वरकल्पना का भी प्रतिविधान समझ लेना चाहिये। कारण, ईश्वर की कल्पना अदृष्ट की कल्पना ही है। जब तक स्वप्रकाशज्ञान मान लेने से अनवस्थानिरसन संभव है तब तक अदृष्ट की तरह ईश्वर की कल्पना भी व्यर्थ है और प्रथमखंड में ईश्वरकर्तृत्व का निषेध हो चुका है। 25

पूर्वपक्षी :- तृतीयज्ञान से चतुर्थज्ञानजनक आत्मशक्ति क्षीण हो जाने से चतुर्थज्ञानोत्पाद रुक जायेगा, अनवस्था भी रुक जायेगी।

उत्तरपक्ष :- पहले कह दिया है कि तृतीय ज्ञान के अगृहीत रहने पर द्वितीय और प्रथम ज्ञान अगृहीत रहने से अर्थस्वरूप धर्मी का भी ग्रहण नहीं हो पायेगा।

चतुर्थज्ञानजनक शक्ति आत्मा से भिन्न यानी पृथक् है या अभिन्न है ? यदि अभिन्न मानेंगे तो 30 शक्तिक्षय से आत्मक्षय भी प्रसक्त होगा। भिन्न मानेंगे तो उस से ही ज्ञान की भी उत्पत्ति शक्य बन जाने से आत्मा का अस्तित्व निरर्थक बन जायेगा। यदि कहें कि — “भिन्न होने पर भी ‘वह शक्ति

- च 'सा तस्य' इति नात्मानर्थक्यम् समवायाभावे 'तस्य सा' इत्यसिद्धेः। किञ्च, यदि शक्तिप्रक्षयादनवस्थानिवृत्तिः बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत् शक्तिप्रक्षयादेव। न च चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयो न बाह्यविषयज्ञानशक्तेः; युगपदनेकशक्त्यभावात् भावे वा युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसक्तिः। सहकार्यपेक्षापि नित्यस्याऽसम्भविनीति प्रतिपादितम् (पृ०६०-पं०१)। क्रमेण शक्तिभावे कुतः स इति वक्तव्यम् ? आत्मन इति चेत् ? न,
- 5 अपरशक्तिविकलात् ततः तदभावात् अपरशक्तिपरिकल्पने तद्भावेऽप्यपरशक्तिपरिकल्पनमित्यनवस्था। तदेवं स्वसंविदितविज्ञानानभ्युपगमे कथञ्चिद् घटादिज्ञानस्यासिद्धेराश्रयासिद्धः 'ज्ञेयत्वात्' इति हेतुः (पृ०६५-पं०७) स्वरूपासिद्धश्चेति व्यवस्थितमेतत् स्वनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति।

आत्मा की' ही है अतः आत्मा निरर्थक कैसे होगा ?" — यह कहना गलत है क्योंकि समवाय असिद्ध होने से 'भिन्न शक्ति आत्मा की' कैसे सिद्ध होगी ?

- 10 दूसरी बात यह है कि यदि आत्मशक्ति क्षीण हो जाने से अनवस्था निवृत्त होगी तो शक्ति क्षीण हो जाने से ही बाह्यविषय का भी तब ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

पूर्वपक्षी :- सिर्फ चतुर्थादिज्ञानजनक शक्ति का ही क्षय मानेंगे, बाह्यविषयकज्ञानजनक शक्ति का नहीं।

- उत्तरपक्षी :-** नहीं, आत्मा में एक साथ अनेकशक्ति का अस्तित्व मानना, उस में से किसी का 15 क्षय मानना किसी का नहीं, यह नहीं हो सकता। एक साथ अनेक शक्ति मानने पर तो एक साथ अनेकज्ञानजन्म का भी अनिष्ट प्रसक्त होगा।

पूर्वपक्षी :- नहीं होगा, जिस ज्ञान के लिये सहकारी सांनिध्य होगा वही उत्पन्न होगा न कि सब एकसाथ।

- उत्तरपक्षी :-** आत्मा नित्य है, नित्य पदार्थ को अपने कार्य करने में सहकारी की अपेक्षा घटती 20 नहीं। पहले यह बात (पृ०६०-पं०१६) की गयी है।

✽ नित्य आत्मा में क्रमिक शक्ति-आविर्भाव अशक्य ✽

- यदि कहें कि — 'अन्य अन्य ज्ञानजननशक्ति एक आत्मा में क्रमशः होती है, एक साथ नहीं होती अतः एकसाथ अनेकज्ञानजन्म की समस्या नहीं रहेगी' — तो यह भी असंगत है। जब आत्मा नित्य है तो शक्ति कैसे क्रमिक होगी ? एकसाथ क्यों नहीं ? केवल आत्मा से तो वैसा शक्य नहीं 25 है। कारण शक्तिक्रम व्यवस्थापक अन्य शक्ति के विना केवल आत्मा से शक्तिक्रम सम्भव नहीं है। यदि शक्तिक्रम के लिये अन्यशक्ति मान लेंगे तो वैसी शक्ति के क्रमादि की व्यवस्था के लिये और एक शक्ति, उस के लिये भी और एक... इस तरह अनवस्था प्रसक्त होगी।

- उक्त प्रकार से यह फलित होता है कि ज्ञान को स्वसंविदित न मानने पर किसी भी तरह 'घटादिज्ञान' रूप पक्ष ही सिद्ध न होने से, 'स्वग्राह्य नहीं होता' इस साध्य का साधक 'ज्ञेयत्व' हेतु 30 आश्रयासिद्ध एवं स्वरूपतः असिद्ध बन जायेगा। यानी पहले जो पूर्वपक्षी ने यह अनुमान (पृ०६५-पं०७) कहा था 'घटादिज्ञान स्वग्राह्य नहीं होता क्योंकि ज्ञेयभावरूप है घटादिवत्' यह अनुमान मिथ्या सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञान स्वभावतः स्वग्राही है।

卐 अर्थः परमार्थः ज्ञानमर्थनिर्णायकम् 卐
(विज्ञानवाद-शून्यतावादनिरसनम्)

अत्राह सौगतः— भवतु स्वसंविदितं ज्ञानम् अर्थग्रहणस्वभावं तु तत्र युक्तम् अर्थस्यैवाभावात्। तथाहि, यद् अवभासते तद् ज्ञानम् यथा सुखादिः, अवभासते च नीलादिकमिति स्वभावहेतुः।

नन्वत्र किं ^Aस्वतोऽवभासो हेतुः ^Bउत परतः ? ^Cआहोस्विदवभासमात्रम् ? इति विकल्पाः। 5

तत्र ^Aयद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, परं प्रति तस्याऽसिद्धत्वात्, 'नीलमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया नीलाद् विभिन्नतया प्रतीयमानेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणाभ्युपगमात् परानपेक्षनीलाद्यवभासः परस्य सिद्धः। यदि तु परनिरपेक्षो नीलाद्यवभासः परस्य सिद्धो भवेत् किमतो हेतोरपरं साध्यमिति वक्तव्यम्। ज्ञानरूपतेति चेत् ? ननु सा यदि प्रकाशता तदा हेतुसिद्धौ सिद्धैव न साध्या। अथ सा न सिद्धा, कथं हेतोर्नासिद्धिः ? अथ ^{*}भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् स्वतोऽवभासनं नीलादिष्वभ्युपगच्छन्नपि ज्ञानरूपतां नेच्छेदिति साध्यते तर्हि भ्रान्तरेव भावधर्ममिच्छन्नपि कश्चिद् भावं नेच्छेदिति "नाऽसिद्धे भावधर्मोऽस्ति" (प्र.वा.३-१९१ उ.) इत्यत्र कथमुक्तम्— "को हि भावधर्मं हेतुमिच्छन् भावं नेच्छेत्" ▼(प्र.वा.३-१९१ टी.) इति। 10

✽ पारमार्थिक अर्थ के निर्णय द्वारा विज्ञानवाद का निरसन ✽

अब बौद्धवादियों के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की समीक्षा शुरु होती है।

बौद्ध कहते हैं — ज्ञान को स्वसंविदित मानना सत्य है। किन्तु उसे अर्थग्राहक मानना अनुचित 15 है, क्योंकि अर्थ का अस्तित्व ही नहीं है। यहाँ स्वभावहेतुक अनुमान है — जो अवभासित होता है वह ज्ञान है जैसे सुखादि, नीलादि भी अवभासित होता है।

जैनवादी इस के प्रतिपक्ष में कहते हैं — 'अवभासित होना' इस हेतु के तीन विकल्प में कौनसा मान्य है ? ^Aस्वतः अवभासित होना, ^Bपरतः अवभासित होना, या ^Cसिर्फ अवभासित होना ?

^A प्रथम पक्ष अयुक्त है क्योंकि नीलादि का स्वतः अवभासित होना - यह अन्यो के मत में असिद्ध है। (यानी अन्य मतों के अनुसार हेतु असिद्ध है।) 'मैं नील को जानता हूँ' इस अनुभव में स्वप्रकाश की स्पर्धा में ज्ञान तो नीलादि से पृथक् स्वरूप से ही प्रतीत होता है और उस ज्ञान से ही नीलादि का ग्रहण विदित होता है। अर्थात् पर से (नीलादि से) निरपेक्षतया नीलादि का अवभास बौद्धेतरों के मत में असिद्ध है। यदि सभी के मत में परनिरपेक्ष नीलादि का अवभास सिद्ध रहता तो अवभासात्मक हेतु से और क्या सिद्ध करना शेष रहा ? यदि कहें कि — अवभासात्मक हेतु 25 से नीलादि में ज्ञानरूपता सिद्ध करना शेष है जो कि स्वभावहेतु से सिद्ध की जाती है — तो वह सिद्ध करने की जरूर ही नहीं है क्योंकि स्वतोऽवभासपक्ष में प्रकाशता ही ज्ञानरूपता है जो कि ज्ञानमात्र में सिद्ध ही है। यदि कहें कि वह नीलादि में सिद्ध नहीं है — तब तो 'स्वतो अवभासित होना' यह हेतु ही असिद्ध बन गया, क्योंकि आप स्वयं कहते हैं कि नीलादि में प्रकाशतारूप ज्ञानरूपता

*. भ्रान्तेः...तस्याश्च पुरुषे तद्धर्मत्वेन सम्भवात्- इति न्यायविनिश्चये (२-५) टीकायाम्।

▼. 'यो हि भावधर्मं तत्र हेतुमिच्छति स कथं भावं नेच्छेत् ?' (इति प्र०वार्तिके स्वोपज्ञटीकायाम् ३-१९१)। अष्टसहस्रां प्रमेयकमलमार्तण्डे च ईदृश्युक्तिर्दृश्यते — इति सुखलालादिकृतटीप्पणे।

अथापि स्यात्— यदि भिन्नेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणमुपपत्तिमद् भवेत् तदा हेतुरसिद्धः स्यात्, न चैवम्। तथाहि— न भिन्नकालस्यार्थस्य तेन ग्रहणं संभवति नापि समानकालस्य, तथा न निर्व्यापारेण, नापि भिन्नाभिन्नव्यापारवता, तथा न परोक्षेण, नापि स्वसंविद्वृषं बिभ्रता, नापि ज्ञानान्तरवेद्येनेति प्रतिपादितं सौगतैरिति न स्वतोऽवभासलक्षणो हेतुरसिद्धः। असदेतत्—

- 5 एवमभ्युपगच्छतः सौगतस्यानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि— ‘यदवभासते तज्ज्ञानं सुखादिवत् तथा च नीलादिकम्’ इत्यनुमानमेतत्। तच्च त्रिरूपलिङ्गप्रभवम् ‘त्रिरूपाल्लिङ्गादर्थदृग्’ [▼] इति वचनात्।

सिद्ध नहीं है मतलब कि नीलादि स्वतो अवभासित नहीं होते।

✽ भावधर्म का स्वीकार—भाव का अस्वीकार भ्रान्तिमूलक क्यों नहीं ? ✽

- बौद्ध :- भ्रान्ति पुरुषधर्म है, अनेक लोगों को कुछ न कुछ भ्रान्ति होती है। अतः जिस को 10 नीलादि में स्वतोऽवभास मान्य होने पर भी भ्रान्ति के कारण नीलादि में ज्ञानरूपता स्वीकृत नहीं है उस के प्रति ज्ञानरूपता सिद्ध की जाती है। अब हेतु असिद्ध नहीं होगा।

- जैन :- तो यह भी सम्भव है कि भ्रान्ति के कारण ही कोई भावधर्म का स्वीकार करने पर भी भाव का स्वीकार न करे। जब यह भी संभव है तब बौद्ध धर्मकीर्त्ति ने ‘नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति’ (= भाव के असिद्ध रहने पर कोई भावधर्म नहीं बन सकता) इस प्रमाणवार्त्तिक कारिका की व्याख्या 15 करते हुए ऐसा क्यों कहा है कि ‘भावधर्मात्मक हेतु को मानने वाला कौन भाव को नहीं मानेगा?’ (जब कि भ्रान्ति से वैसा भी संभव हो सकता है।)

- बौद्ध :- हेतु असिद्ध तब होता यदि नीलादिभिन्न ज्ञान से नीलादि का ग्रहण संगत होता, ऐसा तो है नहीं। कैसे, यह देखिये — प्रत्यक्ष ज्ञान अपने से असमानकालीन अर्थ का वेदन करे यह सम्भव नहीं है। समानकालीन अर्थ को भी ग्रहण करे यह सम्भव नहीं, क्योंकि तब अर्थ ज्ञान का ग्रहण 20 क्यों न करे — यह प्रश्न ऊठेगा। ऐसा नहीं है कि ज्ञान व्यापार के विना ही असमानकालीन या समानकालीन अर्थ को ग्रहण कर सके। व्यापार के विना ज्ञान पंगु बना रहेगा। व्यापार के द्वारा अर्थग्रहण करने वाला ज्ञान व्यापार से यदि भिन्न होगा, तो उस व्यापार से व्यापृत होने के लिये नये व्यापार की, उस के लिये और नये व्यापार की — अनवस्था खड़ी होगी। यदि वह व्यापार ज्ञान से अभिन्न होगा तो ज्ञान ही अकेला रह गया, अकेले ज्ञान से तो असमान-समानकालीन अर्थ 25 का ग्रहण शक्य नहीं। परोक्षज्ञान से भी भिन्न अर्थ का ग्रहण शक्य नहीं। स्वसंविदित या ज्ञानान्तर संवेद्य किसी भी प्रकार के ज्ञान से भिन्न अर्थ का ग्रहण शक्य नहीं है। (समान-असमानकाल इत्यादि विकल्पों के न घटने से।) बौद्धों का इसलिये यह कहना है कि ‘जो अवभासित होता है वह ज्ञानात्मक है’ यहाँ ‘स्वतो अवभासित होना’ यह हेतु असिद्ध नहीं है।

✽ बौद्धमत में सर्व अनुमान उच्छेद की आपत्ति ✽

- 30 बौद्ध का यह कथन गलत है। ऐसा मानने पर तो बौद्धमत से अनुमान का ही उच्छेद हो जायेगा। देखिये — बौद्ध का अनुमान है ‘जो अवभासित होता है वह सुखादि की तरह ज्ञानात्मक

▼. अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् ।। (प्र० समु० द्वि० परि० श्लो० १)।

लिङ्गं चानुमानाद् भिन्नं भिन्नसमयं च यदि तस्य जनकं तर्हि समस्तानुमानजनकं तदेव स्यादिति अनुमान-
भेदकल्पनावैयर्थ्यम्। अथ भिन्नकालमपि लिङ्गं किञ्चिदेव कस्यचित् कारणमिति नायं दोषः तर्हि ज्ञानमपि
तथाविधं किञ्चिदेव कस्यचिद् ग्राहकम् अर्थो वा तथाविधः कश्चिदेव कस्यचिद् ग्राह्यः इति नातिप्रसक्तिः।

अथ भिन्नकालेऽतीतानुत्पन्नेऽर्थे ग्रहणप्रवृत्तं ज्ञानं निर्विषयं भवेत् तर्हि लिङ्गाद् विनष्टानुत्पन्ना-
दुपजायमानमनुमानं निर्हेतुकं किं न भवेत् ? अथ स्वकाले विद्यमानं स्वरूपेण तज्जनकमिति नायं दोषः, 5
तर्हि ग्राह्यमपि स्वकालेऽपि विद्यमानमिति तथा तस्य तद्ग्राहकं न निर्विषयं भवेत्।

अथ न भिन्नकालं लिङ्गमनुमानस्य कारणं किन्तु समकालम्। न, समकालस्य जनकत्वविरोधात्
अविरोधे वा अनुमानमपि लिङ्गस्य जनकं भवेत् तथा चान्योन्याश्रयदोष इति नैकस्यापि सद्भावः।
अथानुमानमेव जन्यम् तत्रैव जन्यताप्रतीतेः न लिङ्गम् तद्विपर्ययात्। न, अनुमानव्यतिरेकेण ग्राह्यतावज्जन्यताया

होता है, नीलादि भी अवभासित होता है।' ऐसा अनुमान १पक्षसत्त्व, २सपक्षसत्त्व और ३विपक्षासत्त्व 10
ऐसे तीन रूपों के समुदायवाले लिङ्ग से ही जन्म लेता है। कहा गया है कि 'तीनरूप वाले लिङ्ग
से अर्थदर्शन होता है।' () बौद्धने जो ज्ञान से अर्थग्रहण के बारे में भिन्नकालीन-अभिन्नकालीन इत्यादि
विकल्प प्रयुक्त किये हैं उस तरह यहाँ लिङ्ग के लिये भी शक्य है। अनुमान से पृथक् ऐसा लिंग
भिन्नकालीन हो कर अनुमान को उत्पन्न करेगा तो एक नहीं सभी अनुमानों को उत्पन्न कर बैठेगा।
फिर अनुमान के विविध प्रकारों की कल्पना भी निरर्थक ठहरेगी। यदि कहें कि 'भिन्नकालीन लिंग 15
सभी अनुमान का नहीं किन्तु कोई एक लिंग किसी एक अनुमान का, दूसरा लिंग दूसरे अनुमान
का कारण बनेगा' तो ज्ञान भी इस तरह कोई किसी एक अर्थ का तो दूसरा दूसरे अर्थ का ग्राहक
हो सकता है। ज्ञानभिन्न अर्थ भी कोई किसी एक ज्ञान का तो दूसरा दूसरे ज्ञान का ग्राह्य बन सकता
है — इस में कोई अनिष्ट प्रसंग नहीं है। यदि कहें कि 'ज्ञान अपने से भिन्नकालीन अतीत या अनागत
अर्थ के ग्रहण में सक्रिय होगा तो विषयशून्य मानना होगा', तो हम कहेंगे कि लिंग भी कोई विनष्ट 20
तो कोई अनागत होता है इस लिये उन से जो अनुमान प्रगट होगा वह भी अतीत-अनागत लिंग
असत् होने से विना हेतु ही प्रगट हो जायेगा।

यदि कहें कि — 'अतीत-अनागत लिंग सर्वथा असत् नहीं है बल्कि अपने अपने काल में विद्यमान
होते हैं अतः स्वकालसत्त्व स्वरूप से वे अनुमानप्रादुर्भाव करेंगे तो सर्वथा निर्हेतुकता का दोष नहीं
है।' — तो ग्राह्य अर्थ भी अपने अपने काल में सत् होता है (सर्वथा असत् नहीं होता) और वैसे 25
ही स्वकालसत्त्व स्वरूप से वह ज्ञान का विषय होने से ज्ञान विषयशून्य होने का दोष नहीं रहेगा।

✽ लिंग और अनुमान की समकालीनता आपत्तिग्रस्त ✽

बौद्ध कहते हैं - भिन्नकालीन लिंग अनुमान का जनक नहीं होता अपितु अपने समानकाल में
ही लिंग अनुमान का जनक होता है। उस के सामने अन्य वादी कहते हैं कि जन्य-जनक भाव के
साथ समकालीनत्व का विरोध है। (पूर्वापरभाव से जन्य-जनकता होती है।) यदि यहाँ विरोध मान्य 30
नहीं है तब तो अनुमान ही लिंग का जनक क्यों नहीं बनेगा ? दोनों समकालीन होने से एक-
दूसरे के जन्य-जनक बन जाने पर अन्योन्याश्रय दोष के कारण एक का भी जन्म नहीं होगा। यदि

अप्रतीतेः। न च तत्स्वरूपमेव जन्यता लिंगेऽपि स्वरूपसद्भावेन जन्यताप्रसक्तेः, तथा च परस्परजन्यतायां पुनरपि स एवेतरेतराश्रयलक्षणो दोषः। अथ स्वरूपाऽविशेषेऽपि लिङ्गानुमानयोरनुमान एव जन्यता लिङ्गापेक्षा न पुनर्लिङ्गो तदपेक्षा सेति, तर्हि नील-तत्संवेदनयोस्तदविशेषेऽपि तत् एव नीलस्यैव तत्संवेदनापेक्षा ग्राह्यता न तु तत्संवेदनस्य नीलापेक्षा सेति समानमुत्पश्यामः।

5 न च लिङ्गमनुमानोत्पत्तिकरणादुत्पादकम् यतो यद्युत्पत्तिरनुमानादनर्थान्तरभूता क्रियते तदानुमानमेव लिङ्गेन कृतं भवेत्, तथा च तल्लिङ्गमेव प्रसक्तम् लिङ्गजन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवत्। न चानुमानोपादान-जन्यत्वात् तदनुमानमेव, यतस्तदप्यनुमानोपादानकारणं कुतो जायते ? — इति पर्यनुयोगे 'अपरलिङ्गात्' इत्युत्तरमभिधानीयम् तत्र च तस्य लिङ्गजन्यत्वाल्लिङ्गतापत्तिरिति पर्यनुयोगे पुनरप्यनुमानोपादानत्वाद-नुमानत्वमित्युत्तरपर्यनुयोगानवस्थाप्रसक्तिः स्यात्। अथ तथाप्रतीतेर्लिङ्गजन्यत्वाऽविशेषेऽपि किञ्चिल्लिङ्गम्

10 कहेँ कि — 'जन्यत्व की प्रतीति अनुमान में ही होती है, लिंग में जन्यत्व की प्रतीति नहीं होती किन्तु जनकत्व की प्रतीति होती है, इसलिये अनुमान को जन्य और हेतु को जनक मानना चाहिये' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ की प्रतीति में जैसे पृथक् ग्राह्यत्व का भान नहीं होता वैसे अनुमान की प्रतीति में पृथक् जन्यता का भी भान नहीं होता। यदि कहेँ कि अनुमानस्वरूप ही है जन्यता, पृथक् नहीं है — तो ऐसा भी कहिये कि लिङ्गस्वरूप ही है जन्यता, पृथक् नहीं है। इस
15 दशा में परस्परजन्यता प्रसक्त होने से उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष तदवस्थ रहेगा।

बौद्ध :- जन्यता स्वरूपात्मक होने पर भी लिङ्ग एवं अनुमान इन दोनों में जन्यता मान लेने की क्या जरूर ? अनुमान में ही लिङ्गसापेक्ष जन्यता मान ली जाय न कि लिङ्ग में अनुमानसापेक्ष जन्यता।

अर्थवादी :- तो ऐसा भी कहो कि नील एवं नीलज्ञान में अन्योन्यस्वरूप के होते हुए भी, लिङ्ग-
20 अनुमान के लिये कथित युक्ति के अनुसार ही, नील में ही नीलसंवेदनसापेक्ष ग्राह्यता मानी जाय न कि नीलसंवेदन में नीलसापेक्ष ग्राह्यता। दोनों के मत में समानता दृश्य है।

✽ अनुमान लिंगजन्य होने पर लिंगरूपता की आपत्ति ✽

यदि कहेँ कि — 'लिङ्ग अनुमानोत्पत्ति का कारण होने से लिङ्ग जनक और अनुमान जन्य है' — तो यह भी गलत है क्योंकि उत्पत्ति अगर अनुमान से भिन्न नहीं है तो लिङ्ग से अनुमान
25 की उत्पत्ति का अर्थ होगा लिङ्ग से अनुमान का होना, इस स्थिति में लिङ्ग के उत्तर क्षण की तरह अनुमान भी लिङ्गजन्य होने से लिङ्गस्वरूप ही जाहिर हुआ। (यानी अनुमान अपने स्वरूप को खो बैठा।) यदि कहेँ कि — 'लिङ्ग अनुमान का निमित्त कारण है और उपादानकारण तो पूर्वक्षणीय अनुमान ही है इसलिये उस के स्वरूप का लोप नहीं होगा।' — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा प्रश्न पुनः खड़ा होगा कि वह उपादानात्मक अनुमान कैसे निपजा — तो उत्तर में 'अन्य लिङ्ग
30 से' ऐसा कहना होगा। वहाँ भी लिङ्गजन्य होने से पुनः उस में लिङ्गरूपता की (स्वरूप लोप की) प्रसक्ति होगी, उस के निवारणार्थ फिर से उस के अनुमानात्मक अन्य उपादान को दिखाना पड़ेगा,

अपरमनुमानम् तर्हि ज्ञानजन्यत्वाविशेषेऽपि किञ्चिज्ज्ञानम् अपरोऽर्थ इति किं न स्यात् ? ततश्च 'नीलादि ज्ञानं, ज्ञानकार्यत्वात्, उत्तरज्ञानवत्' इत्युक्ततया व्यवस्थितम्।

यदपि — 'यया प्रत्यासत्त्या स्वरूपं विषयीकरोति ज्ञानं तथैव चेद् अर्थम् तयोरैक्यप्रसक्तिः; न ह्येकस्वभाववेद्यमनेकं युक्तम् अन्यथैकमेव न किञ्चिद् भवेत्। अथान्यथा(?) स्वभावद्वयापत्तिर्ज्ञानस्य भवेत् तदपि च स्वभावद्वयं यद्यपरेण स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदाऽपराऽपरस्वभावद्वयापेक्षणादनवस्था, अन्यथा 5 स्वार्थयोरपि तदपेक्षा न स्यात्। स्वसंवेदनलक्षणत्वाच्च ज्ञानस्य नाऽसंविदितं रूपं युक्तम्' इत्युक्तम्—

पुनः उस अन्य उपादान के लिये प्रश्न, उस के उत्तर में अन्य उपादान... इस तरह अनवस्था प्रसंग खडा होगा।

यदि कहें कि लिङ्ग की तरह अनुमानरूप प्रतीति लिङ्गजन्य होने पर भी अपने आप ही यह विभाग बन जाता है कि एक लिङ्गरूप होता है जब कि दूसरा अनुमान। तो ज्ञान एवं नीलादि 10 के भेदपक्ष में क्यों नहीं कहते कि ज्ञान एवं अर्थ दोनों में समान रूप से (अभ्युपगमवाद से) ज्ञानजन्यत्व रहने पर भी एक ज्ञानात्मक होता है तो दूसरा अर्थरूप।

निष्कर्ष, 'नीलादि अर्थ ज्ञानात्मक है क्योंकि ज्ञान का कार्य है, जैसे ज्ञानजन्य उत्तरकालीनज्ञान' — ऐसा अनुमान गलत है क्योंकि ज्ञानकार्यत्व होने पर भी उपरोक्त रूप से कोई ज्ञानेतर अर्थरूप हो सकता है यानी हेतु साध्यद्रोही है। 15

✽ स्वसंवेदनपक्ष में ऐक्यादिआपत्ति का निरूपण ✽

यह जो बौद्धने कहा है — जिस प्रत्यासत्ति से ज्ञान अपने आप को विषय करता है उसी प्रत्यासत्ति के द्वारा यदि वह अर्थ को भी विषय करता है तो ज्ञान और अर्थ में अभेद सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि जो एक स्वभाव (प्रत्यासत्ति) से ग्राह्य बनते हैं उन में अनेकता नहीं, अभेद होता है, जैसे घट और उस का स्वरूप। यदि अभेद नहीं, अनेकता को मानेंगे तो कहीं भी यानी घट और उसके 20 स्वरूप में भी एकता को अवकाश नहीं रहेगा, जैसे घट और पटस्वरूप। यदि ज्ञान अपने स्वरूप का और अर्थ का भिन्नप्रत्यासत्ति (यानी भिन्न स्वभाव) से वेदन करेगा तो ज्ञान में स्वभावयुगल से भिन्नता प्रसक्त होगी। दूसरा अनवस्था दोष ऐसे होगा, उन दो स्वभावों के अवबोध के लिये भी (यानी ज्ञान जब अपने स्वरूप को विषय करेगा तब स्वरूप दो स्वभावात्मक होने से उन दोनों को विषय करने के लिये) अन्य दो स्वभाव मानना पड़ेगा। उन दो के लिये और अन्य दो स्वभाव... 25 इस तरह नये नये दो दो स्वभावों की अपेक्षा खड़ी होने से अनवस्था प्रसक्त होगी। यदि दूसरे-तीसरे स्वभावयुगल को तीसरे चौथे की अपेक्षा न मानेंगे तो फिर स्व एवं अर्थ के ग्रहण के लिये स्वभावयुगल की अपेक्षा (यानी प्रत्यासत्ति की अपेक्षा) भी क्यों मानी जाय ? यदि अपने स्वभाव के संवेदन को असंविदित ही मान ले तो यह संभव नहीं है क्योंकि आप तो ज्ञान को स्वसंविदित स्वरूप ही मानते हैं, अतः उस में अपना स्वभाव असंविदित रह जाय ऐसा कैसे मान सकते हैं?— 30

✽ ऐक्यादि आपत्ति का निरसन ✽

बौद्धों का यह कथन भी निरस्त है। कारण, लिङ्ग के द्वारा स्वसमानकाल में अनुमिति करने

तदपि निरस्तम् लिङ्गस्य समानक्षणानुमानकरणेष्यस्य समानत्वात्। तथाहि— लिङ्गं यया प्रत्यासत्त्या स्वोपादेयक्षणान्तरं जनयति तथैव चेदनुमानम् तयोरैक्यमिति लिङ्गानुमानयोरन्यतरदेव भवेत्। न च लिङ्गाभावेऽनुमानम् तदभावे वा लिङ्गमित्यन्यतरस्याप्यभावः। न च लिङ्गं सजातीयक्षणं नोपजनयति अनुमानसमये नीलाद्यवभासाभावप्रसक्तेः।

5 अथान्यथा स्वोपादेयक्षणम् अपरया चानुमानम् तर्हि लिंगस्यैकस्य रूपद्वयमायातम् तत्र चावभासनं लिङ्गम् तच्च ज्ञानमेव। न च ज्ञानस्याऽविदितं रूपं संभवति विरोधात्, तद्वेदनं चापरेण तद्द्वयेनेति सैवात्राप्यनवस्था। अपि च, येन स्वभावेनैकां शक्तिमात्मनि बिभर्ति लिङ्गं तेनैव चेदपराम् तयोरैक्यम् अन्येन चेत् स्वभावद्वयम् तत्रापि चापरं स्वभावद्वयं प्राक्तनन्यायेनेत्यपराऽनवस्था। अथ तत्करणैकस्वभावत्वान्तिङ्गं

के पक्ष में भी यह सब प्रसञ्जन समानरूप से लागू होता है। देखिये — लिङ्ग जिस प्रत्यासत्ति से स्वजन्य उत्तरक्षण (उत्तर लिंगक्षण) को उत्पन्न करता है, उसी प्रत्यासत्ति से यदि स्व जन्य अनुमान को उत्पन्न करता है तो उत्तर लिंगक्षण और अनुमान में अभेद (ऐक्य) प्रसक्त होगा। अर्थात् या तो लिंगक्षण का जन्म होगा अथवा अनुमान का। उभय तो उत्पन्न नहीं होंगे। नतीजा यह होगा कि लिंगक्षण उत्पन्न नहीं होगी तो अनुमान ही अनुत्पन्न रहेगा। तथा अनुमान का लोप होगा तो लिंग किस का लिंग बनेगा ? इस प्रकार से दोनों के अभाव से एक-दूसरे का अभाव प्रसक्त होगा। यदि कहे 15 कि — लिंग से सिर्फ अनुमान ही उत्पन्न होगा सजातीय उत्तरलिंगक्षण उत्पन्न नहीं होगी, — तो मुसीबत यह होगी कि अनुमानकाल में लिंगस्वरूप नीलादि का अवभास (जो कि हेतु है —) ही शून्य बन जायेगा, उस के शून्य होने से अनुमान भी शून्य हो जायेगा।

✽ लिंग के दो स्वरूप अनवस्थादोषग्रस्त ✽

बौद्ध :- एक लिङ्गक्षण एक प्रत्यासत्ति से अपने से जन्य लिंगक्षण को उत्पन्न करता है साथ 20 साथ दूसरी प्रत्यासत्ति से अनुमान को उत्पन्न करता है।

जैन :- ऐसा मानने पर एक ही लिंगक्षण में दो स्वरूप का स्वीकार हुआ। 'जो अवभासित होता है वह ज्ञानात्मक है' यह जो आप का अनुमान प्रयोग है उस में अवभासनात्मक लिंग तो आप के मत से ज्ञानरूप ही है, उस में जो दो स्वरूप आपने कहे हैं वे भी स्वसंविदित ही मानना पड़ेगा क्योंकि ज्ञान का कोई अविदित (गुप्त) स्वरूप तो होता नहीं। गुप्त स्वरूप की कल्पना करने 25 में अनेक प्रकार से विरोध है (अतिप्रसंग आदि हो सकता है)। अब कहिये कि लिंगात्मक ज्ञान के वे दो स्वरूप कैसे स्वसंविदित होंगे ? दोनों स्वरूप संविदित करने के लिये एक स्वभाव तो काम नहीं आयेगा। अतः अन्य दो प्रत्यासत्ति से उन दोनों का संवेदन स्वीकारना पड़ेगा। उन दो प्रत्यासत्ति (यानी नये दो स्वरूप) के संवेदन के लिये भी अन्य दो प्रत्यासत्ति को मानना पड़ेगा... इस प्रकार अनवस्था सिर उठायेगी। दूसरी बात, लिंग जो उत्तरलिंग क्षण और अनुमान दोनों को उत्पन्न करने 30 की शक्ति स्व में धारण करता है, यहाँ जिस स्वभाव से एक शक्ति को धारण करेगा उसी स्वभाव से दूसरी शक्ति को धारण करने पर दोनों शक्तियों में अभेद प्रसक्त होगा। अगर दूसरे स्वभाव से दूसरी शक्ति को धारण करेगा तो लिंग में पुनः दो स्वभाव प्रसक्त हुए। उन दो स्वभावों की संगति

भिन्नस्वभावं कार्यद्वयं निवर्तयेत् तर्हि ज्ञानमपि परस्परविविक्तरूपयोः स्वार्थयोरेकं सद् ग्राहकमस्तु तद्ग्रहणैकस्वभावत्वात्, ततो यदि लिङ्गेनानुमानस्योत्पत्तिरनर्थान्तरभूता क्रियते तर्हि ज्ञानेनाऽर्थस्यानर्थान्तरभूता गृहीतिः क्रियत इति समानो न्यायः। अथार्थान्तरभूतोत्पत्तिर्लिङ्गेनानुमानस्य क्रियते तर्हि नानुमानसद्भावः सद्भावेऽपि 'लिङ्गम्' 'उत्पत्ति' 'अनुमानम्' इति परस्परासंसक्तत्रितयस्य प्रतिभासात् 'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' (न्या०वि०धर्मो०टीका) इति न युक्तमभिधानम्। अथ तयाप्युत्पत्त्या अपराऽर्थान्तरभूतोत्पत्ति- 5 के लिये दूसरे दो स्वभाव मानने पडेगें...पूर्वोक्त युक्ति से यहाँ भी और एक नयी अनवस्था चोटी पकडेगी।

✽ एक ही ज्ञान से स्व-पर का ग्रहण निर्बाध है ✽

बौद्ध :- भिन्न स्वभाववाले (अनुमान एवं उत्तरलिङ्गक्षण) दो कार्य करनेवाले लिंग का स्वभाव तो दो कार्य करने का एक ही है। एक स्वभाव से ही दो कार्यो को वह कर सकता है। अनवस्था 10 कहाँ है ?

जैन :- अच्छा, ज्ञान भी स्वयं एक स्वभाव होते हुए, परस्पर भिन्न स्वभाववाले स्व और अर्थ दोनों का ग्राहक क्यों नहीं हो सकता ? उस में भी 'ग्रहण करना' यह एक मात्र स्वभाव मौजूद है। मतलब कि ज्ञान एवं अर्थ में भेद होने में कोई मुसीबत नहीं है, दोनों का एक ज्ञान से ग्रहण सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि, जैसे लिंग से होने वाली अनुमान की उत्पत्ति, अनुमान 15 से अनर्थान्तरभूत मानने पर हमने अनुमान में लिंगात्मकता की प्रसक्ति का दोष दिया था, फिर भी आपने एक स्वभाव, भिन्न कार्य आदि तर्कवितर्क कर के जिस न्याय से लिंगजन्य अनुमानोत्पत्ति को अनुमान से अनर्थान्तरभूत मानते हुए अनुमान में लिंगात्मकता की प्रसक्ति का इनकार किया है; उसी न्याय से हम भी कहेंगे कि ज्ञान से होनेवाली बाह्यार्थ की गृहीति (यानी ग्राह्यता) बाह्यार्थ से अनर्थान्तरभूत जरूर है किन्तु उसके आधारभूत बाह्यार्थ में ज्ञानात्मकता की प्रसक्ति नहीं हो सकती। न्याय तो दोनों 20 पक्ष में समान है।

यदि कहा जाय— 'लिंग से होनेवाली अनुमान की उत्पत्ति अनुमान से अर्थान्तरभूत है'— तो अनुमान का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह तो उत्पन्न ही नहीं है। कदाचित् कैसे भी उस का अस्तित्व सिद्ध हो जाय फिर भी अनुमान और उत्पत्ति एवं लिंग तीनों ही पृथक् पृथक् परस्पर असंबद्ध रूप में ही प्रतीत होंगे। उन में कोई सम्बन्ध तो भासित ही नहीं होगा। (जैसे एक चक्र से घट और शराव 25 उत्पन्न होते हैं तब पृथक् पृथक् चक्र, घट, शराव प्रतीत होते हैं न कि परस्पर संबद्ध।) इस स्थिति में आपने जो कहा है कि "भ्रान्ति भी सम्बन्ध से प्रमा होती है" (अर्थात्, अनुमान भ्रान्तिरूप होने पर भी मणिप्रभा में मणिबुद्धि की तरह परम्परया वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने के कारण प्रमारूप मान लिया है) यह धर्मोत्तर पंडित का कथन अयुक्त ठहरेगा। कारण, यहाँ भ्रान्ति के विषयों में परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि उत्पत्ति का उस अनुमान से सम्बन्ध जोड़ने के लिये (एक नये सम्बन्ध की) नयी 30

▼. 'तदाह न्यायवादी — भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' - न्यायविन्दुधर्मोत्तरटीका पृष्ठ ७८। 'भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव' प्र० वार्तिकालंकारे ३-१७५। 'भ्रान्तिरपि अर्थसम्बन्धतः प्रमा' तत्त्वोपप्लव. पृ०३० तथा सिद्धिविनिश्चय पृष्ठ ८२ मध्ये।

विधीयते तर्हि तथापि तथाविधापरोत्पत्तिर्विधीयत इत्यनवस्थानान्मानुमानसद्भावः।

किञ्च लिङ्गेनोत्पत्तिः स्वसमया भिन्नसमया वा विधीयते ? भिन्नसमया चेत् ? अर्थग्रहणवत्प्रसक्तिः। समानसमया चेत् ? सव्येतरगोविषाणवदन्योन्यमुपकार्योपकारकभावाभावान्न जन्यजनकभावः, तद्भावे वा तदुत्पत्तिर्ज(?)न्यता लिङ्गस्य प्रसज्येत ततश्च लिङ्गमुत्पत्तिर्भवेत् तत्कार्यत्वात् उत्तरोत्पत्तिवत्। न च लिङ्गेनोत्पत्तिर्विधीयते न तथा लिङ्गम् तस्यामेव कार्यताप्रतीतेरिति वक्तव्यम्; तद्व्यतिरेकेण कार्यताऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा 'लिङ्गम्-कार्यता-उत्पत्तिः' इति त्रितयं परस्पराऽसम्बद्धं भवेत्। न च तत्स्वरूपमेव कार्यता लिङ्गस्यापि ततस्तद्भावापत्तेः। अथ तदविशेषेऽपि प्रतिनियतः कार्यकारणभावः उत्पत्तिलिङ्गयोस्तर्हि ज्ञानार्थयोः स्वरूपाऽविशेषेऽपि नियतो ग्राह्यग्राहकभावः किं न स्यात् ? एवमन्यदपि ग्राह्य-ग्राहकभावपक्षोदितदूषणं

उत्पत्ति का अंगीकार करेंगे तो उस उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ने के लिये अन्य एक उत्पत्ति... इस प्रकार तो अनवस्था प्रसक्त होने से अनुमान का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ?

✽ लिंग से होनेवाली उत्पत्ति पर समय के विकल्प ✽

और भी एक बात यह है कि लिंग से अनुमान की उत्पत्ति अपने समकाल में होगी या भिन्नकाल में ? यदि भिन्न काल में मानेंगे तो लिंग से अनुमान का उद्भव उसी तरह नहीं होगा जैसे कि पहले आपने कहा है (न भिन्नकालस्यार्थस्य तेन ग्रहणं संभवति — पृ०८४-पं०२) कि 'ज्ञान से भिन्नकालीन अर्थ का ग्रहण असम्भव है।' यदि समकाल में मानेंगे तो बाये-दायें समकालोत्पन्न गोशृंगों में जैसे उपकारक-उपकार्य भाव नहीं होता वैसे ही लिंग एवं उत्पत्ति में भी जन्य-जनक भाव नहीं बनेगा। कदाचित् उन में जन्य-जनकभाव स्वीकृत हो, तब तो उलटा भी सम्भव होगा कि लिंग में उत्पत्ति-जन्यता होगी। यानी अर्थतः लिंग भी उत्पत्तिस्वरूप बन जायेगा क्योंकि वह अब उत्पत्ति का कार्य है, जैसे उत्तरकालीनोत्पत्तिक्षण पूर्वकालीन उत्पत्ति का कार्य है तो वह उत्पत्तिस्वरूप है। यदि कहें कि — 'लिंग एवं उत्पत्ति इन दोनों में परस्पर कार्यताबुद्धि नहीं होती, वह तो सिर्फ उत्पत्ति में ही होती है, इस से ज्ञात होता है कि समकालीन होने पर भी उत्पत्ति लिंग से जन्य है लेकिन लिंग उत्पत्ति से जन्य नहीं है।' — तो यह गलत है क्योंकि उत्पत्ति से पृथक् किसी कार्यता का भान नहीं होता, उत्पत्ति ही कार्यता है। (अतः उत्पत्तिस्वरूप कार्यता से लिंग की उत्पत्ति का अनिष्ट.. इत्यादि दोष लगा रहेगा।) यदि उत्पत्ति और कार्यता पृथक् मानेंगे तो परस्पर असम्बद्ध लिंग, उत्पत्ति और कार्यता — ऐसी त्रिक की प्रतीति प्रसक्त होगी। यदि कहें कि — 'लिंगजन्य उत्पत्ति की कार्यता उत्पत्तिस्वरूप ही है' तो कहा जा सकता है — समकालीन लिंग-उत्पत्ति पक्ष में उत्पत्ति से जन्य लिंग की कार्यता लिंगस्वरूप ही है।

यदि कहा जाय — 'लिंग एवं उत्पत्ति समकालीन होते हुए भी (अथवा युक्ति दोनों ओर समान होने पर भी) "लिंग कारण है और उत्पत्ति कार्य है ऐसा कारण-कार्यभाव तो प्रकृतिसिद्ध ही है" — तो ऐसा भी कह सकते हैं कि ज्ञान एवं अर्थ का समकालीनत्व स्वरूप तुल्य होने पर भी 'ज्ञान ग्राहक होता है और अर्थ ग्राह्य होता है' ऐसा ग्राहक-ग्राह्य भाव भी प्रकृतिसिद्ध ही है।

ज्ञान एवं अर्थ के ग्राह्य-ग्राहक भाव के पक्ष में जो भी अन्य अन्य दूषण कहे गये हैं वे सब

लिङ्गानुमानयोर्जन्य-जनकभावाभ्युपगमे समानतया योज्यम्।

अथ सकलानुमानोच्छेदकत्वात्रायं विचारोऽत्र युक्तस्तर्हि ज्ञानार्थयोरपि न विधेयः तत्राप्यस्य विचारस्य सकलव्यवहारोच्छेदकत्वात्। न च परमार्थतो लिङ्गमनुमानकारणं नेष्यत एव, व्यवहारिजनमतानुरोधेन तस्याङ्गीकरणादिति वक्तव्यम् तेनैव 'अहम्' इति भिन्नावभासिना ज्ञानेन नीलादेर्भिन्नस्य ग्रहणसिद्धेः स्वतोऽवभासनलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वप्रसक्तेः। न च क्वचिद् व्यवहाराश्रयणं क्वचिद् नेति युक्तम् न्यायस्य 5 समानत्वात्। अथ लिङ्गमनुमानकारणं नेष्यत एव, ग्राह्य-ग्राहकभाववत् कार्यकारणभावस्यापि निषेधात्।

लिंग एवं अनुमान के जन्य-जनकभाव पक्ष में उक्त प्रकार से समानता से योजित किये जा सकते हैं। तात्पर्य, ज्ञान-अर्थ भिन्नता पक्ष में दूषण लगाने का प्रयास व्यर्थ है।

✽ अनुमानोच्छेद की बीभिषिका दोनों पक्ष में समान ✽

यदि कहा जाय — लिंग उत्पत्ति की समकालता-भिन्नकालता की चर्चा से तो अनुमानमात्र का 10 भंग प्रसंग आयेगा, अतः ऐसी चर्चा अयुक्त है। — ऐसी चिन्ता है तो ज्ञान-अर्थ के बारे में भी समकालीनादि विकल्पों की चर्चा नहीं करना चाहिये क्योंकि उस चर्चा के फलस्वरूप सर्वजनानुभवसिद्ध बाह्यार्थों के व्यवहारों का भी उच्छेद प्रसक्त होता है। यदि कहा जाय — “यद्यपि हम लिंग एवं अनुमान में पारमार्थिक कारण-कार्यभाव नहीं ही मानते हैं, फिर भी उस की चर्चा छोड़ कर लौकिक व्यवहारकर्त्ताओं के अभिप्राय का अनुसरण कर के (लिंगजन्य) अनुमान का स्वीकार करते ही हैं। आप को वैसा प्रयोजन क्या 15 है ?” — अरे ! उसी लौकिकव्यवहार कर्त्ताओं के ज्ञान-भिन्न अर्थदर्शक अभिप्राय का अनुसरण करके हम भी यही सिद्ध करते हैं कि नीलादि अर्थ का भान 'इदं' रूप से होता है, उस से भिन्न ही भान 'अहम्' स्वरूप से ज्ञान का होता है, अतः भिन्नरूप से भासमान ज्ञान से नीलादि का भिन्नरूप से ग्रहण सिद्ध होता है। तात्पर्य, व्यवहार से ज्ञान और अर्थ का भेद सिद्ध है। ज्ञान का अवभास स्वतः है जब कि अर्थ का अवभास परतः होता है, इसलिये जो 'स्वतः अवभासित होता है' (वह 20 ज्ञानात्मक है) ऐसा हेतु अर्थ (पक्ष) में असिद्ध ठहरा।

✽ लिंग में अनुमानकारणता का अपलाप अशक्य ✽

एक पक्ष में व्यवहार का आश्रयण उचित मानना और दूसरे पक्ष में उस को अनुचित मानना ऐसा पक्षपात सज्जनों को शोभता नहीं है क्योंकि युक्तिवाद दोनों पक्ष में यहाँ समान है। यदि कहा जाय — “पक्षपात कहाँ है ? पहले ही हमने स्पष्ट कहा है कि जैसे हमारे मत में न कोई ग्राह्य 25 है न कोई ग्राहक है उसी तरह न परमार्थ से न कोई कारण है, न कोई कार्य। अर्थात् लिंग को हम अनुमान का कारण नहीं ही मानते।” — तो यहाँ प्रश्न है कि अनुमान कैसे होगा ? (प्रश्नकार का तात्पर्य यह है कि लिंग कारण नहीं है तो अनुमान किस से उत्पन्न होता है ? अनुमान जैसी कोई चीज उत्पन्न होती है या नहीं ?) पूर्वपक्षी उत्तर देते हैं कि अपने साध्य का अविनाभावि (अव्यभिचारी) हो ऐसे लिंग (से नहीं किन्तु उस) के ज्ञान से (यानी यह काल्पनिक बाह्य लिंग काल्पनिक बाह्य 30 साध्यार्थ का अविनाभावि है ऐसे लिंग ज्ञान से) अनुमान उत्पन्न होता है। यदि पूछा जाय कि ज्ञान के बदले उस लिंग से ही अनुमान की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते ? उत्तर यह है कि उस काल्पनिक

कथमनुमानम् ? स्वसाध्याऽविनाभावित्ग्रहणात् तदपि तद्योग्यतया । ननु अनुमानं स्वविषयतया विषयीकरोति न ज्ञानान्तरमिति कुतोऽयं विभागः ? न चानुमानं न किञ्चिद् विषयीकरोति, तस्याऽप्रमाणत्वप्रसक्तेः ।

न च समारोपव्यवच्छेदकरणात् तत् प्रमाणम्, समानाऽसमानसमयसमारोपव्यवच्छेदविधानेऽर्थ-
 5 प्रहणवदोषप्रसक्तेः । तथाहि— भिन्नसमयसमारोपव्यवच्छेदविधाने एकस्मादेवानुमानात् सकलसमारोपविच्छेदोदयात् सकलं जगत् असमारोपम् इति समारोपान्तरसमुच्छेदार्थमानान्तरान्वेषणमनर्थकमासज्येत । अथ भिन्नसमयाप्यसौ कश्चिदेव केनचित् तेन समुच्छिद्यते । ननु भिन्नकालोऽर्थोपि कश्चिदेव केनचित् संवेदनेन विषयीक्रियते न सर्वैः सर्वेणेति समानम् । यथा च स्वरूपं समारोपस्य व्यवच्छिद्यते तथाऽर्थस्य तदेव विषयीक्रियते इत्यपि समानम् ।

लिंग में वैसी योग्यता यानी सामर्थ्य नहीं है, उक्तप्रकार के लिंगज्ञान में ही वैसा सामर्थ्य है । इस
 10 पूर्वपक्षी के मत के सामने उत्तरपक्षी पूछते हैं कि यहाँ तो अनुमान स्व-आत्मक विषय का ही ग्राहक बन कर अपने को ही विषय करता है तो अन्यज्ञानविषयक बन कर अन्य ज्ञान को क्यों विषय नहीं करता ? 'स्व का ग्राहक बनता है - अन्य ज्ञान का ग्राहक नहीं बनता' ऐसे विभाग का निमित्त क्या है ? यदि कहा जाय कि — अनुमान न स्व को न पर को, किसी को भी विषय नहीं करता । — तो यह गलत है क्योंकि तब निर्विषय होने से अनुमान अप्रमाणभूत ठहरेगा ।

15 * समारोप व्यवच्छेद एवं बाह्यार्थपक्ष में युक्तितुल्यता *

यदि कहा जाय — 'अनुमान (वहन्यभाव की आशंकारूप) समारोप का विध्वंसक होने से प्रमाण
 माना गया है।' — तो यह गलत है, क्योंकि जैसे आपने "ज्ञान अपने समानकाल में अर्थ का ग्रहण
 करेगा या भिन्नकाल में" (पृ०८४ पं०२) ऐसे विकल्प किये हैं, वैसे प्रस्तुत में 'अनुमान समानकालीन
 समारोप का व्यवच्छेद करेगा या भिन्नकालीन ?' ऐसे विकल्प सावकाश हैं । देखिये, यदि अनुमान अपने
 20 से भिन्नकालीन समारोप का ध्वंस कर सकता है तो एक ही उस अनुमान से स्वभिन्नकालीन भविष्य
 के सर्व समारोपों का उच्छेद कर सकेगा, फलतः सारा विश्व समारोपशून्य हो जायेगा । अतः भावि किसी
 भी अन्य अन्य समारोप के ध्वंस के लिये और किसी नये अनुमान की खोज निरर्थक बन जायेगी ।

यदि कहें कि — भिन्नकालीनता पक्ष में सर्व भाविसमारोपों का उच्छेद नहीं होता, नियम सिर्फ
 इतना ही है कि किसी एक अनुमान से किसी एक भिन्नकालीन समारोप का ही उच्छेद होता है ।
 25 — अहो ! तब तो बाह्यार्थपक्ष में भी नियम इतना ही है कि कोई एक ज्ञान किसी एक (या दो-
 तीन) अर्थ को ही विषय करता है न कि प्रत्येक ज्ञान सब अर्थों को । दोनों मत में यह समानता
 हो सकती है । आपने जो कहा है कि — 'ज्ञान भिन्नकालीन अतीत-अनागत अर्थ के ग्रहण में प्रवृत्त
 होगा तो अतीत-अनागत अर्थ असत् होने से ज्ञान निर्विषय हो जायेगा' — यह भी व्यर्थ है, क्योंकि
 30 हमारे मत में ज्ञान भिन्नकालीन अ० अना० अर्थ के अतीतत्वादि स्वरूप को विषय कर सकता है;
 दोनों पक्ष में समानता है ।

न च समारोपव्यवच्छेदोऽनुमानेन सौम्यतमते विधातुं शक्यः, तद्व्यवच्छेदस्य विनाशरूपत्वात् तस्य च निर्हेतुकत्वाभ्युपगमात्। न च प्रवृत्तसमारोपस्य स्वत एव निवृत्तेर्भाविनस्तु तेन व्यवच्छेदः क्रियते इति वक्तव्यम् यतस्तस्यापि सतो व्यवच्छेदो भूतवन्न तेन विधातुं शक्यः, असतोऽपि खरविषाणवन्नासौ शक्यक्रियः। अथ भाविनोऽपि समारोपस्य न तेन व्यवच्छेदो विधीयते अपि तु तदुत्पत्तिप्रतिबन्धः। ननु समर्थे कारणे तदुत्पत्तेरवश्यंभावित्वान्न ततस्तत्प्रतिबन्धः, अनुत्पत्तौ वा न तत् तत्कारणम् नाप्यसौ तज्जन्यो भवेत्। 5

अथ तेन तत्कारणस्य सामर्थ्यविधातः क्रियते। सोऽप्ययुक्तः, सतः सामर्थ्यस्योपहन्तुमशक्यत्वात्, अस्य चार्थस्य — तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता। नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः।। (प्र.वा.२-२२) — इति भवतैव प्रतिपादनात्। असमर्थे तु कारणे कारणाभावादेव नोत्पत्त्यत

✽ बौद्धमत में समारोपव्यवच्छेद अशक्य ✽

वस्तुतः बौद्धमत में अनुमान से समारोप का विच्छेद अशक्य है, क्योंकि बौद्धमत में विनाशरूप 10 व्यवच्छेद निर्हेतुक ही होता है। निरन्वयविनाशवादि बौद्ध मत की मान्यता है कि नाश का कोई हेतु ही नहीं होता। यदि कहा जाय — 'जिस समारोप का उत्थान हो चुका है वह तो अपने आप ही दूसरे क्षण में निवृत्त हो जायेगा, किन्तु जो भावि समारोप है उस की निवृत्ति अनुमान से क्यों नहीं हो सकती ?' — तो यह अशक्य है। कारण, भावि समारोप सत् है या असत् ? पहले पक्ष में, अतीत समारोप के व्यवच्छेद की अशक्यता की तरह भावि सत् समारोप का व्यवच्छेद भी शक्य 15 नहीं होगा। यदि असत् है तब खरविषाण की निवृत्तिक्रिया जैसे अशक्य है वैसे भावि असत् समारोप की निवृत्तिक्रिया कैसे शक्य रहेगी ? बौद्धवादी कहेगा कि — अनुमान भावि समारोप का ध्वंस नहीं कर सकता किन्तु उस की उत्पत्ति को रोक सकता है। — अरे भाई ! समारोप को निपजानेवाले कारण यदि समर्थ बलवत् रहेंगे तो समारोप की उत्पत्ति को कैसे रोक पायेंगे ? वह तो उत्पन्न हो कर ही रहेगा। उत्पत्ति को रोकने का मतलब है उत्पत्ति का अभाव, अभाव तो पहले से ही चला 20 आ रहा है, उस का कारण अनुमान कैसे बन गया ? उत्पत्ति-(प्राग्)अभाव यह अनुमान का जन्य (कार्य) कैसे हो सकता है ? असंभव है।

✽ समारोप व्यवच्छेद की अनुपपत्ति तदवस्थ ✽

बौद्ध कहता है — अनुमान समारोपव्यवच्छेद करता है इस विधान का मतलब यह है कि वह समारोप के उत्पादक कारण के सामर्थ्य को तोड़ देता है। — यह कथन भी अयुक्त है। यदि कारण 25 का सामर्थ्य मौजूद है तो उस को कौन तोड़ सकता है ? इसी मतलब का प्रतिपादन आप के धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ (२-२२) में करते हुए कहा है —

'उस पदार्थ की शक्ति (सामर्थ्य) या अशक्ति जो कि सहजतया उस में मौजूद है उस का विलय करने के लिये कौन समर्थ है ? जब कि (सामान्य) पदार्थ नित्य होने से चिकित्सा (नये परिष्कार) के लिये असाध्य है।'

30

▼. तस्य = सामान्यस्य शक्तिरशक्तिर्वा स्वविषयज्ञानजननादौ या स्वभावेन संस्थिता तां शक्तिमशक्तिं वा नित्यत्वाद् अचिकित्स्यस्य = अनपनेयप्राचीनस्वभावस्य कोऽन्यः क्षपयितुं क्षमः ? (इति मनोरथनन्दी टीका)

इति कस्तत्रानुमानोपयोगः ? न चानुमानसहायः प्राक्तनः समारोपक्षणः उत्तरं समारोपक्षणान्तरजननाऽसमर्थं जनयतीति द्वितीयक्षणे कारणाभावादेव समारोपानुत्पत्तिः, लिङ्गानुमानयोरिव पूर्वोत्तरसमारोपक्षणयोर्हेतुफल-भावाभावात्। अथ समारोपव्यवच्छेदकृदप्यनुमानं नेष्यते तर्हि प्रकृतानुमानस्य फलान्तराभावादभिधानमसाधना-ङ्गदघनत्वात्रिग्रहस्थानमापद्यते। अथ प्रकृतानुमानं नोपन्यस्यते, कुतस्तर्हि नीलादीनां ज्ञानरूपतासिद्धिः ?

5 प्रत्यक्षत एवेति चेत् ? तत एव जडतासिद्धिरप्यस्तु। अथ ज्ञानरूपतापि नीलादेर्नापरा समस्त्यपि तु तत्स्वरूपमेव। न, अन्यत्राप्यस्य समानत्वात्। अथ नीलादेर्जडत्वे प्रतिभासो न भवेत् जडस्य प्रकाशाऽयोगात्। न, स्वतस्तस्याभावे सिद्धसाध्यतापत्तेः। परतोऽपि तदभावोऽसिद्धो 'नीलमहं वेद्मि' इति प्रतीतेः। जडस्य च प्रकाशाऽयोगे कस्यासाविति वाच्यम्। 'ज्ञानस्य' इति चेत् ? न, तत्रापि 'स्वतः परतो वा' इतिविकल्पद्वयानतिवृत्तेः।

10 यदि समारोप के जनक कारण समारोपोत्पत्ति में असमर्थ है तो वास्तव में वह कारण ही नहीं है, अर्थात् कारण नहीं होने से ही समारोप नहीं उद्भववेगा, तब समारोप के उद्भव को रोकने के लिये अनुमान का योगदान ही क्या रहा ?

* अनुमान से समारोपव्यवच्छेद अशक्य *

यदि कहा जाय — पूर्व समारोपक्षण अनुमान की सहायता से उत्तरक्षण में ऐसे समारोप को

15 निपजाता है जो उस के बाद नये समारोप की उत्पत्ति के लिये नपुंसक होता है। — तो यह गलत है क्योंकि तीसरे क्षण में नये समारोप को उत्पन्न करने के लिये दूसरे क्षण में समर्थ समारोपक्षणात्मक कारण नहीं है इस लिये वह उत्पन्न नहीं होता, इस में अनुमान को कौनसा यश मिला ? जैसे लिंग से व्याप्तिज्ञान, व्याप्तिज्ञान से अनुमान होता है तब लिंग एवं अनुमान में कार्य-कारणभाव आप को अमान्य है वैसे ही अनुमान से नपुंसक समारोपक्षण और उस नपुंसक क्षण से नये समारोप का

20 अनुद्भव होता है, तब नपुंसकक्षण और उत्तर समारोपक्षण में कारण-कार्य भाव ही नहीं है, तब अनुमान का योगदान क्या ? यदि कहें कि — हम तो अनुमान को समारोप व्यवच्छेदकारक भी नहीं मानते — तो फिर 'जो भासित होता है वह ज्ञानरूप होता है' इस भवदीय अनुमान का और कौन सा फल शेष बचा ? क्यों आपने ऐसे निष्फल अनुमान का उपन्यास किया ? भवदीय अनुमान-उपन्यास, आप के इष्ट साध्य के साधन का अंग न होने से निग्रहस्थान सावित होता है। यदि कहें कि — 'भासित

25 होता है वह ज्ञानरूप है' ऐसे अनुमान का उपन्यास हम नहीं करते हैं — तो नीलादि में ज्ञानरूपता कैसे सिद्ध होगी ? प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्ष से तो विपरीत यानी जडरूपता ही सिद्ध होती है। यदि कहें कि — ज्ञानरूपता नीलादि से पृथक् नहीं होती बल्कि वह उस का स्वरूप ही है, स्वरूप तो स्वयं सिद्ध ही होता है, — तब तो हम भी कहेंगे कि जडता नीलादि से पृथक् नहीं बल्कि उस का स्वरूप ही है जो कि स्वयंसिद्ध है।

30 यदि कहें कि — जडता नीलादिस्वरूप होने पर वह प्रतिभासित नहीं होगी, क्योंकि जड वस्तु (स्व)प्रकाश नहीं हरेती। — तो यहाँ स्वतः प्रकाश का निषेध करने पर तो सिद्धसाध्यता दोष लगेगा, क्योंकि नीलादि जड को हम भी स्वप्रकाश नहीं मानते। यदि परप्रकाशता का निषेध करेंगे तो वह

न च — जडस्य स्वतः प्रकाशे ज्ञानता जडताविरोधिनी प्रसज्यते, ज्ञानस्य तु स्वतः प्रकाशे विरोधा-
 भावात् प्रथमविकल्पे दोषापत्तिः;— निरंशैकपरमाणुपरिमाणस्य तस्य स्वतःप्रकाशे स्थूलैकप्रतिभासविरोधात् ।
 न हि प्रत्यक्षप्रतीतस्य स्थूलैकप्रतिभासस्य विरोधो न दोषाय, तत्प्रतिभासपरिहारेण निरंशैकपरमाणुप्रतिभासस्या-
 ऽप्रतीयमानस्याभ्युपगमे एकस्य ब्रह्मणः स्वतः प्रतिभासः किं नाभ्युपगम्यते अप्रतिभासमानकल्पनायास्तत्रापि
 निरंकुशत्वात् ? चित्रैकस्वभावस्य तस्याभ्युपगमे क्षणिकत्वविरोधः । क्रमपरिणामिनस्तथैवात्मनः स्वतःप्रति- 5
 भासाऽविरोधात् सर्वविकल्पातीतस्य तस्याभ्युपगमे नील-सुखादिव्यतिरिक्तस्य तस्य ब्रह्मस्वरूपवत् तदप्रतिभासनमेव
 विरोधः; नीलसुखाद्यात्मकत्वेऽपि नील-सुखप्रतिभासेन पीत-दुःखप्रतिभासाऽविषयीकरणात् पीत-दुःखप्रतिभासेन
 नीलसुखप्रतिभासयोश्चाऽसंवेदनात् परलोकवदसत्त्वेन सकलशून्यताप्रसक्तिः ।

दूरापास्त ही है क्योंकि 'मैं नील को जानता हूँ' ऐसी प्रतीति (नीलभासक प्रतीति) सुप्रसिद्ध है। यदि
 आप कहेंगे कि यह तो ज्ञान का प्रतिभास है जड वस्तु का नहीं — तो यहाँ भी 'ज्ञान का प्रतिभास 10
 स्वतः है या परतः ?' इन विकल्पयुग्म से आप पीछा नहीं छूड़ सकेंगे।

✽ बौद्ध मत में ज्ञान की स्वप्रकाशता विरोधग्रस्त ✽

यदि कहा जाय — 'जड को स्वतः प्रकाश मानने पर तो उस में जडता से विरुद्ध ज्ञानता
 प्रसक्त होती है, इस लिये जड को स्वप्रकाश न मानना उचित है। जब कि नील ज्ञान को प्रथम
 विकल्प में स्वतःप्रकाश मानने पर कोई विरोध न होने से दोष को अवकाश नहीं रहता' — तो यह 15
 गलत है, विरोध तो यहाँ भी प्रसक्त है, नील ज्ञान में यदि निरंश एक परमाणु (स्वलक्षण) परिमाणात्मक
 नील भासित होता है वह स्वप्रकाश ज्ञानमय है, तो उस के स्थूल मात्र होने का प्रतिभास होता
 है उस से विरोध प्रसक्त होगा। (नीलज्ञान निरंश होने से नील अंश में स्थूलता और ज्ञान अंश
 में स्वप्रकाशता का निवेदन अशक्य है।) प्रत्यक्ष से ही नीलज्ञान में स्थूलमात्र का प्रतिभास होता है
 उस के साथ विरोध दोष होता है उस की उपेक्षा भी नहीं हो सकती। कारण, प्रत्यक्षसिद्ध स्थूलप्रतिभास 20
 के विरोध की उपेक्षा कर के अप्रतीत निरंश एक परमाणुस्वरूप ज्ञानमात्र का स्वीकार करेंगे तो फिर
 प्रत्यक्षसिद्ध प्रपञ्च के साथ विरोध की उपेक्षा कर के एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का स्वतः प्रतिभास मान
 लेने में क्या आपत्ति है ?

'एक ब्रह्म का स्वतः प्रतिभास नहीं होता तब उस की कल्पना में निरंकुशता होगी' — ऐसा
 तो नील के स्थूल एक प्रतिभास को अमान्य कर के निरंश एक-परमाणु-ज्ञानमयता की आप के द्वारा, 25
 कल्पना में भी निरंकुशता क्यों नहीं होगी ?

यदि नील ज्ञान को स्थूल एवं निरंशपरमाणु इत्यादि अनेक स्वरूप यानी चित्रस्वभावी मान लेंगे
 तो अनेकक्षणसम्बन्ध भी चित्रस्वभावान्तर्गत मान लेना पड़ेगा, तब क्षणिकत्व के साथ विरोध प्रसक्त
 होगा। कारण, ज्ञानात्मा को ज्ञानत्वस्वरूप से अवस्थित मान कर उस में क्रमशः नील-पीतादि परिणामों
 की शृंखला को स्वीकार लेने से स्वतः प्रतिभास के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, जैसे कि चित्र 30
 स्वभाव के साथ विरोध आप नहीं मानते।

✽ नील की प्रतिभासमात्ररूपता विरोधग्रस्त ✽

यदि नीलज्ञान को स्वतः परतः प्रतिभास के विकल्पों से मुक्त सिर्फ प्रतिभासात्मक ही मानेंगे

किञ्च, नीलादिप्रतिभासानामेकेनाणुप्रतिभासेन तदन्येषां तैश्च तस्याऽविषयीकरणादभावप्रसक्तिः। स्वतोऽपि केवलपरमाणुप्रतिभासस्याऽसंवेदनात्। अथ नील-सुखादीनां नाभावः स्वयमुपलम्भात्। न, सन्तानान्तरानिषेधप्रसक्तेः तदभ्युपगमे कथं स्वपरग्रहणव्यापारनिषेधोऽनुमानाभावात् ?! न च विचारात् तद्व्यापारनिषेधः, अनेन तदविषयीकरणे न तन्निषेधः, विषयीकरणे ग्राह्य-ग्राहकभावसिद्धेर्न तन्निषेधः इति न सकलविकल्पा-
5 तीतत्वसंभवः। न च तत्त्वस्यान्यत्र न भावः नाप्यभावः, सर्वत्र तथाभावापत्तेः सन्तानान्तरवत्। ततः स्थूलैकत्वादिविकल्परहितस्य कदाचिदप्यप्रतिभासनाद् जडवदजडस्यापि न स्वतोऽवभासनं पराभ्युपगमेन सम्भवति। परतस्तस्यावभासने जडस्यापि ततोऽवभाससिद्धेर्विज्ञानमात्रताऽसिद्धिः।

तो उस में विरोध प्रसक्त होगा। कैसे यह देखिये — जैसे ब्रह्म को नील-पीतादि किसी भी विकल्प से मुक्त ब्रह्ममात्रस्वरूप मानने पर, उस का तद्रूप से प्रतिभास नहीं होता — यह विरोध प्रसक्त
10 होता है वैसे ही नीलज्ञान या सुखज्ञान को भी सिर्फ एक मात्र प्रतिभासरूप मानने पर, उस का तद्रूप से अप्रतिभास यानी विरोध प्रसक्त होता है।

नीलादिप्रतिभास को विकल्पमुक्त मानने पर सर्वशून्यतावाद की भी अनिष्टापत्ति होगी। कारण, नीलज्ञान या सुखज्ञान सिर्फ प्रतिभासात्मक होने पर भी नीलस्वरूप या सुखस्वरूप तो माना ही जाता है और ऐसा मानने पर भी वह पीतप्रतिभास या दुःखप्रतिभास को स्पर्श ही नहीं करते, जब वे
15 प्रतिभासात्मक है तो नील-सुख की तरह उन का स्पर्श करना चाहिये, लेकिन नहीं करता, मतलब कि वे प्रतिभास ही नहीं है। ठीक इसी तरह पीतप्रतिभास और दुःखप्रतिभास भी नीलप्रतिभास या सुखप्रतिभास को विषय नहीं करता अतः वह भी प्रतिभासात्मक नहीं होंगे। ब्रह्माद्वैतवादीमत में जैसे परलोक असत् है, उसी तरह प्रतिभास मात्र के असत् हो जाने पर ज्ञानामात्रवादी के मत में बलात् शून्यता का प्रवेश अनिवार्य रहेगा।

20 * बौद्धमत में प्रतिभासमात्र के अभाव की आपत्ति *

यह भी समस्या है कि जैसे नीलप्रतिभास एवं सुखप्रतिभास की शून्यता प्रसक्त होती है वैसे ही प्रतिभास मात्र की शून्यता भी अतिप्रसक्त है। निरंश एक मात्र अणुप्रतिभास से स्वअंतर्गतनीलादिप्रतिभासों का संवेदन तो विवादप्रस्त है ही, उन नीलादिभिन्न प्रतिभासों का संवेदन भी अशक्य है क्योंकि वह उन का तो स्पर्श ही नहीं करता, एवं उन नीलादिभिन्नप्रतिभासवृन्द से उस एक अणुप्रतिभास
25 का भी संवेदन शक्य नहीं क्योंकि वे उस को स्पर्श नहीं करते। इस स्थिति में किसी भी नीलादि या उन के प्रतिभास की सिद्धि न होने से सभी का अभाव ही प्रसक्त होगा, क्योंकि तब तो वह अपने आप का भी 'मैं केवल परमाणुप्रतिभासमात्र हूँ' ऐसा संवेदन नहीं कर सकता।

यदि कहें कि — नील सुखादि तो स्वयं स्वसंवेदी हैं अतः उन का अभाव नहीं होगा— तो यह इस लिये ठीक नहीं है कि तब वहाँ अन्य पीत-सुखादि के संवेदन का भी निषेध (केवल ज्ञानामात्रवादी पक्ष में)
30 कैसे हो सकता है ? अगर उन का भी (पर का) संवेदन मान लेंगे तो आप जिस अनुमान से ज्ञान में स्व-पर ग्रहण व्यापार का निषेध करते हैं वह शक्य न होगा, क्योंकि 'जो अवभासित होता है वह ज्ञान होता है' — इस अनुमान में, नीलादिप्रतिभास को व्यापार स्वभाव मान लेने पर बाध प्रसक्त होगा।

न च परेण समानकालेनाऽप्रतिबन्धात् परस्परग्रहणप्रसक्तेश्च नार्थग्रहणम्; भिन्नकालेनाप्यतिप्रसंगाद् न तेन तद्ग्रहणम्, अन्यत्रापि समानत्वात्। अत एव 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः (प्र.वा.१-६) इत्युक्तम्, तत्रापि समानकालस्य गतावर्थवत्प्रसंगात्।

न च स्वरूपस्य ज्ञानतादात्म्यात्रायं दोषः, तादात्म्येऽपि समानेतरकालविकल्पद्वयानतिवृत्तेः। अथ स्वरूपं ज्ञानमेवेति न भेदभावविकल्पावतारस्तत्र। न, तथाप्रतीतेः, तत्तथाप्रतीतिश्च यद्यप्रमाणं नातः स्व-

* स्व-परग्रहण व्यापारनिषेध का असंभव *

यदि कहें कि — अनुमान से अर्थनिषेध न होने पर भी तर्कगर्भित विचार से स्वपरग्रहण व्यापार का निषेध होगा, तो यह संभव नहीं, क्योंकि स्व-परग्रहण व्यापार को स्पर्श न करनेवाला विचार उस व्यापार का निषेध भी नहीं कर सकता, अगर विषय करता है तब तो उस विचार से ही नीलादि और ज्ञान में ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो जाने से अर्थग्रहणव्यापार का निषेध नहीं हो सकेगा। 10 निष्कर्ष, नीलादिप्रतिभास को सर्वविकल्पमुक्त मान लेना असंभव है। ऐसा भी नहीं है कि "स्व-पर ग्रहण का या अर्थप्रतिभास का अन्य अन्य स्थान में अस्तित्व ही नहीं है एवं नास्तित्व भी नहीं है," क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य सन्तान के निषेध की तरह सर्वत्र सभी पदार्थों के अस्तित्व-नास्तित्व के विकल्प समाप्त हो जायेंगे। अतः यही मानना होगा कि कोई स्थूल होता है कोई एक होता है, कोई अणु होता है, क्योंकि इन विकल्पों से अस्पष्ट वस्तु कभी भी प्रतिभासित नहीं होती, 15 अन्यथा जैसे जड के स्वतः प्रतिभास का निषेध है वैसे ही आप के मतानुसार तो अजड पदार्थ का स्वतः प्रतिभास भी असम्भवग्रस्त रहेगा। यदि स्वतः नहीं तो परतः अजड का प्रतिभास मानेंगे तो जड का भी परतः प्रतिभास सिद्ध होने से विज्ञानमात्रसत्त्व वाद समाप्त हो जायेगा।

* अन्योन्यग्रहण की आपत्ति उभयपक्ष में तुल्य *

यदि कहें कि — अर्थ का समकालीन किन्तु भिन्न ज्ञान यदि अर्थ को ग्रहण करेगा तो, कोई बाध 20 न होने से अर्थ भी ज्ञान को ग्रहण करेगा, इस प्रकार तो अन्योन्य (एक दूसरे के) ग्रहण की अनिष्टापत्ति होगी। भिन्न कालीन भिन्न ज्ञान यदि अर्थ का ग्रहण करेगा तो सारे जगत् के ग्रहण का अति अनिष्ट प्रसंग होगा। मतलब कि ज्ञान से स्वभिन्न अर्थ का ग्रहण संभव नहीं है! — तो यह अभिन्न पक्ष में भी तुल्य दोष ग्रस्त है। अभिन्न पक्ष में ज्ञान नीलादि को ग्रहण करेगा तो नीलादि भी ज्ञान को ग्रहण करेगा, परस्परग्रहण का अनिष्ट यहाँ भी तुल्य है। प्रमाणवार्तिक (१-६) में जो धर्मकीर्ति ने कहा है 25 कि 'अपने स्वरूप का अवगम (ज्ञान में) स्वतः हो जाता है' — यह इसी लिये अयुक्त ठहरता है, क्योंकि वहाँ भी अर्थ के लिये किये गये समान-भिन्नकालीनता के विकल्पों (परस्परग्रहण) की प्रसक्ति द्वारा 'अर्थ द्वारा भी अपने आप को अवगत कर लेने की अनिष्टापत्ति' तदवस्थ रहेगी।

* ज्ञान एवं ज्ञानस्वरूप में भी भिन्नाभिन्नकालविकल्प *

यदि कहें कि — ज्ञान और उस का स्वरूप तो एक ही है, दोनों का अत्यन्त तादात्म्य होता 30 है, इस लिये परस्पर ग्रहण या तो अपने आप स्व का अवगम कर लेने की यहाँ कोई आपत्ति जैसा कुछ नहीं है। — तो यह गलत है, क्योंकि स्वरूप का स्व में (ज्ञान में) तादात्म्य रहने पर भी

रूपस्य ज्ञानतासिद्धिः, प्रमाणं चेत् तर्हि स्वपरग्रहणस्वरूपतापि ज्ञानस्य तत एव सिद्धेति न तत्रापि तद्विकल्पावतारः, प्रत्यक्षविरोधात्। तन्न स्वतोऽवभासनं (पृ०८३-पं०५) हेतुः, असिद्धत्वात्।

^Bपरतोऽवभासनं (पृ०८३-पं०५) चेत् ? न, तस्यापि वाद्यसिद्धत्वात्—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यस्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।।

5 (दृष्टव्य-प्र०वा०२-३२७) इत्यभिधानात् सौगताभिप्रायेण परप्रकाशता कस्यचित् सिद्धा।

न च प्रकाशनलक्षणस्य हेतोर्ज्ञानत्वेन व्याप्तिसिद्धिः, यतः स्वरूपमात्रपर्यवसितं ज्ञानं सर्वमवभासनं ज्ञान(त्व)व्याप्तमिति नाधिगंतुं समर्थम्। न च सकलसम्बन्धप्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्तिः। उक्तं च — द्विष्टसम्बन्धसंवित्तिः नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्।। ()

समान काल-भिन्नकाल के विकल्पों का भय कैसे निवृत्त होगा ? समानकाल में ज्ञान अपने स्वरूप
10 को ग्रहण करेगा तो स्वरूप भी ज्ञान को क्यों ग्रहण नहीं करेगा ? भिन्नकाल में ग्रहण करेगा तो भिन्न कालीन अन्य पदार्थों को क्यों ग्रहण नहीं करेगा ? यदि कहें कि — स्वरूप कहाँ भिन्न है वह तो ज्ञान स्वयं ही है। इस लिये भेद (या भिन्नकालीनता) प्रयुक्त विकल्पों को यहाँ कोई अवकाश ही नहीं है। — तो यह भी गलत है। कारण, 'ज्ञान' और 'स्वरूप' शब्दभेद से स्पष्ट ही भेद प्रतीत होता है। यदि यह भेदप्रतीति अप्रमाण है तो शब्दभेद के द्वारा स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध न
15 होने से उस की ज्ञानरूपता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि भेदप्रतीति प्रमाणभूत है तो उस भेदप्रतीति से ही स्वरूप भी ज्ञान से पर सिद्ध होने से ज्ञान स्व एवं पर का ग्रहणस्वरूप ही फलित हो गया। प्रमाणसिद्ध वस्तु के ऊपर किसी विकल्पों का अवतार शक्य नहीं है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तु पर वैसे विकल्प प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध ठहरेंगे। निष्कर्ष, अवभासन हेतु (जो कि नीलादि को ज्ञानरूप सिद्ध करने के लिये उपन्यस्त किया गया है) का प्रथम विकल्प ^Aस्वतो अवभास (पृ०८३-पं०१६) यहाँ
20 सुस्थित नहीं है, क्योंकि इसविकल्प में अवभास हेतु असिद्धिदोष प्रस्त है।

* B विकल्प में परतः अवभासन हेतु असिद्ध *

(पहले 'यद् अवभासते तद् ज्ञानम्' इस प्रयोग के हेतु पर 'स्वतः' 'परतः' 'अवभासमात्र' ये तीन विकल्प किये गये थे (पृ०८३-पं०१६) उन में 'स्वतः' इस प्रथम विकल्प के बाद अब दूसरे विकल्प का निषेध शुरु हो रहा है।)

25 ज्ञानरूपता की सिद्धि के लिये अवभासन हेतु का ^Bपरतः अवभासन पक्ष माना जाय तो वह भी वादी बौद्ध के मत में असिद्ध है। बौद्धों ने अपने अभिप्राय प्रकट करते (प्र० वा० २-३२७) कहा है, "बुद्धि से भिन्न कोई अनुभाव्य यानी ग्राह्य नहीं है, एवं अनुभव उस (ग्रहणबुद्धि) से अतिरिक्त नहीं है। इस स्थिति में कोई ग्राह्य नहीं है (अत एव) कोई ग्राहक भी नहीं है, सिर्फ बुद्धि अपने आप रोशन होती है।" इस अभिप्रायानुसार किसी भी वस्तु की परप्रकाशता प्रसिद्ध नहीं है।

30 यह भी जान लो कि ज्ञानत्व के साथ अवभासन हेतु की व्याप्ति भी नहीं बैठती। कारण, ज्ञान तो अपने स्वरूपवेदन में ही मस्त है, वह प्रत्येक अवभासन में ज्ञानत्व की व्याप्ति को ग्रहण करने में कैसे शक्तिप्रकटन करेगा ? व्याप्ति व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध है, सभी संबंधियों को (व्याप्य-

न च विवक्षितज्ञानं ज्ञानत्वमवभासनं चात्मन्येव प्रतिपद्य तयोर्व्याप्तिमधिगच्छति। तत्रैवानुमानप्रवृत्तेः तत्र च तत्प्रवृत्तेर्वैयर्थ्यम् साध्यस्याध्यक्षसिद्धत्वात्। न च सकलं ज्ञानमात्मनि तयोर्व्याप्तिं प्रतिपद्यत इति वक्तव्यम् सकलज्ञानाऽवेदने वादिनैवं प्रतिपत्तुमशक्तेः। न च न परमार्थतस्तयोर्व्याप्तिः अपि तु व्यवहारेणेति वक्तव्यम् व्यवहारस्यापि प्रमाणत्वाऽभ्युपगमे उक्तदोषाऽनिवृत्तेः। अथाप्रमाणम् विकल्पमात्रमसौ; नन्वनुमानमप्यतः प्रवृत्तिमासादयत् तथाभूतमिति नातोऽभिमतसिद्धिः।

5

न च मिथ्याविकल्पविषयधूमाग्निव्याप्तिप्रभवान्गन्धनुमानवदस्यापि स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वम् मिथ्या-विकल्पावगतव्याप्तिप्रभवस्य तस्य स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वव्याघातात्। न हि 'साध्यभाव एव साधनभाव'—लक्षणव्याप्त्यभावे साधनप्रभवानुमानस्य कस्यचित् स्वसाध्याऽव्यभिचारोऽविरुद्धः। न चाऽविद्यमानव्याप्ति-

व्यापकों को) अवगत किये विना सम्बन्ध (व्याप्ति) का भान कैसे हो सकता है ? कहा भी है —

“दो (सम्बन्धी) का ग्रहण होने पर ही सम्बन्ध का भान हो सकता है, दो में से एक रूप (सम्बन्धी) 10 के अवगममात्र से सम्बन्ध का भान नहीं हो सकता जो कि दोनों सम्बन्धियों से संलग्न होता है।”

✽ ज्ञान और अवभासन की व्याप्ति का ग्रहण निरर्थक ✽

यदि कहा जाय कि — 'विवक्षित कोई एक ज्ञान अपने देह में ही ज्ञानत्व और अवभासनत्व दो संबंधियों को ज्ञात कर लेगा, फिर उन की व्याप्ति का ग्रहण भी कर लेगा।' - तो यहाँ मुसीबत आयेगी कि अनुमान की प्रवृत्ति निरर्थक बन जायेगी, क्योंकि अपने देह में ज्ञानत्व तो साध्य है, 15 अगर उस को स्वयं प्रत्यक्ष कर लिया तो अनुमान की अब क्या जरूर ? एवं उस अनुमान के लिये अपने देह में व्याप्ति के ग्रहण की प्रवृत्ति भी निरर्थक ठहरेगी क्योंकि अब तो अनुमान की जरूर ही नहीं है। उपरांत, यह भी सिद्ध नहीं है कि 'प्रत्येक ज्ञान अपने देह में ही व्याप्य-व्यापक अवभासन एवं ज्ञान की व्याप्ति को ग्रहण कर लेता है।' जब तक सभी ज्ञानों का संवेदन न कर लिया जाय तब तक वादी (बौद्ध) में ऐसी कोई शक्ति नहीं होगी जिस से व्याप्ति का ग्रहण कर सके। 20 यदि कहें कि — 'पारमार्थिक रूप से तो (ज्ञान एवं अवभासन एक होने से) उन में कोई व्याप्ति होती नहीं है, व्याप्ति एवं अनुमानप्रवृत्ति सब व्यावहारिक हैं इस लिये कोई दोष नहीं।' — तो यह भी बोलना मत, क्योंकि व्यवहार प्रमाण है या अप्रमाण ? प्रमाण मानेंगे तब तो उक्त दोष भी प्रामाणिक मानना होगा, वह आप का पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि वह अप्रमाण है तब तो वह आप के मत में असत् विकल्प ही ठहरा, उस व्यवहार से (व्याप्तिग्रहणव्यवहार से) जो अनुमान करेंगे वह भी असत् 25 विकल्प ही ठहरा। उस विकल्प से आप का वांछित कब सिद्ध होगा ?

✽ मिथ्याविकल्प द्वारा गृहीत व्याप्ति से सत्य अनुमान अशक्य ✽

यदि कहा जाय — 'सकल धूम-वह्नि का वेदन न होने पर भी मिथ्याभूत विकल्प से धूम-वह्नि की व्याप्ति गृहीत हो कर अग्नि का अनुमान उदित होता है वैसे ज्ञानत्व साध्य का भी अवभासन हेतु अव्यभिचारि क्यों न माना जाय ?' — यह भी अयुक्त है, मिथ्या विकल्प से गृहीत व्याप्ति से 30 जन्य अनुमान में स्वसाध्य का अव्यभिचार व्याघातग्रस्त है। 'साध्य-सत्ता होने पर ही साधन की सत्ता का होना' — यह व्याप्ति है, ऐसी व्याप्ति न होने पर भी अवभासनजन्य किसी अनुमान में अपने

लिङ्गप्रभवादनुमानात् सौगतस्य स्वमतसिद्धिः, परस्यापि तथाभूतात् कार्याद्यनुमानाद् ईश्वराद्यभिमतसाध्य-
सिद्धिप्रसक्तेः। न च ज्ञानत्व-स्वतः प्रकाशनयोः साध्य-साधनयोः कुतश्चित् प्रमाणाद् व्याप्तिसिद्धिः
पारमार्थिकी, ज्ञानवज्जडस्यापि परतो ग्रहणसिद्धेर्हेतोरनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः। जडस्य प्रकाशाऽयोगोऽप्यप्रति-
पन्नस्य प्रतिपत्तुमशक्यः, शक्यत्वे वा सन्तानान्तरस्यापि स्वप्रकाशाऽयोगः प्रतिपत्तव्यः इति तस्याप्यभावः
5 प्रसक्तः। तथा च परप्रतिपादनार्थं प्रकृतहेतूपन्यासो व्यर्थः।

अथ प्रतिपन्नस्य जडस्य प्रकाशाऽयोगः, तथापि विरोधः— ‘जडः प्रतीयते प्रकाशायोगश्च’ इति।
अथाऽदृश्येऽपि जडे विचारात्तदयोगः प्रतीयते; ननु जडस्य तेनाप्यविषयीकरणे पूर्ववदोषः— ‘विचारस्तत्र
न प्रवर्तते तत एव च प्रकाशाऽयोगप्रतिपत्तिः’ इति। विषयीकरणे विचारवत् प्रत्यक्षादिनापि तस्य
विषयीकरणात् प्रकाशायोगोऽसिद्धः। न च सुखादौ प्रकाशनस्य ज्ञानत्वेन व्याप्तिनिश्चयात् स्वव्यापकरहिते

10 साध्य से अव्यभिचार होना यह तो न्यायविरुद्ध ही है। यदि व्याप्ति न होने पर भी बौद्धमत में
लिंगजन्य अनुमान द्वारा अपने साध्य की सिद्धि मानी जायेगी तो नैयायिकादि के मत में व्याप्ति सिद्ध
न होने पर भी कार्य, आयोजन, धृति आदि हेतुक अनुमान से उन के अभिमत ईश्वरादि साध्य की
(सकर्तृकत्व साध्य की) सिद्धि प्रसक्त होगी। वास्तविकता तो यह है कि स्वतः प्रकाशन हेतु में ज्ञानत्व
साध्य की पारमार्थिक व्याप्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, अपारमार्थिक व्याप्ति के द्वारा ज्ञानत्व
15 सिद्ध करेंगे तो अपारमार्थिक व्याप्ति से जड में परतो ग्रहण की सिद्धि को कौन रोक सकता है ?
फलतः जड में ज्ञानत्व का अभाव सिद्ध होने पर अवभासन हेतु ज्ञानत्व साध्य का द्रोही सिद्ध होगा।

यदि कहें कि — नीलादि जड होंगे तो जड के साथ प्रकाश का मेल नहीं बैठेगा, यानी जड
में प्रकाशायोग मानना होगा — तो प्रश्न यह ऊठेगा कि विज्ञानाद्वैत मत में प्रकाशायोग अगृहीत
होगा या गृहीत होगा ? आद्य विकल्प में जब तक वह अगृहीत है तब तक जड में प्रकाशायोग
20 का प्रतिपादन अशक्य है। यदि प्रकाशायोग का ग्रहण कैसे भी शक्य मानेंगे तो अन्य सन्तान में
भी वह गृहीत होने से वह भी विज्ञानमात्रवादि मत में जड की तरह असत् साबित होगा क्योंकि
जिस का स्वतः प्रकाश नहीं होता वह तो आप के मत में असत् होता है, जो सत् होता है वह
स्वतः प्रकाश होने से ज्ञानाभिन्न होता है (बौद्ध मत में)।

निष्कर्ष, अन्यों को मनाने के लिये प्रकाशन हेतु का उपन्यास सभी तरह से निरर्थक ठहरा।

25 * गृहीत जडपदार्थ में प्रकाश अयोग अनुपपन्न *

अगृहीत जड में प्रकाशायोग अशक्य है तो अब दूसरे विकल्प में उसे गृहीत कर के प्रकाश
का अयोग दिखायेंगे तो भी विरोध प्रसक्त है, एक ओर वह गृहीत यानी प्रकाशित है और दूसरी
ओर उस में प्रकाश का अयोग दिखाते हैं।

यदि कहें कि — “जड को प्रकाशित न मान कर अदृश्य ही मानेंगे, उस की प्रतिपत्ति अशक्य
30 होने पर भी उस का विचार (तर्क) तो कर सकते हैं। ‘जड का प्रकाश घटता है या नहीं’ इस
विचार का नतीजा यही निकलता है कि जड में प्रकाश नहीं घटता।” — यहाँ विषय-अविषय के

▼. दृष्टव्यम् — उदयनाचार्यविरचित न्यायकुसुमाञ्जलि— स्त० ५ का० १ मध्ये।

जडे न तस्य सम्भवोऽन्यथा कृतकत्वादेरप्यनित्यत्वविकल आत्मादौ संभव इति सकलानुमानोच्छेद इति वक्तव्यम् यतस्तत् तत्र तेन व्याप्तमिति कुतो निश्चितम् ? 'तस्मिन् सति दर्शनात्' इति यद्युच्येत पुरुषत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वेन व्याप्तं तत एव सिद्ध्येत्, विपक्षे बाधक(?)भावः प्रकृतेऽपि समानः।

अपि च ज्ञानत्वेन व्याप्तं प्रकाशनं सुखादौ स्वयमेव प्रतिपन्नं (८३-४) यदि तदेव नीलादावपि कृतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते तदा ततस्तत्र साध्यसिद्धिर्युक्ता, न पुनः साध्यधर्मव्याप्तधर्मविलक्षणादपि धर्मात् 5 प्रतिभासः इति शब्दसाम्येऽपि, अन्यथा बुद्धिमत्कारणव्याप्तघटादिसन्निवेशविलक्षणादपि पर्वतादिसंनिवेशात् तत्र बुद्धिमत्कारणसिद्धिः स्यादिति 'वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य' (प्र०वा०१-१४) इत्यादेरभिधानमसंगतं भवेत्।

पूर्ववत् दो विकल्प प्रसक्त होंगे। यदि विचार (जो कि स्वयं प्रकाशरूप ही है,) जड को विषय नहीं बनाता तब पूर्ववत् यहाँ वही दोष होगा कि विचार (विषय न करने के कारण) जड को स्पर्श ही नहीं करता है अत एव उस के प्रकाशयोग का प्रतिपादन भी वह नहीं कर सकता। यदि विचार 10 जड को विषय करेगा तो प्रत्यक्ष क्यों उसे विषय नहीं करेगा, कर सकता है, तो प्रकाशअयोग निरस्त हो गया। यदि कहें कि — "जहाँ प्रकाश है वहाँ ज्ञानत्व है — इस व्याप्तिरूप निश्चय से, 'यानी जहाँ ज्ञानत्व नहीं वहाँ प्रकाश का योग नहीं' इस व्यतिरेक व्याप्ति से, जड में ज्ञानत्व रूप व्यापक न होने पर प्रकाश के योग का असंभव फलित होगा। यदि व्याप्ति को ठुकरा देंगे तो आप के पक्ष में आत्मा में अनित्यत्वरूप व्यापक न रहने पर भी कृतकत्व आदि का संभव प्रसक्त होगा। फलतः 15 व्याप्ति अर्थशून्य हो जाने से अनुमान मात्र का उच्छेद प्रसक्त होगा।" — तो यह बोलना ही मत, क्योंकि 'प्रकाशन वहाँ ज्ञानत्व से व्याप्त है (प्रकाशन की ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति है)' यह किस आधार पर निश्चित किया ? यदि कहें कि — ज्ञानत्व रहता है वहाँ प्रकाशन दिखता है इस आधार पर उस व्याप्ति का निश्चय किया; — तो जहाँ पुरुषत्व रहता है वहाँ अल्पज्ञता दिखती है इस आधार पर अल्पज्ञमात्र में पुरुषत्व भी सिद्ध हो जायेगा। यदि विपक्ष कीटादि में पुरुषत्व का बाध 20 दिखाया जाय तो जड नीलादि में ज्ञानत्व का बाध समान ही है।

✽ नील में ज्ञानत्व की सिद्धि का प्रयास अनुचित ✽

उपरांत, ज्ञानत्व का व्याप्य प्रकाशन सुखादि में तो आपने अपने 'यद् अवभासते.. सुखादि' (पृ०८३-पं०१७) इस प्रयोग में स्वयं मान्य किया है, वह यदि नीलादि में किसी प्रमाण से उपलब्ध हो तब तो नीलादि में ज्ञानत्व साध्य की सिद्धि वाजीब है; किन्तु जो धर्म वस्तुतः साध्य के व्याप्य से अति 25 विलक्षण (यानी अव्याप्य) है उस धर्म को 'प्रतिभास या अवभास या प्रकाशन' ऐसा नामकरण कर के नामसाम्यवाले प्रतिभासधर्म (जो कि वस्तुतः व्याप्य ही नहीं है) से ज्ञानत्व की सिद्धि का प्रयास करना उचित नहीं है। यदि अव्याप्य धर्म से भी साध्यसिद्धि इष्ट हो, तो बुद्धिमत्कर्तृत्व के व्याप्यतया अभिमत घटादिरचना से अति विलक्षण पर्वतादिरचना (जो कि व्याप्य नहीं हो सकती) से भी बुद्धिमत्कर्तृत्व की सिद्धि प्रसक्त होगी। फिर आप के प्रमाणवार्तिक (१-१४) में जो कहा है — (पृथ्वी आदि का 30 संस्थान पुरुषजन्य है क्योंकि संस्थान है जैसे घटसंस्थान यहाँ) वस्तुविशेष (घट) में प्रसिद्ध पुरुषजन्यत्व की सिद्धि पृथ्वी आदि में संस्थानशब्दसाम्य से शक्य नहीं जैसे बाष्प को धूम कह देने से अग्नि की सिद्धि नहीं होती — ऐसा कथन असंगत हो जायेगा।

न च नीलादौ सुखाद्यवभासनं परस्य सिद्धम् सिद्धौ वा विप्रतिपत्तेरभावान्न तदवबोधार्थं शास्त्रप्रणयनं सौगतस्य युक्तम् । 'जडतासमारोपव्यवच्छेदार्थं तद्' इति चेत् ? न, स्वप्रतिभासेऽप्यन्यथाप्रतिभाससमारोपोऽस्त्वेव, आत्मनोऽनेकरूपेण स्वतः प्रतिभासाभ्युपगमात्, स कुतो व्यवच्छिद्यताम् ? न चायं न समारोपः स्वात्मनि स्वकार्यकारी साध्यवत् । "स्वप्रतिभासो नीलादिः, अन्यग्राहकाभावे सत्युपलभ्यमानत्वात् सुखादिवद्" इत्यतोऽनुमानात् स व्यवच्छिद्यते अन्यग्राहकाभावश्चानुपलम्भाद्" — इति चेत् ? न, स्वसंवेदनप्रत्यक्षतोऽहमहमिकया अन्यग्राहकोपलब्धेः तदभावस्याऽसिद्धत्वात् । अथ स्थूलोऽहम्— कृशोऽहम् इति प्रतीतेः अहंप्रत्ययः शरीरमेव, न च तद् नीलादेर्ग्राहकम् स्वयं तस्य प्रमेयत्वात् । न, अन्धकाराद्यवगुण्ठितशरीराऽग्रहेऽपि सालोक्यघटादि-ग्रहणोपलब्धेः शरीरात् तद्भेदसिद्धिः, तथाप्यभेदे न किञ्चिद् भिन्नं भवेत् । 'ततो भिन्नोऽपि न नीलादेर्ग्राहक'

✽ समारोपव्यवच्छेद के लिये शास्त्ररचना व्यर्थ ✽

10 यह भी सोच लो कि किसी को भी नीलादि में सुखादि का अवभास अनुभवसिद्ध नहीं है। यदि वह अनुभवसिद्ध रहता तो सौगतों को नीलादि में उसकी सिद्धि के लिये कोई शास्त्ररचना का कष्ट ही नहीं करना पड़ता क्योंकि तब किसी को विवाद ही न होता। यदि कहें कि — 'अन्यों को नीलादि में जडता का समारोप प्रवृत्त है, उस के व्यवच्छेदार्थं अनुमानबोधक शास्त्ररचना सार्थक है' — तो यह बेकार है, क्योंकि आत्मा का प्रतिभास रहते हुये भी (शरीरादिरूप में) जडरूप से 15 उस का प्रतिभास यानी समारोप तो रहता ही है क्योंकि आत्मा का अनेक रूपों से (जड, गौर, श्याम आदि रूपों से) स्वप्रतिभास अनुभवगोचर है, उस का व्यवच्छेद कैसे कर पायेंगे ? 'शरीर में आत्मा का स्वप्रतिभास समारोपरूप नहीं है' ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी साध्य की तरह अपनी आत्मा के विषय में समारोपात्मक कार्य करनेवाला है।

✽ नीलादि में जडादि समारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति ✽

20 यदि ऐसा अनुमान करें कि — "नीलादि स्वप्रतिभासरूप हैं, क्योंकि उपलब्ध होते हैं, फिर भी अन्य कोई नीलादि के ग्राहक (उपलम्भक) नहीं है; जैसे सुखादि। इस अनुमान से हम जडादि समारोप का व्यवच्छेद करेंगे। 'अन्य कोई नीलादि का ग्राहक नहीं है' यह तो अन्यग्राहक की अनुपलब्धि से ही सिद्ध है।" — तो यह गलत है क्योंकि नीलादि के स्वसंवेदन (यानी ग्राहकत्वसंवेदिज्ञान) प्रत्यक्ष से 'मैं ग्राहक हूँ न' ऐसी चुनौति के साथ ही नीलादि भिन्न ज्ञानात्मक ग्राहक की उपलब्धि होने से, 25 उस का अभाव सिद्ध नहीं है। यदि कहें कि — 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं पतला हूँ' इस प्रतीति से सिद्ध है कि शरीर ही अहंबुद्धिविषय है। वह तो स्वयं ही प्रमेय है अतः वह नीलादिग्राहक (यानी अहंबुद्धिआलम्बन शरीर से नीलादि का ग्रहण) नहीं हो सकता, अतः स्वप्रतिभासरूप नीलादि से ही स्वग्रहण घटेगा।' — तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, जब शरीर अंधेरे में खड़ा है और घटादिविषय दूर आलोक संयुक्त है तब शरीर का ग्रहण न होने पर भी घटादि की उपलब्धि होती है इस से यह सिद्ध होता है कि अहंबुद्धिआलम्बन शरीर नहीं है, शरीर से भिन्न ज्ञानात्मक है। देहभिन्न ज्ञानबुद्धि रहने पर 30 भी यदि शरीर को ही अहंबुद्धिआलम्बनरूप मानेंगे तो अहंबुद्धिरूपता मान लेने के कारण घट-पटादि के भेद का विलय ही हो जायेगा। यदि कहें कि — 'अहंबुद्धिरूप ज्ञान शरीर से भिन्न होने पर

इति चेत् ? न, अस्य प्रतिविहितत्वात्। ततो न दृष्टान्तदृष्टसाधनधर्मस्य साध्यधर्मिण्यवगतिरित्यसिद्धो हेतुः।

न च नैयायिकादीन् प्रति सुखादेर्ज्ञानता सिद्धेति साध्यविकलता दृष्टान्तस्य (पृ०८३-पं०४)। अथात एव हेतोर्ज्ञानता सुखादेः सिद्धेति न साध्यविकलतादोषः। नन्वत्राप्यपरं निदर्शनमुपादेयम्, तत्राप्येतच्चोद्ये निदर्शान्तरमित्यनवस्था। नीलादेर्निदर्शनत्वे इतरेतराश्रयत्वम्— सुखादिज्ञानतासिद्धौ नीलादेस्तद्वृत्तासिद्धिः 5 तस्याश्च तत्रिदर्शनवशात् सुखादेस्तद्वृत्तेति कथं नेतरेतराश्रयम् ? न च सुखादौ दृष्टान्तमन्तरेणापि तद्वृत्तासिद्धिः, नीलादावपि तथैव तदापत्तेः। अथ सुखादेर्जडत्वे प्रतिभासो न भवेत् जडस्य प्रकाशयोगात्। ननु नीलादावपि प्रकाशतासिद्धावेतदेव वक्तव्यम् किं सुखादिनिदर्शनेन ? तत्र चोक्तमेव (पृ०१००-पं०६) दूषणम्। अथ सुखादेरज्ञानत्वे ततोऽनुग्रहाद्यभावो भवेत्। ननु किं ^१सुखमेवानुग्रहः उत ^२ततो भिन्नम् ?

भी वह नीलादि का ग्रहण नहीं कर सकता।' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले 'ज्ञान नीलादि 10 का ग्राहक है, नीलादि स्वयं स्वग्राहक नहीं है' इस तथ्य का समर्थन किया जा चुका है। निष्कर्ष, सुखादि दृष्टान्त में प्रतिपादित स्व-अवभासरूप साधनधर्म की साध्यधर्मि नीलादि में उपलब्धि न होने से, अवभास हेतु ही असिद्ध ठहरा।

✽ सुखादि के दृष्टान्त में साध्यवैकल्य ✽

हेतु की तरह दृष्टान्त (पृ०८३-पं०१७) भी असिद्ध है। देखिये, नैयायिकादि दर्शनों में तो ज्ञान 15 और सुखादि भिन्न होने से सुखादि में ज्ञानता ही बाधित है अत एव सुखादिदृष्टान्त में ज्ञानता साध्य का वैकल्य प्रकट है। यदि कहें कि — 'हम इसी अवभास हेतु से उस में भी पहले ज्ञानत्व सिद्ध कर लेंगे तो साध्यवैकल्य नहीं होगा।' — अरे, तब तो नया दृष्टान्त भी बताना पड़ेगा जिस में साध्यवैकल्य न हो। उस नये नये दृष्टान्त में साध्यसिद्धि का प्रश्न ऊठेगा तो पुनः नये नये दृष्टान्त के उपन्यास का अन्त कहाँ होगा ? यदि सुखादि में ज्ञानता की सिद्धि के लिये नीलादि को ही 20 दृष्टान्त बनायेंगे तो जरूर इतरेतराश्रय दोष प्रसक्त होगा। देखिये — सुखादि दृष्टान्त में साध्य (ज्ञानत्व) सिद्ध होने के बाद नीलादि की ज्ञानरूपता सिद्ध होगी, नीलादि की ज्ञानरूपता सिद्ध होने के बाद उस के दृष्टान्त से सुखादि की ज्ञानरूपता सिद्ध होगी — यहाँ अन्योन्याश्रय दोष कैसे टलेगा ? यदि कहें कि — सुखादि में ज्ञानरूपता बगैर दृष्टान्त के ही सिद्ध हो जायेगी- तो नीलादि की ज्ञानरूपता भी बगैर दृष्टान्त के ही (स्वयं) सिद्ध हो जाने पर सुखादि का दृष्टान्त निरर्थकप्रलाप है। 25

✽ सुखादि में ज्ञानरूपतासाधक तर्काभास ✽

यदि कहा जाय कि — 'सुखादि को जड मानेंगे तो कथमपि उस का प्रकाशन नहीं घटेगा, क्योंकि जड के साथ प्रकाश का योग असंगत है'- तो आप नीलादि में भी प्रकाशरूपता की सिद्धि के लिये ऐसा ही तर्क कीजिए न, क्यों सुखादिदृष्टान्त का आशरा लेते हैं ? 'जड में प्रकाशयोग' की बात में तो 'जडः प्रतीयते प्रकाशयोगश्च'... (पृ०१००-पं०६) इत्यादि दूषण कह दिया है। यदि कहें कि — 'सुखादि के अज्ञानमय 30 होने पर सुख से जो अनुग्रहादि होता है वह नहीं होगा। (अज्ञान तो प्रतिकूल होता है। दुःख का मूल है।)' — तो प्रश्न यह है कि ^१सुख स्वयं अनुग्रहरूप है या ^२सुख से अनुग्रह भिन्न है ?

प्रथमपक्षे क्व ज्ञानत्वेनाऽसौ व्याप्तः यतस्तदभावे न स्यात् ? व्यापकाभावे हि नियमेन व्याप्याभावः परस्याभीष्टः। अन्यथा प्राणादेः सात्मकत्वेन क्वचिद् व्याप्त्यसिद्धावप्यात्माभावे स न भवेदिति केवलव्यतिरेकिहेत्वगमकत्वप्रदर्शनमयुक्तं भवेत्। तत्र प्रथमः^३ पक्षः।

- नापि द्वितीयः। यतो यदि नाम सुखे ज्ञानताऽभावः अर्थान्तरभूतानुग्रहस्याभावे किमायातम् ?
 5 न हि यज्ञदत्तस्य गौरताऽभावे देवदत्ताभावो दृष्टः। 'तज्ज्ञानताकार्यत्वात् तदभाव' इति चेत् ? न, परं प्रति तदसिद्धेः। किञ्च, ग्राह्य-ग्राहकभाववत् समानसमयभिन्नसमययोः कार्यकारणभावो दुरन्वय इति प्राक् प्रतिपादितं (९०-८) न पुनरुच्यते। तत्र नैयायिकादीन् प्रति ज्ञानता सुखादेः कुतश्चित् साधनात् सिद्धा।

प्रथम विकल्प में बताओ कि 'अनुग्रह ज्ञानत्व का व्याप्य होता है' ऐसा आपने कहाँ देखा जिस से कि ज्ञानत्व के विरह में अनुग्रह का अभाव सिद्ध हो ? (मतलब, अनुग्रह ही सुखरूप है, सुख
 10 में ज्ञानत्व तो अब तक सिद्ध नहीं है, तब और कौन सी वस्तु है जो सुख से भिन्न हो और उस में अनुग्रहरूपता रहती हो।) यह नियम तो आप भी मानते हैं कि व्यापक का जहाँ अभाव रहता है वहाँ व्याप्य का अभाव अवश्य रहता है। यदि इस में संदेह ऊठा कर इस तथ्य का अस्वीकार करेंगे तो यह अनिष्ट होगा — जहाँ प्राणादि होते हैं वहाँ सात्मकत्व रहता है — ऐसी अन्वय व्याप्ति ग्रहण करने के लिये कोई दृष्टान्त नहीं है (कोई सपक्ष नहीं है, विवादास्पद शरीर के अलावा और
 15 किसी में भी सात्मकत्व न होने से अन्वय ग्रहण शक्य नहीं है); ऐसी दशा में प्राणादि की सात्मकत्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण शक्य न होने से आत्मा के अभाव-स्थल में प्राणादि का अभाव न रहे तो आश्चर्य नहीं। फलतः 'जहाँ सात्मकत्व नहीं वहाँ प्राणादि भी नहीं है' इस केवल व्यतिरेक व्याप्ति के हेतु में असाधकत्व का प्रदर्शन अयुक्त हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि 'ज्ञानत्व न हो वहाँ अनुग्रहता नहीं होती' केवल व्यतिरेक व्याप्ति रूप नियम सिद्ध न होने से अनुग्रह हेतु ज्ञानत्व का गमक नहीं
 20 बन सकता, फिर भी वहाँ आप उस को गमक मान लेते हैं — दूसरी ओर सात्मकत्व के साधक प्राणादि हेतु जो कि केवलव्यतिरेकी ही है — उस को आप अगमक करार देते हैं — वह कैसा अन्याय ? आखिर, सुख एवं अनुग्रह के अभेद का प्रथम विकल्प संगत नहीं है।

✽ सुख और अनुग्रह की भिन्नता का पक्ष भी अयुक्त ✽

दूसरा सुख-अनुग्रह का भेद विकल्प भी ठीक नहीं है। कारण, सुख में ज्ञानत्व न माने तो
 25 जो कुछ बिगड़ेगा तो ज्ञान का बिगड़ेगा, अनुग्रह तो उस से भिन्न है उस का क्या बिगड़ा ? (जिस से कि सुख में ज्ञानत्व न मानने पर अनुग्रह को अभाव प्रतियोगी बन जाना पड़े ?) ऐसा नहीं है कि यज्ञदत्त में उजलेपन को न मानने पर देवदत्त को पलायन होना पड़े। उजलापन और देवदत्त भिन्न भिन्न है। यदि कहें कि — 'अनुग्रह भिन्न है लेकिन सुखान्तर्गत ज्ञानत्व का कार्य भी है, अतः ज्ञानत्व हेतु (=कारण) के न होने पर अनुग्रह को पलायन होना पड़ेगा।' — तो यह गलत है क्योंकि
 30 हमारे प्रति अनुग्रह को ज्ञानत्व का कार्य दिखाना असत् है, क्योंकि हम उन में कारण-कार्यभाव नहीं मानते।

✽ सुख और अनुग्रह दोनों के बीच कारण-कार्यभाव असत् ✽

दूसरी बात यह है कि सुखात्मक ज्ञान और अनुग्रह में भेद होने पर जैसे आप (भिन्न ज्ञान

समारोपव्यवच्छेदकार्यनुमानं समारोपकारि प्रसक्तम्, न चैतद् युक्तम् कृतस्य करणायोगात्। द्वितीयपक्षे विनाशस्य सहेतुकत्वमनिष्टमासज्यते।

किञ्च, असौ व्यवच्छेदोऽनुमानेन यदि प्रतीयते परमार्थसंश्व पुनरपि हेतोरनैकान्तिकत्वम्। 'न प्रतीयते' चेत् ? न तर्ह्यनुमानेन समारोपव्यवच्छेदकरणम्, अन्यथाभूतस्य तस्य तेन करणाऽसम्भवात्। न च स्तम्भादिस्वरूपोऽपि समारोपव्यवच्छेदोऽनुमाने क्रियते, स्तम्भादेः स्वहेतुभ्य एवोत्पत्तेः। न चासावनुमान- 5 स्वरूप एव, तेनैव तस्य करणविरोधात्। न चानुमानसन्निधौ तदनुत्पत्तिरेव ततस्तद्व्यवच्छेदः, तत्रापि पूर्वोक्तदोषस्य (पृ०९३-पं०४) समानत्वात्।

के अनुमान का बाधक नहीं मानते किन्तु प्रतिवादियों के परमार्थसत्त्वगोचर समारोप का उच्छेदकारी होने से बाधक मानते हैं। (यदि उस अनुमान को पारमार्थिक सत्ता अभाव का ग्राहक माने तब तो वह पारमार्थिक है या अपारमार्थिक इत्यादि प्रश्नजाल उपस्थित हो सकता है किन्तु हम तो अनुमान 10 को अर्थग्राहक नहीं सिर्फ समारोपव्यवच्छेदक ही मानते हैं अतः प्रत्यक्ष का वह बाधक हो सकेगा) — तो यह कहना गलत है; क्योंकि यहाँ समारोप व्यवच्छेद ही असिद्ध है। बोलिये — समारोपव्यवच्छेद खुद समारोपात्मक है या असमारोपरूप है ? प्रथम पक्ष में अनुमान जो समारोपव्यवच्छेदकर्ता है वह खुद समारोपकर्ता बन जायेगा। समारोपकर्तृत्व भी अनुमान के लिये उचित तो नहीं होगा, क्योंकि समारोप तो पूर्वसिद्ध है, अब नया क्या करना है, पिष्टपेषण का कोई फायदा नहीं। दूसरे पक्ष में 15 असमारोपात्मक समारोपव्यवच्छेद ध्वंसात्मक होने से अनुमान ध्वंसहेतु बन जायेगा, फिर तो बौद्ध के मत में ध्वंस निर्हेतुक होता है वह असंगत हो जायेगा।

✽ स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु में साध्यद्रोह दोष ✽

दूसरा दोष यह है कि यदि समारोपव्यवच्छेद परमार्थसत् रूप से अनुमानप्रतीत होगा तो स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु परमार्थसत् के साथ बैठ जाने से साध्यद्रोही ठहरेगा। यदि वह अनुमान से 20 परमार्थसत् रूप से प्रतीत नहीं होता है तो वह अनुमान समारोपव्यवच्छेदकारी कैसे मान लिया जाय ? जो जिससे प्रतीत नहीं होता वह उस का निष्पादन कैसे कर सकता है ? यदि कहें कि — 'प्रत्यक्ष या अनुमान से गृहीत स्तम्भादि का प्रतिवादी को जो समारोप है उस का व्यवच्छेद ध्वंसात्मक नहीं किन्तु भावात्मक— स्तम्भादिरूप ही है' — तो अनुमान से उस का निष्पादन अशक्य है क्योंकि स्तम्भादि तो अपने हेतुओं से अनुमान के विना भी पूर्वनिष्पन्न ही हैं। यदि कहें कि समारोपव्यवच्छेद अनुमानात्मक 25 ही है तो अनुमान से समारोपव्यवच्छेद नहीं हो सकेगा क्योंकि 'स्वयं स्व का कारक होना' इस में स्पष्ट ही विरोध है। यदि कहें कि "समारोपव्यवच्छेद यानी अनुमान के रहते समारोप-उत्पत्ति न होना।" तो यहाँ भी समानरूप से वे दोष प्रसक्त होंगे जो पहले (पृ०९३-पं०९७) कह आये हैं। 'अथ भाविनोऽपि समारोपस्य न तेन व्यवच्छेदो विधीयते अपि तु तदुत्पत्तिप्रतिबन्धः'... इत्यादि कह कर दोषापादन किया जा चुका है। (९३-४)

किञ्च— समारोपविविक्तं भावान्तरं यदि भाविसमारोपानुत्पत्तिः तच्चानुमाने प्रतीयते परमार्थसच्च-
 — पुनरपि हेतुस्तेनैव व्यभिचारी। अथ न परमार्थसन्न तर्हि तद्ग्राह्यनुमानं प्रमाणमिति कथं तस्य
 बाधकत्वम् ? न च तद्व्यवच्छेदकरणादनुमानं तद्बाधकमपि तु तदभावाऽविसंवादादिति वक्तव्यम् तदविषयस्य
 तदविसंवादकत्वायोगात्। 'तत आत्मलाभ एव तदविसंवाद' इति चेत् ? ननु तदात्मलाभोऽपि यद्यनुमानेनात्मनो
 5 ज्ञायते पारमार्थिकश्च — पुनरप्यनेनैव हेतुर्व्यभिचारी, अपारमार्थिकश्चेत् ? न तद्विषयमनुमानं तद्बाधकम्।
 न च 'स्वापादौ तदभाव-दर्शनावसेयत्वयोः प्रतिबन्धग्रहणादन्यत्रापि दर्शनावसेयत्वं तत्रतिबद्धं तज्जनितं
 चानुमानं पदार्थाभावजनितमिति सिद्धस्तत आत्मलाभोऽविसंवादः';— यतः साकल्येन प्रतिबन्धग्रहणे प्रतिबन्धस्य
 ग्राहकं तदासक्तं तत्र च पूर्वप्रतिपादित एव दोषः, तद्ग्रहणे च न तस्मादनुमानस्यात्मलाभनिश्चयः। न

✽ स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु में पुनः साध्यद्रोह दोष ✽

10 यदि कहा जाय — 'भाविसमारोपानुत्पत्ति का मतलब भाविसमारोप उत्पत्ति का प्रतिबन्ध नहीं
 किन्तु उस से अतिरिक्त नया एक भाव ही है' — तो यहाँ भी पूर्ववत् विकल्प हैं कि यदि वह परमार्थ
 सत् हो कर अनुमान से द्योतित होता है तो वहाँ हेतु स्वच्छदर्शनगोचरत्व रहेगा और 'अपरमार्थसत्ता'
 साध्य वहाँ नहीं है अतः पुनः हेतु साध्यद्रोही ठहरेगा। यदि वह नया भाव परमार्थ सत् नहीं है
 तब असत्-अर्थग्राहक अनुमान अप्रमाण होने से पूर्वोक्तानुमान का बाधक कैसे होगा ?

15 यदि कहें कि — 'समारोपव्यवच्छेदक होने से अनुमान प्रमाण है ऐसा नहीं किन्तु बाह्यार्थाभाव
 का अविस्वादी होने से वह पूर्वोक्तानुमान का बाधक होगा।' — तो यह गलत है, क्योंकि जो स्वयं
 नीलादि बाह्य को स्पर्श (= विषय) नहीं करता वह उस के अभाव का अविस्वादी कहा नहीं जा
 सकता।

यदि कहें कि — 'अविस्वाद का अर्थ है नीलाभाव से उत्थित होना, यानी अनुमान नीलाभाव
 20 से उत्थित होने से नीलाभाव का ग्राहक बन कर नीलादिसाध्यक पूर्वोक्तानुमान का बाध करेगा।' —
 तो यह भी गलत है, क्योंकि यहाँ भी विकल्प हैं कि यदि 'अनुमान तदुत्थित है' यह तथ्य परमार्थ
 सत् हो कर दूसरे किसी अनुमान से प्रतीत (सिद्ध) हो तब तो स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु वहाँ रह
 जायेगा और अपारमार्थिकत्व साध्य नहीं रहेगा अतः हेतु साध्यद्रोही ठहरेगा। यदि वह तथ्य अपारमार्थिक
 है तो नीलादिअभावग्राहि अनुमान संवादी न होने से अन्य अनुमान का बाधक नहीं बनेगा।

25 ✽ स्वच्छदर्शनगोचरत्व का स्वप्न में व्याप्तिग्रह निरर्थक ✽

यदि कहा जाय— "स्वप्न में अश्वादि स्वच्छदर्शनगोचर है साथ में वहाँ स्वप्न में अश्वादिअभाव
 भी होता है — इसी से अभाव के साथ दर्शनगोचरत्व की व्याप्ति लब्ध होती है। अत एव नीलादि
 में भी वह दर्शनगोचरत्व नीलादि के अभाव से व्याप्त रहेगा, इस व्याप्ति से जन्य अनुमान भी
 नीलाभावजनित होने से, सिद्ध हो गया कि वह अनुमान अभाव से उत्थित है अत एव अभाव का
 30 अविस्वादी है।" — तो यह गलत है। कारण, स्वप्न में अभाव और दर्शनगोचरत्व के साहचर्य ग्रहण
 के बाद सर्वदेशकालव्यापि व्याप्ति का ग्रहण आप अनुमान से ही मानेंगे। फलतः अनुमान सिर्फ अभावग्राही
 न रह कर भावात्मक व्याप्ति का ग्राहक भी बन गया। यहाँ पूर्वोक्त पारमार्थिक — अपारमार्थिक विकल्पों

च तयोरेकत्र सहभावदर्शनात् सर्वत्र तथाभावः अन्यथेश्वराद्यनुमानमप्यविसंवादकं भवेत्।

अपि च, स्वापाद्यवस्थाभासिनो घटादेर्यदि परमार्थसत्त्वाभावो न गृह्यते कथं न साध्यविकलता दृष्टान्तस्य ? गृह्यते चेत् ? तस्य पारमार्थिकत्वे हेतोर्व्यभिचारस्तदवस्थः, अपारमार्थिकत्वे दृष्टान्तः साध्य-विकलः। अथ न सौगतेन तदभावो गृह्यते अपि तु बहिरर्थवादिनेति न पूर्वोक्तो दोषः। न, [▲]तेन प्रमाणेन तदभावग्रहणे सौगतेनापि तद्ग्रहणप्रसङ्गात्, प्रमाणस्य क्वचित् पक्षपाताऽसम्भवात्, प्रमाणमन्तरेण ग्रहणे 5 न तेन हेतोर्व्याप्तिः, अभ्युपगममात्रसिद्धस्य व्यापकत्वाऽयोगात्; अन्यथा बौद्धाभिमतनाशादिना सुखादेर-चेतनत्वसाधनं साङ्ख्यस्य किमित्ययुक्तं भवेत् ? तत्र प्रकृतमनुमानं साध्य-साधनयोर्व्याप्यग्रहणात् प्रकृत-

के प्रसञ्जन द्वारा पूर्वोक्त दोष प्रसक्त हैं। यदि सर्वदेशकालव्यापि व्याप्ति का ग्रहण नहीं मानेंगे तो अनुमान का अभाव से आत्मलाभ (उद्भव) निश्चित नहीं होगा। सिर्फ स्वप्नादि में अभाव-दर्शनगोचरत्व के सहभाव को देख कर सर्वत्र उन की व्याप्ति की कल्पना कर लेंगे तो घटादि में कर्तृत्व-कार्यत्व के सहभावदर्शन 10 से सर्वत्र व्याप्ति की कल्पना के द्वारा किये गये जगत्कर्ता ईश्वर का अनुमान भी अविसंवादी बन बैठेगा।

* दृष्टान्त में साध्यशून्यता या हेतु में साध्यद्रोह दोष *

दूसरी बात यह है — स्वप्न में भासनेवाले घटादि, स्तम्भादि या तैमिरिक को भासनेवाले के — शोण्डुकादि जो दृष्टान्त है उन के पर दो विकल्प हैं कि उन की परमार्थसत्ता का अभाव (किसी प्रमाण से) गृहीत होता है या नहीं होता ? यदि गृहीत नहीं होता तब तो दृष्टान्त में वह असिद्ध 15 होने से दृष्टान्त ही साध्यविकल ठहरेगा। यदि वह प्रमाण से गृहीत होता है तब तो पारमार्थिक है तो हेतु अपरमार्थसत्त्वरूप साध्य के विरह में रह जाने से साध्यद्रोही ठहरा। यदि वह साध्य अपारमार्थिक है तो दृष्टान्त पुनः साध्यविकल बन गया क्योंकि उस में प्रदर्शित परमार्थसत्ताअभाव रूप साध्य ही नहीं है।

यदि कहें कि — “स्वप्नभासित घटादि में बौद्ध को यद्यपि परमार्थसत्ताअभाव गृहीत नहीं होता 20 किन्तु बाह्यार्थवादीरूप प्रतिवादी को वह गृहीत होता है। अतः ‘गृहीत होता है और पारमार्थिक है तो’ इत्यादि दोष सौगत को लागु नहीं होते। (लागु होंगे तो बाह्यार्थवादी के सिर पर।)” — तो यह भी अनुचित है क्योंकि प्रतिवादी यदि प्रमाण के आधार से बाह्यार्थ का अभावग्रह करता है तो प्रमाण के आधार पर वह सौगत को भी गृहीत होना ही चाहिये, क्योंकि प्रमाण पक्षपाती नहीं होता कि वह चैत्र को अभावग्राहक बने और मैत्र को न बने। यदि प्रतिवादी को प्रमाण के 25 विना ही परमार्थसत्ताअभाव गृहीत होता है तो अप्रमाणसिद्ध अभाव के साथ स्वच्छदर्शनगोचरत्व हेतु की व्याप्ति कैसे बनेगी ? सिर्फ मान्यता (अप्रमाणिकमान्यता) से कल्पित पदार्थ में कहीं भी व्यापकत्व नहीं घट सकता।

यदि मान्यताकल्पित पदार्थ में व्यापकत्व स्वीकारेंगे तो बौद्धमान्य क्षणिकत्व (क्षणविनाशित्व) को हेतु कर के सुखादि में ‘सुखादि अचेतन हैं क्योंकि क्षणिक है’ इस अनुमान से सांख्यमतानुसार जडता 30 की सिद्धि भी युक्तिसंगत कहना पड़ेगा।

▲. तेन = बहिरर्थवादिना।

साध्यसाधनायालमिति न तद्बाधकं युक्तम्। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सौगतस्याभीष्टं यत् तद्बाधकं भवेत्। अतः 'सुनिश्चितासंभव'— इत्यादिहेतुः (पृ०१०७-पं०६) नाऽसिद्धः। न चापरमार्थसति यथोक्तो हेतुः संभवीति नानैकान्तिकः।

- अथ स्वप्नदृष्टे घटादावपरमार्थसति यथोक्तहेतोः सद्भावः इति कथं नानैकान्तिकः ? न च तत्र
- 5 बाधकप्रमाणविषयत्वम्, बाध्यत्वस्य क्वचिदप्यसम्भवात्। तथाहि— न तावद् बाधकेन ज्ञानस्य प्रतिभासकाले स्वरूपं बाध्यते, तस्य परिस्फुटेन रूपेण प्रतिभासनात्। नाप्युत्तरकालम्, क्षणिकत्वेन तदा तस्य स्वयमेवाभावात्। नापि तत्प्रमेयस्य प्रतिभासमानेन रूपेण स्वरूपं बाध्यते, प्रतिभासनादेव। न च प्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शादिरूपेण, तस्य ततोऽन्यत्वात्। न चान्याभावेऽन्यस्याभावोऽतिप्रसङ्गात्। न च ज्ञानस्य ज्ञेयस्य वा

✽ नीलादि में परमार्थसत्तासाधक हेतु बाधमुक्त ✽

- 10 निष्कर्ष, बौद्ध का परमार्थअसत्त्वसाधक अनुमान उस साध्य की सिद्धि के लिये अक्षम है क्योंकि साध्य के साथ दर्शनगोचरत्व हेतु की व्याप्ति अनुपलब्ध है। अत एव उस से, जैनोक्त नीलादि के परमार्थसत्त्व साधक अनुमान का बाध नहीं हो सकता। बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान दो से ज्यादा अन्य प्रमाण ही मौजूद नहीं जो हमारे जैनों के प्रस्तुत अनुमान का बाध करे। आखिर हमने जो यह अनुमान कहा था (पृ०१०७-पं०२०) - जागृति में दिखनेवाला नीलादि परमार्थसत् है क्योंकि इसका
- 15 बाधक कोई सुनिश्चित प्रमाण संभवारूढ नहीं है - इस अनुमान का हेतु असिद्ध या बाधित नहीं है। साध्यद्रोही भी नहीं है, चूँकि अपरमार्थसत् में वह हेतु कभी नहीं घटता, अपरमार्थसत् खरविषाणादि का बाधक प्रमाण सुनिश्चित सुप्रसिद्ध है।

✽ जैनोक्त हेतु सुनिश्चित ... इत्यादि में बौद्ध की आशंका ✽

- बौद्ध यदि कहता है - स्वप्नदृष्ट अपरमार्थसत् घटादि में आप का सुनिश्चित असंभव बाधकप्रमाणत्व
- 20 हेतु रहता है तो वह साध्यद्रोही क्यों नहीं ?

उत्तर :- जैन की ओर से यदि कहा जाय कि सुनिश्चित बाधक प्रमाण का असंभव हेतु वहाँ स्वप्नदृष्ट घटादि में नहीं है अपि तु वहाँ बाधक (जागृतिकालीन प्रत्यक्ष) प्रमाण का विषयत्व ही रहता है - तो यह अमान्य है क्योंकि बाध्यत्व (एवं बाधकत्व) कहीं भी संभवित नहीं है।

- देखिये - स्वप्नादि ज्ञान प्रतिभासकाल में तो अतिस्पष्टरूप से घटादि का संवेदन ही होता है
- 25 अतः उस काल में कोई भी बाधक उस ज्ञान के स्वरूप का बाधन (= उपमर्दन) नहीं कर सकता। उत्तरकाल में तो वह स्वप्नज्ञान क्षणभंगुर होने से स्वयमेव मौजूद नहीं है फिर कौन उसका बाध करने आयेगा ? फलितार्थ— स्वप्नज्ञान का बाध असंभव है। यदि उस के विषय का बाध, यानी जिस रूप से वह भासित होता है उस रूप से उस का निषेध अन्य प्रमाण से हो - यह भी अशक्य है क्योंकि जो विषय भासित होता है उस को अभासित कौन कर सकता है ? यदि 'जिस रूपादि
- 30 (रक्तादिरूप) से वह भासित होता है उस से अन्य तत्सहचारी स्पर्शादिरूप से उस का निषेध यानी अभासन' इस प्रकार उस का बाध मानेंगे तो यह जूठा है क्योंकि रक्तादिरूप से स्पर्शादि भिन्न ही है, अतः स्पर्शादि के निषेध से रक्तादिरूप का निषेध नहीं हो सकता, जबरन मान लेंगे तो हस्ती

फलमुत्पन्नमनुत्पन्नं वा बाध्यते उत्पन्नस्य विद्यमानत्वेन बाध्यत्वाऽसम्भवात्। अनुत्पन्नस्यापि स्वयमेवाऽसत्त्वात्। न च स्वप्नदृष्टे घटादिके उदकाहरणाद्यर्थक्रिया न भवति, तस्या अपि तत्र दर्शनात्। — “असत्तः सत्त्वेन प्रतिभासनमस्य” () — इति ज्ञापनात् स तेन बाध्यत” — इति चेत् ? न, प्रतिभासमानस्य तज्ज्ञापनाऽसम्भवात् जाग्रद्दृष्टघटादावपि तत्प्रसङ्गात्।

न च ‘नेदम्’ इति तत्र ज्ञानाभावाद् न तत्प्रसङ्गः, ‘नेदम्’ इति ज्ञानस्य सत्यपि क्वचित् झटित्यपसृते 5 भावात्, असत्यपि चान्यगतचित्तस्याभावात्। तथाहि— शीघ्रं गच्छतो मरीचिकाजलज्ञाने ‘नेदम्’ इति प्रत्ययो नोत्पद्यत एव। ‘नेदम्’ इति प्रत्ययविषयस्यापि च कथं सत्यता ? ‘बाधकाभावात्’ इति चेत् ? ननु के निषेध से अश्वनिषेध का अतिप्रसङ्ग हो जायेगा। यदि कहें कि — ज्ञान या उसके विषय के फल चाहे उत्पन्न हो या अनुत्पन्न, उस का बाध हो सकता है — तो यह भी संभव नहीं क्योंकि जो फल उत्पन्न हो गया उस को कौन रोकेगा ? जो अनुत्पन्न है वह असत् है, असत् को कौन 10 बाध करने जायेगा ?

(बौद्ध का पूर्वपक्ष चालु है-) ऐसा भी नहीं है कि स्वप्नदृष्ट घटादि से जलाहरणादि अर्थक्रिया नहीं होती, स्वप्न में दृष्ट घट से स्वप्न में जलाहरणादि अर्थक्रिया होती ही है। यदि कहें कि — ‘बाधक इस तरह बाध करेगा कि वह विदित करेगा कि यह जो स्वप्नदृष्ट घट है वह असत् हो कर भी सत्त्वरूप से भासित होता है।’ — तो यह भी गलत है क्योंकि जो भासित होता है उस 15 का इस ढंग से बाध असंभव है क्योंकि वह स्फुरायमाण है। जबरन बाध मानेंगे तो कोई जागृतिदृष्ट घटादि को भी उस तरह बाध कर बैठेगा कि यह असत् है किन्तु सत्-रूप से दीखता है — यह अनिष्ट प्रसक्त होगा।

* ‘वह नहीं’ इस बाधबुद्धि की अनुपपत्ति- बौद्धाशंका चालु *

बौद्ध कहता है कि — यदि जैन कहें कि जागृति में दृष्ट घटादि के बारे में ‘यह घट नहीं’ 20 ऐसी बाधबुद्धि होती नहीं है इस लिये उस का बाध नहीं होगा। — तो यह बराबर नहीं है क्योंकि कभी सत्य घटादि का दृष्टान्तर त्वरित अपनयन हो जाने पर ‘वह नहीं है’ ऐसी बाधबुद्धि हो सकती है; दूसरी ओर असत्य घट देखने के बाद भी चित्त अन्यत्र आसक्त होने पर ‘वह नहीं है’ ऐसी बाधबुद्धि नहीं होती, फलतः सत्य घट का बाध और असत्य घट का अबाध प्रसक्त होगा। उदा. मरुमरीचिका में किसी को जलबुद्धि होने पर भी त्वरा से गाँव पहुँचने की जिद्द में ‘वह जल नहीं 25 है’ ऐसी बाधबुद्धि उदित नहीं होती (मरीचिजल विस्मृत हो जाता है) फिर भी वह असत्य होता है। दूसरी बात यह है कि ‘वह नहीं है’ इस बाधबुद्धि को सत्य कैसे मान लिया ? (जिस के बल से आप भ्रमविषय का बाध मानते हो।) यदि उसका कोई बाधक ज्ञान न होने से उसे सत्य मान लेते हैं तो हमने यह बता दिया है कि त्वरा से घट का अपनयन और अन्यत्र आसक्त चित्त दशा में व्यभिचार होने से ‘वह नहीं है’ ऐसी बुद्धि बाधक ही नहीं है। मतलब यह है कि घट को त्वरा 30 से हटा देने पर ‘वह नहीं है’ ऐसा बाधकज्ञान सत्यज्ञान के बाद भी होता है और मरुमरीचिका में असत्य ज्ञान होने पर भी बाधबुद्धि नहीं होती, यह कह दिया है।

बाधकं 'नेदम्' इति ज्ञानं तस्य चाभावोऽसत्यपि विषये भवतीत्युक्तम्। किञ्च, तद्विषयम् अन्यविषयं वा बाधकमभ्युपगम्यते ? न तावत् तद्विषयम् विरोधात्— नहि यद् यद्विषयं तदेव तस्यासत्प्रतिभासनं ज्ञापयतीत्युपपन्नम्। नाप्यन्यविषयम् तेनाऽप्रतिभासमानस्यान्यस्य तज्ज्ञापनाऽयोगात् अन्यथा घटज्ञानं पटस्य तद् ज्ञापयेदिति।

- 5 अत्र प्रतिविधीयते— न हि बाधकेन ज्ञानेन स्वरूपं ज्ञानस्य विषयः फलं वा बाध्यते किन्तु ज्ञानस्याऽसद्विषयत्वम् अर्थस्य वाऽसत्प्रतिभासनं तेन ज्ञाप्यते यथा शुक्तिकाज्ञानेन रजतविज्ञानस्य रजताकारस्य वा। एतच्च बाध्य-बाधकभावमनिच्छताप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रतिभासाद्वैते स्कन्धसन्तानादिविकल्पानां स्वयमेव निर्विषयत्वोपवर्णनात् तदुपवर्णनाभावे बाह्यभावानामेकानेकरूपतया सामान्य-सामानाधिकरण्य-विशेषण-विशेष्यभावादेः पारमार्थिकस्य भावात् प्रतिभासाऽद्वैतस्याभाव एव स्यात्। किञ्च, बाध्य-
10 बाधकभावप्रतिषेधविधायियुक्त्युपन्यासेन वादिना किं क्रियते इति वक्तव्यम्। 'न किञ्चिद्' इति चेत् ? तदुपन्यासवैयर्थ्यम्। अथ नूणीभावो निग्रहः स्यादिति तदुपन्यासः, तर्हि तदुपन्यासेऽप्यसाधनाङ्गवचनं

- (बौद्ध पूर्व पक्ष चालु है —) यह भी बताईये कि उसी अर्थ विषयक ज्ञान बाधक होगा या भिन्नविषयक ? उसी अर्थ विषयक ज्ञान को बाधक मानेंगे तो विरोध होगा। किसी एक विषय का ज्ञान अपने ही विषय को असत् प्रतिभासित करे — इस में युक्तिविरोध है। भिन्नविषयक ज्ञान भी
15 बाध नहीं कर सकता। जिस ज्ञान में जो अन्य विषय भासित ही नहीं होता, वह ज्ञान उस विषय की सत्यता या असत्यता भी जाहीर नहीं कर सकता, अन्यथा घटज्ञान अपने अविषयभूत पट को भी असत्य ठहरा देगा। (बौद्धपूर्वपक्ष पूर्ण)

✽ बाधबुद्धि का स्पष्टीकरण - जैन उत्तरपक्ष ✽

- बौद्धकथन का प्रतिकार :- बाधक ज्ञान से किसी ज्ञान के स्वरूप अथवा उस के फल का बाध
20 नहीं होता इतना कह देने से कृतार्थता नहीं होती। यह समझना चाहिये कि बाधक ज्ञान पूर्वोत्पन्न भ्रमज्ञान का असद्विषयत्व अथवा उस विषय के असत् प्रतिभास को घोषित करता है। उदा० 'यह रजत है' इस भ्रमज्ञान के बाद होने वाला 'यह तो शुक्ति है' ऐसा बाधकज्ञान पूर्व रजतज्ञान को असद्विषयक या उस में भासमान रजाताकार को असत्प्रतिभासरूप से घोषित करता है। इस प्रकार के बाध्य-बाधक भाव को आप को अनिच्छया भी स्वीकारना ही पडेगा। आपने ही निरूपण किया
25 है कि विज्ञानाद्वैत मत में रूपस्कन्धादिप्रवाहदर्शि विकल्प सब निर्विषय (असद्विषयक) होते हैं, यह निरूपण अमान्य करेंगे तो बाह्यार्थ कभी एकरूप कभी अनेकरूप होने के कारण, कभी सामान्यरूप से तो कभी सामानाधिकरणरूप से, तो कभी विशेषण-विशेष्यभाव आदि रूप से हमारे मत में प्रतिभासित होने के कारण आप के मत में भी पारमार्थिकता प्रसक्त होने से विज्ञानाद्वैतवाद का अन्तिम संस्कार ही हो जायेगा।

- 30 ✽ बाध्य-बाधकभाव निषेध करने पर बौद्धनिग्रह ✽

अगर पूछा जाय कि बाध्य-बाधकभाव की निषेधक युक्तियों के प्रतिपादन से आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? आप क्या उत्तर देंगे ? 'कुछ भी नहीं' ऐसा जवाब देंगे तो प्रतिपादनकष्ट की

निग्रह एव भवेदिति तदुपन्यासानर्थक्यम्। 'समारोपव्यवच्छेदार्थं तदुपन्यास' इति चेत् ? बाध्य-बाधकभावाभावेऽपि तद्भावाध्यवसायसमारोपस्य व्यवच्छेदः स्वरूपापहारश्चेत् तर्ह्यभ्युपगम्यत एव बाध्य-बाधकभावः।

किञ्च, उदयकाले एव तदपहारे तदप्रतिभास इति न समारोपो नाम इति कस्य निवृत्त्यर्थः शास्त्राधारम्भः ? अन्यदापि स्वयमेव नाशान्न ततस्तन्निवृत्तिः। अथ शास्त्रादेः प्राक्तनसमारोपक्षणादुत्तर-समारोपक्षणजननाऽसमर्थः क्षणः समुपजायते इति तन्निवृत्तिः — तर्हि बाधकाद् बाध्यनिवृत्तिरपि तथैव 5 संपत्स्यत इति न बाध्य-बाधकभावनिराकरणं युक्तिसंगतं स्यात्। न च 'बाध्य-बाधकभावेऽपि परस्य तद्भावाभिमान इति शास्त्रादिना ज्ञाप्यते', 'असत्त्वेवार्थं सदभिमानो बाध्यस्येति बाधकेन ज्ञाप्यते' इत्यस्य

निरर्थकता जाहीर होगी। आप कहेंगे — 'अगर हम चुप रहेंगे तो निग्रह प्राप्त होगा — इस लिये हम प्रतिपादन करते हैं' — तो भी निग्रह नहीं टलेगा क्यों कि आपने अपने मत को सिद्ध करनेवाले साधन-अंग का तो प्रतिपादन ही नहीं किया। अतः असाधनाङ्गवचनरूप निग्रहस्थान प्राप्त हुआ। इस 10 तरह भी आप का प्रतिपादन व्यर्थ गया। यदि कहें कि — 'प्रतिपादन का प्रयोजन है बाध्य-बाधकभाव के अभाव का अनुसंधान।' — तो प्रश्न होगा कि वह अनुसंधान यथार्थ है या नहीं ? यदि यथार्थ है तब तो अन्यदार्शनिकस्वीकृत बाध्य-बाधक भाव का बाधक बन जाने से उलटा बाधक स्वीकार हो जाने से अन्यो का मत सिद्ध हो गया। यदि वह अनुसन्धान अयथार्थ है तब तो पुनः आप का प्रतिपादन व्यर्थ गया। यदि कहें कि — प्रतिपादन तो समारोप के निरसन के लिये करते हैं — 15 तो उस का मतलब क्या ? बाध्य-बाधकभाव वास्तव नहीं है, फिर भी उस भाव का अध्यवसाय होता है वह समारोप है, उस का आप उच्छेद करना चाहते हैं यानी क्या ? उस के स्वरूप का निरसन करना ही अभीष्ट है न, तो यही बाध हुआ। अर्थात् समारोपव्यवच्छेद के नामान्तर से आपने पुनः बाध्य-बाधकभाव मान्य कर लिया।

✽ समारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति ✽

20

यह भी सोचिये कि आपने समारोपव्यवच्छेद को स्वरूपहरणात्मक बताया तो समारोप के उदय होते ही तत्काल उस के स्वरूप का हरण हो जाने पर समारोप का प्रतिभास ही नहीं होगा, प्रतिभास के विना वह समारोप कैसा ? किस की निवृत्ति के लिये शास्त्रादिरचना का कष्ट करेंगे ? यदि कहें कि उदयकाल में नहीं किन्तु बाद में उस के स्वरूप का हरण शास्त्रादि से होगा, तो आशा व्यर्थ है क्योंकि वह तो बाद में शास्त्रादि उपदेश के विना भी स्वयं क्षणिक होने से निवृत्त होने 25 ही वाला है। इस लिये शास्त्रादि से उस की निवृत्ति अशक्य है।

यदि कहें कि — समारोप के स्वयंशा के बाद उस सन्तान में जो अन्यक्षण उत्पन्न होगा वह समारोप से मुक्त ही रहे एतदर्थ शास्त्रोपदेश सफल होगा और समारोपमुक्त क्षणोद्भव यही शास्त्रोपदेश से समारोपनिवृत्ति कही जायेगी। — अच्छा, तो जैसे आप के मत में इस ढंग से समारोपनिवृत्ति होती है वैसे हमारे मत में भी बाध्य का बाधक से बाध (निवृत्ति) का मतलब है बाध्यज्ञान के 30 बाद नया ज्ञान समारोप(भ्रम)मुक्त ही उत्पन्न होगा। अब तो बाध्य-बाधकभाव का आप खंडन करेंगे वह न्यायमुक्त नहीं कहा जायेगा।

स्वयमेवाभ्युपगमप्राप्तेस्तद्विषयाऽतद्विषयबाधकपक्षोक्त(पृ०११४-पं०१)दोषस्याप्येवमभ्युपगच्छता स्वयमेवाङ्गी-
करणात्। अथ न किञ्चित् शास्त्रादिना क्रियते केवलमलीकाभिमानोऽयं लोकस्य 'शास्त्रेण बाध्य-
बाधकभावाभावो ज्ञाप्यते तत्समारोपो वा व्यवच्छिद्यते' इति। ननु तदभिमानस्यालीकता तदभावेऽपि
तदध्यवसायः, तथा चैतत्परिज्ञाने परमतमेवाभ्युपगतं भवेत्। अथ शास्त्राद्युपन्यासोऽपि नाभ्युपगम्यते तर्हि
5 'बाध्यत्वाऽयोगात्' (पृ०११३-पं०१) इत्यादिकं किमिति वक्तव्यम् ? 'तदपि नास्ति' इति चेत् ? उपलभ्य-
मानस्य कथमसत्त्वम् ?

अथोपलभ्यते किन्तु स्वप्नोपलब्धसदृशं तत्। तथाहि— तद्वचनमपरमार्थसत् उपलभ्यमानत्वात्
स्वप्नोपलभ्यमानवचोवदित्यतोऽनुमानात् तदसत्त्वम्। असदेतत्— पूर्वोपन्यस्तदोषानुबन्धात् पुनरपि 'स्वप्नो-
पलभ्यमानवत्' इत्युत्तराभिधाने चक्रकप्रसक्तिः। इति किञ्चिच्छास्त्रादिकमभ्युपगच्छता बाध्यबाधकभावा-

10 * शास्त्रादि की सार्थकता या निरर्थकता *

अगर आप कहें कि — 'शास्त्रादि से यह प्रदर्शित होता है कि बाह्यार्थवादियों को, बाध्य-बाधक
जैसा कुछ भी न होने पर भी उन को 'है' ऐसा अभिमान होता है यह शास्त्रादि से ज्ञापित होता
है। यही समारोपव्यवच्छेद है। उस के लिये शास्त्रादि सार्थक है।' — तो दूसरे शब्दों में आपने इसी
तथ्य का स्वीकार कर लिया कि बाधक (शास्त्रादि) से, 'बाध्य ज्ञान को असत् अर्थ में ही 'सत्'
15 होने का अभिमान है' ऐसा प्रदर्शित होता है। तब जो पहले (पृ०११४-पं०१२) आपने ही दोष लगाया
था कि बाधक 'बाध्यविषय विषयक' है या 'बाध्यभिन्नविषय विषयक' है... इत्यादि, वे दोष अब आपके
मत में स्वीकारना पड़ेगा।

यदि कहें — शास्त्रादि कुछ भी नहीं कर सकता, सिर्फ लोगों का यह मिथ्याभिमान ही है कि
"शास्त्र से 'यह बाध्य है यह उसका बाधक है' ऐसा बाध्य-बाधक भाव का अभाव प्रदर्शित किया
20 जाता है, अथवा बाध्यबाधक भाव के समारोप का व्यवच्छेद किया जाता है।" — तो यह आप का
अन्यों के मत का स्वीकार ही फलित हुआ क्योंकि उस अभिमान में मिथ्यात्व क्या चीज है इस प्रश्न
के उत्तर में आप को बताना पड़ेगा कि बाध्य-बाधकभाव न होने पर भी उस का अध्यवसाय हांता
है यही अभिमान का मिथ्यात्व है। फलतः आप के उक्त कथन में अन्य मत का स्वीकार स्पष्ट है।
यदि कहें कि हम तो शास्त्रादि के प्रतिपादन को भी असत् ही मानते हैं। तो फिर 'स्वप्नदृष्ट घटादि
25 बाधकविषय नहीं हैं क्योंकि उस में बाध्यत्व ही असंभव है' (पृ०११३-पं०१) इत्यादि प्रपञ्च किसके
लिये ? वह भी यदि असत् है तो कैसे उपलब्ध होता है, जो उपलब्ध होता है वह असत् कैसे ?

* सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्व हेतु अव्यभिचारी *

यदि कहा जाय — "जैसे स्वप्न में घटादि की उपलब्धि होती है वैसे ही उक्त प्रपञ्च उपलब्ध
होता है, असत् होने पर भी। देखिये — शास्त्रादि (या अनुमान का) वचन (प्रतिपादन) परमार्थसत्
30 नहीं है, क्योंकि उपलब्ध होता है जैसे स्वप्न में श्रूयमाण पुरुषवचन। — इस अनुमान से शास्त्र वचन
भी असत् सिद्ध होते हैं।" — तो यह गलत है। यह अनुमान परमार्थसत्त्व को विषय करता है या
नहीं करता ? साध्य अपरमार्थसत्त्व वास्तविक है या अवास्तविक ? इत्यादि विकल्पों के साथ जो
दोष इस प्रकार के पूर्वोक्त अनुमान में दिखाये हैं वे सब यहाँ भी अवतरित होंगे ... यावत् 'स्वप्न

तथाप्यभेदे न क्वचिद् भेदो भवेदित्यध्यक्षं शब्दविविक्तरूपादिविषयं न वाग्रूपतासंसृष्टम्, तत्र तस्या असन्निधानात्।

व्यवहिताया अपि वाचः प्रतिभासे सकलव्यवहितभावपरम्परा प्रतिभासताम् अर्थसंनिधानेऽपि वा वाचो लोचनमतावर्थप्रतिभासे न तस्याः प्रतिभासः तदविषयत्वान्। न हि यो यदविषयः स संनिहितोऽपि तत्र प्रतिभाति यथाऽऽग्ररूपप्रतिपत्तौ तद्रसः, अविषयश्च लोचनबुद्धेः शब्द इति। लोचनबुद्धिर्वाऽर्थमनुसरन्ती 5 स्वविषयमेवावभासयति नेन्द्रियान्तरविषयं संनिहितमपि, यथा रसनसमुद्भवा मधुरादिप्रतिपत्तिः तदेव, न परिमलादिकम्। लोचनप्रभवप्रत्ययेनेव श्रुतिविषयशब्दप्रतिपत्तौ नयनबुद्धिरेव सर्वाक्षविषयग्राहिका इतीन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्यम्। शब्दात्मकेऽपि पदार्थेऽभ्युपगम्यमाने श्रुतिरेव शब्दपरिणतिमधिगच्छति लोचनं च रूपविवर्त्तं पर्येतीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथैकमेवाक्षं विषयपञ्चकं विषयीकरोतीति तत्राप्यक्षपञ्चककल्पना

[अर्थों की शब्दाकारता प्रमाणसिद्ध नहीं]

ऐसा नहीं है कि 'शब्द घटादिपदार्थात्मक ही है'। ऐसा होता तो शब्द घटादिरूप से भासता, नहीं भासता है। स्तम्भादि वस्तु चक्षु के सामने शब्दाकार अनाश्लिष्ट ही भासित होती है; शब्द भी अर्थविभिन्नस्वरूप से ही श्रोत्रज्ञान में स्फुरता है, इस लिये अर्थ और शब्द अभेदात्मा नहीं है। सर्वत्र प्रतीतिभेद से ही वस्तुभेद सिद्ध होता है और यहाँ अर्थ और शब्द की प्रतीति भिन्न भिन्न है। प्रतीतिभेद के स्पष्ट रहते हुए भी अभेद का आग्रह रखेंगे तो हस्ती-अश्वादि का भेद ही लुप्त हो जायेगा। निष्कर्ष, 15 प्रत्यक्षबोध शब्दविनिर्मुक्त रूपादिविषयक ही होता है न कि वाक्संश्लिष्ट - रूपादिविषयक, क्योंकि रूपादिअर्थदेश में वाक् का संनिधान ही नहीं है।

[चाक्षुष प्रत्यक्ष में शब्द का भान असंभव]

वाग्रूपता संनिहित नहीं है, संनिहित योग्य वस्तु ही प्रत्यक्ष में भासित होती है। यदि असंनिहित वस्तु - वाग्रूपता प्रत्यक्ष में भासित हो सके तो जितने भी असंनिहित स्वर्ग-नरकादिपदार्थों का झमेला 20 है वह सब प्रत्यक्षगोचर बन जायेगा। सर्वविदित है कि वाणी को अर्थदेश में कदाचित् तुष्यतुदुर्जनन्याय से संनिहित मान लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष अर्थबोध में उस का भान नहीं ही होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं होती। 'जिस का जो विषय नहीं है वह उस इन्द्रिय से संनिहित रहते हुये भी उस से भासित नहीं होता' यह नियम है। उदा० रस चक्षुइन्द्रिय का विषय न होने से आम के रूप के साथ उस का रस चक्षु से संनिहित होने पर भी चाक्षुषप्रत्यक्ष से रस भासित 25 नहीं होता। शब्द भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का अविषय ही है अत एव चाक्षुष प्रत्यक्ष में शब्द भासित नहीं हो सकता। अथवा यह भी नियम है कि 'चाक्षुष बुद्धि अर्थ के प्रति प्रसरती हुई सिर्फ अपने विषय को ही स्पर्श करती है, अन्य इन्द्रिय के विषय को नहीं।' उदा० रसनेन्द्रिय द्वारा मधुरादिरस के आस्वाद में मधुरादि रस ही लक्षित होता है न कि सुगन्धादि। यदि चक्षुजन्य प्रत्यक्ष से श्रोत्रविषयभूत शब्द का अवगम स्वीकृत हो - तब तो चाक्षुष बोध से शेषइन्द्रिय गोचर वस्तु का बोध भी क्यों 30 न स्वीकारा जाय ? फिर एक चक्षु से ही सकल इन्द्रियगोचर भावों का ग्रहण हो जाने से शेष इन्द्रियों की कल्पना बेकार रह जायेगी।

विफलतामनुभवेत्। ततः सकलमक्षवेदनं वाचकविकलं स्वविषयमेवावलोकयतीति निर्विकल्पकम्।

- न चार्थसंनिधानाद् [▲]वाचः संनिधावप्यक्षान्तरवैफल्यप्रसक्तेः लोचनमतौ यदि नाम न शब्दसंनिधिजनिता शब्दाकारता, तथाप्युपादानाद् बोधरूपतेव वाग्रूपतापि वाचकस्मृतिजनिता तत्र भविष्यति; — यतो यदि स्मरणजनितो वाग्रूपतोल्लेखस्तदा स्पष्टलोचनप्रभवदृशो भिन्न एव भवेत् कारण-विषयभेदात्। तथाहि—
- 5 लोचनव्यापारानुसारिणी दृग् वर्तमानकालं रूपमात्रं विशदतयाऽवभासयति विकल्पस्तु शब्दस्मरणप्रभवोऽस्त्रिहितां वाग्रूपतामध्यवस्यति, कथं न हेतुविषयभेदात् तयोर्भेदः ? अथ वाक्परिष्वक्तं रूपमधिगच्छद् 'रूपमिदम्' इत्येकं संवेदनमध्यवस्यति जन इति कथं न तयोरैक्यम् ? नैतत्, यतः 'रूपमिदम्' इति ज्ञानेन

[एक इन्द्रिय से सर्वेन्द्रियगम्य विषयग्रहण की आपत्ति]

- यदि शब्द जैसा कोई पदार्थ मान्य है तो यह भी मान्य करो कि श्रवणेन्द्रिय ही शब्दपरिणाम
- 10 की ग्राहक है, लोचन की पहुँच तो सिर्फ रूप के विवर्त में ही सिमित है। ऐसा अमान्य करेंगे तो एक ही इन्द्रिय रूपादि पंचक के ग्रहण में उल्लसित बन जायेगी और शेष चार इन्द्रियों के बेकार हो जाने से 'इन्द्रिय पाँच है' ऐसी मान्यता निरर्थक ठहरेगी। निष्कर्ष, कोई भी इन्द्रियजन्य संवेदन शब्दविनिर्मुक्त सिर्फ अपने विषयमात्र का ग्रहण करती है, इसी लिये शब्दविकल्परहित उस को निर्विकल्पकज्ञान कहते हैं। सिद्ध हुआ कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

15 [चाक्षुषदर्शन और वागनुसंधान में भेद का उपपादन]

- यदि कहा जाय — यह मान लिया कि यद्यपि अर्थसंनिधान से वाक्संनिधान को मान लेने पर अन्य इन्द्रियों की निष्फलता प्रसक्त होती है इस लिये चाक्षुष बुद्धि में शब्दसंनिधानप्रयुक्त शब्दाकारता नहीं होती। तथापि समनन्तरप्रत्ययरूप बोध वाणी का उपादानकारण ही है, उपादान और कार्य का अभेद होता ही है, अतः वाणी की बोधरूपता स्वीकृत ही है इसी तरह बोध के उदय के साथ
- 20 वाग्रूपता भी वाचकशब्द की स्मृति से उत्पन्न हो कर जूट जायेगी। —

- तो यह ठीक नहीं है — क्योंकि (यतो यदि...) जब वाग्रूपता का संधान स्मृतिजनित होगा तो वह चक्षुजन्य स्पष्ट दर्शन से पृथक् ही रहेगा, क्योंकि दर्शन का कारण चक्षु और वाग्रूपतासंधान का कारण स्मृति दोनों भिन्न हैं, एवं दर्शन का विषय घटादि है जब कि स्मृतिजन्य वाग्रूपताअनुसंधान का विषय (अथवा स्मृति का विषय) शब्द है, दोनों एक दूसरे से भिन्न होने से पृथक् पृथक् रहेंगे।
- 25 कैसे यह देखिये — चक्षुक्रिया से उत्पन्न दर्शन वर्तमानकालीन रूपमात्र को स्फुटरूप से भासित करता है, शब्दस्मृतिजनित जो नामादिविकल्प है वह असंनिहित वाग्रूपता को प्रगट करती है; इस प्रकार हेतुभेद और विषयभेद सिद्ध है तब बोध और वाणी एकरूप कैसे हो सकते हैं ?

[शब्दाश्लिष्ट बोधसंवेदन की अवास्तविकता]

- यदि कहें कि — 'चक्षु से होनेवाला बोध केवल विषय को ही उल्लिखित नहीं करता किन्तु
- 30 'यह रूप है' इस प्रकार वाणी से आश्लिष्ट संवेदन का ही अध्यवसाय लोग अनुभूत करते हैं। तो उन के ऐक्य का स्वीकार क्यों न कर ले ?' — ऐसा वास्तव में नहीं होता। दो प्रश्न यहाँ खडे

▲. 'वाचः' इत्यस्य 'बोधरूपतेव' इत्यत्रान्वयो बोध्यः।

^aवाग्रूपतापन्नाः पदार्था गृह्येरन्, ^bभिन्नवाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा ? ^aप्रथमपक्षे लोचनं वाग्रूपतायां न प्रभवतीति तदनुसारिण्यध्यक्षमतिरपि न तत्र प्रवृत्तिमती, ततः कथमसावर्थरूपापन्नां वाग्रूपतामधिगन्तुं क्षमा ? इत्यन्यैवाक्षमतिर्नामोल्लेखात्। अथ ^bद्वितीयः पक्षः, तदापि नयनदृग् तद्विषये शुद्ध एव पुरोव्यवस्थिते प्रवर्तते न वाचि, तत्र चाऽवर्त्तमाना कथं तद्विशिष्टं स्वविषयमुद्घोतयितुं समर्था ? न हि विशेषणं भिन्नमनवभासयन्ती तद्विशिष्टतया विशेष्यमवभासयति दण्डाग्रहण इव दण्डिनम्।

5

न च यद्यपि वाग् दृशि न प्रतिभाति तथापि स्मृतौ प्रतिभातीति विशेषणमर्थस्य, भिन्नज्ञानग्राह्यस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेरिति वक्तुं शक्यम्, संविदन्तरप्रतीतस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिभासनाद् तदनन्तरप्रतीयमानविशेषणत्वानुपपत्तिः। यतो नैककालमनेककालं वा शब्दस्वरूपं स्वतन्त्रतया स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमानं विशेषणभावं प्रतिपद्यते, सर्वत्र तस्य तद्भावापत्तेः। न च शब्दानुरक्तरूपाद्यध्यक्षमतिरुदेतीति शब्दस्य

होते हैं - ऐसा^a बोध वाग्रूपताअभिन्न पदार्थ का प्रकाशन करता है या ^bभिन्न वाग्रूपता विशेषण से विशिष्ट पदार्थ का प्रकाशन करता है ? प्रथम पक्ष में, चक्षु की वाग्रूपता की पहिचान में शक्ति ही नहीं है, अतः स्तम्भादि पदार्थग्राहक चक्षुजन्य प्रत्यक्षबुद्धि वाग्रूपता के उल्लेख की प्रवृत्ति कर नहीं सकती। जब वह अर्थाभिन्न वाग्रूपता के ग्रहण में सक्षम नहीं है तो मानना होगा कि अर्थ-वाणी अभेद सूचक 'यह रूप है' वह इन्द्रिय बुद्धि कोई अन्य प्रकार की ही है क्योंकि वह अर्थ के साथ नाम का भी उल्लेख करती है। मतलब, चक्षुजन्य प्रत्यक्षबुद्धि (दर्शन या निर्विकल्पक) अलग ही है और 'यह रूप है' यह विकल्प अलग ही है। दूसरे पक्ष में, वाग्रूपता विशेषण जब भिन्न ही प्रतीत होता है तब तो स्पष्ट है कि चक्षुजन्यप्रत्यक्ष अपने पुरोवर्ती शुद्ध (नामादिविकल्प) विषय के ही ग्रहण में प्रवृत्त है न कि वाणी के ग्रहण में। शुद्धविषयग्रहण व्यग्र बुद्धि जब वाणीग्रहण में अप्रवृत्त है तब पृथक्वाग्रूपता (जो कि स्व से अगृहीत है) से विशिष्ट अपने विषय का प्रकाशन करने में वह कैसे साहस करेगी ? ऐसा होता नहीं कि विशेषण को पृथग्रूप से ग्रहण न करनेवाली बुद्धि विशेषणविशिष्ट विशेष्य का प्रकाशन कर सके। दण्ड का पृथग् ग्रहण न करने वाली बुद्धि 'डंडेवाले' को भासित नहीं कर सकती।

10

15

20

[भिन्नज्ञानग्राह्य अर्थ विशेषण नहीं बनता]

यदि कहें कि - दर्शन में वाक् का भान नहीं होता यह सच है लेकिन स्मृति में तो वाक् का भान होता है, इस प्रकार वाक् स्मृतिज्ञात हो कर दर्शनगृहीत अर्थ का विशेषण क्यों नहीं बन सकती। भिन्नज्ञान से गृहीत अर्थ का भी वाक् विशेषण बन सकती है। - तो यह अशक्यवचन है क्योंकि पहले संवेदन में स्वतन्त्ररूप से ही (वाक्विनिर्मुक्त) अर्थ भासित हो गया, अब उस के बाद स्मृति में भासमान वाक् उस का विशेषण कैसे बन सकती है ? शब्दाकार चाहे अर्थसंवेदन के समानकाल में या असमानकाल में अपने ग्राहक ज्ञान (स्मृति) में जब स्वतन्त्ररूप से (न कि किसी के विशेषणरूप में) भासित होता है, वह अब किसी के 'विशेषण' रूप में भासित नहीं हो सकता। यदि भिन्नज्ञानगृहीत किसी अर्थ के विशेषणरूप में वाक् का भासित होना मान लिया जाय तो समकालीन भासमान सकल अर्थों के या असमानकालीन भासमान सभी अर्थों के विशेषणरूप में भासित होने की आपत्ति होगी; मतलब स्वतन्त्र यानी निर्विशेषण विशेष्यरूप से तो उसका भान लुप्त हो जायेगा।

30

विशेषणत्वं रूपादेश्च विशेष्यत्वम्, यतो यदि तदनुरक्तता तत्रप्रतिभासस्तदा शब्दस्याक्षबुद्धावप्रतिभासनात्र तदनुरक्तता। अथ रूपादिदेशे शब्दवेदनं तदनुरक्तता, तदपि न युक्तम्, निरस्तशब्दसन्निधीनां रूपादीनां स्वज्ञाने प्रतिभासनात्।

अथ तत्कालशब्दप्रतिभासस्तदनुरागः, न; नयनदृशि रूपादिव्यतिरिक्तशब्दप्रतिभासाभावात्। यतो न तुल्यकालमपि शब्दं लोचनसंविद् अवभासयितुं क्षमा तस्य तदविषयत्वात्। अथ शब्दानुषक्तरूपस्मृतिदर्शनात् तद्रूपस्य तस्य प्राग्दर्शनमुपेयते तर्हि शब्दविविक्तमर्थरूपं प्रत्यक्षमधिगच्छति वाचकं तु स्मृतिरुल्लिखतीति न तत्संस्पर्शमध्यक्षमनुभवतीति निर्विकल्पकमासक्तम्। अन्यथा शब्दस्मरणाऽसम्भवादध्यक्षाभावो भवेत्। तथाहि— यदि वाक्संस्पृष्टस्य सकलार्थस्य संवेदनं तथासत्यर्थदर्शने तद्वाक्संस्मृतिस्तत्र च तत्परिकरितार्थदर्शनम् न च कश्चिद् वाक्संस्पर्शविकलमर्थमवगच्छति तमन्तरेण च न वाक्संस्मृतिः तां चान्तरेण न

10 यदि कहा जाय — 'रूपादिविषयक प्रत्यक्ष बुद्धि जब उदित होती है तब शब्दाकार से उपरक्त हो कर ही उत्पन्न होती है, अत एव मानते हैं कि शब्द वहाँ विशेषण है और रूपादि अर्थ विशेष्य है।' — तो यह ठीक नहीं क्योंकि 'उपरक्तता' शब्द का अर्थ क्या है यह स्पष्ट नहीं। उपरक्तता का अर्थ शब्दप्रतिभास किया जाय तो वह गलत है क्योंकि रूपादि प्रत्यक्ष मति में शब्द का उपरञ्जन यानी प्रतिभास होता ही नहीं है, इस लिये रूपादि अर्थ में शब्द की उपरक्तता का कथन अयुक्त है। 'रूपादि अर्थदेश में शब्द का भी संवेदन करना' ऐसा उपरक्तता का अर्थ भी गलत है, क्योंकि अपने दर्शन में भासने वाले रूपादि अर्थ शब्दसंनिधान से अस्पृष्ट ही भासता है।

15 'रूपादि अर्थ प्रतिभासकाल में ही साथ साथ शब्द का भी प्रतिभास होना' ऐसा उपराग का अर्थ भी असंगत है क्योंकि चाक्षुषदर्शन काल में रूपादि अर्थ से अतिरिक्त किसी शब्द का प्रतिभास होता ही नहीं! शब्द समानकालीन हो फिर भी चाक्षुषसंवेदन का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह समानकालीन होने मात्र से शब्द को प्रदर्शित करे। कारण, शब्द चाक्षुषबुद्धि का विषय ही नहीं है।

[स्मृतिगत उपराग से दर्शन के उपराग की सिद्धि अशक्य]

यदि कहें कि — 'कुछ काल के बाद जब रूपस्मरण होता है तब शब्द से उपरक्त रूप का ही स्मरण होता है, इस से यह साबित होता है कि कुछ समय पहले जब रूप दर्शन हुआ था तब शब्द से उपरक्त ही हुआ था।' — तो यहाँ ऐसा ही मानना होगा कि प्रत्यक्ष में तो सिर्फ शब्दविनिर्मुक्त रूपादि अर्थ का ही अधिगम हुआ है, लेकिन स्मृतिकाल में स्मृति ही रूपादिअर्थवाचक शब्द को जोड़ कर उदित होती है। (अनुभवकाल में शब्दोपरक्त रूपादिसंवेदन था इसलिये शब्दोपरक्त रूपादि का स्मरण हुआ ऐसा मान लेने की जरूरत नहीं। स्मृति स्वयं ही अपनी ओर से रूपादि के साथ वाचक शब्द को जोड़ कर उदित हो सकती है।) मतलब यह हुआ कि प्रत्यक्ष तो वाचक शब्द का स्पर्शानुभव नहीं करता, यानी वह बिलकुल निर्विकल्प स्वभाव ही होता है। ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो यथा तथा शब्द का स्मरण ही संभविता न होने से प्रत्यक्ष का भी शून्यभाव प्रसक्त होगा। कैसे यह देखिये — यदि सभी अर्थों का संवेदन शब्दोपरक्त ही संभव है तो इस स्थिति में अर्थदर्शन होने पर ही उसके वाचक शब्द का स्मरण हो सकता है, स्वतन्त्ररूप से शब्द की स्मृति हो नहीं पायेगी। जब

वागनुषक्तार्थदर्शनमित्यर्थदर्शनाभावो भवेत्, ततोऽर्थदर्शनात्रिविकल्पकमेव तदभ्युपगन्तव्यम्।

यदि च वाक्संस्पृष्टस्यैवार्थस्य ग्रहणं तदाऽगृहीतसंकेतस्य बालकस्य तद्ग्रहणं न भवेत्। अथ तस्यापि 'किम्' इति वागुल्लेखोऽस्तीति तदनुषक्ततद्ग्रहणं सविकल्पकम्। नैतद् युक्तम्, तस्य 'किमपि' इति सामान्यस्यैव ग्रहणं भवेन्न विशेषस्येति न विशदावभास्यर्थसंवेदनसम्भवः। यदा चाश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं परिणमति तदा तद्वागपरिच्छेदात् कथमवबोधस्य शाश्वती वाग्रूपता ? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तदवबोधस्य संभवति तत्संवेदनाभावात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च। ततोऽध्यक्षमर्थसाक्षात्करणान्न वाग्योजनामुपस्पृशतीति निराकृतं "वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेद्" (वाक्यपदीय.) इत्यादि, लोचनाद्यध्यक्षे वाक्संस्पर्शयोगात्। यतः

शब्दोपरक्त स्मृति होगी तभी उस में शब्दोपरक्त रूपादिअर्थ का दर्शन होगा, स्वतन्त्ररूप से नहीं होगा। कारण, कोई भी दृष्टा शब्दोपरागविकल अर्थ का तो संवेदन ही नहीं कर पाता। इस का मतलब यह हुआ कि अर्थदर्शन के विना वाक्समरण नहीं होगा, इस प्रकार वाक्समरण का सम्भव न होने से, वाक्समरण के विना शब्दोपरक्त अर्थ दर्शन भी नहीं होगा। आखिर अर्थदर्शन भी खोया न ! शब्दोपराग मानने पर तो अर्थदर्शन को ही खोना पड़ेगा, इस के बदले यही मान लेना अच्छा है कि अर्थमात्र का ही दर्शन होने से वह निर्विकल्प ही होता है।

[बालक में संकेतित अर्थ-आश्लेष की अनुपपत्ति]

बौद्ध कहता है — वाणीआश्लिष्ट ही अर्थ का ग्रहण सदैव माना जाय तो जिस बालक को अभी तक शाब्दिक संकेतार्थों का व्युत्पादन नहीं हुआ है उसको वाणी-आश्लिष्टता के विरह में अर्थ का भी भान नहीं होगा। यदि कहें कि — 'बालक को विशिष्ट संकेतों का अवबोध न होने पर भी 'कुछ है' इस प्रकार की वाणी के उल्लेख से आश्लिष्ट घटादि अर्थों का सविकल्प बोध होगा' — तो यह संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो बालक को सदैव सामान्यबोध ही होगा, विशेषरूप से अर्थबोध नहीं होने से बालक को स्पष्टरूप से अनुभवारूढ ऐसा अर्थसंवेदन असम्भव ही रहेगा।

दूसरी बात — 'अश्व है' इस प्रकार शब्दसंश्लेषवाले अश्व के सविकल्प बोध काल में गो-चक्षुः सनिकर्षप्रयुक्त गोपदार्थदर्शन उदय प्राप्त कर लेगा — उस समय वह गोदर्शन न तो 'अश्व' शब्दाश्लिष्ट हो सकता है न 'गो' शब्दाश्लिष्ट होगा, इस प्रकार वाग्निर्मुक्त ही गोदर्शन उदय पायेगा, अब बोध की शाश्वत वाग्रूपता कहाँ रही ? गो-शब्द का उल्लेख उस काल में इस लिये असंभव है क्योंकि उस काल में अश्व का ही संवेदन हो रहा है, उस के साथ साथ 'गो' ऐसा शब्दोल्लेखवाला संवेदन अशक्य है क्योंकि एकसाथ विकल्पद्वय की उत्पत्ति शक्य नहीं है। निष्कर्ष, अर्थसाक्षात्कारसंवेदी प्रत्यक्ष वाक्संयोजन का स्पर्श नहीं करता यह साबित होता है। अत एव 'यदि बोध वाग्रूपता विनिर्मुक्त होगा तो प्रकाश नहीं प्रकाशेगा' (वाक्यपदीय.) यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में वाक्संस्पर्श का संवेदन नहीं होता।

[वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती-परा वाक्चतुर्भेद]

वाक्यपदीयग्रन्थकार आदि व्याकरणविदोंने वाणी के वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा (परा) ये चार भेद माने हैं। इन में से एक भी प्रकार बोधसंलग्न हो कर नहीं भासता।

श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं न तावन्नयनजसंवेदनमुपस्पृशति, तस्याः तदविषयत्वात्। नापि स्मृतिविषयां मध्यमां तामवगमयति, तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो भावात्। संहताशेषवर्णादिविभागा पश्यन्ती वागेव न

सूक्ष्म वाक् :- जिस में कालभेद के स्पर्शरूप कोई अपाय नहीं होता ऐसी स्वप्रकाश शक्ति को सूक्ष्म वाक् कहा जाता है।

5 **पश्यन्ती वाक्** :- जिस में वाच्य-वाचक का विभाग नहीं दीखता, क्रमविवर्तशक्ति के रहते हुए भी — जिस में सजातीय-विजातीयापेक्षया वाच्य-वाचकों का दैशिक या कालिक क्रम नहीं होता ऐसी मानसबोधरूप वाणी को पश्यन्तीवाक् कहते हैं।

मध्यमा वाक् :- सिर्फ बुद्धि ही इस का उपादान होती है, प्राणवृत्ति जिस में हेतु नहीं है, जिस में वाचक-वाच्य का क्रम रहता है, जो मनोभूमि में रहती है, श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होती ऐसी 10 अन्तर्जल्पाकार वाणी को मध्यमा वाक् कहते हैं। वैखरी और पश्यन्ती के बीच में रहने से इस का नाम मध्यमा है।

वैखरी वाक् :- तालु आदि स्थानों में वायु के आहत होने से वर्णाकार धारण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य अकारादिवर्णात्मक वाणी को वैखरी कहते हैं। विशिष्ट खराबस्था यानी स्पष्टावस्थावाली होने से उसे वैखरी कहते हैं।

15 इन में से एक भी वाक् अर्थसंवेदन में भासित नहीं होती। वैखरी वाणी तो श्रोत्र का विषय है, चक्षु की वहाँ कोई पहुँच नहीं है, इसलिये चाक्षुषसंवेदन में वैखरी वाणी का स्पर्श सम्भव नहीं है। जो सिर्फ स्मृति का विषय बनती है ऐसी मध्यमा वाक् भी चाक्षुषदर्शन में भासती नहीं है। मध्यमा वाक् के बिना भी शुद्ध चाक्षुष बोध का संवेदन होता है। जिस में वाच्य-वाचक इत्यादि किसी भी वर्णादि का विभाग विलीन है ऐसी पश्यन्ती वाणी को 'वाणी' कहना ही अनुचित है क्योंकि 20 वह तो बोधात्मक है। वाणी तो हरहमेश वर्ण-पद-वाक्यादि क्रमगर्भित ही होती है। इस लिये पश्यन्ती

▲. साचेयं वाक् त्रैविध्येन व्यवस्थिता वैखरी, मध्यमा पश्यन्तीति। तत्र येयं स्थान-करण-प्रयत्नक्रमव्यज्यमाना अकारादिवर्णसमुदायात्मिका वाक् सा वैखरीत्युच्यते। तदुक्तम्— स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।।

अस्यार्थः— स्थानेष्विति तात्त्वादिस्थानेषु वायौ = प्राणसंज्ञे विधृते = अभिघातार्थं निरुद्धे सति कृतवर्णपरिग्रहेति हेतुद्वारेण विशेषणम् ततः ककारादिवर्णरूपस्वीकारात् वैखरीसंज्ञा वक्तृभिर्विशिष्टायां खराबस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरीति निरुक्तेः वाक् प्रयोक्तृणां सम्बन्धिनी, यथा तेषां स्थानेषु तस्याश्च प्राणवृत्तिरेव निबन्धनम् तत्रैव निबद्धा सा तन्मयत्वादिति।

या पुनरन्तः संकल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमेत्युच्यते। तदुक्तम्— केवलं बुद्ध्युपादानात् क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।।

अस्यार्थः— स्थूलां प्राणवृत्तिं हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य केवलं बुद्धिरेवोपादानं हेतुर्यस्याः सा प्राणस्थत्वात् क्रमरूपमनुपतति अस्याश्च मनोभूमाववस्थानम्, वैखरी-पश्यन्त्योर्मध्ये भावाद् मध्यमा वागिति। या तु ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्ध्या वाक् सा पश्यन्तीत्युच्यते। तदुक्तम्— अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।।

अस्यार्थः— पश्यन्ती यस्यां वाच्यवाचकयोर्विभागेनावभासो नास्ति सर्वतश्च सजातीय-विजातीयापेक्षया संहतो वाच्यानां वाचकानां च क्रमो देशकालकृतो यत्र क्रमविवर्तशक्तिस्तु विद्यते। स्वरूपज्योतिः स्वप्रकाशा वेद्यते वेदकभेदातिक्रमात् सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या अनपायिनी कालभेदाऽस्पर्शादिति। [वाक्यपदीयटीका— स्याद्वादरत्नाकरादिग्रन्थेषु इति भूतपूर्वसम्पादकौ]

भवति, बोधरूपता(?त्वात्), वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वाद् वाचः, न तद्युक्ता प्रतिपत्तिर्विकल्पिका, अपि तु निर्विकल्पिकैव, श्रुति-स्मृतिविषयवर्णपदानुक्रमोल्लेखशून्यत्वात्।

यदि चाविकल्पकं संवेदनं किञ्चिन्नाभ्युपेयते तदा वाक्संस्मरणाऽसंभवाद् विकल्पस्याप्यसंभव एव स्यात्। अथ प्रथमं संवेदनं तदा वाचकस्मृतेरभावादविकल्पकम् तज्जनितवाचकस्मृतिसहकारीन्द्रियप्रभवं त्वभिधानानुरक्तार्थावभासि द्वितीयं सविकल्पकम्। नैतदस्ति, यतः स्मृतिसचिवमपि लोचनं न वाचके 5 तत्संकेतसमयभाविनि प्रवृत्तिमदिति कथं तदविषये स्मृतिदर्शितेऽपि वाचकानुषङ्गेऽध्यक्षप्रवृत्तिः ? यतो न गन्धस्मृतिसहकारिलोचनमविषये परिमलादौ संवेदनं जनयद् दृष्टम् किन्तु संनिहित एव मलयजरूपे, दर्शनं तु तत्सहचारिणि परिमलादौ स्मृतिं जनयतीति न तत् तद्रूपसंविदो रूपं हेतुविषयभेदात्। तथाऽत्रापि नयनसंवेदनं रूपमात्रसाक्षात्कारि भिन्नम् तद्दर्शनोपजनितं तु विकल्पज्ञानं वचनपरीतार्थाध्यवसायस्वभावं भिन्नमेवेत्यविकल्पकमध्यक्षं सिद्धम्। 10

वाक् भी चाक्षुष बोध में भासित नहीं हो सकती। (सूक्ष्मा भी बोधजनक शक्तिरूप होने से चाक्षुष विषय नहीं है।) निष्कर्ष, चाक्षुषादि संवेदन वागाश्लिष्ट सविकल्प रूप नहीं, निर्विकल्प ही होता है, क्योंकि श्रुति और स्मृति के विषय से एवं वर्ण-पद आदि अनुक्रम के उल्लेख से विनिर्मुक्त होता है।

[निर्विकल्प के विना वाक्संस्मरण और विकल्प का असंभव]

यदि निर्विकल्प संवेदन का समूल निषेध करेंगे तो वाणी का स्मरण संभवहीन हो जानेसे सविकल्प 15 संवेदन भी संभवविकल बन जायेगा। यदि कहें कि — “वाणीसंवेदन के पहले एक अर्थसंवेदन का स्वीकार करेंगे, उसे तो निर्विकल्प ही मानना पड़ेगा क्योंकि उसके पहले कोई वाचक स्मृति सम्भवित ही नहीं है। (विना अनुभव स्मृति नहीं होती।) फिर उस निर्विकल्प से वाचक की स्मृति होने पर स्मृतिसहकृत इन्द्रिय से जो अर्थानुभव होगा वह जरूर शब्दसंश्लिष्ट होने से दूसरा प्रत्यक्ष सविकल्प होगा। इस तरह इन्द्रिय से सविकल्प प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है।” — तो यह ठीक नहीं है। हमारा कहना यह है कि 20 इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कभी भी शब्दग्राहक नहीं होता और जो शब्दग्राही होगा वह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं होगा। कैसे यह देखिये — स्मृति का सहकार मिलने पर भी अर्थसूचक संकेतकाल में जिस शब्द में (वाचक में) संकेत किया गया था उस को ग्रहण करने में (श्रोत्रप्रवृत्ति होने पर भी) लोचन की प्रवृत्ति शक्य नहीं थी, क्योंकि शब्द लोचन का विषय नहीं है। जब शब्द उस का विषय ही नहीं है तब स्मृतिप्रदर्शित शब्दोपरक्त वस्तु के ग्रहण में लोचनजन्य प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे मानी जाय ? ऐसा तो 25 कभी नहीं होता कि सुगन्ध के उत्कट स्मरण का सहकार मिल जाने से अपने विषयक्षेत्र को लाँघ कर लोचन परिमल आदि का संवेदन करने का साहस करे। हाँ इतना मान सकते हैं कि संनिहित चन्दन का ग्राहक प्रत्यक्ष चन्दनसहचरित परिमलादि का स्मरण करा देगा। चन्दनरूपसंवेदी प्रत्यक्ष का चन्दनपरिमलग्राहि कोई स्वरूप ही नहीं है, क्योंकि स्मृति और प्रत्यक्ष के कारक हेतु एवं अपना अपना विषयक्षेत्र पृथक् ही है। इसी तरह, समझ लो कि रूपमात्रप्रेक्षी चाक्षुष संवेदन पृथक् ही है और उस से उत्पन्न स्मृति 30 आदि विकल्प ज्ञान भी अलग है जो कि शब्दसंश्लिष्ट अर्थाध्यवसायी होता है।

सारांश, प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प ही होता है यह सिद्ध हुआ।

[केवलसविकल्पप्रामाण्यस्थापना तन्निरसनं च]

स्यादेतत्— यद्यपि वाचो नयनजप्रतिपत्त्यविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थदर्शनमध्यक्षं तथापि द्रव्यादेर्नयनादि-
विषयत्वात् तद्विशिष्टार्थाध्यक्षप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति। तथाहि — नियतदेशादितया वस्तु परिदृश्यमानं
व्यवहारोपयोगि, अन्यथा तदसम्भवाद्। देशादिसंस्पर्गरहितस्य च तस्य कदाचिदप्यननुभवात्। यच्च देशादि-
विशिष्टतया नामोल्लेखाभावेऽपि वस्तु संगृह्णाति तत् सविकल्पकम्। विशेषण-विशेष्यभावेन हि प्रतीतिः
कल्पना, देशादयश्च नीलादिवद् तदवच्छेदका दर्शने प्रतिभान्तीति न तत्र शब्दसंयोजनापक्षभावी दोषः।

एतदप्यसत्— यतोऽध्यक्षं पुरोवर्त्ति नीलादिकमवलोकयितुं समर्थम् न तदवष्टब्धं भूतलम्। तदनवभासे
च कथं तद्विशिष्टमर्थं तदवगन्तुं प्रभुः(?) ? यद्यपि तदनवष्टब्धं तत्र प्रतिभाति तदपि न तद्विशेषणमिति
शुद्धस्यैव सकलस्य प्रतिभासनात् विशेषण-विशेष्यभावग्रहणम्। तथाहि— दर्शने रूपमालोकश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितं

10 [नियतदेशादिस्थित वस्तुग्राहि सविकल्प प्रत्यक्ष की स्थापना]

नैयायिकादि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु उसे प्रमाण / अप्रमाण नहीं मानते। सिर्फ सविकल्प
प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उन का विमर्श यह है कि वाणी चाक्षुषप्रतीति का विषय नहीं है
इस लिये वाक्-संकलित अर्थदर्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह ठीक है। किन्तु, द्रव्य-गुण-क्रिया आदि
तो चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषयक्षेत्र में ही है, इस लिये जलद्रव्य विशिष्ट घटादि अर्थ की प्रत्यक्षप्रतीति
सविकल्प हो सकती है। देखिये — ज्ञान का प्रयोजन व्यवहार है, कोई भी चीज-वस्तु अमुक देश-
अमुक स्थल में दिखाई देने पर ही तद्विषयक प्राप्ति-परिहारात्मक व्यवहार में वह उपयोगी बनती है।
देशादिविशिष्ट स्वरूप से न दिखाई देने पर उस का कोई उपयोग नहीं रहता। यह हकीकत है कि
किसी भी पदार्थ का देशादिसंस्पर्गरहितरूप से अनुभव कभी भी नहीं होता। शब्दाकार (यानी नाम)
के उल्लेख बिना भी देशादिसंस्पृष्टरूप से वस्तु का संकलन करने वाली प्रत्यक्ष प्रतीति को ही 'सविकल्प'
कहा जाता है। सविकल्प यानी कल्पनागर्भित ज्ञान। कल्पना कोई मिथ्याज्ञान नहीं है, विशेषण-विशेष्यभाव
से गुण-गुणी आदि की प्रतीति को ही कल्पना कहते हैं। जैसे नीलादि विशेषण उत्पलादि के व्यावर्तकरूप
में नीलोत्पलबुद्धि में भासित होता है वैसे ही 'यहाँ घट है' इत्यादिरूप में एतद् देशादि भी घटादि
के अन्यदेशीयघटादिव्यावृत्तरूप में अनुभव के प्रयोजक होते हैं, इस प्रकार सविकल्प प्रत्यक्ष में देशादि
का भान भी होता है। यहाँ हमारे मत में शब्दसंयोजनापक्ष में पूर्वदर्शितदोषवृन्द को कतई अवकाश
25 नहीं है।

[नियतदेशादिविशेषण-विशेष्यभाव का प्रत्यक्ष असंभव]

नैयायिकों का यह प्रतिपादन गलत है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष तो पुरोवर्त्ती सन्निकृष्ट नीलादि
के अवलोकन करने में ही सक्षम होता है — इस तथ्य को तो आप भी मानते हैं। भूतल तो विशाल
है, पूरा भूतल तो घट से आक्रान्त नहीं है, कुछ आक्रान्त है कुछ अनाक्रान्त है। आक्रान्त भूतलभाग
जो कि घट का आधार माना जाता है वह तो घट से आवृत होने से उस के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष
शक्य नहीं है, तब इन्द्रियप्रत्यक्ष कैसे उस का आधार के रूप में (यानी आधारतया विशेषण के रूप
में) ग्रहण करेगा ? जब घटप्रत्यक्षकाल में आधारभूत भूतल का ग्रहण ही नहीं हो सकता तो उस

द्वितयमाभाति न तद्व्यतिरिक्तं कालदिगादिकमिति कथमप्रतिभासमानं तद्विशेषणं भवति ? सर्वत्र तद्भावप्रसक्तेः । तेन 'देशादिभिर्विशिष्टस्य सर्वस्यार्थस्य संवेदनम्' इति निरस्तम् विशेषणभूतस्य कस्यचिदप्रतिभासनात् । यत्रापि स्थिराधेयदर्शनादधस्तादाधारमनुमिन्वति तत्रापि नानुमानावसेयमधिकरणमिन्द्रियविज्ञानविषयविशेषणम् नापि तदवसायोऽक्षबुद्धेः स्वरूपमिति न विशेषणविशिष्टप्रतिपत्तिरक्षबुद्धिः ।

किञ्च ^असमानकालयोर्वा भावयोर्विशेषण-विशेष्यभावं ^भभिन्नकालयोर्वाऽक्षबुद्धिरवभासयति ? ^पन 5
तावद् भिन्नकालयोः, तयोर्युगपत् तत्राऽप्रतिभासनात् । यदा हि विशेषणं स्वादिकं पूर्वमवभाति न तदा स्वाम्यादिकं विशेष्यम् यदापि चोत्तरकालं तदवभाति न तदा स्वादिकम् असन्निधानाद् इति न तद्विशिष्टतयाऽ-
से विशिष्ट अर्थ (घटादि) का अवबोध वह कैसे करेगा ? जो अनाक्रान्त भूतल है वह यद्यपि इन्द्रिय संनिकृष्ट हो कर प्रत्यक्ष में भासित जरूर होता है लेकिन वह तो घटादि का आधार न होने से घटादि का विशेषण नहीं है । फलितार्थ यही हुआ कि प्रत्यक्ष में शुद्ध भूतल या शुद्ध घटादि ही या 10
कोई भी अन्य शुद्ध वस्तु ही भासित होती है, अत एव प्रत्यक्ष में विशेषण-विशेष्यभाव गृहीत नहीं होता । इस तरह ही देशकाल विशिष्ट वस्तु ग्रहण नहीं हो सकती । कैसे यह देखिये — प्रत्यक्षदर्शन में अपने अपने स्वरूप में मस्त ऐसे रूप और आलोक ये दो प्रतीत होते हैं, उन दो से अतिरिक्त काल या दिशा (जो कि अरूपी तत्त्व हैं) नहीं प्रतीत होते । जो प्रतीत नहीं होता वह विशेषण भी नहीं हो सकता । इस नियम को न माने तो गधा घोड़े का, घोडा हाथी का... सब सभी का विशेषण 15
वन बैठेगा ! अत एव, नैययिकोंने जो कहा था कि "नियतदेशादिविशिष्ट ही अर्थ का संवेदन होता है — व्यवहार में उपयोगि होता है" ... इत्यादि निरस्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी वस्तु विशेषण के रूप में प्रतीत नहीं हो सकती ।

[अनुमानोपलब्ध अर्थ प्रत्यक्षार्थ का विशेषण नहीं बनता]

यदि कहा जाय — "घटाक्रान्त भूतलदेश यद्यपि प्रत्यक्ष में प्रतीत नहीं होता किन्तु स्थिरवृत्ति 20
घट के दर्शन से उस के नीचे उस के आधार के रूप में भूतल का अनुमान होता है और वह घटादि के आधारतया विशेषण बन सकता है" — तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनुमानगोचर अधिकरण देश इन्द्रियगोचर न होने से इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषय घटादि के विशेषण रूप में भासित नहीं हो सकता । आक्रान्त भूतल का अवबोध भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का अंशभूत नहीं है । अत एव प्रत्यक्षबोध विशेषणविशिष्ट अर्थबुद्धिस्वरूप नहीं हो सकता — यह फलित हुआ । 25

[भिन्नकालीन अर्थों में विशेषण-विशेष्यभाव नहीं]

दूसरी बात, प्रत्यक्षबुद्धि विशेषण-विशेष्यभाव ^असमकालीन अर्थों के बीच प्रकाशित करेगी या ^भभिन्नकालीन ?

^भभिन्नकालीन अर्थों के बीच विशेषण-विशेष्यभाव प्रदर्शित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में वे दोनों एक साथ प्रतिबिम्बित नहीं हो सकते । प्रत्यक्ष में किसी एक क्षण में जब 'स्व' आदि 30
विशेषण वस्तु प्रतिबिम्बित होगी तब उसी क्षण में 'स्वामि' आदि विशेष्य वस्तु प्रतिबिम्बित नहीं होगी क्योंकि वे दोनों भिन्नकालीन हैं । उत्तरक्षण में जब 'स्वामि' आदि भासित होंगे तब पूर्वक्षणीय 'स्व'

ध्यक्षेण तस्य ग्रहणम्। तथाहि— चक्षुर्व्यापारे पुरोव्यवस्थितश्चैत्र एव परिस्फुटमाभातीति तन्मात्रग्रहणात् तद्विशिष्टत्वप्रतीतिः। न चाऽसनिहितमपि विशेषणं स्मरणसन्निधापितमक्षबुद्धिरधिगच्छति, स्मरणात् प्रागिव तदुत्तरकालमपि विशेषणाऽसन्निधेः तुल्यत्वाद् न तत्र तदाप्यध्यक्षबुद्धिप्रवृत्तिरित्यपास्तविशेषणस्यार्थस्य साक्षात्करणं युक्तियुक्तम्। अनापि तुल्यकालयोर्भावयोर्विशेषण-विशेष्यभावमध्यक्षमधिगन्तुं समर्थम् तस्यान-
 5 वस्थितेः। तथाहि— अविशिष्टेऽपि दण्ड-पुरुषसंयोगे कश्चिद् दंडविशिष्टतया पुरुषं 'दण्डी' इति प्रतिपद्यते अपरस्तु तत्रैव पुरुषविशिष्टतया 'दंडोऽस्य' इति प्रतिपद्यते असंकेतितविशेषण-विशेष्यभावस्तु 'दण्ड-पुरुषै' इति स्वतन्त्रं द्वयमधिगच्छति। वास्तवे तु तस्मिन् योग्यदेशस्थप्रतिपत्तृणां दण्ड-पुरुषरूपयोरिव तुल्याकारतयाऽ-
 वभासो भवेत्, न चैवम्, तेन दण्डपुरुषस्वरूपमेव स्वतन्त्रमध्यक्षावसेयम्, विशेषण-विशेष्यभावस्तु कल्प-
 नारचित एव।

10 आदि वस्तु उस में भासित नहीं होगी। इस प्रकार दोनों एक प्रत्यक्षबुद्धि में संनिहित नहीं होने से 'स्व' (विशेषण) से विशिष्ट 'स्वामी' आदि की प्रतीति अध्यक्ष में असम्भव है।

देखिये — नजर घुमाने पर दृष्टिसमक्ष खडा चैत्र नाम का कोई पुरुष स्पष्ट दीखता है, सिर्फ चैत्र ही दीखता है, उस में किसी का स्वामित्व नहीं दीखता, अत एव धनादिस्वामित्वविशिष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती। ऐसा कहना कि — 'स्व' आदि विशेषण दृष्टिसंनिहित न होने पर भी स्मृति प्रत्यक्षबुद्धि में
 15 विशेषण को प्रस्थापित कर देती है, इस तरह प्रत्यक्षबुद्धि भी विशेषण को ग्रहण करती है' — योग्य नहीं है, क्योंकि भिन्नकालीन विशेषण-विशेष्य विकल्प की चर्चा है— यहाँ, विशेषण न तो स्मरण के पूर्व संनिहित है न स्मरण के उत्तरकाल में संनिहित है। इस लिये प्रत्यक्षबुद्धि स्मृतिप्रेरित विशेषण का ग्रहण भी कर नहीं सकती। मतलब, प्रत्यक्ष से विशेषणरूप अर्थ का ग्रहण-साक्षात्कार युक्तियुक्त नहीं है।

[समकालीन अर्थों में विशेषण—विशेष्य भाव नहीं]

20 समानकालीन भावों का विशेषणविशेष्य भाव भी प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ असमञ्जसता दोष है। कैसे यह देखिये — दण्ड और पुरुष दोनों एक-दूसरे से संयुक्त है, 'किसी एक का ही दूसरे में संयोग' ऐसा नहीं है। परस्पर समानविधया संयोग के होने पर भी किसी एक व्यक्ति (चैत्र) को 'दण्डवान्' इस प्रकार दण्डविशिष्ट पुरुष दिखता है, तो दूसरी व्यक्ति (मैत्र) को 'इस के पास दण्ड है' इस प्रकार पुरुष से विशेषित दण्ड दिखता है; तीसरी व्यक्ति (जिनदत्त) को
 25 विशेषण-विशेष्यभावनिरपेक्ष 'दण्ड और पुरुष' ऐसा दोनों का स्वतन्त्र भान होता है। अब सोचो कि यदि विशेषण विशेष्यभाव वास्तविक है तो उस को देख सके ऐसे उचितदेश में खड़े रहने वाले पृथक् पृथक् व्यक्तियों को एकाकार (या तो 'दण्डवान्' अथवा 'इस के पास दण्ड' अथवा 'दण्ड और पुरुष' — इन में से कोई भी एक ही) अवभास होना चाहिये, जैसे कि दंड का श्यामरूप और पुरुष के गौर रूप का तीनों व्यक्ति को एकाकार ही अवभास होता है। (सभी को दण्ड श्याम और पुरुष
 30 गौर दीखता है।) दण्ड-पुरुष का एकाकार अवभास उक्त प्रकार से होता नहीं है, इसी से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षबुद्धि सिर्फ पुरुष एवं दण्ड के स्वतन्त्र स्वरूप को ही प्रगट करती है, जब कि उन के विशेषणविशेष्य भाव को दिखानेवाली बुद्धि कोरी कल्पना है। मतलब, समानकालीन भाव के

येन हि दण्डोपकृतपुरुषजनितार्थक्रिया प्रागुपलब्धा तदर्था च स तत्र विशेषणत्वेन दण्डं विशेष्यत्वेन च पुरुषं प्रतिपद्यते प्रधानत्वात्, येन च पुरुषोपकृतदण्डेन फलमभ्युपेतं स तत्र दण्डं प्राधान्याद् विशेष्यमध्यवस्यति। अपरिगतफलोपकारस्य प्रथमदर्शने स्वरूपमात्रनिर्भासात् ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगतसामर्थ्यं द्वयमासाद्य विशिष्टत्वप्रतिपत्तिः। प्रागवगते च सामर्थ्यं नेन्द्रियस्य व्यापारः तस्याऽसन्निहितत्वात्। न च व्यापाराऽविषये तत् प्रतिपत्तिजननसमर्थम्। न च पुरःसंनिहितेऽर्थे प्रवर्तमानमिन्द्रियं तत्रापि प्रतिपत्तिमुपजनयितुं 5 समर्थम् वर्तमानकालालीढनीलादिदर्शनप्रवृत्तस्य चिरातीतभावपरम्परादर्शनप्रवृत्तिप्रसक्तेः सकलातीतभावविषय-स्मृतेरध्यक्षता भवेत्, तथा स्वगोचरचारिणी स्मृतिरपि स्फुटार्थं वर्तमानसमयमुद्भासयिष्यतीति सर्वाऽक्षमतिः

विशेषणविशेष्य भाव का अवबोध प्रत्यक्ष नहीं है।

[कल्पनाप्रेरित विशेषण-विशेष्यभाव की स्पष्टता]

कल्पना कैसे विशेषण विशेष्यभावस्थापना करती है यह भी जानने लायक है — जिस पुरुष 10 ने, दण्ड के सहकार से किसी पुरुष द्वारा की गयी चक्रभ्रमणादि अर्थक्रिया पूर्व में देखी है और अभी उसको उस की आवश्यकता है वह अपनी कल्पना से सहकारी दण्ड को (गौण होने से) विशेषणरूप में और प्रधान होने से पुरुष को विशेष्यरूप में अवगत करता है। किसी व्यक्तिने अपने हाथ से दिवार परदण्डाघात किया और दिवार में तिराड हुई- इस घटना को देखने वाला पुरुष दिवार में तिराड करनेवाले दण्ड को प्रधानता दे कर विशेष्य के रूप में और उस का आस्कालन करनेवाले 15 पुरुष को (तिराड बनाने में गौण होने से) विशेषणरूप में अवगत करता है। जिस को यह मालूम नहीं है कि दण्डादि का पुरुषादि के प्रति फलजनन में कुछ सहकार है वैसी व्यक्ति को दोनों के प्रथमदर्शन में सिर्फ उन दोनों के शुद्ध स्वरूप का ही अवलोकन होता है, उस के बाद अन्वय-व्यतिरेक के ऊहापोह से, (यानी दण्ड के सहकार से यह चक्रभ्रमण हुआ, वह नहीं होता तो भ्रमण नहीं होता इस प्रकार के ऊहापोह से) एक-दूसरे की शक्ति एक-दूसरे में जान लेने के बाद एकविशिष्ट अपर 20 की बुद्धि हो सकती है।

[पूर्वज्ञान सामर्थ्य/ सहकार का प्रत्यक्षग्रहण असंभव]

यदि कहें कि- 'इस प्रकार एक बार पहले सामर्थ्य (सहकार) भान हो जाने के बाद प्रत्यक्ष से उस का ग्रहण क्यों नहीं होगा ?' — तो उत्तर यह है कि पूर्वज्ञात सामर्थ्य इन्द्रियव्यापार का गोचर नहीं हो सकता क्योंकि अतीत भाव उस का संनिकृष्ट नहीं है। जो अपने व्यापार का विषय 25 नहीं है उस के अवबोध का सामर्थ्य उस में नहीं होता। इन्द्रिय तो दृष्टिसमक्ष उपस्थित अर्थ के ग्रहण में ही प्रवृत्त होता है इसलिये पूर्वज्ञात आदि वस्तु का भान कराने में वह असमर्थ ही है। अन्यथा, वर्तमानकालालिङ्गित नीलादि के दर्शन में प्रवृत्त इन्द्रिय की चिरभूतकालीन गृहीत वस्तुसमूह के दर्शन में भी प्रवृत्ति प्रसक्त होगी। नतीजा यह होगा कि सर्व अतीत पदार्थ विषयक स्मृतियों में अब स्मृतित्व न रह कर इन्द्रियजन्य हो जाने से प्रत्यक्षत्व प्रसक्त होगा। अथवा, अपने अतीत विषयों 30 की ग्राहक स्मृतियाँ भी इन्द्रिय के सहकार से वर्तमानकालीन रूपादिग्रहण में समर्थ हो जाने से सर्व प्रत्यक्षबुद्धियों में प्रत्यक्षत्व च्युत होकर स्मृतित्व प्रसक्त होगा।

स्मृतिर्भवेत्। न च वर्त्तमानमर्थमध्यक्षमेवोद्भासयतीति किं तत्र स्मृत्या ? यत्र हि दर्शनानवतारस्तत्र स्मृतिपरिकल्पना फलवती स्पष्टदर्शनावतारे तु वर्त्तमानसमयभाविनि रूपादौ स्मृतिप्रवृत्तिरसम्भविनी विफला चेति न तत्परिकल्पना। नन्वेवमतीते विशेषणादौ स्मृतिरेव प्रवर्त्तिष्यत इति किं तत्र विशदसंविदवतारेण ?

सा हि सन्निहितमेवार्थमवतरति, न च तदा विशेषणादयः सन्निहिताः तानवलम्बमाना निरालम्बनैव भवेत्। ततो विशुद्धरूपमात्रप्रतिभासादध्यक्षसंविद् निरस्तविशेषणमर्थमवगमयति। विशेषणयोजना तु स्मृणा-
5 दुपजायमाना अपास्ताक्षार्थसन्निधिर्मानसी। न च स्पष्टप्रतिभासाद् वर्त्तमानार्थग्राहिणीति वक्तव्यम् तामन्तरेणापि स्फुटमर्थप्रतिभासात्। न च स्मृतिमन्तरेणापि यदि विशदतनुरर्थात्मा प्रतिभातीति न तस्य ग्राहिका स्मृति-
स्तर्ह्यक्षव्यापारसद्भावे सुखमन्तरेणापि विषयावगतिरस्तीति सुखमपि विषयग्राहि न स्याद्। यतो निरस्त-
बहिरर्थसन्निधयो भावनाविर्भूततनवः सुखादयो नार्थावेदकाः स्वग्रहणपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषाम्। अक्षान्व-
10 यव्यतिरेकानुविधायिन्यो विशदसंविद एव बहिरर्थावभासिकाः पृथगवसीयन्ते सुखादिभ्यस्ता एव तदवभासिकाः,

यदि कहें कि — 'वर्त्तमानकालीन अर्थ का प्रदर्शन तो प्रत्यक्ष ही करता है (उस में विवाद नहीं है) फिर उस के ग्रहणार्थ स्मृति क्यों साहस करेगी ? जहाँ दर्शन का अवतार, दर्शन की पहुँच नहीं है ऐसे अतीत विषयों के ग्रहणार्थ ही स्मृति की परिकल्पना सफल होती है। जहाँ स्पष्ट ही वर्त्तमानकालीन रूपादि में दर्शन का अवतार संभव है वहाँ स्मृति की प्रवृत्ति संभव ही नहीं है, सम्भव होने पर
15 भी निष्फल है अतः वहाँ स्मृति की कल्पना निरवकाश है।' — हमारा भी यही कहना है कि भूतकालीन विशेषणादि का ग्रहण भी स्मृति को ही करने दो, क्यों उस के लिये शुद्ध दर्शन को श्रमित कर रहे हो ?

[शुद्ध दर्शन असंनिहित विशेषण का असंवेदक]

शुद्ध दर्शन सिर्फ संनिकृष्ट अर्थ को ही स्पर्शता है। विशेषणादि उस वक्त संनिकृष्ट नहीं होते।
20 अतः असंनिकृष्ट विशेषणादि को विषय बनाने के लिये साहस करनेवाला शुद्ध दर्शन अपने विषय से ही वंचित रह जायेगा। सारांश, प्रत्यक्ष संवेदन संनिकृष्ट विषय के शुद्ध स्वरूप (यानी विशेषणादिदायरहित) को ही प्रतिभासित कर सकता है, अत एव वह विशेषणादिदायरहित अर्थ को ही अवगत करता है। बाद में स्मृति से विशेषणादियोजना साकार होती है किन्तु वह मानसिक ही होती है (इन्द्रियजनित नहीं), उस में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की प्रेरणा नहीं होती। यदि कहें कि विशेषणादिबुद्धि (यानी स्मृति)
25 स्पष्टप्रतिभासरूप होने से वर्त्तमानस्पर्शी क्यों न मानी जाय ? तो उत्तर है कि स्मृति के विना भी स्पष्ट अर्थप्रतिभास होता है इस लिये स्मृति को वर्त्तमानार्थस्पर्शी नहीं मान सकते। यदि कहा जाय — “स्मृति के विरह में भी स्पष्ट अर्थस्वरूपभान (प्रत्यक्ष में) होता है इस लिये आप स्मृति को वर्त्तमानार्थग्राहकतया निषेध करते हैं; तो इन्द्रियव्यापार के होते हुये सुखवेदन के विना भी विषयबोध होता है इस लिये सुखादि (सुखसंवेदनादि) भी विषयग्राहि मिट जायेंगे।” — तो यह ठीक नहीं है,
30 क्योंकि सुखादि संवेदन बाह्यार्थसंनिधानहेतुक नहीं किन्तु मानसिक भावना पर निर्भर होते हैं, इस लिये सुखादि (संवेदन) कभी भी अर्थग्राहक नहीं होते, वे तो अपने आह्लादसंवेदन में ही मस्त हो कर रहते हैं। वे इन्द्रिय के साथ अन्वय-व्यतिरेक सहचारी नहीं होते। शुद्ध दर्शन ही इन्द्रियान्वयव्यतिरेकसहचारी

तद्ध, विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभाव इति ।

ननु यदि न पुरःस्थितार्थग्राही विकल्पः कथं ततस्तत्र प्रवृत्तिर्भवेत् ? यदेव विशेषणादिकं प्राक् तेनानुभूतं तत्रैव ततः प्रवृत्तिर्भवेत् । न हि स्वात्मानमनारूढेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि विज्ञानमुपलब्धम् अन्यथा शुक्लमर्थमवतरन्ती संवित्रीलार्थं प्रवर्तिका भवेत् । न च निर्विकल्पकमेव संवेदनं वर्तमानेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि, विकल्पमन्तरेणापि सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसक्तेः । न च सुखसाधनत्वनिश्चयमन्तरेण पुरःप्रकाशनमात्रेण कश्चित् 5 प्रवर्तते; इति विकल्प एव पुरोव्यवस्थितार्थग्राही, प्रवर्तकत्वात् । अक्षानुसारितया च स एवाध्यक्षम्, इति युक्तं पूर्वदृष्ट-नामादिविशेषणग्राही निश्चय इति । एतदप्यसङ्गतम्— धूमग्राह्याध्यक्षव्यतिरिक्ताऽस्पष्टावभासाग्न्यनुमानाकारस्येव विशददर्शनभृतोऽर्थाकाराद् व्यतिरिक्तविकल्पमत्युल्लिख्यमानाऽस्पष्टाकारस्य तदाऽननुभवात् । ततो, 'बहिरर्थग्राहिण्यो विकल्पमतयोऽभ्युपगन्तव्या । न पुनस्तदा विकल्पमतिः पूर्वदृष्टविशेषणमात्राध्यवसायिनी अपरा, पुरोवर्तिविशदार्थावभासाध्यक्षसंविदपरैव भेदप्रतिभासाभावादि'त्यसदेवैतत् । 10

होते हैं । इसलिये बाह्यार्थसंवेदी शुद्धदर्शन सुखादि से पृथक् ही प्रतीत होते हैं । अत एव विशद संवेदन ही बहिरर्थ-अवभासक होते हैं । जैसे यहाँ शुद्ध दर्शन ही बाह्यार्थवेदक है न कि सुखादि, ऐसे ही विकल्प भी अर्थसाक्षात्कारस्वभाववाला नहीं होता ।

[विकल्प के विना प्रवृत्ति की अनुपपत्ति]

यदि कहा जाय — अगर विकल्प दृष्टिसमक्ष स्थित अर्थ का ग्राहक नहीं है तो विकल्प से होने 15 वाली प्रवृत्ति भी कैसे होगी ? विकल्प द्वारा जिस विशेषणादि का पूर्व में स्वयं अनुभव किया है उसी विशेषणादि के प्रति विकल्प से प्रवृत्ति होती है, यह तो स्पष्ट है । विज्ञान में अस्फुरायमाण अर्थ के प्रति विज्ञान की कोई प्रवृत्ति हो नहीं सकती । अन्यथा, शुक्ल अर्थ द्योतक विज्ञान में नीलादि का स्फुरण न होने पर भी उस से नीलादि अर्थ में प्रवृत्ति प्रसक्त होगी । ऐसा नहीं कि — 'वर्तमान विषय में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रवृत्ति कर सके' — क्योंकि तब तो विना विकल्प ही सभी अर्थों में प्रवृत्ति चल 20 पड़ेगी क्योंकि सभी वर्तमान पदार्थ निर्विकल्प-विषय हो सकते हैं । ऐसा भी नहीं है कि 'पदार्थ को दृष्टिसमक्ष देखा और त्वरित प्रवृत्ति हो जाय' । जब तक देखे हुए पदार्थ में इष्टसाधनता का निश्चय विकल्प उदित नहीं होता — प्रवृत्ति नहीं होती । विकल्प ही प्रवर्तक है अत एव वह दृष्टिसमक्षस्थित अर्थ का ग्राहक सिद्ध होता है । वही इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगमन करता है अत एव प्रत्यक्ष है । निश्चित हुआ कि पूर्वदृष्ट अर्थ एवं नामादि विशेषणग्राहक निश्चय है — यह युक्तियुक्त है । 25

[स्पष्ट दर्शन ही प्रवृत्तिकारक होता है]

उक्त कथन असंगत है — धूम से जब वह्नि का अनुमान होता है तब वहाँ धूमविषयक साक्षात्कार से पृथक् ही अस्पष्ट अनलाकार अवभास होता है । प्रस्तुत में स्पष्ट दर्शन में भासमान अर्थाकार से अतिरिक्त विकल्पबुद्धि द्वारा स्फुरायमाण किसी अस्पष्टाकार का अनुभव ही नहीं होता । अत एव यह कहना कि— 30 "(प्रवर्तक होने से) मानना पड़ेगा कि विकल्पबुद्धियाँ बाह्यार्थसंवेदी होती हैं । 'पूर्वदृष्ट विशेषण मात्र की संवेदक विकल्पबुद्धि पृथक् है और दृष्टिसमक्षस्थित अर्थप्रेक्षी अध्यक्षवेदन पृथक् है ।' ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वैसा पृथक् पृथक् होने का अनुभव नहीं है ।" (यह कथन) असत् ही है ।

यतो यदि नाम पुरोवर्त्तिनमर्थ विकल्पमतिरुद्घोतयितुं प्रभवति तथापि न तत्र प्रवृत्तिः, प्रवृत्ति-
 विरचनाचतुरार्थक्रियासमर्थरूपानवभासनात्, तदवभासने ह्यर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिर्युक्ता। न चार्थक्रियासम्बन्धं
 वर्त्तमानसमयसम्बन्धिन्वर्थे ताः प्रदर्शयितुं समर्थाः तदानीं तस्याऽसंनिधानात्, असंनिधौ च न तत्र सामर्थ्या-
 वगतिः, पदार्थस्वरूपमात्रावसायात्। न च तत्स्वरूपमात्रावसायादेव सामर्थ्यावगतिः, अतिप्रसङ्गात्। ततः
 5 पुरोवर्त्तिनी प्रवर्त्तमानोऽपि न विकल्पः प्रवर्त्तकः। न च यतः पूर्वमर्थक्रिया प्रभवन्ती दृष्टा सम्प्रत्यपि
 तदर्थक्रियार्थितया तदध्यवसायात् प्रवृत्तिर्भविष्यति, यतो येन प्रागर्थक्रिया निर्वर्त्तिता तदेवेदं पुरः प्रबिभातीति
 तन्निर्भासाभावे कुतः सिद्ध्यति ? न च कल्पनैव तदध्यवसायिनी तन्निर्भासः, यतो न कल्पनाबुद्ध्यध्यवसिं
 तत्त्वं परमार्थसद्व्यवहारमवतरति, प्रत्यक्षप्रतिभालस्यैव तद्व्यवहारावतारात् तदभावे तदभावात्। न चध्यक्ष-
 बुद्धेस्तत्त्वावसायः प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामेव नीलादिरूपतावत् तन्निर्भासोदयप्रसक्तेः। अतो न कल्पना-

10 [विकल्पमति से प्रवृत्ति अशक्य]

असत् होने का यह कारण है - मान लो कि दृष्टिसमक्ष स्थित अर्थ को विकल्पबुद्धि प्रदर्शित
 करने में सक्षम है, फिर भी उस अर्थ के लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रवृत्ति कराने वाले
 अर्थक्रिया कारक समर्थ स्वरूप का भान विकल्पमति से नहीं होता। तथाविध स्वरूप का भान करानेवाला
 ही ज्ञान अर्थक्रिया इच्छुक व्यक्तियों को प्रवृत्ति करा सकता है। विकल्पबुद्धियाँ वर्त्तमानकालीन अर्थ में
 15 अर्थक्रिया के सम्बन्ध को दर्शाने में सक्षम नहीं होती, क्योंकि उस काल में अर्थक्रिया विकल्प से सन्निकृष्ट
 नहीं होती, अर्थक्रिया असन्निकृष्ट होने से कौन उस के लिये सक्षम है उस का पता विकल्पमति को
 कैसे चलेगा ? विकल्पमति में तो सिर्फ पदार्थ के स्वरूप का ही अवबोध हुआ है न कि अर्थक्रियासामर्थ्य
 का। पदार्थ के स्वरूपमात्र के अवबोध होने के साथ ही उस के सामर्थ्य का भान नहीं हो जाता।
 ऐसा अगर होता तब तो हर पुरुष को औषध आदि देख कर ही उस के रोगशामक सामर्थ्य का
 20 पता चल जाने का अतिप्रसंग होगा। सारांश, दृष्टिसमक्ष उपस्थित अर्थ के ग्रहण में प्रवृत्त होने पर
 भी विकल्पमति प्रवृत्तिकारक नहीं होती।

[भूतपूर्व अर्थक्रियासाधक अर्थ का वर्त्तमान अर्थ से अभेद कैसे ?]

यदि कहें - 'जिस पदार्थ से अर्थक्रिया होती हुयी पहले भूतकाल में जान रखी है, वर्त्तमानकाल
 में तथाविध अर्थक्रिया का चाहक पुरुष उस के विकल्पात्मक अध्यवसाय से उस में प्रवृत्ति करता है
 25 - इस प्रकार विकल्प प्रवृत्ति करा सकेगा।' - तो यह ठीक नहीं, क्योंकि किस को पता है कि
 वर्त्तमानकालीन विकल्पगोचर दृष्टिसमक्ष उपस्थित अर्थ वो ही है जिस से पहले कुछ अर्थक्रिया निष्पन्न
 हुयी थी ? ऐसा पता न चले तब तक प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि कहें कि - अर्थक्रियासमर्थ अर्थ
 अवभासक कल्पना (विकल्प) ही उक्त प्रकार से पता कर लेती है। - तो यह ठीक नहीं है; कल्पनाबुद्धि
 से कल्पित पदार्थ कभी भी पारमार्थिक सत् के व्यवहारों में प्रवेशपात्र नहीं होता। प्रत्यक्षदर्शित अर्थ
 30 ही पारमार्थिकव्यवहारपात्र होता है। जिस का प्रत्यक्ष नहीं होता वह पारमार्थिकव्यवहारपात्र नहीं होता।
 प्रत्यक्ष बुद्धि से कभी भी वर्त्तमान अर्थ में अर्थक्रियाकारित्व का ग्रहण होता नहीं है। ग्रहण मानेंगे
 तो - जैसे इन्द्रियसंनिर्कर्ष होते ही झटिति नीलादिरूपता का ग्रहण होता है उस के साथ साथ उस

ध्यक्षविषयस्तत्त्वम् आद्यदर्शनानधिगतत्वात्।

अथ सहकारिवैकल्याद् यद्यप्याद्यदर्शनावभासि न तत्त्वं तथापि न तत्रास्ति। न हि तीक्ष्णांशुकर-
निकरोपहतदृशां गर्भगृहाद्यनुप्रवेशानन्तरमप्रतिभासमाना अपि घटादयो भावाः स्वस्थीभूतनेत्राणां न प्रतिभान्ति;
न च प्रागप्रतिभासनात्र सन्ति। यथा च सहकारिवशात् पूर्वमप्रतिभाता अपि पश्चात् प्रतिभान्ति तथात्राप्याद्यदर्शनं
शुद्धार्थावभासि यद्यपि तत्त्वं नानुभवति स्मरणसहायाक्षप्रभवा तु प्रत्यभिज्ञा तदनुभविष्यतीति न तत्त्वस्या- 5
सत्त्वम्। नाप्याक्षान्वय-व्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा न प्रत्यक्षमिति। अत्रोच्यते— यद्यक्षप्रभवा संविदाद्या
न तत्त्वमवभासयति पश्चादपि तदविषयत्वात्त्रावभासयेत् यथा ह्यक्षमविषयत्वात्रैकत्वे प्रतिपत्तिं विदधाति
तथा स्मरणसहकृतमपि न तत्र तां विधास्यति अविषयत्वाविशेषात्। न हि परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं
गन्धे प्रतिपत्तिकृदुपलब्धमिति न तत्त्वग्रहणमध्यक्षात्।

के अर्थक्रियाकारित्व का भी पता लग जायेगा जो प्रमाणसिद्ध नहीं है। सारांश, कल्पनाध्यक्ष (सविकल्प 10
प्रत्यक्ष) का विषय विशेष्य-विशेषणभावादि तात्त्विक नहीं है क्योंकि इन्द्रियसंनिकर्षजन्य आद्य प्रत्यक्ष
से उस का प्रदर्शन नहीं होता।

[उत्तरकालीन सविकल्प प्रत्यक्ष से तत्त्व का अवभास]

यदि कहा जाय — आद्यदर्शनकाल में सहकारिकारण की अनुपस्थिति से तत्त्व (अर्थक्रिया) का
अवभास नहीं होता यह सच है, किन्तु बाद में भी नहीं होता ऐसा तो नहीं है। जब आदमी प्रचंड 15
सूर्यप्रकाश में बाहर घूम कर घर के भीतर प्रवेश करता है तब अतिप्रकाश से व्याहत चक्षु को प्रारम्भ
में घर में कुछ भी नहीं दीखता, किन्तु बाद में नेत्र स्वस्थ होने पर, 'घटादि भाव नहीं दिखते'
— ऐसा तो नहीं है! पहले घटादि प्रतिभास नहीं हुआ इस लिये वे घटादि वहाँ नहीं थे ऐसा भी
नहीं है। जैसे पूर्व में अप्रकाशित घटादि बाद में सहकारी की सहायता से भासित हो सकते हैं,
वैसे ही यहाँ प्रस्तुत में शुद्धार्थग्राहि आद्य दर्शन से तत्त्व (अर्थक्रिया) का अनुभव नहीं होने पर भी 20
स्मृति की सहायता से इन्द्रियजन्य प्रत्यभिज्ञा से तत्त्व का अनुभव हो सकता है। इस लिये तत्त्व
के सत्त्व का अपलाप नहीं हो सकता! 'प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षबोधात्मक नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते।
प्रत्यभिज्ञा भी इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक सहचार का अनुविधान करती है, इस लिये इन्द्रियजन्य होने
से प्रत्यक्षात्मक ही है।

[अध्यक्ष से अभेदतत्त्व का अवभास अशक्य]

इस के प्रतिकार में बौद्ध कहता है — इन्द्रियजन्य आद्य दर्शन जब तत्त्व का अवभास नहीं
कराता तो बाद में भी वह उस का अवभास करा नहीं सकता, क्योंकि वह उस का विषय नहीं
है। उदा० एकत्व यानी पूर्वापर का अभेद अध्यक्ष का विषय नहीं है इसलिये वह एकत्व का अवभास
नहीं करता, इसी तरह प्रस्तुत में स्मृति की सहायता मिलने पर भी, अपना विषय न होने से ही
तत्त्व का अवभास नहीं करा सकेगा। देखिये — गन्ध लोचन का विषय नहीं है तो परिमल (सुगन्ध) 30
की स्मृति का सहकार मिलने पर भी चाक्षुष अध्यक्ष कभी भी गन्ध का साक्षात्कार नहीं करता।
इसी तरह अध्यक्ष तत्त्व का भी अवभास कर नहीं सकता।

किञ्च, किं कुर्वाणा स्मृतिरिन्द्रियस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यते ? पूर्वापरस्य दौकनमिति चेत् ? ननु विनष्टेऽप्यर्थे स्मृतिरुदयन्ती दृष्टेति कथं तत्सन्निधापिते पौर्वापर्ये प्रवर्तमानाध्यक्षधीः सत्यार्था भवेत् ? अथ यदुपरतं वस्तु तद्ग्राहिणी बुद्धिर्न सत्यार्थग्राहिणीति युक्तम् अनुपरतं त्वर्थमवगच्छन्ती कथं सा न सत्यार्था ? अयुक्तमेतत्; यतः स्मर्यमाणस्यार्थस्यानुपरतिः कुतोऽवगता ? न स्मरणात्, व्युपरतेऽपि स्मृतिप्रवृत्तेरित्युक्तत्वात् । न च स्मरणोपनीतपौर्वापर्यस्य दर्शने प्रतिभासनात् तदप्रच्युतिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि— स्मर्यमाणस्यार्थस्यानस्तमयसिद्धेस्तदुपनीते तत्र दर्शनप्रवृत्तिः सिद्ध्यति, तस्मिद्धौ च स्मरणोपनीतस्यानस्तमयसिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयत्वम् ? अथ स्मृतिः सम्प्रति प्रतिभासविषयादर्थद् भिन्नं विषयमध्यवसन्ती निरालम्बना स्यात् प्रतिभासविषयं तमेवार्थमुल्लिखन्ती तु कथमसदर्थविषया ? न, दर्शनगृहीतमेवार्थमुल्लिखतीत्यत्र प्रमाणाभावात् स्मरणोपनीतैकत्वावभासिन्यध्यक्षमतिः सत्यार्थग्राहिणी सिद्धा ।

10 [स्मृतिसहकृत अध्यक्ष सत्यार्थग्राहि नहीं]

दूसरी बात, स्मृति क्या सहकार देती है ? जिस से कि वह इन्द्रिय की सहकारी बन सके ? 'इन्द्रिय के सामने पूर्वापर भाव को उपस्थापित करना' ऐसा सहकार असंगत है। अरे ! स्मृति तो विनष्टार्थ के ग्रहण में भी तत्परता दिखाती है, सोचो कि उस से उपस्थापित पूर्वापरभाव के ग्रहण में अध्यक्षबुद्धि कैसे प्रवृत्त हो सकेगी ? कदाचित् प्रवृत्ति हुयी तो वह सत्यार्थग्राहिणी कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय — वस्तु नष्ट हो गयी बाद में उस की ग्राहक बुद्धि सत्यार्थग्राहिका नहीं हो सकती यह हकीकत है, किन्तु विद्यमान है तो उस की ग्राहक बुद्धि क्यों सत्य नहीं होगी ? प्रत्यभिज्ञा के काल में प्रत्यक्ष स्मृतिउपस्थापित विद्यमान अर्थ को ग्रहण करे तो असत्य नहीं हो सकता। — यह गलत है। कैसे आपने मान लिया कि प्रत्यक्षकाल में स्मृतिदौकित अर्थ जीवित है ? जीवित होने का प्रमाण उस की स्मृति नहीं है, स्मृति तो विनष्ट अर्थ का भी ग्रहण करती है, यह पहले कहा जा चुका है। यदि कहें कि — 'स्मृति से प्रतिपादित, एक ही अर्थ का पूर्वापरभाव प्रत्यक्ष में भासित होता है अत एव वह अर्थ जीवित सिद्ध होता है।' — तो यहाँ इतरेतराश्रय दोष गले पड़ेगा। कैसे यह देखिये — स्मृति से प्रतिपादित अर्थ की विद्यमानता सिद्ध होने पर स्मृतिप्रेरित अर्थ के ग्रहण में प्रत्यक्ष की गति सिद्ध होगी, प्रत्यक्ष की उस में गति सिद्ध होने पर स्मृतिप्रेरित अर्थ की विद्यमानता सिद्ध होगी, यहाँ अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं आयेगा ?

[दर्शनप्रदर्शित अर्थ का स्मृति द्वारा उल्लेख निष्प्रमाण]

यदि कहा जाय — दर्शन से प्रदर्शित वर्तमानकालीन अर्थ से भिन्न विषय को यदि स्मृति अध्यक्षवसित करती है तो मान सकते हैं कि स्मृति निरालम्बन यानी नष्ट यानी असद्विषया है। किन्तु जब दर्शनप्रदर्शित अर्थ को ही स्मृति उल्लिखित करती है तब वह असद्विषया कैसे होगी ? — यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'दर्शनप्रदर्शित अर्थ का ही स्मृति उल्लेख करती है' ऐसा मानने के लिये कोई ठोस सबूत नहीं है। सारांश, स्मृतिप्रतिपादित अर्थ और स्वगृहीत (विकल्पगृहीत) अर्थ के अभेद को दर्शानेवाली प्रत्यक्षबुद्धि (यानी विकल्पमति) सत्यार्थ की ग्राहिका है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ ।

न च पूर्वदर्शनमेव पूर्वरूपसङ्गतमर्थमनुभवदेकत्वे प्रमाणम्। यतो यदि पूर्वरूपतामर्थस्याऽऽद्य-
दर्शनमेवावभासयति तथा सति पूर्वापरैकत्वं तदेवावगमयिष्यतीति तत्र स्मृतिः प्रवर्तमाना व्यर्था। न च
तदपि पूर्वरूपतां तस्यावभासयितुं क्षमम् तस्य सन्निरहितमात्रविषयत्वात्। पूर्वरूपता हि पूर्वदेशकालदशासम्बन्धिता,
पूर्वदेशादीनां च तद्दर्शनेऽप्रतिभासनाद् न तत्स्पर्शरूपप्रतिभासस्तत्र संभवी। न हि तदप्रतिभासे तत्सम्ब-
न्धिपदार्थरूपप्रतिभासः, अन्यथा नीलताऽप्रतिभासेऽपि पीते नीलसम्बन्धिताऽवगतिर्भवेत्। तन्नैकत्वग्राहिण्य- 5
ध्यक्षमतिः।

यच्च 'दृष्टता प्रत्यक्षग्राह्या' इति परैरुच्यते तत्र दृष्टता यदि तद्दृशि प्रतिभातता तदा वर्तमानतैव।
अथ पूर्वदृशि प्रतिभातता तदा पूर्वदृशोऽप्रतिभासने कथं तत्प्रतिभातताऽवभासः सम्प्रति संवेदने ? तत्र
हि स्वदृष्टतया संनिहितं रूपमाभातीति सैव तत्र युक्ता, पूर्वदर्शनं तु प्रत्यस्तमितमिति तद्दृष्टताऽपि व्यु-
पगतैवेति कथं सा वर्तमानदृशि प्रतिभासेत ? तदभ्युपगमे वा तद्दृशो निरालम्बनत्वप्रसक्तिः। 10

[पूर्वदर्शन से पूर्वरूपताविशेषित अर्थ का ग्रहण अशक्य]

यदि कहें कि — 'पूर्वदर्शन ही पूर्वरूपतासंकलित अर्थ का अनुभव करता हुआ पूर्वापर की एकता
को प्रमाणित कर देगा।' — ऐसा नहीं होगा, यदि आद्यदर्शन ही अर्थ की पूर्वरूपता का ग्रहण कर लेगा
तो उस दशा में वह पूर्वापर एकत्व को अवभासित कर देने से, पूर्वरूपताग्रहण करनेवाली स्मृति निरर्थक
बन जायेगी। वास्तव में तो आद्यदर्शन भी पूर्वरूपता को प्रदर्शित करने में सक्षम नहीं हो सकता, क्योंकि 15
वह सिर्फ संनिकृष्ट वस्तु को ही ग्रहण कर सकता है, पूर्वरूपता दर्शनजनक नेत्र की सन्निकृष्ट नहीं होती।
पूर्वरूपता का पर्यायार्थ है पूर्वदेश-पूर्वकाल या पूर्वदशा का संसर्ग। आद्यदर्शन में पूर्वदेशादित्रिक में से एक
का भी प्रतिभास नहीं होता। इस लिये आद्यदर्शन में पूर्वदेशादिसम्बद्ध अर्थस्वरूप का प्रतिभास असम्भवित
है। पूर्वदेशादि के प्रतिभास के विरह में उन से सम्बद्ध अर्थ के स्वरूप का प्रतिभास (= प्रकाशन) शक्य
नहीं है। ऐसा नहीं मानेंगे तो नीलरूपता का प्रतिभास न होने पर भी नीलसम्बद्धस्वरूपादि का बोध प्रसक्त 20
होगा। सारांश, अध्यक्षबुद्धि एकत्व का अध्यवसाय नहीं करती।

[दृष्टता दर्शन से गृहीत नहीं होती]

कुछ तीर्थिक कहते हैं कि — जब घटदर्शन होता है तब घट में 'दृष्टता' (प्राकट्य) आविर्भूत
होती है, फिर प्रत्यक्ष से 'दृष्टो मया घटः (= घट मुझ से दृष्ट है)' ऐसा दृष्टता का बोध होता 25
है। मतलब, भूतकाल गर्भित दृष्टता प्रत्यक्षग्राह्य है। इन के प्रतिकार में बौद्ध कहते हैं — दृष्टता
का सिर्फ इतना ही अर्थ हो कि दर्शन में अर्थ की भासमानता, तो यहाँ भूतकाल का नहीं वर्तमानकाल
का ही उल्लेख है। यदि कहें कि दृष्टता यानी, पूर्व (भूतकालीन) दर्शन में भासितत्व, तो प्रश्न खड़ा
होगा कि वर्तमान प्रत्यक्ष में पूर्वकाल एवं तत्सम्बद्ध दर्शन प्रतिभासित ही नहीं होता तो वर्तमान
संवेदन में, तत्कालीनदर्शन में भासमानत्वरूप दृष्टता कैसे स्फुरित होगी ? प्रत्यक्ष संवेदन में सिर्फ
वही अर्थस्वरूप भासित होता है जो स्वदर्शनविषयीभूत हो कर संनिकृष्ट रहता है। अत एव स्वदृष्टता 30
ही उस में युक्तिसंगत है। पूर्वदर्शन तो स्वकाल में विनष्ट है, उस के साथ पूर्वदर्शनदृष्टता भी विनष्ट
हो ही चुकी है, कैसे वह वर्तमान संवेदन में भासित हो सकेगी ? विनष्ट रूप का भी उस में

न च, पूर्वदृश्यमानता तत्र व्युपरता दृष्टता तु तदैवोत्पन्नेति कथमसती येन तां प्रतीयती प्रत्यक्षमतिर्निरालम्बना भवेत् ? — यतो यदि दृष्टता तत्र संनिहिता भवेत् तदा प्रथममागतो नीलादिरूपतामिव तामप्यधिगच्छेत्, न चाधिगच्छतीति ज्ञानस्वभावोऽसाधारणतयाऽसौ, नार्थस्वरूपमिति कुतोऽध्यक्षावसेया ? तथाहि— पूर्वदर्शन-मनुस्मरणेव पूर्वदृष्टतां व्यवहारी तत्राध्यारोपयति विस्मरणे तदनध्यवसायात्, यच्च स्मृतिरध्यवस्यति स्वरूपं न तद्दर्शनपथोपयुक्तम् आकारभेदात्। न च तद्दर्शन-स्मरणे एकं विषयं विभूतः 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्यध्यवसायात्। यतः किं स्मर्यमाणं दृश्यमानमानतया रूपं प्रतीयते आहोस्विद् दृश्यमानं स्मर्यमाणतयेति विकल्पद्वयम्। तत्र यद्यद्यः पक्षस्तथा सति स्मर्यमाणं परिस्फुटतया रूपमाभातीति कथं तस्य परोक्षता ? अथ द्वितीयः तत्रापि दृश्यमानं स्मर्यमाणेन रूपेणावभातीति सर्वं परोक्षं भवेदिति न काचिदध्यक्षमतिः भान मानेगे तो वह (वर्तमान दर्शन) निर्विषयक ही (यानी असदर्थग्राही होने से अप्रमाण) प्रसक्त होगा।

10 [दृष्टता अर्थस्वरूप नहीं, पूर्वज्ञानस्वरूप है]

यदि कहा जाय — 'पूर्वकाल में तो यहाँ दृश्यमानता थी और वह तो दर्शनकाल में अतिक्रान्त है, दर्शनकाल में तो दृष्टता ही उत्पन्न हो कर विद्यमान है उसे असत् क्यों ठहराते हो ? विद्यमान तो सत् है, उस को प्रदर्शित करनेवाली प्रत्यक्षबुद्धि निर्विषयक कैसे हो सकती है ?' — उत्तर में कहते हैं कि यदि उस अर्थ में दृष्टता सत् एव संनिहित है तो जिसने पहले नहीं देखा है और पहली बार उधर आ गया और देखता है उस को भी नीलादिरूपता के साथ वह दृष्टता प्रत्यक्ष हो जायेगी। नहीं होती है उसका मतलब वह दृष्टता पूर्वज्ञान का स्वभाव है न कि अर्थ का असाधारण स्वरूप। ऐसी स्थिति में कैसे उसे प्रत्यक्षग्राह्य मानेंगे ? देखिये — वर्तमान में कोई पूर्वदृष्टता का दर्शन के बाद स्मरण करनेवाला व्यवहर्ता ही पूर्वदृष्टता का उस में अध्यारोप करता है, अगर याद नहीं करता, (विस्मरण हो गया) तो वह उसे अध्यवसित (यानी आरोपित) भी नहीं कर सकता। याद जब करता है तब स्मृति में जो 'पूर्वदृष्टता' स्वरूप स्फुरित होता है वह दर्शनपथ में, यानी दर्शनकारक इन्द्रियों के लिये अनुपयुक्त है क्योंकि स्मृतिप्रेरित आकार और इन्द्रियजन्यदर्शनप्रदर्शित आकार दोनों में भेद है।

[दृश्यमान और स्मर्यमाण के भेद का उपपादन]

यदि कहें — 'पूर्वदृष्ट को देखता हूँ' इस अध्यवसाय से मानना पड़ेगा कि दर्शन और स्मरण, दोनों का विषय एक ही है। — तो यह ठीक नहीं है। यदि दर्शन-स्मरण एक हैं तो दो विकल्प खडे होंगे। (a) याद किया जानेवाला विषय दृश्यमान के रूप में प्रतीत होता है ? या (b) दृश्यमान विषय 'याद किया जा रहा है' इस रूप से प्रतीत होता है ? प्रथम विकल्प मानते हैं तो याद किया जानेवाला अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीत होने के कारण प्रत्यक्ष हो गया, उसे परोक्ष (स्मृतिविषय) कैसे कहेंगे ? दूसरे विकल्प को मानेंगे तो दृश्यमान अर्थ मात्र स्मृतिविषयत्वेन प्रतीत होने के कारण परोक्ष बन गये, विषयमात्र परोक्ष सिद्ध होने पर कौन सा ज्ञान प्रत्यक्षरूप बचेगा ? बचेगा तो भी वह सत्यार्थग्राही तो नहीं होगा। सच तो यह है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान सिर्फ वर्तमान अर्थ को ही जानता है, उस को न छूने वाली स्मृति परोक्ष विषय को ही अवगत करती है, दोनों के ग्राह्य पृथक् हैं अत एव स्मृति एवं दर्शन के विषयों का एकत्व असंभवित है। सर्वत्र प्रतिभासभेद ही

सत्यार्था स्यात्। अतोऽक्षधीर्वर्तमानमेव रूपं प्रत्येति स्मृतिरपि तदसंस्पर्शि परोक्षं रूपमिति न तयोरैक्यम् प्रतिभासभेदस्य सर्वत्र भेदकत्वात् तस्य च विशदाविशदरूपतयावभासमानयोर्दृश्य-स्मर्यमाणयोः सद्भावात् कथं न भेदः ?

किञ्च, यदि शुद्धमेव दर्शनं स्मृतिनिरपेक्षं पूर्वरूपताग्राहि, नन्वेवं भाविरूपताग्राहि प्रथमदर्शनं किं नोपेयते ? न हि भावि-भूतयोरसंनिहितत्वे विशेषः येनैकत्राध्यक्षवृत्तिरपरत्र नेति भवेत् ? न च 'पूर्वदृष्टं 5 पश्यामि' इति व्यवसायात् पूर्वरूपे एव दर्शनव्यापारः, 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इत्यध्यवसायाद् भाविरूपेऽपि दर्शनव्यापारप्रसक्तेः। अतोऽपाकृतम्— "इदानींतनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्" (०) इति। न च पूर्वदृशा तदा भाविकालताया असंनिधानादग्रहणम्, सम्प्रति दर्शनकाले पूर्वरूपताया अप्यसंनिधेस्ततोऽग्रहणप्रसक्तेः। यदि पुनर्भाविरूपतामप्यध्यक्षमनुभवति 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इति व्यवहृतिदर्शनात्, तर्हि प्रथमसंवेदनमेव मरणावधिरूपपरम्परामधिगच्छतीति तदैव मृतो भवेत् ? न च 'मृतिसद्भावे मृतो भवति, उत्पत्तिसमये 10 तु नासाविति कुतोऽयं दोषः' ?, यतो यदि तदासौ नास्ति कथमसती सा दर्शने प्रतिभाति ? तदप्रतिभासने

अर्थभेदसिद्धिकारक होता है, दृश्य अर्थाकार स्पष्ट भासित होता है स्मृतिविषय अर्थाकार अस्पष्ट भासित होता है — इस प्रकार प्रतिभासभेद यहाँ विद्यमान होने से स्मृतिविषय और प्रत्यक्षग्राह्य अर्थ का भेद क्यों नहीं होगा ?

[पूर्वरूपता का ग्रहण माने तो भाविरूपता के ग्रहण की आपत्ति] 15

और एक बात — शुद्ध दर्शन को आप जब पूर्वरूपता का ग्राहक मान लेते हो, तब उसी तरह आद्य शुद्ध दर्शन को भाविरूपता का ग्राहक क्यों नहीं मानते ? जैसे भाविकालीन वस्तु वर्तमान दर्शन को असंनिकृष्ट है वैसे भूतकालीन भी वस्तु वर्तमान दर्शन को असंनिकृष्ट है, कोई भेद नहीं है कि जिससे पूर्वरूपता के प्रति अध्यक्ष की वृत्ति पक्षपात करे और भाविरूपता के प्रति न करे। यदि कहा जाय — 'पूर्वदृष्ट को देख रहा हूँ' ऐसा अनुभव पूर्वरूपता के ग्रहण में ही दर्शनव्यापार को सिद्ध 20 करता है, न कि भाविरूपता के ग्रहण में।' — ऐसा कहेंगे तो 'इस (घटादि) चीज को पहले ही मैं देख चुका हूँ' इस अध्यवसाय से, दर्शन के द्वारा 'इस' (यानी पूर्व दर्शनकाल की अपेक्षा भाविकालीन) चीज को पूर्वकाल (दर्शनकाल) में ग्रहण होने का सिद्ध होने से भाविरूप में भी दर्शन का ग्रहणाधिकार क्यों सिद्ध नहीं होगा ? अत एव आप के ग्रन्थ में जो कहा है कि 'इस काल का अस्तित्व (वर्तमानकालीन चीज) पूर्वबुद्धि से अवगत नहीं है।' — यह भी फिर निरस्त हो जायेगा। 25

[पूर्व-भाविरूपता उभय के प्रति असंनिकृष्टता तुल्य]

यदि कहें कि — 'पूर्व दर्शन से भाविकालता का ग्रहण स्वकाल में उस के असंनिकृष्ट होने से शक्य नहीं है' — तो इसी तरह वर्तमान में पूर्वरूपता भी दर्शन की संनिकृष्ट नहीं है इस लिये वर्तमान दर्शन से पूर्वरूपता का ग्रहण लुप्त हो जायेगा। यदि कहें कि — 'चलो ! मान लेंगे, दर्शन भाविरूपता का भी अनुभव करता है क्योंकि 'पहलेही यह मैंने देख लिया है' — ऐसा व्यवहार होता दीखता है 30 — तो उस की कोई भाविकालसीमा न होने पर 'पहले मैंने इस चीज को देख लिया है' इस अनुभव के आधार से, आद्यदर्शन से भावि मरणपर्यन्त सर्व पर्यायों का ग्रहण हो जाने से तत्काल ज्ञाता की

तु कथं भाविरूपपरिगतो भावोऽवभातो भवेत् ? यदेव तत्र वर्तमानं रूपमाभाति तदेवाध्यक्षमस्तु न भावि, यदि तु तदपि तदाध्यक्षं तदाद्याध्यक्ष एव मृत्युपाधेः सकलविषयस्य प्रतिभातस्यास्तमयात् तद्विषया तदुत्तरकालभाविनी सर्वा मतिर्निर्विषया भवेत्।

किञ्च, भावि-भूतयोरध्यक्षविषयत्वे भिन्नमपि तदध्यक्षविषयं भवेदिति सर्वस्त्रिकालदर्शी भवेदिति
5 “भविष्यंश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति न प्रतिभाति” () इति निराकृतं दृष्टव्यम्, भावि-भूतकालतावद् भविष्यतो धर्मादेर्दर्शनकालेऽसतोऽपि प्रतिभासनात्। न चाऽभिन्नयोर्भाविभूतरूपयोः प्रतिभासेऽपि भाविधर्मादेर्भिन्नत्वात् प्रतिभासः, भेदेनाध्यक्षप्रतिभासनाऽविरोधात्। दृश्यन्त एव हि भिन्नरूपा घट-पटादयो-
ऽध्यक्षप्रतिभासमादधानाः। तद् न भाविभूतरूपताऽध्यक्षावसेयेति स्मृतिविषयः पूर्वरूपता दर्शनावभासिनोऽर्थस्य

मौत आ जायेगी! मतलब, ज्ञाता मृत बन जायेगा। यदि कहें कि — ‘मृत्यु के आ जाने पर ही ‘मृत’
10 ऐसा व्यवहार होता है, स्व-उत्पत्ति समय में मृत्यु संनिहित न होने से ‘मृत’ व्यवहार नहीं होगा। क्या दोष है ?’ — इस का उत्तर यह है कि मृत्यु उस काल में संनिहित नहीं है यानी ‘भावि’ है। आपने कहा है कि दर्शन से भाविरूपता का ग्रहण मान लेंगे — तो अब क्यों ऐसा कहते हैं कि मृत्यु (भाविरूप) संनिहित न होने से ‘मृत’ ऐसा व्यवहार नहीं होगा ? जब कि भाविरूप (मृत्यु) भी पूर्व दर्शन से गृहीत होने का तो आपने मान ही रखा है। अब आप ही कहिये कि मृत्यु उस काल में नहीं है यानी
15 असत् है तो वह पूर्व दर्शन में कैसे प्रतिबिम्बित होगा ? यदि पूर्वदर्शन में मृत्यु भासित नहीं होता तो भाविरूपतानुगत भाव पूर्वदर्शन में भासित कैसे कहा जा सकेगा ?

निष्कर्ष, दर्शन में जो वर्तमान रूप भासित होता है वही प्रत्यक्ष माना जाय, भाविरूप प्रत्यक्ष न माना जाय। यदि भाविरूप का प्रत्यक्ष माना जायेगा तो मृत्युपर्यन्त सभी भाविरूपों का वर्तमान दर्शन में ही प्रतिभास स्वीकारना पड़ेगा, फलतः मृत्यु पर्यन्त सभी भावि पर्याय अभी वर्तमान काल
20 में ही प्रतिभासित हो कर अस्त हो जाने से उन भावि पर्यायों को ग्रहण करने वाली तत्तत्कालीन सर्व बुद्धियाँ निर्विषयक (क्योंकि उन का विषय अस्त हो चुका है इस लिये निर्विषयक) ठहरेगी।

[पूर्वरूपता का ग्रहण मानने पर त्रिकालदर्शित्व प्रसक्ति]

और भी एक बात :- यदि पूर्वरूपता और भाविरूपता को अध्यक्ष का विषय माना जाय तो, दृश्यरूपता और स्मर्यमाणता (यानी स्मृतिविषयता) का भेद रहने पर भी वह प्रत्यक्ष विषय हो सकते
25 हैं, उस में भूत-भावि में कोई सीमांकन न रहने से ज्ञाता मात्र त्रिकालदर्शी हो जायेगा। फिर यह जो आप कहते हैं कि “भविष्य में होने वाली घटना वर्तमान ज्ञानकाल में न होने से उस में नहीं भासती” यह कथन निरर्थक हो गया! कारण, अब तो आपके कथनानुसार, भाविकालता और भूतकालता जैसे वर्तमान में सत् न होने पर भी दर्शन में भासते हैं तो भावि धर्मादि भी दर्शन में प्रतिभासित होंगे भले उस काल में असत् हो। यदि कहें कि — ‘पूर्वरूपता और भाविरूपता एक अर्थगत होने
30 से अभिन्न हो कर भासित हो सकते हैं लेकिन भाविधर्मादि तो वर्तमान अर्थ से भिन्न होने से उस का प्रतिभास नहीं होगा’ — तो यह अनुचित है क्योंकि भिन्न रहते हुए भी भाविरूपता की तरह प्रत्यक्षग्राह्य होने में क्या विरोध है ? क्या नहीं देखते कि घट-पटादि अर्थ भिन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष

भावरूपता चानुमानावसेया। तेन (श्लो०वा०प्रत्यक्ष०श्लो०२३५-२३६ उक्त०। पूर्वा०)

न च स्मरणतः पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् ॥ वार्यते केनचिन्नापि तदिदानीं प्रदुष्यति। इति निरस्तम्। यतो यदि स्मरणादूर्ध्वं वर्तमानरूपे इन्द्रियस्य प्रवर्तनमभिप्रेतं तथा सति वर्तमानमात्रपरिच्छेदाद् न स्मरणोपद्वैकितैकत्वग्रहः।

अथ पूर्वरूपे तत्रापि यथा प्राक् स्मृतेर्दर्शनं पूर्वरूपतायामविषयत्वाद् न प्रवर्तते तथा तदुत्तरकालमपि, 5
अविषयत्वाऽविशेषात्। 'तदा प्रवर्तने चक्षुषो न दोषः' [] इत्यत्रापि यद्यसंनिहिते स्मरणोपद्वैकिते नयनं प्रवर्तते तर्ह्यविद्यमानविषयत्वात् तदालम्बनं ज्ञानं निर्विषयं भवेदिति कथं न दोषः ? तिमिरोपहतदृशोऽप्यसत्यदर्शन-
मेव दोषः तच्चात्रापि समानमिति कथं न दोषः ? अथ वर्तमाने स्मृत्युत्तरकालं तत् प्रवर्तमानमदुष्टं
तर्हि नैकत्वप्रतीतिः। न च यदेव वर्तमानं तदेव पूर्वमिति भेदाऽभावात् तत्त्वग्रहः, अभेदस्याऽसिद्धेः—
न हि दृश्यमान-स्मर्यमाणयोरभेदसिद्धिः, दृश्यमाने स्मृतेः स्मर्यमाणे च दृशोऽनवतारात्। न च स्मरणोपनीते 10

में भासित होते हैं। यदि इन विपदाओं से बचना है तो मानना पड़ेगा कि पूर्वरूपता एवं भावरूपता प्रत्यक्षगोचर नहीं है, पूर्वरूपता सिर्फ स्मृति का विषय है जब कि दर्शनगोचरार्थ की भावरूपता अनुमानगोचर है। यही सबब है कि श्लोकवार्तिक का यह कथन भी निरस्त हो जाता है जिस में कहा है कि "स्मृति के पश्चात् उसी विषय में प्रवृत्ति करते हुए इन्द्रिय को कौन रोक सकता है ? वर्तमान में वह इन्द्रिय दूषित भी नहीं है।" — स्मृति के पश्चात् यदि वर्तमान अर्थ के ग्रहण में 15
इन्द्रिय प्रवृत्त होगी यह मान लिया जाय तो भी उस से मात्र वर्तमानरूपता का ही बोध हो सकेगा, पूर्वरूपता का नहीं, अत एव स्मृतिनिवेदित पूर्वरूपता के साथ वर्तमानरूपता का एकत्व दर्शनगोचर नहीं हो सकता।

[उत्तरकाल में पूर्वरूपता का चाक्षुषग्रहण असम्भव]

यह ठीक ही है कि — स्मृति के पहले, अपना विषय न होने के कारण दर्शन पूर्वरूपता के 20
ग्रहण में नहीं प्रवृत्त होता, ऐसे ही उत्तरकाल में भी पूर्वरूपता के ग्रहण में नहीं प्रवृत्त होगा, क्योंकि तब भी वह अविषय होने में कोई फर्क नहीं है। अत एव यह कहना कि "उत्तरकाल में पूर्वरूपता के ग्रहण में चक्षु की प्रवृत्ति होने में कोई दोष नहीं है" () वहाँ सोचना पड़ेगा कि यदि नयन असंनिकृष्ट स्मृतिनिवेदित अर्थ के ग्रहण में चेष्टा करेगा तो तद्विषयक ज्ञान असद्विषयक हो जाने से निर्विषयक बन जाने का दोष क्यों नहीं होगा ? तिमिररोग से उपहत नेत्र का भी 'असद्विषय को 25
देखना' यही तो दोष है, प्रस्तुत में भी यहाँ 'असद् विषय को देखना' यह दोष क्यों नहीं ?

यदि कहें कि — 'स्मृति के बाद उसी अर्थ में दर्शन की प्रवृत्ति होने में दोष नहीं है' — तो भी एकत्वप्रतीति नहीं हो सकेगी। यदि कहें कि — 'जो अभी वर्तमान है वही पहले पूर्वतन था, पूर्वतन और अद्यतन में भेद नहीं है। अतः पूर्वोत्तर में एकत्व का ग्रह हो जायेगा' — नहीं, भेदाभाव ही अप्रसिद्ध है फिर एकत्व ग्रह कैसे होगा ? वर्तमान में दृश्यमान और स्मृतिविषय भूतकालीन पदार्थ 30
इन दोनों का अभेद असिद्ध है। कारण, दृश्यमान पदार्थ में स्मृति की पहुँच नहीं, स्मृति के विषय में (असंनिकृष्ट होने से) दर्शन की पहुँच नहीं है। मान लो कि चक्षुइन्द्रिय में कोई क्षति नहीं है,

पूर्वरूपे दोषाभावेऽपीन्द्रियप्रवर्तनं युक्तम् धूमदर्शनोत्तरकालं स्मृत्युपस्थापिते पावकेऽपि दोषाभावदिन्द्रिय-
प्रवृत्तिप्रसक्तेः। शक्यं ह्यत्रापि वक्तुम्— ()

न चापि लिंगतः पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम्। वार्यते केनचिन्नापि तदिदानीं प्रदुष्यति।।

अथ प्रत्यक्षप्रतिभानाद् धूमात् स्पष्टावभासाद् व्यतिरिक्ता स्मृतिप्रभवाऽनुमितिभिन्नाकाराग्निमुल्लिखतीति
5 न तत्र दृगवतारः। तर्हि विशददृगवसेयात् रूपादस्पष्टतया पूर्वरूपमुल्लिखन्ती स्मृत्युपजनिता प्रतिपत्तिर्न
दृगुपदर्शितं रूपमवतरतीत्यभ्युपेयम्। ततः स्मृतेः पूर्वमुत्तरकालं वा पौर्वापर्यविविक्तं वर्तमानकालमर्थं
दृगवतरतीति नैकत्वग्राहिणी। ततो विकल्पविकलाध्यक्षमतिः सिद्धा, एकत्वप्रतिपत्तिस्तु स्मृतिकृतोदया
पृथगेव पूर्वापरविविक्तरूपावभासिस्पष्टदृशः।

अथ पौर्वापर्ये दृशोऽप्रवृत्तेर्न तद्ग्रहात् सविकल्पाध्यक्षमतिः जाति-गुण-क्रियादीनां तु दर्शनविषयत्वात्
10 तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति। न, जात्यादेः स्वरूपानवभासनात्। न हि व्यक्तिद्वयव्यति-
रिक्तवपुराह्याकारतां बहिर्बिभ्रणा विशददर्शने जातिराभातीति न तद्योजनादध्यक्षमतिः सविकल्पिका। न
चाप्रबकुलादिषु 'तरुस्तरुः' इत्युल्लिखन्ती बुद्धिराभातीति नाऽसती जातिः, विकल्पोल्लिख्यमानतयापि

फिर भी स्मृतिनिवेदित पूर्वरूप के ग्रहण में इन्द्रियप्रवृत्ति शक्य नहीं है। अन्यथा, धूमदर्शन के बाद
स्मृतिनिवेदित अग्नि के ग्रहण में इन्द्रिय की प्रवृत्ति, कोई क्षति न होने से प्रसक्त होगी। अब तो
15 हम भी कह सकते हैं — “लिंग (दर्शन) के बाद (अग्नि के ग्रहण में) इन्द्रिय प्रवृत्ति को कौन रोकता
है ? इन्द्रिय भी वर्तमान में दोषविहीन है।” — ऐसा हम कहेंगे तो आप को मान लेना पड़ेगा।

यदि कहें — ‘धूम ही प्रत्यक्ष में भासित होता है न कि अनुमेय अग्नि, क्योंकि धूम का स्पष्टाभास
होता है। व्याप्तिस्मृति के माध्यम से जो अग्नि की अनुमिति होती है वह भिन्नाकार यानी अस्पष्टाकार
होती है जो कि स्पष्टावभास से अतिरिक्त ही है। अत एव उस के ग्रहण में दर्शन की प्रवृत्ति नहीं
20 होती।’ — तो फिर यह भी मानना होगा कि निर्मलदर्शनगोचर (वर्तमानरूप) स्पष्टाकार से विभिन्न
यानी अस्पष्टाकारवाले पूर्वरूप का उल्लेख करनेवाली स्मृतिप्रयोजित बुद्धि भी स्पष्टदर्शनगोचर रूप का
भासन नहीं करती है। निर्मल दर्शन तो स्मृति के पूर्व या उत्तरकाल में पूर्वापरभावविकल सिर्फ
वर्तमानकालीन अर्थ को ही विषय करता है, अत एव वह पूर्व-अपर भावों के एकत्व को भासित
नहीं कर सकता। सारांश, यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षबुद्धि एकत्वादिविकल्प से अछूती होती है। बाद
25 में स्मृति के प्रभाव से एकत्वमति का उदय होता है और वह पूर्वापरस्पर्शशून्य शुद्ध रूप अवभासक
स्पष्ट दर्शन से पृथग् ही होती है।

[प्रत्यक्ष से जात्यादिविशिष्ट अर्थ का ग्रहण असम्भव]

यदि कहा जाय — ‘पूर्वापर भाव के ग्रहण में दर्शन की पहुँच न होने से, उस को ग्रहण कर
के वह सविकल्पात्मक प्रत्यक्ष बुद्धि का स्थान ग्रहण करे यह अशक्य है। फिर भी जाति, गुण और
30 क्रियादि तो दर्शन के विषय ही हैं, इस लिये ‘जात्यादिविशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने से प्रत्यक्षबुद्धि
सविकल्पात्मक क्यों नहीं हो सकती ?’ — यह प्रश्न इसलिये अनुचित है कि जाति आदि का स्वरूप
ही अनिश्चित है। निर्मल दर्शन में बाह्यार्थ के रूप में दो गाय आदि व्यक्ति से पृथक्पिण्डात्मक ग्राह्याकार

बहिर्ग्राह्याकारतया जातेरनुद्भासनात्, प्रतीतिरेव तत्रापि तुल्याकारतां वचनं वा बिभर्त्ति। न च शब्दः प्रतीतिर्वा जातिमन्तरेण तुल्याकारतां नानुभवति, 'जातिर्जातिः' इत्यपरजातिव्यतिरेकेणापि गोत्वादिसामान्येषु तयोस्तुल्याकारतादर्शनात्। न च तेष्वपरा जातिः अनवस्थाप्रसक्तेः।

अथ तुल्याकारा प्रतिपत्तिर्यदि निर्निमित्ता तदा सर्वदा भवेत् न वा क्वचित्; व्यक्तिनिमित्तत्वे आम्रादिष्विव घटादिष्वपि 'तरुस्तरुः' इति प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिरूपताया अत्रापि समानत्वात्। असदेतत्— 5 व्यक्तिनिमित्तत्वेऽपि प्रतिनियतव्यक्तिनिमित्तत्वान्नातिप्रसङ्गः। यथा हि ताः प्रतिनियता एव कृतश्चिन्त्रिमित्तात् प्रतिनियतजातिव्यञ्जकत्वं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतिनियतां तुल्याकारां प्रतिपत्तिं तत एव जनयिष्यन्तीति किमपरजातिकल्पनया ? यथा वा गडूच्यादयो भिन्ना एकजातिमन्तरेणापि ज्वरादिशमनमेकं कार्यं निर्वर्त्तयन्ति तथा आम्रादयस्तरुत्वमन्तरेणापि तत एव 'तरुस्तरुः' इति प्रतिपत्तिं जनयिष्यन्ति नान्ये, इति व्यर्था

धारक जाति का भान नहीं होता, अत एव जाति आदि के संयोजन वाली सविकल्प प्रत्यक्षबुद्धि का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है।

यदि कहें कि — 'वृक्ष... वृक्ष' ऐसे उल्लेख के साथ जो आम, बकुल आदि पेड़ों के बारे में समानताबुद्धि होती है वही बोल देती है कि 'जाति' (सामान्य) असत् नहीं है। — यह बेबुनियाद बात है। विकल्प से उल्लिखित होने वाले एवं बाह्यार्थ के रूप में ग्राह्याकार धारण करनेवाले किसी भी जाति नामक अर्थ का अवभास नहीं होता है। तुल्याकार कोई बाह्यार्थ नहीं होता सिर्फ प्रतीति 15 ही स्वयं तुल्याकार होती है, अथवा 'वृक्ष...वृक्ष' ऐसा तुल्य वचनप्रयोग तुल्याकार धारक न हो सके' — ऐसा नहीं है। स्वगत अन्य जाति के बिना भी 'जाति... जाति' ऐसा परकल्पित गोत्व-अश्वत्व आदि जाति को लेकर तुल्याकार बोध होता है यह दिखता है। यदि गोत्वादि में तुल्याकार बोध के आधार पर नयी जाति मानेंगे तो उन नयी जातियों में और भी नयी नयी जाति की कल्पना का अन्त नहीं होगा। 20

[जाति की सिद्धि के तर्क निरर्थक]

जातिवादी कहता है — यदि समानाकार बुद्धि जातिरूप निमित्त के बिना ही हो सकती है तो सदा के लिये यानी कभी भी हो सकती है या तो कभी भी नहीं होगी, क्योंकि निमित्त की अपेक्षा ही नहीं है। यदि आम्रादि व्यक्ति के निमित्त से मानेंगे तो घटादिव्यक्ति के निमित्त से भी 'वृक्ष...वृक्ष' तुल्याकार बुद्धि क्यों नहीं होगी ? निमित्त तो कोई भी हो सकता है। जैसे आम्रादि व्यक्ति है वैसे 25 घटादि भी व्यक्ति नहीं है क्या ?

बौद्ध कहता है — जातिवादी का कथन गलत है। तुल्याकार बुद्धि को व्यक्तिमूलक मानने पर जो आपत्ति बतायी है वह अनुचित है। वृक्षत्व-सामान्यबुद्धि व्यक्तिमूलक होने का अर्थ यह नहीं है कि किसी भी घटादिव्यक्ति से हो जाय, वृक्षत्व-सामान्यबुद्धि सभी व्यक्तियों से नहीं होती, कुछ सीमित पुष्प-पर्णादिवत् व्यक्तियों से ही होती है। इस में कोई अनिष्ट प्रसंग नहीं है। जाति मानने पर भी 30 आप को वृक्षत्व जाति का बोध करने के लिये व्यञ्जक के रूप में पर्ण-फल-पुष्प-विशिष्टाकार आदि मानना ही पड़ेगा। मतलब, कुछ सीमित प्रतिनियत व्यक्तियों को स्वगत कुछ निमित्तों (पर्णादि) के

तेषु तरुत्यजातिकल्पना। तद् न जातिदर्शने कल्पनाज्ञाने वा बहिराकारमाबिभ्रती स्वेन वपुषा प्रतिभाति, कल्पनाबुद्ध्यावप्यविशदाकारव्यक्तिरूपमन्तःशब्दोल्लेखं वापहाय वर्णसंस्थानव्यतिरिक्तजातिस्वरूपानवभासनात्। तद् नाप्रतीयमाना जातिः सती। नापि कस्यचिद् विशेषणमिति न तद्योजनाविधायिनी अध्यक्षमतिरिति न सविकल्पिका। एवं गुण-क्रियादीनामप्यप्रतिभासनादसत्त्वमिति न तद्विशिष्टार्थग्राह्यध्यक्षं सविकल्पकतामनुभवति।

- 5 अथ निर्विकल्पकत्वेऽध्यक्षेण शुद्धवस्तुग्रहणात् कथं ततो व्यवहृतिः ? सा हि हेयोपादेययोर्दुःख-सुखसाधनत्वनिश्चये हानोपादानार्था वृष्टा। न च निर्विकल्पकमध्यक्षं तन्निश्चयरूपम्। — असदेतत् यतो यद्यपि सविकल्पकमध्यक्षं तथापि कथं तदर्थिनां तत्र ततः प्रवृत्तिः ? न हि निश्चयमात्रात् फलार्थिनः प्रवर्तन्ते अपि तु तज्जननयोग्यतावसायात्, सा चाऽसंनिहितफलाऽनिश्चये न निश्चेतुं शक्या। न च परोक्षं

द्वारा प्रतिनियत जाति (वृक्षत्व) के व्यञ्जकत्व का स्वीकार है, वैसे ही उन निमित्तों के द्वारा बीच में जाति को लाये बिना सीधा ही तुल्याकार बुद्धि का उद्भव माना जा सकता है; फिर अतिरिक्त जाति की व्यर्थ कल्पना क्यों ? ज्वरादि बिमारी मिटाने के लिये गड़ो, तुलसी आदि तरह तरह की अनेक औषधियाँ है जिन में कोई एक अनुगत जाति न होने पर भी (यानी वे सब एकजातिअनुगत न होने पर भी) ज्वरशमनादिरूप समान कार्य करते ही हैं। ठीक इसी तरह वृक्षत्व जाति के बिना भी आप्रादि व्यक्तियाँ ही 'वृक्ष...वृक्ष' ऐसी समानाकार मति को उत्पन्न कर सकते हैं, घटादि व्यक्ति नहीं। सारांश, वृक्षत्वजाति की कल्पना निरर्थक है। बाह्य अर्थाकार को धारण कर के अपने स्वतन्त्रविशेष्यस्वरूप से कोई 'जाति' जैसी चीज दर्शन या कल्पनाज्ञान में स्फुरित नहीं होती है। कल्पना बुद्धि हालाँकि कल्पित अर्थ को ग्रहण करती है, फिर भी उस में अस्पष्टाकार व्यक्ति को अथवा तो कल्पनाप्रेरित 'वृक्षत्व' ऐसे शब्दोल्लेख को छोड़ कर, वर्ण-आकाररहित कोई जाति जैसा स्वरूप नहीं भासता है। इस प्रकार, प्रतीतिअगोचर जाति सत् नहीं है।

- 20 जाति किसी के विशेषण के रूप में प्रतीत न होने से उस से योजित (विशेषित) अर्थ प्रदर्शक कोई सविकल्पक प्रत्यक्षबुद्धि सम्भव नहीं है। जाति की तरह गुण-क्रियादि विशेषण भी विशेषणरूप से भासित न होने से असत् हैं, अतः गुणादिविषयक विशिष्टार्थग्राहि प्रत्यक्ष सविकल्पकता को धारण नहीं कर सकता।

[सविकल्प प्रत्यक्ष भी साक्षात् प्रवृत्तिकारक नहीं]

- 25 प्रश्न :- यदि प्रत्यक्ष सिर्फ निर्विकल्पक ही होता है तो उस से केवल शुद्ध वस्तु का ही ग्रहण होगा, नाम-जाति आदि का नहीं होगा; तो यह गधा है और यह बैल... इत्यादि व्यवहार कैसे चलेगा ? हेय पदार्थ दुःख का साधन है और उपादेय पदार्थ सुख का साधन है ऐसा प्रत्यक्षनिश्चय जब तक नहीं होगा तब तक हेय से छूटने की और उपादेय में पुरुषार्थ की प्रवृत्ति रूप व्यवहार भी नहीं होगा, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हेयादि का निश्चायक नहीं है।

- 30 उत्तर :- प्रश्न गलत है। कारण, यदि मान लो कि प्रत्यक्ष सविकल्प होता है, तो भी त्याग-ग्रहण के अर्थों की उस से प्रवृत्ति किस तरह होगी ? कोई भी फलार्थी सिर्फ निश्चयमात्र से तो प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु इष्ट फल के निष्पादन की योग्यता जान कर ही करता है; इष्ट फल तो

सुखसाधनत्वं निश्चिन्वन्ती मतिरध्यक्षतामनुभवति, अनुमितेरप्यध्यक्षताप्रसक्तेः, परोक्षनिश्चयरूपताया अविशेषात्। न च 'निश्चयात्मकेनाध्यक्षेण वस्तु निश्चीयते, तत्प्रतिबद्धा च प्रागर्थक्रियोपलब्धा ततः पुरःस्थार्थावसायात् तत्र स्मृतिः प्रादुर्भवन्ती तत्राभिलाषजननात् प्रवृत्तिमुपजनयति', निर्विकल्पकेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि— प्रत्यक्षप्रतिभाते वस्तुनि पूर्वमर्थक्रियाधिगततेति तत्स्मरणाव(?)भिलाषेण प्रवृत्तिर्भविष्यतीति कः स्व-परपक्षयो-विशेषः ?

5

अथ वस्तुस्वरूपप्रतिभासं दर्शनमर्थक्रियासम्बन्धाननुभवात् प्रवृत्तिमुपरचयितुं क्षमम्, तत्सम्बन्धानुभवे वा सविकल्पकं तद् भवेत्। न चाऽप्रवर्तकस्य प्रामाण्यम् 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' (प्र.वा.१-७) इत्यत्र ▲'व्यावहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणमुक्तम्' () इत्यभिधानात्।

भावि होने से असंनिहित है अतः अभी उसका निश्चय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता। तब उस फल की योग्यता का भी निश्चय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता। अनुमानादि से यदि उस इष्टफल (यानी 10 सुख) की साधनता का परोक्षरूप से निश्चय होगा लेकिन वह निश्चयमति 'प्रत्यक्ष' रूप नहीं होगी। अन्यथा अनुमिति आदि भी प्रत्यक्षकक्षा में घुस जायेगी, क्योंकि परोक्ष रूप से निश्चय तो अनुमिति रूप भी हो सकता है।

यदि कहें कि — "विकल्पनिश्चयरूप प्रत्यक्ष, वस्तु का पहले निश्चय करेगा, उस वस्तु से संलग्न अर्थक्रिया का पूर्व में जिस को अनुभव हो चुका है उस पुरुष को पुरोवर्त्ति अर्थ के निश्चय से पूर्वानुभूत 15 अर्थक्रिया का स्मरण होगा, वह स्मरण उस अर्थक्रिया के अर्थों को तद्विषयक अभिलाषा निपजायेगा, अभिलाषा से फिर उस को पाने के लिये प्रवृत्ति (यानी व्यवहार) कर सकेगा। इस प्रकार सविकल्प प्रत्यक्ष से निश्चय-स्मृति आदि प्रक्रिया द्वारा व्यवहार निष्पन्न होगा" — तो सुन लो कि इस प्रकार की प्रक्रिया द्वारा निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी परंपरया समानरूप से प्रवृत्तिकारक हो सकता है। कैसे यह देखिये — निर्विकल्प प्रत्यक्ष से पहले वस्तु-ग्रहण होगा, बाद में पूर्वानुभूत उस वस्तु से संलग्न अर्थक्रिया 20 का स्मरण होगा, उस से तदर्थी की अभिलाषा जाग्रत होगी जिस से फलार्थी की प्रवृत्ति जन्म लेगी। दोनों पक्ष में, चाहे आप का पक्ष मान्य हो या हमारा, क्या फर्क पडता है ?

[व्यवहारअक्षम निर्विकल्पप्रत्यक्ष का प्रामाण्य कैसे ?]

सविकल्पवादी :- निर्विकल्प दर्शन सिर्फ वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ही अवभास करता है, अर्थक्रिया सम्बन्ध तो उस का विषय न होने से अवभासित नहीं करता, अत एव अर्थक्रियाप्रदर्शक न होने 25 से वह प्रवृत्तिकारक नहीं हो सकता। यदि दर्शन अर्थक्रियासम्बन्ध को अवभासित करेगा तो वह सविकल्पक बन बैठेगा, निर्विकल्पकता लुप्त हो जायेगी। प्रवर्तक न होने से दर्शन प्रमाणभूत नहीं हो सकता। प्रमाणवार्तिक (१-७) में कहा है कि प्रामाण्य तो व्यवहार (अर्थक्रियाप्रदर्शित करने) से होता है। उस की व्याख्या में भी कहा है कि यह सांख्यव्यवहारिक यानी व्यवहारकारक प्रमाण का लक्षण कहा गया है। (मतलब, 'प्रमाणं अविसेवादि ज्ञानम्' यह लक्षण अर्थक्रियाप्रदर्शनरूप व्यवहार के बल पर दिखाया 30 गया है।) इस प्रमाणवार्तिक के कथन से फलित होता है व्यवहारअप्रवर्तक दर्शन प्रमाण नहीं है।

▲. 'प्रामाण्यं व्यवहारेण = अर्थक्रियाज्ञानेन... सांख्यव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्' इति प्र.वा.१-७ मनोरथनन्दिकृतटीकायाम्।

असदेतत्— यतो न दर्शनं केवलं प्रमाणम् क्षणिकत्वादावपि तस्य भावात्, किन्तु अभ्यासपाटवादिसव्यपेक्षं यत्रांशे विधि-प्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयत् पुरुषं प्रवर्तयति तत्रास्य प्रामाण्यमिति निश्चयापेक्षस्य प्रत्यक्षस्य व्यवहारसाधकत्वात् प्रामाण्यक्षतिः। नन्वेवमपि यदि निश्चये सति प्रवृत्तिः तदभावे च नेत्यभ्युपगमः तर्हि प्रवृत्तिकरणाद् निश्चय एव प्रमाणं भवेत्। न च दर्शनगृहीतं नीलं निश्चिन्वद् उपजायमानो विकल्पो गृहीतप्राहितया अप्रमाणम् यतोऽर्थक्रियासम्बन्धितामुल्लिखन्ती दर्शनावगतस्यार्थस्य कल्पना प्रवृत्तिमारचयति। न च विशददृशार्थक्रियासाधकता तस्यावगतेति कथं कल्पना न भिन्नविषया ? सर्वत्र च कल्पनैव प्रवृत्तिं विरचयति दर्शनाभावेऽप्यनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनाद् दर्शनसदभावेऽपि क्षणिकादौ व्यवसायाभावात् प्रवृत्तेर-भावाद् व्यवहारमुपरचयन्ती मतिः प्रामाण्यमिति न निर्विकल्पिका सा प्रमाणं किन्तु विकल्पिकैव।

[निश्चयसापेक्ष निर्विकल्प प्रामाण्य उपपत्ति]

10 निर्विकल्पवादी :- यह उपरोक्त प्रलाप असत् है। हम कहते हैं कि शुद्ध केवल दर्शन भले ही अप्रमाण हो, क्षणिकत्वादि को भी दर्शन तो ग्रहण करता है किन्तु उसे क्षणिकत्वादि के लिये प्रमाण नहीं माना जाता। किन्तु जब दर्शन अपनी अभ्यासपटुता (बार बार एक विषय के ग्रहण) के पूर्ण सहयोग से विधायक या निषेधक कोई एक विकल्प उत्पन्न करता हुआ किसी गोस्वलक्षण आदि अंश में पुरुष का प्रवर्तन करता है तब उस गोस्वलक्षण के विषय में दर्शन को प्रमाण माना जाता है।
15 इस प्रकार, निश्चय (सविकल्प) ज्ञान के सहकार से प्रत्यक्ष (दर्शन) व्यवहारप्रापक हो जाने से उस के प्रामाण्य को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी।

[प्रवृत्ति के अन्वय-व्यतिरेक निश्चयसंलग्न]

सविकल्पवादी :- अरे ! जब इस रीति से, निश्चय के रहने पर पुरुष की प्रवृत्ति का अभाव मानते हैं तो आखिर निश्चय ही (अन्वय-व्यतिरेक द्वारा) प्रवृत्तिकारक सिद्ध होने से वही प्रमाण बना। यदि कहें कि — 'निश्चय दर्शनविषयीभूत नील का परिच्छेद करने वाला बनने पर तो वह गृहीतप्राही बन गया। गृहीतप्राही ज्ञान स्मृति की तरह प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता।' — तो इस का उत्तर यह है कि कल्पना (यानी विकल्प) दर्शनविषयीभूत अर्थ के साथ संलग्न उस की अर्थक्रियाकारिता का — उल्लेख करती हुयी प्रवृत्तिकारक बनती है। यहाँ अर्थक्रियाकारिता दर्शनगृहीत नहीं है, इस प्रकार दर्शन से अगृहीत अर्थक्रियाकारिता को ग्रहण करनेवाली कल्पना दर्शन से भिन्नविषयक क्यों नहीं होगी ?
25 मतलब कि वह अगृहीतप्राहिणी होने से प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

सच तो यह है कि सर्वत्र कल्पना ही प्रवृत्तिसाधक होती है। दर्शन के विरह में भी अनुमान से पावकार्थी पर्वत की ओर जाने की चेष्टा करता ही है (अनुमान भी आपके मतानुसार एक कल्पना ही है न) दर्शन के रहते हुये भी क्षणिकता का निश्चय (कल्पना) न रहने से क्षणिक वस्तु सम्बन्धि कोई प्रवृत्ति नहीं होती। — इस प्रकार प्रवृत्ति और दर्शन का अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, कल्पना और प्रवृत्ति का अन्वय-व्यतिरेक है। सारांश, प्रवृत्तिस्वरूप व्यवहार करानेवाली बुद्धि ही जब प्रमाण मानी जाती है तब निर्विकल्प नहीं किन्तु सविकल्प बुद्धि को ही प्रमाण मानना होगा।

ननु न विकल्पस्याऽप्रामाण्यम् किन्त्वसौ प्रत्यक्षं न भवति अनुमानताभ्युपगमात्। अथ लिंगजत्वा-
 भावादपरोक्षमर्थं निश्चिन्वन् कथमनुमानं विकल्पः ? नैतत्, यतो नाऽपरोक्षमेवार्थमसौ निश्चिनोति
 अर्थक्रियासम्बन्धित्वस्य परोक्षस्याप्यध्यवसितेस्तदभावे च प्रवृत्तेरयोगात्। सा च फलसङ्गतिः परोक्षाऽनुमान-
 ग्राह्या दृश्यमान इव प्रदेशे परोक्षदहनसङ्गतिः। न च तत्र धूमलिङ्गसद्भावान् अनुमानावतारेऽपि फल-
 सम्बन्धितायां लिङ्गाभावात्रानुमानप्रवृत्तिः प्रतिभासमानरूपस्यैव लिङ्गत्वात्। तथाहि— उपलभ्यमाने जलरूपे 5
 शीतस्पर्शादयस्तत्सहचारिणो यदि निश्चेतुं शक्याः कालान्तरस्थापितया तदा तत्र प्रवृत्तिर्युक्ता, रूपप्रतिभासमात्रस्य
 तु तदैवोदयाद् न तदर्था प्रवृत्तिः सङ्गता, प्रवृत्तौ वा तदविरतिप्रसक्तिः। स्पर्शादीनां चैकसामग्र्यधीनतयोपलभ्यमानं
 रूपं हेतुः स्थैर्यं चोपलभ्यमानं कालान्तरस्थितौ लिङ्गमिति कथं न निश्चयोऽनुमानम् ?

[विकल्पबुद्धि प्रत्यक्ष है या अनुमान ?]

निर्विकल्पवादी :- हम ऐसा नहीं कहते कि विकल्प अप्रमाण है। सिर्फ इतना कहते हैं कि विकल्प 10
 'प्रत्यक्ष' नहीं है किन्तु हम उसे 'अनुमान' स्वीकारते हैं।

सविकल्पवादी :- विकल्प लिङ्गजन्य नहीं है, जो अपरोक्षार्थ को निश्चित करता है उसे अनुमान
 क्यों मानते हैं ?

निर्विकल्पवादी :- इस लिये कि वह सिर्फ अपरोक्षार्थ का ही नहीं, परोक्ष अर्थक्रियासंसर्ग को
 भी निश्चित करता है, (इस लिये 'प्रत्यक्ष' नहीं है।) यदि वह अर्थक्रियासंसर्ग जो कि परोक्ष है उस 15
 का अध्यवसाय नहीं करेगा तो उस के अभाव में प्रवृत्ति (व्यवहार) भी नहीं हो सकेगी। अर्थक्रियासंसर्ग
 यानी फलसंगति प्रत्यक्ष नहीं होती, वह परोक्ष है और अनुमानग्राह्य होती है, जैसे दृश्यमान पर्वतादि
 देश में परोक्ष अग्नि की संगति यानी अग्नि का अध्यवसाय। — “अग्निसंगतिस्थल में तो धूमात्मक
 लिंगजन्यता है इसलिये वहाँ अनुमान का प्रसर शक्य है; यहाँ अर्थक्रियासंसर्गज्ञानरूप फलसंगति के
 स्थल में कोई लिङ्ग न होने से अनुमानप्रवृत्ति नहीं हो सकती” — ऐसा बचाव व्यर्थ है क्योंकि यहाँ 20
 जो प्रतिभासमान प्रत्यक्ष जलादि अर्थ होता है वही लिङ्ग बन कर अर्थक्रिया-संसर्ग का अनुमान निपजाता
 है। देखिये — जल (या जल का रूप) जब प्रत्यक्षभासित होता है तब उस के सहभावी स्पर्शादि
 का 'कालान्तर में भी रहेंगे' इस प्रकार निश्चय यदि अशक्य मानेंगे तो वहाँ शैत्य आदि के अर्थों
 की प्रवृत्ति रुक पड़ेगी। (यदि देखते ही नष्ट हो जाय तो कालान्तर में कौन उस के पास पहुँचेगा ?)
 हाँ- कालान्तरस्थापित्व बोध न हो, तो सिर्फ रूपदर्शनमात्र का ही उदय होगा, लेकिन तब जलार्थी 25
 या शैत्यार्थी की प्रवृत्ति शक्य नहीं है। यदि कालान्तरस्थापित्व बोध बगैर ही प्रवृत्ति शक्य मानेंगे
 तो वह प्रवृत्ति निरंतर चलती ही रहेगी, जब बिना प्रयोजनज्ञान ही प्रवृत्ति होती है तो सदा वह
 क्यों नहीं चलेगी ? अब यहाँ निश्चयस्वरूप अनुमान कैसे बनता है यह देखिये — जल का रूप
 तो दिखता है, रूप और स्पर्शादि के उद्भव की सामग्री समान ही होती है, अत एव दृश्यमान रूप
 हेतु बनेगा, स्थिरता दिखती है वह भी लिंग बन सकता है। (देखने में तो पदार्थ स्थिर ही दीखता 30
 है, क्षणिकता नहीं दिखती।) इस हेतु या लिंग से क्रमशः रूपादि सहभावी स्पर्शादि का और स्थैर्य
 से स्वव्यापक कालान्तरस्थापित्व का निश्चय होता है — यह अनुमान नहीं तो दूसरा क्या हुआ?!

न च— सम्बन्धस्मरण-पक्षधर्मत्वनिश्चयादुपजायमानमनुमानमनुभूयते, अत्र तु त्रैरूप्यपर्यालोचनमन्तरेणापि नीलानुभवानन्तरं 'नीलमेतत्' इति निश्चयो झगित्युदेतीति नानुमानताऽस्य। यतो न सर्वदानुमिन्त्रैरूप्यपर्यालोचनमपेक्ष्य प्रवर्तते, अत्यन्ताभ्यासात् कदाचित् सम्बन्धस्मरणानपेक्ष-लिङ्गस्वरूपदर्शनमात्रमुदयदर्शनाद् धूमोपलम्भादभ्यासदशायामग्निप्रतिपत्तिवत्। अथाऽत्राविनाभावपर्यालोचनं प्रागासीद् अनवगत-
5 सम्बन्धस्य धूमदर्शनादेवाऽप्रतीतेः— तर्हि मन्दाभ्यासे प्रकृतेऽपि पर्यालोचनमस्त्येव— 'एवंजातीये पूर्वमप्यर्थक्रियोपलब्धा इदमप्येवंजातीयं प्रतिभासमानं रूपम्' इति। अभ्यासदशायां तु रूपदर्शनादेव पर्यालोचनमन्तरेणाऽपि झगिति फलयोग्यता प्रतीयते इति व्यवस्थितमेतत्— दृश्यमानं रूपं धर्मि तत्फलयोग्यता साध्या तद्रूपसामान्यं लिङ्गम् इति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वमपि हेतोः। अतो निश्चयः स्वरूपावभासादुदयमा-

[निश्चयात्मक विकल्प अनुमान ही है - बौद्ध]

10 विकल्पवादी :- अनुभवसिद्ध है कि अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति के स्मरण एवं पक्षधर्मता के निश्चय से होती है। यहाँ तो नीलदर्शन के होने पर त्वरित ही 'यह नील है' ऐसा निश्चय फट् उदित हो जाता है — न तो ^१पक्षधर्मता भासती है, ^२न व्याप्ति, न ^३सपक्षवृत्तित्व। इसी लिये निश्चय 'अनुमान' नहीं है।

निर्विकल्पवादी :- ऐसा नहीं मानो ! अनुमान का उदय उक्त तीन रूपों के सहयोग से ही होता है ऐसा हरहमेश नहीं होता। पूर्व काल में बार बार एक ही प्रकार के अनुमान का अत्यन्ताभ्यास हो जाने पर कभी कभी व्याप्तिस्मरण के विना भी सिर्फ स्वरूप से लिङ्गदर्शन होने पर अनुमान का उद्भव होता है। जैसे, अभ्यासदशा में धूम के दर्शनमात्र से अग्नि का भान हो जाता है।

20 विकल्पवादी :- अरे ! उधर तो पहले धूम में अग्नि की व्याप्ति कई बार ज्ञात हुयी है, जिस ने कभी भी पहले अविनाभावसम्बन्ध (व्याप्ति) का बोध नहीं किया उसे धूम देखने पर भी अग्नि का बोध नहीं हो सकता। प्रस्तुत में ऐसा कहाँ है — पूर्व में अर्थक्रियासंसर्ग गृहीत ही नहीं है तो उस का निश्चय अनुमानात्मक कैसे माना जाय ? मतलब, वह प्रत्यक्ष है, अनुमान नहीं।

निर्विकल्पवादी :- अरे भाई ! प्रस्तुत में जब तक बार बार अर्थक्रियासंसर्ग अभ्यस्त नहीं है तब मन्द अभ्यासदशा में सम्बन्ध पर्यालोचन होता है — हम भी मानते हैं। जैसे — पूर्व में इसप्रकार के अर्थ की ऐसी अर्थक्रिया देखने में आयी है, यह दृश्यमान अर्थ भी उसी प्रकार का है, (अतः उस की भी ऐसी अर्थक्रिया होनी चाहिये।) जब बार बार ऐसा देख कर तीव्र अभ्यास हो जाता है तब सम्बन्ध स्मृति के विना ही तथाविध अर्थदर्शन होने पर बगैर पर्यालोचन के फलसंगति भासित हो जाती है — यानी वह निश्चय, अनुमान ही होता है। व्यवस्था इस प्रकार देख लो — दृश्यमान अर्थ पक्ष बनेगा, अर्थक्रियाकरणयोग्यता साध्य बना, तथाविध अर्थसामान्य को लिङ्ग समझो। यहाँ जो लिङ्ग (हेतु) है वह असिद्ध नहीं है जिस से कि वह भी प्रतिज्ञात अर्थ अन्तर्गत आंशिक साध्य बन जाय। तथाविध अर्थसामान्य दृष्टिगोचर होने से सिद्ध ही है। सारांश, स्वरूप अवभास (दर्शन) से उदित होनेवाला निश्चय परोक्ष अर्थक्रिया योग्यता को उपरोक्त अनुमानविधि से निश्चित करता हुआ 'अनुमान' ही है।

सादयन् परोक्षमर्थक्रियायोग्यत्वं निश्चिन्वन् अनुमानमेव। व्यवहारोऽप्यत एव, न प्रत्यक्षात्। आह च—
तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः। स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्तते।। ()

नन्वन्यगतचेतसोऽभ्यस्ते परिमलादावविकल्पाक्षमतेः प्रवृत्तिदर्शनात् कथं न निर्विकल्पकं प्रवर्तकम् ?
किञ्च, यद्यनुभितिरेव बाह्ये सर्वदा प्रवृत्तिमारचयति, तर्हि तत्र नाध्यक्षं प्रमाणमिति स्वसंवेदनमात्रमेवैकमध्यक्षं
भवेत्। तथा च— 'रूपादिस्वलक्षणविषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतुष्टयगोचरं योगिज्ञानम्' () इत्यादि 5
चतुर्विधाध्यक्षोपवर्णनमसङ्गतमनुष्येयम्। अथ निर्विकल्पकमध्यक्षं नार्थस्थार्थक्रियायोग्यतामधिगच्छति तदभावे
न प्रवृत्तिरित्यप्रवर्तकत्वाद् न बाह्ये प्रमाणम्, तर्हि अनुमानमपि नार्थक्रियासङ्गतिमवभासयति तस्याऽ-

व्यवहार भी इस अनुमानात्मक निश्चय से ही सम्पन्न होता है न कि दर्शन (प्रत्यक्ष) से। कहा
भी है — (जो कहा है उसका भावार्थ :-) निर्विकल्प दर्शन (पूर्व में) कर लिया है, तब उस निर्विकल्प
संवेदन के प्रेरणाबल से, सजातीयरूप से वर्तमान में उत्पन्न स्मृति से अभिलाष (सजातीय अर्थ प्राप्ति 10
की इच्छा) से वर्तमान दृष्ट अर्थों के सम्बन्ध में व्यवहार यानी (उन को ग्रहण करने के लिये) प्रवृत्ति
होती है।" ()

यहाँ वर्तमान में उत्पन्न स्मृति का मतलब अनुमान ही है। (बालक ने पूर्वजन्म में मातृस्तन
देखा है, यहाँ नूतन जन्म में पुनः सजातीय मातृस्तनदर्शन होने पर साजात्य के स्मरण से इष्टसाधनत्व
का अनुमान होता है, उस से दुग्धपान की अभिलाषा होने पर दूध पीने का व्यवहार करता है। 15
इस प्रकार यहाँ 'स्मरणात्' शब्द का 'अनुमानात्' अर्थ निर्दोष है।)

[निर्विकल्प से प्रवृत्ति का समर्थन]

यहाँ निर्विकल्पवादी एक प्रश्न खड़ा करते हैं — पुष्प की परिमल बार बार सूंघनेवाले को अभ्यासदशा
में, जब चित्त कुछ अन्य अन्य विचारों में विक्षिप्त रहता है तब भी पुष्पपरिमल संनिकर्ष होते ही
निर्विकल्प सुगन्धप्रत्यक्ष के द्वारा पुष्पार्थी की प्रवृत्ति का कैसे इनकार किया जाय ? 20

दूसरी बात, बाह्यार्थ में सदैव निर्विकल्पक के बदले यदि अनुमान ही प्रवृत्तिकारक माना जाय
तो बाह्यार्थ में प्रत्यक्ष तो प्रमाण ही न रहा (क्योंकि वह व्यवहारसाधक ही नहीं है।) तब प्रत्यक्षप्रमाण
किस को कहेंगे ? सिर्फ अपने आप अपना संवेदन करने वाला (न कि बाह्यार्थ का) प्रत्यक्ष ही प्रमाण
बचा। इस स्थिति में बौद्ध मत में अपने आर्ष वचन की व्यर्थता प्रसक्त होगी जिस में कहा है कि
“इन्द्रियज्ञान (यानी प्रत्यक्ष) रूपादि (यानी बाह्यार्थ) स्वलक्षणविषयक होता है और योगिज्ञान सर्वं क्षणिक... 25
इत्यादि चार आर्य सत्यां को गोचर करता है।” — इस प्रकार जो चार प्रकारके (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श)
प्रत्यक्ष का वर्णन किया है वह असंगत हो जायेगा। इस लिये भी निर्विकल्प से प्रवृत्ति मान्य करना
होगा।

यदि कहें कि — 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष, अर्थ की अर्थक्रियायोग्यता को नहीं जानता, अर्थक्रियाज्ञान
के बिना प्रवृत्ति हो नहीं सकती — इस लिये प्रत्यक्ष को अप्रवर्तक मानेंगे।' — तो तुल्य प्रकार से, 30
अनुमान भी अर्थ की अर्थक्रियासंगति को भासित नहीं करता है क्योंकि अनुमान तो सत्यवस्तु (स्वलक्षण)
स्पर्शी नहीं होता; तो फिर अनुमान को भी प्रवर्तक कैसे मानेंगे ?

वस्तुविषयत्वात्, तथा च तदपि कथं प्रवर्तकम् ? अथ तदध्यवसायितया तस्योत्पत्तेरर्थग्राहित्वाभावेऽपि प्रवर्तकता। असदेतत्— तदध्यवसायित्वस्याप्यनुपपत्तेः। तथाहि— तदध्यवसायित्वं तस्य किं ^१ग्राहकाकारः, उत ^२ग्राह्याकारः - इति वक्तव्यम्। यदि ^१ग्राहकाकारः तदा तस्य ग्राहकं स्वरूपं न बाह्यमर्थं सन्निधापयतीति न तदध्यवसायोऽनुमानसाध्यः। अथ ^२ग्राह्याकारः सोऽपि नार्थस्वरूपसंस्पर्शीति कथं तदवगमे बाह्यार्थाऽध्यवसितिरनुमानफलम् ? तदेवमनुमिते स्वसंवेदनमात्रपर्यवसितत्वान्नार्थप्रदर्शनद्वारेण प्रवर्तकता युक्ता।

नन्वनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा तदभावे सा न दृष्टेति तत्कार्याऽसौ निश्चीयते— तर्हि अभ्यासदशायां विकल्पविकले दर्शने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा प्रतिपदोच्चारं तत्र विकल्पनासंवेदनेऽपि पुरः परिस्फुटप्रतिभासमात्रादेव प्रवृत्त्युपपत्तेस्तत्कार्याऽसौ किं न व्यवस्थाप्यते ?! अधानुमानादनभ्यासदशायां प्रवृत्तिरुपलब्धेति तदन्तरेण सा कथं भवेत् ? न, मन्दाभ्यासेऽनुमानादेव प्रवृत्तिः अभ्यासदशायां तु पर्यालोचनलक्षणानुमानव्यतिरेकेणापि वस्तुदर्शनमात्रादेव समस्तु तथादर्शनात्, अन्यथाऽनभ्यासदशायामनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनात् सर्वदानुमानस्यैव

[अनुमान से अर्थाध्यवसाय की अनुपपत्ति]

यह कहना कि — ‘अनुमान यद्यपि स्वलक्षण अर्थस्पर्शी नहीं ही है, फिर भी वह उस को अध्यवसित जरूर करता है, इसी लिये वह उस के प्रति प्रवृत्ति करा सकता है।’ — वह भी गलत है। जो अर्थ- स्पर्शी नहीं है वह उस को अध्यवसित भी नहीं कर सकता। देखिये — अर्थ का अध्यवसायित्व क्या है यह सोचिये। अनुमान ^१अर्थग्राहकआकारमुद्रित होता है या ^२ग्राह्यार्थाकार से मुद्रित होता है ? यदि ^१ग्राहकआकारमुद्रित है तो वह स्वयं ग्राहक स्वरूप बनेगा किन्तु बाह्य-अर्थ का संनिकर्ष (यानी प्रापण) वह कैसे करायेगा ? मतलब, अनुमान अर्थ का अध्यवसाय करा नहीं सकता। यदि ^२अध्यवसाय ग्राह्याकार है तो भी अर्थस्वलक्षणस्पर्शी तो है नहीं, फिर ग्राह्याकार मात्र के अध्यवसाय से भी बाह्यार्थ का अध्यवसाय अनुमान के द्वारा कैसे निपजेगा ? सारांश, अनुमिति भी सिर्फ स्वसंवेदनमात्र स्वरूप निश्चित होने से, वह अर्थप्रदर्शन के द्वारा बाह्यार्थप्रवृत्तिकारक नहीं बन सकता।

विकल्पवादी :- अनुमान और प्रवृत्ति के अन्वय-व्यतिरेक हैं, अनुमान के रहते प्रवृत्ति होती है, अनुमान के विरह में नहीं होती है, इस लिये निश्चित होता है कि प्रवृत्ति अनुमान का कार्य है।

निर्विकल्पवादी :- तो निर्विकल्प दर्शन के भी अन्वय-व्यतिरेक प्रवृत्ति के साथ सुस्थित है — विकल्प के विना भी अभ्यासदशा में निर्विकल्प से प्रवृत्ति होती है, पद-वाक्य सुनते हैं तब हर वक्त विकल्प संवेदन न रहने पर भी पदोच्चार के सुनते त्वरित ही पुरोवर्त्तिविषयक स्फुट प्रतिभास मात्र से प्रवृत्ति हो जाती है, इस स्थिति में प्रवृत्ति को निर्विकल्प का कार्य क्यों निश्चित न किया जाय ?

यदि कहें कि — ‘अभ्यासदशा के न रहने पर तो अनुमान से ही प्रवृत्ति होती दीखती है, फिर (अभ्यास दशा में भी) अनुमान के विना वह कैसे हो सकेगी ?’ — ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा विभाग करना होगा कि मन्द अभ्यास की दशा में जैसे अनुमान से ही प्रवृत्ति होती है, तद्वत् अभ्यास दशा में पर्यालोचनस्वरूप अनुमान के बगैर भी वस्तु के दर्शन (निर्विकल्प) मात्र से प्रवृत्ति होती है — ऐसा दीखता है। इस तथ्य का अस्वीकार करेंगे तो अनुमान से अनभ्यासदशा

व्यवहृतिजनकत्वे प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावतस्तन्निश्चयकृदपरमनुमानमभ्युपगन्तव्यम् तत्राप्यनुमानान्तरा-
ल्लिङ्गनिश्चय इति तन्निश्चयकृदपरमनुमानमित्यनवस्थाप्रसङ्गतो न कदाचिद् व्यवहृतिर्भवेत्। ततोऽ-
विकल्पकं दर्शनमभ्यासदशायां व्यवहारकृदभ्युपगन्तव्यमन्यथा पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानानवतारात्। न च पौर्वा-
पर्येऽप्रवृत्तिमत् सन्निहितमात्रावभास्यध्यक्षं कथं तादृग्लिङ्गग्रहणक्षमम्? यतोऽनभ्यासावस्थायामनुमानात् प्राग्
व्यवहारः पश्चात्त्वध्यक्षादभ्यासदशायामिति प्रेर्यम्। यतः संवृत्या लिङ्गप्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षमभिमनम् 5
लोकस्य ह्येवमभिमानः 'तदेव साध्यप्रतिबद्धं लिङ्गमहं पश्यामि' इति, तदभिमानाच्च लिङ्गप्रतिबद्धग्राह्यध्यक्षं
व्यवहारकृदभ्युपेयते परमार्थपर्यालोचनया तु न प्रत्यक्षानुमानभेदः नापि व्यवहारः, संवेदनमात्रत्वात् सर्वप्रपञ्चस्य।
स्वसंवेदनं च सकलविकल्पविकल्पमिति कथं स्वार्थनिर्णयस्वभावं ज्ञानं प्रमाणं सिद्धिमासादयेत्?

[सविकल्पप्रत्यक्षत्व-स्वार्थनिर्णयज्ञानप्रामाण्ययोः स्थापना-उत्तरपक्षः]

अत्र प्रतिविधीयते- 'स्वार्थनिर्णयस्वभावं प्रत्यक्षं न भवति' (पृ०११९-पं०३) इत्येतत् किं तद्ग्राहक- 10
प्रमाणाभावादभिधीयते, आहोस्वित् तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्? तत्र न तावदाद्यः पक्षोऽभ्युपगमार्हः
में दिखनेवाली प्रवृत्ति के आधार पर सदा-सर्वदा अनुमान को ही प्रवृत्तिजनक स्वीकारेंगे, तब बताइये
कि अनुमान से लिंग का ग्रहण कैसे करेंगे? प्रत्यक्ष तो व्यवहारकारी न होने से वह क्यों लिङ्गनिश्चय
करेगा? तब लिङ्ग के निश्चयार्थ और एक अनुमान करना पड़ेगा, उस दूसरे अनुमान के पूर्व लिङ्गग्रहण
करने के लिये और एक अनुमान... इस तरह अन्त ही नहीं आयेगा। फलतः कभी भी व्यवहार को 15
अवसर ही नहीं रहेगा। इस अनिष्ट से बचने के लिये निर्विकल्प दर्शन को भी व्यवहारकारी मानना
ही पड़ेगा, नहीं तो पूर्वोक्त प्रकार से अनवस्था दोष के कारण अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा।

प्रश्न :- समानकालीनवस्तुग्राही होने से प्रत्यक्ष कभी पूर्व या उत्तरकालीन अर्थ के ग्रहण में प्रवृत्त
नहीं हो सकता, वह तो सिर्फ वर्तमान में सन्निकृष्ट अर्थ का ही अवभासी होता है, तो वह
व्याप्तिग्रहणकालीनलिंगसदृश रूपेण वर्तमान लिङ्ग को जानेगा कैसे और कैसे प्रवृत्ति करायेगा? जिस 20
से कि आप ऐसा विभाग करते हैं कि अनभ्यास दशा में पहले पहले अनुमान से ही प्रवृत्ति (व्यवहार)
होगी, बाद में अभ्यास पक्का हो जाने पर प्रत्यक्ष से ही व्यवहार होगा?

उत्तर :- संवृत्ति के (कल्पना के) सहयोग से हमें प्रत्यक्ष के द्वारा लिङ्ग में अविनाभावरूप सम्बन्ध
का ग्रहण मान्य है। लोग में भी ऐसी कल्पनिक रूढि प्रवृत्त है कि 'मैं वही साध्याविनाभावि लिङ्ग
को देख रहा हूँ।' इस प्रकार की रूढ मान्यता के सहयोग से लिंग से अविनाभूत अर्थ ग्राही अध्यक्ष 25
दर्शन व्यवहार प्रयोजक माना जा सकता है। यदि पूछे कि यह तो सब कल्पनाशिल्प हुआ, वास्तविकता
क्या है? तो कहना पड़ेगा कि समग्र विश्वप्रपञ्च सिर्फ संवेदनमात्र के अलावा कुछ भी नहीं है,
अत एव कोई प्रत्यक्ष-अनुमान का भेद ही नहीं है, न कोई पारमार्थिक व्यवहार भी है।

स्वसंवेदन मात्र अस्ति है और वह सर्वप्रकार के विकल्पजाल से मुक्त है। इस स्थिति में जब
बाह्यार्थ जैसा कुछ है ही नहीं तो स्व और अर्थ - उभय का निर्णायकस्वभाव धारण करनेवाले ज्ञान 30
का प्रमाणरूप से स्वीकार कैसे प्रमाणसिद्ध हो सकता है?!

[सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष है, स्वार्थनिर्णयज्ञान प्रमाण है - सिद्धान्ती]

निर्विकल्प ही प्रत्यक्ष है - इस मन्तव्य का अर्थ प्रतिकार सुनिये - आपने कहा (पृ०११९-पं०१९)

स्थिरस्थूलसाधारणस्य स्तम्भादेरर्थस्य बहिरन्तश्च सद्द्रव्यचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यैकदा निर्णयत्
सांशस्वार्थनिर्णयात्मनोऽध्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः।

▲तथाहि— अन्तर्बहिश्च स्वलक्षणं पश्यद् लोकः स्थूलमेकं स्वगुणावयवात्मकं ज्ञानं घटादिकं च
सकृत्प्रतिपत्त्याध्यवस्यति, न चेयं प्रतिपत्तिरन्ध्यक्षा विशदस्वभावतयानुभूतेः। न च विकल्पाऽविकल्पयोर्मन-
5 सोर्युगपद्दत्तेः क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वमध्यवस्यति जनस्तत्रेत्यविकल्पाध्यक्षगतं वैशद्यं विकल्पे सांश-
स्वार्थाध्यवसायिन्यध्यारोपयतीति वैशद्यावगतिः; एकस्यैव तथाभूतस्वार्थनिर्णयात्मनो विशदज्ञानस्यानुभूते-
रननुभूयमानस्याप्यपरनिर्विकल्पकस्य परिकल्पने बुद्धेश्चैतन्यस्यापरस्य परिकल्पनाप्रसङ्ग इति साङ्ख्यमत-
मप्यनिषेधं स्यात्।

- 'प्रत्यक्ष (निर्विकल्प होने से) स्व-अर्थनिर्णयस्वभावी नहीं होता' — यहाँ दो प्रश्न खड़े होंगे — १.
10 प्रत्यक्ष के स्व-अर्थ निर्णयस्वभाव का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से, २या उस के प्रति कोई बाधक
प्रमाण विद्यमान होने से ? प्रथम पक्ष स्वीकार योग्य नहीं है क्योंकि पहले यह निर्णय हो चुका है
कि स्थिर एवं स्थूल स्तम्भादि साधारण बाह्य अर्थ होता है, एवं सत् द्रव्य जिस का आधार है वैसा
चैतन्यादि धर्मों से व्याप्त ज्ञान आन्तरिक पदार्थ है। दोनों का पूर्णरूप से नहीं तो आंशिक निर्णय
करने वाला प्रत्यक्ष स्वसंवेदिप्रत्यक्ष से ही अनुभवसिद्ध है। इस लिये स्व-अर्थनिर्णायकप्रत्यक्ष का कोई
15 ग्राहक प्रमाण न होने की बात असार है।

कैसे स्व-अर्थनिर्णायक प्रत्यक्ष होता है, यह देखिये — (तथाहि...)

[ग्राहकप्रमाणाभाव-आद्यविकल्प का निरसन (पृ०२०४-पं०१ तक चलेगा)]

स्वलक्षण अर्थ देखनेवाला सज्जन एक स्थूल अपने गुण और अवयव को व्याप्त घटादि बाह्य
अर्थ और उस को विषय करनेवाला ज्ञान, एक ही नजर में प्रत्यक्ष जान लेने का दावा करता है।
20 दावा करनेवाला घटादि और ज्ञान का स्पष्टतया अनुभव करता है, इस लिये उस का अनुभव प्रत्यक्ष
ही है न कि परोक्ष। यदि कहा जाय — “स्पष्टतया अनुभव होने का कारण यह है कि विकल्प मन
(यानी ज्ञान) और निर्विकल्प ज्ञान कभी कभी दोनों एक साथ जन्म लेते हैं और कभी कभी क्रमशः
किन्तु शीघ्र जन्म लेते हैं, इस लिये वहाँ विकल्प और निर्विकल्प ज्ञान का भेद लक्षित न होने से
एकत्व भासता है, तब जो निर्विकल्प ज्ञानगत स्पष्टता है उस का आरोप दृष्टा आंशिक स्व-अर्थ निर्णयात्मक
25 विकल्प में कर बैठता है, इस तरह विकल्प में स्पष्टता का अनुभव होता है। वास्तव में तो निर्विकल्प
प्रत्यक्ष ही स्पष्ट होता है जो कि स्व-अर्थनिर्णायक नहीं है।” — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ
सज्जन को आंशिक स्व-अर्थ निर्णायक एक ही स्पष्ट ज्ञान अनुभूत होता है, दूसरा कोई निर्विकल्प
उस काल में अनुभूत नहीं होता है। फिर भी यदि आप उस की कल्पना करते हैं तो बुद्धि से पृथक्
चैतन्य की (अनुभवबाह्य) कल्पना करनेवाले सांख्यमत का आप निषेध नहीं कर सकेंगे। (बुद्धि और
30 चैतन्य दोनों का पृथक्त्व लक्षित नहीं होता, फिर भी सांख्यवादी पुरुष का चैतन्य और 'प्रकृति के

▲. तद्ग्राहकप्रमाणाभावेतिप्रथमपक्षनिरसनं तथाहि-पदादारभ्य (पृ०२०३-पं०९) पर्यन्तं विभावनीयम्। तदनन्तरं द्वितीयः
तद्बाधकप्रमाणसद्भावपक्षो (पृ०२०४-पं०९) निराकरिष्यते।।

किञ्च, सविकल्पाऽविकल्पयोः कः पुनरैक्यमध्यवस्यति ? न तावदनुभवो विकल्पेनात्मन ऐक्यमध्य-
वस्यति, व्यवसायविकलत्वेनाऽभ्युपगमात् तस्य, अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गात्। नापि विकल्पोऽविकल्पेन
स्वस्यैक्यमध्यवस्यति, तेनाविकल्पस्याऽविषयीकरणात्— अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः— अविषयीकृतस्य
चान्यत्राध्यारोपाभावात्। न ह्यप्रतिपन्नरजतः शुक्तिकायां रजतमध्यारोपयितुं 'रजतमेतत्' इति समर्थः। न
च यथेश्वरादिविकल्पस्तदविषयीकरणेऽप्यध्यवसिततद्भाव उपजायते तथात्राप्यध्यवसिताविकल्पस्वभावो विकल्पः 5
समुपजायत इति स तयोरैक्यमध्यवस्यति; उक्तोत्तरत्यात्। तथाहि— न तावदनुभवं एवरूपमात्मानमवगच्छति
तेनाऽस्यार्थस्याविषयीकरणात् 'एतत्'रूपतया तस्याऽसिद्धेश्च। न हि मरीचिका जलरूपतयाऽध्यवसिता
तद्रूपतयाऽसिद्धार्थक्रियोपयोगिन्पुलब्धा, एवमनुभवोऽपि विकल्परूपतयाऽध्यवसितस्तथाऽसिद्धो नार्थक्रियोपयोगी,

विकार रूप बुद्धि' का भेद मानता है और कहता है कि — दोनों भिन्न है लेकिन अन्यान्यप्रतिबिम्बित होने के कारण उन का भेद अनुभूत नहीं होता। इस का निर्विकल्पवादी क्या जवाब देगा जब कि वह निर्विकल्प और विकल्प के भेद की भी इसी तरह भेदवार्त्ता चलाता है ?) 10

[ऐक्याध्यवसाय करनेवाला कौन ?]

दूसरा यह भी प्रश्न है — सविकल्प और निर्विकल्प के ऐक्य का अध्यवसाय करेगा कौन ? अनुभव (निर्विकल्प) स्वयं अपना विकल्प के साथ ऐक्य अध्यवसित करेगा ? नहीं, वह व्यवसाय (निश्चयात्मकत्व) से शून्य माना गया है। यदि वह व्यवसाय रूप बन बैठेगा तो वह आप के मतानुसार 15
भ्रान्तिरूप बन जाने का अनिष्ट होगा। तो क्या विकल्प अपना निर्विकल्प के साथ ऐक्य अध्यवसित करेगा (वह तो निश्चायक है न,) ? नहीं, क्योंकि वह निर्विकल्प को विषय ही नहीं करता। यदि वह उसे विषय करेगा तो निर्विकल्पगृहीत स्वलक्षण को भी गृहीत करनेवाला बन जाने से 'प्रमाण' हो जायेगा। यदि वह उसे विषय नहीं कर सकता, कैसे उस का स्व में अध्यारोप (ऐक्य आरोप) कर सकता है ? जिसने रजत को कभी भी विषय नहीं किया वह 'यह रजत है' इस प्रकार से 20
छीप में रजत का अध्यारोप करने को सक्षम नहीं होता।

[ईश्वरादिविकल्प की तरह ऐक्याध्यवसाय अशक्य]

यदि कहें — "जैसे कुछ पण्डितवर्ग अपने ज्ञान से ईश्वर या प्रकृति आदि को कभी भी विषय न करने पर भी उन्हें ईश्वरादि का विकल्प हो ऊठता है, मतलब, ईश्वर का अध्यवसाय विकल्प से जाग्रत् होता है। ऐसे ही यहाँ विकल्प (निर्विकल्प को विषय न करने पर भी) अविकल्पस्वभाव को 25
अध्यवसित कर लेता है और उस के ऐक्य का भी अध्यारोप करता है।" — इस कथन का उत्तर कह दिया है। फिर से भी कहते हैं — (पहले तो कहा ही है कि ऐक्य का अध्यवसाय निर्विकल्प करता है या सविकल्प इत्यादि... इसी तरह यहाँ भी उक्त अर्थ को कौन जान लेता है — निर्विकल्प या विकल्प ? इन दो पक्षों से उत्तर दिया जाता है।) 'विषय न होते हुए भी ईश्वरादिविकल्पवत् यहाँ विकल्प निर्विकल्प को अध्यवसित कर लेता है' इस तरह से विकल्प के आत्मा का पता किसने 30
लगाया ? (9) निर्विकल्प तो इस तरह के विकल्पात्म का अवबोध नहीं कर सकता, क्योंकि उक्त अर्थ को वह विषय नहीं करता, इसी लिये कभी भी किसी अर्थ को 'यह' या 'वह' इस रूप से

नातः किञ्चित् सिध्यति। नापि विकल्पः तस्याऽवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात्। यदि पुनर्विकल्पस्तद्रूपमात्मानमध्यवस्येत् तर्हि परमार्थविषयता तस्येति “विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः” () इति असङ्गतं स्यात्। अत एव न विकल्पान्तरमपि तमध्यवस्येत् तस्यापि तुल्यदोषत्वात्।

- किञ्च, तद्योरैक्यं व्यवस्यतीत्यत्र यदि विकल्पं निर्विकल्पकतया मन्यते व्यवहारी तदा निर्विकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति विकल्पव्यवहारोच्छेदादनुमानप्रमाणाभावः।^b अथाऽविकल्पं विकल्पतया तदा सविकल्पकमेव सर्वं प्रमाणमिति अविकल्पप्रत्यक्षवादादो विशीर्येत। तथा हि— प्रज्ञाकराभिप्रायेण मणिप्रभायां मणिज्ञानं ‘य एव मणिर्मया दृष्टः स एव प्राप्तः’ इत्यभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम्— अन्यथाऽभ्यासदशायां भाविनि दृश्य-प्राप्ययोरैकत्वाऽध्यवसायात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति न भवेत् अन्यस्य तन्निबन्धनस्य तत्राप्यभावात्—

- पीछानने वाला निर्विकल्प आज तक असिद्ध है। यह भी जान लेना जरूरी है कि सत्यजलरूप से वास्तव में असिद्ध सिर्फ जलरूप से अध्यवसित मरुमरीचिका (सूर्य के परावर्तित किरणवृन्द) तृषाशमनादि अर्थक्रिया के लिये उपयोग में आती हो ऐसा कहीं नहीं देखा। इसी तरह वास्तव में विकल्प रूप से असिद्ध किन्तु विकल्प से एकरूपतया अध्यवसित ऐसा निर्विकल्प भी किसी अर्थक्रिया के लिये उपयोगी नहीं होता, अत एव उस से कुछ भी इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। (२) विकल्प भी उक्त अर्थ का पता लगाने में अक्षम है, क्योंकि आप उस को अवस्तुविषयक मानते हो फिर वह उक्त अर्थ वस्तु को विषय कैसे करेगा ? फिर भी यदि विकल्प अपने आप को निर्विकल्प से अभिन्न अध्यवसित करेगा तो उस को पारमार्थिक (निर्विकल्प) विषयक भी मानना पड़ेगा। लेकिन तब आप का यह प्रतिपादन असंगत ठहरेगा जिस में आपने कहा है “अवस्तुनिर्भासी एवं विसंवादी होने से विकल्प उपप्लवरूप (भ्रमात्मक) होता है।” () यही सबब है कि विकल्प-निर्विकल्प के ऐक्य का अध्यवसाय कोई अन्य विकल्प भी नहीं कर सकेगा, क्योंकि उपरोक्त विकल्प में जो दोष बताये हैं, वे सब यहाँ अवतार पायेंगे।

[विकल्प-अविकल्प ऐक्याध्यवसाय की दुर्घटता]

- यह भी विचारणीय है — व्यवहारी पुरुष किसी भी तरह ऐक्याध्यवसाय कर लेगा, किन्तु दो प्रश्न खड़े होंगे।^a विकल्प को निर्विकल्परूप से मानेगा या^b निर्विकल्प को विकल्परूप से ?^c प्रथम पक्ष में सभी विकल्प निर्विकल्प रूप से निश्चित हो जाने से ज्ञानमात्र निर्विकल्पक ही सिद्ध हुआ। फलतः विकल्प का व्यवहार अस्तित्वशून्य हो जाने से अनुमानप्रमाण भी निःसत्ताक बन जायेगा।^d दूसरे पक्ष में, यदि निर्विकल्पक को विकल्परूप से निश्चित करेगा तो प्रमाण मात्र सविकल्पस्वरूप सिद्ध हो जाने से निर्विकल्पप्रत्यक्ष प्रमाण की वार्त्ता नामशेष हो जायेगी।

- यहाँ प्रज्ञाकर गुप्त के मत का दृष्टान्त उपयोगी है। उस के मत से, ‘जो मणि मैंने देखा था वही मैंने पाया’ इस प्रकार समझ बैठनेवाले पुरुष का, जो मणि की प्रभा को ही मणि समझ कर लेने गया था, यह मणिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है। वह पुरुष दृश्य मणिप्रभा और प्राप्य मणि इन दोनों के एकत्व को अध्यवसित करता है। यद्यपि दृश्य और प्राप्य में यहाँ भेद है किन्तु प्राप्य की प्राप्ति में मणिप्रभा प्रत्यक्ष ही हेतु है इस लिये मणिप्रभा में मणिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता

तथा सर्वं निर्विकल्पं विकल्पत्वेन निश्चित्य 'सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानम्' इति यो व्यवहरति तस्य किमिति तदेव न प्रमाणम् ? यथा हि दृश्यं प्राप्यारोपात् प्राप्यम् तथाऽविकल्पो विकल्पारोपाद् विकल्पो भवेत्, न्यायस्य समानत्वात्। अथ यथा प्राप्यमणिप्रभा-मणिप्रतिभासयोरेकत्वाऽध्यवसायेऽपि न मणिप्राप्तौ तत्प्रतिभासस्याभावः— अन्यथा मणिः प्रतिभातो न प्राप्तः स्यात्— तथा सविकल्पाऽविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि निर्विकल्पस्य नाभावः। नन्वेवं सांशस्थूलैकस्पष्टप्रतिभासव्यतिरिक्तस्य निरंशक्षणिकपरमाणुप्रतिभासलक्षण- 5 निर्विकल्पानुभवस्य तदैव निर्णयप्रसक्तिः। अथ विकल्पेनाविकल्पस्य सहस्रांशुना तारानिकरस्येव तिरस्कारान्न तथा निर्णयः तर्हि विकल्पस्याप्यविकल्पेन तिरस्कारान् प्रतिभासनिर्णयो न स्यात्।

अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वादविकल्पस्य च दुर्बलत्वात् तेन तस्य तिरस्कारः। ननु कुतो विकल्पस्य बलीयस्त्वम् ? प्रचुरविषयत्वादिति चेत् ? न, अविकल्पविषय एव प्रवृत्त्यभ्युपगमात् अन्यथाऽस्य गृहीत-

है। ऐसा न माना जाय तो भावि में अभ्यासदशा में दृश्य और प्राप्य का एकत्वाध्यवसाय हो जाने से 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' यह नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि एकत्वाध्यवसाय के बगैर दूसरा तो कोई उस का निमित्त नहीं है। ठीक इसी प्रकार — सभी निर्विकल्प को विकल्परूप से निश्चित कर के 'सभी ज्ञान सविकल्प ही हो सकता है' ऐसा जो व्यवहार करेगा, उस के लिये 'सविकल्प ही ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है' ऐसा निष्कर्ष क्यों न निकलेगा ? प्रज्ञाकर मत में जैसे प्राप्य के आरोप 15 से दृश्य भी प्राप्य मान लिया जाता है तो निर्विकल्प भी विकल्प के अध्यारोप से विकल्पस्वरूप क्यों न माना जाय ? दोनों ओर न्याय अलग अलग नहीं होता है।

यदि कहें कि — 'मणिप्रतिभास (दृश्य) एवं प्राप्य मणिप्रभा का (विकल्प और निर्विकल्प) एकत्व अध्यवसाय होने पर भी मणिप्राप्ति हो गई तो मणिप्रतिभास असत् नहीं ठहरता, यदि उस को असत् मानेंगे तो प्रतीत किये गये मणि की प्राप्ति ही संभव न होगी। इसी तरह प्रस्तुत में भी समझना 20 कि सविकल्प और निर्विकल्प का एकत्व अध्यवसित होने पर भी निर्विकल्प का अस्तित्व लुप्त नहीं होगा' — अरे ऐसा मानेंगे तो जिस निर्विकल्प अनुभव को आप आंशिक-स्थूल-एक-स्पष्ट प्रतिभास से पृथक् निरंश-क्षणिक परमाणुविषयक प्रतिभासात्मक मानते हो वह अब विकल्परूप से एकत्वाध्यवसित यानी विकल्परूप ही बन जाने से निर्विकल्प को भी निर्णय स्वरूप मानने की विपदा होगी। यदि कहा जाय कि — 'सूर्यतेज से जैसे तारकवृन्द फिका पड जाने से उस की चमक या रोशनी नहीं 25 झगमगाती, ऐसे ही विकल्प के प्रभाव से बेचारा निर्विकल्प भी फिका पड जाने से वह निर्णयस्वरूप हो नहीं पायेगा।' — तो इस से विपरीत यह भी कह सकते हैं कि एकत्वाध्यवसाय के कारण निर्विकल्पभानु से विकल्पतारकवृन्द का तेज फिका पड जाने से वह बेचारा अपने प्रतिभासात्मक निर्णयरूपता को ही खो बैठेगा।

[अविकल्प के मुकाबले में विकल्प की बलवत्ता असंगत] 30

यदि यह कहा जाय — 'अविकल्प ज्ञान दुर्बल होता है और सविकल्प बलवान् होता है। इसी लिये सविकल्प से ही निर्विकल्प का अभिभव होता है।' — तो प्रश्न यह है कि विकल्प की बलवत्ता

ग्राहित्वाऽसम्भवात् । 'निर्णयात्मकत्वात् तस्य तदात्मकत्वम्' इति चेत् ? ननु तस्य किं स्वरूपे निर्णयात्मकत्वम् ^१उत्तरार्थरूपे ? ^२न तावत् स्वरूपे "सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" (न्यायबिंदु १-१०) इत्यस्य विरोधात् । एवमपि तत्र तस्य निर्णयात्मकत्वे चक्षुरादिज्ञानं स्वपरयोस्तदात्मकं किं न भवेत् ? तथा च स्वार्थाकाराध्यवसायाधिगमश्चक्षुरादिचेतसां सिद्ध इति केन कस्य तिरस्कारः ? तत्र विकल्पः स्वरूपे

5 निर्णयात्मकोऽभ्युपगन्तव्यः । ^३अथाऽर्थं तस्य निर्णयात्मकत्वम् । नन्वेवमेकस्य विकल्पस्य निर्णयाऽनिर्णयस्वभावं रूपद्वयमायातम् तच्च परस्परं तद्वत्तश्च यद्येकान्ततो भिन्नमभ्युपगम्यते समवायादेरनभ्युपगमात् सम्बन्धाऽसिद्धेः 'बलवान् विकल्पो निर्णयात्मकत्वात्' इत्यस्यासिद्धिः । न च रूपादीनामिव परस्परमेकसामग्र्यधीनतालक्षणतयोः सम्बन्धः तद्वत्ता चाग्निधूमयोरिव तदुत्पत्तिलक्षण इति वक्तव्यम् स्वाभ्युपगमविरोधात् ।

कैसे सिद्ध हुयी ? (उत्तर :-) 'विकल्प का विषय प्रचुर होता है (नाम-जाति आदि) इस लिये वह

10 बलवान् है' — तो यह उत्तर अनुचित है क्योंकि निर्विकल्प के विषय में ही विकल्प के द्वारा प्रवृत्ति होने का प्रतिवादी को मान्य है, फिर प्रचुरविषयता कैसे ? यदि विकल्प को अधिक विषयक मानेंगे तो 'निर्विकल्पगृहीत विषय का ही ग्राहक होने से विकल्प अप्रमाण है' ऐसा कहना असम्भव बन जायेगा, क्योंकि विकल्प अधिकग्राही होने पर जिन अंशों में अगृहीतग्राही होगा उन के लिये प्रमाण बन जायेगा । 'प्रचुर विषय नहीं किन्तु निर्णयात्मक होने से विकल्प बलवान् होता है ।' इस उत्तर पर भी दो प्रश्न

15 हैं, (a) विकल्प अपने स्वरूप में निर्णयरूप होता है या (b) अर्थ रूप विषय में ? (a) प्रथम विकल्प में स्वरूप का निर्णय कहना अनुचित है क्योंकि आप के न्यायबिंदु ग्रन्थ में कहा है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण सभी चित्त (ज्ञान) और चैत (विषय) पदार्थों के आत्मसंवेदनरूप होता है ।' स्वरूपनिर्णय ही मानेंगे तो चैतपदार्थ के संवेदन के साथ यहाँ विरोध होगा ! फिर भी आप विकल्प को स्वरूप का ही निर्णायक मानेंगे तो चाक्षुषादि चित्तों (ज्ञानों) से स्वसंवेदन अध्यवसाय और अर्थाकाराध्यवसाय

20 दोनों का अवबोध सिद्ध होने में कोई बाध तो नहीं रहता, भले आप उसे सिर्फ स्वरूप निर्णायक ही कहिये ! तब तो दोनों ही निर्णयात्मक हो जाने से कौन किस का अभिभव करेगा ? निष्कर्ष, सविकल्प सिर्फ स्वरूप में ही निर्णयरूप होता है यह प्रथम पक्ष स्वीकारार्ह नहीं रहता ।

[एकान्तभेद में सम्बन्ध की अनुपपत्ति]

(b) दूसरा विकल्प :- सविकल्प सिर्फ अर्थ में ही निर्णयात्मक होता है (न कि स्वरूप में) —

25 तब सविकल्प में दो परस्परविरुद्ध स्वभाव प्रसक्त होंगे, एक स्वरूप में अनिर्णयस्वभाव और दूसरा, अर्थ में निर्णयस्वभाव । फिर आप के एकान्तवाद में आप उन दोनों को अत्यन्त भिन्न मानेंगे, एवं एक एक स्वभाव को अपने आश्रय से भी एकान्त भिन्न मानेंगे, तब आश्रय के साथ उन स्वभावों का या उन स्वभावों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं जुड़ेगा, क्योंकि आप तो समवायादि सम्बन्ध का स्वीकार नहीं करते ! फलतः सविकल्प में अर्थनिर्णयस्वभाव का सम्बन्ध ही असत् हो जाने से

30 उस में निर्णयात्मकतारूप बल सिद्ध नहीं होगा । आखिर यह भी सिद्ध नहीं होगा कि निर्णयात्मक सविकल्प अविकल्प से बलवान् होता है ।

यदि कहें कि — 'जैसे रूप-रसादि अत्यन्तभिन्न होने पर भी उन में परस्पर 'एकसामग्रीजन्यत्व'

किञ्च, यदा विकल्पस्य कारणत्वम् निर्णयाऽनिर्णययोश्च कार्यत्वम् तदा विकल्पस्य पूर्वकालत्वम् तयोश्चोत्तरकालत्वम्, प्रज्ञाकराभिप्रायात् तु विपर्ययोऽपि मरणलिङ्गस्यारिष्टादेस्तत्कार्यतया प्राग्भाविनस्तेनाभ्युपगमात्। तथा च भिन्नकालस्य विकल्पस्य न निर्णयाऽनिर्णयात्मकत्वमिति ज्ञानरूपताया अप्यभावः, तद्विकल्पस्य गत्यन्तराभावात्। तयोश्च विकल्पस्वभावविकल्पतया निःस्वभावता, ज्ञानाद् भिन्नयोरनुपलभ्यत्वेन गत्यन्तराभावात् स्वयं तयोरुपलम्भे विकल्पाद् भिन्ने ज्ञाने स्याताम् एवं च यदनिर्णयात्मकं तत् तदेव, 5 यच्च निर्णयस्वरूपं तदपि तदेव। तथा च निर्विकल्पकस्य पृथगुपलम्भनिर्णयः स्यादिति पूर्वोक्त एव दोषः।

नाम का सम्बन्ध रहता है जैसे निर्णयस्वभाव-अनिर्णयस्वभाव में भी परस्पर सम्बन्ध बनेगा। तथा, जैसे धूमादि का अग्नि आदि के साथ तदुत्पत्ति (तज्जन्यत्व) नाम का संबन्ध रहता है वैसे यहाँ भी दोनों स्वभाव का अपने आश्रय के साथ सम्बन्ध बनेगा। — तो यह भी असंगत है क्योंकि आप ऐसा कहेंगे तो आपके ही सिद्धान्तों के साथ विरोध होगा। आप के मत में रूपादि पदार्थ 10 एकसामग्रीजन्य नहीं होता ऐसे ही दो पृथक् स्वभाव भी एकसामग्रीजन्य नहीं होता।

[विकल्प-निर्णय/अनिर्णय का भेद या अभेद असंगत]

और एक बात :- विकल्प और निर्णय-अनिर्णयस्वभावयुगल में तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानेंगे तो दो स्थितियाँ बनेगी - a विकल्प कारण होगा यानी वह पूर्वकालीन होगा, निर्णय-अनिर्णय स्वभाव कार्य होगा और वे उत्तरकालीन होंगे। b प्रज्ञाकरगुप्त के मत से तो कार्य उत्तरकालीन और कारण पूर्वकालीन 15 ऐसा विपर्यास भी हो सकता है जैसे मरण रूप उत्तरकालीन कारण के ज्ञापक लिङ्ग अरिष्टदर्शनादि कार्य पूर्वकालीन होता है। (भावि मरण अपने होने के पहले ही अपने कार्यभूत लिङ्ग छाया के मस्तक का अदर्शन आदि को उत्पन्न करता है। ऐसा प्रज्ञाकरमत का अभिप्राय है।) प्रस्तुत में, निर्णय-अनिर्णय दो स्वभावरूप कार्य पहले उत्पन्न होगा और उस का कारण विकल्प बाद में। दोनों ही स्थितियों में विकल्प और उस के कार्य भिन्नकालीन तो होंगे ही! भिन्न कालीन वस्तु अन्योन्यात्मक नहीं होती। 20 फलतः, विकल्प निर्णयात्मक या अनिर्णयात्मक दो में से एक भी नहीं हो सकता। अत एव वह ज्ञानरूप भी नहीं होगा। (क्योंकि ज्ञान तो उन दो में से एक रूप अवश्य होता है।) निर्णय-अनिर्णय अन्यतर स्वभाव से रहित सिद्ध होने पर ज्ञानरूप से विकल्प का अभाव होने से विकल्प सर्वथा शून्यात्मक ही रह जायेगा क्योंकि और कोई उस का स्वरूप ही नहीं घटता।

ऐसी स्थिति में निर्णय-अनिर्णय स्वभाव द्वय भी विकल्प रूप आश्रय के स्वभावरूप सिद्ध न 25 होने से स्वभावभ्रष्ट बन जायेंगे। जब विकल्प ही असत् है तो निर्णय-अनिर्णय ये दोनों किस के स्वभाव कहे जायेंगे ? विकल्पात्मक ज्ञान से पृथक् तो वे उपलब्ध नहीं हैं, विकल्प के स्वभावरूप भी नहीं है तब तीसरी कोई गति न होने से दोनों को स्वभावभ्रष्ट ही होना पड़ेगा। अगर कहें कि दोनों ही विकल्प से पृथक् स्वयं 'उपलम्भ' रूप होंगे, तो विकल्प से भिन्न पृथक् पृथक् दो ज्ञान फलित होंगे, उन में जो अनिर्णयात्मक है वह अनिर्णयरूप ही होगा (न कि निर्णय-अनिर्णय उभयात्मक) 30 और जो निर्णयस्वरूप है वह केवल निर्णयात्मक ही होगा, दोनों में निर्विकल्प की तुलना में बलवत्ता कैसे सिद्ध करेंगे ? तब निर्विकल्प से सर्वथा पृथग् 'उपलम्भ' रूप निर्णय को बलवान् दिखाने जायेंगे

तत्रापि रूपद्वयकल्पनायां प्रकृतो दोषः अनवस्था च। तत्र परस्परं तद्वत्त्वं भेदैकान्तो युक्तः। अभेदैकान्तेऽपि तद्द्वयमेव तद्वान् वा भवेत् तथा च न प्रकृतसिद्धिः।

अथ निर्णयाऽनिर्णयस्वभावयोरन्योन्यं तद्वत्त्वं कथंचित्तादात्म्यम् तर्हि यत् स्वात्मन्यनिर्णयात्मकं बहिरर्थं च निर्णयस्वभावं रूपं तत्साधारणमात्मानं प्रतिपद्यते चेद् विकल्पः, स्वरूपेऽपि सविकल्पकं प्रसक्तः
5 अन्यथा निर्णयस्वभावतादात्म्याऽयोगात्। न च स्वरूपमनिश्चित्वन् विकल्पोऽर्थं निश्चिनोति इतरथा-
ऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थप्राहकं भवेदिति न नैयायिकमतप्रतिक्षेपः। न च नैयायिकाभ्युपगमेन परगृहीतस्य स्वगृहीततादोषः, भवन्मतेऽपि परनिश्चितस्य स्वनिश्चितत्वप्रसक्तेः। यथा च परज्ञातमननुभूतत्वात्त्रात्मनो विषयः तथा विकल्पस्य स्वरूपमनिश्चितत्वाद् नात्मनो विषय इति समानं पश्यामः। न च तस्यापि विकल्पान्तरेण निश्चयः, तस्यापि विकल्पान्तरेण निश्चयापत्तेरनवस्थाप्रसक्तेः। न च विकल्पस्वरूपमनुभूतमपि

10 तो पुनः पुनः निर्णयात्मकता के पक्ष में जो दोष कह आये हैं वे प्रसक्त होंगे। उपरांत, यदि विकल्प से विनिर्मुक्त उपलम्भ निर्णयात्मक हो सकता है तो चाक्षुष आदि ज्ञान भी निर्णयात्मक हो सकता है, पुनश्च निर्णयात्मकता के पक्ष में जो दोष कहा है वह उस को भी लागू होगा। यदि चाक्षुषादि ज्ञान के निर्णय-अनिर्णय दो स्वभाव की कल्पना करेंगे तो पूर्वोक्त दोष पुनः प्रसक्त होंगे, फिर से नयी कल्पना करेंगे, फिर से वे दोष पुनः प्रसक्त होंगे — इस प्रकार अनवस्था भी प्रसक्त होगी।

15 निष्कर्ष, निर्णय-अनिर्णय स्वभावयुग्म का परस्पर एकान्त भेद, एवं विकल्प से उन दो स्वभावों का एकान्त भेद युक्तिसंगत नहीं हो सकता। एकान्त अभेद मानेंगे तो या तो विकल्प शेष रहेगा या स्वभावयुग्म शेष रहेगा, दो नहीं होंगे। यानी विकल्प निर्विकल्प से बलवान् होने की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

[कथंचिद् अभेदपक्ष में, विकल्प में निजस्वरूप से सविकल्पतापत्ति]

20 यदि — एकान्तभेद या एकान्त अभेद को छोड़ दिया जाय और निर्णय-अनिर्णयस्वभावयुगल का परस्पर कथंचित् अभेद, (न कि एकान्त अभेद) एवं विकल्प से भी उन दोनों का कथंचित् अभेद मान लिया जाय — तो विकल्प स्वयं ही अपने आप को ऐसा महसूस करेगा कि वह अपने स्वरूप में अनिर्णयात्मक है और बाह्यार्थ के बारे में निर्णयात्मक है, इस प्रकार दोनों स्वभाव में साधारण यानी कथंचिद् अभिन्न अपने को यदि विकल्प महसूस करेगा तो वह अपने स्वरूप में भी सविकल्प ही मानना पड़ेगा चूँकि अन्यथा
25 वह निर्णयस्वभाव से अभिन्नता नहीं रख पायेगा। वास्तव में कहें तो विकल्प अपने स्वरूप का निर्णय किये बिना बाह्यार्थ का निश्चय नहीं करता है, अपने स्वरूप को न जाननेवाला ज्ञान यदि अर्थनिश्चय करने जायेगा तो ऐसे तो नैयायिक मत में ही प्रवेश होगा, क्योंकि नैयायिक भी ज्ञान को अस्वप्रकाश एवं अर्थप्रकाशक ही मानता है। फिर उस का निषेध नहीं हो सकेगा।

30 'नैयायिक मत में जो अन्यगृहीत है वह (ज्ञान) स्वगृहीत होने का दोष होगा' ऐसा मत कहना क्यों कि आप के मत में भी विकल्प परनिश्चित होने पर भी स्वतोननिश्चित होने का अनिष्ट प्रसक्त है। यह बात तो दोनों ओर (नैयायिक एवं बौद्ध के लिये) समान है कि जैसे नैयायिक मत में अन्य व्यक्ति की ज्ञानविषयीभूत वस्तु अपना विषय नहीं होता, उसी तरह विकल्प का स्वरूप अनिश्चित

क्षणिकत्वादिवदनिश्चितमर्थनिश्चायकं युक्तम् अनिश्चितस्यानुभवेऽपि क्षणिकत्ववत् स्वयमव्यवस्थितत्वात् अव्यवस्थितस्य च शशशृङ्गादेरिवान्यव्यवस्थापकत्वाऽयोगात्। यथा च विकल्पस्य स्वार्थनिर्णयात्मकत्वम् तथा चक्षुरादिबुद्धीनामपि तद् युक्तम् अन्यथा तासां तद्ग्राहकत्वाऽयोगात्।

अथ विकल्पस्य बहिरर्थं प्रवृत्तिरेव नास्तीति कथं तन्निर्णयात्मकः ? न हि नीलज्ञानं पीताऽप्रवृत्तिकं तन्निर्णयात्मकं वक्तुं शक्यम्। प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात् बौद्धैर्बाह्यार्थव्यवसायात्मकत्वं विकल्पस्य परमार्थतो 5 निर्विषयत्वेऽपि व्यावर्ण्यते। तदयुक्तम्; यतः किमिदं विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वम् ? यद्यात्मविषयत्वम् तर्ह्यात्मविषयं निर्विकल्पकमपि ज्ञानं निर्विषयमिति — ‘अर्थनिर्णयात्मकत्वाद् बलवान् विकल्प इति निर्वि- कल्पानुभवस्य निर्णयस्तिरस्कारक इति’ — असंगतं स्यात् सविकल्पस्यैव कस्यचिदभावाद्, आत्मविषयस्य निर्विकल्पकस्यापि विकल्पवत् सविकल्पस्यैव वा भावात्, न चैवं कस्यचित् प्रतिपत्तुरभिप्रायः। अथ

होने पर वह भी अपना विषय नहीं बनेगा। यदि विकल्प का निश्चय स्वयं न मान कर अन्य विकल्प 10 से मानेंगे (इस प्रकार विकल्प अनिश्चित नहीं रहेगा अत एव अन्य वस्तु का निश्चय कर पायेगा — ऐसा मानेंगे) तो उस अन्य अन्य विकल्प के निश्चय के लिये अन्य अन्य विकल्पों की कल्पना का अन्त ही नहीं होगा। ‘क्षणिकत्व जैसे निर्विकल्प से अनुभूत होने पर भी निश्चित नहीं होता, अर्थनिश्चायक-विकल्प का स्वरूप भी स्वयं अनुभूत होने पर भी निश्चित नहीं होता’ — ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वह अर्थनिश्चायक नहीं बन सकेगा। क्षणिकत्व भी यदि अनिश्चित होगा 15 तो असिद्ध होने से उस को ‘अनुभूत’ भी सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। इस तरह (विकल्प) अनिश्चित होने से स्वयं ही अव्यवस्थित (असिद्ध) है वह शशशृंग की तरह दूसरे की व्यवस्था (= सिद्धि) कैसे कर सकता है ? निष्कर्ष, विकल्प स्व एवं अर्थ उभय का निश्चयरूप होता है और विकल्पवत् ही चाक्षुषादि बुद्धियाँ भी उभय निश्चायक ही होती हैं। ऐसा नहीं मानेंगे तो स्वयं असिद्ध (= अनिश्चित) चाक्षुषादि बुद्धियाँ अपने अपने विषयों को भी ग्रहण करने में सक्षम नहीं रहेगी। 20

[विकल्प की परमार्थनिर्विषयता अयुक्त है]

बौद्ध :- विकल्प बाह्यार्थ में प्रवृत्त ही नहीं होता, तब उस को निर्णयात्मक कैसे माना जाय ? जो पीतग्रहण में प्रवृत्त नहीं है ऐसे नीलज्ञान को पीतवर्णनिर्णायक कहना नामुमकीन है। बौद्ध मत से तो वास्तव में विकल्प निर्विषयक ही होता है, सिर्फ ज्ञाताओं के अभिप्राय का अनुसरण कर के ही यह व्यवहार से कहते हैं कि विकल्प बाह्यार्थव्यवसायी होता है, न कि वास्तव में। 25

जैन :- ऐसा कहना अयुक्त है। बोलिये — ‘विकल्प वास्तव में निर्विषयक होता है’ इस विधान का मतलब क्या ? सिर्फ ‘आत्मविषयकत्व’ (‘स्वमात्र विषयता’) ऐसा अर्थ करेंगे तो वैसा निर्विकल्पक ज्ञान भी (स्वप्रकाश मान लेने से) आत्मविषयक होने से निर्विषयक मानना होगा। यहाँ विकल्प और निर्विकल्प दोनों तुल्यबली हो गये। फिर कैसे आपने कहा था कि — ‘विकल्प अर्थनिर्णयात्मक होने से, बलवान होने के कारण निर्णयात्मक विकल्प निर्विकल्प अनुभव का अभिभव कर देता है ?’ ऐसा 30 कहा था वह अब असंगत ठरेगा क्योंकि अब निर्विकल्प - सविकल्प दोनों समान हो जाने से सविकल्प जैसा कुछ भी शेष नहीं रहा है तो बलवान होने की बात ही कहाँ ? अथवा, विकल्प की तरह

साधारणस्याऽस्पष्टस्य स्व-परयोरविद्यमानस्याकारस्य शब्दसंसर्गयोग्यस्य विषयीकरणं निर्विषयत्वम् । न, तस्य तत्र सम्बन्धाभावतो विषयीकरणाऽसम्भवात् । तथापि तद्विषयीकरणे सर्वमपि ज्ञानं तथैव स्वविषयं विषयीकुर्यादिति तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धकल्पनमनर्थकमासज्येत ।

न च तादात्म्यलक्षणस्तत्र तस्य सम्बन्धाः, तदाकारेऽविकल्पकत्वस्य अ(?)विकल्पकत्वे वा तदाकारत्वस्य प्रसक्तेः । 'तदुत्पत्तिसम्बन्धवशात् तेन तद्ग्रहणम्' इत्येतदप्ययुक्तम् तदाकारस्य तज्ज्ञानोत्पादकत्वेन स्व-लक्षणत्वप्राप्तेस्तज्ज्ञानस्य सविषयताप्रसक्तिदोषात् । न च स्ववासनाप्रकृतिविभ्रमवशादतदुत्पन्नमतदाकारं च तत् तद्विषयीकरोति, अक्षमनन्तरविशेषात् अन्यस्याप्युपजातस्य तथा स्वविषयीकरणप्रसक्तेः, सर्वत्र तदाकार-तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः । अतस्तदाकारविषयीकरणाऽसम्भवाद् विकल्पार्थाऽभावतो दृश्य-विकल्पार्थाविकीकृत्य प्रवर्तत इत्ययुक्तमभिधानम् । ततो न बलवान् विकल्पः इति कथं तेनाऽविकल्पतिर-

10 निर्विकल्प भी आत्मविषयक ही होने से सविकल्प से वह भिन्न नहीं रहेगा, यानी सविकल्प का ही सम्भव रहेगा । किसी भी बोधकर्ता को ऐसी बात मान्य नहीं है ।

बौद्ध :- विकल्प निर्विषयक होता है — इस का अर्थ यह है कि — विकल्प का विषय स्व या पर में सर्वथा असत् सिर्फ शाब्दिकसम्बन्धविषयीभूत (यानी मात्र शब्दगोचर) अस्पष्ट सामान्य (घटत्वादि) होता है । (जो वास्तव में असत् है ।)

15 जैन :- यह भी अच्छा नहीं है, विकल्प का उस साधारण असत् पदार्थ से कोई संसर्ग न होने से वह उसे विषय नहीं कर सकता । विना सम्बन्ध भी अगर विषय करेगा तो सभी ज्ञान उसी प्रकार सभी को अपना विषय करने लगेगा, कर सकेगा । फिर प्रत्यक्षादि के लिये विषय के साथ तदुत्पत्ति आदि सम्बन्धों की कल्पना निरर्थक ठहरेगी । (बौद्ध ऐसा मानता है कि जिस विषय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही उस को विषय करता है यानी विषय से ज्ञान की उत्पत्ति यह तदुत्पत्ति 20 संबन्ध ज्ञान का विषय के साथ रहने पर ज्ञान उस को विषय करता है ।)

[विषय और अविकल्प में तादात्म्य / तदुत्पत्ति असंगत]

अविकल्प और विषय में तादात्म्य सम्बन्ध भी असंगत है क्योंकि तादात्म्य मानने पर असद् आकार में विकल्पत्व का या विकल्प में असदाकारता का अनिष्ट प्रवेश होगा । यदि कहें कि — 'उस असत् साधारण आकार का विकल्प से तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने से विकल्प से उस आकार का ग्रहण 25 होगा' — तो यह भी ठीक नहीं है । तब वह असद् आकार ज्ञानोत्पाद रूप अर्थक्रिया-कारक बन जाने से असद् नहीं किन्तु सद्रूप यानी स्वलक्षणस्वरूप प्रसिद्ध होगा, फलतः उस का विकल्प ज्ञान भी तदाकारविषयक (न कि निर्विषयक) प्रसक्त होगा । यदि कहें कि — 'विना सम्बन्ध ही वह विकल्प अपनी वासनात्मक प्रकृति के विपर्यय (विभ्रम) से, साधारण आकार से न तो उत्पन्न है, न साधारणआकारयुक्त है फिर भी उस को विषय करेगा।' — यह भी असंगत है क्योंकि यदि 30 इन्द्रियोत्तरकालीनत्व यानी सिर्फ समनन्तर प्रत्यय विशेष के प्रभाव से ही विकल्प अपने पूर्वकालीन उक्त आकार को विषय कर सकता है तो इन्द्रियोत्तर कालीन उत्पन्न अन्य अन्य हर कोई विकल्प हर कोई आकार को विषय करने के लिये सक्षम बन बैठेगा । फलस्वरूप, अन्य विकल्पों में तदाकार

स्कार इति अविकल्पनिश्चयस्तदैव भवेत्, न चैवम्, अतो नाऽविकल्पस्य विकल्पेनैकत्वाध्यवसायः।

किञ्च, 'विकल्पेऽविकल्पकस्यैकत्वेनाध्यारोप' इति कुतो निश्चीयते ? 'अस्पष्टाऽस्वलक्षणग्राहिणि स्पष्ट-स्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतेस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत् ? ननु यदि नाम तत्र तत्प्रतीतिः अविकल्पारोपस्तु कुतः ? 'स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य तत्र दर्शनात्' इति चेत् ? 'तद्धर्मः स्पष्टत्वादिः' इत्येतदेव कुतः ? 'तत्र दर्शनात्' इति चेत् ? अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथाऽविकल्पस्यापि मा भूत्। न च विकल्पव्यति- 5 रेकेणाऽविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्मः परिकल्प्येत। एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमनुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। अथ किञ्चिद् ज्ञानं सविकल्पकम् अपरं निर्विकल्पकम् राश्यन्तराभावात्। विकल्पस्य चार्थसामर्थ्योद्भूतत्वाऽसंभवाद् न विशदत्वादिधर्मयोगः। अविकल्प-

विकल्पोत्पत्ति के अनिष्ट के निवारणार्थ एक-दूसरे को प्रतिबन्धक मानने की कल्पना भी निरर्थक ठहरेगी। निष्कर्ष, तथाविध असद् आकार को विकल्प का विषय बताने की चेष्टा असंभव के कारण निरर्थक 10 होने से एवं विकल्प का कोई विकल्प्य अर्थ भी असत् होने से — 'दर्शन एवं विकल्प के विषयों का एकीकरण करने में विकल्प सक्रिय बने' — ऐसी प्ररूपणा असंगत ठहरती है। इस लिये विकल्प बलवान् होने का कथन भी निष्फल होने से, विकल्प से अविकल्प का अभिभव कैसे हो सकेगा ? अविकल्प का अभिभव जब शक्य नहीं तब अविकल्पगृहीत का निश्चय भी उसी काल में (विकल्प के साथ) हो जाना चाहिये। किन्तु नहीं होता है इसी से सिद्ध होता है कि अविकल्प का विकल्प 15 के साथ ऐक्य का अध्यवसाय संभवरहित है।

[विकल्प-अविकल्प के ऐक्याध्यवसाय का निश्चायक कौन ?]

यह भी स्पष्ट कही कि विकल्प में अविकल्प का एकत्व अध्यारोप होता है — यह निश्चय कैसे किया ? यदि उत्तर हो कि — 'स्वलक्षण को स्पर्श न करनेवाले अस्पष्ट विकल्प में स्पष्टता एवं स्वलक्षणग्राहकता अपने आप तो प्रतीत नहीं हो सकती, अत एव विकल्प में अविकल्प के एकत्व 20 का अध्यारोप सिद्ध हो जाता है।' — यहाँ भी प्रश्न है कि स्पष्टता आदि जो विकल्प में प्रतीत होता है वह अविकल्प के अध्यारोप से ही प्रयुक्त है — इस में क्या प्रमाण ? 'स्पष्टत्वादि अविकल्प के ही धर्म हैं और वे विकल्प में दिखते हैं इसी लिये अविकल्प का अध्यारोप सिद्ध होगा।' — ऐसा उत्तर हो तो यहाँ भी प्रश्न होगा कि स्पष्टत्वादि अविकल्प के ही धर्म हैं — इस का प्रमाण क्या ? 'उस में दिखते हैं इस लिये उस के ही धर्म होंगे' — ऐसे उत्तर पर भी कहना होगा कि 25 इसी न्याय से स्पष्टत्वादि विकल्प में भी दिखते हैं तो वे विकल्प के धर्म क्यों नहीं ? उस में दिखते हैं फिर भी उस के धर्म नहीं मानते तो अविकल्प में उन धर्मों को देखने पर भी उन्हें अविकल्प का धर्म नहीं मानना चाहिये। सच बात तो यह है कि विकल्प को छोड़ कर दूसरा कोई अविकल्प अनुभवारूढ भी नहीं है जिस का धर्म स्पष्टत्वादि होने की कल्पना की जा सके। अनुभव के विना ही यदि स्पष्टत्वादि धर्मवाले एक अविकल्प की कल्पना करेंगे तो अविकल्प से अतिरिक्त और भी 30 नये नये किसी आधार की कल्पना स्पष्टत्वादि के आश्रयरूप में करते ही जायेंगे तो ऐसी अप्रामाणिक कल्पना का अन्त कहाँ होगा ?

स्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न क्वचिदपि भवेद् इत्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम्। भवेदेतत्, यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादेर्व्याप्तिः स्यात् तदभावे तन्न भवेत्, न चैवम् अर्थसामर्थ्याद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपविज्ञाने वैशद्यादेरभावात् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात्। न च तदर्थसामर्थ्याद्भूतम् तत्समानसमयस्य चिरातीतानुत्पन्नस्य चार्थस्य तद्ग्रहणानुपपत्तेः।

- 5 तथाहि— प्रागसर्वज्ञः सन् सुगतो विवक्षितक्षणे सर्वज्ञतामासादयंस्तत्समानसमयभाविनां भावानाम् तज्ज्ञानं प्रत्यजनकत्वात्तेषाम् ग्राहको न स्यात्, एवमुत्तरोत्तरतद्विज्ञानक्षणा अपि स्वसमयार्थग्राहका न भवेयुः, चिरतरविनष्टस्य भावकलापस्यासत्त्वेन तदकारणत्वाद् न तं प्रति ग्राहकता भवेत्, अनुत्पन्नस्य च पदार्थसमूहस्य कारणत्वाऽसम्भवात् तं प्रति ग्राहकता तस्य दूरोत्सारितैव। अथ चिरातीतं भावि च

- 10 यदि कहें कि — ज्ञानविश्व में दो राशियाँ हैं, कोई ज्ञान सविकल्प होता है, कोई ज्ञान निर्विकल्प होता है, तीसरा कोई राशि (प्रकार) नहीं है। विकल्प में स्पष्टत्वादि धर्मों का योग नहीं होता क्योंकि स्वलक्षण अर्थ के बल से उस की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है। अब यदि अविकल्प में भी स्पष्टत्वादि योग नहीं मानेंगे तो स्पष्टता आदि धर्म कहीं के नहीं रहेंगे। अत एव अविकल्प में उन का अस्तित्व मानना पड़ेगा। —

- 15 उपरोक्त कथन तब सत्य होता यदि स्पष्टत्वादि धर्म अर्थबलोत्पत्ति से व्याप्त होते, तब अर्थबलोत्पत्ति की व्यावृत्ति से स्पष्टत्वादि की व्यावृत्ति भी स्वीकृत होती। किन्तु ऐसी व्याप्ति ही नहीं है। दो प्रकार से व्यभिचार है, दूरस्थ वृक्षादि के ज्ञान में अर्थबलोत्पत्ति होने पर भी स्पष्टतादि धर्म उस में नहीं है, एवं योगिप्रत्यक्ष जो कि अतीत-अनागत-व्यवहित क्षेत्रवर्ती अर्थ का भी साक्षात्कार करता है वह अर्थबलोत्पन्न न होने पर भी अत्यन्त स्पष्ट होता है। 'वह भी अर्थबलोत्पन्न ही है' ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि अपने समानकाल में विद्यमान परक्षेत्रवर्ती अर्थ, चिरविनष्ट अर्थ और भविष्यत् अर्थ 20 असन्निकृष्ट होने से उन का ग्रहण ही असंगत मानना पड़ेगा।

[सर्वज्ञ ज्ञानक्षण से समानकालीन अर्थक्षण के ग्रहण का असंभव]

- स्पष्टता :- बुद्ध ऋषि पूर्व में असर्वज्ञ किन्तु बाद में जब सर्वज्ञ बने तब उस का ज्ञान उस क्षण में समानक्षणभावि समस्तक्षणों का ग्राहक नहीं हो सकेगा क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान तो अपनी पूर्वक्षण के ज्ञान से उत्पन्न हुआ है न कि समस्तअर्थक्षणसामर्थ्य से। उत्तरोत्तर ज्ञान क्षण भी पूर्व-पूर्व क्षणों 25 से ही उत्पन्न होंगे न कि अपने अपने समानकालभावि अर्थक्षणों के सामर्थ्य से, अत एव उत्तरोत्तर सर्वज्ञज्ञान से स्वसमानकालीन अर्थक्षणसमुदाय चिर काल से नष्ट हो जाने से उन के सामर्थ्य से वर्तमानकालीन सर्वज्ञज्ञान की उत्पत्ति न होने से वर्तमानकालीन सर्वज्ञज्ञान से भूतकालीन क्षणों का ग्रहण भी नहीं होगा। अनुत्पन्न भाविक्षण तो वर्तमान ज्ञान के कारण ही बन नहीं सकते, अत एव वर्तमान ज्ञान से भाविक्षणों का ग्रहण भी दूर भाग गया। इस तरह सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वथा अविशद- 30 अग्राहक बन जायेगा यदि अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न ज्ञान को ही विशद माना जाय।

यदि ऐसा कहें कि — 'हम वर्तमान ज्ञान को भूतकालीन एवं भावि कारणों से उत्पन्न होने का मान लेते हैं — अतः उन कारणक्षणों के सामर्थ्य से उत्पन्न सर्वज्ञ ज्ञान विशद बना रहेगा, कोई

तत्कारणमभ्युपगम्यत इति नायं दोषः। नन्वत्राप्यभ्युपगमे ^Aयेन स्वभावेन तत् तदनन्तरभावि कार्यमुत्पादयति तेनैव यदि सुगतज्ञानमिदानीन्तनकालभावि जनयति तदैकस्वभावत्वाद् नित्यादिवत् कार्यक्रमाऽयोगात् पूर्वमेवैतदप्युत्पद्येत। अथ समनन्तरप्रत्ययस्य सुगतज्ञानहेतोरिदानीमेव भावाद् न पूर्वमुत्पत्तिः। असदेतत्— यतः आलम्बनकारणं चिरातीतसमयभावि तदैव तत्कार्यमुत्पादयितुं प्रभवति समनन्तरप्रत्ययस्त्विदानीमिति विरुद्धकारणसामर्थ्यानुविधायिनः कार्यस्योत्पत्तिरेव न भवेत्। ^Bअथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत् प्रसज्यत 5 इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशैक्यस्तुग्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः। एवं भाविकारणेऽपि वक्तव्यम्। तत्र योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसक्तेः। तच्च तदप्रभवमपि यथा विशदम्— अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः— तथा विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्याऽप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोधः ?

दोष नहीं होगा।' — तो सर्वज्ञ ज्ञान की पहले ही उत्पत्ति होने का अनिष्ट होगा — ^Aयदि जिस स्वभाव से चिर अतीत अर्थ अपने उत्तरकालीन सजातीय अर्थ को उत्पन्न करता है उसी स्वभाव से 10 सर्वज्ञज्ञान को भी उत्पन्न करने का मानेंगे, (क्योंकि उस स्वभाव से अपने सजातीय अर्थ तो दूसरे ही क्षण में उत्पन्न हो जाते हैं) तो उसी स्वभाव से उत्पन्न होने वाले वर्तमानकालीन सर्वज्ञज्ञान को पहले ही उत्पन्न होने में विलम्ब क्यों होगा ? जैसे विना क्रम से ही एक साथ सभी कार्यों को उत्पन्न कर देने का अनिष्ट नित्य वस्तु में आप लगाते हैं।

यदि कहें कि — 'वर्तमानकालीन बुद्धज्ञान का समनन्तर प्रत्यय (अपने पूर्वक्षण का प्रत्यय) भी 15 कारण है वह पूर्वकाल में न होने से पूर्वकाल में बुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाने का अनिष्टापादन निरवकाश है।' — तो यहाँ बुद्ध ज्ञान की अनुत्पत्ति का ही दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि चिरभूतकालभावि विषयभूत अर्थ क्षण तो अपने अव्यवहित (भूतकालीन) उत्तरक्षण में ही बुद्धज्ञान को उत्पन्न करने में सजग रहेगा, दूसरी ओर समनन्तर प्रत्यय वर्तमान काल में ही बुद्ध ज्ञान को उत्पन्न करने का आग्रही रहेगा, दोनों की इस स्पर्धा में बुद्ध ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के कारणभूत चिरातीत 20 विषयक्षण एवं समनन्तर प्रत्यय दोनों प्रतिस्पर्धि हैं, विरुद्ध हैं।

^Bयदि कहें कि — 'चिरातीत विषयक्षण जिस स्वभाव से अपने उत्तरकालीन अर्थक्षण को उत्पन्न करेंगे उसी स्वभाव से नहीं किन्तु अन्यविध स्वभाव से ही वर्तमान में बुद्धज्ञान को उत्पन्न करेगा, तो पूर्वोत्पत्ति का दोष नहीं होगा।' — तो यहाँ निरंश माने गये विषयक्षण में विरुद्ध स्वभावद्वय समावेश से सांशता की विपदा आ पड़ेगी। फलस्वरूप उस के ग्राहक वर्तमान बुद्धज्ञान भी सांश 25 (चिरातीत अर्थक्षण) वस्तु का ग्राहक होने से सविकल्प बन जाने की विपदा प्रसक्त होगी।

जैसे चिरातीत अर्थक्षण के ग्रहण में ये विपदाएँ प्रसक्त हैं वैसे भावि अर्थक्षण ग्रहण को मानने पर भी ये सब विपत्तियाँ घेरा डालेगी।

निष्कर्ष :- योगी प्रत्यक्ष विशद होने पर भी, अर्थसामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होने की बात स्वीकार योग्य ही है। फिर भी स्वीकार करेंगे तो पूर्वोत्पत्ति आदि दोष प्रसक्त होंगे। निश्चित हो गया कि, 30 योगीज्ञान अर्थजन्य न होने पर भी विशद होता है, यदि विशद नहीं मानेंगे तो वह प्रत्यक्ष नहीं होने की आपत्ति है; तब बताईये कि सविकल्प ज्ञान अर्थसामर्थ्यजात न होने पर भी विशद होने में क्या विरोध है ?

विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोधः। तदुक्तम्— ()

“न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता। स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्तं न च तद् तादृगर्थदृग्।।”
इति चेत् ? ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्तिहस्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते अपरं तु स्मरणज्ञानम्, तत्र
पूर्वोल्लेखतयोपजायमानस्य यदि वैशद्यवैकल्यम् नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावः,
5 तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीतेः। न चा‘ऽविकल्पकं तद्’ इति वक्तव्यम् स्थिर-स्थूल-पुरोव्यवस्थित-
हस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्त्वध्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्र-
सक्तेर्विकल्पवार्ताविरतिरेव स्यात्। अत एव ‘प्रथमं निर्विकल्पकं निरंशवस्तुग्राहकं तदर्थसामर्थ्याद्भूतत्वात्,
तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमविशदम् लघुवृत्तेस्तु
निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात् तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य’ इत्येतदपि निरस्तं दृष्टव्यम् विकल्प एव

10 [सब विकल्प विशदताविकल नहीं होते]

बौद्ध :- विरोध यह है कि विकल्प है और विशद है। (विकल्पत्व और विशदत्व अन्योन्य विरुद्ध है।) कहा है कि — “विकल्पग्रस्त ज्ञान में स्पष्टार्थावभासित्व नहीं होता। (जैसे) स्वप्नात्मक विकल्प में भी स्मृतिभासित अर्थ का ही स्मरण होता है (न कि दर्शन), इसलिये स्वप्न (या विकल्प) विशद अर्थ दृष्टा नहीं होता।” ()

15 जैन :- अरे ! आप को मालूम नहीं है कि स्वप्नावस्था में एक नहीं, दो ज्ञान अनुभवसिद्ध हैं, एक — सन्मुख रहे हुए हस्ती आदि का भासक ज्ञान, दूसरा स्मृतिज्ञान। उन में जो (पहले इस को देखा है इस रूप में) पूर्वकाल का उल्लेख करता हुआ स्मरण उत्पन्न होता है उस में (अतीत होने से) विशदत्व को नकारा जाय उस का मतलब यह नहीं कि समस्त विकल्पों में, जिसमें (स्वप्नावस्थागत) सन्मुखवर्ती हस्तीआदि का उल्लेख करनेवाला विकल्प ज्ञान भी शामिल है — विशदत्व
20 नकारा जाय। स्वप्रकाश प्रत्यक्ष से हस्त आदि विकल्प में अध्रान्तरूप से विशदत्व का प्रतिभास अनुभवसिद्ध है। स्तम्भादि का उल्लेख करनेवाले ज्ञान को यदि अविकल्प करार देंगे तो स्थिर - स्थूल- सन्मुखस्थित हाथी आदि के अवभासक स्वप्नदशा के ज्ञान को भी अविकल्पक मानना होगा। उपरान्त उस को अविकल्प मानने पर आंशिकवस्तु के अध्यवसायि अनुमान को भी निर्विकल्प ही मान लेना होगा। नतीजतन, विकल्पज्ञान नामशेष बन जायेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुमान से अतिरिक्त आप के मत में कोई तीसरा
25 ज्ञान ही नहीं है जिस का ‘विकल्प’ नामकरण किया जाय।

[निर्विकल्प ज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं]

उपरोक्त चर्चा से वह बौद्ध कथन भी निरस्त हो जाता है जिस में कहा गया है — “पहले निरंशवस्तुस्पर्शी निर्विकल्प ज्ञान होता है क्योंकि वह अपने विषयभूत अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है। उस के उत्तरकाल में निर्विकल्प ज्ञानजन्य अर्थनिरपेक्ष सविकल्प ज्ञान का उद्भव होता है जो आंशिक
30 वस्तु का अध्यवसायि एवं अस्पष्ट होता है। दोनों ही निरंतर उत्पन्न होते हैं (निर्विकल्प के बाद त्वरित ही सविकल्प उत्पन्न होता है।) इसी लिये निर्विकल्प ज्ञान का स्पष्टत्व विकल्प में आरोपित हो जाने के कारण लोगों को उस में प्रत्यक्षत्व का विभ्रम हो जाता है। (वास्तव में विकल्प परांक्ष

पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्तेर्निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रावसायिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात्।

अथ संहतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तित्वस्तुनिर्भासिविशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं संवेद्यत एव। तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि। तदुक्तम्—

‘प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।।’ (प्र.वा.२-१२३) इत्यादि।

5

तथा पुनरप्युक्तम्—

“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साक्षजा मतिः।।”

(प्र.वा.२, १२४)

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते। न च विकल्पानां स्वसंवि-
दितरूपतयाऽननुभूयमानानामपि संभव इति विकल्पविकला सावस्था सिद्धा। असदेतत्— यतस्तस्यामव- 10
स्थायां स्थिरस्थूलस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोव्यवस्थितगवादिप्रतिभासस्यानुभूतेः सविकल्पज्ञानानुभव एव।
न हि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वम् तद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाऽभ्युपगमात्, अन्यथाऽ-
होता है।)” — यह कथन इस लिये परास्त हो गया है कि पूर्वोक्त प्रमाणावलम्बित चर्चा से विकल्प
में ही विशदत्व की संगति होती है। दूसरी ओर, निरंश-क्षणिक-परमाणुमात्र को ही विषय करनेवाला
निर्विकल्प ज्ञान कभी भी अनुभवारूढ ही नहीं है, फिर उस में ही विशदत्व के स्वीकार की तो वार्त्ता 15
दूर से ही परास्त हो जाती है।

[विकल्पशून्य निर्विकल्पानुभवसिद्धि का निरसन]

पूर्वपक्ष :- विकल्पों की मायाजाल उपशान्त हो जाने की अवस्था में सन्मुखस्थ वस्तुदर्शी इन्द्रियजन्य
स्पष्ट ज्ञान अनुभवारूढ होता है, वही निर्विकल्पक ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव जब निर्विकल्प
ज्ञान स्वरूप ही होता है तो कल्पना (सविकल्प) का निषेध भी प्रत्यक्षसिद्ध हो ही गया, दूसरा कोई 20
प्रमाण ढूँढने की जरूर नहीं रहती।

प्रमाणवार्तिक (२-१२३) में कहा है — ‘कल्पनाव्यपेत प्रत्यक्ष की प्रत्यक्ष से ही सिद्धि होती है।’
इत्यादि। और भी उस में (२-१२४) कहा है कि ‘सभी विधाओं से चिन्ता (कल्पना) के संहत हो
जाने पर विक्षेपरहित अन्तरात्मा में अवस्थित (पुरुष) चक्षु से जो रूप दीखता है वह इन्द्रियजन्य
बुद्धि (प्रत्यक्ष) है।’ 25

इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष की उत्पत्ति के काल में नाम रूप आदि से संकीर्ण अर्थ का उल्लेखकारी विकल्पात्मक
ज्ञान अनुभव में नहीं आता। विकल्प तो स्वसंवेदनसिद्ध होते हैं, इसलिये प्रत्यक्ष काल में विकल्प
का अनुभव न होने पर भी सम्भव मानना युक्तिबाह्य है। इस लिये प्रत्यक्षकाल में अनुभव-अवस्था
विकल्पशून्य सिद्ध होती है।

उत्तरपक्ष :- ये विधान गलत हैं। मतलब, अनुभवसिद्ध विकल्प का अपलाप है। प्रत्यक्ष-अवस्था 30
में, ‘खडी है, स्थूल है, गौ-शब्द से व्यवहार्य है, सामने ही है’ इस प्रकार से गौ-आदि की प्रतीति
निर्बाध अनुभूत होती है — यानी सविकल्प ही ज्ञान का अनुभव होता है। सिर्फ शब्द के संसर्ग

व्युत्पन्नसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावद् न स्यात्। न च पूर्वकालदृष्टत्वस्य वर्तमानसमय-
भाविनि संयोजनाच्छब्दोल्लेखाभावेऽप्यसदर्थग्राहितयाऽविशदप्रतिभासत्वात् तत् सविकल्पकम्, पूर्वकाल-
दृष्टत्वस्य पूर्वदर्शनाऽप्रतीतावपि व्यापकाऽप्रतीतौ व्याप्यस्येव प्रतीतेरसत्त्वाऽसिद्धेस्तत्सम्बन्धित्वग्राहिणोऽ-
सदर्थताऽसिद्धेर्वेश्याभावस्य तत्रानुपपत्तेः, शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य विशदतया विकल्परूपस्याप्यध्यक्ष-
तोपपत्तेः, शब्दयोजनामन्तरेणाऽपि स्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं निर्णयात्मकं ज्ञानमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा
5 तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं भवेत्।

तथाहि— यत्रैवांशे नीलादौ विधि-प्रतिषेधविकल्पद्वयं पाश्चात्यं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यम्
तदाकारोत्पत्तिमात्रेण प्रामाण्ये क्षणिकत्वादावपि तस्य प्रामाण्यप्रसक्तेः क्षणक्षयानुमानवैफल्यमन्यथा भवेत्।
विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणम् तत्संयोजना च शब्दस्मरणमन्तरेणाऽसंभविनी, तत्स्मरणं च प्राक्तत्सं-
10 निध्युपलब्धार्थदर्शनमन्तरेणानुपपत्तिमत्, तद्दर्शनं चाध्यक्षतः क्षणिकत्वादाविव निश्चयजननमन्तरेणासंभवि,

का प्रतिभास ही सविकल्पक नहीं कहा जाता, शब्द के संसर्ग की योग्यता धारण करने वाला प्रतिभास
भी सविकल्प ही माना जाता है। ऐसा न माने तो जिस को संकेतज्ञान ही नहीं हुआ ऐसे बालक
के ज्ञान को आप सविकल्प का लेबल ही नहीं लगा सकेंगे, क्योंकि वहाँ शब्द के संसर्ग को अवकाश
ही नहीं है।

15 [विकल्प की असदर्थता का साधन - निरसन]

पूर्वपक्ष :- शब्दोल्लेख के न होने पर भी वर्तमानक्षणभावि वस्तु में शब्दसंकेतविरहावस्था में भी
पूर्वकालसंजातदर्शन की असद्भूत विषयता का संयोजन करने के कारण, असत् अर्थावभासी होने के
कारण अस्पष्टावभासी होने से वह ज्ञान सविकल्प होता है। (प्रमाणभूत नहीं होता।)

उत्तरपक्ष :- पूर्वदर्शन की वर्तमान में प्रतीति न होने पर भी पूर्वकालदर्शनविषयता की प्रतीति
20 होने में बाध नहीं है, जैसे व्यापक अग्नि के न दिखने पर भी उस का व्याप्य धूम दीखता है;
इस लिये पूर्वकालदृष्टता असत् नहीं कही जा सकती। अत एव पूर्वकाल दर्शन विषयतारूप संसर्गता
के ग्राहक विकल्प को असदर्थक नहीं कह सकते। उस में स्पष्टता अनुभवसिद्ध, उपपत्तिसंगत होने से
उस का अभाव नहीं है। पहले कहा है तदनुसार उस में शब्दसंसर्गयोग्य प्रतिभास स्पष्ट होने से
विकल्परूप होने पर भी उस को अध्यक्ष मानने में कोई बाध नहीं। अत एव शब्दसंयोजना के विना
25 भी स्थिर एवं स्थूल रूप से अर्थ का भासक निर्णयात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष (प्रमाण) रूप' है ऐसा स्वीकार
निर्बाध है। ऐसा न मानने पर किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य संगत नहीं हो सकेगा।

[अर्थदर्शक निर्विकल्प ज्ञान पर चक्रक दोषापत्ति]

देखिये — आप का ही कथन है कि उत्तरकाल में नीलादि विधिरूप या नील के निषेधरूप दो
में से एक विकल्प को उत्पन्न करनेवाला निर्विकल्प ज्ञान उसी नीलादि अर्थ में प्रमाण होता है न कि
30 स्वयं नीलादिआकार उत्पन्न हुआ है इतने मात्र से। यदि तत्तदाकार से उत्पन्न होने मात्र से उस को
प्रमाण माना जाय तो क्षणिकाकार से उत्पन्न होने के कारण उसे क्षणिकत्व की सिद्धि में भी प्रमाण मानना
पडेगा! फलतः प्रत्यक्ष से ही क्षणिकत्व की सिद्धि हो जाने से क्षणभंगसाधक अनुमान निरर्थक हो जायेगा।

निश्चयश्च शब्दयोजनाव्यतिरेकेण नाभ्युपगम्यत इत्यध्यक्षस्य क्वचिदप्यर्थप्रदर्शकत्वाऽसम्भवात् प्रामाण्यं न भवेत्। तस्मात् शब्दयोजनामन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथाऽविकल्पाध्यक्षेण लिङ्गस्याप्यनिर्णयात्, अनुमानात् तन्निर्णयेऽनवस्थाप्रसक्तेरनुमानस्याप्यप्रवृत्तिः सकलप्रमाणादिव्यवहारविलोपः स्यात्।

अत एव “अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनात् न तदा गोशब्दसंयोजना, तस्यास्तदाऽननुभवात्, युगपद्वि- 5 कल्पद्वयानुत्पत्तेश्च निर्विकल्पगोदर्शनसद्भावस्तदा।” () इति निरस्तम्। गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात् अन्यथाऽश्वविकल्पनाद् व्युत्थितस्य गवि क्षणिकत्ववत् शब्दस्मरणाऽसंभवतः स्मृतिर्न भवेत्। अभ्युपगमनीयं चैतत् अन्यथा गोशब्दस्मरणस्यापि विकल्परूपत्वादपरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तथाभूतस्यानुपपत्तेरपरतच्छब्दस्मरणमित्यनवस्थानात् प्रथमशब्दस्मरणमिति न क्वचिद् विकल्पप्रसवो भवेत्। अथापरशब्दस्मरणमन्तरेणापि शब्दस्मरणसंभवात्तानवस्था, तर्हि प्रथमशब्दस्मरणं तद्योजनं च व्यतिरेके- 10

शब्द से संकलित अर्थ के ग्रहण को आप विकल्प कहते हैं। शब्द की स्मृति के विना शब्द की संकलना संभवित ही नहीं है। शब्दस्मृति विकल्पोत्पत्ति के काल में तभी उपपन्न होगी जब पूर्वकालीन शब्द के सांनिध्य में उपलब्ध अर्थ का पुनः दर्शन होगा। वह दर्शन भी तभी प्रमाण होगा जब क्षणिकत्व के निश्चय के उत्पादन की तरह वह यहाँ शब्द के निश्चय को उत्पन्न करेगा। निश्चय भी तब होगा जब शब्द की संकलना होगी। इस प्रकार चक्रक दोष उपस्थित होने से प्रत्यक्ष निर्विकल्प ज्ञान कहीं अर्थप्रदर्शक 15 हो नहीं पायेगा। अत एव निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण नहीं होगा। इस संकट से बचने के लिये प्रत्यक्ष को शब्दसंकलना के अभाव में भी अर्थनिर्णयात्मक मानना होगा। यदि नहीं मानेंगे तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष से लिङ्ग (धूमादि) का भी निर्णय नहीं हो पायेगा तो अनुमान भी कैसे होगा? यदि लिंग का निर्णय अनुमान से मानेंगे तो जिस अनुमान से मानेंगे उस अनुमान के लिये आवश्यक लिंग का निर्णय कौन करेगा? यदि अन्य अनुमान, तो उस के लिंग का भी अन्य अनुमान से... इस तरह अन्य अन्य अनुमानों 20 का कोई अन्त ही न आयेगा। मतलब, प्रथम अनुमान भी नहीं होगा, फलतः अन्य प्रमाण भी लुप्त होने से प्रमाणादि सर्व व्यवहार लुप्त हो जायेगा।

[शब्दसंयोजना बगैर भी गोदर्शनरूप निर्णय]

उपरोक्त दोषप्रसक्ति के कारण ही, पूर्वपक्षी ने यह जो कहीं कहा है — “जब अश्व का विकल्प हो रहा है तब गो के दर्शन से निर्विकल्प गोदर्शन का उत्थान ही मानना होगा, क्योंकि उस काल 25 में अनुभवोपाखण्ड न होने से उधर गोशब्द की संयोजना को अवकाश ही नहीं है, एवं उसे किसी प्रकार मान ली जाय तो भी एक साथ दो विकल्प हो नहीं सकते इस लिये भी उस वक्त गो-विकल्प निरवकाश ही है।” — यह भी निरस्त हो जाता है। पहले कहा है तदनुसार गोशब्द की संयोजना के विरह में भी होनेवाला गो-दर्शन निर्णयात्मक हो सकता है न कि निर्विकल्पक। यदि इस तथ्य को अमान्य करेंगे तो अश्व विकल्प पूरा हो जाने पर, गोशब्द के स्मरण के असंभव के कारण गाय 30 का स्मरण भी नहीं हो पायेगा (जो कि होता तो है) जैसे क्षणिकत्व का स्मरण नहीं होता है वैसे ही। इस तथ्य को अनिच्छया भी स्वीकारना होगा अन्यथा यह संकट होगा — गोशब्दस्मरण भी एक

- णाप्यश्वविकल्पनसमये गोदर्शनस्य निर्णयात्मनः संभवात् कथमस्याऽविकल्परूपता सिद्धिमुपगच्छेत् ? यदपि 'निरंशवस्तुसामर्थ्याद्भूतत्वात् प्रथमाक्षसंनिपातजं निरंशवस्तुग्राहि निर्विकल्पकम्' इति तदप्यसंगतम् निरंशस्य वस्तुनोऽभावेन तत्सामर्थ्याद्भूतत्वस्य निर्विकल्पकत्वहेतोस्तत्राऽसिद्धेः। न च यत् निरंशप्रभवं तन्निरंशग्राहि, निरंशरूपक्षणप्रभवस्याप्युत्तररूपक्षणस्य तद्ग्राहित्वाऽदर्शनात्। न च 'ज्ञानत्वे सति' इति विशेषणान्नायं
- 5 दोषः, प्रत्यक्षप्रभवविकल्पस्य ज्ञानत्वेऽपि तद्भावानुपपत्तेः उपपत्तौ वा हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनाध्यक्षप्रभव-निर्णयेन तद्ग्रहणोपपत्तेर्निश्चयविषयीकृतस्य चाऽनिश्चितरूपान्तराभावात् स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिरपि तद्गतस्य निश्चयात् तत्र विप्रतिपत्तिर्न भवेत्।

- विकल्प ही है, उस विकल्प में भी जो 'गोशब्द' संयोजना है वह दूसरे तथाविध गोशब्दस्मरण के बिना असंभव होगी। अतः वह दूसरा गोशब्दस्मरण स्वीकारना होगा, वह भी एक विकल्प है इस
- 10 लिये उस में गो-शब्दसंयोजना की घटना के लिये और एक गो-शब्दस्मरणरूप विकल्प... उस के लिये और एक ... इस प्रकार अनवस्था के कारण प्रथम गो शब्दस्मरणरूप विकल्प भी सत्तालाभ नहीं कर पायेगा। यदि कहें कि — अन्य अन्य शब्दस्मरण के बिना ही प्रथम स्मरण होगा; अतः अनवस्था दोष नहीं रहेगा; — तो ऐसे ही प्रथम गोशब्दस्मरण एवं गोशब्द की योजना के विरह में भी अश्वविकल्पन-काल में 'निर्णयात्मक' गोदर्शन संभव है, तब वह निर्विकल्प ही होने की सिद्धि कैसे शक्य होगी ?

15 ['निरंशवस्तुजन्य दर्शन निरंशग्राहि' ऐसा विधान असंगत]

- यदि ऐसा माना जाय — 'प्रथम इन्द्रियसंनिकर्ष से होने वाला दर्शन निरंश (अखण्ड) गोस्वलक्षणात्मक वस्तु के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण निरंश वस्तु का ही ग्राहक हो सकता है, इसी लिये वह निर्विकल्प होता है न कि निर्णयरूप।' — तो यह भी असंगत है क्योंकि वस्तुमात्र अनेकअंशात्मक ही होती है, निरंश कोई वस्तु ही नहीं होती, इस लिये निर्विकल्पत्व की सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'निरंशवस्तुसामर्थ्य
- 20 से उत्पत्ति' रूप हेतु ही वहाँ असिद्ध है। ऐसी कोई व्याप्ति भी नहीं है कि 'जो निरंश (वस्तु) से निपजता है वह निरंश (वस्तु) का ग्राहक होता है'; अन्यथा निरंशरूपक्षण से निपजनेवाला उत्तररूपक्षण भी पूर्वरूपक्षण का ग्राहक बन जायेगा जो कि नहीं दिखता। यदि परिष्कार कर के कहा जाय कि निरंशवस्तु से निपजनेवाला 'ज्ञान' निरंशग्राहक होता है तो ऐसा नियम भी गलत है क्योंकि दर्शन स्वयं निरंश है, उस से उत्पन्न होनेवाला विकल्प ज्ञानरूप ही है फिर भी वह आप के मत से निरंशग्राही नहीं होता।
- 25 यदि आप विकल्प में निरंशग्राहिता मान्य करेंगे तो यह संकट होगा कि हिंसाविरमणचित्त या दानचित्त का जब स्वसंवेदि दर्शनप्रत्यक्ष होगा तब तज्जन्य निर्णय (विकल्प) भी तत्तत् निरंश चित्त का ग्राहक (निश्चायक) हो जायेगा। अब उन चित्तों में निश्चित-अनिश्चित ऐसे दो-रूप तो है नहीं, सिर्फ 'निश्चित' ऐसा एक ही रूप शेष रहा, तब तत्तत् चित्तगत स्वर्गदायकसामर्थ्य भी 'अनिश्चित' नहीं 'निश्चित' ही बन जायेगा। फिर किसी को भी अहिंसा या दान से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि के बारे में संदेह या
- 30 विवाद ही नहीं रहेगा, क्योंकि वह स्वसंवेदि दर्शनजन्य निर्णय से यानी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध (निश्चित) हो गया है। प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु में संदेह या विवाद निरवकाश है।

अथानुभवस्यैवायं यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षणः स्वभावविशेषो, न विकल्पस्य, तेनाऽयमदोषः। तर्हि यथा दानचित्तानुभवः स्वसंवेदनाध्यक्षलक्षणस्तद्गतं सदद्ब्रव्यचेतनादिकं विषयीकरोति तथा स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमपि तत्स्वरूपाऽव्यतिरिक्तत्वात् विषयीकुर्यात् ततश्च सदद्ब्रव्यचेतनत्वादाविव तत्रापि विवादो न भवेत्।

न चासौ नास्तीति शक्यं वक्तुम्, चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात्। तथाहि— 'यावज्जीवेत् सुखं जीव' ()* इत्याद्यभिधानाद् न स्वर्गः नापि तत्प्राप्तिहेतुः कश्चिद् भाव इति चार्वाकाः। "नैव 5 दानादिचित्तात् स्वर्गः, यदि ततो भवेत् तदनन्तरमेवासौ भवेत् अन्यथा मृताच्छिखिनः केकायितं भवेत्, तस्मात् ततो धर्मः तस्माच्च स्वर्गः" () इति नैयायिकादयः। "इष्टानिष्टार्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माऽधर्मौ" () इति मीमांसकाः। उक्तं च शाबरे— "य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते" (मीमांसा दर्शन-१।१।१२

[निर्विकल्प को वस्तुग्राहि मानने पर स्वर्गादिविवाद कैसे ?]

यदि कहा जाय — 'यथार्थ वस्तु का ग्रहण — यह सिर्फ अनुभव की ही विशेषता है, न कि 10 विकल्प की। इस लिये विवादशून्यता प्रसक्त नहीं है।' — तो यह कथन निष्फल है क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षात्मक दानचित्तानुभव की जैसे यह विशेषता है कि वह स्वस्वरूप सत् (सत्त्व), द्रव्य एवं चैतन्यादि को ग्रहण करता है वैसे ही स्वस्वरूप स्वर्गदायकसामर्थ्य को भी ग्रहण कर लेगा, फलतः सत्त्व, द्रव्य-चैतन्यादि स्वरूपों के बारे में जैसे अविवाद है वैसे ही स्वर्गदायक सामर्थ्य के बारे में भी नास्तिकों के साथ विवाद निरवकाश हो जायेगा। 15

'वैसा कोई विवाद नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चार्वाक (नास्तिकों) के साथ विवाद का होना दृष्टिगोचर है।

देखिये — चार्वाकों का कथन है, 'जब तक जीओ मझा से जीओ। न तो कोई स्वर्ग विद्यमान है न तो उस की प्राप्ति का कोई भावात्मक उपाय है।'

नैयायिक कहते हैं — दानादि चित्त से (साक्षात्) स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती। यदि हो तो दानादि 20 करने बाद तुरंत हो जानी चाहिये। यदि दानादिक्रिया पूर्ण हो जाने के बाद (यानी दानादि क्रिया समाप्त हो जाने के बाद) पाँच-पचीस वर्षों के बाद स्वर्गप्राप्ति हो तो मरे हुए मयूर के टहूके भी सुनाई पड़ेंगे। (दोनों ओर व्यवधान तुल्य है।) अतः मानना होगा कि दानादि की क्रिया से धर्म (पुण्य) का उद्भव होता है और उस से स्वर्ग प्राप्त होता है।

मीमांसकों का कहना है — 'इष्ट अर्थ सिद्ध करने की (वस्तुगत) योग्यता धर्म है और अनिष्ट 25 अर्थ प्राप्त कराने की योग्यता (वस्तुगत) अधर्म है।' शाबरभाष्य में भी कहा है — 'जो श्रेयस्कारी है वही 'धर्म' शब्द से सूचित होता है।' शबरस्वामि का तात्पर्य यह है कि द्रव्य-गुण-कर्मों में जो

*. भूतपूर्वसम्पादकपंडितयुगलेन पृष्ठ ५०५ अधोभागे याः दीप्यन्तः रचिताः तत उद्धृत्यात्र निर्दिष्टाः यथा— न्यायमञ्जरी सप्तमोऽधिके—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नस्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः।। तथा माधवाचार्येण सर्वदर्शनसंग्रहे कथितम्— यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। तथागुणरत्नसूरिणा ष.व.समु.टीकायाम्— यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् तावद्वैषयिकं सुखं। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

शाबर-पृष्ठ ४ पं. १५) अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्म इति प्रतिपादितं ▲ शबरस्वामिना । भट्टोप्येतदेवाह— (श्लो.वा.सू.२ श्लो.१९१ — १३ उ.—१४)

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेव धर्मता ॥

*एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥

5 श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते । ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥ इति एवमनेकधा विवाददर्शनाद् न विवादाभावः ! स च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यस्य दानचित्तादभेदे वस्तुस्वरूपग्राहिणा च स्वसंवेदनाध्यक्षेणानुभवे सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव न युक्तः ।

अथ तच्चित्तादभिन्नं तत्प्रापणसामर्थ्यं तद्ग्रहे गृहीतमेव किन्तु स्वसंवेदनस्य “सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पम्” () इति वचनाद् अविकल्पाध्यक्षत्वमिति तद्गृहीत्याऽगृहीतकल्पत्वाद् विवादसम्भवस्तत्र ।

10 आह च कीर्तिः ‘पश्यन्नपि न पश्यति’ (द्र.द्वि.खंडे १७६-४) इत्युच्यते— असदेतत्, यतो यदि तत्सामर्थ्यं इष्टार्थसाधनयोग्यता है वही धर्म है ।

कुमारील भट्ट श्लोकवार्तिक में कहता है — पुरुष (मनुष्य) को प्रीति का (आस्वाद का) उद्भव यही श्रेयस् है, चोदनास्वरूप (अर्थात् वेदबोधित) द्रव्य-गुण-कर्म से वह सिद्ध होती है, अत एव उन में ही धर्मता रहती है ॥१९१॥ वे इन्द्रियगोचर हैं, किन्तु इन्द्रियगोचरत्वेन रूपेण उन में धर्मता नहीं होती ॥१३ उत्तरार्द्ध ॥ — द्रव्यादि की श्रेयःसाधनता हरहमेश वेदों से ही बोधित होती हैं (अतः) वेदबोधितरूप से ही (उन में) धर्मत्व रहता है, अत एव वह इन्द्रियगोचर नहीं होती ॥१४ ॥

उपरोक्त स्वरूप धर्म के स्वर्गदायक सामर्थ्य, उस की प्रत्यक्षता-परोक्षता आदि विषय में विवाद दृष्टिगोचर होने से विवादशून्यता नहीं है यह स्पष्ट होता है। यदि दानादिचित्त का स्वर्गदायकसामर्थ्य दानादिचित्त से सर्वथा तादात्म्यापन्न है एवं वस्तुस्वरूपग्राहि स्वसंवेदिप्रत्यक्ष से दानादिचित्त अनुभवगोचर है तो, जैसे चित्त के सत्-द्रव्य-चैतन्य स्वरूप अनुभवगोचर होने से उस में कोई विवाद नहीं है, वैसे दानादिचित्तस्वरूप स्वर्गदायकसामर्थ्य भी अनुभवगोचर बन जाने से उस के बारे में किसी (उपरोक्त) विवाद को अवकाश ही नहीं रहेगा ।

[स्वर्गादिदायकसामर्थ्य का निर्विकल्प]

यदि कहा जाय — “दानादिचित्त से स्वर्गादिदायकसामर्थ्य अभिन्न ही है, अत एव दानादिचित्त के ग्रहण में उस का ग्रहण समाविष्ट ही है। ‘तब उस के लिये विवाद क्यों’ — इस प्रश्न का उत्तर यह है कि “चेतस् एवं चैतसिक धर्मों का स्वसंवेदन निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है” इस सांप्रदायिक अभिप्राय के अनुसार दानादिचित्त का संवेदन भी निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप ही होता है जो कि गृहीत रहने पर भी निर्विकल्पता के कारण अगृहीत जैसा ही रहता है — यही कारण है विवाद के उत्थान का । धर्मकीर्ति ने कहा है — ‘देखता हुआ भी नहीं देखता।’ मतलब, निर्विकल्प प्रत्यक्ष वस्तु को देखने पर भी

▲. तत्त्वसंग्रह-पञ्जिकायाम् । अपि च शास्त्रदीपिकायां (१-१-२), श्लो० वा० पार्थ० व्याख्यायां च निरूपितम्— “यद्यपि गोदोहनादिव्रव्यम् यागादिक्रिया नीचैस्त्वादिगुणश्च फलसाधनत्वाद् धर्मशब्देनोच्यते नाऽपूर्वादय इति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यते, तथापि तेषां फलसाधनरूपेण धर्मत्वात् फलस्य च जन्मान्तरादिभावित्वाद् धर्मस्वरूपेण प्रत्यक्षाविषयत्वं न संभवति ।”

◆. पूर्वार्धमस्यैवम् ‘द्रव्य-क्रिया-गुणादीनां धर्मत्वं व्यवस्थाप्यते ।

निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् गृहीतमप्यगृहीतकल्पं तर्हि तच्चित्तमपि तत् एव तथा भवेत् अविशेषात्। तथा च 'यद् दानादिचित्तं तद् बहुजनसेव्यतानिबन्धनम् यथा त्यागिनरपतिचित्तम् दानादिचित्तं च विवक्षितम्' इत्याद्यनुमानमगमकम् आश्रयासिद्धत्वादिदोषात् प्रसज्येत। अथात्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोषः। असदेतत्— यतो यद्यहेतुको विकल्पश्चित्तवत् तत्सामर्थ्येऽपि भवेत्, अथ न तत्र — चित्तेऽपि मा भूत् अविशेषात्। न च चेतोविकल्पप्रभव एवानुभवः समर्थो न तत्सामर्थ्यविकल्पोत्पत्ताविति वक्तव्यम् यतो 5 येन स्वभावेन तच्चित्तचेतनादिकं स्वसंवेदनाध्यक्षमनुभवति तेनैव चेत् तत्सामर्थ्यम् तर्ह्युभयत्रापि विकल्पस्ततः प्रादुर्भवेत्। अथ रूपान्तरेण तर्ह्युभयरूपतैकस्यानुभवस्येत्यविकल्पकैकान्तवादव्याघातः।

न चैकेनैव स्वभावेनोभयानुभवेऽपि तत्सामर्थ्यं न विकल्पमुत्पादयत्यनुभवोऽशक्तेः, अन्यत्र तदुत्पादयति विपर्ययादिति वक्तव्यम् एकस्य शक्तेतरस्वद्वयाऽयोगात्। न चैकत्र शक्तिरेवान्यत्राऽशक्तिः तस्येति, ईश्वरस्यापि

न देखने जैसा होता है।" — यह कथन ठीक नहीं है। यदि स्वर्गादिसाधकसामर्थ्य निर्विकल्पप्रत्यक्ष 10 का विषय होने से गृहीत होने पर भी अगृहीत जैसा मानते हैं तो फिर दानादि चित्त को भी वैसा ही मानना पड़ेगा। यानी कोई तफावत न होने से दानादिचित्त भी अगृहीत जैसा होने से विवादग्रस्त बन जायेगा। अब तो आपका यह अनुमान भी निष्फल बनेगा — दानादि चित्त बहुजनों के लिये सेवापात्र है, जैसे त्यागी भूपति का चित्त, दानादि चित्त भी त्यागी जैसा होने से सेवापात्र है। — इस अनुमान में आश्रयासिद्धि आदि अनेक दोष प्रसक्त हैं। कारण, दानादिचित्तरूप पक्ष अगृहीत जैसा 15 यानी असिद्ध है। ऐसा कहें कि — 'दानादिचित्तविषयक विकल्पोत्पत्ति होती है, इस लिये उक्त दोष नहीं है' — तो यह गलत है। क्या विकल्प स्वयं उत्पन्न होता है या किसी हेतु से ? यदि स्वयं उत्पन्न होगा तो चित्तप्रदर्शक विकल्प की तरह सामर्थ्यप्रदर्शक विकल्प क्यों स्वयं नहीं होता ? अथवा यदि सामर्थ्य प्रदर्शक विकल्प नहीं होता तो चित्तप्रदर्शक भी कैसे स्वयं होगा ? कोई पक्षपात तो विकल्प को नहीं है ! यदि कहा जाय कि अनुभवात्मक हेतु से विकल्प निपजता है न कि स्वयं, 20 तो वह अनुभव जैसे चित्त का हुआ है वैसे सामर्थ्य का भी अनुभव उस में समाविष्ट ही है, दोनों के लिये अनुभव साधारण है, फिर वही प्रश्न कि सामर्थ्य का प्रदर्शक विकल्प क्यों नहीं होता ? यदि कहा जाय — 'अनुभव सिर्फ चित्तप्रदर्शक विकल्प निपजाने में ही सक्षम है, सामर्थ्यप्रदर्शक विकल्प के उत्पादन में नहीं' — तो यह भी अनुचित है, क्योंकि यहाँ स्वभावभेद से स्वरूपविलय का संकट होगा। देखिये — जिस स्वभाव से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, चित्त-चैतन्यादि का अनुभव करता है यदि उसी 25 स्वभाव से वह उस के स्वर्गदायक सामर्थ्य का भी अनुभव करेगा तब तो सामग्री समान होने से सामर्थ्य का विकल्प दुर्निवार रहेगा। यदि अन्य स्वभाव से वह चित्त का अनुभव करता है तो एक ही स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष में अन्य अन्य स्वभाव प्रसक्त होने से वह एकान्ततः निर्विकल्प नहीं रह पाया, अतः एकान्तनिर्विकल्पवाद को चोट पहुँचेगी।

[एक पदार्थ में शक्ति-अशक्ति धर्मद्वय अनुपपत्ति]

30

ऐसा मत कहना कि — "चित्त और सामर्थ्य दोनों का एक ही स्वभाव से अनुभव होता है न कि अन्य अन्य स्वभाव से। फिर भी सामर्थ्य के विकल्प के जनन में अशक्त होने के कारण उसको

- क्रमभाविकार्यविधायिन एकत्र शक्तिरेवापरत्राऽशक्तिरिति स्वभावभेदो न भवेदिति न नित्यकारणप्रतिक्षेपो भवेत्। अथ नानुभवमात्राद् विकल्पप्रभवः, अन्यथा निर्णयात्मकानुभववादिनोऽपि विस्तीर्णप्रघट्टकादौ वर्णपद-वाक्यादेः सकलस्य निर्णयात्मनाऽध्यक्षेणानुभवात् स्मरणविकल्पानुदयो न भवेत्। अथाऽत्र दर्शनपाटवाभ्यासाद्यपेक्षा तर्ह्यन्यत्रापि सा तुल्येति। एतदप्यसत्, यतो दर्शनस्य पाटवं सच्चेतनादौ तद्ग्रहणयोग्यता तत्सामर्थ्येऽपाटवं
- 5 तद्ग्रहणयोग्यता, तच्च दर्शनस्य दृश्यस्य च सांशतायामुपपत्तिमदिति कथं न सविकल्पकता ? विकल्प-जननाऽजनने तत्पाटवाऽपाटवे अपि नाभ्युपगमनीये सांशतापत्तिदोषादेव। अथाऽभ्यासादिसहायं दर्शनं विकल्पमुत्पादयति। नन्वेवमपि यदेव सच्चेतनादौ दर्शनं तदेव चेद् अन्यत्र, उभयत्र विकल्पोत्पत्तिर्भवेत्
- वह उत्पन्न नहीं करता। चित्तविषयक विकल्प में सक्षम होने से वह चित्तविकल्प को उत्पन्न करता है।”
- इस कथन के निषेध का कारण यह है कि एकान्तवाद में एक ही वस्तु के समर्थ-असमर्थ दो स्वभाव
- 10 विरुद्ध होने से सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय — स्वभावभेद मत कहो, क्योंकि जो चित्तविकल्पजननशक्ति है वही सामर्थ्यविकल्पजननशक्ति है, अलग नहीं है- तो यह गलत है, क्योंकि नित्यवादी भी इस तरह कहेगा कि नित्य ईश्वर में जिस समय कुछ कार्यों के जनन की शक्ति है उसी समय भावि (क्रमशः उत्पन्न होनेवाले) कार्यों के उत्पादन में अशक्ति है जो कि शक्ति से अभिन्न है, अतएव ईश्वर में स्वभावभेद की आपत्ति निरवकाश होने से नित्यकारण वाद का प्रतिकार भी गलत ठहरेगा।
- 15 [निर्णयात्मक अनुभवपक्ष में अनिष्टप्रसञ्जन का निरसन]
- यदि कहा जाय — ‘ऐसा नियम नहीं है कि जिस जिस का अनुभव हुआ है उन सभी विषयों का विकल्प उत्पन्न होना चाहिये। नियम मानने पर तो निर्णयात्मक (सविकल्परूप) अनुभव के स्वीकार पक्ष में भी बाधा आयेगी; ग्रन्थ के विस्तृत वाक्य समुदाय को सुनने पर प्रत्येक वर्ण-पद-वाक्य का निर्णयात्मक श्रवण प्रत्यक्षरूप अनुभव मानना पड़ेगा। फलस्वरूप, प्रत्येक वर्ण-पदादि का स्मरण या विकल्प
- 20 भी आप को मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा तो नहीं होता। (कुछ वर्ण-पदादि का स्मरण उदित होता है, कुछ वर्णादि का नहीं होता।) इसकी संगति के लिये दर्शन (निश्चय) की पटुता, पुनः पुनः दर्शनरूप अभ्यास, तथा प्रकरणादि की अपेक्षा को भी कारण दिखायेंगे, तो हम भी कहेंगे कि चित्त के विकल्प के उदय में जो पटुता, अभ्यास एवं प्रकरणादि सहकार होता है वैसा सामर्थ्य के विकल्प के लिये सहकार न मिलने से उस का उदय नहीं हो पाता। दोनों पक्ष में अपेक्षावाद तुल्य है!’ — तो यह
- 25 भी गलत है। कैसे यह देखिये — दर्शन की पटुता और तो कुछ नहीं उस चित्त के ग्रहण की योग्यतारूप ही है; एवं उस के सामर्थ्य के ग्रहण की अपटुता का मतलब है ग्रहण-अयोग्यता। चित्त और सामर्थ्य में भी इस प्रकार योग्यता-अयोग्यता मानना होगा। इस प्रकार संगति तभी बैठेगी जब दर्शन और दृश्य दोनों में सांशता (अनेकांशता) को सयुक्तिक माना जाय। ऐसी सांशता तो सविकल्प निश्चय में ही घट सकती है, न कि आप के माने हुए निर्विकल्प (= निरंश) दर्शन में। अत एव निर्विकल्प
- 30 दर्शनवाद में सांशता की आपत्तिरूप दोष के कारण ही जनन-अजनन और पटुता-अपटुता ऐसे दो स्वभाव भी मान्य नहीं हो सकता।

यह जो कहा जाता है कि — अभ्यासादि सहाय के रहते हुए दर्शन विकल्प को (स्वविषय

अन्यथा 'नित्यस्यापि सहकारिसचिवमेकदैकत्र यद्रूपं तस्यान्यत्रान्यदा सद्भावेऽपि न तत्कार्यकरणं तदा तत्र' इति तस्य यद् दूषणं तदसङ्गतं भवेत्।

किञ्च, यदपरमपेक्ष्य कार्यजनकं क्वचिद् दृष्टं तत् तत्सहकृतं कार्यं निर्वर्तयतीति युक्तं मृदादिवत् कुम्भकाराद्युपकृतम्। न चाभ्यासादिसहायमविकल्पकं कदाचिद् विकल्पमुपजनयद् दृष्टम् इति कथं तस्य सहकारिसचिवस्य विकल्पजनकताभ्युपगमः ? अथ सच्चेतनादिविकल्पमविकल्पकमुत्पादयद् दृष्टमिति तदभ्युपगमः; 5 स्यादेतद् यदि क्रमभाविहेतुफलभूतमविकल्पसविकल्पकं ज्ञानद्वयमवसीयेत, न च तदवसीयते, सांशैकविकल्प-स्वभावस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहिणः प्रथममेवोपजायमानस्यैकस्यैव निश्चयात्। तथाप्यप्रतीयमानस्य पूर्वकालभाविनोऽपरस्याऽविकल्पकस्याभ्युपगमे तत्राप्यपरस्य तथाभूतस्याभ्युपगम इत्यनवरथाप्रसक्तिः।

में) उत्पन्न करता है। यहाँ यह प्रश्न है, यदि अभ्यासादि सहायतावाला सत्-चेतना (चित्त) के विकल्प का उत्पादक दर्शन और सामर्थ्य को भी गृहीत कर लेने वाला (लेकिन उस के विकल्प का अनुत्पादक) 10 दर्शन एक ही है या अलग ? यदि सत्-चेतना का ग्राहक दर्शन ही सामर्थ्य का भी ग्राहक है तो वही सामर्थ्यग्राहक दर्शन जो कि अभ्यासादिसहाययुक्त ही है, तो सत्-चेतना एवं सामर्थ्य दोनों के विकल्प का उत्पादक होना चाहिये। यदि एक ही अभ्यासादिसहाययुक्त दर्शन को चित्त के विकल्प का उत्पादक किन्तु सामर्थ्यविकल्प का अनुत्पादक मानेंगे तो आपने जो यह नित्यवाद के ऊपर दूषण थोपा है कि — "सहकारिसान्निध्यवाला एक ही नित्यपदार्थ एक (प्रथमक्षण के) कार्य का उत्पादक रूपवाला है किन्तु 15 वही सहकारीसान्निध्यवाला नित्यपदार्थ दूसरे क्षण के कार्य का उस क्षण में अनुत्पादकरूपवाला है तो इस प्रकार वहाँ उस समय नित्य पदार्थ में स्वभावभेद प्रसक्त होने से क्षणिकवाद में प्रवेश होगा" — यह दूषण असंगत हो जायेगा। तात्पर्य, निश्चय सविकल्परूप ही होता है यह स्वीकार लेना पड़ेगा।

[अभ्यासादि की सहायता से विकल्प का उत्पादन अप्रमाण]

अपरं च, सही बात यह है कि किसी वस्तु की सहाय की अपेक्षा करते हुए कार्य को उत्पन्न 20 करनेवाला पदार्थ यदि कहीं दिखाई देता है तब तो वह पदार्थ उस वस्तु से सहकृत हो कर कार्य को जन्म देता है यह मानना युक्तियुक्त है, जैसे कुम्हार आदि से सहकृत हो कर घटादि कार्य को उत्पन्न करनेवाले मिट्टी आदि। यहाँ प्रस्तुत में, निर्विकल्प किसी अभ्यासादि से सहकृत हो कर विकल्प को जन्म देता हो ऐसा कभी भी दिखता नहीं; तब कैसे निर्विकल्प को अभ्यासादि की सहायता से विकल्प का जनक माना जाय ? यदि ऐसा कहें कि — 'निर्विकल्प सच्चेतनादि के विषय में विकल्प 25 को उत्पन्न करता हुआ दिखता है इस लिये उसका स्वीकार करते हैं' — वैसा तो तभी कह सकते हैं, यदि किसी एक ज्ञान में क्रमिक उत्पन्न होने वाले निर्विकल्परूप कारण और विकल्परूप उस का कार्य— ये दोनों ज्ञान एक साथ महसूस होते हो। आप के क्षणिकवाद में क्रमिक दो ज्ञान किसी एक ज्ञान में भासित ही नहीं हो सकते। वास्तव में तो भासता यही है कि प्रथम क्षण में ही अनेकांशवाला सामान्य-विशेषाभ्यात्मकवस्तुस्पर्शी एक ही सविकल्प ज्ञान उदित होता है। यदि इस से विपरीत, 30 अनुभवबाह्य सविकल्पपूर्वकालभावि अन्य एक निर्विकल्प का (युक्तिसंगत न होने पर भी) स्वीकार करेंगे तो फिर उस के पूर्वकाल भावि और भी एक... उस के भी पूर्वकालभावि और भी एक निर्विकल्प

यदप्यविकल्पकस्याभ्यासादिसहायविकल्पजनने प्रघट्टकाऽस्मरणं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तम् (पृ०१७२-पं०२) तदप्ययुक्तम्। यतो वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदाद् दृढसंस्काराण्येव निश्चयात्मकान्यपि ज्ञानानि स्मृतिजनकानि नापराणीति प्रतिनियतविषयस्मृतिसम्भवाद् न सकलप्रघट्टकाऽस्मरणदोषः, अनिश्चयात्मकं तु ज्ञानं क्षणिकत्वादाविव न क्वचिद् विकल्पहेतुर्भवेद् इत्युक्तं प्राक्। न च भवत्यक्षे सच्चेतनादि-स्वर्ग-प्रापणशक्त्यादीनां परस्परं तदनुभवानां च भेदः येनेदमुत्तरं समानं भवेत्। तथाहि—सच्चेतनादि-तत्सामर्थ्ययोरभेदे तदनुभवादेकरूपादुभयत्र संस्कारः स्मरणं वा भवेत् न वा क्वचिदिति, अन्यथा अनुभवस्य सांशतापत्तिरिति सविकल्पकत्वं भवेत्। तस्माद् दानचित्तादौ सच्चेतनत्वादिकमनुभूयते न स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्।

मानते ही चलिये और अनवस्था दोष को अवकाश देते रहिये... क्योंकि युक्ति के विना अनुभवबाह्य का स्वीकार आप को मंजूर है।

10 [एक प्रघट्टक के अस्मरण का दृष्टान्त अनुपयुक्त]

यह जो आपने कहा है — सामर्थ्य के विषय में अभ्यासादि सहायक न होने से उस के विषय में निर्विकल्प निश्चय को उत्पन्न नहीं करता, चित्त के विषय में निर्विकल्प निश्चय को उत्पन्न करता है क्योंकि वहाँ अभ्यासादि सहायक है। — ऐसा कह कर आपने पूरे प्रघट्टक (एक वाक्यसमुदाय) के अस्मरण का दृष्टान्त दिया था। (पृ०१७२-पं०१८) वह भी अयुक्त (= असंगत) है। कारण, वर्ण-पद आदि प्रत्येक व्यक्ति और उन के ज्ञान व्यक्ति भी भिन्न भिन्न होते हैं। अत एव उन समस्त व्यक्ति का स्मरण तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति का निश्चय निश्चयात्मक होने पर भी दृढ रूप से संस्कार उत्पन्न कर सके इतने सशक्त हो। यदि उन निश्चयों में कुछ निश्चय ऐसे होंगे जिन से शिथिलतम-शिथिलतर संस्कार उत्पन्न हुए होंगे — या संस्कार उत्पन्न ही नहीं हुआ होगा — ऐसे निश्चयों के द्वारा कुछ वर्ण-पद आदि की स्मृति का उत्पन्न न होना न्याययुक्त है। उस में कोई दोष नहीं है।

20 जब कि आप के मत में तो क्षणिकत्वादि ग्राही एवं चित्तग्राही अनिश्चयात्मक निर्विकल्प एक ही है, अत एव यदि उस से क्षणिकत्व (या सामर्थ्य) के विषय में निश्चय (सविकल्प) उत्पन्न नहीं होता तो फिर चित्तादि के विषय में भी विकल्प की उत्पत्ति का सम्भव नहीं रहता। पहले भी यह बात हो गयी है। मतलब, आप के पक्ष में सत् चेतना आदि और स्वर्गप्रापकसामर्थ्य आदि ये सब एक ही निर्विकल्प के एकस्वभावात्मक स्वरूप है, अभिन्न हैं, भिन्न भिन्न नहीं है। तो उन का अनुभव करने

25 वाले निर्विकल्प प्रत्यक्ष के साथ एक प्रघट्टक से सभी वर्णादि के अस्मरण की तुलना कैसे हो सकती है ?। आप ही सोचिये — निर्विकल्प प्रत्यक्ष से गृहीत सच्चेतनादि एवं सामर्थ्य यदि अभिन्न हैं तब उन के एकात्मक अनुभव (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) से उन दोनों के संस्कार एवं स्मरण तुल्यरूप से होने चाहिये या तो उन में से एक का भी संस्कार या स्मरण नहीं होना चाहिये। यदि एक का मानेंगे — दूसरे का नहीं मानेंगे तो अनुभव में उत्पादकत्व-अनुत्पादकत्व दो अंश प्रसक्त होने से सांशता

30 की विपदा होगी। अत एव वह निर्विकल्पस्वरूप न रह कर सविकल्परूप बन बैठेगा। परिणामस्वरूप, यही मानना पड़ेगा कि निर्विकल्प दान चित्तादि प्रत्यक्ष से सिर्फ सच्चेतनादि का ही अनुभव होता है न कि स्वर्गप्रापणशक्ति का।

अथ तच्चैतसो मूषिकालर्कविषविकारवदनन्तरं फलस्यानुपलम्भाद् अतत्फलसाधर्म्यादसामर्थ्यसमारोपाद् वा तदनुभवेऽपि न विकल्पः। तदुक्तम्— (प्र.वा.३-४३/४४)

“एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्यात् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ?।।”

“नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम्। शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात्।।”

अत्र च तात्पर्यार्थः— यद् यतोऽभिन्नं तस्मिन्ननुभूयमाने तदनुभूयते, यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नं 5 च सच्चैतनादेश्चैतसः स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम्, तस्य ततो भेदे सम्बन्धाऽसिद्धेः सामर्थ्यदेव तत्प्राप्तेः, चेतसस्तत्प्राप्तिं प्रत्यकारकत्वं च भवेत्। ‘निरंशस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेणानुभवेऽननुभूतापरांशाभावाद् न तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः प्रयोजनवती’ — अयं च निश्चयात्मकाध्यक्षवादिनो दोषः, निश्चिते विपरीतसमारोपाऽभावात् निश्चयारोप-

[सामर्थ्यानुभव से सामर्थ्यविकल्प न होने की बौद्ध — आशंका]

बौद्ध :- दानचित्त से स्वर्गप्रापणसामर्थ्य का भी संवेदन अवश्य होता है। फिर भी चित्त की 10 तरह सामर्थ्य का निश्चय (विकल्प) नहीं होता। उस का हेतु यह है कि — दानचित्त के बाद तुरंत उस के फल स्वर्गादि की उपलब्धि नहीं होती। जैसे चूहा काटे या अलर्क (पागल कुत्ता) काट ले तब उस के विषविकार का तुरंत उपलम्भ नहीं होता। अतः तत्फलसाधर्म्य (भोजनचित्त से त्वरित तृप्तिफल होता है वैसा फलसाधर्म्य) दानचित्त में न होने से, अथवा दानचित्त के समय असामर्थ्य के समारोप का त्वरित उद्भव आ पड़ने पर, सामर्थ्य का विकल्प नहीं उत्पन्न होता। प्रमाणवार्तिक 15 में कहा है —

“एक अर्थस्वभाव का स्वयं प्रत्यक्ष हो जाने पर दूसरा वह कौनसा अंश है जो अदृष्ट रह गया हो, जिस का (अन्य) प्रमाणों से निर्णय करना पड़े।।३-४३।। यदि भ्रान्ति के निमित्त (सादृश्यादि के) द्वारा अन्य किसी गुणधर्म का संयोजन (= आरोप) न हुआ हो। जैसे कि समानरूप के दर्शन से 20 शक्ति में रजताकार का आरोप होता है।” (३-४४) (यदि ऐसा आरोप हो तब अन्यप्रमाणों से निर्णय करना पड़ता है, यदि ऐसा आरोप न हो तब अन्यप्रमाणों से निर्णय जरूरी नहीं रहता। यानी प्रत्यक्ष से ही अर्थ का (उस के सामर्थ्यादि का) सामस्त्येन दर्शन/अनुभव सिद्ध हो जाता है।

यहाँ तात्पर्य यह है — जो जिस से अभिन्न हो वह उस के अनुभूत होने पर संवेदित हो जाता है जैसे उसका स्वरूप। सत्-चैतन्यग्राहक दानचित्त से स्वर्गप्रापकसामर्थ्य अभिन्न है, अत एव सत्-चैतन्य के अनुभूत होने पर स्वर्गप्रापकसामर्थ्य भी संवेदित होना चाहिये। यदि सामर्थ्य दानचित्त से 25 भिन्न मानेंगे तो सामर्थ्य का चित्त से कोई सम्बन्ध ही नहीं घटेगा। सामर्थ्य से ही दानचित्तमूलक स्वर्गप्राप्ति जो होती है वह भी रुक जायेगी, क्योंकि दानचित्त से सामर्थ्य का कोई ताल्लुक न होने से दानचित्त स्वर्गप्राप्ति का उत्पादक ही नहीं बन सकता। बौद्ध मत में वस्तुमात्र निरंश होने से उस का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर कोई ऐसा वस्तु-अंश शेष नहीं रहता जिस का अनुभव बाकी रह जाय! अत एव-‘उस अवशिष्ट अंश के ग्रहण के लिये (सार्थक माने गये) अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति 30 भी निरर्थक ठहरेगी’ — यह दोष उन लोगों को ध्यान में लेना चाहिये जो प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक मानते हैं। कारण, वस्तु का सर्वांशेन-सामस्त्येन निश्चय हो जाने से, कोई भ्रान्ति का निमित्त या अन्यगुणधर्म

मनसोर्बाध्यबाधकभावात्। अविकल्पदर्शनानुभूते तु वस्तुन्यनिश्चयाद् भ्रान्तिनिमित्तगुणान्तरारोपसम्भवात् तद्व्यवच्छेदार्थं प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः सप्रयोजनैवेति।

एतदप्ययुक्तम्; यतस्तत्सामर्थ्यस्य यत् फलम्— सच्चेतसां^A तदेव^B उताऽन्यद् — इति ?^A प्रथमपक्षे उभयत्र निश्चयाभावः फलाऽदर्शनस्याऽविशेषात्।^B द्वितीयपक्षे घट-पटवत् तद्भेदः। यदप्यसामर्थ्यसमारोपात् 5 तन्निश्चयानुत्पत्तिरिति तत्रापि तत्सामर्थ्यानुभवो यद्यनिश्चितोऽप्यस्ति सर्व सर्वत्राऽनिश्चितमपि भवेदिति सांख्यमताऽप्रतिक्षेपः। न च तत्सामर्थ्यं तच्चेतसोऽभिन्नमिति तदनुभवे तस्याप्यनुभवः, चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाऽग्रहणतस्तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात्। 'तस्यापि ग्रहणम्' इति चेत् ? न, भ्रान्तेरभावप्रसङ्गतः

के आरोप का सम्भव ही नहीं है जिस के अपाकरणार्थं प्रमाणान्तर की आवश्यकता बचे, क्योंकि निश्चय तो बाधक है आरोपचित्त उस से बाध्य है। बाधक रहने पर बाध्य का उद्भव ही संभव नहीं।

10 हमारे बौद्ध मत में तो प्रत्यक्ष निश्चयात्मक नहीं किन्तु निर्विकल्प ही होता है। वस्तु प्रत्यक्ष में अनुभूत रहने पर भी उस का निश्चय (विकल्प) न होने से भ्रान्ति के निमित्त होने पर उस में (दान चित्त में) असामर्थ्यादि अन्य गुणधर्म का आरोप सम्भव है, अत एव उस के निराकरणार्थं अन्य (अनुमान) प्रमाण की प्रवृत्ति सार्थक ठहरती है।

[बौद्ध आशंकित सामर्थ्यविकल्पाभाव का निरसन]

15 बौद्धों का यह कथन भी अयुक्त है। यहाँ यह प्रश्न है कि सामर्थ्य का फल और सत्त्वैतन्य चित्त का फल दोनों^A एक ही है या^B भिन्न ?^A यदि एक ही फल मानेंगे तो जैसे सामर्थ्य का निश्चय नहीं होता वैसे सत् चित्त का भी निश्चय नहीं निपजेगा, क्योंकि जैसे सामर्थ्य के फल का दर्शन नहीं है वैसे सत् चित्त के फल का भी दर्शन (दोनों का फल एक होने से) नहीं है। यदि दोनों का फल भिन्न मानेंगे तो, जैसे घट-पट के फल जलाहरण-देहावरण भिन्न होने से घट एवं पट में भेद 20 होता है वैसे ही यहाँ सत्चित्त और सामर्थ्य में भी भेद प्रसक्त होगा।

यह जो कहा कि असामर्थ्य का समारोप आविर्भूत होने के कारण सामर्थ्य का निश्चय नहीं होता — उस के विरोध में कह सकते हैं कि जैसे सामर्थ्य अनुभूत रहने पर भी उस का निश्चय नहीं होता वैसे ही चित्तादि सभी पदार्थों में सभी धर्मों की सत्ता रहेगी भले ही उन का निश्चय नहीं हो। इस प्रकार 'सभी में सभी की सत्ता' इस सत्कार्यवाद में यानी सांख्यमत में आप का प्रवेश 25 होगा। यदि कहें कि — 'स्वगादि का सामर्थ्य उस दानचित्त से अभिन्न है इस लिये चित्त के अनुभव में सामर्थ्य का भी अनुभव प्राप्त ही है। सांख्य मत में सर्वत्र सभी का अनुभव प्राप्त नहीं है इस लिये हमारा उन के मत में प्रवेश कैसे होगा ?' — तो यह अयुक्त है, क्योंकि चन्द्र का दर्शन होता है फिर भी कभी कभी उस में उस के एकत्व का अनुभव प्रविष्ट नहीं होता तो चित्त के अनुभव में सामर्थ्य का अनुभव भी कैसे मान्य किया जाय ? यदि चन्द्र के एकत्व का भी चन्द्रदर्शन में 30 समावेश मानेंगे तो तिमिर-रोगी को द्वित्व का दर्शन होता है वह नहीं हो सकेगा — यह व्यभिचार होगा। यदि कहें कि — 'हम तो तिमिररोगी के दर्शन में भी एकत्व का ग्रह मानते ही हैं', — तब तो तिमिररोगी को चन्द्र में द्वित्व का भ्रम ही नहीं हो सकता। कारण, आप के मत में कहा है

“कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्” (न्या.बि.१/४) इत्यत्राऽभ्रान्तग्रहणानर्थक्यप्रसक्तेर्व्यवच्छेदाभावात्। ‘चन्द्रग्रहणमपि तत्र नास्तीति चेत् ? न, एकत्वाऽप्रतिपत्तावपि तत्रतिभासदर्शनात्। ‘एकस्य द्वित्वविशिष्टतया तस्य ग्रहणात् मरीचिकाजलज्ञानवद् भ्रान्तं तद्’ इति चेत् ? न, द्वित्वे यथा विसंवादाभिप्रायात् तद् भ्रान्तं तथा चन्द्रमसि संवादाभिप्रायात् किमिति तत्रा(त्रा)भ्रान्तम् ? प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहार्यनुरोधतः समाश्रयणात्, “प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहननिवर्तनम्” (प्र.वा.१/७) इति भवतैवाभिहितत्वात्। 5

न चैकत्र ज्ञाने भ्रान्तेतररूपद्वयमयुक्तम् व्यवहारिणा तथाश्रयणात्, अन्यथैकचन्द्रदर्शनस्यापि ‘चन्द्ररूपे प्रमाणता, क्षणिकत्वेऽप्रमाणता’ इति रूपद्वयं न स्यात्, क्षणक्षयेऽपि तत्प्रामाण्ये प्रमाणाऽन्तराऽप्रवृत्तिर्भवेत्। चन्द्रमस्यप्यप्रमाणत्वे न किञ्चित् क्वचित् प्रमाणं भवेदिति सर्वप्रमाणव्यवहारलोपः। यस्य तु मतम् दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे अविशंवादाभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम् इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाणम् तस्य चन्द्रदर्शने चन्द्रप्राप्त्यभिमानिन किमिति चन्द्रमात्रे तत्र प्रमाणम् ? विवेकानध्यवसायिनस्तु यदि तदननुभूतेप्येकत्वे 10 प्रमाणं तर्हि ‘यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं

कि ‘प्रत्यक्ष कल्पनाविनिर्मुक्त एवं भ्रान्तिशून्य होता है।’ अब यदि आप भ्रान्तिस्थल में सर्वत्र चन्द्रादि धर्मा में वास्तव एकत्वादि धर्मा का प्रत्यक्ष मानते हैं तब तो कहीं भी भ्रम का उद्भव शक्य न रहने से प्रत्यक्ष के लक्षण में ‘अभ्रान्तम्’ कथन निरर्थक बन गया, क्योंकि उस का व्यवच्छेद कोई भ्रान्त प्रत्यक्ष है ही नहीं। यदि कहें कि — ‘तिमिररोगी को एकत्व नहीं दिखता वैसे चन्द्र भी नहीं 15 दीखता।’ — तो यह अयुक्त है क्योंकि एकत्व के अदर्शन में भी चन्द्र का ग्रहण तो अनुभवसिद्ध है उस का अपलाप अशक्य है। यदि कहें कि — ‘मरीचिका में असत् जल का भान होता है वैसे ही एकत्व विशिष्ट चन्द्र का द्वित्वविशिष्टरूप से भान होता है इस लिये तिमिररोगी का ज्ञान भ्रान्ति ही है न कि प्रमाणभूत। (मतलब, कि उस के व्यवच्छेद के लिये ‘अभ्रान्त’ पद सार्थक होगा)।’ — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि द्वित्व में विसंवाद दृष्ट होने से वह जैसे भ्रान्त होता है, चन्द्र 20 के विषय में संवाद होने के कारण वही तिमिररोगी का ज्ञान अभ्रान्त भी क्यों नहीं होगा ? ‘यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण’ ऐसी व्यवस्था तो संवाद-विसंवाद के व्यवहार के आधार पर ही व्यवहारियों के लिये आश्रित होती है। आपने ही प्र.वा.में (१-७) कहा है कि ‘प्रामाण्य व्यवहार से ही (सिद्ध) होता है, शास्त्र तो प्रमाण के लक्षणादि के बारे में सिर्फ मोहननिवर्तक होता है।

[एक ज्ञान में भ्रान्त-अभ्रान्त धर्मद्वय की संगति]

25

ऐसा कहना — एक ज्ञान में भ्रान्तता -अभ्रान्तता दो विरुद्ध धर्मा का समावेश कैसे ? — अयुक्त है, क्योंकि प्रामाण्य-अप्रामाण्य व्यवहारियों पर अवलम्बित है और व्यवहारी लोग एक ज्ञान को कुछ अंश में प्रमाण तो कुछ अंश में अप्रमाण व्यवहार करते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो एक ही चन्द्रदर्शन को चन्द्र के बारे में (विकल्पजनक होने से) प्रमाण और क्षणिकत्व के बारे में (विकल्पजनक न होने से) अप्रमाण — ये दो विरुद्ध रूप कैसे स्वीकारेंगे ? यदि चन्द्रदर्शन को क्षणिकत्व के बारे में भी 30 प्रमाण मानेंगे — तो क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये इतर प्रमाणों की प्रवृत्ति व्यर्थ बन जायेगी। यदि चन्द्र के बारे में उस को अप्रमाण मानेंगे तो अन्य दर्शनों को भी अप्रमाण मानना होगा, यानी कोई

तथैव सद्व्यवहारावतारि अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः' इत्यनुमानमसङ्गतम् हेतोरसिद्धताप्राप्तेः। अथ तं प्रत्येतदनुमानमेव नोपादीयते तर्हि कं प्रत्येतदुपादेयम् ? 'यस्तयोर्विवेकं मन्यते तं प्रति' इति चेत् ? न, तं प्रत्यनुमानानर्थक्यात् तदन्तरेणापि तदर्थनिष्पत्तेः। यच्च तं प्रति भाविनि प्रवर्त्तकत्वादनुमानं प्रमाणं युक्तम् तत् 'सर्वचित्त-चैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्' () इति वचनात् स्वरूपेऽभ्रान्तं बहिरर्थं 5 'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा'* इति वचनात् भ्रान्तम् इत्येकमेव कथं द्विरूपम् ?!

भी ज्ञान किसी भी विषय में 'प्रमाण' नहीं रहेगा। फलतः प्रमाणव्यवहार मात्र का विलोप प्रसक्त होगा।

जो ऐसा मानते हैं कि — दृश्य (यानी दर्शनविषय) और प्राप्य (यानी विकल्प का विषय) दोनों में जिन्हें एकत्व का अविस्वादा होने का अभिमान है उन के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है। लेकिन जिन्हें दृश्य-प्राप्य के भेद का पता है उन के लिये प्राप्य का अनुभव हो जाने पर भी उन के लिये प्राप्य 10 के विषय में वह दर्शन अप्रमाण है। — वे ऐसा भी क्यों नहीं मानते कि जिन्हें चन्द्रदर्शन होने पर उसी चन्द्र (क्षण) की प्राप्ति (विकल्प) का अभिमान होता है उन के लिये चन्द्र मात्र के विषय में (यानी एकत्व के बारे में भी) चन्द्रदर्शन प्रमाण है ?

[पारमार्थिक सत्स्वरूपव्यवहारयोग्यता का अनुमान असंगत]

उपरांत, विवेक से अज्ञात जनों के लिये यदि एकत्व अनुभव न होने पर भी चन्द्रदर्शन को 15 प्रमाण मानेंगे तो आप का यह अनुमान असंगत ठहरेगा — अनुमान :- 'जो जैसा (जिस रूप से) भासित होता है वह वैसे ही पारमार्थिक सत्स्वरूपव्यवहार के योग्य होता है; उदा० नीलरूप से भासित होनेवाला नील पदार्थ नीलरूप से ही प्रामाणिकव्यवहार का विषय होता है। सभी भाव दर्शन में क्षणभंगुर रूप से अनुभूत होते हैं (अत एव वे क्षणिकव्यवहार के विषय हैं)।' इस अनुमान में हेतु असिद्धिदोष से ग्रस्त बना, क्योंकि आप तो विवेक से अज्ञात व्यवहारिजन के लिये अननुभूत एकत्व 20 के बारे में भी चन्द्रदर्शन को प्रमाण मानते हैं। मतलब कि 'यो यथा अनुभूयते.....' यह हेतु चन्द्रदर्शन में असिद्ध है।

यदि कहें कि — विवेकी अज्ञात व्यवहारी के प्रति उस अनुमान का प्रयोग ही नहीं करेंगे। — तो किस के प्रति अनुमानप्रयोग करेंगे ? 'जो विवेकज्ञाता होगा उस के प्रति' — यदि अनुमानप्रयोग करेंगे तो वह निरर्थक ठहरेगा क्योंकि उक्त अनुमान के विना भी उस का तो काम हो चुका है, 25 क्योंकि उस को तो अनुमान के पहले ही पारमार्थिक सद्व्यवहार के विषय का भान हो गया है। यदि कहें कि — 'विवेकज्ञाता को भावि पदार्थ में प्रवृत्ति का प्रेरक बन कर अनुमान प्रमाण का प्रयोग सार्थक बनेगा' — तो यहाँ भी विरुद्धधर्मद्वय प्रसक्त होगा। कैसे यह देखिये — उक्तरूप से अनुमान को प्रमाण मानने पर उस में एक ओर अभ्रान्तता सिद्ध है क्योंकि आप का सिद्धान्त है कि 'सभी चित्त और चैतसिक पदार्थ आत्मसंवेदनरूप से प्रत्यक्ष हैं।' मतलब, अनुमान भी आत्मसंवेदनात्मक होने 30 से प्रत्यक्ष, अत एव अभ्रान्त मानना होगा। दूसरी ओर, उस में प्रामाण्य का आपादन करने के लिये

*. भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव (प्र.वा.अलं.३-१७५)। 'तदाह न्यायवादी-भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा (न्या.बि.धर्मो.पृ.७८)। भ्रान्तिरपि अर्थसम्बन्धतः प्रमा (तत्त्वोप.पृ.३०)।

किञ्च, यदि तस्य न प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति कथमनुमानप्रादुर्भावः ? अस्ति चेत् ? तत् किंविषयमिति वाच्यम् । 'साधनावभासि जलादिसाधनविषयम्, प्राप्यावभासि प्राप्यार्थक्रियाविषयम्' इति चेत् ? ननु तदपि जलादिमात्रे प्रमाणम् स्वविषयकार्यजननसामर्थ्यादावप्रमाणम् अन्यथा विवादाभावात् शास्त्रप्रणयनं तदर्थमनर्थकं भवेदिति तदप्यंशेनैव प्रमाणम् । यत् पुनरभ्यधायि (पृ०१७७-पं०८) 'दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे विसंवादबुद्धिं प्रति प्रत्यक्षाभासम्' इति, तत्र दृश्यादिमात्रे तदाभासत्वे वस्तुदर्शनमुच्छिद्येत । अथ 'अत्र प्रमाणतदाभासधर्मद्वय- 5 मेकत्राभ्युपगम्यते' प्रकृतेऽप्यभ्युपगम्यताम् । अथ तैमिरिकज्ञानेनाऽप्रतीयमानमेकत्वं 'तस्य' इति कथम् ? ननु निश्चिते शब्दे अनिश्चिता क्षणिकता 'तस्य' इत्यपि कथम् ? — "अनुमाने तत्रैव निश्चयात् 'तस्य' 'भ्रान्ति भी सम्बन्ध के जरिये (परम्परया अर्थ प्राप्त होने के कारण) प्रमा है' ऐसा न्यायबिन्दु आदि में कहा है, मतलब कि अनुमान भ्रान्त तो है ही (भले वह सम्बन्धतः प्रमा हो।) अब उस में अभ्रान्तता धर्म भी सिद्ध हुआ — इस प्रकार विरुद्ध धर्मद्वय भ्रान्तता-अभ्रान्तता एक अनुमान में कैसे संगत 10 करेंगे ?

[प्रत्यक्ष के अविषय में अनुमान प्रवृत्ति कैसे ?]

उपरांत, यह बोलो कि यदि विवेकज्ञाता के लिये अनुभूत होने पर भी क्षणिकत्वादि के बारे में दर्शन प्रमाण नहीं है (ऐसा आप ने कहा था) इस लिये क्षणिकत्वादि के लिये प्रमाणान्तर प्रवृत्ति होती है किन्तु प्रश्न यह है — जो प्रत्यक्षप्रमाण से अवेद्य है उस के बारे में अनुमान प्रमाण की 15 प्रवृत्ति होगी ही कैसे ? यदि उस के लिये वहाँ प्रत्यक्ष की गति मानेंगे तो बोलिये कि उस का विषय क्या है ? यदि कहें — जो साधनावभासि प्रत्यक्ष है उस का जलादि साधन विषय है और जो प्राप्यावभासि (विकल्प) प्रत्यक्ष है वह प्राप्य तृषाशमनादि अर्थक्रियावभासि है।' — तो इस प्रत्यक्ष में भी विरुद्धधर्मद्वयसमावेश तो होगा ही; कैसे यह देखिये — जलावभासि ज्ञान सिर्फ जलादि के बारे में प्रमाण है किन्तु अपने विषय के भीतर जो कार्यात्पादक सामर्थ्य है उस के बारे में वह अप्रमाण 20 है। यदि उस सामर्थ्य के बारे में भी उसे प्रमाण माना जाय तब तो किसी विवाद के न रहने से निर्णय करने के लिये रचे गये शास्त्र निरर्थक ही ठहरेगा — ऐसा न हो इस लिये जलादि अंश में ही उस को प्रमाण मानना ठीक है। मतलब, सांशता अनिवार्य ही है। अत एव सविकल्पक ही प्रमाण है।

[दृश्य-प्राप्य के एकत्व की बुद्धि आभासिक नहीं]

यह जो कहा था — विसंवादाध्यवसायी के लिये दृश्य और प्राप्य की एकत्वाध्यवसायि बुद्धि 25 प्रत्यक्षाभास है (पृ०१७८-पं०९) — यहाँ भी विवेक करना जरूरी है — यदि वह प्रत्यक्ष सर्वथा, यानी दृश्यादि सभी विषयों के प्रति आभासरूप मानेंगे तो वस्तु के वास्तविक दर्शनमात्र का उच्छेद हो जायेगा। यदि इस में दृश्य के प्रति प्रमाण और प्राप्य के प्रति प्रत्यक्षाभास (प्रमाणाभास) दोनों धर्म का स्वीकार किया जाय तो फिर दानचित्त के बारे में भी चित्त के लिये प्रमाण, सामर्थ्य के लिये प्रमाणाभास — ऐसा स्वीकार कर लो। यदि प्रश्न हो कि तिमिररोगी के ज्ञान से जब द्वित्व प्रतीत होता है, 30 तब एकत्व की तो प्रतीति ही नहीं होती तो वहाँ एकत्व को कैसे माना जाय ? अच्छा, तो यह भी प्रश्न होगा कि शब्द के निश्चय में भी क्षणिकता तो प्रतीत नहीं होती फिर भावमात्र की क्षणिकता

इति” — एतदन्यत्रापि समानम्। तदेवं निरंशत्वे वस्तुनस्तच्चित्तग्रहणे तत्सामर्थ्यस्यापि ग्रहणप्रसक्तेर्विवादाभावस्तत्रैव भवेत्, न चैवम्, इति सांशं वस्तु, तथाभूतवस्तुग्राहकं प्रमाणमपि सांशं सत् सविकल्पकम्।

अपि च, यदि निरंशवस्तुसामर्थ्याद्भूतत्वात् कल्पनापोढमध्यक्षं स्वसंवेदनम्; तथाभूतवस्तुप्रभवत्वाभावात् संवेदनग्राहि निर्विकल्पकं च न भवेत्। अथ तादात्म्यं तत्र तन्निमित्तम्; न, सच्चेतनादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यदिरपि 5 ग्रहणप्रसक्तेस्तदविशेषात्। अथ न तादात्म्याद् ग्रहणमेवाऽभिन्नस्य किन्तु तादात्म्यादेव। असदेतत् — तादात्म्यादेव स्वरूपस्य ग्रह इत्यत्र प्रमाणाऽभावात्। ‘अविकल्पकं दर्शनं प्रमाणम्’ इति चेत् ? न, सुषुप्ता-वस्थायां तत्प्रसङ्गात् तत्रापि चैतन्यसद्भावात् अन्यथा प्रबोधवस्थाविज्ञानमनुपादानम् अचेतनोपादानं वा भवेत्। न च तदनुरूपप्रबोधदर्शनाज्जाग्रद्विज्ञानोपादानं तत्, विप्रकृष्टदेशकालस्यापि कारणत्वे तैमिरिकज्ञानस्यापि 10 भी कैसे मानी जाय ? यदि कहें कि अनुमान से ही भावमात्र में क्षणिकता का निश्चय होता है, इसलिये उस को मानना चाहिये। तो बस इसी तरह प्रत्यक्ष से अनिश्चित भी दृश्य-प्राप्य की एकता अनुमान से मान सकते हैं।

सारांश, वस्तु को निरंश मानने पर चित्तग्रहण के साथ उस के सामर्थ्य का ग्रहण भी प्रसक्त होता है जिस से उसी वक्त विवाद का फैसला आ पडता है। लेकिन ऐसा तो होता नहीं इसी लिये वस्तु को निरंश न मान कर सांश ही मानना पडेगा। फलतः सांशवस्तुग्राहक प्रमाण को भी सांश 15 यानी सविकल्पक रूप ही स्वीकारना होगा।

[निरंशवस्तुसामर्थ्यं प्रामाण्यप्रयोजक नहीं]

दूसरी बात यह है कि यदि प्रत्यक्ष निरंशवस्तुसामर्थ्य बल से उत्पन्न होने के कारण कल्पनाविनिर्मुक्त स्वसंविदित होने से प्रमाण माना जाता है तो कहना पडेगा कि वह न तो निर्विकल्प है न तो स्वसंवेदि, क्योंकि वस्तुमात्र सांश होने से निरंशवस्तुसामर्थ्यजन्यत्व ही उस में नहीं है। यदि कहें कि प्रत्यक्ष 20 के प्रामाण्य में वस्तुसामर्थ्य का तादात्म्य ही प्रयोजक है— तो यह अयुक्त है क्योंकि तब तादात्म्य के ही प्रभाव से सच्चेतना की तरह स्वर्गप्रापकसामर्थ्य आदि का भी ग्रहण प्रसक्त होगा क्योंकि वह भी वस्तु से तादात्म्य रखता है। यदि कहें कि — ‘जो अभिन्न होता है उस का तादात्म्य के निमित्त से ही ग्रहण होता है इतना ही हम कहना चाहते हैं, उस का मतलब यह नहीं कि ‘जो तादात्म्यवाला हो उन सभी का ग्रहण होता ही है।’ — यह भी गलत है क्योंकि ‘तादात्म्य के प्रभाव से ही स्वरूप 25 का भान होता है’ इस बात में कोई प्रमाण नहीं है।

‘निर्विकल्प दर्शन ही प्रमाण है’ ऐसा भी कहना अयुक्त है क्योंकि सुषुप्तावस्था में भी विकल्परहित जो ज्ञान होता है उस को प्रमाण मानना पडेगा, उस अवस्था में भी चैतन्य तो होता ही है। यदि उस अवस्था में चेतना नहीं मानेंगे तो प्रथम जागृतिक्षण के विज्ञान को निरुपादान मानना पडेगा, या तो अचेतन अवस्था को उस का उपादान मानना पडेगा। यदि कहें कि — ‘चैतन्य के अनुरूप जागृति 30 दिखती है इसलिये जागृतिविज्ञान के प्रति (अन्यसन्तानगत) जागृति विज्ञान को ही उपादान मानेंगे’ — तो यह भी असंगत है, क्योंकि दूरदेशीय या दूरकालीन वस्तु को भी कारण मानेंगे तो तिमिररोगी के विज्ञान के प्रति भी दूरदेशीय या दूरकालीन वस्तु को कारण मान लेने पर वह भी वस्तुस्पर्शी होने

विप्रकृष्टदेशकालकारणप्रभवत्वसम्भवात् निरालम्बनता न भवेत् अतोऽव्यवहितं कारणमभ्युपगन्तव्यम् । न च सुषुप्तावस्थायां विकल्पानुत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्गः, विकल्पवशात् तादात्म्ये सत्यपि तद्व्यवस्थायां बाह्यार्थेऽपि तत एव तद्व्यवस्थोपपत्तेर्विकल्प एव प्रमाणं भवेत् ।

किंच, यद्यर्थप्रभवत्वात् ज्ञानमर्थग्राहकम्, तर्हि इन्द्रियादेरपि तत एव ग्राहकं भवेत् तद्व्यतिरिक्तबाह्यार्थ-ग्राहकत्वं च तस्याभ्युपेयते । तथाहि— 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' (वात्स्या० भा० 5 प्रथमपंक्ति) इत्यत्र भाष्ये प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरमर्थसहकार्यर्थवत् प्रमाणं नैयायिकैर्व्याख्यातम् । तेन न तत्रभवत्वं तन्निमित्तम्, तदभ्युपगमे वा शब्दज्ञाने शब्दवत् तत्समवायिकारणकर्णशङ्कुत्ववच्छिन्ननभोदेशाख्य-श्रोत्रेन्द्रिय-तत्समवाययोरपि प्रतिभासः स्याद्, इत्याकाशसमवायविषयानुमानोपन्यासो वैयर्थ्यमनुभवेत्, अध्यक्षसिद्धेऽनुमानोपन्यासप्रयासस्य वैफल्यात् । न च समवायविषयाध्यक्षस्याऽविकल्पकत्वेन तद्गृहीतस्या-ऽगृहीतरूपत्वाद् नायं दोषः, शब्देऽप्यस्य समानत्वात् । यतो नैकमेकत्र निर्णयात्मकमपरत्रान्यथेत्येकान्त- 10 वादिनो वक्तुं युक्तम् । एवं रूप-तत्सामान्य-समवायेष्वपि वाच्यम् । अथ न कारणमित्येवार्थग्रहः किन्तु

से निर्विषयक नहीं रहेगा यानी प्रमाण बन जायेगा। इस अनिष्ट से बचने के लिये मानना होगा कि देश-काल से अव्यवहित वस्तु ही कारण होती है। यदि कहें कि — 'सुषुप्तावस्था में विकल्पोत्पत्ति न होने से स्वरूप का भी भान प्रसक्त नहीं होगा;' — तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तादात्म्य के रहते हुये भी यदि विकल्प के बल से ही स्वरूप का भान मानना है तो बाह्यार्थ में भी विकल्प के बल 15 से ही उस के भान की व्यवस्था शक्य होने से विकल्प को ही प्रमाण स्वीकारना चाहिये।

[अर्थजन्यत्व अर्थग्राहकताप्रयोजक नहीं]

और भी सोचिये — आप तदर्थजन्यज्ञान को तदर्थग्राहक मानते हैं, यहाँ मुसीबत यह है कि यदि ज्ञान अर्थजन्य होने से अर्थ का ग्राहक बनता है तो इन्द्रियजन्य होने से इन्द्रियग्राहक क्यों नहीं होता ? इन्द्रिय से पृथक् सिर्फ बाह्यार्थ का ही ग्राहक क्यों मानते हैं ? नैयायिकों ने तो वात्स्यायनभाष्य 20 में ऐसा कहा है कि 'प्रमाण से अर्थ का भान होने पर उसी अर्थ में प्रवृत्ति का सामर्थ्य होने से प्रमाण सार्थक होता है।' उस की व्याख्या ऐसी है कि प्रमाता और प्रमेय से प्रमाण भिन्न है और अर्थ सहकारी होने से सार्थक होता है। यहाँ प्रवृत्तिसामर्थ्य कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान में तज्जन्यत्व तदर्थग्राहकत्व का नियामक नहीं है। यदि तज्जन्यत्व को तद्ग्राहकत्व का निमित्त मानेंगे तो — शाब्दबोध में शब्द की तरह शब्द के समवायिकारणभूत कर्णशङ्कुलीप्रविष्ट आकाशदेशात्मक श्रोत्रेन्द्रिय 25 एवं उस में शब्द के सम्बन्धरूप समवाय का — इन दोनों का भी प्रतिभास प्रसक्त होगा क्योंकि शब्दज्ञान इन दोनों से भी जन्य है। नतीजतन, आकाश एवं समवाय की सिद्धि के लिये होनेवाला अनुमानप्रयोग व्यर्थ बन जायेगा, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ के लिये अनुमानप्रयोग का आयास निष्फल है।

यदि कहें कि — 'समवायग्रह प्रत्यक्ष से होने पर भी वह निर्विकल्पस्वरूप होने से गृहीत भी समवाय अगृहीततुल्य बन जाने से अनुमानप्रयोग सार्थक होगा, मतलब निष्कलता का दोष निरवकाश 30 है' — तो यह भी गलत है क्योंकि तब तो निर्विकल्पगृहीत होने से शब्द भी अगृहीततुल्य हो जायेगा। एकान्तवादी बौद्ध ऐसा नहीं कह सकता कि 'एक ही निरंश निर्विकल्पक बोध शब्द के अंश में निर्णयात्मक

योग्यतातः; नन्वेवं किमनिमित्तमर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणता परिकल्प्यते ? अथ न तद्ग्रहणान्यथानुपपत्तैस्तत्रप्रति
 तत्कारणतापरिकल्पनम् किन्वन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्। 'अर्थे सति तदवभासि ज्ञानमुपलब्धं तदभावे च न'
 इत्यन्वयव्यतिरेकनिबन्धनोऽन्यत्रापि हेतु-फलभाव इति। असदेतत्— योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतपदार्थ-
 साक्षात्कारिणोऽतीतानागतपदार्थाभावेऽपि भावाभ्युपगमात्। न च सर्वप्यतीतानागता भावास्तदा सन्ति,
 5 सर्वभावानां नित्यताप्रसक्तेः। न च तद्विषयं तज्ज्ञानं न भवति — 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः
 अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलीवत्' इत्यनुमानविरोधात्।

एतेन 'यस्य ज्ञाने प्रतिभासस्तस्य तत्र तत्कारणत्वं निमित्तमभिधीयते, नत्वप्रतिभासमानस्य
 समवायादेस्तन्निमित्तः प्रतिभासो भवतु इत्यासञ्जयितुं युक्तम्।' () इत्यध्ययनादिमतं निरस्तम्; योगि-

है और समवाय के अंश में अनिर्णयात्मक है।' शब्द की तरह रूपप्रत्यक्ष में, रूपत्वसामान्य एवं उस
 10 के समवाय के लिये भी निर्णय की आपत्ति समझ लेना। यदि कहें कि — 'ज्ञान का कारण होने
 मात्र से अर्थ गृहीत होता है इतना ही पर्याप्त नहीं है, योग्यता भी होनी चाहिये, इन्द्रिय एवं समवाय
 में योग्यता न होने से उन का ग्रहण प्रसक्त नहीं होगा' — अरे तब तो योग्यता से ही कार्य निपट
 जाने पर व्यर्थ ही अर्थ में ज्ञान की कारणता की कल्पना क्यों करते हैं ?

[ज्ञान में अर्थकारणता साधक अन्वय-व्यतिरेक निष्फल]

15 यदि कहा जाय — अर्थ को ज्ञान का कारण न माना जाय तो उस ज्ञान से अपने विषयभूत
 अर्थ का ग्रहण ही नहीं होगा — ऐसी अन्यथानुपपत्ति के बल से ही हम अर्थ में कारणता की कल्पना
 कहाँ करते हैं ? तो ? अन्वय-व्यतिरेक के बल से हम अर्थ में ज्ञानकारणता की कल्पना करते हैं।
 देखिये — अर्थ के सनिहित होने पर अर्थावभासि ज्ञान का उद्भव होता है, अर्थ के न होने पर
 नहीं होता। इस अन्वय-व्यतिरेक के जोर पर ही अन्य अन्य स्थलों में भी कार्य-कारणभाव निश्चित
 20 किया जाता है।

तो यह ठीक नहीं है — सकल भूत-भावि पदार्थ को साक्षात् करने वाले वर्तमानकालीन योगिज्ञान
 का उद्भव भूत-भावि पदार्थों का वर्तमान में अन्वय न होने पर भी सभी को मान्य है। भूत-भाविभाव
 साक्षात्कारी योगिज्ञान तो वर्तमान में है लेकिन उस काल में कोई भी भूत-भावि पदार्थ विद्यमान नहीं
 है, यदि उन्हें वर्तमान में सत् मानेंगे तो सभी पदार्थ में त्रैकालिकत्व के जरिये नित्यत्व प्रसक्त हो
 25 जायेगा। ऐसा तो नहीं है कि भूत-भावि भावों का साक्षात्कार ही नहीं होता। यदि न होने का मानेंगे
 तो साक्षात्कार साधक अनुमान प्रमाण से विरोध होगा। प्रयोग यह है — 'सभी भाव-अभाव पदार्थवृन्द
 किसी पुरुष के एक (प्रत्यक्ष) ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं, क्योंकि वे अनेक हैं, जैसे पंच अंगुलीवृन्द।'।
 यहाँ अनेकत्व हेतुसे त्रैकालिक पदार्थवृन्द में एकज्ञानविषयतारूप साध्य सिद्ध होता है। यानी सर्वदर्शिता
 सिद्ध होती है। इस अनुमान से भूत-भावि का भी साक्षात्कार सिद्ध है।

30 [प्रतिभासविषय ज्ञान का निमित्त — अध्ययनमत का निरसन]

अध्ययनादि का जो मत है — 'जिस ज्ञान में जो प्रतिभासित होता है वही उस ज्ञान का कारण
 होता है, इसी को निमित्त कहा जाता है, जो प्रतिभासित नहीं होता ऐसा समवायादि 'निमित्त' न

ज्ञानेऽकारणस्यापि प्रतिभासप्रतिपादनात्। 'तैजसं चक्षुः, रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' तथा 'प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः, तैजसत्वात् प्रदीपवत्'। इत्येतदप्यत एव निरस्तम्— रूपप्रकाशकत्वं हि रूपज्ञानजनकत्वम् तच्च प्रदीपस्यासिद्धम्, तस्य रूपैकज्ञानसंसर्गित्वात्। प्रयोगश्चात्र— प्रदीपस्तद्विज्ञानकारणं न भवति विषयत्वात्। यो हि यद्विषयो नासौ तत्कारणं यथा त्रिकालाशेषभावविषययोगिज्ञानस्यातीतादिकोऽर्थः, तथा च प्रदीपो विषयो यथोक्तरूपज्ञानस्य, तस्मान्न कारणम् - इति तैजसत्वासिद्धौ चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं 5 दूरोत्सारितमेव।

अत एव “नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः” () इति सौगतमतमप्यपास्तम्। तथाहि— ^Aकिं कारणं विषय एव उत ^Bकारणमेव विषयः ? ^Aप्रथमपक्षे रूपादिसंविदां चक्षुराद्यपि विषयो भवेत्, तथा च 'यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत् तदतिरिक्तहेत्वपेक्षं यथा कुलालाभावे सत्यप्यपरकारकसमूहेऽभवन् घटः कुलालापेक्षः, सत्यपि च रूपादौ कदाचिन्न भवति रूपादिविज्ञानम्' इत्यनुमानोपन्यासो व्यर्थः अध्यक्षत 10

होने से तन्मूलक समवायादिप्रतिभास का प्रसञ्जन करना युक्त नहीं है” — यह मत भी पूर्वोक्त कथन से निरस्त हो जाता है। कारण, योगिज्ञान में भूतादि भाव प्रतिभासित तो होते हैं लेकिन आप उन्हें योगिज्ञान का निमित्त कारण तो नहीं मानते। अत एव नैयायिकों के ये दो अनुमान भी निरस्त हो जाते हैं — “१. चक्षु तैजस है, क्योंकि रूपादि में से सिर्फ रूप का ही प्रकाशक है जैसे प्रदीप। २. चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि तैजस है जैसे प्रदीप।” ये दोनों इसलिये निरस्त हो जाते हैं कि प्रदीप 15 में रूपप्रकाशकत्व, जो कि 'रूपज्ञानजनकत्व' स्वरूप है, असिद्ध है। कारण, प्रदीप स्वयं भी उस रूपविज्ञान का संसर्गि यानी विषय है। प्रयोग भी यहाँ सुन लो — 'प्रदीप रूप विज्ञान का कारण (यानी रूप का प्रकाशक) नहीं होता, क्योंकि वह उस का विषय है। जो जिस का विषय होता है वह उसका कारण नहीं होता जैसे त्रैकालिक सकल पदार्थविषयक योगिज्ञान का भूतादिविषय कारण नहीं होता। प्रदीप भी उक्त रूप विज्ञान का विषय है, इस लिये वह उसका कारण नहीं हो सकता।' इस प्रकार 20 चक्षु में रूपप्रकाशकत्व असिद्ध होने से जब तैजसत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, तब 'तैजसत्व' को हेतु कर के प्राप्यकारित्व की सिद्धि तो दूर का सपना बन गया।

[अन्वय-व्यतिरेक के विना कारण नहीं.... इत्यादि बौद्धमत का निरसन]

बौद्धों का जो यह मत है — 'अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण न करे वह कारण नहीं होता, जो कारण नहीं होता वह विषय भी नहीं होता' — वह भी पूर्वोक्त कथन से निरस्त हो जाता है। 25 कैसे यह देखिये — दो में से कौन-सा पक्ष स्वीकार्य है — ^Aजो कारण होता है वह विषय होता ही है — या ^Bजो कारण होता है वही विषय होता है ? ^Aप्रथमपक्ष, रूपादिविज्ञान का कारण होने से चक्षुरादि भी उसका विषय प्रसक्त होगा। फिर आपका जो यह अनुमानप्रयोग है — जिस के रहते हुए जो नहीं होता वह उस से अतिरिक्त हेतु को सापेक्ष होता है; उदा० अन्य अन्य दण्ड-चक्रादि कारणों के रहते हुए भी कुलाल की अनुपस्थिति में घडा नहीं निपजता, वह (घडा अपनी उत्पत्ति 30 के लिये) कुलालसापेक्ष होता है। रूपादि के रहते हुए भी कभी (चक्षुविरह में) रूपादिविज्ञान नहीं होता

एव चक्षुराद्यधिगतेः। ^Bद्वितीयपक्षेऽपि 'भविष्यति रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयाद् अतीतक्षपायामिव' इत्यस्यानुमानस्य भावि रोहिण्युदयोऽकारणत्वात् विषयो न स्यात्। न हि भावी रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयस्य परम्परयाऽपि कारणम्। अथ भावी रोहिण्युदयः प्राग्भाविनः कृत्तिकोदयस्य कारणं प्रज्ञाकराभिप्रायेण कार्यस्य प्राग्भावित्वात् तर्हि 'अभूद् भरण्युदयः कृत्तिकोदयात्' इत्यनुमानमविषयं भवेत्। अथ भरण्युदयोऽपि कृत्तिकोदयस्य कारणम् 5 तेनाऽयमदोषः। ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात् कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयादपि, तदा भरण्युदयादिव पश्चात्ततोऽपि भवेत्, यथा वा शकटोदयात् प्राक् तथैव भरण्युदयादपि प्राग् भवेत्। अथान्यतरकार्यं कृत्तिकोदयस्तर्ह्यन्यतरस्यैव ततः प्रतीतिर्भवेत्, न चैवम् इति न युक्तं 'कारणमेव विषयः' इति पक्षाश्रयणम्।

अत एव रूपादि ज्ञान चक्षुसापेक्ष होता है। — इस अनुमान से आप चक्षु आदि सिद्ध करना चाहते हैं — यह अनुमानप्रयोग व्यर्थ ठहरेगा; क्योंकि कि 'जो कारण होता है वह विषय भी होता है' इस 10 व्याप्ति के अनुसार रूपादि प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण होने से चक्षुआदि उस का विषय भी बनेगा — इस तरह रूपादिप्रत्यक्ष से ही चक्षुआदि की सिद्धि हो गयी फिर अनुमानप्रयोग की जरूर क्या ?

[अनुमान से अनुमेय की सिद्धि दुष्कर]

^Bदूसरे पक्ष में — कृत्तिका नक्षत्र के उदय रूप हेतु से, व्यतीत रात्रि के उदाहरण द्वारा, रोहिणीनक्षत्र के भावि उदय की अनुमानद्वारा सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि रोहिणी का भावि उदय उक्त अनुमान 15 का कारण न होने से विषय नहीं बन सकता। भावि रोहिणी-उदय परम्परातः भी वर्तमान कृत्तिका-उदय का कारण नहीं है जिस से कि कार्य से कारण का अनुमान हो सके। यदि कहा जाय — 'प्रज्ञाकरगुप्त के मतानुसार तो भावि रोहिणीउदय भी अपना पूर्वभावि (अधुनातन) कृत्तिका के उदय में कारण होता है, अत एव कारण होने के जरिये वह अनुमान का विषय भी बनेगा — अतः कोई उक्त दोष नहीं रहता।' — तो कृत्तिका उदय से पूर्वभावि भरणीनक्षत्र का उदय तो कृत्तिकोदय का कारण न होगा 20 (क्योंकि कारण तो भावि रोहिण्युदय माना है न !) अत एव 'भरणी का उदय बीत गया क्योंकि अब कृत्तिका उदित है' इस अनुमान का विषय भरणीउदय नहीं बनेगा (कारण न होने से विषय नहीं बन सकता।) यदि कहें कि — भरणी-उदय भी कृत्तिकोदय का पूर्वकालीन कारण है — तब तो स्वभावप्रश्न खड़ा होगा कि जिस स्वभावमूलक भूतकालीन भरणीउदय से कृत्तिकोदय होता है यदि उसी स्वभाव से भाविकालीन शकट (= रोहिणी) उदय के द्वारा पूर्व में कृत्तिकोदय होता है तो स्वभाव 25 एक ही होने से अनिष्ट प्रसङ्ग यह होगा कि भरणीउदय के पश्चात् जैसे कृत्तिकोदय होता है वैसे ही शकटोदय के पश्चात् ही कृत्तिकोदय होगा (क्योंकि भूतकालीन भरणीउदय और भाविकालीन शकटोदय दोनों एक ही स्वभाव से कारण बने हैं।) या तो ऐसा अनिष्ट होगा कि शकटोदय के पूर्व जैसे कृत्तिकोदय होता है वैसे भरणीउदय के पूर्व ही कृत्तिकोदय होगा (क्योंकि एकस्वभाव से दोनों कारण बने हैं।)। यदि कहें कि — 'कृत्तिकोदय दोनों (भरणीउदय-शकटोदय) का कार्य नहीं है किन्तु उन दोनों 30 में से किसी एक का ही कार्य है' — 'तब तो दो में से कोई एक ही कारण उस अनुमान का विषय बनेगा। किन्तु कोई एक (यानी शकटोदय) तो कारण न होने पर भी विषय होता है इस लिये 'कारण ही विषय होता है' यह दूसरा पक्ष संगत नहीं है।

अथ कारणं स्वाकाराधायकं विज्ञाने विषय एवेति पक्षः, अयमप्ययुक्तः। यतः किं ^Aकारणमेव तदाधायकं तत्र आहोस्वित् ^Bतत् तदाधायकमेवेति विकल्पद्वयानतिवृत्तिः। ^Aप्रथम विकल्पे केशोन्दुकादिज्ञानं कुतः कारणात् तदाकारमुपजायते ? न तावदथात् तस्य तत्कारणत्वानभ्युपगमात् अभ्युपगमे वा तस्याऽभ्रान्ततापत्तेः। न समनन्तरप्रत्ययात्, तस्य तदाकारताऽयोगात्। नैन्द्रियादेः, अत एव हेतोः। तद् न कारणमेव तदाधायकम् इतिपक्षाभ्युपगमः क्षमः। नापि ^Bतत् तदाधायकमेवेति पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः; 5 इन्द्रियस्यापि तदाधायकतापत्तेस्तज्ज्ञानविषयताप्रसक्तेः, अर्थस्य च सर्वात्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसक्तेः, उत्तरार्थक्षणवदेकदेशेन तदाधायकत्वे सांशताप्रसक्तेः। 'समनन्तरप्रत्ययस्य तत्र स्वाकाराधायकत्वाद् न जडतापत्तिलक्षणो दोषः' इति चेत् ? न, समनन्तरप्रत्ययार्थक्षणयोः द्वयोरपि स्वाकारार्पकत्वे तज्ज्ञानस्य चेतनाऽचेतनरूपद्वयापत्तेः। प्राक्तनज्ञानक्षणस्यैव तत्र स्वाकाराधायकत्वे सर्वात्मना तदाधाने तस्य

[कारण की विज्ञानविषयता पर दो विकल्प]

10

यदि कहें कि अपने आकार को विज्ञान में मुद्रित करे ऐसा कारण उस विज्ञान का अवश्य विषय बनता है यह मान्य पक्ष है — तो वह भी अयुक्त है क्योंकि यहाँ भी दो विकल्प से छूटकारा नहीं। ^Aकारण ही अपने आकार का मुद्रक होता है या ^Bकारण आकार का मुद्रक होता ही है ? ^Aप्रथम पक्ष — केशोन्दुक (खुले आकाश में आँखों के सामने कुछ गोल गोल आकार दिखता है वह) आकारवाला केशोन्दुकादिविषयक ज्ञान कौन से कारण से निपजता है ? किसी अर्थ से तो उस की उत्पत्ति नहीं होती, 15 क्योंकि उस ज्ञान की किसी केशोन्दुकादिसंज्ञक सद्भूत अर्थ में कारणता किसी को स्वीकार्य नहीं है। यदि आप स्वीकारेंगे तब तो उस ज्ञान को भ्रम के बदले अभ्रान्त प्रमाणरूप स्वीकारना पड़ेगा।

यदि कहें कि — 'पूर्वकालीन तथाविध वासनावासित समनन्तर प्रत्यय से केशोन्दुकाकार ज्ञान निपजता है' — तो यह अयुक्त है, क्योंकि उस ज्ञान में समनन्तरप्रत्यय रूप कारण का तो कोई आकाराधान होता नहीं है (जब कि प्रथमपक्ष में वह होना चाहिये)। इन्द्रियादि को भी उस का (केशोन्दुकादिविज्ञान 20 का) कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस ज्ञान में इन्द्रियाकार का आधान होता नहीं है। मतलब, कारण ही अपने आकार का ज्ञान में मुद्रण करता है यह प्रथमपक्ष स्वीकारार्ह नहीं है।

^Bदूसरा पक्ष — 'कारण अपने आकार का मुद्रक होता ही है' यह भी स्वीकारार्ह नहीं है, क्योंकि तब इन्द्रिय कारण होने से अपने आकार का मुद्रक हो कर उस ज्ञान का विषय बनने की अनिष्टापत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि अर्थ को भी अगर सर्वात्मना अपने आकार का आधानकारी मानेंगे 25 तब तो जडता के आधान से ज्ञान में जडता प्रसक्त होगी। उत्तरार्थ क्षण की तरह यदि अर्थ को संपूर्णरूप से नहीं किन्तु (जडता रहित) आंशिकरूप से ही आधानकारी मानेंगे तो वस्तुनिरंशवादी बौद्ध को सांशवस्तु के स्वीकार की आपत्ति होगी। 'समनन्तर प्रत्यय को ही स्व-आकार का आधायक मानेंगे तो वह ज्ञानमय होने से जडता-आपत्ति का दोष नहीं होगा' — ऐसा कहने पर ज्ञान में चेतन-अचेतन उभयाकारता की आपत्ति होगी, क्योंकि उसी ज्ञान में अर्थक्षण भी अपने आकार का अर्पण तो करेगा 30 ही जो कि जडता का आधान करेगा।

यदि अर्थाकार के आधान को न मान कर सिर्फ पूर्वज्ञान क्षण (समनन्तरप्रत्यय) के आकार का

पूर्वरूपताप्रसक्तिरिति कारणरूपतैव स्यात् तथा च पूर्वपूर्वक्षणानामप्येवं प्रसक्तेरेकक्षणवर्ती सर्वः सन्तानो भवेदिति प्रमाणादिव्यवहारलोपः।

किञ्च, तदाकारं तत् उत्पन्नं च यदि समनन्तरप्रत्यये न तत् प्रमाणम्, तदुत्पत्ति-सारूप्ययोर्व्यभिचार इति नार्थऽपि तत् प्रमाणं भवेत्। तथा च — (प्र०वा० २/३०५-३०६)

5 'अर्थेन घटचेदेनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्। तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता।।' इत्यसंगतमभिधानम्।

अथ यदाकारं यदुत्पन्नं यदध्यवस्यति तत्र तत् प्रमाणम् नन्वत्रापि यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवार्थाध्यवसायं जनयति, उत तत् तमेव, आहोस्विज्जनयत्येवेति कल्पनात्रयम्।

आद्यकल्पनायां कारणान्तरनिषेधाद् विकल्पवासनापि तत्कारणं न भवेत्। एवं च निर्विकल्पक-बोधाद् यथा सामान्यावभासी विकल्पस्तथार्थादेव तथाभूताद् भविष्यतीति किमन्तरालवर्तिनिर्विकल्पदर्शन-

10 ही आधान मानेंगे तो भी वह संपूर्णरूप से अपने आकार का ही आधान कर देगा, फलतः उत्तरज्ञानक्षण में पूर्वज्ञानक्षणरूपता प्रसक्त होगी — इसी सीलसीले में, पूर्वक्षण में पूर्वतरज्ञानक्षणरूपता, पूर्वतरज्ञानक्षण में तत्पूर्वज्ञानक्षणता... की आपत्ति के कारण पूरा सन्तान स्वयं सन्तानरूप न रह कर एकक्षणरूप ही प्रसक्त होगा। नतीजतन, पूर्वक्षण - उत्तरक्षण इत्यादि समूचे व्यवहार का, प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार का उच्छेद प्रसक्त होगा, क्योंकि एक ही ज्ञान क्षण बचेगा तो प्रमाण कौन, प्रमेय कौन ?

15 [तदुत्पत्ति-तत्सारूप्य का व्यभिचार प्रामाण्यवञ्चक]

दूसरी बात यह है कि तज्जन्य और तदाकार विज्ञान को तदर्थ के लिये प्रमाण मानने पर भी यदि समनन्तर प्रत्यय के विषय में विज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं तो किसी भी अर्थ के लिये भी वह 'प्रमाण' नहीं रहेगा, क्योंकि प्रामाण्य के व्यवस्थापक तदुत्पत्ति-तत्सारूप्य (यानी तज्जन्य और तदाकार) का व्यभिचार समनन्तरप्रत्यय में दृष्ट है। फिर आपके 'प्रमाणवार्तिक' में जो कहा है

20 — 'प्रमेयाधिगत को अर्थरूपता (अर्थसारूप्य) के अलावा अर्थ के साथ जोडनेवाला और कोई नहीं है (मतलब 'यह ज्ञान पीत का है', 'यह नील का' इस तरह जोडनेवाला तत्त्व नीलसारूप्य-पीतसारूप्य ही है) अत एव प्रमेय के बोध के लिये मेयसारूप्य ही प्रमाण (व्यवस्थापक) है।' — यह कथन असंगत बन जायेगा।

यदि कहा जाय — सिर्फ तज्जन्य और तदाकार नहीं अपितु उन दोनों के उपरांत जो तदध्यवसायी

25 हो वही बोध उस अर्थ के लिये प्रमाण है। तो यहाँ भी तीन विकल्प हैं —

a तज्जन्य तदाकार विज्ञान ही अर्थाध्यवसाय करता है, या

b तज्जन्य तदाकार विज्ञान अर्थाध्यवसाय ही करता है, या

c तज्जन्य तदाकार विज्ञान अर्थाध्यवसाय करता ही है ?

प्रथम कल्पना में विज्ञान अतिरिक्त कारणों का निषेध हो जाने से तदध्यवसाय के प्रति

30 विकल्पवासनारूप कारण का भी निषेध प्रसक्त होगा। फलितार्थ यह होगा कि निर्विकल्पबोधरूप एक ही कारण से सामान्यावभासी विकल्प जन्म लेता है, जब ऐसा ही है तो अर्थ से निर्विकल्प और निर्विकल्प से विकल्प ऐसी दीर्घप्रक्रिया को न मान कर एकमात्र अर्थ से ही सामान्यावभासी विकल्प

कल्पनया ? न चाऽविकल्परूपताऽविशेषेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिर्नार्थाद् वस्तुस्वाभाव्यादित्युत्तरम् तस्य स्वरूपेणैवाऽसिद्धेः। किञ्च, यथाऽविकल्पादर्थादविकल्पदर्शनप्रभवः तथा दर्शनादपि तथाभूतात्तथाभूतस्यैवाऽविकल्पस्य प्रसव इति विकल्पवार्ताप्युपरतैव भवेत्।

किञ्च स्थिर-स्थूरावभासि स्तम्भादिज्ञानं यद्यविकल्पकं कोऽपरो विकल्पो यस्तज्जन्यो भवेत् ? अथ 'स्तम्भः स्तम्भोऽयम्' इत्यनुगताकारावभासि ज्ञानं विकल्पः सामान्यावभासित्वात्; तर्ह्याद्यमप्यनेकावयव- 5 साधारणस्थूलैकाकारस्तम्भावभासि विकल्पः किं न भवेत्, सामान्यावभासस्यात्रापि तुल्यत्वात् ? अस्याऽपलापेऽपरस्याऽप्रतिभासनात् प्रतिभासविकल्पं जगत् स्यात्। न च स्तम्भप्रतिभासात् प्राग् निरंशक्षणिकैकपरमाणुगोचरमविकल्पकं ज्ञानं पुरुषवत् प्रतिभाति, तथापि तत्कल्पने पुरुषपरिकल्पनापि भवेदिति न सौगतपक्षस्यैव सिद्धिः।

किञ्च, निरंश-क्षणिकानेकस्तम्भादिपरमाण्वाकाराद्यनेकं तद् बिभर्ति स्वात्मनि तदा सविकल्पकमासज्येत 10 अनेकानुविधानस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात्। अथ भिन्नं प्रतिपरमाणु तदिष्यते भवेदेवमविकल्पकम् किन्तु की उत्पत्ति क्यो न मानी जाय ? यदि अविकल्परूपता अर्थ में एवं दर्शन (विज्ञान) में, दोनों में तुल्य होने पर भी अर्थ से विकल्पोत्पत्ति न मान कर तथावस्तुस्वभाव के बहाने दर्शन से ही विकल्पोत्पत्ति मानेंगे तो वह व्यर्थायास होगा क्योंकि दर्शन का तथास्वभाववाला अपना स्वरूप ही कहाँ सिद्ध है ?

दूसरी बात — जैसे निर्विकल्प पदार्थ से निर्विकल्प बोध ही उत्पन्न होता है न कि सविकल्प, 15 तो निर्विकल्प दर्शन से भी निर्विकल्प बोध ही उत्पन्न हो सकता है न कि सविकल्प। तब तो आप के मत में विकल्प की कथा का उच्छेद प्रसक्त हुआ।

यह भी ध्यान में लो कि जब इन्द्रियसन्निकर्ष से विना विलम्ब स्थिर एवं स्थूल स्तम्भादि का बोध होना अनुभवसिद्ध है फिर भी आप इस बोध को निर्विकल्प मानते हो, तो इस से अधिक अवगाही विकल्प कैसा होगा जो निर्विकल्प से जन्य माना जाता है ? यदि कहें कि — 'यह स्तम्भ 20 है स्तम्भ है' इस प्रकार अनुगत आकार प्रकाशक बोध होता है उसे हम सामान्यग्राही होने से 'विकल्प' कहते हैं।' — तो प्रथम क्षण में जो अनेक अवयव अनुगत एक सामान्य स्थूलाकार स्तम्भ के अवभासि ज्ञान को विकल्प क्यो न मानी जाय ? यहाँ भी एक सामान्याकार का अवभास तुल्यरूप से होता है। यदि अनेक अवयवसाधारण एक स्तम्भ के अवभास का वहाँ इनकार करेंगे तो उस के अलावा और कोई विषय वहाँ भासमान न होने से सारा जगत् प्रतिभासशून्य प्रसक्त होगा। आप मानते हैं 25 कि स्तम्भ के प्रतिभास के पूर्व कोई ज्ञानाश्रयरूप पुरुष आत्मा नहीं भासता, तो उसी तरह स्तम्भ प्रतिभास के पूर्व क्षणिक निरंश एक एक परमाणु अवयव गोचर निर्विकल्प ज्ञान भी किसी को नहीं होता। फिर भी आप स्तम्भ की सत्ता मान लेते हैं तो पुरुष आत्मा की भी सत्ता क्यो न मानी जाय ? तात्पर्य, बौद्ध का निर्विकल्प विज्ञानपक्ष असिद्ध है।

[स्तम्भनिर्विकल्पबोध में सविकल्पत्व आपत्ति]

30

यदि स्तम्भ का निर्विकल्प बोध अनेकावयवसाधारण स्तम्भगोचर होता है ऐसा मानने के बदले उस एक निर्विकल्प बोधात्मा को क्षणिकनिरंश स्तम्भादिगत अनेक परमाणुआकार अत एव अनेकात्मकता

- एकपरमाणुग्रहणव्यापारवन्नापरपरमाणुग्रहणाय व्याप्रियत इति तेषां परलोकप्रख्यताप्रसक्तिः तद्वेदनैश्च तस्यावेदनमिति तस्याप्यभावः। न चैकैकपरमाणुनियतभिन्नं वेदनमविकल्पकम् अन्यविविक्तैकपरमाणोरर्वागृष्टि अप्रतिभासनाद् विवादगोचरस्य तज्ज्ञानस्य विकल्पजनकत्वाऽसिद्धेः। तन्न प्रथमः पक्षो युक्तिसङ्गतः। इतश्चायमसङ्गतो यतो येन स्वभावेनाऽविकल्पकं दर्शनं स्वजातीयमुत्तरं जनयति तेनैव यदि विकल्पम्
- 5 तर्ह्यविकल्पो विकल्पः प्रसज्येत विकल्पो वाऽविकल्पः अन्यथा कारणभेदः कार्यभेदविधायी न भवेत्। स्वभावान्तरेण जनने सांशतापत्तिरिति।

^bअथ तत् तमेव जनयति, तथा सति धारावाहिनिर्विकल्पसन्ततिर्न भवेत्।

अथ ^cतत् तं जनयत्येव— इति तृतीयपक्षाश्रयणम्, तथा सति क्षणभंगादावपि निश्चय इति न

- को धारण करता हुआ मानेंगे, तो वह सविकल्प बन कर ही रहेगा, क्योंकि विकल्पात्मकता के बिना
- 10 वह अनेकाकार अनुगामी नहीं हो सकता। यदि कहें कि — ‘स्थूल स्तम्भाकार ज्ञान के पहले तद्गत प्रति परमाणु भिन्न भिन्न अनेक निर्विकल्प बोधसमूह का उदय मान लेंगे’ — तो जैसे परलोक का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं होता वैसे ही उन परमाणुसमूहात्मक स्तम्भादि का ग्रहण भी अशक्य है क्योंकि एक परमाणु के ग्रहणव्यापार में व्यस्त बोध अन्य परमाणुओं के ग्रहण में चञ्चुपात ही नहीं कर सकता, तो सभी परमाणु अवयव में अनुगत स्तम्भ का ग्रहण कब करेगा ? उपरांत, अन्य अन्य परमाणु ग्रहण
- 15 में व्यस्त बना हुआ बोध उस एक परमाणु को भी ग्रहण नहीं करेगा, नतीजतन स्तम्भ के निर्विकल्प बोध की कथा समाप्त हो जायेगी। सच तो यह है कि एक-एक पृथक् पृथक् परमाणु ग्राही भिन्न भिन्न निर्विकल्प बोध की सत्ता ही शशशृंग तुल्य है क्योंकि अन्य परमाणुसमुदाय से पृथक् एकपरमाणु का भान इन्द्रिय से देखनेवाले को सम्भव ही नहीं है। अत एव शंकास्पद उस निर्विकल्प ज्ञान से विकल्प की उत्पत्ति असम्भव ही है। निष्कर्ष, प्रथम कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। इस का और एक सबूत यह
- 20 है कि — आप के मत में निर्विकल्प दर्शन से उत्तर काल में सजातीय दर्शन और विकल्प दोनों उत्पन्न होते हैं — यहाँ स्वभावप्रश्न का उत्थान होगा कि जिस स्वभाव से उत्तर दर्शन का वह जनक होता है उसी स्वभाव से अगर वह विकल्प को उत्पन्न करेगा तो दोनों एक स्वभावजन्य होने से एक हो जायेंगे, अर्थात् या तो विकल्प भी अविकल्परूप में पैदा होगा अथवा अविकल्प विकल्परूप में उत्पन्न होगा। अन्यथा — कारण भिन्न होने पर ही कार्यो में भेदप्रवेश होता है’ — इस तथ्य का लोप होगा।
- 25 यदि एक ही निर्विकल्प, भिन्न स्वभाव से उत्तरकालीन दर्शन एवं विकल्प को उत्पन्न करता है, तब तो सांश हो जाने से स्व के एकत्व को ही खो बैठेगा। मतलब, प्रथम कल्पना युक्तिसंगत नहीं है।

- ^bद्वितीय कल्पना — तदाकार तदुत्पन्न विज्ञान तदर्थ के अध्यवसाय को ही उत्पन्न करता है — भी असंगत है क्योंकि तब प्रथम प्रथम निर्विकल्प दर्शनों से जो उत्तरोत्तर श्रेणिगत निर्विकल्पबोध-सन्तान का जन्म ही नहीं होगा, क्योंकि अब तो आप का निर्विकल्प सिर्फ अध्यवसाय को ही उत्पन्न
- 30 करता है, दूसरे किसी को भी नहीं।

[विज्ञानकृतक्षणिकत्वनिश्चयपक्ष में अनुमानप्रवृत्तिनिरर्थकता]

- ^cतीसरा पक्ष — तज्जन्य तदाकार विज्ञान तदर्थ के अध्यवसाय को उत्पन्न करता ही है ऐसा

ज्ञानसंततौ सत्त्वसमारोपः। न च रागादयस्तन्निबन्धना इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुमितिनैरर्थक्यमनुभवेत्।

किञ्च, यदि व्यवसायवशात् निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यव्यवस्था तर्हि तदुत्पत्ति-सारूप्यार्थग्रहणमन्तरेणाध्य-
वसाय एव प्रमाणं भवेत्। अथ तथाभूतानुभवमन्तरेण विकल्प एव न भवेत्— असदेतत्, तस्य
तज्जन्यत्वाऽसिद्धेरुक्तविकल्पदोषानतिक्रमात्। किञ्च, यदि तदाकारादर्शनाभिर्णयप्रभवस्तदा स्वलक्षणगोचरो
निर्णयो भवेत्, निर्णयवद् वा सामान्यविषयमविकल्पकमासज्येत, अन्यथा स्मृतिसारूप्याद् दर्शनस्य 5
सारूप्यसाधनमयुक्तं भवेत्। अथार्थलेशमात्रानुकारि स्मरणम्, तथापि स्वलक्षणविषयत्वं स्मरणस्य, सर्वथा
तदनुकारित्वमविकल्पकरथाप्यसिद्धम्, अन्यथा तस्य जडतापत्तिरिति प्रतिपादनात्। तथा च—

‘विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः’ () इत्ययुक्ततया व्यवस्थितम्।

अथ न लेशतोऽपि परमार्थतस्तदनुकारी विकल्पः, प्रतिपन्नभिप्रायवशात् तु तदभिधानमिति न
स्वलक्षणगोचरत्वम्, निर्विकल्पकस्यापि व्यवहार्यभिप्रायवशात् तदनुकारित्वं न परमार्थतः, ‘सर्वमालम्बने 10

माना जाय, तो क्षणिकत्वग्राही विज्ञान से क्षणिकत्व का निश्चय भी हो ही जायेगा, फिर उस निश्चय
से ज्ञानसन्तान में सत्त्व का समारोप बाधित हो जाने से वह होगा नहीं, तो उस के व्यवच्छेद के
लिये अनुमानप्रवृत्ति निरर्थक बन जायेगी। ‘रागादि के उच्छेद के लिये अनुमानप्रवृत्ति सार्थक होगी’ ऐसा
भी नहीं कह सकते क्योंकि सन्तानात्मक (स्थायि) वस्तु के दर्शन से ही रागादि होते हैं ऐसा नहीं
है! (स्थायि पदार्थदर्शन और रागादि में कारण-कार्य भाव सिद्ध नहीं है।) 15

निर्विकल्प बोध की प्रामाण्यव्यवस्था सिर्फ निश्चयाधीन ही मानेंगे तो तदुत्पत्ति — अर्थसारूप्य
से अर्थग्रहण (अर्थात् निर्विकल्प) अनावश्यक होने से उन के बिना भी विकल्प यानी अध्यवसाय ही
प्रमाणभूत बन बैठेगा। यदि कहा जाय कि — निर्विकल्प के बिना उस का जन्म असम्भव होने से
निर्विकल्प प्रमाण तो स्वीकारना ही पड़ेगा — तो यह गलत है, क्योंकि ‘विकल्प हमेशा निर्विकल्पजन्य
ही होता है’ ऐसा सिद्ध नहीं है। विकल्प को निर्विकल्पजन्य मानने पर उपरोक्त तीन विकल्पों के 20
लिये कहे गये दोषों का पुनरावर्तन होगा।

और भी संकट है — यदि तदाकारदर्शन से निश्चय (विकल्प) का उद्भव मानेंगे तो दर्शन
स्वयं स्वलक्षणाकार होने से निश्चय भी स्वलक्षणविषयक बन जायेगा। अथवा निश्चय जैसे सामान्यावलम्बी
होता है वैसे ही तदाकार अविकल्प भी सामान्यविषयक हो जायेगा। ऐसा नहीं मानेंगे — तो स्मृति
के सारूप्य के आधार पर जो दर्शन का तदाकार सिद्ध किया जाता है वह अयुक्त हो जायेगा। यदि 25
कहें कि — ‘स्मृति सर्वथा (सर्वांशे) सारूप्यधारक नहीं होती सिर्फ लवमात्र अर्थाकारअनुकारी होती
है’ — ऐसा कहने पर भी स्मृति का स्वलक्षण गोचरत्व टाल नहीं सकते (भले अंशतः हो)। अरे
निर्विकल्प भी सर्वथा स्वलक्षणानुकारी नहीं होता (लेशमात्र अर्थानुकारी ही होता है) अन्यथा निर्विकल्प
में अर्थ की जडता भी प्रविष्ट हो जायेगी। निष्कर्ष, आपने कहा है कि ‘अवस्तुस्पर्शी एवं विसंवादी
होने से विकल्प उपप्लवरूप (ध्रान्त) होता है’ वह अयुक्त ठहरता है। 30

[दर्शन में विकल्पजनकत्व के विघटन का प्रसंग]

यदि कहा जाय — वास्तव में तो विकल्प अंशमात्र भी स्वलक्षणाकार नहीं होता, हमने जो

भ्रान्तम्' () इत्यभिधानात् । ननु किमिति न परमार्थतोऽपि तदनुकारि तत् ? 'सामान्यावभासात्' इति चेत् ? नन्वसावपि कुतः ? अनाद्यसत्यविकल्पवासनातः । नन्वेवं न दर्शनं विकल्पजनकम् इति 'यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता' () इत्यसंगतं वचो भवेत् । न च तद्वासनाप्रबोधविधायकत्वेन तदपि तद्धेतुः, इन्द्रियार्थसंनिधानस्यैव तत्प्रबोधहेतुत्वात् । न च वासनाप्रभवत्वेनाक्षयस्य भ्रान्ततैवं भवेत्, 5 अर्थस्यापि कारणत्वेनानुमानवत् प्रमाणत्वात् ।

न च निर्विषयत्वात् व्यवसायस्याऽप्रामाण्यम्, अनुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः, प्रत्यक्षप्रभवविकल्पवत् तस्याप्यवस्तुसामान्यगोचरत्वात् । न च तद्ग्राह्यविषयस्याऽवस्तुत्वेऽप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणत्वात् दृश्यविकल्पा- (?प्या)वर्थावेकीकृत्य ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यम् — प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्, अन्यथा 'पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतः क्वचित्' () इति कथं वचो युक्तं भवेत् ? न च गृहीतग्रहणाद् विकल्पोऽप्रमाणम्

- 10 पहले कहा था वह तो ज्ञाता के तथाविध अभिप्राय का द्योतनमात्र था। — अरे, निर्विकल्प भी वास्तव में स्वलक्षणविषयक नहीं होता, सिर्फ व्यवहर्ता का वैसा (भ्रान्त) अभिप्राय रहता है कि स्वलक्षण निर्विकल्प का विषय होता है। परमार्थ से वैसा नहीं होता, क्योंकि कहा गया है, 'ज्ञानमात्र बाह्यार्थ के बारे में भ्रान्त होता है।' लेकिन यहाँ भी प्रश्न है — क्यों निर्विकल्प स्वलक्षणानुकारी नहीं होता ? सामान्यावभासि होने से ? क्यों वह सामान्यावभासि ही होता है ? अनादिकालीनपरम्परागत असत्य विकल्पवासना का प्रभाव है ? तो विकल्प का जनक वासना है, निर्विकल्प को उसका जनक नहीं मान सकते। फलतः — 'जिस अर्थ के बारे में निर्विकल्प निश्चयबुद्धि को उत्पन्न करे उसी अर्थ के बारे में निर्विकल्प प्रमाण है' — यह कथन निरर्थक बन जायेगा क्योंकि अब तो विकल्पवासना ही विकल्प का जनक है न कि निर्विकल्प। यदि विकल्पजनकवासना के प्रबोधन में निर्विकल्प को हेतु मान कर उसकी सार्थकता दिखायी जाय तो वह भी अशक्य है क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष ही प्रबोधक है न कि निर्विकल्पक। 20 यदि कहें कि — 'इन्द्रियसंनिकर्षप्रबोधित वासना को प्रत्यक्ष का कारण मानने पर (न कि निर्विकल्प को), वासनाजनित होने से प्रत्यक्षमात्र में भ्रान्तता अपने आप सिद्ध हो गयी' — तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुमान जैसे वासनाजनित होने पर भी सद्धेतुजन्य होने से प्रमाण होता है वैसे ही प्रस्तुत प्रत्यक्ष भी वासनाजनित भले हो, अर्थजन्य भी (यानी इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य) होने से 'प्रमाण' ही है।

25 [विकल्प निर्विषयक होने मात्र से अप्रमाण नहीं]

- विकल्प को अप्रमाण ठहराने पर तुला हुआ वादी यदि ऐसा कहें कि — व्यवसायात्मक विकल्प का कोई विषय न होने से (सामान्य तो तुच्छ असत् होने से) वह अप्रमाण है — तो अनुमान भी अप्रमाण ठहरेगा क्योंकि वह भी व्यवसायात्मक है। जिस का विषय कोई 'सत्' नहीं होता, 'असत्' सामान्य होता है। जैसे प्रत्यक्ष मूलक विकल्प का भी (आप के मत में) वही विषय होता है। यदि 30 कहें कि "अनुमानगृहीत विषय भले असत् हो, किन्तु उस से अध्यवसित तो स्वलक्षण ही है (बौद्ध मत में, अनुमान का विषय तो अग्निसामान्य असत् ही है फिर भी अनुमान को ऐसा अध्यवसाय होता है कि मैंने अग्निव्यक्ति का भान किया), अनुमाता पुरुष दृश्य अग्निस्वलक्षण और विकल्प

क्षणक्षयानुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः शब्दस्वरूपावभास्यध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात् । न चाध्यक्षेण धर्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेऽपि न क्षणक्षयग्रहणम् विरुद्धधर्माध्यासतस्ततस्तद्भेदप्रसक्तेः ।

प्रज्ञाकराभिप्रायेण तु लिङ्ग-लिङ्गिनोः साकल्येन योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिग्रहणेऽनभ्यासदशायां प्राप्ये भाविन्यनधिगताध्यासिगन्तुत्वाभावात् अनुमानं प्रमाणं न भवेत् । अथाऽनिर्णीतमनुमेयं निश्चिन्वत् प्रमाणमनुमानं तर्ह्यनिश्चितं नीलं निश्चिन्वन् विकल्पस्तथाविधः किं न प्रमाणम् ? अथ समारोपव्यवच्छेदकरणादनुमानं 5 प्रमाणं तर्हि नीलविकल्पोऽपि तत् एव प्रमाणं भवेत् । न च सादृश्यादेव समारोपः, येन तत्राऽनीलसमारोपो न भवेत्, किन्तु स्वागमाहितविकल्पाभ्यासवासनातोऽपि, यथा 'सर्वं सर्वात्मकं' इति साङ्ख्यस्य । एवं

(= अध्यवसेय) अग्निसामान्य का भेद न जानता हुआ उन दोनों का एकीकरण कर के विषयग्रहण में प्रवृत्त होता है, इस प्रकार अनुमान का अध्यवसेयरूप विषय स्वलक्षण होने से वह 'प्रमाण' है ।" — ऐसी समानता तो प्रस्तुत (प्रत्यक्षजन्य) विकल्प में भी है, उस का भी विकल्प्य तो स्वलक्षण ही 10 होता है । यदि इस बात को नहीं मानेंगे तो 'कहीं पर हेतु की पक्षवृत्तित्ता का निश्चय प्रत्यक्ष से होता है' () ऐसा धर्मकीर्ति का वचन (प्रथमखंड में पृ०३११-१०) असंगत ठहरेगा, क्योंकि यहाँ भी आपने पक्षवृत्ति हेतुस्वलक्षण को प्रत्यक्ष से अध्यवसित होना मान्य रखा है ।

यदि कहें — विकल्प तो निर्विकल्पगृहीत अर्थ का पुनः ग्रहण करता है, नया कुछ नहीं, इस लिये प्रमाण नहीं है । — तो क्षणभंगसाधक अनुमान भी अप्रमाण ठहरेगा, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष 15 से एक बार शब्दस्वरूपान्तर्गत क्षणिकत्व गृहीत हो जाने के बाद ही अनुमान पुनः उसको सिद्ध करता है । यदि ऐसा कहें कि — प्रत्यक्ष तो सिर्फ शब्दरूपधर्मी स्वरूप को ही ग्रहण करता है न कि तदन्तर्गत क्षणिकता को ! — तब तो शब्द के स्वरूप में गृहीतत्व और अगृहीतत्व दो विरुद्ध धर्म प्रसक्त होने से एक शब्द के एकत्व का भंग प्रसक्त होगा । यानी धर्मी शब्द एवं क्षणिकता का भेद उजागर होने से शब्द में क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा । 20

[प्रज्ञाकर मतानुसार भी अनुमान अप्रमाण]

प्रज्ञाकर गुप्त का अभिप्राय देखा जाय तो अनुमान 'प्रमाण' ही नहीं होगा क्योंकि जब योगी लोक अपने प्रत्यक्ष से हर कोई लिङ्ग-लिङ्गी के सहचार को साक्षात् देख कर व्याप्ति समझ लेते हैं तब लिङ्गीमात्र उस से गृहीत हो जाते हैं । अब यदि अगृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को ही 'प्रमाण' मानना है तो अनभ्यासदशा में जब योगीपुरुष भावि प्राप्य (भविष्य में दर्शन विषय) 25 वस्तु का वर्तमान में अनुमान करेगा, तब वह वस्तु व्याप्तिग्रहणकाल में योगीप्रत्यक्षगृहीत होने से अगृहीत नहीं है, अतः अगृहीतग्राही न होने से उस का अनुमान 'प्रमाण' नहीं रहेगा ।

यदि ऐसा कहें कि — अनुमेय पदार्थ प्रत्यक्ष के काल में गृहीत होने पर भी निश्चित नहीं रहता, अतः अनिश्चित अर्थ का निश्चय करता हुआ अनुमान 'प्रमाण' मान्य है । तब तो दर्शनकाल में अनिश्चित नील का निश्चय करने वाला विकल्प भी 'प्रमाण' क्यों नहीं ? यदि कहें कि — समारोप 30 निरस्त करने वाला होने से अनुमान प्रमाण है — तो इसी तरह समारोप निरसन करने वाला विकल्प भी 'प्रमाण' ही है । "नीलविकल्प के पूर्व सदृशतामूलक समारोप सम्भवित न होने से उस का निरसन

च नीलेऽनीलात्मकत्वसमारोपं व्यवच्छिन्दानो विकल्पः क्षणक्षयानुमानवत् कथं न प्रमाणम् ? दृश्यन्ते हि शुक्तिका-रज्ज्वादिषु रजत-सर्पादिसमारोपास्तथाभूतविकल्पवशाद् लिङ्गानुस्मरणमन्तरेणापि निवर्तमानाः।

- अथ भवत्वसौ विकल्पः प्रमाणम्, न च प्रमाणान्तरम् अनुमानेऽन्तर्भावात्। न, अनभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्तकत्वात् अनुमानं प्रमाणमिष्टम् तच्च निश्चितत्रिरूपाद् लिङ्गादुपजायते, निश्चयस्य चानुमानान्तर्भावे
- 5 त्रैरूप्यनिश्चयोप्यनुमानम् तदपि निश्चितत्रैरूप्याद् लिङ्गात् प्रवर्तत इत्यनवस्थानात् अनुमानाऽप्रवृत्तिरेवेति कुतो विकल्पस्य तत्रान्तर्भावः ? अथ पक्षधर्मतान्वय-व्यतिरेक-निश्चायकं लिङ्गस्य नानुमानम् तर्हि प्रमाणान्तरस्याभावादध्यक्षं निर्णयात्मकं पक्षधर्मत्वादिनिश्चयः सिद्धः। अत एव “अनभ्यासदशायामनुमानम् अभ्यासदशायां तु दर्शनमेव प्रमाणम् न च तृतीया दशा विद्यते यस्यां विकल्पः प्रमाणं भवेत्” इति निरस्तम्, अनभ्यासदशायामनुमानस्यैव तमन्तरेणाऽप्रवृत्तेस्तदपेक्षस्यैव तस्य प्रमाणत्वात्।

- 10 भी सम्भवित न होने से नील विकल्प ‘प्रमाण’ नहीं है” — ऐसा भी कहना व्यर्थ है। कारण, सभी समारोप सदृशतामूलक ही नहीं होता, अपने अपने शास्त्रों से जनित बार बार घूटे गये विकल्पों की वासना से भी समारोप जन्म लेता है। उदा. सांख्य दर्शन के शास्त्रों में सभी पदार्थों को (सत्त्व-रजस्-तमस्) त्रिगुणात्मक कहा है — यानी प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणमय होने से अन्योन्यरूप ही है अत एव ‘सर्व सर्वात्मक है’ ऐसा समारोप उन के शास्त्रों की वासना से जन्म लेता है। उसी तरह सदृशता
- 15 के बिना भी अन्यप्रकार वासना से उत्पन्न अनीलसमारोप का निरसन करनेवाले विकल्प उसी तरह प्रमाण है जैसे अक्षणिक समारोपव्यवच्छेद करनेवाला क्षणिकतासाधक अनुमान। ‘अनुमान से ही समारोप का व्यवच्छेद होता है’ ऐसा भी कथन गलत है, क्योंकि छीप में रजत का एवं रज्जु में सर्प इत्यादि का समारोप, लिंगस्मरण आदि के विरह में भी (यानी अनुमान के बिना ही) पर्याप्त प्रकाश आदि में झांक कर देखने पर उत्पन्न होनेवाले विकल्पों से दूर भाग जाते हैं।

20 [अनुमान में विकल्प का अन्तर्भाव नहीं]

- “विकल्प को प्रमाण माना जाय फिर भी उस का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाने से वह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।” — ऐसा भी कथन ठीक नहीं है। अनभ्यासदशा में (प्रत्यक्ष प्रवर्तक न बन सकने से) अनुमान भावि वस्तु के बारे में प्रवृत्ति-कारक बन सकने से प्रमाण तो माना गया है, लेकिन जिस में पक्षवृत्तित्वादि तीन रूप निश्चित है ऐसे लिङ्ग से ही उस का उद्भव शक्य है। यदि निश्चय
- 25 को अनुमान कहेंगे तो पक्षसत्त्वादि तीन रूपों के निश्चय का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, वह अनुमान भी पुनः निश्चित तीनरूपवाले अनुमान से ही प्रवृत्त होगा, इस प्रकार उस के लिये भी पुनः अनुमान... पुनः अनुमान .. इस प्रकार से उन की कल्पनाओं का अन्त ही कहाँ होगा ? फलतः अनुमानप्रवृत्ति ही निरुद्ध हो जायेगी, तो कौन से अनुमान में विकल्प का अन्तर्भाव मानेंगे ?

- यदि लिङ्ग के पक्षसत्त्वादि अन्वय-व्यतिरेक का निश्चायक ज्ञान अनुमानरूप नहीं मानेंगे — तो
- 30 अन्यप्रमाण का अस्तित्व न होने से पक्षधर्मत्वादि के विकल्प को निर्णयात्मक प्रत्यक्षप्रमाणरूप ही स्वीकारना होगा। पक्षधर्मत्वादि के विकल्प की प्रत्यक्षप्रमाणरूप से सिद्धि अनिवार्य होने से, यह जो किसी ने कहा है (वह भी निरस्त हो जाता है) — अनभ्यासदशा में सिर्फ अनुमान प्रमाण की और अभ्यासदशा

न च भवतु प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तो विकल्पः, तथापि न तदपेक्षं दर्शनं प्रमाणं स्वत एव तस्य प्रमाणत्वात्, अन्यथा विकल्पस्यापि विकल्पान्तरापेक्षया प्रमाणत्वादनवस्था दुष्परिहारा, अर्थविषयीकरणाद् विकल्पस्यान्यनिरपेक्षस्य प्रामाण्ये निर्विकल्पस्यापि तथैव प्रामाण्यं भविष्यतीति किं विकल्पापेक्षयेति वक्तव्यम्; यतः संशयविपर्ययोत्पादकमपि दर्शनमेवं प्रमाणं स्यात् तथा च तत्राप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्तते। अथ 'जले जलमेतत्' इति निर्णयविधायि प्रमाणं तर्हि सिद्धं विकल्पापेक्षणं तस्येति वरं विकल्प एव प्रमाणमभ्युपगतः 5 तस्यैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारसाधकतमत्वात्।

यदपि 'अभ्यासदशायां दर्शनमेव विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्' (पृ०१९२-पं०८) इति तत्र वक्तव्यं क्व तत् प्रमाणम् ? 'प्राप्ये भाविनि रूपादौ' इति चेत् ? तस्याऽविषयीकरणे तेना (?तत्र) युक्तम् अन्यथा नीलज्ञानं पीते प्रमाणं स्यात्। विषयीकरणे भाविविषयत्वं तस्यैव भवेत् तथा च 'वर्तमानावभासि सर्वं

में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, तीसरी कोई दशा ही कहाँ है जिस में विकल्प की प्रमाणरूप 10 से प्रवृत्ति मानी जाय ? यह निरस्त हो जाता है; वास्तव में तो, विकल्प (निश्चय) प्रमाण के विना अनभ्यासदशा में अनुमान की प्रवृत्ति असम्भव होने से विकल्प (निश्चय) प्रमाण सापेक्ष ही अनुमान की प्रमाणता सिद्ध होती है।

[विकल्प के विना दर्शन का प्रामाण्य अनुपपन्न]

यदि यह कहा जाय — 'विकल्प को प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों से अतिरिक्त भले मानो, किन्तु 15 दर्शन का प्रामाण्य विकल्पाधीन मत मानो, क्योंकि दर्शन तो 'स्वतः ही प्रमाण' है। यदि विकल्पाधीन मानेंगे तो पूर्व पूर्व विकल्पप्रामाण्य भी अन्य अन्य विकल्प के अधीन मानना पड़ेगा और अनवस्था प्रसक्त होगी। विकल्प को अर्थगोचर होने से अन्यविकल्प निरपेक्ष ही 'स्वतः प्रमाण' मानेंगे तो निर्विकल्प भी अर्थगोचर होने से विकल्पनिरपेक्ष 'प्रमाण' हो सकता है। फिर नये तौर से सोचिये कि विकल्प को प्रमाण मानने में क्या अपेक्षा रही ?' — तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब 'स्वतः प्रमाण' 20 होने के नाते निर्विकल्प यदि संशय या विपर्यय को जन्म दे तो भी उस का प्रामाण्य अव्याहत रहेगा, फलतः निर्विकल्प प्रमाण से मरीचिकाजलपान में भी तृषाशमनरूप अर्थक्रिया के अर्थी की प्रवृत्ति प्रसक्त होगी। यदि कहें कि — "सत्यजल में 'यह जल है' ऐसे निश्चय के जनक दर्शन को ही 'स्वतः प्रमाण' मानेंगे" — तब तो विकल्प की गरज सिद्ध हो जाने से, विकल्प को ही 'प्रमाण' मानना युक्त ठहरेगा, क्योंकि आखिर प्रवृत्ति आदि सकल व्यवहारों का साधकतम भी वही है। 25

[भावि प्राप्य अर्थ में दर्शन की प्रमाणता अघटित]

पहले (पृ०१९२-पं०३२) जो यह कहा था कि — अभ्यासदशा में विकल्पापेक्षा विना ही दर्शन 'प्रमाण' होता है। — इस के प्रति पूछना है कि वह किस विषय में 'प्रमाण' है ? भावि प्राप्य रूपादि के विषय में ? क्या वह उस को विषय करता है या नहीं ? यदि विषय ही नहीं करता तो वह उस विषय में प्रमाण नहीं हो सकता। अन्यथा पीत को विषय न करनेवाला नीलज्ञान पीतविषय में प्रमाण हो 30 जायेगा। यदि विषय करता है तो दर्शन का ही भावि (असद्) विषयकत्व हो जायेगा; फिर जो आप का यह सिद्धान्त है 'सभी प्रत्यक्ष वर्तमानअवभासि होते हैं' वह डूब जायेगा। यदि कहें कि — "प्रत्यक्ष

- प्रत्यक्षम्' () इति विरुध्येत। अथ वर्तमानविषयमपि भाविनि प्रवृत्तिविधानात् प्रमाणम्। न, अविषयीकृते प्रवर्तकत्वाऽसम्भवात् प्रवर्तकत्वे वा शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यतीति न मीमांसकमतप्रतिकेपो युक्तः। यदि वाऽविषयेऽपि कुतश्चिन्निमित्ताद् ज्ञानं प्रवर्तकं तर्हि प्रत्यक्षपृष्ठभावि- सामान्यमात्राध्यवसायविकल्पस्य विशेषे प्रवर्तकत्वं भविष्यतीति न युक्तं 'दृश्य-विकल्प(प्य)योरर्थयोरेकीकरणं
- 5 तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्यभिधानम्। तत्र प्राप्ये तत् प्रमाणम्।
- 'दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे तत् प्रमाणम्' इति चेत् ? कुत एतत् ? व्यवहारिणां तत्राऽविसंवादाभिप्रायात् अविसंवादि च ज्ञानं प्रमाणम्। तदुक्तम् — प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनम्... (प्र०वा०१-३) इति चेत् ? ननु तदेकत्वं कस्य विषयः ? दर्शनस्येति चेत् ? न, तस्य सामान्यविषयतया सविकल्पकत्वप्रसक्तेः। विकल्पस्येति चेत् ? न, अभ्यासदशायां विकल्पस्याऽनभ्युपगमात्। कथं च दृश्य-
- 10 प्राप्ययोरेकत्वं विकल्पस्यैव विषयो नाऽविकल्पस्य ? एकत्वस्याऽयोगादिति चेत् ? कथं विकल्पविषयः ? अवस्तुविषयत्वात् तस्येति चेत् ? दर्शनस्य को विषयः ? दृश्यमानक्षणमात्रमिति चेत् ? ननु यदि तत्
- तो वर्तमानविषयी ही होता है किन्तु भावि प्राप्य अर्थ के लिये प्रवृत्ति में प्रयोजक होने से वह भावि अर्थ में प्रमाण कहा गया है" — तो यह ठीक नहीं, जिसको (भावि अर्थ को) वह विषय ही नहीं करता उस अर्थ में वह प्रवर्तक भी कैसे हो सकता है ? यदि प्रवर्तक बन सकता है तब तो मीमांसक
- 15 के इस मत का — 'शाब्द ज्ञान यद्यपि जातिविषयक ही होता है फिर भी प्रकरणादिवशात् विशेष (व्यक्ति) अर्थ में प्रवर्तक बनता है' — विरोध नहीं कर सकेंगे। अथवा यदि वह ज्ञान अविषय भूत अर्थ में येन केन प्रकारेण प्रवृत्ति कराता है तो प्रत्यक्ष के बाद होने वाला सामान्यमात्रअवभासि विकल्प भी अपने अविषयभूत विशेष में प्रवर्तक हो सकता है। फलतः विशेष व्यक्ति में विकल्प को प्रवर्तक मानने के बदले दृश्य एवं विकल्प्य अर्थ के एकीकरण को ही आप प्रवृत्ति का निमित्त बताते हैं वह गलत ठहरेगा।
- 20 निष्कर्ष, प्राप्य विषय (विशेष अर्थ) में दर्शन प्रमाण नहीं है।

[एकत्व में दर्शन की प्रमाणता विवादास्पद]

- 'कोई बाध नहीं। दृश्य और प्राप्य के एकत्व के विषय में दर्शन को प्रमाण मानेंगे।' — यहाँ भी प्रश्न है किस प्रमाण के आधार पर ? "व्यवहर्त्ताओं को उस में अविसंवाद की उपलब्धि होती है, और अविसंवादि ज्ञान प्रमाण होता है — प्र०वार्त्तिक में कहा गया है, 'अविसंवादि ज्ञान प्रमाण
- 25 है, अविसंवाद का अर्थ है अर्थक्रिया का सम्पादन।' इस प्रमाण से" ? तो यहाँ भी प्रश्न है — एकत्व विषय किस का है ? दर्शन का ? नहीं, एकत्व है दृश्य-प्राप्य का सामान्य तत्त्व, तो इसको विषय करनेवाले दर्शन में सविकल्पत्व प्रसक्त होगा। यदि एकत्व को विकल्प का विषय कहेंगे — तो वह शक्य नहीं क्योंकि अभ्यासदशा में दर्शन ही सक्रिय होता है, विकल्प की गति नहीं होती। यह प्रश्न भी होगा कि — एकत्व विकल्प का ही विषय बने तो निर्विकल्प का क्यों नहीं ? यदि कहें कि
- 30 — 'एकत्व (काल्पनिक होने से उस) के साथ दर्शन का संनिकर्ष असम्भव है' — तो विकल्प का भी वह कैसे विषय बन सकेगा ? 'विकल्प तो असद् वस्तु को भी उपलब्ध कराता है इस लिये वह एकत्व का ग्रहण कर सकेगा' — तो प्रश्न होगा कि फिर दर्शन का विषय क्या शेष रहा ?

▼. शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥३॥ इति पूर्णश्लोकः।

^Aसञ्चितपरमाणुस्वभावं तत्र दर्शने प्रतिभाति तदा तस्य सविकल्पकत्वमिति प्राक् प्रतिपादितम्।
^Bविविक्तैकैकपरमाणुरूपं चेत् ? सर्वशून्यताप्राप्तेर्न काचिदभ्यासदशा यस्यां दर्शनं प्रमाणं विकल्पविकलं भवेत्। यथा चानेकपरमाण्वाकारमेकं ज्ञानं तथा दृश्य-प्राप्ययोर्घटादिकमेकमिति तद्विषयं परमार्थतोऽभ्यासदशायां सविकल्पकमध्यक्षं किमिति नाभ्युपगम्यते ?

अथाऽशक्यविवेचनत्वात् चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः घटादिकस्तु चित्रो नैकः तद्विपर्ययात्। ननु 5
 किमिदं बुद्धेशक्यविवेचनत्वम् ? यदि ^Aसहोत्पत्ति-विनाशौ ^Bतदन्याननुभवो वा तदभ्युपगम्यते तदैकक्षण-
 भाविसन्तानान्तरज्ञानेषु भिन्नरूपतयोपगतेष्वपि तस्य भावाद्, इत्यनैकान्तिको हेतुः। अथ सन्तानान्तराप्यपि
 नाभ्युपगम्यन्ते— कथमवस्थाद्वयाभ्युपगमः ? व्यवहारेण तदभ्युपगमे तथैव सन्तानानानात्वोपगमादनैकान्तिकत्वं
 तदवस्थमेव। न च प्रतिभासाद्वैतवादोपगमात् तान्यपि पक्षीक्रियन्ते इति नानैकान्तिकः, एकशाखाप्रभवत्वहेतोरपि

‘दृश्यमान क्षणमात्र’ को दर्शनग्राह्य मानने पर दो विकल्प प्रश्न ऊठेंगे — A क्या दर्शन में दृश्यमानक्षण 10
 समुदितपरमाणुसमूहरूप में विषय बनते हैं या B पृथक् पृथक् एक-एक परमाणु के क्रम से ? यदि
 A समुदित परमाणुसमूह उस का विषय है तो निश्चित वह सविकल्प ही है न कि निर्विकल्प, यह
 पहले (१८७-३१) कह चुके हैं। B ‘पृथक् पृथक् परमाणु क्रमशः उस के विषय बनेंगे’ ऐसा कहेंगे तो
 सर्वशून्यता ही प्रसक्त होगी यह भी पहले (१८८-१०) कह चुके हैं। ऐसी कोई अभ्यासदशा मान्य
 नहीं होगी जिस में विकल्परहित दर्शन प्रमाण बन सके। दूसरी बात यह है कि आप जब एक ज्ञान 15
 को अनेक परमाणुआकार मानने को संमत है तो दृश्य और प्राप्य घटादि को (दृश्य-प्राप्यभेद रहते
 हुए भी) ‘एक’ मान कर, पारमार्थिक रूप से अभ्यासदशा में उसे सविकल्प प्रत्यक्ष का विषय क्यों
 नहीं स्वीकार लेते ? (क्षणभंग मानने की जरूर क्या ?)

[चित्रप्रतिभासबुद्धि में एकत्वसाधक हेतु अनैकान्तिक]

यदि कहा जाय कि — बुद्धि चित्राकार चित्रप्रतिभासवती हो कर भी ‘एक’ हो सकती है क्योंकि 20
 उस का पृथक्करण, विवेचन अशक्य है। जब कि घटादि चित्र वस्तु में विवेचन शक्य होने से वह
 एकात्मक नहीं हो सकता। तो इस पर ये दो विकल्प प्रश्न हैं — विवेचनअशक्यता क्या है, १ ^Aएक
 साथ उत्पत्ति-विनाश या ^Bअन्य को अनुभव न होना ?

^Aप्रथम विकल्प में एकत्व साधक सहोत्पत्ति-विनाश हेतु अनैकान्तिक दोषलिप्त हो जायेगा, क्योंकि
 एक ही क्षण में पृथक् अनेक सन्तान के अन्तर्गत जो भिन्न भिन्न स्वरूपवाले अनेक ज्ञान हैं वे सब 25
 समकालीन होने से सहोत्पत्तिविनाशशाली हैं किन्तु उन में ‘एकत्व’ साध्य नहीं है। यदि कहें कि हम
 सन्तानभेद ही नहीं मानते हैं — तो प्रश्न होगा कि कोई सुखी - कोई दुःखी ऐसी दो अवस्थाओं
 की संगति कैसे करेंगे ? यदि ऐसा कहा जाय कि अवस्थाद्वैत की संगति के लिये व्यवहार से कोई
 सुखी कोई दुःखी ऐसा भेद मान लेंगे — तब तो इस प्रकार व्यवहार से स्वीकृत अनेक सन्तान के
 समानकालीन क्षणों में पूर्वोक्त अनैकान्तिकत्व दोष भी तदवस्थ ही रहेगा। यदि कहा जाय कि — 30
 हम सिर्फ अद्वैत प्रतिभासवादी हैं — अत एव सुखी-दुःखी इत्यादि भासमान अनेक सन्तानों में भी
 हमें ‘एकत्व’ सिद्ध करना इष्ट है इस लिये वे भी (सन्तान) पक्षान्तर्गत ही है, इसलिये पक्ष में व्यभिचार

विपक्षविषयपक्षीकरणादनैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तेः। न चात्राऽऽमताग्राह्यध्यक्षेण पक्षबाधनाद् न पक्षीकरणसंभवः, प्रकृतेऽपि युगपद्भाविनां नानाचित्तसन्तानानां भेदावभासिस्वसंवेदनाध्यक्षेण बाधनादस्य समानत्वात्। अध्यानन्यवेद्यत्वमशक्यविवेचनत्वम् तदपि सुखादिभिः क्रमेणैकसन्तानभाविभिर्व्यभिचारि। अथेषामपि पक्षीकरणम्, नन्वेवं परिणाम्यात्मसिद्धेः 'यद् यथावभासते'... इत्याद्यनुमानमयुक्तम् हेतोरसिद्धताप्राप्तेः। अथ भेदाभेदात्मकत्वे-

5 न प्रतिभासनं तद् अभिमतं तर्हि दृश्य-प्राप्ययोरपि तदस्तीति कथं नैकत्वम् ?

अथ नीलादिप्रतिभासानां नैकत्वं चित्रप्रतिभासात्, न नानात्वं तदात्मकस्य वा तद्ग्राहकस्याभावात्,

दोष सावकाश नहीं होता। — तो इस तरह से अनैकान्तिक दोष ही लुप्त हो जाने का अतिप्रसंग होगा। उदा० 'यह आम्रफल पक्व है क्योंकि अन्यपक्व आम्रफल के साथ एक ही वृक्षशाखा में उत्पन्न हुआ है जैसे वे अन्य पक्व आम्रफल।' ऐसा कोई प्रयोग करेगा तब यदि कोई विपक्षी अन्य अपक्व 10 फल में अनैकान्तिक दिखायेगा तो वहाँ भी विपक्षदर्शित अन्यापक्वफल को पक्षान्तर्गत कर लिया जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक अनैकान्तिक स्थल को पक्षान्तर्गत कर लेने पर उस दोष की कथा ही समाप्त हो जायेगी। यदि कहें कि — वहाँ तो अपक्वताग्राही प्रत्यक्ष का स्पष्ट बाध होने से उस का पक्षान्तर्भाव शक्य न होने से अनैकान्तिक दोष की कथा सुरक्षित रहेगी — तो यहाँ प्रस्तुत में भी समकालीन विविध चित्तसंतानों में भेदोपदर्शक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बाधकारी मौजूद होने से उन का पक्षान्तर्भाव 15 शक्य नहीं रहेगा। फलतः सहोत्पत्तिविनाशरूप अशक्यविवेचन हेतु मैं अनैकान्तिक दोष तदवस्थ रहेगा।

[विवेचन अशक्यता का दूसरा अर्थ अनन्यवेद्यत्व — में दोष]

दूसरा विकल्प :- विवेचनअशक्यता का अर्थ अनन्यवेद्यत्व किया जाय — तो प्रयोग का मतलब यह हुआ कि 'चित्रप्रतिभासवाली बुद्धि अन्य किसी को अवेद्य होने से एक है।' — किन्तु यहाँ भी अनैकान्तिक दोष प्रसक्त है क्योंकि क्रमशः एकसन्तान में होनेवाले सुख-दुःखादि में अनन्यवेद्यत्वहेतु होने 20 पर भी एकत्वरूप साध्य नहीं है। यदि यहाँ भी उन सुख-दुःखादि का पक्षान्तर्भाव कर लिया जायेगा तो उन में (क्रमिक सन्तानक्षणों में) एकत्व सिद्ध हो जाने से सुख-दुःखादिपरिणामों से परिणत एक आत्मतत्त्व सिद्ध हो जाने से आप का यह पूर्वोक्त 'प्रत्यक्ष को निर्विकल्प सिद्ध करने वाला अनुमान' (पृ०११९-पं०४) 'जो जैसा प्रतीत होता है उस का व्यवहार उसी प्रकार से होता है जैसे सुखादि संवेदन...' इत्यादि अनुमान असंगत हो जायेगा क्योंकि इस अनुमान में 'यथाप्रतीति'... यह हेतु ही असिद्ध है। 25 तात्पर्य यह है कि सुखादिसंवेदनों में निर्विकल्पप्रतिभास नहीं होता अपितु परिणामिआत्मादि संकलित ही उन का संवेदन होता है।

यदि कहें कि चित्रप्रतिभास की विवेचन अशक्यता का अर्थ है भेद-अभेदउभय रूप से भासित होना — तब तो दृश्य और प्राप्य उभय का भी भेद-अभेद उभयरूप से प्रतिभास होने से उन में वास्तव ही एकत्व क्यों न माना जाय ?

30 [एकत्व/ नानात्वादिसर्वविकल्परहित तत्त्व की समीक्षा]

अब यदि पक्ष बदल कर ऐसा कहा जाय कि — "नीलादि प्रतिभासों में भिन्न भिन्न अवभास

सर्वविकल्पातीतं तु तत्त्वम् इति। अत्रापि यद्येकत्वस्यैकान्तेन निषेधः साध्यः तदा सिद्धसाध्यता अन्यथा चित्रप्रतिभासाभावात्। कथञ्चिदेकत्वस्य तु निषेधेऽसिद्धश्चित्रप्रतिभासादिति हेतुः। यतः पीतादीनां नीलप्रतिभासेनाऽविषयीकरणे सन्तानान्तरवदभावस्तथापि भावे न सन्तानान्तरनिषेधः। तेषां च क्षणक्षयसाधने ग्राह्य-ग्राहकभाव इति न सर्वविकल्पातीतं तत्त्वम्। *विषयीकरणे तदाकारेणापि तद्ग्राहकाभावात्। नापि नानात्वमित्यस्य विरोधः, स्वपरग्राहकस्यैव तद्ग्राहकत्वात्, सर्वथा तदाकारत्वे नीलमात्रं पीतमात्रं भवेदिति 5 न चित्रप्रतिभासः, कथञ्चित् तदाकारत्वे सिद्धं सविकल्पदर्शनम्। अथ सर्वविकल्पातीते तत्त्वे इदमप्यवक्तव्यम् तर्हि न 'परस्यापि परतो गतिः' किन्तु 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' () इत्येतदपि न वक्तव्यम्, तथा च विज्ञानाद्वैतमपि कुतः ? न चान्यग्रहणविमुखज्ञानसंवेदनादेवमुच्यते अन्यत्राप्यस्य समानत्वात्। तदेवं

होते हैं इस लिये उन में एकत्व हो नहीं सकता। नानात्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि चित्रस्वरूप उन का कोई एक भी ग्राहक अनुपलब्ध है। तो तत्त्व (प्रतिभासों के एकत्व-नानात्व के बारे में निष्कर्ष) 10 क्या है ? तत्त्व यहाँ सर्वविकल्पों से पर ही है।" — इस कथन पर प्रतिवादी कहते हैं कि यदि यहाँ एकान्त से एकत्व का निषेध अभिप्रेत हो तो सिद्धसाध्यता दोष होगा क्योंकि यदि उन में (नीलादिप्रतिभासों में) एकान्ततः एकत्व होता तो (एकत्व से विरुद्ध) चित्रप्रतिभास सम्भव नहीं होगा। यदि कथञ्चित् एकत्व का निषेध करना है तो चित्रप्रतिभासरूप एकत्वसाधकहेतु ही असिद्ध बन जायेगा। कैसे यह देखिये — जैसे नील प्रतिभास सन्तानान्तरगत पीतादि को विषय नहीं करता इस तरह वह 15 तथाकथित चित्र प्रतिभासगत पीतादि को भी विषय नहीं करता, अत एव एक दूसरे का अपने साथ प्रतिभास शक्य नहीं। यदि फिर भी शक्य मानेंगे तो सन्तानान्तरगत पीतादि का निषेध नहीं हो सकेगा। तथा उन प्रतिभासों के क्षणिकत्व की सिद्धि मानेंगे तो उन में ग्राह्य-ग्राहक भाव भी मानना पड़ेगा, जब ग्राह्य-ग्राहक विकल्प प्रसिद्ध है तब तत्त्व को सर्वविकल्प से पर नहीं मान सकते।

[चित्र प्रतिभास में नानात्व का निषेध असंगत]

नीलप्रतिभास यदि पीतादि को विषय करेगा तो, पीतादिविषयकारित्व के स्वरूप में उस नीलप्रतिभास का कोई ग्राहक तो होना चाहिये, वह नहीं है, इस लिये 'नाऽपि नानात्वं' ऐसा कह कर जो नानात्व का निषेध कहा है उस के साथ विरोध होगा। कारण, नीलप्रतिभासरूप 'स्व' और पीतादिरूप जो 'पर' इन स्व-पर उभय का जो ग्राहक होगा वही 'नीलादिप्रतिभास में पीतादिविषयग्राहित्व' का ग्राहक हो सकता है, यदि ऐसा ग्राहक कोई होगा तो नीलप्रतिभास सर्वथा तद्रूप गृहीत होने से केवल नील 25 या केवल पीत आदि ही अवशेष बचने पायेंगे, इस अवस्था में चित्रप्रतिभास का लोप अनिवार्य है। यदि सर्वथा तद्रूप से गृहीत होना न मान कर कथञ्चित् तद्रूप से गृहीत होना मानेंगे तो वैसा दर्शन सविकल्प ही प्रसक्त होने से सविकल्प प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया।

यदि कहें कि - 'पहले हमने कहा है कि तत्त्व सर्वविकल्पातीत है तो उन में विषयीकरण - अविषयीकरण इत्यादि कुछ भी वक्तव्य सावकाश नहीं है' - तो जैसे 'एक का अवबोध दूसरे से होना' 30 ऐसा नहीं कह सकते वैसे ही 'अपने स्वरूप का अवबोध अपने से होता है' यह भी नहीं कहना

*. 'यतः पीतादीनां नीलप्रतिभासेन' इत्यनेन सहात्रान्वयः कार्यः ।

चित्रप्रतिभासमभ्युपगच्छता चित्रमेकं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमिति अभ्यासदशायामपि व्यवसायात्मकमध्यक्षं सिद्धिमासादयेत् ।

यदपि 'यद्यर्थग्रहणं व्यवसायोऽविकल्पे तथा नामकरणम्, अथ जात्यादिविशिष्टार्थग्रहणं तत् प्रत्यक्षेऽसम्भवि' इत्युच्यते तदपि निरस्तं दृष्टव्यम्, अर्थग्रहणस्य विकल्पस्वभावान्तरीयकत्वात् । यदि ह्यैकैकपरमाणुनियतभिन्नदर्शने तन्नाम क्रियेत तदा स्यादेतत्, न चैवम् स्थूलैकप्रतिभासाभावप्रसक्तेः । यदपि 'जात्यादिविशिष्टग्रहणं प्रत्यक्षेऽसम्भवि' तदपि सदृशपरिणामसामान्याभ्युपगमे सिद्धम् तथाभूतस्य तस्याध्यक्षे प्रतिभाससंवेदनात्, तथाभूतस्यापि तस्य निराकरणे 'नो चेद् भ्रान्तिनिमित्त' (प्र०वा०३-४४) — इत्यादेस्तथा 'अर्थेन घटयेदेनाम्...' (प्र०वा०२-३३५) इत्यादेश्चाभिधानमसङ्गतं भवेत् । तथाहि— शुक्तिका-रजतयोः कथंचित् सदृशपरिणामाभावे रूपसाधर्म्यदर्शनाऽभावाद् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

10 चाहिये, तो फिर विज्ञानाद्वैतवाद का निरूपण भी कैसे होगा ? यदि कहें कि — परग्रहणपराङ्मुख स्वमात्र का संवेदन होने से विज्ञानाद्वैतवाद का निरूपण होगा — तो उस के सामने यह भी कहा जा सकता है कि परग्रहणाभिमुख ज्ञान का संवेदन सिद्ध होने से पीतादि अर्थ भी सिद्ध है । निष्कर्ष, चित्रप्रतिभास का स्वीकार करने पर एक चित्रज्ञान अवश्य स्वीकारार्ह बनता है इस लिये अभ्यासदशा में भी व्यवसायरूप सविकल्प प्रत्यक्ष सिद्ध होता है ।

15 [विकल्प के विना अर्थग्रहण का असम्भव]

उपरांत, बौद्ध जो यह कहना चाहते हैं कि — आप सिर्फ अर्थग्रहण को ही व्यवसाय (= विकल्प) कहना चाहते हो तो वह सिर्फ अविकल्प (जो सिर्फ 'अर्थग्रहण' रूप होता है) का नामान्तर है । यदि जाति आदि से विशिष्ट अर्थग्रहण को व्यवसाय कहते हों तो (जाति आदि असत् होने से प्रत्यक्ष का विषय न हो सकने से) वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष में सम्भव नहीं है । — यह बौद्ध कथन भी निरर्थक समझना है । कारण, विकल्प के विना अर्थग्रहण ही सम्भव नहीं है । हाँ, यदि घट के एक एक परमाणु का पृथक् पृथक् परमाणुमात्रग्राही भिन्न भिन्न (अनेक) दर्शन सिद्ध होता और हम उन को 'विकल्प' कहते तो जरूर नामान्तर करण होता । किन्तु ऐसा नहीं है, घट जब भी दृष्टिगोचर होता है 'परमाणुरूप' नहीं किन्तु स्थूल-एक-स्थिर स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है जो कि विकल्परूप ही है । सिर्फ अर्थमात्र का ग्रहण मानने पर तो इस तथ्य का विलोप होगा ।

25 यह जो कहा कि 'प्रत्यक्ष में जातिआदिविशिष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है' वह भी सम्भव है — सदृश परिणामात्मक सामान्यवादी के मत में तथाविध प्रत्यक्ष का सुसम्भव सिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रतिभास में सदृशाकारविशिष्ट अर्थ का संवेदन होता है । यदि सदृशाकार प्रत्यक्ष का आप अपलाप करेंगे तो आप के पूर्वोक्त दो वचन असंगत ठहरेंगे । १. प्रमाण वार्तिक में (३-४४) कहा है 'सादृश्यादि भ्रान्ति निमित्त न होने पर अर्थ प्रत्यक्ष होता है । २- प्रमाणवार्तिक में (२-३३५) 'प्रमेयाधिगति 30 को अर्थरूपता (अर्थसादृश्य) के अलावा अर्थ के साथ जोड़नेवाला और कोई नहीं है ।' — इन दोनों कथनों में आपने सादृश्य (सदृशाकार) का निरूपण किया है वह उस को माने विना असंगत ठहरेंगे । कैसे यह देखिये — शुक्ति और रजत में यदि 'कथंचित् सदृशपरिणाम' नहीं मानेंगे तो रूपसाधर्म्यदर्शन

अथ मरीचिकाषु यथा जलाभावेऽपि तद्दर्शनं तथा तयोर्भविष्यति, न च तयोस्तद्दर्शनं सत्यम् तत्परिणामस्य परमार्थतस्तत्राभावात् इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि— तत्परिणामस्य परमार्थतस्तयोः सत्त्वे तद्दर्शनस्य सत्यता ततश्च तत्परिणामस्य पारमार्थिकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वमिति चेत् ? असदेतत्— सर्वभावेष्वेवमव्यवस्थाप्रसङ्गात्।

तथाहि— स्वसंवेदनमविकल्पमध्यक्षं तथाप्रतीनेर्यदि सिद्धिमासादयति तत एव सदृशपरिणामोऽपि 5 सेत्स्यति अनवगतसम्बन्धस्यापि खण्ड-मुण्डादिषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः। तस्य भ्रान्तत्वे संवेदनेऽपि तत्प्रसक्तेः। अथ सत्येव संवेदने तद्दर्शनमिति न भ्रान्तम्। न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि-स्वसंवेदनस्य सत्यत्वे तद्दर्शनमभ्रान्तम् अतश्च तत्सत्यत्वम् इति कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? अथ बाधकसद्भावान्नायं दोषः, सदृशपरिणामस्य किं बाधकमिति वक्तव्यम् ? “विशेषेभ्यस्तस्य भेदे सम्बन्धाऽसिद्धिः, अभेदे विशेषा 10 का अभाव हो जाने से तन्मूलक भ्रान्ति होने का सम्भव ही नहीं रहेगा। अर्थसारूप्य भी कथंचित् सदृशपरिणाम ही है, उस के विना प्रमेयाधिगति का सम्भव नहीं होगा।

[सदृशाकार जल-मरीचिका की तरह असत्य नहीं]

यदि कहा जाय — “जल के विरह में भी मरीचिकाओं में जल का आभास होता है वैसे ही सदृशपरिणाम के न होने पर भी शुक्ति एवं रजत में सदृशाकार का आभास हो सकता है। किन्तु 15 शुक्ति-रजत में उस का आभास सत्य नहीं होता क्योंकि वास्तव में उन दोनों में वैसा कोई सादृश्य पदार्थ रहता नहीं। फिर भी उस को मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष सावकाश होगा। वह इस प्रकार, शुक्ति-रजत में वास्तविक सदृशपरिणाम के आधार पर उस के प्रत्यक्ष में सत्यता सम्भव होगी; और उस की सत्यता के आधार पर ही उन दोनों में सदृशपरिणाम सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।” — ऐसा कहना गलत है क्योंकि इस तरह दोषारोपण करने पर तो सभी पदार्थों की व्यवस्था का भंग प्रसक्त होगा। 20

[सर्वत्र व्यवस्थाभंग का अनिष्ट प्रसङ्ग]

किस तरह व्यवस्थाभंग होगा यह देखिये — स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्परूप से प्रतीत होने के कारण अगर निर्विकल्परूप होने का सिद्ध माना जाय — तो खण्ड घट, मुण्ड घट आदि में समानाकार प्रतीति का उद्भव सुप्रतीत होने से, सम्बन्ध अज्ञात रहने पर भी सदृशाकार परिणाम सिद्ध क्यों नहीं होगा ? यदि समानाकार प्रतीति को भ्रम कहा जाय तो निर्विकल्प संवेदन को भी भ्रमत्व प्रसक्त होगा। 25 यदि कहा जाय — निर्विकल्प संवेदन वास्तविक होने पर ही उस का तथाप्रकार दर्शन होने से उस को भ्रम नहीं मान सकते — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पूर्वोक्तवत् अन्योन्याश्रय दोषप्रसंग है। कैसे यह देखिये — निर्विकल्प संवेदन के ‘सत्य’ सिद्ध होने पर ही तथाप्रकार दर्शन को अभ्रान्त कह सकते हैं, किन्तु उस दर्शन के ‘अभ्रान्त’ सिद्ध होने पर ही उस संवेदन को सत्य कहा जा सकता है तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसंग क्यों नहीं होगा ? यदि यहाँ बाधक की सत्ता मान कर दोष को टालेंगे 30 तो सदृशपरिणाम की सिद्धि में क्या बाधक है यह तो पहले दिखाओ ! “दिखाते हैं — सामान्य को विशेषों से भिन्न मानने पर जाति का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का मेल नहीं बैठता। अभिन्न मानने पर

एव— न तत्सद्भावः इति बाधकम्” इति चेत् ? न, एकान्तभेदाभेदपक्षस्य तत्राऽनिष्टेः। न एव विशेषाः कथञ्चित् परस्परं समानपरिणतिभाज इत्यस्मदभ्युपगमात्। न च चित्रैकविज्ञानवत् समानाऽसमान-परिणतेरेकत्वविरोधः, ‘यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामि-आस्वादयामि-जिघ्रामि’ इति प्रतीतेर्गुण-गुणिनोरेकत्व-प्रतीतेः। न च यदेव रूपं दृष्टं तदेव कथं स्पृश्यते इन्द्रियविषयसंकरप्रसक्तेरिति वक्तव्यम्, चक्षुर्ग्राह्यतास्वभावस्यै-
5 कस्य स्पर्शनादिविषयतास्वभावाऽविरोधात्।

तथाहि— दूरादिदेशं सहकारिणमासाद्यैकोऽपि भूरुहोऽविशदतयेन्द्रियजे प्रत्यये प्रतिभाति स एव निकटादिदेशसचिवो विशदतयेत्युपलब्धम्। न चाऽविशदं दर्शनमवस्तुविषयम् तस्य वस्तुविषयतया प्रतिपादितत्वात्। न च ‘चक्षुःप्रभवे प्रत्यये रूपमेव चकास्ति नापरस्तद्धान्’ इति वक्तव्यम्। यतोऽत्रापि ^Aस्तम्भव्यपदेशार्हं रूपं किमेकं प्रतिभाति ^Bउतानेकाऽनंशपरमाणुसञ्चयमात्रम् ? ^Aप्रथमपक्षेऽधो-मध्योर्ध्वात्मकैकरूपवद्रसाद्यात्म-

- 10 तो ‘विशेष’ ही शेष रहा — यही बाधक है ?” — तो यह अयुक्त है, क्योंकि एकान्त दर्शन में सामान्य-विशेषों का एकान्त भेद या एकान्त अभेद मानने में ऐसा बाधक अनिष्ट हो सकता है, किन्तु अनेकान्तवादी जैनदर्शन में तो कथञ्चित् भेदाभेद पक्ष मान्य है, क्योंकि वे ही विशेष कथञ्चित् परस्पर समानाकारपरिणाम धारक होते हैं न कि सर्वथा भिन्न। यदि कहें कि — ‘जैसे चित्राकार एक विज्ञान में नीलाकार पीताकार परस्पर विरुद्ध होने से वह एक नहीं होता, वैसे ही एक वस्तु के समानाकार-असमानाकार परिणाम
15 भी विरुद्ध होने से वहाँ ‘एकत्व’ नहीं हो सकता’ — तो यह गलत है क्योंकि ‘जिस को मैं देखता हूँ उसी को छूता हूँ’ — ‘जिसको मैं सूँघता हूँ उसी को मैं चखता हूँ’ इन प्रतीतियों में गुण-गुणी का कथञ्चिद् एकत्व स्पष्ट ही प्रतीत होता है। (ऐसे ही समानाकार एवं असमानाकार एक ही वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती है।) ऐसा मत कहना कि — जिस को (रूप को) देखा है उसी को छूता हूँ (स्पर्श करता हूँ) ऐसा भान कैसे शक्य है ? इन्द्रियों के विषय में संकर दोष नहीं होना चाहिये। यहाँ तो एक
20 ही रूप चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय दोनों का ‘विषय’ बताया जा रहा है यही संकर दोष है। — इस कथन के निषेध का कारण यह है कि एक ही घटादिपदार्थ में नैत्रेन्द्रियग्राह्यस्वभावता के साथ साथ स्पर्शनादिइन्द्रियविषयतास्वभाव मानने में कोई विरोध नहीं है, इसी लिये ‘जिस घट को देखता हूँ उसी को छूता हूँ’ ऐसी प्रतीति सर्वजनसिद्ध है। अनुभवसिद्ध का अपलाप कैसे हो सकता है ?

[एक ज्ञान की अनेकवस्तुविषयता में अविरोध]

- 25 अविरोध कैसे है यह देखिये — एक ही वृक्ष दूरदेशादि सहकारि के सानिध्य में इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष में अस्पष्टरूप से ज्ञात होता है, वही वृक्ष निकटदेशादि सहकारि के सान्निध्य में स्पष्टरूप से भासित होता है। यहाँ स्पष्टरूप और अस्पष्टरूप ऐसे विरुद्ध धर्म एक ही वृक्ष में अविरोध से रहते हैं। ‘अस्पष्ट दर्शन वस्तुस्पर्शी नहीं है’ ऐसा कहना गलत है क्योंकि अस्पष्टदर्शन भी वस्तुविषयक ही होता है यह पहले कह चुके हैं। ऐसा नहीं है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष में सिर्फ रूप ही अकेला भासित
30 हो, न कि रूपवान् पदार्थ (स्तम्भादि द्रव्य)। यदि अकेला रूप भासता है तब प्रश्न खड़ा होगा कि जो रूप भासता है उसे स्तम्भादि कैसे कहते हैं ? यदि जो रूप भासता है उसे आप स्तम्भ/कुम्भ कहते हैं तो यहाँ दो प्रश्न होंगे - ^Aक्या वह स्तम्भसंज्ञक रूप ‘एक’ ही भासता है या ^Bनिरंश-

कैकस्तम्भप्रसिद्धिः। ^Bद्वितीयपक्षेऽपि ^Cकिमेकमनेकपरमाण्वाकारं चक्षुर्ज्ञानम् ^Dउतैकैकपरमाण्वाकारमनेकम् ?
^Cप्रथमपक्षे रूपाद्यात्मकैकवस्तुसिद्धिप्रसक्तिः चित्रैकज्ञानवत्। ^Dद्वितीयेऽपि विविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्या-
 ऽसंबेदनात् सकलशून्यताप्रसक्तिरिति प्रतिपादितम्। एतेन क्रियावतोऽपि भावस्याध्यक्षविषयता प्रतिपादिता।
 न चैकस्य देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया न केनचित् प्रमाणेनावसानुं शक्येति वक्तव्यम्— पूर्वपर्यायग्रहण-
 परिणामममुञ्चताऽध्यक्षेणोत्तरपर्यायग्रहणात् यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यजतोर्ध्वादिभागग्रहस्तेन, अन्यथा 5
 सकलशून्यतेत्युक्तत्वात्।

यदपि— विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्।

गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा। (प्र.वा.२-१४५) इत्युक्तं तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्
 चित्रपतङ्गस्येवैकानेकात्मनो वस्तुनः प्रथमतयैव प्रतिभासनात् एवंकल्पनाया दूरापास्तत्वात्। यदपि—

अनेकपरमाणुपुञ्ज भासता है ? ^Aपहले पक्ष में, अधो-मध्य-ऊर्ध्व लम्बे स्तम्भात्मक एक रूप की तरह 10
 अधो-मध्य-ऊर्ध्व एक रस स्तम्भ, वैसा ही एक गन्ध स्तम्भ... इस प्रकार अनेक स्तम्भों की सिद्धि
 प्रसक्त होगी। ^Bदूसरे पक्ष में, दो विकल्प होंगे — १ ^Cक्या एक ही चाक्षुष ज्ञान अनेकपरमाणुआकारवाला
 होता है या ^Dवहाँ एक एक परमाणुआकार अनेकज्ञान होते हैं ? ^Cप्रथम विकल्प में, यदि चित्र ज्ञान
 की तरह रूप-रसादिस्वरूप एक वस्तु मानेंगे तो रूप और रूपात्मक स्तम्भपदार्थ के भासने की विपदा 15
 आयेगी। (आपने पहले कहा है कि रूप ही अकेला भासता है न कि रूपवान पदार्थ — यह कथन
 झूठ जायेगा।) दूसरे विकल्प में वहाँ एक ज्ञान है नहीं, अनेक ज्ञान भासते हो ऐसा संविदित नहीं
 होता, फलतः न ज्ञान सिद्ध होगा, न ज्ञानाधीन ज्ञेय की सिद्धि होगी, अतः सर्वशून्यता प्रसक्त होगी
 — यह पहले (१८८-१०) भी कह आये हैं। जिस तरह वहाँ रूप एवं रूपवान् पदार्थ के प्रत्यक्ष की
 बात हुयी वैसे ही यहाँ क्रिया और क्रियावान् पदार्थ के प्रत्यक्ष की बात भी स्वयं समझ सकते हैं।
 ऐसा नहीं कह सकते कि — एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन का हेतु ही क्रिया है जो किसी 20
 भी प्रमाण से ग्रहणयोग्य नहीं होती (क्योंकि वहाँ स्थानभेद से वह द्रव्य ही दिखाई देता है।) —
 ऐसे कथन के निषेध का हेतु यह है कि जैसे एक ही दीर्घ ज्ञान, स्तम्भ के अधोभाग के ग्रहण
 को न छोड़ता हुआ ही मध्य एवं ऊर्ध्वभाग को ग्रहण कर लेता है वैसे ही एक ही ज्ञान स्थानान्तरप्राप्ति
 हेतु पूर्वक्रिया पर्याय को ग्रहण करने के परिणाम को न छोड़ते हुए उत्तरक्रियापर्याय को ग्रहण करे
 उसमें कोई बाध नहीं है। इस बात को न मानने पर पूर्ववत् सर्वशून्यता ही प्रसक्त होगी। 25

[प्रथम दर्शन में ही एकानेकस्वरूप वस्तु का बोध]

बौद्धोंने प्रमाणवार्तिक (२-१४५) में जो कहा है — “(यह विशाल स्तम्भ है इत्यादि प्रतीतियाँ
 वास्तविक एक प्रत्यक्ष से नहीं होती किन्तु) विशेषण, विशेष्य, (उन का) सम्बन्ध एवं (उस के) लौकिक
 व्यवहार को जानने के बाद (उन्हें) संकलित कर के तथाविध प्रतीति होती है न कि दूसरे प्रकार से।”
 — यह भी अब निरस्त हो जाता है। कारण, रंगबिरंगी पतंगे की तरह प्रथम दर्शन में ही एक-अनेकात्मक 30
 वस्तु भासित हो जाती है अतः पहले विशेषण, बाद में विशेष्य, फिर सम्बन्ध, इत्यादि कल्पित प्रक्रिया
 निरस्त हो जाती है। प्रमाणवार्तिक (२-१७४) में जो यह कहा है — “संकलनात्मक (शब्दयोजनात्मक)

संकेतस्मरणोपायं दृष्टं सङ्कलनात्मकम्।

पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम्।। (प्र.वा.२-१७४) इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम् संकेतकालानुभूतशब्दस्मरणमन्तरेणापि व्यवसायात्मकस्य ज्ञानस्याक्षप्रभवस्य प्रतिपादनात्, अन्यथा विकल्पानुत्पत्तेरित्युक्तत्वात्। तस्मात् पुरोवर्त्तिस्थिरस्थूलस्वगुणपर्यायसाधारणस्तम्भादिप्रतिभासस्याक्षप्रभवस्य निर्णयात्मनः स्व-
5 संवेदनाध्यक्षतोऽनुभूतेः स्वार्थनिर्णयात्मकमध्यक्षं सिद्धम्।

न चेदं मानसम् एतद्व्यतिरिक्तेण निरंशैकपरमाणुग्राहिणोऽविकल्पस्य कदाचिदप्यनुभवात्। यदि चायं स्तम्भादिप्रतिभासो मानसो भवेत् विकल्पान्तरतोऽस्य निवृत्तिर्भवेत्, न चैवम्, क्षणक्षयित्वमनुमानान्निश्चिन्वतोऽश्वादिकं वा विकल्पयतस्तदैवास्य प्रतिभाससंवेदनात्। ततोऽध्यक्षप्रमाणसिद्धत्वाद् न सविकल्पत्वे साधकप्रमाणाभावः।

10 तथानुमानादपि सविकल्पकत्वमध्यक्षस्य नासिद्धम्। तथाहि— यद् ज्ञानं यद् विषयीकरोति तत् तन्निर्णयात्मकतया, अनुमानमिवाग्न्यादिकम्, विषयीकरोति च स्वार्थमध्यक्षमिति। न चास्याध्यक्षबाधित-
कर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम् पक्षस्य चाध्यक्षबाधः; साध्यविपरीतार्थोपस्थापकाध्यक्षस्य बोध संकेत के स्मरण से ही हो सकता है, पूर्वोत्तरभावपरामर्श से शून्य (शब्दअस्पृष्ट वर्तमानमात्रवस्तुग्राहि) चाक्षुष प्रत्यक्ष में वह (संकलनबोध) कैसे हो सकता है ?” — यह भी असंगत है। कारण, अभ्यासदशा
15 में, संकेतकालगृहीत शब्द को याद किये बिना भी निर्णयात्मक इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षज्ञान सम्भव है इस तथ्य का पहले प्रतिपादन कर आये हैं। यदि इस तथ्य को नहीं मानेंगे तो विकल्प का उद्भव ही अशक्य है यह भी पहले कहा है। इन तथ्यों से यह फलित होता है कि पुरोवर्ती स्थिर स्थूल अपने गुण-पर्यायों से आश्लिष्ट स्तम्भादि का निश्चयात्मक इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स्वप्रकाशसंवेदन से ही अनुभूतिगोचर होने से, प्रत्यक्ष दर्शन स्व एवं अर्थ का निश्चयात्मक होता है यह सिद्ध होता है।

20 [विवादास्पद स्तम्भादिज्ञान मानस नहीं, अध्यक्ष है]

ऐसा मत कहना कि 'स्तम्भादिज्ञान मानसबोधरूप है न कि प्रत्यक्ष;' प्रत्यक्ष में स्तम्भादिज्ञान नहीं मानेंगे तो उस के बिना निरंश-एकपरमाणुमात्रग्राही निर्विकल्प बोध का कभी भी अनुभव न होने से स्तम्भादिज्ञान ही असत् प्रसक्त होगा। यदि स्तम्भादिप्रतिभास को मानसिकबोधरूप मानेंगे तो अन्य विकल्प से उस की निवृत्ति भी मानना पड़ेगा; लेकिन वैसा होता नहीं है, जब क्षणभंग के अनुमान
25 का निश्चय या अश्वादि के विकल्प का उदय होता है तब ही स्तम्भादि का प्रतिभास भी संविदित होता है। उक्त रीति से, सविकल्प अध्यक्ष स्वसंवेदिप्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध होने से 'उस का कोई साधक प्रमाण ही नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

[अनुमान से सविकल्प में प्रत्यक्षत्वसिद्धि]

प्रत्यक्ष की तरह अनुमान से भी सविकल्पक के प्रत्यक्षत्व की सिद्धि कठिन नहीं है। देखिये —
30 वस्तु को विषय करनेवाला कोई भी ज्ञान 'निर्णयात्मक' ही होता है जैसे अग्निआदि को विषय करनेवाला अनुमान। प्रत्यक्ष भी अपने संनिकृष्ट अर्थ को विषय करता है अत एव वह निर्णयात्मक (यानी सविकल्प) होता है। — "इस प्रयोग का साध्य 'निर्णयत्व' प्रत्यक्ष से ही बाधित होने के बाद 'विषयीकारित्व' हेतु

निषिद्धत्वात्। न च स्वार्थविषयीकरणं विज्ञानस्यासिद्धम्, प्राक् तस्य प्रसाधितत्वात्। अतो नासिद्धो हेतुः। न च सपक्षाऽवृत्तित्वादसाधारणानैकान्तिकः, स्वार्थनिर्णयात्मकत्वेन प्रसिद्धेऽनुमाने अस्य वृत्तिनिश्चयात्।

न चानुमानस्याप्यर्थविषयीकरणमन्तरेण तन्निश्चयस्वरूपता सम्भवति, समारोपव्यवच्छेदकत्वादेः प्रामाण्यनिमित्तस्य तत्र निषिद्धत्वात् तदन्तरेण प्रामाण्यस्यैवाऽयोगात्। न च निर्णयात्मकार्थविषयीकरणयो-
रनुमाने साहचर्यदर्शनेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनेकान्तिकः; तदुत्पत्ति- 5
सारूप्यादेर्निर्णयस्वभावताव्यतिरिक्तस्यैकान्तवादे अर्थविषयीकरणनिबन्धनस्य विज्ञानेऽसंभवात् तदसंभवस्य
च प्राक् प्रतिपादितत्वात्। ततो न संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽपि। अत एव न विरुद्धः, विपक्षवृत्तेरेव
विरुद्धत्वात्। ततो असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकादिदोषविकलाद् भवत्यतः साधनाद् विवक्षितकार्यसिद्धिरिति
न तत्साधकप्रमाणाभावात्त्रिर्णयात्मकाध्यक्षाभावः।

का प्रयोग हुआ है अतः वह कालात्ययापदिष्ट है (बाधदोषवाला है) — अथवा निर्विकल्प प्रत्यक्ष को 10
ही यहाँ पक्ष करने से सविकल्परूप में बाधित है” — ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सविकल्प से विपरीत
'अनिर्णीतत्व' के साधक प्रत्यक्ष की सत्ता का पहले ही निषेध किया जा चुका है। यहाँ विज्ञान में 'अपने
संनिकृष्ट अर्थ को विषय करना' यह हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पहले उस की भी सिद्धि की जा चुकी
है। मतलब, हेतु असिद्ध नहीं है। — “यह हेतु सपक्ष में न रहने से असाधारण अनैकान्तिक दोष से
युक्त है” — ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपने अर्थ को सुचारुरूप से विषय करने वाले 15
अनुमानात्मक सपक्ष में वह हेतु निर्बाधरूप से, निश्चितरूप से रहता है।

[वस्तुविषयीकरण के विना निश्चयस्वरूपता का असंभव]

अनुमान के प्रामाण्य की प्रयोजक भी उस की निश्चयात्मकता ही है न कि समारोपव्यवच्छेदकता, क्योंकि समारोपव्यवच्छेदकता का तो पहले प्रतिकार हो चुका है। अनुमान की निश्चयरूपता, जिस
के विना अपना प्रामाण्य ही संभव नहीं है — वह भी अर्थविषयता पर ही अवलम्बित रहती है, 20
उस के विना निश्चयरूपता भी नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय — “अनुमान में यद्यपि निश्चयरूपता
एवं अर्थविषयीकरणता इन दोनों का सामानाधिकरण्य दृष्टिगोचर होता है, फिर भी 'निर्णयात्मक ज्ञान
में अर्थविषयीकरणता कदाचित् न भी रहे' ऐसी विपरीतशंका उत्थित होने पर उस का कोई बाधक
प्रमाण कहाँ है ? तो बाधक प्रमाण के विरह में अर्थविषयीकरणताशून्य विपक्ष में निश्चयात्मकत्व
हेतु की व्यावृत्ति संदिग्ध बन जाने से हेतु में अनैकान्तिक दोष प्रसक्त है।” — तो यह ठीक नहीं 25
है। कारण, निश्चयात्मकता को यदि अर्थविषयतामूलक न मान कर सिर्फ तदुत्पत्ति अथवा अर्थाकारसारूप्य
को निश्चयप्रयोजक मानेंगे तो एकान्तवादियों के मत में वह संभवित ही नहीं है। कैसे संभवित नहीं
है वह पहले कहा जा चुका है। आखिर निश्चयात्मकता को अर्थविषयतामूलक ही मानना पड़ेगा, फलतः
अर्थविषयताशून्य विपक्ष में निश्चयात्मकता हेतु की व्यावृत्ति शतप्रतिशत सुनिश्चित हो जाने से (संदिग्ध
न रहने से) हेतु में अनैकान्तिक दोष का प्रवेश बाधित है। एवं हेतु में विपक्षव्यावृत्ति निश्चित हो 30
जाने से 'विरुद्ध' दोष तो सर्वथा निरवकाश हो जाता है क्योंकि वही हेतु विरुद्ध होता है जो विपक्षवृत्ति
होता है।

नापि तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्, तस्यैवाऽसिद्धेः। तथाहि— तद्बाधकमध्यक्षम् अनुमानं वा प्रकल्प्येत ? प्रमाणान्तरानभ्युपगमात्। न तावदध्यक्षं तद्बाधकं संभवति अविकल्पप्रसाधकस्य तस्य तद्बाधकत्वात्। न च निरंशक्षणिकैकपरमाणुसंवेदनं स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धमिति प्राक् प्रतिपादितमिति नाध्यक्षं तद्बाधकम्।

- नाप्यनुमानं तद्बाधकं संभवति अध्यक्षऽप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तस्यापि तत्राऽप्रवृत्तेः। यदपि 'यद् यथा प्रतिभाति तत्तथा सद्ब्यवहृतिमवतरति'... इत्यादि (११९-४) निर्विकल्पाध्यक्षप्रसाधकमनुमानमुपन्यस्तम् तत्रापि प्रत्यक्षानुमाननिराकृतत्वं पक्षदोषः, नामादिविशेषणोल्लेखविकृततया नाक्षमतिरुद्भातीति। हेतोर-सिद्धता च जाति-गुण-क्रियाद्यनेकविशेषणविशिष्टस्थिरस्थूराकारस्तम्भादिविषयाक्षजप्रत्ययस्यैकानेकस्वभावस्य विशेषणविशिष्टतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो निर्णयात् अस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात्। यदपि 'विशेषणपरिष्वक्तवपुषः संवेदोऽध्यक्षत्वविरोधात्' इत्युक्तम् (११९-५) तदपि प्रलापमात्रम्; स्वसंवेदनाध्यक्षप्रसिद्धे स्वरूपे विरोधाऽयोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

उपरोक्त प्रकार से, निश्चयात्मकता हेतु में असिद्धि-विरुद्ध-अनैकान्तिकादि किसी भी दोष का कलंक न होने से, इस हेतु से अपने प्रयोगकथित (अर्थविषयतारूप) साध्य की सिद्धि निराबाध है। निष्कर्ष, 'प्रत्यक्ष में निर्णयात्मकता साधक कोई प्रमाण नहीं है' ऐसा बहाना बता कर निर्णयात्मक प्रत्यक्ष का निषेध करना अशक्य है।

- 15 (पृ०१५१-पं०१० में कहा था कि प्रत्यक्ष को निर्णयात्मक सिद्ध करने में बाधक प्रमाण का अभाव असिद्ध है — वह प्रथम विकल्पनिरसन पूरा हुआ। अब 'बाधकप्रमाण की सत्ता' दूसरे विकल्प का निरसन प्रस्तुत है)

[प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता में बाधक चर्चा—दूसरा विकल्प]

- 20 प्रत्यक्ष को निर्णयात्मक सिद्ध करने में बाधक प्रमाण की सत्ता का विकल्प भी निषेधाह है क्योंकि बाधक प्रमाण ही असिद्ध है। बाधक होगा तो वह प्रत्यक्ष होगा या अनुमान ? अन्य किसी प्रमाण का बौद्धों को स्वीकार ही नहीं है। प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता में प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक होने का संभव नहीं है। प्रत्युत, निर्विकल्पसिद्धिव्यग्र अनुमान का ही प्रत्यक्ष बाध करता है। पहले कई बार कहा गया है कि निरंश-क्षणिक-एकपरमाणु का प्रत्यक्षसंवेदन किसी भी स्वसंवेदीप्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है तो वह निर्णयात्मकता को सिद्ध करने में कैसे बाधक होगा ?

- 25 [अनुमानप्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता का बाधक नहीं]

- अनुमान भी प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता का बाधक नहीं हो सकता। कारण, अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, प्रत्यक्ष की जहाँ प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है। यह जो निर्विकल्पप्रत्यक्षसाधक अनुमानप्रयोग करते हैं — "जो जैसा भासित होता है वह उसी रूप से सद्भूतव्यवहार में अवतीर्ण होता है"... इत्यादि; इस अनुमान से निर्विकल्प प्रत्यक्ष की सिद्धि स्वप्नतुल्य है क्योंकि इस में प्रत्यक्षबाध एवं अनुमानबाध ये दो पक्षदूषण हैं। प्रत्यक्ष बुद्धि कभी भी नामादि विशेषण उल्लेख से विनिर्मुक्त भासित नहीं होती, इस लिये निर्विकल्परूप से व्यवहारावतीर्ण हो नहीं सकती यह पहला पक्षदूषण हुआ। दूसरा, अनुमान का हेतु असिद्ध है, मतलब पक्ष में हेतुशून्यता दूषण है। कैसे यह

यदपि— सन्निहितमर्थमवतरत्यध्यक्षम् नामादिकं च विशेषणमसन्निहितम् इति न तद्योजनामवतरितुं क्षमम् — इति (११९-६) तत्रापि यदि सन्निहितमर्थमध्यक्षमवतरेत्— पक्षमूलपरिष्वक्तमञ्जनादिकं सन्निहितं किं नावतरेत् ? अथ यत् प्रतिभासयोग्यं वस्तु तदेवावतरेत् — ननु स्तम्भादिकं व्यवहितमपि योग्यम् अञ्जनादिकं त्वतिसन्निहितमप्ययोग्यम् इत्येतदेव कुतः ? 'स्तम्भादेः प्रतिभासनात् तत् तत्र योग्यम् नेतरत् विपर्ययात्' इति चेत् ? न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि— प्रतिभासनात् स्तम्भादि योग्यम् ततश्च 5 तत्प्रतिभासनम् इति कथं नेतरेतराश्रयत्वम् ? अथ न योग्यतातः तत्प्रतिभासनव्यवस्था किन्तु तत्प्रतिभासनात् तद्योग्यता व्यवस्थाप्यते— तर्हि तत्प्रतिभासनं कुतो व्यवस्थाप्यम् ? 'स्वसंवेदनात्' इति चेत् ? ननु यत्प्रतिभासः संवेद्यते तत् तत्र योग्यम् इतरच्चाऽयोग्यमिति व्यवस्थायां तत्सन्निधानाऽसन्निधाने क्योपयोगिनी ? एवं च यद्यसन्निहितस्यापि नामादिविशेषणस्याध्यक्षमतौ प्रतिभासः को विरोधोऽध्यक्षत्वेन ? विरोधे वा विरातीतभविष्यदर्थराशेरसन्निहितस्य बुद्धसंवेदने प्रतिभासना(द)ध्यक्षताविरोधस्तस्यापि भवेत्। अथ विशदत्वात् 10 तज्ज्ञानस्य नाध्यक्षताविरोधः; तद् विशेषणविशिष्टार्थावभासिन्यप्यध्यक्षज्ञाने समानम्।

देख लो- प्रत्यक्ष बुद्धि, स्वसंवेदि अध्यक्ष से अनिर्णयरूपतया भासित नहीं होती किन्तु नाम-जाति-गुण-क्रियादि अनेक विशेषणों से विशिष्ट स्थिर-स्थूलाकार एक स्तम्भादि को विषय करती हुयी निर्णयरूप ही भासित होती है। पहले इस तथ्य की सिद्धि की जा चुकी है। यह जो कहा है कि — 'विशेषणालंकृतस्वरूपवाले संवेदन में प्रत्यक्षत्व विरोधप्रस्त है' — यह भी बिना सोच के बकवास है। 15 जातअनुभववाले प्रत्यक्ष से सिद्ध होनेवाले स्वरूप के साथ विरोध नाकामयाब है। अन्यथा, प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थमात्र में विरोध ही विरोध प्रसक्त होगा।

[सन्निहित-असन्निहित प्रत्यक्ष के लिये योग्यायोग्यता की चर्चा]

यह जो कहा था — प्रत्यक्ष तो सन्निहित अर्थ में अवतीर्ण होता है, नामादि विशेषण तो इन्द्रियप्रत्यक्ष में सन्निहित नहीं रहता इसलिये वह प्रत्यक्षयोजना में अवतरणसमर्थ नहीं होगा — (यानी प्रत्यक्ष का 20 विषय नहीं हो सकता)। — तो यहाँ यह प्रश्न होगा कि जब सन्निहित अर्थ प्रत्यक्षावतीर्ण होता है तो नेत्र के मूल में लगे हुए सन्निहित अञ्जनादि द्रव्य प्रत्यक्षावतीर्ण क्यों नहीं होता ? यदि कहें कि प्रतिभासयोग्य अर्थ ही प्रत्यक्षावतीर्ण हो सकता है — तो यहाँ भी प्रश्न होगा — व्यवहित (दूरवर्ती) स्तम्भादि अर्थ योग्य होता है जब कि अतिसन्निहित (निकटतमवर्ती) अञ्जनादि अयोग्य होते हैं, ऐसा क्यों ? — 'इस लिये कि अवभासित होते हैं वे स्तम्भादि योग्य है, अवभासित नहीं होते वे अञ्जनादि 25 अयोग्य हैं' — तब तो अन्योन्याश्रय दोष प्रविष्ट होगा। देखिये — प्रतिभासित होने पर स्तम्भादि योग्य बनते हैं और योग्य बनने पर वे प्रतिभासित होते हैं — अब अन्योन्याश्रय कैसे नहीं ?

यदि कहा जाय — 'प्रतिभासन की व्यवस्था (निश्चय) योग्यता के आधार पर नहीं होती, सिर्फ प्रतिभासन से योग्यता की व्यवस्था (निश्चय) होती है' — तो प्रतिभास की व्यवस्था किस के आधार पर होती है यह बताओ ! स्वसंवेदन के द्वारा उसकी व्यवस्था (निश्चय) मानेंगे तब तो फलितार्थ 30 यह हुआ कि योग्य या अयोग्य की व्यवस्था का आधार सन्निधान और असन्निधान नहीं है किन्तु प्रतिभासन / स्वसंवेदन है — तब सन्निधान / असन्निधान का निरूपण कहाँ उपयोगी रहा ?

एतेन 'उपाधीनामुपाधिमतः पूर्वकालत्वे उपाधिमुद्राहिणा ज्ञानेनाऽसंनिहितत्वेनाऽग्रहणात् तद्विशेषण-
विशिष्टार्थग्राहिण्यध्यक्षमतिविशदा संभवति' इति प्रत्युक्तम् बुद्धज्ञानेऽप्यनेन न्यायेन वैशद्याभावतोऽनध्यक्षतापत्तेः ।
न चाऽसंनिहितस्यापि विशेषणस्याध्यक्षप्रतिभासे सकलस्याप्यसंनिहितस्य प्रतिभासप्रसक्तिः यतो यस्यैवाऽ-
संनिहितस्यापि प्रतिभासः संवेद्यते तदेव तत्र प्रतिभातीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा अनन्तरातीतार्थक्षणस्याध्यक्षप्रतिभासे
5 चिरन्तरातीतस्याप्यतीततया प्रतिभासप्रसक्तिरित्यनाद्यतीतजन्मपरम्पराप्रतिभास्यर्वाङ्गध्यक्षं भवेत् ।

यच्च 'वाचोऽव्यापितयाऽपदार्थात्मतया च नार्थदेशे सन्निधिरिति तददर्शने न सा प्रतिभाति' इति (१२०-
६) तत् सिद्धमेव साधितम् । यच्च 'व्यवहितायास्तु वाचः प्रतिभासे निखिलातीतार्थपरम्परा प्रतिभासताम्'
इति तदसङ्गतम्; (१२१-३) न ह्येकस्य व्यवहितस्य प्रतिभासे अतीतक्षणवत् सकलस्य व्यवहितस्य

जब संनिधान का कुछ महत्त्व नहीं है तब असंनिहित नामादि विशेषणों का भी प्रत्यक्षबुद्धि
10 में प्रतिभास होने पर अध्यक्षत्व के साथ विरोध क्या है ? विना युक्ति के विरोध माना जाय तो
असंनिहित चिरनष्ट या अनुत्पन्न भावि अर्थराशि आप के मतानुसार बुद्धभगवान् के संवेदन में भासित
होता है तो वहाँ भी प्रत्यक्षता के साथ विरोध प्रसक्त होगा। यदि कहें कि बुद्धज्ञान विशद (स्पष्ट)
होने से अध्यक्षता के साथ विरोध नहीं रहता - तो यही स्पष्टता की बात विशेषणों से विशिष्ट
अर्थावभासि प्रत्यक्षज्ञान में भी समानरूप से घटती है, अतः उस में भी अध्यक्षता के साथ विरोध
15 नहीं रहता ।

[विशेषणविशिष्टार्थग्राही प्रत्यक्ष में वैशद्याभाव का निरसन]

यह जो किसीने कहा है - "उपाधियाँ (विशेषण) तो उपाधिमत (विशेष्य) अर्थ से पूर्वकालीन
होने पर उपाधिमत अर्थ के प्रत्यक्षग्रहण काल में वे संनिहित न होने से गृहीत नहीं हो सकती,
फिर बाद में यद्यपि विशेषण-विशिष्टार्थ का प्रत्यक्षबुद्धि से ग्रहण होगा तो भी वह विशद तो नहीं
20 होगा क्योंकि उस में विशेषण संनिहित नहीं है।" - यह कथन भी पूर्वोक्त संनिहित-असंनिहित चर्चा
से निरस्त हो जाता है, क्योंकि असंनिधान के तर्क को पुरस्कृत करने पर तो बुद्ध-ज्ञान में भी विशदता
पलायन हो जाने से उस में प्रत्यक्षता बाधित हो जायेगी। यदि ऐसा भय दिखलाया जाय कि -
'असंनिहित एक विशेषण का प्रत्यक्ष में प्रतिभास मानने पर असंनिहित पूरे जगत् का प्रतिभास प्रसक्त
होगा' - तो हमें डर नहीं है, क्योंकि हमें इतना ही मान्य है कि जिस असंनिहित का प्रतिभास
25 संवेदनसिद्ध है वही प्रत्यक्ष में भासित हो सकता है न कि पूरा असंनिहित जगत्। इस का विरोध
करेंगे तो आप को ही संकट होगा। क्या यह देखिये - आप समानक्षण में अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं
मानते किन्तु अर्थक्षण के उत्तरक्षण में उस अर्थ का प्रत्यक्ष मानते हैं, यानी वर्तमानक्षण का नहीं किन्तु
अतीत क्षण का ही आप प्रत्यक्ष में प्रतिभास मानते हैं भले वह अनन्तर यानी अव्यवहित अतीतक्षण
है। अब आप का प्रतिपक्षी भी कहेगा कि यदि अव्यवहित अतीत क्षण का प्रत्यक्ष में प्रतिभास मानेंगे
30 तो चिरन्तर पूर्वकालीन अतीत अर्थ का भी प्रतिभास प्रसक्त होगा, क्योंकि वह भी आखिर अतीत
तो है ही। (जैसे असंनिहित वैसे अतीत)। फलतः मर्यादितशक्तिवाले छद्मस्थ पुरुष को भी चिरातीत
समुची भवपरम्परा का प्रत्यक्षभान प्रसक्त होगा।

चिरातीतक्षणस्येव प्रतिभासः संभवीत्युक्तत्वात्। यच्च 'समनन्तरप्रत्ययाद् बोधस्मृतेव वाग्रूपताऽपि वाचक-
स्मृतिसंनिहितोदया भविष्यति' इति (१२३-३) तद्युक्तमेव।

यच्च 'हेतुविषयभेदादक्षस्मृतिप्रभवसंवेदन-स्मरणयोर्भेदप्रसक्तिः' इति (१२२-६) तदसंगतमेव, चक्षु-
स्पालोक-मनस्कारप्रभवस्य यथा रूपज्ञानस्य हेतुभेदेऽप्येकसामग्रीप्रभवत्वादभेदस्तथा विशिष्टशब्दस्मरणमन-
स्कारसचिवसामग्रीप्रभवस्य 'रूपम्' इत्युल्लेखवतो विशदस्यैकतया प्रतीयमानस्य किमिति भेदो भवेत् ? 5
यथा हि चक्षुषो रूपग्रहणप्रतिनियमः बोधाच्चिद्रूपता आलोकाद् विशदतेत्याद्यनेकधर्माक्रान्तस्य रूपज्ञानस्यैक-
रूपतया प्रतिभासनादेकता तथा विशिष्टात् शब्दस्मरणमनस्काराद् 'रूपम्' इति विशिष्टोल्लेखाक्रान्त-
स्यैकतया प्रतीयमानस्य बोधविशेषस्यैकरूपता युक्तिसंगतैव सामग्र्यन्तर्गतकारणभेदेऽपि सामग्रीलक्षणस्य

[व्यवहित सकलअर्थसमुदाय के भान की प्रसक्ति का निरसन]

यह जो आपने पहले कहा था (१२०-२०) 'वचन (शब्द) तो न व्यापक है न अर्थात्मरूप है 10
अत एव अर्थ प्रदेश में संनिहित न होने से दर्शन में वाणी (शब्द) का उल्लेख नहीं हो सकता।' — इस से तो सिद्धसाधन ही हुआ, क्योंकि हम भी मानते हैं कि सकल असंनिहित पदार्थों का दर्शन में भान नहीं होता। किन्तु उसी संदर्भ में जो आपने कहा है (१२१-१९) — 'व्यवहित वाणी का प्रत्यक्ष में प्रतिभास होगा तो भूतकालीन समूचे अर्थसमुदाय का भान प्रसक्त होगा' — यह गलत है, क्योंकि जैसे आप के मत में एक (अनन्तर) अतीतक्षण के प्रत्यक्ष मानने पर भी समूचे चिरभूतकालीन 15
क्षणों का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता ऐसे ही हमारे मत में किसी एक व्यवहित विशेषण का प्रत्यक्ष मानने पर भी समूचे व्यवहित अर्थों का प्रत्यक्ष में प्रतिभास नहीं माना जाता — यह कह दिया है। यह जो कहा है (१२२-१८) 'समनन्तरप्रत्यय (यानी उपादानरूप ज्ञान) से, उत्पन्न प्रत्यक्ष में बोधरूपता होती है जैसे ही वाचक शब्दस्मृति के संनिधान से उस में वाग्रूपता का उदय भी संभव है' — वह तो सत्य ही है क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष में वाग्रूपता मान्य है। 20

[हेतु-विषय के भेद से विकल्प में भेदापत्ति का निरसन]

किन्तु बाद में (१२२-२६) जो कहा है — 'दर्शन का कारण लोचन व्यापार है और उस का विषय रूपमात्र है जब कि विकल्प का हेतु है शब्दस्मृति और उस का विषय वाग्रूपता है इस प्रकार हेतु-विषय के भेद से इन्द्रियजन्य संवेदन और स्मृतिजन्य वाग्रूपता स्मरणरूप विकल्प में भेद है' — वह असंगत ही है। रूपज्ञान की उत्पत्ति में सिर्फ चक्षु ही कारण नहीं है अपि तु चक्षु-रूप-प्रकाश- 25
मनस्कार ये भिन्न भिन्न कारण हैं फिर भी उन से उत्पन्न कार्य रूपज्ञान एक ही है क्योंकि उत्पादक सामग्री एक है। इसी तरह विशिष्ट शब्दस्मरण, मनस्कार एवं चक्षु आदि समुदित एक सामग्री से जन्य 'रूप' ऐसे शब्दोल्लेखगर्भित विशदरूपप्रत्यक्ष भी एकत्वेन प्रतीत होता है तब वहाँ रूपज्ञान एवं 'रूप' शब्दोल्लेख का भेद क्यों माना जाय ? स्पष्टरूप से कहा जाय तो — जैसे: चक्षु सिर्फ रूप का ही ग्रहण करे (न कि रस या गन्ध का), तदुत्पन्न रूपज्ञान बोधरूप होने से उस में चिद्रूपता 30
होती है, प्रकाश के जरिये उस में विशदता होती है, इस प्रकार एक ही रूपज्ञान में चक्षुप्रेरितरूपविषयता, चिद्रूपता, विशदता इत्यादि अनेक धर्मों से मुद्रितता होती है फिर भी वह रूपज्ञान तो एक ही होता

कारणस्याऽभिन्नत्वात् ।

यदपि— 'तटस्थवाग्रूपताविशिष्टा वा अर्थमात्रा गृह्यन्ते वाग्रूपतापन्ना वा' (१२३-१) तत्प्रत्यक्षद्वयमप्यनभ्युपगमात्रिरस्तम् विशिष्टशब्दवाच्यतया तु विशिष्टक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियजप्रतिपत्त्याऽर्थमात्रा गृह्यन्ते एव, तद्वाच्यत्वं चार्थमात्राणां कथंचिदनन्यभूतो निजो धर्म इति प्रतिपादितं शब्दप्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः, केवलं तद्वाच्यताप्रतिपत्तिस्तासां (? तेषां) मतिः श्रुतं वा — इत्यत्र विचारः, स च यथास्थानं निरूपयिष्यते।[▲] अक्षप्रभवा तु 'रूपमिदम्' इति प्रतिपत्ती रूपशब्दवाच्यताविशिष्टार्थग्राहिण्येका स्वसंवेदनाध्यक्षतोऽनुभूयत एव, अस्या अपलापे स्वसंवेदनमात्रस्याप्यपलापप्रसक्तेः शून्यतामात्रमेव स्यात्। न च शब्दगोचरोऽर्थ इन्द्रियाऽविषयः, सामान्यविशेषात्मनस्तस्याक्षप्रभवप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्। न च प्रतिभासमानस्याऽविषयत्वम् अतिप्रसङ्गात्।

10 यच्च 'न संवेदन्तरप्रतीतोऽर्थः संवेदन्तरप्रतीतस्य विशेषणम्' (१२३-७) तद्युक्तमेव विशिष्ट- है क्योंकि एकत्वेन प्रतीत होता है — तो इसी तरह विशिष्टशब्दस्मरण, मनस्कार (चक्षु) आदि के जरिये 'रूप' ऐसे शब्दोल्लेख से अंकित एकत्वेन प्रतीयमान बोधविशेष (प्रत्यक्ष) में भी एकरूपता मानने में युक्ति का समर्थन ही है, क्योंकि उस की सामग्री में अन्तर्गत कारणों में वैविध्य होने पर भी पूर्ण कारणभूत सामग्री तो एक ही है।

15 [वाग्रूपताविशिष्ट या वाग्रूपतापन्न अर्थप्रतिभास ? विकल्पद्वय]

आगे चल कर आपने जो दो विकल्प (१२३-९) किये थे — 'तटस्थ वाग्रूपता विशिष्ट (यानी पूर्वपाठ के अनुसार भिन्न वाग्रूपताविशेषण विशिष्ट) अर्थमात्र प्रत्यक्ष में भासित होते हैं या वाग्रूपताआपन्न अर्थ भासित होते हैं ?...' — हमें इन में से एक भी स्वीकार्य नहीं है अतः वे दोनों निरस्त हो जाते हैं। हमारी मान्यता यह है — अर्थमात्र, विशिष्ट कोटि के क्षयोपशम से सहकृत इन्द्रिय से जन्य बोध (प्रत्यक्ष) में विशिष्टशब्दवाच्यता के जरिये गृहीत होते हैं। विशिष्ट शब्दवाच्यता यह अभिलाष्य प्रत्येक भाव का आत्मभूत अभिन्न धर्म है — शब्द के प्रामाण्य के समर्थन करते वक्त यह तथ्य उजागर किया गया है। विचारणीय है तो सिर्फ इतना ही है कि अर्थों की विशिष्टशब्दवाच्यता का भान जैनमतानुसार मति ज्ञान है या श्रुतज्ञान ? इस का भी विचार यथावसर आगे किया जायेगा। (पृष्ठ ४८२-१५ से १९ पंक्ति मध्ये) 'यह रूप है' इस प्रकार से इन्द्रियजन्य एकात्मक प्रत्यक्षबुद्धि 'रूप'शब्दवाच्यताविशिष्ट अर्थग्रहण से गर्भित ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से अनुभूत होती है उस का अपलाप अशक्य है। अपलाप करने पर तो संवेदनमात्र का निह्नव प्रसक्त होने से सर्वशून्यतावाद का ही आक्रमण होगा। ऐसा नहीं कह सकते कि — "शब्द का विषय तो 'सामान्य' है वह इन्द्रिय का विषय ही नहीं है अतः प्रत्यक्ष में उस का भान नहीं होगा।" — क्योंकि वस्तुमात्र हमारे मत से सामान्य-विशेषोभयात्मक है और इन्द्रियजन्यबुद्धि में उसी रूप से उस का प्रतिभास भी होता है। जो(सामान्य) प्रतिभासित होता है उस को 'अविषय' नहीं कहा जा सकता, अन्यथा वस्तुमात्र को अविषय मानने का अनिष्ट आ पड़ेगा।

[एकसंवेदनगृहीत अर्थ अन्य संवेदन का विषय कैसे ? — उत्तर]

यह जो कहा था — (१२३-२६) 'एक संवेदन में भासित अर्थ दूसरे संवेदन में भासित अर्थ का

▲. द्रष्टव्यं पृष्ठ ४८१ पंक्ति ९ तः पृ० ४८२ पंक्ति ३ मध्ये।

शब्दवाच्यताविशेषणस्य स्वस्य 'रूपमिदम्' इत्येकप्रतीतिविषयत्वाभ्युपगमात्। अत एव 'केयं तदनुरक्तता' इति विकल्पत्रये (१२४-१...४) यद् दोषाभिधानं तदनभ्युपगमादेव निरस्तम्। यदपि 'यदि नामपरिणद्धस्य सकलार्थस्य संवित् तदार्थसंवेदनमेव न भवेत्' इति दोषाभिधानम् (१२४-८) तदप्यनभ्युपगमाद् निरस्तम्। न हि शब्दानुविद्धार्थप्रतिपत्तिरेव सविकल्पिका, तथाभ्युपगमे सविकल्पप्रतिपत्त्युत्पत्तिरेव न भवेद्— इत्युक्तं प्राक्। 'अगृहीतसंकेतस्य पुंसोऽर्थप्रतिपत्तिर्निर्विकल्पिका' तथा 'अश्वं विकल्पयतो गोप्रतिपत्तिः गोशब्दोल्लेखविकला' 5 इति — अत्रापि प्रतिविहितमेव (१२५-२/४)। यदपि 'वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत्'... इत्यादि दोषाभिधानम् (१२५-७) तदपि सिद्धसाध्यतया निरस्तम्।

यच्च 'समानकालयोर्वा भावयोर्विशेषण-विशेष्यभावमिन्द्रियप्रतिपत्तिरधिगच्छति भिन्नकालयोर्वा' इति पक्षद्वयेऽपि (१२९-५) दोषाभिधानम्-तदप्यसङ्गतम्; यत्र हि समानासमानकालविशेषणविशिष्टोऽर्थः अबाधिताकाराक्षजप्रतिपत्तौ प्रतिभाति सा तद्ग्राहिकाऽभ्युपगम्यते नाऽन्येति कुतोऽतिप्रसङ्गदोषावकाशः ? 10

विशेषण नहीं हो सकता' — इस में हमारा कोई विरोध नहीं है — न तो वह हमारे लिये बाधक है, क्योंकि रूप के 'विशिष्टशब्दवाच्यता' इस विशेषण को हम 'यह रूप है' इस एक ही प्रतीति का विषय मानते हैं न कि अन्यप्रतीति का। इसी हेतु से, आपने जो तीन विकल्प शब्दानुरक्तता के लिये दीखा कर (१२४-१२...१६ शब्दप्रतिभास, शब्दवेदन, तत्कालशब्दप्रतिभास) उन में दोषप्रदर्शन किया है वह भी उन विकल्पों के अस्वीकार से ही निरस्त हो जाते हैं! फिर जो आपने यह दोषप्रदर्शन किया है (१२४-३१) 15 — 'यदि नाम से रञ्जित ही सभी अर्थसंवेदनों को मानेंगे तो शुद्ध अर्थसंवेदन तो कभी नहीं होगा' यहाँ भी अस्वीकार ही निराकरण है क्योंकि हम सिर्फ शब्दानुविद्धार्थप्रतीति को ही सविकल्प नहीं कहते, यदि ऐसा कहें तब सविकल्पप्रतीति का उद्भव ही अन्योन्याश्रयादि दोषपरम्परा के कारण निरुद्ध हो जाता है — यह पहले भी हमने कह दिया है! यह जो आपने कहा है — 'शब्दसंसृष्ट ही अर्थप्रतीति मानेंगे तो जो अगृहीतसंकेतवाले बालादि को निर्विकल्प अर्थप्रतीति होती है वह न होगी' तथा यह जो कहा था 20 — 'अश्व के विकल्पकाल में गौ के दर्शन में गोशब्दोल्लेखवैकल्य होने से वाग्रूपता कैसे मानना ?'... (१२५-१५/२०) इन दोनों का भी निरसन हो जाता है क्योंकि हम प्रतीतिमात्र को शब्दसंसृष्ट मानते ही नहीं। अत एव (१२५-२७) 'अवबोध की वाग्रूपता यदि व्युत्क्रान्त होगी...' इत्यादि शब्दशास्त्रीयों की मान्यता को आपने दूषित किया है उस में सिद्धसाधनता होने से वह निरस्त हो जाता है।

[समान काल-भिन्न काल के दो विकल्पों में दोषों का निरसन] 25

यह जो विकल्पयुगल कहा था (१२९-२७) — इन्द्रियजन्य प्रतीति समानकालीन भावों के विशेषण-विशेष्यभाव का अधिगम करती है या भिन्नकालीन ? — फिर उन दोनों में दोषप्रदर्शन किया था वह भी असंगत है। जिस निर्बाध इन्द्रियजन्य प्रतीति में समानकालीन या असमानकालीन विशेषण से विशिष्ट अर्थ का तत्तद्रूप से यथार्थ भान होता है उन प्रतीतियों को हम समानकालीन या असमानकालीन विशेषण से विशिष्ट अर्थ की ग्राहिका मानते हैं न कि सभी प्रतीतियों को। फिर किसी अतिप्रसङ्गदोष 30 को अवकाश ही कहाँ है ? आप के ही मतानुसार यहाँ यह दृष्टान्त है कि स्तम्भाकार रूप से उत्पन्न किसी एक परमाणु के ग्रहण में जब कोई एक संवेदन सक्रिय बनता है तब वह सिर्फ उस एक ही

यथा च स्तम्भाकारोत्पन्नैकपरमाणुग्रहणप्रवृत्तं संवेदनं भिन्नदेशं परमाण्वन्तरमवभासयति— अन्यथा प्रतिभास-
विरतिप्रसङ्गात् — तथा विशेषणग्रहणप्रवृत्तं भिन्नकालविशेष्यावभासि तदभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विशेषण-
विशिष्टार्थावभासाभावो भवेदित्युक्तं प्राक्। न च विशेषण-विशेष्यभावस्यानवस्थानाद् न समानकालयोरपि
तयोस्तद्भावप्रतिपत्तिः, अनेकधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपप्रतिभासः कस्यचित् कथञ्चित् कयाचित् प्रतिपत्त्या
5 यथाक्षयोपशमं ग्रहणात्। न च तत्प्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणस्यात्यन्तिकस्ततो भेदः असत्त्वं वा, क्षणिकत्वादेरपि
नीलप्रतिपत्त्याऽप्रतीयमानस्य तथात्वप्रसक्तेरित्युक्तत्वात्।

यदपि— 'पुरोवर्तिनि रूपे प्रवृत्तमक्षं यद्यतीते विशेषणादौ प्रतिपत्तिमुपजनयति अतिचिरमुपगतासु
पदार्थपरम्परास्वपि प्रतिपत्तिमुपजनयेत्' (१३१-४) तदप्ययुक्ताभिधानम्, यतो यदेव ह्यक्षमतौ परिस्फुटमवभाति

परमाणु को अवभासित नहीं करता किन्तु स्तम्भाकाररूप से उत्पन्न स्तम्भगत विभिन्नदेशीय अन्य परमाणु
10 को भी वह प्रकाशित करता ही है — यदि ऐसा नहीं माने तो केवल एक परमाणु का स्वतन्त्र संवेदन
मान्य न होने से स्तम्भाकार द्रव्य के प्रतिभास का ही उच्छेद हो जायेगा — यह भिन्नदेशीय अन्य
परमाणु के ग्रहण का जो दृष्टान्त है उसी प्रकार हमारे मत में विशेषणग्रहणप्रवण इन्द्रियजन्य प्रतीति
असमानकालीन विशेष्य का भी निदर्शन कर सकती है ऐसा मान लेना चाहिये, अन्यथा विशेषण से
विशिष्ट अर्थ का प्रतिभास ही असत् हो जायेगा — पहले यह बात कह चुके हैं।

15 [वस्तुमात्र अनेकविरोधाभासधर्मशाली — अनेकान्तवाद]

ऐसा कहना गलत है कि — 'विशेषण-विशेष्यभाव में कोई विनिगमना न होने से, समानकालीन
विशेषण-विशेष्य होने पर भी, प्रत्यक्ष से विशिष्ट अर्थ का भान अशक्य है।' — ऐसा कथन इस
लिये गलत है कि — अनेकान्तवाद के अनुसार वस्तुमात्र अनेकधर्माक्रान्त होती है, ज्ञाताओं को जैसी
जैसी बोधसामग्री संनिहित होती है उस की मर्यादा में नियतधर्मविशिष्टरूप से तद् तद् वस्तु का
20 भिन्न भिन्न प्रकार से बोध हो सकता है। (यानी किसी को नील विशेषणविधया तो किसी को घटादि
विशेष्यविधया गृहीत हो सकता है।) यह भी ध्यान में रखना है कि छद्मस्थ पुरुष को अपने ज्ञान
में समस्त धर्मों से (एक एक धर्म, ज्ञान में पृथक् पृथक् भासित हो इस ढंग से) अनुविद्ध वस्तुस्वरूप
का प्रतिभास शक्य ही नहीं है। सभी छद्मस्थ जनों को अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार कभी किसी
25 को यथा तथा किसी एक-दो आदि धर्मों की प्रतिभासना से बोध होता है। किसी एक प्रतीति में
जो एक-दो धर्म भासित होते हैं और अन्य अनन्तधर्म नहीं भासते हैं — इस का मतलब ऐसा नहीं
है कि उन सभी में आत्यन्तिक जुदाई है अथवा तो वे नहीं भासनेवाले धर्म असत् हैं। वैसा मानेंगे
तो नीलस्वलक्षण के प्रत्यक्ष में न भासनेवाले क्षणिकत्वादि धर्मों की भी स्वलक्षण से जुदाई प्रसक्त
होगी या तो उन का असत्त्व प्रसक्त होगा। पहले यह तथ्य कहा जा चुका है।

[चिरभूतकालीन अर्थों की प्रतीति की आपत्ति का निरसन]

30 यह जो कहा था (१३१-२५) — 'सम्मुखस्थ रूप के अभिमुख प्रवृत्त नेत्र यदि अतीत विशेषणादि
की प्रतीति निपज्जायेगा तो अतिचिर भूतकालीन अर्थसन्तानों की प्रतीति भी निपजा सकेगा' — वह भी
गलत बयान है। कारण, हमारी स्थापना यह है कि इन्द्रियबुद्धि में जो स्पष्टरूप से भासता है उसी का
बोध कराने में इन्द्रिय सक्षम होती है (अतिचिर भूतकालीन अर्थसन्तानों का इन्द्रिय जन्य बुद्धि में स्पष्टरूप

तत्रैवाक्षं प्रतिपत्तिमुपरचयतीति व्यवस्थाप्यते अन्यथैकस्तम्भपरिणत्यापत्रैकपरमाणुग्रहणज्ञानजननप्रवृत्तमक्षं तदपरपरमाणुग्रहणज्ञानजननवत् सकलपदार्थग्राहिज्ञानजननेऽपि प्रवर्त्तत भेदाऽविशेषात्, भवदभ्युपगमेनानन्तरातीतक्षणग्रहणज्ञानजननप्रवृत्तं वा सकलातीतक्षणग्रहणज्ञानजनने वा प्रवर्त्तत अतीतत्वाऽविशेषात्। अथ यदेव तज्ज्ञाने प्रतिभाति तज्जनने एव तस्य व्यापारः परिकल्प्यते; तदितरत्राऽपि समानम्। न च विशेषणादयस्तदाऽसंनिहिता एवैकान्ततो येन तान् प्रति प्रत्यक्षबुद्धिर्निरालम्बना भवेत्, निरन्वयक्षणक्षयस्य 5 निषिद्धत्वात् कथञ्चिदनुगतस्य च प्रसाधितत्वात्।

यदपि— 'सुखादिव्यतिरिक्तस्याक्षप्रभवसंवेदनस्यार्थावभासकत्वं प्रतिपादितम् (१३२-८)' तदपि सिद्धसाधनमेव। यच्च 'सुखादिवद् विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभावः' (१३२-१०) इति, अत्र यद्यविशेषेण विकल्पमात्रमभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता; अथ प्रकृतो विकल्पस्तदाऽसिद्धम् तमन्तरेणापरस्यार्थसाक्षात्कारिणोऽविकल्पस्याभावात्। यदपि 'यदि नाम पुरोवर्त्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्ध्योतयति तथाप्यर्थक्रियासमर्थ- 10 रूपाऽपरिच्छेदाद् न तत्र प्रवृत्तिमारचयितुं क्षमा' (१३४-९) इति, तदप्ययुक्तम्, अर्थक्रियासमर्थरूपस्य तस्या एव परिच्छेदकत्वेन प्रवर्त्तकत्वाद्— अन्यथा प्रवृत्तेरभावप्रसङ्गात्— तामन्तरेण कस्यचित् प्रत्ययस्य से भान नहीं होने से उन सन्तानों का बोध कराने में इन्द्रिय को हम सक्षम नहीं मानते।) ऐसा अगर नहीं मानेंगे तो स्तम्भज्ञान स्थल में आप को भी वैसी विपदा हो सकेगी। देखिये, एक स्तम्भाकारपरिणामपरिणत एकपरमाणु के ग्रहणप्रवणज्ञानोत्पादन में प्रवृत्त इन्द्रिय यदि दूसरे परमाणु के ग्रहणप्रवणज्ञानोत्पादन में प्रवृत्त 15 होगा (होना ही पड़ेगा अन्यथा विशालस्तम्भाकार प्रत्यक्ष होगा कैसे?) तो अन्य समस्त पदार्थग्रहणाभिमुखज्ञान की निष्पत्ति में भी प्रवृत्त होगा क्योंकि एक परमाणु से अन्य परमाणु जैसे भिन्न है वैसे ही अन्य पदार्थ भी भिन्न हैं। अथवा आपत्ति इस प्रकार भी होगी — आप के मतानुसार अनन्तर भूतक्षणग्रहणाभिमुखज्ञान के उत्पादन में प्रवृत्त इन्द्रिय समस्त भूतकालीनक्षणों के ग्रहण में अभिमुख ज्ञान के उत्पादन में प्रवृत्त हो जायेगा क्योंकि अनन्तरभूतक्षण जैसे अतीत है वैसे चिर विनष्ट भूत क्षणसमुदाय भी अतीत ही है। इस 20 आपत्ति से बचने के लिये कहा जाय कि स्तम्भाकारपरिणत जिन परमाणुओं का उस ज्ञान में भान होता है उतने के ग्रहणाभिमुख ज्ञान के उत्पादन में ही इन्द्रिय व्यापृत होती है — तो यह बात विशेषणग्रहणाभिमुख ज्ञान के उत्पादन में प्रवृत्त इन्द्रिय के लिये भी समान ही है।

'विशेषणादि एकान्ततः इन्द्रिय के असंनिहित है' ऐसा भी नहीं है कि जिस से मान लिया जाय कि विशेषणग्राहि प्रत्यक्षबुद्धि निरालम्बन ही है (असत् अथवा अतीतादि विषयक ही है।) कारण, विशेषणादि 25 सर्वथा क्षणिक नहीं किन्तु किञ्चित्कालावस्थायि होते हैं। निरन्वयक्षणनाश का पूर्व में निरसन हो चुका है अतः क्षणिकवाद ध्वस्त हो जाता है। तथा अनेकक्षणों में अनुगत कथंचिद् एक वस्तु की सिद्धि भी पहले की जा चुकी है, अत एव विशेषणादि इन्द्रिय के संनिहित हो सकते हैं।

[विकल्पमात्र में अर्थप्रत्यक्षीकरणस्वभाव का निषेध अनुचित]

यह जो कहा था (१३२-२९) — सुखादि (सुखानुभवादि) को छोड़ कर जो भी इन्द्रियजन्य संवेदन 30 हैं वे अर्थावभासि होते हैं — यह तो सिद्धसाधन ही है नया कुछ नहीं। तथा यह जो कहा था (१३३-९) — सुखादि की तरह विकल्प भी अर्थप्रत्यक्ष करने के स्वभाववाला नहीं है — यहाँ कहने का भाव यदि ऐसा हो की सामान्यतः सभी विकल्प वैसे नहीं होते हैं तब तो सिद्धसाधन ही है क्योंकि हर

तद्रूपपरिच्छेदकत्वेन प्रवर्तकत्वाऽयोगादिति प्रतिपादनात्। अत एव 'यदि नयनप्रसरमनुसरन्ती प्रथमा मतिर्न तत्त्वं प्रत्येति पश्चादपि नैव प्रत्येष्यति स्मरणसहायस्यापि लोचनस्याऽविषयतयैकत्वे प्रतिपत्त्यजनकत्वात्' (१३५-६) इत्यादि सर्वं प्रतिक्षिप्तम्, स्थिर-स्थूरार्थावभास्यक्षप्रभवसंवेदनस्य प्राप्तिपर्यवसानफलनिमित्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रसिद्धेः, तथापि तत्त्वस्याक्षप्रतिपत्त्यविषयत्वे संवेदनस्य स्वसंवेदनाध्यक्षविषयताऽपि न भवेत्। अबाधितप्रतिपत्तिविषयत्वादिकं च सर्वमन्यत्रापि समानम्।

अथ स्वसंवेदनं संवेदनाभावे न दृष्टमिति तत् तद्विषयम्, संवेदनं तु विपर्ययाद् न तद्विषयम्। ननु किं ^Aक्षणिक-निरंशैकपरमाण्वाकारसंवेदनाभावे तद् न दृष्टम् उत ^Bतद्विपरीतसंवेदनाभावे? ^Aयद्यद्यः पक्षः, स न युक्तः, सर्वदा तदभावे एव तस्य दृष्टेः। अथ ^Bद्वितीयस्तदा विपर्ययसिद्धिः। यथा स्थिर-स्थूराकाराकारसंवेदनाभावेऽभवत् स्वसंवेदनं तद्विषयं सिध्यति तथा स्थिरस्थूरार्थाभावेऽभवत् संवेदनं किं न तद्विषयं सिध्यति येन लोचनाऽविषयत्वं तत्त्वस्य भवेत्? यथा च पूर्वदेशदशादर्शानामग्रहणेऽपीदानीन्तन-

कोई (शशशृंगादि) विकल्प वस्तुस्पर्शी नहीं होते। यदि आप यह कहना चाहते हों कि प्रस्तुत चर्चा में जिन नीलादिविकल्पों की बात चलती है वे वैसे नहीं होते तो यह बात असिद्ध है क्योंकि नीलादिविकल्प के अलावा और कोई नीलादिअर्थसाक्षात्कारी अविकल्प है ही नहीं। यह जो कहा था (१३४-११) — 'यदि यथाकथंचित् मान लेवे कि विकल्पबुद्धि संमुखस्थजलादि अर्थ को प्रकाशित करता है तो भी अर्थक्रियासमर्थरूप का भान उस में न होने से वह विकल्प जलादि अर्थ में प्रवृत्ति कराने के लिये सक्षम नहीं हो सकता।' — वह भी गलत है क्योंकि गहराई से सोचा जाय तो विकल्पमति ही वस्तुतः अर्थक्रियासमर्थस्वरूप की अवबोधिका होने से जलादि में प्रवृत्ति कराने में सक्षम है यह मालूम पड़ेगा। विकल्प के सामर्थ्य का इनकार करने पर निर्विकल्प तो अर्थक्रियासामर्थ्य वेदक नहीं होने से प्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायेगा। कारण, विकल्पमति के विना और कोई ऐसी सक्षम प्रतीति है नहीं जो अर्थक्रिया सामर्थ्य का वेदन कर के प्रवृत्ति करा सके। पहले यह कह दिया है। इसी तथ्य के आधार पर आप का यह निरूपण भी निरस्त हो जाता है जो आपने पहले कहा था — "(१३५-२६) नेत्र प्रसारण के बाद तूर्त होने वाली (निर्विकल्प) प्रथम बुद्धि यदि तत्त्व का भान नहीं कर पाती तो बाद में (होनेवाली विकल्प) बुद्धि भी उस का भान नहीं कर सकेगी, क्योंकि स्मृति सहकृत भी नेत्र का वह (तत्त्व) विषय न होने से दृष्ट और विकल्पित अर्थ के एकत्व का भान कराने में वह असमर्थ है।" ... इत्यादि जो कहा है वह इस लिये निरस्त हो जाता है कि स्थिर-स्थूल फलादिअवबोधक इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, जो कि उस फल की प्राप्ति कराने में प्रधान निमित्त है, स्वसंवेदिअनुभवप्रत्यक्ष से सुप्रसिद्ध है। उस का इनकार कर के आप तत्त्व को उस प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानेंगे तो फिर संवेदन की स्वसंवेदिप्रत्यक्षविषयता का भी अपलाप करने में क्या बाध है? यदि कहें कि — संवेदन की स्वयंसंविदितता तो निर्बाधप्रतीति का विषय होने से उस का अपलाप अशक्य है — तो हम कहते हैं कि संवेदन की तत्त्वविषयता भी समानरूप से तथाविध (यानी निर्बाधप्रतीति का विषय) ही है... इत्यादि सब तुल्यरूप से समज लेना।

[संवेदन में स्थिर-स्थूलअर्थविषयता का उपपादन]

यदि कहा जाय — 'स्वसंवेदन और मात्र संवेदन में तफावत है। संवेदन के न होने पर स्वसंवेदन

दर्शनेन स्वग्राह्यस्य तद्विवेकः प्रतीयते तथा तेन तस्य तत्संस्पृष्टता किमिति नावगम्यते ? इति न युक्तं 'पूर्वदर्शनाद्यप्रतीतौ तद् दृष्टतादिकं तस्य न प्रत्येतुं शक्यमित्याद्यभिधानम्। यदि च प्राप्याऽप्रतीतावपि दृश्यदर्शनेन स्वग्राह्यस्य तदेकत्वं प्रतीयते — अन्यथा तस्याऽविसंवादकत्वायोगात् प्रामाण्यं न स्यात् — किमित्यर्थक्रियाऽदर्शने तत्समर्थरूपाऽप्रतिपत्तिर्येन प्रकृतविकल्पान् प्रवृत्तिर्न भवेत् ?!

यदपि 'स्मर्यमाणस्यार्थस्य सत्त्व(1?)सिद्धेस्तद्वृत्तिस्मृत्यन्तरभाविनोऽध्यक्षस्य सत्यता'... (१३६-५) 5
इत्यादीतरेतराश्रयत्वं' प्रेरितम् तत् स्वसंवेदनेऽपि समानम्। तथाहि- संवेदनस्य सत्यत्वे तत्त्वसंवेदनस्य

का उद्भव अशक्य होने से उस को संवेदनविषयक मानना जरूरी है। उस के विपरीत, संवेदन तो अर्थ के बिना भी होता है अत एव संवेदन को अर्थविषयक मानना जरूरी नहीं।' — तो यहाँ दो प्रश्न हैं — ^A'संवेदन के न होने पर' इस का मतलब यह है कि 'क्षणिक-निरंश-एकपरमाणुआकार संवेदन के न होने पर ?' या ^Bक्षणिकादिआकार से विपरीतस्वरूपवाले संवेदन के न होने पर ?' 10
^Aपहला पक्ष अयुक्त है क्योंकि स्वसंवेदन तो हमेशा क्षणिकादि आकारसंवेदन के विरह में ही होता है। ^Bदूसरा पक्ष मानने पर तो यही फलित होगा कि क्षणिकादिआकार से विपरीतस्वरूपवाले (यानी स्थिरादि आकारवाले) संवेदन के न होने पर स्वसंवेदन भी नहीं होता है किन्तु स्थिरादिआकारवाले संवेदन के रहने पर ही स्वसंवेदन होता है — यहाँ आप की मान्यता से तो बिलकुल उलटा ही तथ्य सिद्ध हुआ। जैसे स्थिरस्थूलाकारसंवेदन के विरह में न होनेवाला संवेदन स्थिरादिआकारविषयक 15
सिद्ध होता है वैसे ही स्थिर — स्थूल अर्थ के विरह में न होने वाले संवेदन से स्थिर-स्थूलअर्थविषयता भी संवेदन में क्यों सिद्ध न हो, जिस से कि 'स्थिरादि तत्त्व नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है' ऐसा कहा जाय ?

[विकल्प से अर्थक्रियासमर्थ रूप के भान की उपपत्ति]

जब वर्तमानकालीन दर्शन से पूर्वदेश या पूर्व दशा के दर्शनों का ग्रहण न होने पर आप मान 20
लेते हैं कि वर्तमान दर्शन का विषय पूर्वदेश-पूर्वपर्याय से विमुक्त है, मतलब पूर्वदेश-पूर्वदशा संनिहित न होने पर भी पूर्वदेशादिवियुक्तता का ग्रहण आप मानते हैं तो उसी प्रकार पूर्वकालादि संनिहित न होने पर भी पूर्वकालसंस्पृष्टता मान लेने में क्या बाधा है ? तात्पर्य, यह जो आपने कहा है कि — "पूर्वकालीन दर्शन की प्रतीति न होने पर वह 'दृष्टता (भूतकालीन दर्शनविषयता)' आदि का भान शक्य नहीं है" — यह कथन अयुक्त है। अगर बौद्धमतानुसार दृश्यविषयक दर्शन से अपना ग्राह्य 25
दृश्य और अग्राह्य प्राप्य — जिस की दर्शनद्वारा प्रतीति नहीं हुई — फिर भी उन दोनों के एकत्व का प्रकाशन माना जाता है, — यदि ऐसा न माने तो उस के अविस्वादित्व का भ्रंश हो जाने से प्रामाण्य तूट जाय — तो हम भी कहते हैं कि यद्यपि विकल्प से अर्थक्रिया का ग्रहण नहीं हुआ फिर भी अर्थक्रिया समर्थरूप का अभान क्यों ? जिस से कि विकल्प से प्रवृत्ति रुक जाय ? (अर्थक्रिया का ग्रहण न होने पर भी विकल्प से अर्थक्रियासमर्थरूप का भान शक्य होने से, उस से प्रवृत्ति भी 30
निर्वाध हो सकती है जैसे आप के मत में प्राप्य गृहीत न होने पर भी प्राप्य-दृश्य के एकत्व का भान होता है। इति तात्पर्य।)

सत्यवेदिता, तस्याश्च तत्सत्यतेति कथं नेतरेतराश्रयत्वम् ? 'यथा च लिङ्गनिश्चयाद् विशदतनोरनुमिति-रविशदावभासा पृथगवसीयते न तथा प्रकृतविकल्पात् पृथगविकल्पिका मतिः कदाचिदप्यनुभूयते' इति — तत् सत्यमेव, निरंशक्षणिकैकपरमाण्ववभासस्याऽसत्त्वप्रतिपादनात्। यदपि 'न चापि लिङ्गतः पश्चाद्विन्द्रियस्य प्रवर्तनम्' (१४२-३) इत्यादि प्रत्यंगि(?)त्यंगि)रयोपन्यस्तम् तत् सर्वमयुक्ततया स्थितम्। यदपि 'जात्यादेरभावात् तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका न संभवति' (१४२-१०) इति, तदपि प्रतिक्षिप्तत्वात् पुनः समाधानमर्हति। यच्च 'फलयोग्यता परोक्षेति नाध्यक्षमतिर्निश्चयात्मिका तत्र प्रवर्तते' इति (१४४-८) तदपि प्रतिविहितमेव। यच्च 'दर्शनपरिणत्यनवगतं फलसम्बन्धित्वमवगच्छन्ती कथं न भिन्नविषया' इति (१४६-६) तत् सिद्धमेव साधितम्, तद्व्यतिरेकेण दर्शनपरिणतेरविकल्पिकाया अभावात्।

[अन्योन्याश्रयादि दोषाशंकाओं का प्रत्युत्तर]

10 पहले जो आपने अन्योन्याश्रय दोष (१३६-२०) का प्रसञ्जन किया था — "स्मृतिगृहीत अर्थ का सातत्य सिद्ध होने पर, उस के ग्रहण में दर्शन की प्रवृत्ति होगी, अर्थात् उस अर्थ में वृत्ति (उस अर्थ विषयक) स्मृति के पश्चाद् होनेवाले प्रत्यक्ष (सविकल्प) की यथार्थता सिद्ध होगी, और प्रत्यक्ष की यथार्थता सिद्ध होने पर स्मृति के विषय का सातत्य सिद्ध होगा।" — यह दोष स्वसंवेदन के प्रति समान ही है। यथा, संवेदन की यथार्थता के आधार पर ही स्वसंवेदन में सत्यविषयता स्थापित होगी, और उस के स्थापित होने पर संवेदन की यथार्थता प्रसिद्ध हो सकेगी। स्वसंवेदन भी कहाँ अन्योन्याश्रयमुक्त है ?

यह जो कहा है — "स्पष्टावभासि लिङ्गनिश्चय और अस्पष्टावभासि अनुमिति जिस तरह पृथक् पृथक् संविदित होती है, उसी प्रकार प्रस्तुत (पौवापर्यग्राही) विकल्प और अविकल्प (जो कि निरंशग्राही है,) मति का पृथक् पृथक् संवेदन नहीं होता है" — यह तो यथार्थ ही है लेकिन इस से अविकल्पभिन्न प्रत्यक्ष का निरसन नहीं होता किन्तु सविकल्पप्रत्यक्ष से अतिरिक्त निर्विकल्प का ही निरसन होता है क्योंकि पहले हमने निरंश-क्षणिक-एकपरमाणुग्राहि प्रत्यक्ष की अयथार्थता का प्रतिपादन कर दिखाया है। अत एव (स्मृतिविषय के सातत्य की यथार्थता सिद्ध होने से) आप का वह आपादन, (१४२-३) धूमादिलिङ्गदर्शन के उत्तरकाल में अग्नि की अनुमिति के बाद अग्नि के ग्रहण में इन्द्रिय के प्रवर्तन को कोई रोक नहीं सकता.... इत्यादि काकू (वक्र) ध्वनि से कहा गया है वह सब अयथार्थ सिद्ध होता है। कारण, अग्नि का अर्थी वहाँ जा कर उसी अग्नि का प्रत्यक्ष कर सकता है।

यह जो कहा था (१४२-१५) — 'जाति आदि तो शून्य है अत एव जातिविशिष्ट अर्थ का सविकल्प भान भी असंभव है।' — उस का भी पहले प्रतिरोध हो चुका है इस लिये फिर से उस का निषेध करने की जरूर ही नहीं है। यह जो कहा था (१४४-३२) — 'फल योग्यता परोक्ष होने से निश्चयात्मक प्रत्यक्षबुद्धि का विषय नहीं बन सकती।' — उस का भी निषेध हो चुका है, (१४८-२५) अभ्यासदशा में पर्यालोचन के विना भी योग्यता प्रत्यक्षग्राह्य है। यह जो कहा था (१४६-२४) 'फलसम्बन्धिता (यानी अर्थक्रिया साधकता) जो दर्शन से अगृहीत है, उस का ग्रहण करनेवाली सविकल्प

यदपि— 'स्वदर्शनाद् लिङ्गात् परोक्षार्थक्रियायोग्यताध्यवसायानुमानमुदयमासादयद् व्यवहृतिमुपजनयति' इति - (१४८-६) तदप्ययुक्तम्, फलजननयोग्यतायाः परोक्षत्वाऽसिद्धेः। प्रतिभासमानरूपस्य चाऽनिश्चितस्य लिङ्गत्वायोगात्। अनुमानात् तन्निश्चयेऽनवस्थाप्रतिपादनात्, अध्यक्षतस्तन्निश्चये च सिद्धं निर्णयात्मकं अध्यक्षम्। यदपि 'अनिश्चयात्मकमध्यक्षमभ्यासदशायां प्रवृत्तिमुपरचयद् द्रष्टुम्' (१५०-१०) तदप्यसंगतम्, शब्दोल्लेखशून्यस्यापि सावयवैकरूपार्थाधिगतिस्वभावस्य सविकल्पतया व्यवस्थापनात् तमन्तरेणाभ्यासदशायामपि 5 प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। यत् पुनः सर्वदानुमानात् प्रवृत्त्यभ्युपगमे लिङ्गग्रहणाभावतोऽध्यक्षेणानवस्थादूषणमभ्यधायि (१५०-११) तद् युक्तमेव। यदपि 'पौवापर्येऽप्रवृत्तमध्यक्षं कथं तादृग्लिङ्गग्रहणे क्षमम्' इति (१५१-३) पूर्वपक्षमुत्थाप्य 'लोकाभिमानादेवाध्यक्षं लिङ्गग्राहि व्यवहारकृच्च, तत्त्वतस्तु स्वसंविन्मात्रत्वाद् न प्रत्यक्षानुमानभेदः' इत्युत्तराभिधानम् (१५१-७) तदप्यसंगतम्, प्रत्यक्षानुमानभेदस्याऽपारमार्थिकत्वे स्वसंवेदनमति अगृहीतग्राही (यानी दर्शन से भिन्नविषयक) होने से प्रमाण क्यों न मानी जाय ?' - यह कथन 10 तो इष्टापत्ति है, हम तो कहते हैं फलसम्बन्धिता के ग्रहण के बिना अविकल्पस्वरूप दर्शनपरिणाम भी शून्य बनता हुआ असत् ठहरता है।

[फलसाधनयोग्यता की परोक्षता... इत्यादि निरूपण का प्रत्युत्तर]

यह जो कहा था (१४८-२८) - 'अर्थक्रियाकारिरूप के दर्शनरूप हेतु से परोक्ष अर्थक्रियायोग्यता के अध्यवसाय के अनुमान का उदय होता है और उसी से व्यवहार सम्पन्न होता है न कि प्रत्यक्ष 15 से...' यह भी गलत है क्योंकि फलसाधनयोग्यता (अर्थक्रिया योग्यता) परोक्ष होने की बात असिद्ध है। समर्थरूप का यदि प्रत्यक्ष निश्चय नहीं होगा तो वह (रूपदर्शन) 'लिङ्ग' ही नहीं बनेगा, अनुमान से उस का निश्चय करने जायेंगे तो उस अनुमानकारक लिङ्ग का भी दूसरे अनुमान से, उस के लिङ्ग का तीसरे अनुमान से... इस प्रकार शृंखला चलेगी तो अनवस्था दोष लगेगा। यदि अनुमान के बदले प्रत्यक्ष से ही दूसरे (या तीसरे आदि) अनुमान के लिङ्ग का निश्चय मानेंगे तो यह सिद्ध 20 हो गया कि प्रथम लिङ्गभान (यानी समर्थरूपयोग्यता का भान भी) प्रत्यक्ष निर्णयात्मक ही हो सकता है। यह जो कहा है (१५०-३०) - अभ्यासदशा में आभेर्णयरूप प्रत्यक्ष से भी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है - वह भी अयुक्त है, क्योंकि सविकल्प सिर्फ शब्दबोध रूप ही नहीं होता किन्तु शब्दोल्लेखविनिर्मुक्त सावयव एकरूप अर्थावबोध स्वरूप सविकल्पात्मक होता है यह पहले स्थापित किया जा चुका है, अत एव अभ्यासदशा में भी निर्णयात्मक सविकल्प प्रत्यक्ष से ही प्रवृत्ति हो सकती है। तथा (१५०- 25 ३०) यह जो दूषण कहा है, हर हमेशा अनुमान से ही प्रवृत्ति का होना मानेंगे तो लिङ्ग का भी लिङ्गरूप से प्रत्यक्ष निर्णय न होने पर अनुमान से उस का निर्णय करने में अनवस्था दोष दर्शाया गया है वह युक्तिसंगत ही है।

यह जो पूर्वपक्षीने कहा है (१५१-१८) - पूर्वापरभाव के अवबोध में अप्रवर्तमान प्रत्यक्ष तथाविधलिङ्ग के अवबोधार्थ समर्थ कैसे होगा ? ऐसा पूर्वपक्ष दिखला कर फिर उस के उत्तर में 30 जो आपने कहा है - 'प्रत्यक्ष लिङ्गग्राही एवं व्यवहारकारी होता है यह सिर्फ लौकिक मान्यता ही है, वास्तव में तो सब संवेदन स्वसंवेदनमात्ररूप ही होता है इसलिये (प्रत्यक्षात्मक ही होने से) प्रत्यक्ष

मात्रस्याप्यपारमार्थिकत्वप्रसक्तेः सर्वशून्यतापत्तिरिति निर्विकल्पत्वादिव्यवहारो दूरापास्त एव स्यात्। न च शून्यतैवास्त्विद्व्यभिधानं युक्तिसंगतम्, प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमस्याप्यघटमानत्वात् इत्युक्तत्वात् (११८-३)। तदेवं सकलबाधकापाये साधकप्रमाणविषयत्वात् सविकल्पकमध्यक्षं सिद्धमिति व्यवस्थितं प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानमिति।

- 5 अत्र च 'स्वस्य ग्रहणयोग्योऽर्थः स्वार्थः' इत्यस्यापि समासस्याश्रयणाद् 'व्यवहारिजनापेक्षया यस्य यथा यत्र ज्ञानस्याविसंवादस्तस्य तथा तत्र प्रामाण्यम्' इत्यभिहितं भवति, तेन संशयादेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः। एतेन 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' (द्र०प्रमाणवा०२-१२३) इति प्रत्यक्षलक्षणं सौगतपरिकल्पितमयुक्ततया व्यवस्थापितम्।

[प्रमाणभेदवक्तव्ये न्यायमतीय प्रत्यक्षलक्षण समीक्षा]

- 10 तत्राहुः नैयायिकाः — मा भूत् सौगतपरिकल्पितं निर्विकल्पकमध्यक्षं प्रमाणम्; "इन्द्रियार्थसंनिर्घोषोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् (न्यायद० १-१-४)" इत्येतल्लक्षणलक्षितं तु प्रत्यक्षं एवं अनुमान में कोई भेद नहीं होता।' — (१५१-२८) यह उत्तर गलत है; प्रत्यक्ष-अनुमान का भेद यदि असत् है तो स्वसंवेदन की ही सिद्धि न होने से उस की भी अपारमार्थिकता ही प्रसक्त होगी — यानी 'सर्वशून्यता' बलात् गले आ पड़ेगी — तो निर्विकल्पकता आदि व्यवहार भी दूर ही रह जायेगा। "होने दो, 'सर्व शून्यम्' मान लो" ऐसा कहना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि प्रमाण के बिना सर्वशून्यता का भी अंगीकार संगतियुक्त नहीं होगा यह पहले () कहा जा चुका है।

- 15 निष्कर्ष, सम्भवित सकल बाधकों का निरसन एवं साधक प्रमाण के उपन्यास करने से सविकल्प प्रत्यक्ष की सत्ता निर्बाध सिद्ध होती है। अतः प्रमाण 'स्व-अर्थ (स्व-पर) के निश्चयात्मक ज्ञानरूप' होता है यह सिद्ध हो जाता है।

- 20 'स्वार्थ' शब्द का यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास भी ले सकते हैं — उस का अर्थ ऐसा होगा, 'स्व यानी अपना (ज्ञान का) ग्रहणयोग्य अर्थ' = स्वार्थ। तात्पर्य यह है कि व्यवहारकर्त्ता जनता की अपेक्षा जिस ज्ञान का जिस अर्थ के विषय में, जिस जिस रूप से विसंवाद न हो — उस ज्ञान का उस अर्थ के विषय में उस रूप से प्रामाण्य मान्य करना। अत एव धर्मिमात्र के ग्रहण में सभी ज्ञानों का प्रामाण्य अक्षुण्ण होने से धर्मि अंश में संशय भी प्रमाण हो सकता है। स्थाणुत्व-पुरुषत्व कोटिद्वय 25 में संशय रहने पर भी पुरोवर्त्ती दूरस्थ दृश्यमान पदार्थ में, वही संशयज्ञान 'प्रमाण' होता है।

सविकल्प के प्रामाण्य की स्थापना का इस विस्तृत प्रयास का साफल्य यह है कि बौद्धकल्पित जो प्रत्यक्षलक्षण है कि 'कल्पना विनिर्मुक्त अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष होता है' (प्र०वा०२/१२३) यह युक्तिसंगत नहीं है, किन्तु गलत ठहरता है।

[प्रमाणभेदों का निरूपण — न्यायदर्शन के प्रत्यक्षलक्षण की समीक्षा]

- 30 पृष्ठ १५१-३२ से 'प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही होता है' इस एकान्तवाद के खंडन का प्रारम्भ किया गया था वह यहाँ पुरा हुआ, सैद्धान्तिकमत से प्रत्यक्ष की सविकल्पता का समर्थन कर के 'स्व-अर्थनिश्चय' रूप प्रमाणज्ञान के सामान्यलक्षण की प्रतिष्ठा की गयी।

प्रमाणम् । अस्यार्थः— इन्द्रियं द्रव्यत्वकरणत्वनियताधिष्ठानत्वातीन्द्रियत्वे सत्यपरोक्षोपलब्धिजनकत्वात् चक्षुरादि मनःपर्यन्तम्, तस्यार्थः = परिच्छेद्यः इन्द्रियार्थः । “पृथिव्यादिगुणा रूपादयस्तदर्थाः” () इति तदर्थलक्षणत्वात् अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः तदर्थत्वं लक्षणं तदर्थत्वं चेन्द्रियार्थत्वम् ।

ननु ‘तदर्थाः’ इत्येतावदेवास्तु तदर्थलक्षणं पृथिव्यादि, गुणग्रहणं तु न कर्तव्यम् । न, तदर्थत्वेन लक्षणेन ये संगृहीतास्तेषां विभागार्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम् । तथा चोद्घोतकरः — “पृथिव्यादिग्रहणेन 5 त्रिविधं द्रव्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं गृह्यते गुणग्रहणेन सर्वो गुणोऽस्मदाद्युपलब्धिलक्षणप्राप्त आश्रितत्व-विशेषणत्वाभ्याम्” ^ () । एवं च पृथिव्यादिगुणग्रहणं लक्ष्यविभागसूत्रोपलक्षणार्थम् ।

अब प्रमाण के ‘प्रत्यक्ष एवं परोक्ष’ दो भेदों में से प्रथम ‘प्रत्यक्ष’ प्रमाण के लक्षणादि की चर्चा का प्रारम्भ हो रहा है। (इस चर्चा में प्रथम नैयायिक सम्मत प्रत्यक्षलक्षण का निरूपण होगा। तब बौद्धवादी नैयायिक सम्मत विकल्प की प्रमाणता पर आक्षेप करेंगे - नैयायिक वादी उस का प्रतिकार 10 करेगा। तब अन्य वादी न्यायदर्शन के प्रत्यक्ष लक्षण पर दोष लगायेंगे और नैयायिक वादी फलपक्ष लेकर उस का निरसन करेगा। फिर नैयायिक विन्ध्यवासी के एवं जैमिनीयसूत्रकारप्रदर्शित प्रत्यक्ष के लक्षणों की आलोचना करेगा। उस के बाद सिद्धान्तवादी की ओर से न्यायसूत्रप्रदर्शित प्रत्यक्षलक्षण का निरसन आयेगा — इस में प्रासङ्गिकरूप से इन्द्रियों की प्राप्यकारिता — अप्राप्यकारिता एवं अन्धकार की भावअभावरूपता पर चर्चा आयेगी। फिर जैनमतानुसार प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण होगा। उस 15 के बाद नास्तिकवादी अनुमान के प्रामाण्य पर आक्षेप करेगा उस के सामने बौद्ध वादी उस का खंडन कर दिखायेगा। फिर अक्षपादसंमत अनुमान की अनेकविध व्याख्या और अनुमान के लक्षण का प्रदर्शन होगा। बौद्धमत के अनुमान का लक्षण दिखा कर नैयायिक के अनुमानलक्षण का विघटन किया जायेगा। बौद्धमत की और से मीमांसकसंमत अनुमान की चर्चा होगी। अन्त में जैनमतानुसार अनुमान का लक्षण प्रदर्शन होगा।) 20

[इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष-नैयायिक]

नैयायिक वादिवृंद यहाँ आगे आकर घोषणा करता है — बौद्धमतप्रदर्शित निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता मत स्वीकारो, हम जो प्रत्यक्ष लक्षण कहते हैं — ‘इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य अव्यपदेश्य अव्यभिचारी व्यवसायस्वरूप ज्ञान प्रत्यक्ष है’ — इस को स्वीकारो। इस लक्षण का भावार्थः :- चक्षु से ले कर मन तक (चक्षु, श्रोत्र-घ्राण-रसना-स्पर्शन एवं मन) ये छ इन्द्रियाँ हैं क्योंकि द्रव्यत्व-करणत्व-नियताधिष्ठानत्व- 25 अतीन्द्रियत्व के साथ अपरोक्ष उपलम्भ के जनक हैं। उन से विज्ञेय जो अर्थ यानी विषय हैं उन को ‘इन्द्रियार्थ’ कहते हैं। (नैयायिक मत में इन्द्रियाँ द्रव्यात्मक ही होती है, वे प्रत्यक्ष की करण हैं यानी साधकतम हैं, प्रत्येक का इस शरीर में नियत स्थान हैं जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का कर्णशष्कुली इत्यादि, वे इन्द्रियाँ इन्द्रियगोचर नहीं है मतलब प्रत्यक्षग्राह्य नहीं होती। ऐसी इन्द्रियों से ही स्वविषयों की

▲. “पृथिव्यादिग्रहणेन पृथिव्यपतेजांसि बाह्यकरणग्राह्याणि अपदिश्यन्ते, गुणग्रहणेन च सर्व आश्रितो गुणः, इति संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-स्नेह-वेग-कर्म-सामान्यविशेषाः अनाश्रितश्च समवायस्तद्धर्मत्वाद् गुण इति” - न्यायवार्तिके पृ.७२ पं. २१/२८ - इति भू०सम्पादकटीप्पण्याम् ।

- नन्वेवमपि रूपादिग्रहणं व्यर्थम् गुणग्रहणेन संगृहीतत्वात्। न, विशेषलक्षणप्रतिपादनार्थत्वात्। तथा च प्रतिपादितम्— पृथिव्यादिगुणस्य सतश्चक्षुर्ग्राह्यत्वमेव यस्य तद् रूपम् 'चक्षुर्ग्राह्यं यत् तद् रूपम्' इत्यभिधीयमाने घटादावतिप्रसक्तिः, तन्निवृत्त्यर्थमवधारणम्। तथापि रूपत्वेऽतिप्रसङ्गात्, तन्निवृत्त्यर्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम् एवं रसादिष्वपि। 'एकादिव्यवहारहेतुः संख्या' (प्रशस्त. भा. पृ.१११ पं.३)
- 5 इत्यादिविशेषलक्षणं वैशेषिकमतप्रसिद्धं सर्वत्र दृष्टव्यम्। नन्वेवं रूपादीनामपि विशेषलक्षणं न वाच्यम् तत्रैव प्रसिद्धत्वात्। न, अविप्रतिपत्तिज्ञापनार्थत्वात्। रूपादयो हि बहुभिर्विषयत्वेन सम्प्रतिपन्ना इति पञ्चानामपि लक्षणाभिधानम्। पुरुषस्य चैतेऽतिशयेनासक्तिहेतवः। एतावत्त्वत्रोपयुज्यते इन्द्रियविषयभूतोऽर्थः

- अपरोक्षानुभूति उत्पन्न होती हैं।) इस मत में 'अर्थ' का स्वरूप निर्देश करते हुए यही कहा गया है कि पृथिवी आदि तथा उन के रूपादि गुण ही (इन्द्रियों के) अर्थ यानी विषय हैं। वहाँ 'अर्थ' शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया है और 'तदर्थत्व' यानी 'इन्द्रियार्थत्व' यही अर्थ का लक्षण समझना।

- 10 प्रश्न :- 'तदर्थाः' इस लक्षणकथन के बाद 'पृथिव्यादि गुणाः' ऐसा विशेष कथन करने की क्या आवश्यकता ?

- उत्तर :- 'तदर्थत्व' लक्षण से जिन को संगृहीत किया गया है उन के विभाग को दिखाने के लिये 'पृथिव्यादि गुणाः' ऐसा कथन जरूरी है। उद्धोतकर ने भी कहा है — 'पृथिव्यादि' शब्द से उपलब्धियोग्य तीन द्रव्यों (पृथ्वी-जल-तेज) का निर्देश है। 'गुण' शब्द से हमलोगों के लिये उपलब्धि योग्य, आश्रित या विशेषण स्वरूप सभी गुण (संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-स्नेह-वेग-क्रिया-जाति-विशेष से आश्रित गुण और विशेषणरूप से समवाय सूचित किये गये हैं। (क्रिया-जाति-विशेष और समवाय ये चार द्रव्य के धर्म होने से यहाँ 'गुण' शब्द से परिभाषित हैं।) इस प्रकार, लक्ष्य पदार्थों के विभागसूत्र का निर्देश 'पृथिव्यादि गुणाः' इस कथन से हुआ है।

- 20 [रूपादिउल्लेख की व्यर्थता का निरसन]

- पूर्वपक्षी :- फिर भी 'रूपादयस्तदर्थाः' इस में रूपादि का ग्रहण निरर्थक है। 'पृथिव्यादि गुणाः' इस में 'गुण' शब्द से उन का ग्रहण हो जाता है।

- उत्तरपक्षी :- नहीं, रूपादि का विशेषलक्षण सूचित करने हेतु 'रूपादि' ग्रहण सार्थक है। ऐसा कहा गया है — पृथ्वी आदि (जल और तेज) द्रव्यों का गुण होते हुये जो 'चक्षु से ही ग्राह्य' होता है वही 'रूप' है। इस के बदले यदि ऐसा लक्षण कहा जाय कि जो 'चक्षु से ग्राह्य होता है वही रूप है' तो घटादि द्रव्य भी चक्षु से ग्राह्य होने से उन में अतिव्याप्ति दोष होगा, उस को हठाने के लिये 'एव' यानी अवधारण (चक्षु से ही ग्राह्य) किया गया है। घटादि द्रव्य स्पर्शनिन्द्रिय से भी ग्राह्य होने से सिर्फ चक्षु से ही ग्राह्य हो ऐसा नहीं है। यद्यपि अवधारण करने से घटादि में अतिव्याप्ति का वारण करने पर भी रूपत्व जाति सिर्फ चक्षु से ही ग्राह्य होने से पुनः रूप के लक्षण की रूपत्व में अतिव्याप्ति होगी, उस के वारण के लिये 'पृथिव्यादि गुणाः' यहाँ 'गुण' शब्दप्रयोग किया है, रूपत्व तो जाति है गुण नहीं है। इस प्रकार रसादि गुणों के लक्षणों में भी अतिव्याप्ति दोष का वारण समझ लेना। 'एक' इत्यादिव्यवहार का हेतु संख्या है' इत्यादि जो विशेष लक्षण प्रशस्तपादभाष्यादि

अर्थशब्देनाभिप्रेतः नार्थमात्रम्। तेन संनिकर्षः = प्रत्यासत्तेरिन्द्रियस्य प्राप्तिः। तस्य च व्यवहितार्थानुपलब्ध्या सद्भावः सूत्रकृता प्रतिपादितः। तत्सद्भावे च सिद्धे पारिशेष्यात् तत्संयोगादिकल्पना।

परिशेषश्चेन्द्रियेण सार्धं द्रव्यस्य ^१संयोग एव युतसिद्धत्वात्। गुणादिनां द्रव्यसमवेतानां ^२संयुक्तसमवाय एव अद्रव्यत्वे सति अत्र समवायात्। तत्समवेतेषु ^३संयुक्तसमवेतसमवाय एव अन्यस्याऽसम्भवात् प्राप्तेश्च प्रसाधितत्वात्। शब्दे ^४समवाय एव आकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थापितत्वात् शब्दस्य च गुणभावात् गुणत्वेन 5

वैशेषिकसम्प्रदाय के ग्रन्थों में कहा गया है वह यहाँ भी सर्वत्र समझ लेना।

पूर्वपक्षी :- ऐसे तो रूपादि के विशेष लक्षणों का भी यहाँ सूचन करने की जरूर नहीं थी, वैशेषिकग्रन्थों में से ही उन को समझ लेंगे।

उत्तरपक्षी :- नहीं, रूपादि का यहाँ लक्षण यह दिखाने के लिये कहा है कि उन में अन्य किसी को विवाद नहीं है। बहुत से दार्शनिकों ने रूपादि को 'विषय' के रूप में निर्विवाद स्वीकार किया है अत एव उन पाँच के लक्षण यहाँ सूचित किये हैं। इन पाँच को विषय इस लिये कहा है कि आत्मा को वे अत्यन्त मूढ बनाते हैं, आत्मा के लिये ये अत्यन्त आसक्ति के निमित्त हैं। (इतना प्रासंगिक कथन है।) प्रस्तुत में उपयोगी बात इतनी ही है कि 'तदर्थाः' इस में अर्थशब्द से सिर्फ इन्द्रियविषयभूत अर्थ ही विवक्षित है न कि समस्त अर्थगण। 10

[संनिकर्ष के छः प्रकार]

इन्द्रियविषय के साथ संनिकर्ष (जिस का सूत्रोक्त लक्षण में समावेश है,) का मतलब है प्रत्यासत्ति (नैकट्य) से इन्द्रिय की प्राप्ति (संयोग अथवा समवायादि सम्बन्ध)। 'व्यवहित (अन्तरित) अर्थ की प्रत्यक्षता नहीं होती' इस तथ्य के बल पर न्यायसूत्रकार ने संनिकर्ष के अस्तित्व को सूचित किया है और वह सिद्ध भी है किन्तु वह संनिकर्ष किस प्रकार का है यह यद्यपि नहीं कहा किन्तु तादात्म्यादि के न घटने पर परिशेषरूप से संयोगादि छ प्रकार संनिकर्ष के सिद्ध होते हैं। परिशेषरूप से सिद्ध होने वाले वे निम्नोक्त प्रकार हैं - 20

- (१) न्यायमत में इन्द्रिय द्रव्यात्मक है और पृथ्वी आदि द्रव्य के साथ उन का 'संयोग' ही संनिकर्ष बनेगा क्योंकि जो युतसिद्ध यानी पृथक् पृथक् द्रव्य होते हैं उन में संयोग सम्बन्ध सुघटित है।
- (२) द्रव्य में गुण का समवाय सम्बन्ध होता है और द्रव्य (विषय) इन्द्रिय से संयुक्त होता है इस लिये इन्द्रिय का गुणों के साथ 'संयुक्त समवाय' संनिकर्ष बनेगा। हालाँकि अवयव द्रव्य में अवयवी द्रव्य का भी समवाय होता है किन्तु उस के साथ संयोग के बदले संयुक्त समवाय संनिकर्ष मानने में गौरवादि दोष है अतः जो द्रव्यात्मक न हो उस का यानी गुण (क्रिया-जाति) का द्रव्य में जो समवाय है उसी की यहाँ विवक्षा है। 25
- (३) गुणों में सत्तादि जातियों का समवाय होता है और इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में गुण समवेत होते हैं अतः इन्द्रियों का गुणनिष्ठ जातियों के साथ 'संयुक्त समवेत समवाय' संनिकर्ष बनेगा। यह मानना ही पडेगा, क्योंकि अन्य कोई सम्बन्ध जमता नहीं है और गुणनिष्ठ जातियों के प्रत्यक्ष होने से कोई न कोई संनिकर्ष मानना अनिवार्य है। 30

चाकाशलिङ्गत्वादाकाशसमवायित्वं निश्चितमिति समवाय एवेत्युक्तम्। शब्दत्वे ५समवेतसमवाय एव परिशेषात्। समवायाभावयोश्च ६विशेषण-विशेष्यभाव एव परिशेषात्।

लक्षणस्य च ७त्रैविध्यात् ८ कथमेतल्लक्षणं व्यवच्छिनत्ति इत्यन्यव्यवच्छेदार्थमिन्द्रियार्थसंनिकर्षः कारणमित्यभिधीयते। कारणत्वेऽप्यसम्भविदोषाशङ्कापरिजिहीर्षयाऽन्याननुयायि कारणवचनं न त्वन्याननुयायिकारणनिवृत्तिः एवंभूतस्य इन्द्रियार्थसंनिकर्षस्यैव कारणत्वाभिधानम् न त्वन्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धस्य तस्याऽव्यापकत्वात् ९ अव्यापकत्वं तु सुखादिज्ञानोत्पत्तावसम्भवात्।

(४) शब्द आकाश का गुण है और श्रोत्रेन्द्रिय आकाश रूप है अतः श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ समवाय ही संनिकर्ष बनेगा। न्यायमत में शब्द को आकाश का गुण ही माना है, गुण होने से उस के समवायिकारणरूप में आकाशद्रव्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार वह आकाशसमवेत होने से यहाँ 'समवाय' संनिकर्ष ही निश्चित होगा।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय में समवेत शब्द होता है और शब्द में शब्दत्वादि जातियों का समवाय होता है अतः परिशेषरूप से श्रोत्रेन्द्रिय का शब्दत्व जाति के साथ 'समवेतसमवाय' ही संनिकर्ष बन सकता है।

(६) इन्द्रिय से समवाय या अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तब संयोग या समवाय वहाँ संनिकर्ष के रूप में उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि समवाय या अभाव की वृत्ति समवाय से नहीं होती। वे दोनों अपने आश्रय में (यानी विशेष्य में) शुद्ध विशेषणरूप से ही रहते हैं अतः उन दोनों के साथ इन्द्रियों का विशेषण-विशेष्यभाव (यानी विशेषणता अथवा दूसरा नाम स्वरूपसम्बन्ध) ही परिशेष रूप से संनिकर्ष होता है।

लक्षण के तीन प्रकार हैं — उन में से यहाँ व्यावर्तकत्व ही घटता है - तो कैसे यह लक्षण व्यवच्छेदक (= व्यावर्तक) होता है (यानी अलक्ष्य से लक्ष्य की पृथक् पहिचान प्रदर्शित करता है।) इस प्रश्न का भावार्थ यह है — यहाँ जो प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रियसंनिकर्ष का निरूपण किया वह किस प्रकार से (यानी किसका) व्यवच्छेद करता है यह प्रश्न हो सकता है — उस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष का इन्द्रियसंनिकर्ष के अलावा कोई कारण नहीं है, मतलब कि यहाँ अन्य वस्तु की कारणता का व्यवच्छेद कर के यह कहा जाता है कि इन्द्रियसंनिकर्ष ही प्रत्यक्ष का कारण है। इस प्रकार कारणात्मक लक्षण कहने पर भी लक्षण यदि असाधारणकारणरूप न हो तो उस की संगति का सम्भव नहीं रहेगा — इसलिये असम्भवि दोष की आशंका निवृत्त करने के लिये अन्य में न हो ऐसे असाधारण यानी अन्यसाधारण न हो ऐसे कारण का लक्षणरूप से निर्देश किया है। (इन्द्रियसंनिकर्ष अन्यसाधारण कारण नहीं है।) इस का मतलब यह नहीं है कि अन्यसाधारण हो ऐसे (मन-इन्द्रियसंयोगादि) कारण का व्यवच्छेद किया जाय। मतलब इतने से है कि जो अन्यसाधारण नहीं है ऐसा ही इन्द्रियार्थसंनिकर्ष

▲. १-इतरभेदज्ञापकम्, २-पदार्थतत्त्वम्, ३-व्यावर्तकम् इति त्रैविध्येन भवितव्यम्। ♦. कारणगर्भत्वेन कार्यगर्भत्वेन स्वरूपगर्भत्वेन च लक्षणस्य त्रैविध्यं न्यायगतलक्षणमीमांसायां प्रसिद्धम्। तद्यथा- कपालमयत्वादि, जलाहरणादि, कम्बुश्रीवत्त्वादि च यथाक्रमं कारणगर्भम् कार्यगर्भम् स्वरूपगर्भं च घटस्य लक्षणं भवितुमर्हति— इति भूतपूर्वसम्पादकयुगलमतम्।

अथ 'निकर्ष' ग्रहणमेवास्तु 'सं' ग्रहणं व्यर्थम्। न, संशयादिज्ञाननिवृत्त्यर्थत्वात् 'सं'शब्दोपादानस्य। तथाहि— सम्यग् निकर्षः संनिकर्षः। सम्यक्त्वं तु तस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टफलजनकत्वेन। 'नैतत्, अव्यभिचारादिपदोपादानवैयर्थ्यप्रसक्तेस्तदर्थस्य 'सं'शब्दोपादानादेव लब्धत्वाद्'। न, अव्यभिचारादि- विशेषणोपादानमन्तरेण तत्सम्यक्त्वस्य ज्ञातुमशक्तेः। कारणस्य ह्यतीन्द्रियस्य सम्यक्त्वमसम्यक्त्वं वा सम्यगसम्यक्कार्यद्वारेणैव निश्चीयते इति तत्फलविशेषणार्थमव्यभिचार्यादिपदोपादानं कारणसाधुत्वावगमाय 5 न व्यर्थम्। नन्वेवमपि 'सं'शब्दोपादानानर्थक्यम् अव्यभिचारादिपदोपादानादेव तत्फलस्य विशेषितत्वात्। न, 'सं'ग्रहणस्य संनिकर्षषट्कप्रतिपादनार्थत्वाद्, एतदेव संनिकर्षषट्कं ज्ञानोत्पादे समर्थं कारणम् न संयुक्तसंयोगादिकमिति 'सं'ग्रहणाल्लभ्यते।

यहाँ कारणविधया लक्षण रूप से प्रदर्शित है। मन-इन्द्रिय का सम्बन्ध भी यहाँ अन्यसाधारण कारण है लेकिन लक्षण में वह कारणविधया विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह कारणरूप से भी सभी प्रत्यक्ष 10 में व्यापक नहीं है। उदा० सुखादिसाक्षात्कार सिर्फ मन-आत्मा संयोग से ही उत्पन्न होता है उस में इन्द्रिय-मन संयोग कारण नहीं होता।

['संनिकर्ष' शब्द में 'सं' उपसर्गग्रहण व्यर्थता का निरसन]

'संनिकर्ष' शब्द में 'सं' उपसर्ग का प्रयोग संशयादिज्ञानों की व्यावृत्ति के लिये किया गया है, फोकट ही 'सं' का प्रयोग नहीं किया है। अकेले 'निकर्ष' शब्द से संशयादि की निवृत्ति अशक्य है। 15 कैसे यह देखिये — संनिकर्ष यानी सम्यक् निकर्ष। निकर्ष का सम्यक्पन क्या है — अव्यभिचारी आदि विशेषणधर्मों से विशिष्ट फल की जनकता, जो 'सं' से सूचित है।

पूर्वपक्षी :- आप की बात अयोग्य है। यदि 'सं' शब्द से ही अव्यभिचारि आदि विशेषणों से विशिष्ट फल प्राप्त हो गया तो फिर सूत्रमें 'अव्यभिचारि' आदि पदों का प्रयोग बेकार हो जायेगा।

उत्तरपक्षी :- नहीं, 'सं' शब्द से जो 'सम्यक्त्व' सूचित होता है वह तभी मालूम पड़ेगा जब 20 'अव्यभिचारि' आदि पदों का प्रयोग होगा। उन के बिना सम्यक्त्व का स्वरूप जानना अशक्य बना रहेगा। इन्द्रियसंसर्ग को कारण कहा है किन्तु 'कारण' रूप से वह अतीन्द्रिय होने से उस का सम्यक्त्व या असम्यक्त्व तभी निश्चित होगा जब उस का कार्य सम्यक् है या असम्यक् — उस का पता चलेगा। (यदि रोगशमनादि कार्य निर्धारित स्वरूप से सम्यक्स्वरूप से निष्पन्न होगा तो 'कारण' का सम्यक्त्व ज्ञात होगा — अन्यथा असम्यक्त्व प्रगट होगा।) इस प्रकार अव्यभिचारि आदि विशेषणों की सफलता 25 दिखाने के द्वारा 'कारण' के सम्यक्त्व को प्रदर्शित करने के लिये, 'कारण' की अमोघता का उपदर्शन कराने के लिये अव्यभिचारिआदि पदप्रयोग सार्थक है, व्यर्थ नहीं है।

पूर्वपक्षी :- तब तो 'सं' का प्रयोग निष्फल हुआ। 'सं' शब्द से आप जो कारणसम्यक्त्व सूचित करना चाहते हैं वह तो अव्यभिचारि आदि पदप्रयोग के द्वारा फल को विशेषित करने से ही सिद्ध हो गया। 30

उत्तरपक्ष :- नहीं, संनिकर्ष के छ भेदों का सूचन करना यह भी 'सं' के प्रयोग का उद्देश है। हम यह दिखाना चाहते हैं कि ये जो छ संनिकर्ष हैं वे ही प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति के सक्षम कारण

नन्वेवमपीन्द्रियग्रहणानर्थक्यम् । न, अनुमानव्यवच्छेदार्थत्वात् । तथाहि - 'अर्थसंनिकर्षादुत्पन्नम्' इत्यभिधीयमानेऽनुमाने प्रसङ्ग इतीन्द्रियग्रहणमिन्द्रियविषयेऽर्थे संनिकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमनुमानादिभ्यो व्यवच्छिनत्ति, न चानुमानिकमिन्द्रियसम्बन्धादिन्द्रियविषये समुत्पद्यत इति । 'तथाप्यर्थग्रहणमनर्थकम्' इति चेत् ? न, स्मृतिफलसंनिकर्षनिवृत्त्यर्थत्वात् । तथाहि - आत्माऽन्तःकरणसम्बन्धात् स्मृतिरुपजायते इति तज्जनकस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्याद् असत्यर्थग्रहणे । न चेन्द्रियार्थसंनिकर्षजा स्मृतिः अतीतस्यापि स्मर्यमाणत्वात् तस्य च तदाऽसत्त्वात् । उत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापनार्थम् । ज्ञानग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थम् ।

हैं, स्वमतिकल्पित संयुक्तसंयोगादि कोई सच्चा कारण नहीं है, 'सं' शब्द के प्रयोग से इस सूचना का लाभ होता है ।

[सं - इन्द्रिय-अर्थ इत्यादि पदों की सार्थकता]

10 **पूर्वपक्षी :-** 'सं' का ग्रहण सार्थक बताने पर भी 'इन्द्रियार्थ संनिकर्ष' इस प्रयोग में इन्द्रियशब्दप्रयोग व्यर्थ है । संनिकर्ष के छ प्रकार इन्द्रिय को शामिल कर के ही दिखाये गये हैं । तब पृथक् 'इन्द्रिय' शब्दप्रयोग क्यों ?

उत्तरपक्षी :- नहीं, अनुमान प्रमाण में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिये वह सार्थक है । सिर्फ 'अर्थसंनिकर्ष से उत्पन्न' इतना ही कहेंगे तो अनुमान भी परम्परया अर्थसंनिकर्ष से उत्पन्न होने के कारण उस में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी, उस को रोकने के लिये 'इन्द्रिय' शब्द प्रयुक्त है । तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रिय के विषयभूत अर्थ में संनिकर्ष के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष है' ऐसा लक्षण अपने लक्ष्य प्रत्यक्ष को अनुमानादि प्रमाण से पृथक् सिद्ध कर देता है । कारण, अनुमान ज्ञान इन्द्रियविषयभूत अर्थ में इन्द्रिय के संनिकर्ष से उत्पन्न नहीं होता ।

पूर्वपक्षी :- तो 'अर्थ' शब्दप्रयोग निरर्थक नहीं है क्या ?

20 **उत्तरपक्षी :-** नहीं, स्मृतिरूप कार्य के जनक मन और आत्मा का संनिकर्ष यहाँ नहीं लेना है (मन एक इन्द्रिय ही है) । उस को बाद करने के लिये 'इन्द्रियार्थ' यहाँ अर्थ शब्दप्रयोग जरूरी है । देखिये - स्मृति रूप कार्य मन एवं आत्मा के संयोग संनिकर्ष से निष्पन्न होता है । अतः वह (तज्जनकस्य) इं० संनिकर्ष जनक है जिस का (ऐसा बहुव्रीही समास करने से) ऐसे स्मृतिज्ञान में भी इन्द्रियसंनिकर्षजन्यत्व होने से प्रत्यक्षत्व प्रसक्त होगा यदि लक्षण में 'अर्थ' शब्द छोड़ दिया जाय । स्मृति तो अतीत को 25 भी विषय करती है अत एव वह इन्द्रिय और (अतीत) अर्थ के संनिकर्ष से जन्य नहीं होती, क्योंकि उस काल में वह अतीत अर्थ असत् है । अत एव स्मृति प्रत्यक्षरूप नहीं है ।

यद्यपि 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न' ऐसा कहने के बदले 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के निमित्त से होनेवाला' ऐसा कहे तो भी आपाततः कोई हानि नहीं है । फिर भी वहाँ शंका होगी कि प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष, घट के प्रति दीपक की तरह व्यञ्जक है या घट के प्रति दण्डादि की तरह कारक है ? 30 क्योंकि निमित्त शब्द से तो व्यञ्जक भी लिया जा सकता है । इस शंका को निर्मूल कर के, इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की कारकता स्थापित करने हेतु 'उत्पन्न' शब्द का प्रयोग समुचित है । लक्षणसूत्र में 'ज्ञान' शब्द न

न च तुल्यकारणजन्यत्वात् ज्ञान-सुखादीनामेकत्वमिति तन्नित्यवृत्त्यर्थं ज्ञानग्रहणं न कार्यम्, तुल्यकारणजन्यत्वस्याऽसिद्धत्वात्। वक्ष्यति च चतुर्थेऽध्याये 'एकयोनयश्च पाकजाः' (वात्स्या.भा. ४-१-५)। न च तेषामेकत्वमिति व्यभिचारः। प्रत्यक्षविरोधश्च सुप्रसिद्ध एव। तथाहि— आह्लादादिस्वभावाः सुखादयोऽनुभूयन्ते ग्राह्यतया च, ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयाऽनुभूयते इति ज्ञान-सुखाद्योर्भेदोऽध्यक्षसिद्ध एव। विशिष्टादृष्टकारणजन्यत्वात् सुखादेः सुखादिजात्युत्पाद्यत्वाच्च न भिन्नहेतुजन्यत्वमसिद्धं ज्ञान-सुखाद्योः, 5 अतो बोधजनकस्य ज्ञापनार्थं युक्तं ज्ञानग्रहणम्।

अव्यपदेश्य-ग्रहणमप्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थम्। व्यपदेशः = शब्दः, तेन इन्द्रियार्थसंनिकर्षणं चोत्पादितमध्यक्षम् — शाब्देऽन्तर्भावात् — स्यात् तन्नित्यवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदोपादानम्[▲]। नन्विन्द्रियविषये शब्दस्य सामान्यविषयत्वेन

रखे तो सुखादि भी इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न है उस में प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति की निवृत्ति करने के लिये 'ज्ञान' शब्द जरूरी है। 10

[ज्ञान-सुखादि के एकत्व का निरसन]

यदि कहा जाय — 'सुखदुःखादि में अतिव्याप्ति टालने के लिये ज्ञानपदोपादान निष्फल है क्योंकि सुखादि ज्ञान से भिन्न नहीं होते, आत्मा-मन-इन्द्रियादि समानकारणसामग्रीजन्य होने से ज्ञान और सुखादि का एकत्व सिद्ध है।' — तो यह ठीक नहीं है, ज्ञान-सुखादि की कारणसामग्री समान होने की बात असिद्ध है। न्यायसूत्र चौथे अध्याय के भाष्यादि में कहा गया है कि 'पाकज श्यामरूपादि एकयोनिक (एक अग्निसंयोगजन्य) होते हैं।' फिर भी उन में एकत्व नहीं होता। अतः एकत्व की सिद्धि में तुल्यकारणजन्यत्व असमर्थ है। यदि एकयोनिक रूपादि में भेदसिद्धि के लिये कुछ कारणभेद मानेंगे तो वह यहाँ ज्ञान-सुखादि के लिये भी मान सकते हैं। ज्ञान और सुखादि का एकत्व मानने में प्रत्यक्षविरोध भी सुगम है। देखिये — सुख का अनुभव आह्लादमय एवं ग्राह्यरूप होता है, दुःख का अनुभव कटु एवं ग्राह्यरूप से होता है, जब कि ज्ञान का अनुभव सिर्फ ग्राहक (वेदन) रूप ही होता है जो कि तत्तदर्थ के बोधस्वरूप है। इस प्रकार, ज्ञान और सुखादि का भेद प्रत्यक्षसिद्ध ही है। ज्ञान सामग्री के उपरांत विशिष्ट अदृष्ट रूप कारण से सुखादि का उद्भव होता है, तथा सुखादि सुखादिजातिवाले कारण से और ज्ञान ज्ञानजातीय कारण से उत्पन्न होता है, अत एव सुखादि एवं ज्ञान में असमानहेतुजन्यत्व सिद्ध है, तुल्यकारणजन्यत्व पूर्णतया नहीं है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र में 'ज्ञान' पद रखा गया है जिससे यह सूचित हो कि यह बोधजनक स्वभाववाला है (जो कि सुखादि जनक से 15 भिन्न है।) 25

[प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में अव्यपदेश्य-पद की सार्थकता]

न्यायदर्शन के प्रत्यक्षसूत्र में जो 'अव्यपदेश्य' पद प्रयुक्त है उस से शब्द और इन्द्रिय उभयजन्य ज्ञान में संभविता अतिव्याप्ति का वारण किया गया है। व्यपदेश का अर्थ है शब्द, अव्यपदेश्य यानी शब्द से अजन्य। कुछ ऐसा ज्ञान होता है जो शब्द और इन्द्रियसंनिकर्ष दोनों से उत्पन्न होता है 30

▲. अव्यपदेश्यपद चर्चा वात्स्यायन भाष्य- न्यायवार्तिक- तात्पर्यटीका - न्यायमञ्जरीषु ग्रन्थेषु तत्कर्तृभिः बहुपल्लविता दृश्यते इति भूतपूर्व सम्पादकयुगलाभिप्रायः।

व्यापारासम्भवादिन्द्रियस्य च स्वलक्षणविषयत्वाद्भ्रान्तोभयोरेकविषयत्वमिति न तज्जन्यमेकं ज्ञानं सम्भवति । न, तयोर्भिन्नविषयत्वस्य 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु- पदार्थः' (न्याय सू.२-२-६५) इत्यत्र निषेत्स्यमानत्वात् तद्भावभावित्वाच्चोभयजन्यत्वं ज्ञानस्यावगतमेव । तथाहि— चक्षुर्गोशब्दव्यापारे सति 'अयं गौः' इति विशिष्टकाले ज्ञानमुपजायमानमुपलभ्यत एव तद्भावभावित्वेन चान्यत्रापि कार्यकारणभावो व्यवस्थाप्यते

5 तच्चात्रापि तुल्यमिति कथं नोभयजं ज्ञानम् ? न चान्तःकरणानधिष्ठितत्वदोषश्चक्षुः, तेनाधिष्ठानात्, शब्दस्य च प्रदीपवत् करणत्वात् । न च ग्राह्यत्वकाले शब्दस्य करणत्वमयुक्तम्, श्रोत्रस्यैव तदा करणभावात्, शब्दस्य तु तदा ग्राह्यत्वमेव गृहीतस्य चोत्तरकालमन्तःकरणाधिष्ठितचक्षुःसहायस्यार्थप्रतिपत्तौ व्यापार इति भवत्युभयजं 'गौः' इति ज्ञानम् ।

किन्तु उस का शाब्दबोध में अन्तर्भाव होता है, ऐसा जो कल्पित ज्ञान है वह यहाँ लक्ष्य नहीं है, 10 तब 'अव्यपदेश्य' शब्द के विरह में उस में होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये लक्षण में अव्यपदेश्य पद का प्रयोग सार्थक है ।

प्रश्न :- बौद्ध कहता है शब्द और इन्द्रिय का ज्ञेय विषय भिन्न भिन्न है । शब्द का विषय 'सामान्य' होता है और इन्द्रिय का गोचर स्वलक्षण होता है । इन्द्रिय गोचर स्वलक्षण में शब्द को चञ्चूपात का अधिकार ही नहीं है । अत एव शब्द एवं इन्द्रिय उभय का एक विषय न होने से 15 उभयजन्य एक (अध्यक्ष) ज्ञान असम्भवित ही है । (तो फिर अतिव्याप्ति का दोष ही कहाँ है ?)

समाधान :- ऐसा नहीं है । शब्द और इन्द्रिय की भिन्नविषयता का, न्यायसूत्रकार ने 'आकृति-व्यक्ति और जाति ये तीन (पद के वाच्य) पदार्थ होते हैं' इस अर्थवाले सूत्र (२-२-६५) से निषेध दर्शाया है । एवं शब्द-इन्द्रिय युगल के रहते हुए कुछ ऐसे ज्ञान पैदा होते हैं जो उस युगल के विरह में नहीं होते — इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से भी कोई कोई ज्ञान में उभयजन्यत्व मानना जरूरी 20 है । कैसे ? यह देखिये —

[इन्द्रिय-शब्दउभयजन्य ज्ञान का नमूना]

एक ओर गौ के प्रति चक्षुर्व्यापार हुआ और तभी किसीने 'गौ' शब्दप्रयोग किया, तब इन दोनों के साहचर्यवाले विशिष्टकाल में 'यह गाय है' ऐसा अनुभवसिद्ध ज्ञान निपजता है । वह उभय के होने पर निपजनेवाला है जो अन्वय-व्यतिरेकबल से सिद्ध है । उस के बल से अन्य स्थलों में भी 25 उभय का एक ज्ञान के प्रति कारण-कार्य भाव निश्चित होता है । यहाँ प्रस्तुत में भी वही स्थिति समानरूप से जब है तब उभयजन्य अध्यक्षज्ञान का स्वीकार क्यों न हो ?

आशंका :- शब्दव्यापारकाल में चक्षु का व्यापार होने पर भी उस काल में चक्षु अन्तःकरण (मन) से अधिष्ठित नहीं हो सकता ।

उत्तर :- नहीं, उस काल में चक्षुः अन्तःकरण से अधिष्ठित ही रहती है, साथ में शब्द भी 30 उस काल में प्रदीप की तरह करण बना रहता है, जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग करण बना रहता है । फलतः तत्कालीनज्ञान उभयजन्य होता है ।

आशंका :- शब्द तो उस काल में ग्राह्य यानी विषयविधा में रहता है तो उस को करण कैसे

न चास्य प्रमाणान्तरत्वं युक्तम् उभयविलक्षणत्वात्; शाब्देऽव्यपदेश्यविशेषणस्याभावात् प्रत्यक्षे च भावादस्य शाब्दत्वात्। न च 'शब्देनैव यज्जन्यते तच्छाब्दम्' इति शाब्दलक्षणे नियमः अपि च 'शब्देन यज्जनितं तच्छाब्दम्'। अस्ति च प्रकान्ते एतद्वृत्तिमिति कथं न शाब्दम् ? न चैतन्नास्ति न चाऽप्रमाणम् अव्यभिचारित्वादिविशेषणयोगात्। न चानुमानम् पक्षधर्मत्वाद्यभावात्। प्रत्यक्षमप्येतन्न भवति शब्देनाऽपि जन्यत्वात्। नाप्युपमानम् तल्लक्षणविरहात्। पारिशेष्याच्छाब्दम्। ननु शाब्दमपि न युक्तम् इन्द्रियेणापि 5 जनितत्वात्। न, शब्दस्यात्र प्राधान्यात्। प्राधान्यं च तस्य प्रभूतविषयापेक्षया। यतोऽसौ न क्वचिद् व्याहन्यते — तथा च प्रत्यपादि भाष्यकृता — 'यावदर्था वै नामधेयशब्दाः' (१-१-४ वा.भा.) इति। न त्वेवमिन्द्रियम् तस्य स्वर्गादौ प्रतिहन्यमानत्वात्। तस्मात् प्राधान्याच्छब्देनैव व्यपदेशः।

माना जाय ? करण तो श्रोत्रेन्द्रिय है।

उत्तर :- हाँ, उस काल में शब्द ग्राह्य होता है किन्तु बाद में गृहीत हो जाने पर, अन्तःकरणाधिष्ठित 10 चक्षुव्यापार के सहकार में वह स्वयं भी अर्थबोध में व्यापारकारक हो जाता है। इस प्रकार उन दोनों के संयुक्तव्यापार से 'गाय' ऐसा एक ज्ञान पैदा होने में कोई बाध नहीं है।

[इन्द्रिय-शब्दउभयजन्य ज्ञान भी शाब्दबोध ही है]

आशंका :- शब्द-इन्द्रियउभयजन्य 'यह गाय' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है तो शाब्द भी नहीं है, 15 दोनों से विलक्षण होने से उस को एक पृथक् ही प्रमाण मानना चाहिये।

उत्तर :- वह अयुक्त है। उभयजन्य ज्ञान का शाब्दप्रमाण में ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि शाब्दप्रमाण 20 के लक्षण में 'अव्यपदेश्य' पद का समावेश नहीं है, इसलिये शाब्दप्रमाण में से उस का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष लक्षण में 'अव्यपदेश्य' पद होने से प्रत्यक्ष से व्यवच्छिन्न इस उभयजन्य ज्ञान को शाब्दबोध मान सकते हैं। शाब्दप्रमाण के लिये ऐसा नियम नहीं है कि "शब्द से 'ही' जो ज्ञान उत्पन्न हो (न कि इन्द्रियादि से भी) वही शाब्द कहा जाय"। नियम सिर्फ इतना ही है कि शब्द 25 से जो उत्पन्न हो (साथ में इन्द्रिय से भी हो तो कोई हरकत नहीं) वह शाब्द है। प्रस्तुत उभयजन्य विवादास्पदज्ञान में (इन्द्रियजन्यत्व होने पर भी) शब्दजन्यत्व तो है ही, फिर क्यों उसे 'शाब्द' न कहा जाय ? 'शब्द और इन्द्रिय उभय जन्य कोई ज्ञान होता नहीं' ऐसा तो नहीं कह सकते। 'वह सर्वथा अप्रमाण होता है' ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण का जो 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्ट अर्थोपलब्धि जनक सामग्री प्रमाण है' (पृ०४९-१७) ऐसा लक्षण कहा गया है वह यहाँ भी संगत होता है। इस 30 उभयजन्य ज्ञान में किसी हेतु की पक्षधर्मतादि का अनुसंधान न होने से इसे 'अनुमान' नहीं कह सकते। शब्द भी इस का जनक होने से (अव्यपदेश्यपद से व्यवच्छेद हो जाने पर) इसे प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकते। उपमान प्रमाण का लक्षण यहाँ दिखता नहीं इस लिये 'उपमान' में भी इस का अन्तर्भाव नहीं है। आखिर जो बचा, परिशेषरूप शब्द प्रमाण में ही उस ('यह गाय' इस ज्ञान) का समावेश करना होगा। 30

आशंका :- किन्तु इसे (परिशेषन्याय से) शाब्द में मानना भी अयुक्त है क्योंकि इन्द्रियजन्य है।

उत्तर :- नहीं, इन्द्रिय का यहाँ कुछ महत्त्व नहीं, शब्द का ही महत्त्व है। प्रचुर विषयक्षेत्र की

- ‘व्यपदेशकर्मतापन्नज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यमिति विशेषणमिति केचित् प्रतिपन्नाः; तथाहि— इन्द्रियार्थ-
संनिकर्षादुपजातस्य ज्ञानस्य शब्देनाऽनभिधीयमानस्य प्रत्यक्षत्वम्’ — अयुक्तमेतत्, प्रदीपेन्द्रियसुवर्णादी-
नामभिधीयमानत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वाऽनिवृत्तेः। न च ज्ञानस्याभिधीयमानत्वे करणत्वव्याहतिः, शक्तिनिमित्तत्वात्
कारकशब्दस्य। न ह्यभिधीयमानार्थोऽन्यत्र तदैव परिच्छिति न विदधाति। न चायं न्यायो नैयायिकैर्नाभ्युपगतः
5 ‘प्रमेय(त)। च तुलाप्रामाण्यवत्’ (न्यायद. २-१-१६) इत्यत्र प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। फलविशेषणपक्षेऽ-
प्यभिधीयमानस्य स्वकारणव्यवच्छेदकत्वमस्त्येव।

‘शब्दब्रह्मनिवृत्त्यर्थमेतद्’ — इत्येतदप्ययुक्तम् अप्रकृतत्वात्। शब्दप्रमेयत्वेऽपीन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वं

- अपेक्षा से शब्द का महत्त्व है न कि इन्द्रिय का। इन्द्रिय का विषयक्षेत्र सिर्फ संनिकृष्ट एवं स्व-स्व
योग्य अर्थ ही है जब कि शब्द का विषयक्षेत्र तो पूरा अर्थविश्व है। कहीं भी शब्द का प्रचार रखलित
10 नहीं है। भाष्यकारने ऐसा ही कहा है — ‘नामात्मक शब्द अर्थमात्र से संलग्न हैं।’ शब्द स्वर्गादि
अतीन्द्रिय अर्थों का बोध करा सकता है, इन्द्रिय तो बेचारी वहाँ चुप हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय
एवं शब्द उभय से जन्य होने पर भी उस ज्ञान को शब्द की महत्ता के जरिये शाब्दप्रमाण से ही
निर्दिष्ट किया जाता है।

[व्यपदेशकर्मभूतज्ञान का व्यवच्छेद अशक्य]

- 15 कुछ लोगों का यह कहना है :- ‘अव्यपदेश्य’ ऐसा विशेषण, व्यपदेश के कर्मभूत ज्ञान का व्यवच्छेद
करने के लिये है। कैसे यह देखिये :- इन्द्रिय-विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न होने पर भी जो ज्ञान
शब्द से अभिहित (= उल्लिख्यमान) न हो उसे प्रत्यक्ष मानना’ — यह अयुक्त है, प्रदीप, इन्द्रिय,
सुवर्णादि पदार्थ भी शब्द से उल्लिखित होते हैं तो क्या वे प्रत्यक्ष नहीं होते ? यदि कहें कि —
‘ज्ञान की शब्द से उल्लिख्यमान दशा में वह ‘कर्म’ कारक बनेगा और तब उस के ‘करणत्व’ का
20 भंग होगा।’ तो यह भय निष्कारण है, क्योंकि कारक तो विवक्षा से होता है और विवक्षा शक्तिमूलक
होती है, अतः कर्मत्वशक्ति से वह ‘कर्म’ कारक बनता है तो करणत्व शक्ति से उस का ‘करण’ कारक
(परिच्छेदकारकत्व) होने में कोई बाध नहीं होता। शब्द से उल्लिख्यमान अर्थ जिस काल में शब्द
का कर्म बनता है उसी काल में अन्य को प्रत्यक्षादि में ‘करण’ बन कर परिच्छेद (बोध) भी उत्पन्न
करता है — इस में कोई विरोध नहीं है। नैयायिकों को यह तथ्य अमान्य भी नहीं है। न्यायसूत्र
25 में तुला के प्रामाण्य की तरह प्रमेयता भी मान्य की गयी है। तुला जैसे अन्य द्रव्य के भार के
परिच्छेद में प्रमाण बनती है वही तुला अन्य तुला में आरूढ हो कर प्रमेय भी बनती है। सारांश,
शब्द से उल्लिख्यमान होने मात्र से उस को प्रत्यक्षक्षेत्र से बहिष्कृत करना ठीक नहीं है किन्तु जब
शब्द से उस का निरूपण करना इष्ट हो तब वह शब्दवाच्य ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं किन्तु शाब्द होता
है, अतः उस के व्यवच्छेद के लिये ‘अव्यपदेश्य’ ऐसा विशेषण सार्थक बनेगा। मतलब, ज्ञानरूपफल
30 के विशेषण के रूप में अव्यपदेश्यपद मानने पर जो उल्लिख्यमान ज्ञान का स्वकारणव्यवच्छेदकत्व है
वह अक्षुण्ण रहेगा। स्वकारणव्यवच्छेदकत्व यानी शाब्दबोधकारणभूत शब्द (व्यपदेश) का इस ज्ञान के
कारणों में से बहिष्कार।

ज्ञानस्य सम्भवति किमनेन विशेषणेन कृत्यम् ? तथाहि— इन्द्रियविषयभूतेन रूपेण शब्देन वा जनितां ज्ञानमिति कोऽत्र प्रत्यक्षत्वे विशेषः ? सर्वथा लक्षणं युक्तिमदेव, विशेषणं चातिव्याप्त्यादिदोषनिवृत्त्यर्थं लक्षणे उपादेयम् न परपक्षव्युदासार्थम्।

इन्द्रियसंनिकर्षादुपजातं शब्देन चाऽजनितां व्यभिचारिज्ञानं न प्रत्यक्षव्यवच्छेदकम् — इत्यव्यभिचारि-पदोपादानम्। इन्द्रियजत्वं च मरीचिषूदकज्ञानस्य तद्भावभावित्वेनावसीयते। मरीच्यालम्बनत्वमपि तत् 5 एवावसीयते मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तेश्च। पूर्वानुभूतोदकविषयत्वे तु तद्देशे(?)शे ए)व प्रवृत्तिर्भवेद् न मरीचिदेशे। 'भ्रान्तत्वात् न तद्देशे प्रवर्तत इति चेत् ? य एवाऽभ्रान्तः स उदकस्मरणानुदकदेशे एव प्रवर्तते अयं तु भ्रान्त इति।' — अयुक्तमेतद् भ्रान्तिनिमित्ताभावात्। 'इन्द्रियव्यापार एव तन्निमित्त' इति चेत् ? अयुक्तमेतत्, तत् एवेन्द्रियजन्यत्वसिद्धेः। न च स्मृतिर्बाह्येन्द्रियजा दृष्टा, इदं तु बाह्येन्द्रियजमिति न स्मृतिः। ननु कथमुदकज्ञानस्यालम्बनं मरीचयोऽप्रतिभासमानाः ? उक्तमेतत् तेषु सत्सु भावादस्य। ननु 10 यद्येतद् अनुदके उदकप्रतिभासं भवति अन्यत्र किमिति न भवेत् ? न भवत्यन्यस्योदकेन सारूप्याभावात्।

[अव्यपदेश्य पद द्वारा शब्दब्रह्मवादनिरसन अनुचित]

कुछ लोग मानते हैं — यह 'अव्यपदेश्य' पद शब्दब्रह्म में अतिव्याप्ति दूर करने के लिये, अथवा शब्दब्रह्म की मान्यता का अपहरण करने के लिये प्रयुक्त है। — किन्तु यह मान्यता अयुक्त है क्योंकि न्यायदर्शन के प्रतिपादन में वैयाकरणों के शब्दब्रह्म के निरसन का यहाँ इस सूत्र के संदर्भ में कोई 15 अवसर ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियविषयसंनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष होता है भले ही वह शब्द से प्रमेय हो — फिर 'अव्यपदेश्य' विशेषण का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। ज्ञान चाहे इन्द्रिय के विषयभूत रूप या शब्द से उत्पन्न हो दोनों ही विना भेदभाव प्रत्यक्ष होते हैं, फिर किसके लिये 'अव्यपदेश्य' पद रखना ? लक्षण तो हरहमेश पूर्णतया युक्तिसंगत ही होना चाहिये। एवं विशेषण भी लक्षण में संभवितां अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों के निराकरण के लिये ही प्रयुक्त 20 करना चाहिये, न कि अन्य किसी दर्शन की मान्यता का खंडन करने के लिये। सारांश, वैयाकरणों के शब्दब्रह्मवाद के निरसन का अभिप्राय अव्यपदेश्यपद से फलित करना युक्तिबाह्य है।

['अव्यभिचारि' विशेषण की सार्थकता]

इन्द्रियविषयसंनिकर्ष से उत्पन्न हो, शब्दजन्य न हो ऐसा तो व्यभिचारिज्ञान (यानी मिथ्याज्ञान) भी होता है किन्तु वह प्रत्यक्ष का व्यवच्छेदक (यानी प्रत्यक्ष की सीमा में अन्तर्गत) नहीं होता। यदि 25 'अव्यभिचारि' पद लक्षण में न रहे तो इस में अतिव्याप्ति होगी, उस को दूर करने के लिये 'अव्यभिचारि' पद का निवेश सार्थक है।

यहाँ विवाद इस बात का है कि क्या व्यभिचारि ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है ? नैयायिक कहते हैं — मरुदेश में मरीचिका (तप्तरेतवाली भूमि पर पडने वाले सूर्यरश्मि) में जो जलज्ञान होता है वह 'चक्षुइन्द्रिय' के व्यापार के रहते हुए ही होता है, इस अनव्यवबल से ही उस जलज्ञान में 30 चक्षुइन्द्रियजन्यत्व स्थापित होता है। यदि पूछा जाय कि यद्यपि वहाँ जल नहीं है किन्तु इस ज्ञान का विषय मरीचि ही होते हैं यह कैसे मान लिया जाय ? — उत्तर है कि उस ज्ञान के बाद जलार्थी

तस्मादुदकसरूपा मरीचय एव देशकालादिसव्यपेक्षाः उदकज्ञानं जनयन्ति। तथाहि — सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानं 'इदमुदकम्' इत्येकं ज्ञानम् तस्य सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षो जनकः, निरस्कृतस्वाकारस्याऽऽगृहीताकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो विपर्ययजनकत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेः कथं नेन्द्रियार्थसंनिकर्षजो विपर्ययः ?।

- 5 मरीचिवाले प्रदेश की ओर ही गमन प्रवृत्ति करता है इस से मानना होगा कि वह व्यभिचारि जलज्ञान का विषय मरीचि हैं। यदि उस ज्ञान को मरीचि विषयक न मान कर 'पूर्वकाल में प्रत्यक्षीकृतजल' विषयक मानें तो ? (मतलब उस ज्ञान को इन्द्रियजन्य मानने के बदले स्मृतिरूप माने तो ?) तो उस जलज्ञान से किस देश में प्रवृत्ति होगी ? पूर्व काल में जहाँ जल प्रत्यक्ष किया होगा उस दिशा में ही प्रवृत्ति होगी, मरीचिवाले देश की ओर प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि — "देश विषय में भ्रान्ति के कारण वह मरीचिदेश में प्रवृत्ति करता है — तात्पर्य यही है कि जो अभ्रान्त है वह पूर्वानुभूतजल के देश में प्रवृत्ति करेगा, उस को अभ्रान्त ही मानना पड़ेगा, और जो भ्रान्त है वह संमुखवर्ति मरीचिदेश में प्रवृत्ति करता है, उस को भ्रान्त मानना" — तो यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ मरीचिदेश में प्रवृत्ति करनेवाले को भ्रान्ति मानना गलत है क्योंकि वहाँ पूर्वानुभूतविषय देश की संमुखप्रदेश में भ्रान्ति होने के लिये कोई निमित्त ही नहीं है। (ध्यान में लो कि मरीचियों में जलज्ञान तो भ्रान्ति ही है किन्तु प्रस्तुतदेश में पूर्वानुभूतजलदेश के ज्ञानरूप भ्रान्ति का निरूपण बेबुनियाद है क्योंकि वैसी कोई भ्रान्ति का मूल यहाँ नहीं है।) यदि कहें कि — 'मरीचिदेश में वर्तमान में जो चक्षुइन्द्रियव्यापार है वही उस भ्रान्ति का मूल है' — तो यह गलत है। गलत है मतलब कि वह इन्द्रियव्यापार तथोक्त भ्रान्ति का मूल नहीं है किन्तु व्यभिचारि जलज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व को उलटा स्थापित करता है। इसीलिये उस ज्ञान को स्मृतिरूप नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति कभी इन्द्रियजन्य नहीं होती, जब
- 10 कि यह व्यभिचारीजलज्ञान तो बाह्यइन्द्रियोत्पन्न है। अत एव वह 'स्मृति' नहीं है।

प्रश्न :- जलज्ञान में मरीचि का अवभास तो होता नहीं फिर वे उस ज्ञान का विषय कैसे माना जाय ?

उत्तर :- अन्वय से। यह पहले कह दिया है कि मरीचिदेश में जो प्रवृत्ति होती है वह चक्षुइन्द्रिय का उस देश के साथ संनिकर्ष होने के बाद होनेवाले जलज्ञान से होती है इस लिये उस ज्ञान के विषय मरीचि हैं यह मानना चाहिये।

प्रश्न :- जलरहित देश में जलावभास होता है तो मरीचि के बदले वृक्षादि में क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- नहीं होता है क्योंकि वृक्षादि का जलादि के साथ वैसा सादृश्य नहीं है। निष्कर्ष, जल सदृश मरीचि ही देश-कालादि सहकार से जलज्ञान को (भ्रान्ति को) जन्म देता है। किस प्रकार से यह समझ लिये — प्रारम्भ में सामान्यरूप से मरीचि को देख कर अन्त में जलत्वरूप विशेष के ग्रहण में निष्ठित होने वाला यह जलज्ञान 'यह जल है' ऐसे आकारवाला उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में सामान्यरूप से (तरंगादि द्रव्यादिरूप से) मरीचि रूप अर्थ इन्द्रियसंनिकृष्ट हो कर, स्मृति के द्वारा उपस्थापित विशेषरूप यानी जलत्वरूप से यानी उस के द्वारा सहकृत हो कर ज्ञानोत्पादक बनता है।

नन्वस्य शब्दसहायेन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वेन नाऽव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यत्वम् अव्यपदेश्यपदेनैव निरस्त-
त्वात्। न, प्रथमाक्षसंनिपातजस्य शब्दस्मरणनिमित्तस्येन्द्रियार्थसंनिकर्षप्रभवस्याऽशब्दजन्यस्याऽव्यभिचारि-
पदापोह्यत्वाभ्युपगमात्। अभ्युपगमनीयं चैतत्, अन्यथोदकशब्दस्मृतेरयोगात् — ‘यत्संनिधाने यो दृष्टस्तदृष्टे-
स्तद्ध्वनौ स्मृतिः। ()’ इति न्यायात्। न च तरंगायमाणवस्तुसंनिधाने उदकशब्दस्य दृष्टिः किन्तूदकसन्निधान
एव। अतो मरु-जङ्गलादौ देशे क्वचिद् दूरस्थस्य निदाघसमये तरंगायमाणवस्तुनः सामान्यविशिष्टस्य 5
दर्शनम् तदनन्तरं तत्सहचरितोदकत्वानुस्मरणम् तस्मात् सामान्यवत्ताध्यारोपितोदकग्रहणम् तत उदकशब्दा-
नुस्मृतिः ततोप्यनुस्मृतोदकसहायादिन्द्रियार्थसंनिकर्षात् ‘उदकम्’ इति ज्ञानम् अतो यत् पूर्वमुदकशब्दस्मृतेर्निमित्तं
तद् इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वेनाऽव्यभिचारिपदापोह्यमिति केचित् सम्प्रतिपन्नाः।

जिस का अपना आकार (यानी मरीचिकत्वविशेषरूप) प्रच्छन्न बना रहे और अन्य कोई आकार जिसने
धारण कर लिया है ऐसे सामान्यस्वरूपवाली वस्तु का इन्द्रिय के साथ जब कभी सम्बन्ध लग जाता 10
है तो विपर्यास निष्पन्न होता है। अब कहिये कि विपर्यय (भ्रान्ति) को इन्द्रिय-अर्थसंनिकर्षमूलक क्यों
न माना जाय? तात्पर्य, प्रत्यक्ष की तरह भ्रम भी इन्द्रियसंनिकर्षजन्य व्यभिचारिज्ञानरूप होता है, उस
का व्यवच्छेद करने के लिये लक्षण में ‘अव्यभिचारि’ पद सार्थक बनता है।

[अव्यभिचारपद व्यवच्छेद्य का स्पष्टीकरण]

आशंका :- व्यभिचारि ज्ञान इन्द्रिय-विषयसंनिकर्षजन्य है यह ठीक है, किन्तु उस को शब्द की 15
सहायता भी चाहिये क्योंकि उस वक्त ‘जल’शब्दस्मृति के विना ‘यह जल है’ ऐसा व्यभिचारिज्ञान हो
नहीं सकता। शब्दसहायजन्य इस व्यभिचारि ज्ञान का तो ‘अव्यपदेश्य’ पद से ही व्यावर्तन हो जाता
है। इसलिये लक्षण में ‘अव्यभिचारि’ पद का प्रयोग निरर्थक है।

उत्तर :- नहीं, प्रथम प्रथम इन्द्रियसंनिपात से जो इन्द्रियसंनिकर्षजन्य व्यभिचारि ज्ञान होता है
उस में शब्द का स्मरण भले निमित्त हो, शब्द निमित्त नहीं है, इसलिये वह शब्दजन्य न होने से 20
अव्यपदेश्यपद से उस का व्यावर्तन सम्भव नहीं है, अत एव ‘अव्यभिचारि’ पद से ही उस की व्यावृत्ति
मानी जाती है। इस तथ्य का स्वीकार अवश्य करणीय है, अन्यथा व्यभिचारि जलज्ञान स्थल में ‘जल’
शब्द का स्मरण भी अशक्य हो जायेगा। कैसे यह देखिये — यह एक न्याय (नियम) है कि “जिस
वस्तु के संनिधान में जिस शब्द का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है उस वस्तु के दृष्टिगोचर होने पर 25
उस के (वाचक) शब्द का स्मरण होता है।” प्रस्तुत में ‘जल’ शब्द उल्लेख कब दृष्टिगोचर होता 25
है — जल के संनिधान में, न कि तरंगावस्थापन्न (मरीचि आदि यत् तद्) वस्तु के संनिधान में।
इस लिये यहाँ ‘जल’ शब्द स्मृति (व्यभिचारि ज्ञानस्थल में) कैसे होगी यह ध्यान से सोचिये — समझिये,
— मरुदेश या जलरहित जंगल में किसी पुरुष को ग्रीष्मऋतु में दूर से नजर डालने पर सामान्याकार
विशिष्ट ही तरंगावस्थापन्न (मरीचि आदि) वस्तु का पहले दर्शन होगा। उस के बाद तरंगादिअवस्था
के साम्य (सादृश्य) के जरिये ‘जल’ का स्मरण होगा। न ‘जल’ शब्द का। उस के बाद तरंगावस्थापन्न 30
सामान्याकार से गृहीतवस्तु (मरीचि आदि) में आरोपित (यानी जो वहाँ वास्तव में नहीं है) जल
का ग्रहण उदित होगा। (यही व्यभिचारि ज्ञान हुआ जो शब्द से अजन्य है और जिस की व्यावृत्ति

अपरे तु स्मर्यमाणशब्दसहायेन्द्रियार्थसंनिकर्षजमप्यव्यभिचारिपदापोह्यमेव मरीचिषु 'उदकम्' इति शब्दोल्लेखवज्ज्ञानं मन्यन्ते। अव्यपदेश्यपदव्यवच्छेदं तु यत्र प्रथमतः एवेन्द्रियसंनिकृष्टेऽर्थे संकेतानभिज्ञस्य श्रूयमाणाच्छब्दात् 'पनसोऽयम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र शब्दस्यैव तदवगतौ प्राधान्यात् इन्द्रियार्थसंनिकर्षस्य तु विद्यमानस्यापि तदवगतावप्राधान्यात् तदेवाव्यपदेश्यपदव्यवच्छेदम् न पुनरवगतसमयस्मर्यमाणशब्दसचि-
 5 वेन्द्रियार्थसंनिकर्षप्रभवम् तत्र तत्संनिकर्षस्यैव प्राधान्याद् वाचकस्य च तद्विपर्ययात्। ननु सामग्र्यां कस्य व्यभिचारः ? कर्तुः, करणस्य कर्मणो वा ? तत्र स्वाकारसंवरणेनाकारान्तरेण ज्ञानजननात् कर्मणो व्यभिचारः, कर्तृ-करणयोस्तु तथाविधकर्मसहकारित्वादसाविति मन्यन्ते। भवत्वयं व्यभिचारः, न त्वेतन्निवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदोपादानमर्थवत् अनिन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वादेव तन्निवृत्तिसिद्धेः। नहि ज्ञानरूप-
 के लिये 'अव्यभिचारि' पद सार्थक बनता है। अगर ऐसे ज्ञान को नहीं मानेंगे तो आगे 'जल' शब्द
 10 का स्मरण कैसे होगा ?) जलज्ञान उदित होने पर उक्त न्याय से जल शब्द का अनुस्मरण होगा। फिर बाद में उस स्मरणान्तर्वृत्ति जल के सहकार से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के द्वारा 'जल है' ऐसे जलशब्दोल्लेखगर्भित जलज्ञान होगा। यहाँ जो पहले 'जल'शब्द अनुस्मरण के निमित्तभूत जलग्रहण उदित हुआ था वह शब्दजन्य नहीं है इसलिये अव्यपदेश्यपद से उस की व्यावृत्ति असंभव होने पर अव्यभिचारिपद से ही उस की निवृत्ति माननी होगी। — कुछ लोगों का यह निर्विवाद मत है।

15 [अव्यभिचारि पद-व्यावर्त्य मरीचि में जलज्ञान-अन्य मत]

कुछ दूसरे लोगों का मत यह है — मरीचिवृन्द में 'जल' ऐसे शब्दोल्लेखवाला ज्ञान जो स्मृतिविषयभूतशब्दसहकृत इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य है वही अव्यभिचारिपद का व्यावर्त्य है।

प्रश्न :- 'अव्यपदेश्य' पद से किस का व्यावर्तन करेंगे ?

उत्तर :- जहाँ पहले पहले ही इन्द्रियसंनिकृष्ट अर्थ के बारे में संकेत से अजाण व्यक्ति को शिक्षकादि
 20 का शब्द सुन कर 'यह फणस है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ इस ज्ञान में शब्द की ही महत्ता है, इन्द्रियसंनिकर्ष वहाँ है किन्तु इस ज्ञान के जनन में उस का महत्त्व नहीं है। ऐसे शब्दजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षपरिधि से बाहर करने के लिये 'अव्यपदेश्य' पद सार्थक होगा। लेकिन जहाँ संकेत के जानकार आदमी को स्मृतिस्फुरितशब्द सहकृत इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से 'जल' ऐसा शब्दोल्लेख गर्भित ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ तो इन्द्रियसंनिकर्ष का ही महत्त्व होने से, वाचक शब्द का महत्त्व न होने से, वह
 25 ज्ञान 'अव्यपदेश्य' पद से व्यावृत्त नहीं हो सकता। अतः उस के व्यावर्तन के लिये 'अव्यभिचारि' पद आवश्यक बना रहेगा।

प्रश्न :- आपने कहा — व्यभिचारिज्ञान प्रत्यक्ष की परिधि में नहीं आता तो वह ज्ञान किस का व्यभिचारि है ? कर्ता का, करण का या कर्म (यानी जलादि) का ? प्रश्न का तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान की सामग्री में प्रत्यक्षसामग्री के किसी अंग का चाहे कर्ता-करण-कर्म किसी का भी वैकल्य
 30 होगा तभी वह व्यभिचारी कहा जाता होगा ! वैकल्य किस का है ?

उत्तर :- कर्ता-करण का वैकल्य नहीं है किन्तु कर्म का ही व्यभिचार है क्योंकि मरीचि अपने आकार को छीपा कर अन्य (जल) आकार से वहाँ जनक ज्ञान होते हैं यानी प्रत्यक्ष में कर्म(जल) जैसा होना चाहिये वैसा यहाँ नहीं है। कर्ता-करण विद्यमान होने पर भी उन का काम एक ही है

तेन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वे तत्र सिद्धे । तस्मात् यद् 'अतस्मिंस्तद्' इत्युत्पद्यते तद् व्यभिचारिज्ञानम् तद्व्यवच्छेदेन 'तस्मिंस्तत्' इति ज्ञानमव्यभिचारिपदसंग्राहम् ।

नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकम् अव्यभिचारिपदादेव ज्ञानसिद्धेः । व्यभिचारित्वं हि ज्ञानस्यैव, तद्व्यवच्छेदाद्यर्थमव्यभिचारित्वमपि तस्यैवेति ज्ञानपदमनर्थकम् । न, इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नस्याऽज्ञानरूपस्यापि सुखस्याऽव्यभिवारात् तन्नवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवत् । किं पुनः सुखं व्यभिचारि ? यत् परयोषिति । ननु 5 कस्तस्य व्यभिचारः ? ज्ञानस्य क इति वाच्यम् । 'अतस्मिंस्तदिति भावः ? स सुखेऽपि समानः । किं पराङ्गनोत्पन्नं सुखं न भवति ? मरीचिषूदकज्ञानं किं न ज्ञानम् ? अथ 'अतस्मिंस्तदिति भावाद्

किं वास्तव कर्म को सहकार देना । कर्म न होने पर वे किस का सहकार करेंगे ? फलतः सहकार के अभाव में कर्तृ-करण का भी यहाँ व्यभिचार माना गया है ।

आशंका :- व्यभिचार भले रहो, किन्तु उस ज्ञान की व्यावृत्ति के लिये लक्षण में 'अव्यभिचारि' 10 पद का प्रयोग निरर्थक है । कारण, व्यभिचार ज्ञान को हम इन्द्रियसंनिकर्षजन्य नहीं मानेंगे । (इन्द्रियजन्य मानने पर भी इन्द्रियसंनिकर्षजन्य नहीं मानेंगे । तात्पर्य, 'इन्द्रियसंनिकर्षजन्य' विशेषण से ही 'मरीचिस्थल में होने वाले व्यभिचारिजलज्ञान' में अतिव्याप्ति रुक जायेगी । दूसरी बात, वहाँ 'जलज्ञान' होता है या मरीचिज्ञानाभाव रहता है यह भी विवादास्पद है । इस लिये तथाकथित जलज्ञान में न तो ज्ञानरूपता सिद्ध है, न इन्द्रियविषयसंनिकर्षजन्यत्व प्रसिद्ध है । तब व्यभिचारिज्ञान किस को कहेंगे, जिस की व्यावृत्ति 15 के लिये 'अव्यभिचारि' पद लगाना पड़े ?

उत्तर :- अतद् (शुक्ति) वस्तु के विषय में 'तद्' (रजत) ऐसा उल्लेखगम्य बोध उत्पन्न होता है उसे व्यभिचारिज्ञान कहते हैं । उस को व्यावृत्त कर के जो 'तद्' (रजत) वस्तु के बारे में 'तद्' (रजत) ऐसा उल्लेखवाला ज्ञान होता है उस का 'अव्यभिचारि' पद से संग्रह यानी निर्देश किया गया है । इस प्रकार 'अव्यभिचारि' पद सार्थक बनेगा । 20

[अव्यभिचारि सुख में अतिव्याप्ति निवारणार्थं ज्ञानपद सार्थक]

आशंका :- नहीं, तो भी ज्ञानपद सार्थक नहीं होगा । जैसे, व्यभिचारि पद व्यभिचारि ज्ञान का ही वाचक है तो उस को व्यावृत्त कर के जो 'अव्यभिचारि' पद से अव्यभिचारि ज्ञान का निर्देश हो जाता है फिर 'ज्ञान' पद की पुनरावृत्ति निरर्थक ठहरेगी । व्यभिचारित्व यदि ज्ञान का ही धर्म है तो उस के व्यावर्तन के लिये निर्दिष्ट अव्यभिचारित्व भी ज्ञान का ही धर्म है, इस प्रकार धर्मि- 25 प्रधान धर्म के निर्देश से ज्ञान का गर्भित रीति से निर्देश हो जाता है, अत एव लक्षणसूत्र में ज्ञान पद निरर्थक है ।

उत्तर :- नहीं । सुख भी, जो ज्ञानरूप नहीं है और इन्द्रियसंनिकर्ष से उत्पन्न होता है, अव्यभिचारि होता है । ज्ञानपद प्रयोग नहीं करे तो लक्षण की सुख में अतिव्याप्ति होगी । उस के निवारण के लिये 'ज्ञान' पद सार्थक होगा । 30

क्या सुख भी व्यभिचारि (और अव्यभिचारि) होता है ? हाँ, परस्त्री संग का सुख व्यभिचारि होता है । (लोक में भी परस्त्रीगमन करने वाले को व्यभिचारि कहा जाता है ।)

ज्ञानत्वेऽपि तद् व्यभिचारि; असुखसाधने पराङ्गनादौ सुखस्य भावात् समानं व्यभिचारित्वमिति सुख-निवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवत्।

- एतच्च केचिद् दूषयन्ति — नहि तापादिस्वभावं पराङ्गनायां सुखमुत्पद्यते अपि त्वाह्लादस्वरूपम् यथा स्वललनायाम्। सुखसाधनत्वादेव चासक्तिहेतुत्वादधर्मात्पादकत्वेन तस्या भाविनि काले दुःखसाधनत्वम्।
- 5 न च यस्यैकदा दुःखजनकत्वं तस्य सर्वदा तद्रूपत्वमेव, अन्यथा पावकस्य निदाघसमये दुःखजनकत्वात् शिशिरेऽपि तज्जनकत्वमेव स्यात्। एवं देशाद्यपेक्षयापि न नियतरूपता भावानाम्। उक्तं च भाष्यकृता — ‘सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः’ (वा. भा.पु.१ - पं. १२) इति। ततो व्यभिचाराभावात् न सुखनिवृत्त्या ज्ञानपदोपादानमर्थवत्।

प्रश्न :- अरे ! उस में व्यभिचार कैसा ?

- 10 उत्तर :- तो आप ही कहिये कि ज्ञान का व्यभिचार क्या होता है ? ‘अतद् में तद्’ ऐसा भाव, ज्ञान का व्यभिचार है तो वैसे ही अस्वस्त्री के साथ यानी परस्त्री के साथ संगमसुख, यह भी व्यभिचार है।

- प्रश्न :- मतलब, परस्त्री से उत्पन्न सुख सुख नहीं होता है क्या ? उत्तर :- हम भी पूछते हैं — मरीचियों के विषय में उत्पन्न ‘जलज्ञान’ ज्ञान नहीं होता है क्या ? होता है, किन्तु वह ‘अतद्’
- 15 में ‘तद्’ ऐसा प्रकारवाला होता है इस लिये ज्ञानरूप होने पर भी व्यभिचारि है। हं ! तो हम भी कहते हैं कि सुखरूप होने पर भी असुख का (भावि दुःख का) कारण होने से वह व्यभिचारि होता है। उस से विपरीत, स्वस्त्रीगमन का सुख (जैनेतरशास्त्रानुसार) अव्यभिचारि होता है। उस सुख की व्यावृत्ति के लिये ज्ञानपद का प्रयोग सार्थक है।

[सुखव्यावृत्ति हेतु ‘ज्ञान’पदग्रहण निरर्थक]

- 20 कुछ लोग इस समाधान पर दोषारोपण करते हैं — परस्त्री से उत्पन्न होने वाला सुख कोई तापादिस्वरूप नहीं होता। जैसे स्वस्त्री का सुख आह्लादक होता है वैसे परस्त्री का भी होता है। इस प्रकार दोनों सुखसाधन ही है। फिर भी परस्त्री सुखसाधन होने के कारण ही आसक्ति प्रेरक होने से अधर्म (पाप) को उत्पन्न करने द्वारा भविष्यकाल में दुर्गति आदिदुःख का कारण बनता है। ‘इस भव में सुख का कारण, वही भवान्तर में दुःख का कारण हो सकता है क्या ?’ हाँ ! एक
- 25 बार जो दुःख का साधन है वह तीनों काल में दुःखकारण ही हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। अन्यथा, ग्रीष्मऋतु में दुःखकारक सूर्यातप जाड़े की ऋतु में भी दुःखकारक ही बना रहेगा। एवं गरम प्रदेश में पीडादायी अग्नि ठंडे प्रदेश में भी पीडादायी ही बना रहेगा — इस प्रकार देशादिअपेक्षासे भी पदार्थ की अनियतरूपता समझ रखना होगा। अत एव वात्स्यायन भाष्यकारने भी कहा है, ‘प्रमाण (भूत) अर्थ अपरिसंख्येय (अनिर्वचनीय) होता है।’ प्रस्तुत में, सुख को व्यभिचारी-अव्यभिचारि दिखाना
- 30 उक्त रीति से अर्थशून्य ही है। इस लिये व्यभिचार का अवकाश न होने से सुख की व्यावृत्ति के लिये ‘ज्ञानपद’ का प्रयोग सार्थक नहीं होगा।

न चैवमनर्थकमेवेतत्, धर्मिप्रतिपादनार्थत्वादस्य । ज्ञानपदोपात्तो ही धर्मो इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वादिभिर्विशेष्यते, अन्यथा धर्म्यभावे क्वाऽव्यभिचारादीन् धर्मास्तत्पदानि प्रतिपादयेयुः ?! न च विशेषणसामर्थ्याद् धर्मिणः प्रतिलम्भ इति वक्तव्यम्, तथाभ्युपगमे 'प्रत्यक्षं प्रत्यक्षम्' इत्येव वक्तव्यम्, शेषस्य सामर्थ्यलभ्यत्वात् ।

यथोक्तविशेषणविशिष्टं संशयज्ञानं भवति 'व्यभिचारिप्रतियोगि अव्यभिचारि' इति कृत्वा, न चैतत् प्रत्यक्षव्यवच्छेदकम्, न चास्येन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वं नास्ति तद्भावितया तज्जन्यत्वस्य तत्र सिद्धेः । 5 अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं 'व्यवसायात्मकपदोपादानम् । 'व्यवसीयते अनेन' इति व्यवसायो विशेष उच्यते, विशेषजनितं व्यवसायात्मकम् । संशयज्ञानं तु सामान्यजनितत्वाद् नैवम् । अथवा निश्चयात्मकं व्यवसायात्मकम्, संशयज्ञानं त्वनिश्चयात्मकम् अत एव विपर्ययाद् भिन्नम् । व्यवस्यति = व्यवसायः, अन्यपदार्थव्यवच्छेदेनैकपदार्थालम्बनत्वमस्य, तद्विपरीतस्तु संशयः ।

[ज्ञानपदसार्थकतानिरूपण दूसरे प्रकार से]

फिर भी वह निरर्थक नहीं है। धर्मि का निर्देश यहाँ ज्ञानपद का प्रयोजन है। धर्मि जब 'ज्ञान' पद से निर्दिष्ट होता है तभी इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्व आदि विशेषणों से उस का वैशिष्ट्य प्रदर्शित हो सकता है। अन्यथा, धर्मिनिर्देश के बिना 'अव्यभिचारि' आदि पदवृन्द, किस के अव्यभिचारित्वादि धर्मों को प्रदर्शित करेगा ? ऐसा नहीं कहना कि विशेषणों के सामर्थ्य से ही ज्ञानरूप धर्मि का भान हो जायेगा। — अरे ! ऐसा मानने पर तो 'प्रत्यक्ष' प्रत्यक्ष है — इससे ज्यादा कुछ भी कहने की आवश्यकता 15 नहीं रहेगी, शेष अव्यभिचारित्वादि धर्मों का ज्ञान तो प्रत्यक्षरूप धर्मिनिर्देश के सामर्थ्य से ही हो जायेगा। निष्कर्ष, धर्मि के निर्देश के रूप में 'ज्ञान' पद सार्थक है।

[व्यवसायात्मक पद की सार्थकता का निरूपण]

लक्षणसूत्र में 'व्यवसायात्मकम्' जो कहा है वह संशयज्ञान में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये है। लक्षण में अव्यभिचारी पद है, फिर भी उस का अर्थ होगा व्यभिचारिप्रतियोगि। संशयज्ञान 20 भी वैसा ही है, क्योंकि 'अतत्' में 'तद्' का अवगाही नहीं है, तब सूत्रोक्त सभी विशेषण उस में संगत हो जाने से उस में प्रत्यक्षता का व्यवच्छेद नहीं हो सकेगा। संशय में इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व नहीं है ऐसा तो कह नहीं सकते। इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के रहने पर ही संशय का उद्भव होता है इसलिये इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व तो वहाँ सिद्ध ही है। इस तरह संशयज्ञान में होनेवाली अतिव्याप्ति के निवारण का इलाज है 'व्यवसायात्मक' विशेषणपद का प्रयोग। व्यवसायपद की करण अर्थ में व्युत्पत्ति 25 होगी 'जिस से अर्थ व्यवसित हो', इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यवसाय का अर्थ होगा विशेष। विशेषजन्य ज्ञान ही व्यवसायात्मक होता है, संशय तो सामान्यधर्मजनित होता है, विशेष तो वहाँ अज्ञात रहता है, अतः संशय में 'व्यवसायात्मक' यह विशेषण न घटने से अतिव्याप्ति मिट जायेगी।

अथवा व्यवसाय का मतलब है निश्चय। संशय तो निश्चयरूप नहीं है, इसीलिये तो वह विपर्यय (भ्रम) रूप भी नहीं है जिस से कि 'अव्यभिचारि' पद से उस की व्यावृत्ति हो सके। अनिश्चयरूप 30 होने के कारण संशय में 'व्यवसायात्मक' विशेषण संगत न होने से अतिव्याप्ति मिट जायेगी। विपरीत ज्ञान भ्रान्त निश्चयरूप होता है। निश्चय और संशय में यह भेद है — कर्तुं अर्थ में व्यवसाय की

✽ सौगतैः न्यायमतीय-विकल्पप्रामाण्यनिरसनम् ✽

ननु च विकल्परूपत्वाद् न व्यवसायात्मकस्येन्द्रियार्थजत्वम् कथमस्य प्रत्यक्षफलता ? न च व्यवसायात्मकस्याप्यध्यक्षता जैनमतानुसारेण व्यवस्थापनीया, तेनानै(ने)कान्तात्मकस्य वस्तुनोऽङ्गीकृतत्वात्, भवतस्त्वेकान्तवादिनस्तद्युक्तितः तद्व्यवस्थापनाऽसम्भवात् । 'कुतः पुनर्विकल्पस्यानर्थजत्वम् ?' शब्दार्थप्रति-
5 भासस्वभावत्वात् । न हि विकल्पोऽर्थसामर्थ्यापेक्षः समुपजायते । निर्विकल्पं त्वर्थसंनिधानापेक्षम् तत्सामर्थ्य-समुद्भूतत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तदुक्तम् — 'यो ज्ञानप्रतिभासमन्वयव्यतिरेकावनुकारयति...' () इत्यादि । अथ शब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि किमिति विकल्पानां नार्थजत्वम् ? रूपादेरर्थस्य स्वलक्षणत्वेन व्यावृत्तरूपत्वात् शब्दार्थत्वानुपपत्तेः, विकल्पप्रतिभास्याकारस्य तु तद्व्यतिरिक्तस्यार्थत्वानुपपत्तेः, सदसद्रूपस्य नित्यत्वाऽसत्त्वाभ्यां

व्युत्पत्ति यह है 'व्यवसान (निश्चय) करे वह व्यवसाय' । मतलब, अन्य कोटि का व्यवच्छेद कर के
10 एक कोटि को ही आलम्बन करे वह व्यवसाय है । निश्चय (व्यवसाय) से विपरीत संशय है, क्योंकि वह परस्पर विरुद्ध दोनों कोटि को आलम्बन करता है । इस प्रकार सूत्रोक्तलक्षण का पदकृत्य पूर्ण हुआ ।

[विकल्परूप व्यवसाय अप्रमाण - बौद्ध]

बौद्धवादी :- व्यवसाय तो विकल्परूप है, वह इन्द्रियार्थजन्य नहीं होता, तो उसे प्रत्यक्षफलक
15 कैसे माना जाय ? आप (नैयायिक) जैनमतावलम्बी बन कर व्यवसाय में 'प्रत्यक्षता' को सिद्ध करे वह अनुचित है क्योंकि आप तो एकान्तवादी है, अनेकान्तवाद की युक्तियों का सहारा ले कर आप विकल्प की प्रत्यक्षता स्थापित नहीं कर सकते । जैनों की बात अलग है, वे तो अनेकान्तवाद के द्वारा उस में 'कथंचित्' प्रत्यक्षता मान सकते हैं, क्योंकि वे वस्तुमात्र को 'तदतद्' रूप अनेकान्तात्मक मानते हैं ।

20 नैयायिक :- विकल्प अर्थजन्य क्यों नहीं होता ?

बौद्धवादी :- क्योंकि वह शब्दार्थ (शब्दसूचित अर्थ) का प्रतिभासी होता है । विकल्प का जन्म अर्थसामर्थ्यप्रभव नहीं होता । निर्विकल्प तो अर्थबलजन्य होने से अर्थसंनिधानावलम्बी होता है अत एव निर्विकल्प 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप ही है । कहा भी है — जो (अर्थ), ज्ञानावभास को अपने अन्वयव्यतिरेक का अनुशीलन कराता है । (उस से जन्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है ।)

25 नैयायिक :- भले ही विकल्प शब्दार्थप्रतिभासी हो, उसे अर्थजन्य क्यों न कहा जाय ? जब कि अर्थ के विना विकल्प भी नहीं होता !

बौद्धवादी :- सुनिये, शब्द सामान्य विषयक होता है अतः शब्दजन्य विकल्प भी सामान्यग्राही बन गया, जब कि रूपादि अर्थ तो स्वलक्षणात्मक होने से व्यावृत्त(विशेष)रूप होता है जो कि शब्द का विषय नहीं हो सकता । विकल्पावभासी विषय तो विशेषभिन्न होने से अर्थरूप ही नहीं है । आप
30 के मतानुसार सामान्यरूप विषय यदि 'सत्' है तो नित्य होगा और नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी न होने से ज्ञानादिजनक नहीं हो सकती । यदि सामान्य असत् है तो असत्त्व के जरिये वह ज्ञानजनक नहीं हो सकता । जो अनुवृत्तिरूप होता है वही शब्दवाच्य होता है, जब कि स्वलक्षण तो व्यावृत्तस्वरूप

तस्य ज्ञानजनकत्वनिषेधात्, अनुगतस्य चाऽ(च)शब्दार्थत्वात् स्वलक्षणस्य च सर्वतो व्यावृत्ततयाऽनुगतत्वाऽसम्भवादनर्थजाः विकल्पाः।

इतोऽप्यक्षार्थता न भवन्ति— अक्षार्थसंनिपातवेलायां प्रथमत एव तेषामनुद्भूतेः। यदि हि तदुद्भवास्ते स्युः स्मृतिमन्तरेणानुभवत उत्पद्येरन्। न चार्थोपयोगेऽपि तामन्तरेण उत्पद्यन्ते। तदुक्तम् —

अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्। अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्॥ () 5

यो हि यज्जन्यः स तदापात एव भवत्यविकल्पवत्, न भवन्ति च तदापातसमये विकल्पाः इति नार्थजन्यत्वं तेषां स्मृतिव्यवहितत्वात्। न चार्थस्य स्मृत्याऽव्यवधानं तस्यास्तत्सहकारित्वादिति वाच्यम्, यतो यद्यर्थस्य ज्ञानजनकत्वं तदा तज्जनने किमित्यसौ स्मृत्यपेक्षः ? न च तथा विना ज्ञानस्योत्पत्तिः, तद् नार्थः तज्जनकः। न च तदपेक्षस्य तस्य तज्जनकत्वम् तस्यास्तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तोपकारजनकत्वेनाऽकिञ्चित्करत्वात्। तदुक्तम् —

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाऽविशेषतः। स पश्चादपि ते न स्यादार्थापायेऽपि नेत्रधीः॥ ()

होने से अनुवृत्ति का संभव ही नहीं है। निष्कर्ष, विकल्प का विषय स्वलक्षणरूप अर्थ नहीं होता, अनुवृत्ति (सामान्य) जो विकल्प का विषय होता है वह अर्थरूप न होने से, सिद्ध होता है कि विकल्प अर्थजन्य नहीं होता।

[विकल्प अर्थजन्य होता नहीं — बौद्धवादी]

‘विकल्प इन्द्रियार्थजन्य नहीं होते’ — इस में और भी चर्चा सुनिये — इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष के समय में सर्वप्रथम तुरंत ही विकल्पों का उद्भव नहीं हो जाता। यदि तुरंत ही उन का उद्भव होता तो अनुभविता को निर्विकल्पानुभव से, स्मरण के व्यवधान के विना ही वे (विकल्प) उत्पन्न हो जाते। अर्थसम्पर्क होने पर भी स्मृति के बाद ही विकल्प उत्पन्न होते हैं न कि स्मृति के विना। कहा गया है — “इन्द्रियबुद्धि यदि अर्थसम्पर्क के रहते हुये भी स्मृतिप्रेरित शब्दयोजना (शब्दानुसन्धान) की प्रतीक्षा करती है तो वह अर्थ उस से अन्तरित हो जायेगा।” (तब इन्द्रियबुद्धि साक्षात् अर्थजन्य कैसे होगी ?) ()

नियम है कि जो जिस से उत्पन्न होता है वह निर्विकल्प की तरह उस के उपस्थित होते ही उत्पन्न हो जाता है। विकल्प अर्थापस्थिति के होते ही हो नहीं जाते, अत एव वे अर्थजन्य नहीं होते क्योंकि वे स्मृति से अन्तरित होकर उत्पन्न होते हैं। यदि कहें कि — ‘स्मृति तो अर्थ की सहयोगिनी होने से अर्थ को उस का व्यवधान बाधकारक नहीं होता’ — तो यह कथन अयोग्य है, यदि अर्थ ज्ञान का जनक है तो ज्ञानजनन के लिये स्मृति का मुखप्रेक्षी क्यों ? जब स्मृति के विना ज्ञानोत्पत्ति नहीं मानते तब स्मृति ही ज्ञानजनक हुई न कि अर्थ। यदि कहें कि — ‘स्मृति तो सहकारी है और उस से सहकृत अर्थ ही ज्ञान उत्पन्न करता है’ — तो वह गलत है क्योंकि स्मृति का अर्थ के ऊपर होनेवाला उपकार (सहकार) अर्थ से भिन्न है या अभिन्न — ऐसे विकल्पों के संगत न होने से स्मृति यहाँ सर्वथा अकार्यशील ठहरेगी। कहा भी है — () “(स्मृति न होने पर) जो अर्थ पहले बुद्धि का जनन नहीं करता, क्योंकि वह अकेला अनुपयुक्त (उदासीन) से बढ कर नहीं होता, तुम्हारे मत में वह पीछे भी ज्ञानजनक नहीं

अपि च, जात्यादिविशेषणविशिष्टार्थग्राहि विकल्पज्ञानम्, न च जात्यादीनां सद्भावः, तत्त्वेऽपि तद्विशिष्टग्रहणं बहुप्रयाससाध्यमध्यक्षं न भवति। उक्तं च — (प्र.वा.२/१४५, १४६)

“विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्। गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा”।।

“संकेतस्मरणोपायं इष्टसंकलनात्मकम्। पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम्।।” इति।

5 अतोऽर्थसंनिधानाऽभावेऽपि भावान्नार्थप्रभवा विकल्पाः।

अथ मा भूवन् राज्यादिविकल्पाः अर्थप्रभवाः, इदन्ताविकल्पास्त्वर्यमन्तरेणानुद्भवन्तः कथं नार्थप्रभवाः ? तदुक्तम् — ‘नान्यथेदंतया’ () इति चेत् ? न, इदन्ताविकल्पानामपि वस्तुप्रतिभासित्वाऽसम्भवात्। न हि शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासिनो विकल्पा वस्तुनिश्चयात्मकाः, अन्यथा शब्दप्रत्ययस्याध्यक्षप्रतीतितुल्यता भवेत्। उक्तं च — ‘शब्देनाऽव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात्। अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देशस्य वेदकम्।।’

10 () इति। तन्नार्थाक्षप्रभवत्वं व्यवसायस्येति प्रत्यक्षत्वमयुक्तम्।

हो सकता, उस वक्त अर्थ (या अक्ष) के न होने पर भी चाक्षुष ज्ञान हो जायेगा।”

[जातिआदिविशिष्टार्थग्राहि विकल्प में प्रत्यक्षत्व का असंभव]

ज्ञातव्य है कि विकल्पज्ञान जाति आदि विशेषणों से आश्लिष्ट (न किं शुद्ध) अर्थ को ग्रहण करता है। वास्तव में जाति आदि तो अपारमार्थिक हैं। अगर पारमार्थिक हो, फिर भी उन से आश्लिष्ट 15 अर्थ का ग्रहण वाया वाया अनेक प्रयासों से ही किया जाता है फिर वह अध्यक्ष कैसे ? (अध्यक्ष में वाया वाया कोई भान नहीं होता, साक्षात् होता है।) कहा गया है प्रमाणवार्तिक में — “पहले विशेषण, फिर विशेष्य, फिर उन दोनों का संसर्ग, फिर लौकिक प्रणालिका... इन का संकलन कर के ही विकल्पप्रतीति होती है, अन्यप्रकार से नहीं।” “चाक्षुष तो पूर्व-अपर संकलन से शून्य होता है, उस में ऐसी प्रतीति को अवकाश ही कहाँ है जो संकेतस्मृतिरूप उपाय द्वारा पूर्वदृष्ट का संकलन 20 करनेवाली हो ?” [२/१४५-१४६]

निष्कर्ष, अर्थ उपस्थिति के विरह में भी होने वाले विकल्प अर्थजन्य नहीं हो सकते।

नैयायिक :- भावि राज्य प्राप्ति के सपने देखने वाले विकल्प भले अर्थजन्य न हो, किन्तु वर्तमानोल्लेखकारी ‘ये’ ऐसे आकारवाले विकल्प जो कि अर्थ के विरह में कभी नहीं होते उन को अर्थजन्य क्यों न माने जाय ? कहा भी है — ‘ये’ इस रूप से होनेवाले विकल्प अर्थ के विना... (नहीं होते।) 25

सौगत :- हम निषेध करते हैं, ‘ये’ इस रूप से होने वाले विकल्पों में भी वस्तुप्रकाशकत्व नहीं घटता। शब्द संसर्ग के योग्य सामान्यलक्षण वस्तु (काल्पनिक अर्थ) के प्रतिभासक विकल्प वास्तविक स्वलक्षण अर्थ के निश्चयात्मक क्यों कर हो सकता हैं ? यदि हो सकते हैं तो शब्दजन्य सभी विकल्प भी प्रत्यक्षप्रतीति की कक्षा में आ जायेंगे। कहा गया है — (द्रष्टव्य :- द्वि० खंड पृ० २३०-६)

“नेत्र इन्द्रियप्रयोग के विना, दर्शन में अर्थ का जैसा (स्पष्ट) प्रतिभास होता है वैसा शाब्दबुद्धि 30 में नहीं होता इसलिये दर्शन शब्द से अनाश्लिष्ट अर्थ का वेदक होता है। (अर्थात् विषय भेद के कारण ही शब्दजन्यबुद्धि और प्रत्यक्षबुद्धि में भेद है।) अत एव व्यवसाय को अर्थ एवं इन्द्रिय का कार्य मानना युक्त नहीं है और इसीलिये उस को प्रत्यक्ष भी मानना अयुक्त है।

卐 विकल्पप्रत्यक्षत्वस्थापनया बौद्धमतप्रतिक्षेपः 卐

अत्र नैयायिकाः प्रतिविदधति — किमिदं विकल्पत्वम् ? किं ^Aशब्दसंसर्गयोग्यवस्तुप्रतिभासित्वम्
^Bआहोस्विदविद्यमानार्थग्राहित्वम् ^Cकिं विशेषणविशिष्टार्थवभासित्वम् ^Dउताकारान्तरानुषक्तवस्त्ववभासकत्वम् ?

^Aतत्र यद्याद्यः पक्षः तदा वक्तव्यम् किमिदं शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासित्वं विकल्पत्वं पारिभाषिकम्
 उत वास्तवम् ? यदि पारिभाषिकम् तदा न युक्तम् परिभाषाया अत्रानवतारात्। अथ वास्तवम् तदपि 5
 न, प्रमाणाभावात्। भवतु वा तस्य तद्रूपत्वम् तथापि कथमनध्यक्षत्वम् ? अथार्थसामर्थ्याद्भूतत्वात्
 तस्येत्युक्तम् विकल्पानां च तदसम्भवाद् नाध्यक्षता — ननु नीलादिज्ञानवत् शब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि कथं
 नार्थप्रभवत्वं तेषां ? 'स्वलक्षणातिरिक्तशब्दार्थस्याभावाद् न तत्रभवत्वं तेषाम्' इति चेत् ? नन्वेवमसदर्थग्राहित्वं
 कल्पनात्वं प्रसक्तम् तच्च सामान्यादेः सत्यप्रतिपादनात् निरस्तम् जातिविशिष्टार्थस्य शब्दार्थत्वेन प्रतिपादनात्,

[विकल्पज्ञान प्रत्यक्ष एवं प्रमाणभूत — नैयायिक]

बौद्ध विद्वानों ने विकल्प को अप्रमाण घोषित किया उस के प्रतिकार में अब नैयायिक पंडित
 कहते हैं —

विकल्प का कौन सा अर्थ आप को अभिप्रेत है ? A जो शब्दसम्बन्ध योग्य वस्तु का प्रतिभासक
 हो, या B अविद्यमान अर्थ का ग्राहक हो, या C विशेषणसंयुक्त अर्थ का अवभासक हो, या D अन्यआकार
 से आश्लिष्ट वस्तु का प्रकाशक हो ?

^Aआद्य पक्ष के लिये दो प्रश्न हैं ? शब्दसम्बन्धयोग्य अर्थ का प्रतिभासकत्व पारिभाषिक है या
 वास्तविक ? पारिभाषिक यानी परिभाषाकार की निरंकुश बुद्धि से कल्पित ऐसा शब्दसंबन्धयोग्यवस्तु-
 प्रतिभासकत्व यहाँ तात्त्विक चर्चा में निरुपयोगी होने से अप्रस्तुत है। निरंकुश बुद्धिकल्पित अर्थ सत्य
 न होने से उस की चर्चा निरर्थक है। यदि वह वास्तविक है तो विकल्प में तथाविधता का स्वीकार
 हम नहीं करेंगे क्योंकि उस को सिद्ध करनेवाला आप के मत में कोई प्रमाण नहीं है। कैसे भी अगर 20
 विकल्प को शब्दसम्बन्धयोग्यवस्तु प्रकाशक मान ले तो इतने मात्र से उस के प्रत्यक्षत्व का अपलाप
 क्यों ?

बौद्ध :- इस लिये कि प्रत्यक्ष तो अर्थ के बल पर जन्म लेता है, विकल्पों का जन्म अर्थबलप्रेरित
 नहीं होता अतः वे प्रत्यक्ष नहीं होते।'

नैयायिक :- नीलादिज्ञान जो नीलादिअर्थप्रकाशक होते हैं वे यदि अर्थबलप्रेरित हैं तो शब्दार्थप्रतिभासक 25
 विकल्प भी उस की तरह अर्थबलप्रेरित क्यों न माना जाय ?

बौद्ध :- 'स्वलक्षण' ही सत्य अर्थ है, शब्दार्थ (सामान्य) यानी स्वलक्षण भिन्न कोई अर्थ अस्तित्व
 ही नहीं रखता, इसी लिये उन के बल से प्रेरित विकल्प सत्यार्थबलप्रेरित नहीं होते।

नैयायिक :- आखिर तो प्रथम विकल्प का मतलब यही हुआ कि वह असत्यार्थ का ग्राहक
 होता है (जो कि B दूसरे विकल्परूप है) — इस अर्थ का तो पहले ही निरसन हो चुका है जब 30
 कि हमने शब्दार्थरूप से स्वीकृत सामान्य के सत्यत्व का निरूपण कर दिया है। जब हमने स्पष्ट
 कहा है कि सामान्य (जाति) वास्तविक है और जातिविशिष्ट व्यक्ति ही शब्द का वाच्यार्थ होता है

तदवभासिनो ज्ञानस्य कथमसदर्थविषयत्वेन कल्पनात्वं भवेत् ? न चार्थाभावेऽपि विकल्पानामुत्पत्तेः नार्थजत्वम् अविकल्पस्याप्यर्थाभावेऽपि भावादनर्थजत्वप्रसक्तेः। अथ तदध्यक्षं प्रमाणमेव नाऽभ्युपगम्यते तर्हि विकल्पानामप्ययं न्यायः समानः, तेऽप्यसदर्था अध्यक्षप्रमाणतया नाभ्युपगम्यन्ते असदर्थत्वं च विकल्पाऽविकल्पयोर्बाधकप्रमाणावसेयम् तच्च यत्र न प्रवर्तते तस्य कथमसदर्थता ?

5 B एतेन द्वितीयविकल्पः प्रतिविहितः।

C अथ विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वं कल्पनात्त्वम् तदा ^a किं तथाभूतार्थाभावात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विकल्पकत्वम् आहोस्विद् ^b विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वेनैव ? इति वक्तव्यम्। ^a आद्यविकल्पे सिद्धसाध्यता असदर्थग्राहिणः प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनानभ्युपगमात्। न च ^B द्वितीयपक्षादस्य पक्षान्तरत्वम् ^a द्वितीयपक्षस्य च प्रतिविधानं विहितमेव। अथ ^B द्वितीयपक्षोऽभ्युपगम्यते, सोऽपि न युक्तः, नीलादिज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः।

10 अथास्य न विशेषणविशिष्टार्थग्राहिता, ननु विशेषणविशिष्टार्थग्राहकत्वेनाध्यक्षत्वस्य को विरोधो येन — तो ऐसे शब्दार्थ के प्रकाशक ज्ञान को 'असत्यार्थग्राहक कल्पनास्वरूप' ठहरा कर विकल्प को अप्रत्यक्ष कैसे मान सकते हैं ?

बौद्ध :- अर्थ के विरह में भी विकल्प उत्पन्न नहीं होते क्या ? फिर उसे अर्थजन्य कैसे मानेंगे ?

नैयायिक :- अहो ! निर्विकल्प भी अर्थविरह में नहीं होते क्या ? उन्हें भी अर्थजन्य कैसे मानेंगे ?

15 (दृष्टव्य पृ.२४९ पंक्ति ४)

बौद्ध यदि अर्थविरह में जात निर्विकल्प को प्रमाण नहीं स्वीकार करते तो विकल्पों के बारे में भी समान न्याय से हम अर्थविरहकालीन विकल्प के प्रामाण्य को नहीं स्वीकारेंगे। चाहे विकल्प हो या निर्विकल्प, असदर्थता तो बाधकप्रमाण के आधार पर ही घोषित हो सकती है। प्रमाणभूत विकल्प की ओर बाधक प्रमाण की प्रवृत्ति शक्य नहीं है तब उसे असदर्थक कैसे कहा जाय ?

20 B विकल्प की अविद्यमान अर्थग्राहकता का दूसरा पक्ष भी यहाँ अब निरस्त हो जाता है क्योंकि प्रथम पक्ष में ही उस की चर्चा समाविष्ट हो गयी है। विकल्प भी विद्यमानार्थग्राहक होता है।

[विशेषणविशिष्टार्थग्राहकता के संदर्भ में दो प्रश्न]

C विकल्प तीसरा - विकल्प को यदि विशेषणविशिष्टार्थग्राहकरूप माना जाय तो उस पर दो प्रश्न हैं ^a विशेषणविशिष्टार्थ का अस्तित्व न होने से आप उस के ग्राहकज्ञान को 'विकल्प' रूप यानी 25 अप्रमाण मानते हैं या ^b तथाविध अर्थ का वह ग्राहक है इसलिये ? ^a प्रथम पक्ष में सिद्धसाध्यता दोष लगेगा क्योंकि हम भी असत् अर्थ के ग्राहक ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं मानते। ज्ञातव्य यह है कि पूर्वोक्त चार पक्षों में जो ^B दूसरा पक्ष है और यहाँ जो ^a प्रथम पक्ष कहा गया - उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, पहले हमने ^B दूसरे पक्ष का प्रतिकार कर दिया है इसलिये यहाँ ^a प्रथम पक्ष का भी प्रतिकार हो जाता है। ^b विशेषणविशिष्ट अर्थ का ग्राहक ऐसा द्वितीय पक्ष का स्वीकार अनुचित 30 है। कारण, नीलादिज्ञान भी नीलत्वादिविशेषणविशिष्ट ही अर्थ का ग्राहक होने से, उस में भी प्रत्यक्षत्व का भंग प्रसक्त होगा।

[प्रत्यक्षत्व विशेषणविशिष्टार्थग्रहण से विरुद्ध नहीं]

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष विशेषणविशिष्टार्थग्राहि नहीं होता — तो यहाँ प्रश्न खडा होता है

तद्ग्राहिणोऽध्यवसायस्यानध्यक्षता ? अथ विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वे विचारकत्वमध्यक्षविरुद्धम् अर्थ-
सामर्थ्याद्भूतस्य विचारकत्वाऽयोगात्। असदेतत्, विशेषणविशिष्टार्थावभासिनस्तस्याऽविकल्पवत् विचारकत्वा-
ऽयोगात् स्मरणाद्यनु(वं?)संधानसमर्थस्य प्रमातुरेव विचारकत्वात् कथं विशेषणग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य
तस्याऽप्रत्यक्षता ? विशिष्टसामग्रीप्रभवस्याऽप्रत्यक्षत्वे चक्षुरूपालोकमनस्कारसापेक्षस्याऽविकल्पस्याऽप्रत्यक्ष-
ताप्रसक्तिः।

5

न च विशेषणादिसामग्र्यनपेक्षत्वादस्य प्रत्यक्षता, प्रतिनियतस्वसामग्र्यपेक्षस्य विशेषणविशिष्टार्थावभासिनोऽपि
प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात्। अन्यथा रूपज्ञानस्यालोकाद्यपेक्षस्याध्यक्षत्वे रसज्ञानं सामग्र्यन्तरसापेक्षमनध्यक्षं स्यात्
विभिन्नस्वभावसामग्रीसापेक्षत्वात्। न च विशेषणविशिष्टार्थग्रहणे विशेषणविशेष्यसम्बन्धलौकिकस्थितीनां
परामर्शः, यतो विशेषण-विशेष्यतत्सम्बन्धानां न स्वतन्त्राणां विशिष्टार्थग्रहणात् प्रागवभासः अपि तु
चक्षुरादिव्यापारे स्वतन्त्रनीलग्रहणवत् विशेषणविशिष्टार्थग्रहणं सकृदेव। केवलं तत्र 'त्रयम्' इति प्रतिभासो 10

— प्रत्यक्षत्व और विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्व इन दोनों में कौन सा विरोध है कि जिस से आप तथाविध
अर्थग्राहक अध्यवसाय को प्रत्यक्षत्व से वंचित करते हैं ? यदि कहें कि — 'जो विशेषणविशिष्टार्थ
ग्राहक होता है वह 'विचारक' बन जाता है (यानी अपनी ओर से वह अदृष्ट अर्थ का भी सन्धान
कर देता है!) अर्थसामर्थ्य से जो प्रत्यक्ष जन्म लेता है वह विचारक नहीं होता।' — तो यह गलत
बात है। निर्विकल्प की तरह ही विशेषण विशिष्टार्थअर्थग्राही विकल्प भी विचारक नहीं होता। स्मृति 15
आदि के द्वारा पूर्वदृष्ट अर्थादि का अनुसन्धान तो समर्थ प्रमाता ही करता है, वही विचारक है।
जब विकल्प भी विशेषणग्रहण आदि अर्थसामग्री बल से ही जन्म लेता है तो उस को प्रत्यक्षत्व से
वंचित कौन कर सकता है ? यदि विशिष्ट सामग्रीबल से उत्पन्न विकल्प को प्रत्यक्ष नहीं मानेंगे तो
नेत्र, रूप, प्रकाश और मन आदि सामग्री बल सापेक्ष जन्मधारी निर्विकल्प में भी प्रत्यक्षत्व का भंग
होगा। 20

[प्रत्यक्षत्व के साथ विशेषणादिसामग्रीजन्यत्व का अविरोध]

यदि कहा जाय — "रूप, मन आदि अपनी सामग्री से ही निर्विकल्प उत्पन्न होता है न कि
विशेषणादि सामग्री से, इस लिये वह 'प्रत्यक्ष' है।" — तो हम भी कहेंगे कि अपनी अपनी नियत
सामग्री (यानी विशेषणादि सामग्री) से उत्पन्न होने के कारण 'विशेषण से विशिष्ट अर्थ' का अवभासक
विकल्प भी 'प्रत्यक्ष' स्वरूप होने में कोई विरोध नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो — प्रत्यक्षतया 25
मान्य रूपज्ञान की जो आलोकादि सामग्री है उस की अपेक्षा की परवा न कर के जो अपनी अन्यविध
ही सामग्री से उत्पन्न होनेवाला रसज्ञान है — वह भी रूपज्ञानीय आलोकादिसामग्रीनिरपेक्ष होने से
अप्रत्यक्षरूप मानने का संकट होगा। ऐसा कहें कि — 'विशेषण से विशिष्ट अर्थग्रहण में पूर्वगृहीत
विशेषण, विशेष्य और उन का सम्बन्ध तथा उन की लौकिक धारणा का भी प्रवेश हो जाने से
विकल्प 'प्रत्यक्ष' नहीं हो सकता' — तो यह भी गलत है। कारण, विशिष्टार्थग्रहण के पूर्वकाल में 30
स्वतन्त्ररूप से विशेषण, विशेष्य या उन के संसर्ग का अवभास रहे ही ऐसा नहीं है, किन्तु नेत्रादि
सक्रिय होने पर जैसे नील का स्वतन्त्रग्रहण होता है वैसे ही नेत्रादिव्यापार से विशेषणविशिष्ट अर्थग्रहण

विशिष्टार्थग्रहणस्यान्यथाऽसम्भवात् कथ्यते। न च यथावस्थितवस्तुग्रहणं कल्पना, अतीतादिग्रहणवत्।

- न च जात्यादित्रयस्याभिन्नस्य भेदाध्यवसायः दण्डशब्दयोर्भिन्नयोरभेदाध्यवसायो वा, कल्पनाद्वयस्याप्यसम्भवात्। तथाहि—न जात्यादित्रयस्य वस्तुनोऽव्यतिरेकादसत्त्वाद्वाऽभेदे भेदाध्यवसायः द्वयोरप्यनुपपत्तेः। न हि जात्यादेरभेदे असत्त्वे वा तद्व्यवच्छिन्नयस्तुग्रहणसम्भवः असतो अभिन्नस्य वा अवच्छेदकत्वानुपपत्तेः।
- 5 न च तत्प्रतिभासेऽपि प्रतिभासविषयस्य द्विचन्द्रादेरिव प्रमाणबाधितत्वात् तत्प्रतिभासोऽप्रमाणम्, यतो न द्विचन्द्रादेरिव जात्यादेः किञ्चिद् बाधकम् वृत्तिविकल्पादेस्तद्बाधकस्य निषेधात्। तद् न जात्यादित्रयस्याऽभिन्नस्य भेदप्रतिभासः कल्पना। नापि दण्ड-शब्दयोरभेदाध्यवसायः, यदि तत्राऽभेदप्रतिपत्तिस्तदैकप्रतिभासेऽवच्छेदकावच्छेद्यभावेन ग्रहणं न भवेत्, किं हि तदपेक्षावच्छेदकमवच्छेद्यं वा अर्थान्तरापेक्षत्वात् तयोः। तथाहि—दण्डस्य दण्डिनं प्रति व्यवच्छेदकत्वेन प्रतिभासो नैकत्वेन, एवं वाचकस्यापि वाच्यप्रतिपत्तौ दृष्टव्यम्।
- 10 भी एक साथ एक झटके से ही होता है। हाँ, उस अर्थग्रहण में उन तीनों का 'ये तीन' ऐसा भी प्रतिभास प्रविष्ट रहता है, क्योंकि उस के विना उन तीनों से गुम्फित विशिष्टार्थग्रहण सम्भव नहीं होगा। अतीत-अनुत्पन्न का ग्रहण तो कल्पनारूप हो सकता है क्योंकि वह अवस्तुग्राही है, किन्तु उसके दृष्टान्त से, यथावस्थित विशेषणविशिष्ट वर्तमान वस्तुग्राही ज्ञान को कल्पना कहना गैरमुनासिब ही है।

[जात्यादि त्रय एवं शब्द-अर्थ में कल्पनाद्वय का निरसन]

- 15 यदि आप कहेंगे कि — 'जातिरूप विशेषण, व्यक्तिरूप विशेष्य और उन का संसर्ग, इन तीनों में अगर अभेद रहते हुए भी एक झटके से हो जानेवाले विशेषणविशिष्टार्थग्राही विकल्प में उन तीनों का भेद ('ये तीन') इस प्रकार भासित होता है तो वह 'कल्पना' ही बन जायेगा न कि प्रत्यक्ष। दूसरी बात — दण्ड और उस के वाचक शब्द, इन दोनों में भेद रहते हुये भी अभेद का अध्यवसाय होने पर दण्ड का विकल्प भी मिथ्या यानी कल्पनारूप ही सिद्ध होगा। अत एव उस को प्रमाण
- 20 नहीं कह सकते!' — तो इस कथन में दोनों कल्पना असम्भव है। कैसे यह देखिये —

- जाति आदि तीन यदि सर्वथा वस्तु से अभिन्न होंगे अथवा सर्वथा असत् होंगे तो दोनों स्थिति में, अभेद में भेदाध्यवसाय का होना असंगत है। जाति आदि तीनों का अभेद होने पर अथवा तीनों ही असत् होने पर कोई किसी से विशिष्ट न होने से, जाति आदि से व्यवच्छिन्न यानी विशिष्ट अर्थ का ग्रहण संभवित ही नहीं है। नियम है कि अभिन्न या असत् पदार्थों में विशेषण-विशेष्य या
- 25 अवच्छेदक-अवच्छेद्य भाव संगत नहीं होता।

[जाति आदि का प्रतिभास मिथ्या नहीं]

- यदि कहें कि — "जात्यादि तीन का प्रतिभास होता है, हम उस का निषेध नहीं करते, किन्तु मिथ्याप्रतिभास का विषय चन्द्रद्वैत प्रमाणबाधित होने से जैसे हम चन्द्रद्वैतग्राहक प्रतिभास को अप्रमाण ठहराते हैं वैसे ही जात्यादि का प्रतिभास भी अप्रमाण है क्योंकि उस का विषय (जात्यादि) प्रमाणबाधित
- 30 है।" — तो यह गलत है क्योंकि जाति आदि को स्वीकारने में कोई ठोस बाधक नहीं है। 'वह अपने आश्रय में सर्वात्मना रहेगा या देश से ?' ऐसे विकल्पों के द्वारा भी जाति का बाध संभव नहीं है, क्योंकि हम अपने ग्रन्थों में उस का निरसन कर चुके हैं। निष्कर्ष, "जाति-व्यक्ति-संसर्ग तीनों

वाचकावच्छिन्नवाच्यप्रतिभासाभ्युपगमवादिनामेतन्मतम्, येषां तु तटस्थ एव वाचको वाच्यप्रतिपत्तौ वाचकत्वेन प्रतिभातीतिमतं तेषामभेदाध्यवसायो दूरापास्त एव।

अपि च एवंवादिनां तिरस्कृतस्वाकारस्याकारान्तरानुषक्तस्यार्थस्य ग्रहणं कल्पनेति ^Dचतुर्थपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्। न चायमभ्युपगमः सौगतानां युक्तः स्वसिद्धान्तविरोधात्। तथाहि — अविकल्पकमेतद्विज्ञानं भ्रान्तमध्यक्षाभासमभ्रान्तव्यवच्छेद्यं सौगतसमये प्रसिद्धम्। तथा च — ()

5

में अभेद के रहते हुए भेद का प्रतिभास होना यही 'कल्पना' है" ऐसा पहला विकल्प निरस्त हो जाता है।

दूसरा विकल्प :- दण्ड और शब्द में भेद रहते हुए भी अभेद का अध्यवसाय 'कल्पना' है — यहाँ भी कहना पड़ेगा कि यदि इन दोनों में सच्चे ही अभेदाध्यवसाय होगा तो प्रतिभास भी दोनों का एकरूप से एक ही होगा, फिर न द्वैरूप्य का प्रतिभास है न तो दो प्रतिभास है फिर 10 उन दोनों में से एक का अवच्छेदक या विशेषणरूप से और अन्य का अवच्छेद्य यानी विशेष्यरूप से अथवा वाचक एवं वाच्यरूप से ग्रहण ही शक्य न होगा। वाचक-वाच्य भाव या अवच्छेदक-अवच्छेद्य भाव तो अन्योन्यसापेक्ष ही होता है। किन्तु यहाँ ऐसा कौन है जो दूसरे की अपेक्षा अवच्छेदक या अवच्छेद्य बने (?) जब प्रतिभास ही एक का है। सोचो कि जब दण्ड, दण्डि पुरुष के विशेषण यानी व्यावर्तक रूप से प्रतिभासित होता है तब दोनों का अभेद या एकत्व भासित नहीं होता, न अभेदाध्यवसाय 15 होता है। इसी तरह, वाचक शब्द वाच्यार्थ के व्यावर्तकरूप में भासित होगा तो अभेद या एकत्व का प्रतिभास संभव नहीं है। अरे, यह तो उस मत की बात है कि जिस के अनुसार, वाचकशब्द से अनुविद्ध वाच्यार्थ का भान माना जाता है। जब अनुविद्ध भान वाले मत में भी एकत्वेन प्रतिभास असंभव है तो जिस मत में वाच्यार्थ के भान में, विशेषणरूप से अनुविद्ध नहीं किन्तु स्वतन्त्ररूप से ही तटस्थ वाचक का भान माना जाता है उस के मतानुसार तो उन दोनों में अभेद के अध्यवसाय 20 का स्वप्न भी नहीं देख सकते।

[D आकारान्तरानुषक्तवस्तुभासकत्व- चौथा विकल्प]

दूसरी बात यह है कि कल्पना के तीसरे पक्ष की व्याख्या उक्त ढंग से करनेवाला वादी वास्तव में तो तीसरे पक्ष को छोड़ कर ^Dचौथे पक्ष का स्वीकार करने लग जायेगा। ^Dचौथा पक्ष है (पृ०२३७-३) — अपने आकार का तिरोधान हो कर अन्य आकार से उपरक्त अर्थ को ग्रहण करना यही कल्पना 25 है। बौद्धवादी को इस पक्ष का अंगीकार अनुकूल नहीं रहेगा क्योंकि उस में अपने ही सिद्धान्त के साथ विरोध प्रसक्त होगा। कैसे यह देखिये —

बौद्धमत में यह सुविदित है कि पूर्वोक्त विज्ञान अविकल्परूप होते हुए भी भ्रान्त होने से प्रत्यक्षाभासरूप है जिस का प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पदप्रयोग द्वारा व्यवच्छेद किया गया है। इस में यह साक्षिश्लोक है — ()

30

“भ्रान्ति, संवृति (कल्पना), अनुमान, अनुमानावलम्बि ज्ञान, स्मृति एवं इच्छाप्रेरित ज्ञान (आहार्य ज्ञान) ये सब प्रत्यक्षाभास है और तैमिरिकज्ञान भी।”

भ्रान्ति-संवृति-संज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मार्त्ताभिलाषिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ।। ()

इत्यत्र 'स्मार्त्ताभिलाषिकं चेति' 'इति' शब्दपरिसमापिताद् विकल्पवर्गात् पृथक् 'सतैमिरम्' इत्यनेनाविकल्पस्यैवंजातीयकस्य प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतिपादितम् । कल्पनात्वे वाऽस्याऽभ्रान्तपदोपादानमेतद्व्यवच्छेदार्थं प्रत्यक्षलक्षणे न युक्तियुक्तं स्यात् । तद् न चतुर्थपक्षाभ्युपगमोऽपि न्यायोपपन्न इति नार्थसामर्थ्यानुद्भूतत्वादप्रत्यक्षता 5 विकल्पानाम् ।

यच्च 'अर्थापयोगेऽपि' (पृ०२३५-पं०५) इत्यादिदूषणमक्षजत्वे तेषां प्रतिपादितम् तदप्यसंगतम् । यतो यथा निर्विकल्पोत्पादकसामग्र्यन्तर्भूताश्चक्षुरादयः सहकारिणोऽन्योन्यसव्यपेक्षा अपि कार्यात्पादनैव परस्परतो व्यवधीयन्ते— तज्जननस्वभावत्वात् तेषाम् — तथा सविकल्पोत्पादका अपि । न च 'अन्त्यावस्थाप्राप्तं

इस श्लोक में भ्रान्ति से ले कर स्मृति और इच्छाप्रेरित ज्ञान तक विकल्पज्ञानों के वर्ग का 10 निरूपण समाप्त कर के, उन से पृथक् ही 'सतैमिर' पद से निर्विकल्प तथाप्रकार के (तिमिरदोषजन्य) ज्ञान को भी प्रत्यक्षाभास कहा गया है। (तात्पर्य, निर्विकल्प भी सब प्रमाणभूत नहीं होता।) यदि बौद्ध कहेगा कि यह ज्ञान तो कल्पनारूप ही है — तो फिर प्रत्यक्ष के लक्षण में तथाविध तैमिरिक ज्ञान के प्रामाण्य के व्यवच्छेद हेतु जो 'अभ्रान्त' पद डाला गया है वह युक्तिशून्य रह जायेगा। 'कल्पनाऽपोढं अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' इस लक्षण में 'कल्पनापोढं' पद से ही कल्पना का तो व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता 15 है फिर 'अभ्रान्त' पद की सार्थकता कैसे होगी ? हाँ, तैमिरिक विज्ञान को निर्विकल्प माना जाय तो वह भ्रान्त होने से, उस में प्रामाण्य का व्यवच्छेद हेतु 'अभ्रान्त' पद सार्थक बनेगा।

निष्कर्ष, कल्पना का पूर्वोक्त चौथा पक्ष भी न्यायसंगत नहीं है। अत एव सिद्ध होता है कि अर्थसामर्थ्य से उद्भव न होने मात्र से विकल्पज्ञान सब 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप नहीं होते यह कथन निःसार है।

20 [निर्विकल्प और सविकल्प के उत्पादकों में साम्य]

विकल्पों को इन्द्रियजन्य मानने के पक्ष में आपने (बौद्धों ने) जो दूषण अर्थ का उपयोग होने पर भी ... (२३५-२०) इत्यादि कह कर दिया है उस के प्रत्युत्तर में न्यायदर्शन वादी कहता है कि वह भी असंगत ही है। कारण यह है कि — जैसे निर्विकल्प की उत्पादक सामग्री के अन्तर्गत नेत्र-आलोक आदि सहकारी कारण परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी कार्य को उत्पन्न करते हुए ही एक- 25 दूसरे से व्यवहित भी होते हैं, न कि कार्य उत्पन्न न करते हुए, क्योंकि उन का ऐसा— व्यवहित होकर कार्य जनन का स्वभाव है। तो ऐसे ही सविकल्प के उत्पादक नेत्र-आलोक आदि भी कार्य उत्पन्न करते हुए ही एक-दूसरे से व्यवधान (भेद) रखते हैं, और परस्पर सापेक्ष भी होते हैं। ऐसा होने के पीछे रहस्य यह है कि जैसे निर्विकल्प के उत्पादक कारणों का स्वभाव ऐसा होता है कि परस्पर व्यवधान (भेद) रखे और परस्पर सहकार से कार्य निपजावे, ठीक विकल्प के उत्पादक कारणों 30 का भी वैसा ही स्वभाव रहता है, इस में संदेह क्या ?!

[परस्पर सापेक्षता के विरह में सामग्रीवाद का भंग]

यदि ऐसा कहा जाय — "निर्विकल्प के लिये जो आपने बताया कि परस्पर सहकार स्वभाव...

निर्विकल्पोत्पादकं चक्षुरादिकमन्यनिरपेक्षमेव स्वकार्यनिर्वर्तकमन्यसंनिधिस्तु तत्र स्ववहेतुनिबन्धनो नोपालम्भविषय' इति वक्तव्यम् "न वै किञ्चिदेकं जनकम्" (प्र०खण्डे पृ०५०-पं०८) इत्यादेर्विरोधप्रसक्तेः। अतश्चक्षुरादिवद् न स्मृत्याऽर्थस्य व्यवधानम्। न च क्षणिकत्वात् स्मृतिकाले अर्थस्यातीतत्वात् तथा तस्य व्यवधानम्, क्षणिकत्वस्यास्मान् प्रत्यसिद्धत्वात्, स्फटिकसूत्रे (न्या०द ३-२-१०) निराकारिष्यमाणत्वाच्च।

यदपि अर्थस्य स्मृतिसापेक्षत्वे दूषणमभ्यधायि- 'यः प्रागजनक' (२३५-११) इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, 5
उपयोगाऽविशेषस्याऽसिद्धत्वात्। तथाहि— भावानां द्विविधा शक्तिः- प्रतिनियतकार्यजनने एका स्वरूपशक्तिः अपरा सहकारिस्वभावा। तत्र प्राक् स्मरणात् स्वरूपशक्तिः न कार्यं जनयति, यदा तु समासादितसहकारिशक्तिः

इत्यादि..... वैसा वास्तव में नहीं है। निर्विकल्प की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में जो चक्षु आदि कारण होते हैं वे परस्पर सापेक्ष नहीं रहते फिर भी उस के अव्यवहित अन्त्यक्षण में परस्पर संनिधान के रहते हुए वे सब एक ऐसी विशिष्ट अवस्था में पहुँच जाते हैं जो कार्य उत्पन्न किये बिना नहीं 10
रह सकते। यहाँ उन कारणों का जो संनिधान है वह परस्पर निरपेक्ष होने पर भी यकायक कैसे हो गया ऐसे प्रश्न को अवकाश नहीं है क्योंकि अपने अपने पूर्वक्षणवर्ती कारण के प्रभाव से वे तथाविध अवस्था में पहुँच सकते हैं। मतलब परस्परसापेक्ष कारणसामग्री का पक्ष हम नहीं स्वीकारते।"

— तो यह कथन अयोग्य है क्योंकि "कार्य का कोई एक ही उत्पादक नहीं होता (किन्तु सामग्री कार्यजनक होती है)" इस सर्वसम्मत तथ्य से आप का विरोध प्रसक्त होगा। फलितार्थ यह है कि 15
जैसे निर्विकल्प में परस्पर का व्यवधान बाधक नहीं है वैसे ही सविकल्प में भी स्मृति का व्यवधान बाधक नहीं। यदि कहें कि — 'अर्थ तो क्षणिक होता है अतः स्मृति संनिधान काल में उस का संनिधान न रहने से स्मृति का व्यवधान बाधक बनेगा।' — तो क्षणिकवाद न मानने वाले हम नैयायिकों के प्रति आप का कथन अकिञ्चित्कर है। 'स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः' (न्यायद०३-२-१०) में इस क्षणिकवाद का निरसन नैयायिकों ने किया ही है। 20

[द्विविध भावशक्ति के द्वारा अनुपयुक्तता का समाधान]

अपने प्रत्यक्ष होने में अर्थ स्मृतिसापेक्ष है — इस तथ्य के विरुद्ध आपने जो कहा था (२३५-३१) — "पहले जो (स्मृति के विना) अजनक है वह बाद में भी जनक नहीं हो सकेगा क्योंकि तभी भी वह अनुपयुक्त से भिन्न नहीं है... इत्यादि" — वह भी असंगत है चूँकि बाद में (स्मृति के होने पर) भी वह अनुपयुक्त से अभिन्न होने की बात असिद्ध है। ऐसा समझ लो कि — हर 25
पदार्थों में दो प्रकार की शक्ति होती है। नियत स्वरूपवाले कार्य को उत्पन्न करने की योग्यतारूप एक है स्वरूपशक्ति। दूसरी है — सहकारिस्वभावा। (यानी सहकारी के साथ रह कर कार्यात्पत्ति करना।) स्थिति ऐसी है कि स्मृति के पूर्व स्वरूपशक्ति (योग्यता) के रहने पर भी कारण कार्यात्पत्ति नहीं करता। फिर जब सहकारि उपस्थित होता है तब सहकारिशक्ति में रूपान्तरित हो कर स्वरूपशक्ति कार्य को निपजाती है। इसका मतलब ऐसा नहीं समझना कि 'सहकारिशक्ति प्रगट हो कर स्वरूपशक्ति के ऊपर 30
उस से भिन्न अथवा अभिन्न कोई उपकार करती है (इसलिये कार्यात्पत्ति होती है)' किन्तु यहाँ सहकारि जब उपस्थित होता है तब अन्योन्य मिल कर एक कार्य को निपजाते हैं इतना ही भावार्थ है।

स्वरूपशक्तिः भवति तदा कार्यमाविर्भावयत्येव। न च स्वरूपशक्तेः सहकारिशक्त्या व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा कश्चिदुपकारः क्रियते किन्तु संभूय ताभ्यामेकं कार्यं निष्पाद्यते। तथाहि— अन्त्यावस्थाप्राप्तक्षणवत् सहकर्तृत्वमेव सर्वत्र सहकारार्थो, नत्वतिशयाधानमिति क्षणभङ्गभङ्गे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते।

- यदपि 'विशेषणं विशेष्यं च' इत्यादि (पृ०२३६-पं०३) दूषणमभिहितम्, तथा 'संकेतस्मरणोपायम्' इत्यादि च, (पृ०२३६-पं०४) तदपि प्रागेव निरस्तम्। यदपि 'विकल्पाध्यक्षयोरेकविषयत्वे प्रतिभासभेदो न स्यात् दृश्यते च, तदुक्तम् 'शब्देनाऽव्यापृताक्षस्य' इत्यादि' (पृ०२३६-पं०९) — तदप्यसङ्गतम्; शब्दाक्ष-प्रभवप्रतिपत्त्योर्विषयभेदस्य प्रसाधितत्वात्। शब्दजप्रतिपत्तौ शब्दावच्छेदेन वाच्यस्य कैश्चित् प्रतिभासोपगमात्, कारणभेदादेकविषयत्वेऽपि प्रतिभासभेदस्य च कैश्चिदभ्युपगमाद् नैकान्तेन तयोर्भिन्नविषयता। तन्न व्यवसायात्मकं विकल्परूपत्वादनक्षार्थजम्। 'व्यवसायस्य ज्ञानरूपत्वाद् ज्ञानग्रहणं न कार्यम्' इति चेत् ? न, धर्मनिर्देशार्थं

- 10 स्पष्टता :- सहकार का अर्थ यह नहीं है कि क्षण किसी न किसी अतिशय को अपने साथीदार में पैदा करे। जैसे अन्त्य अवस्था में अन्तिम क्षण नये किसी क्षण को जन्म नहीं देती (बौद्ध के मत से दीपकादि की अन्तिम क्षण नये दीपक क्षण को जन्म दिये बिना ही बुझ जाती है, हाँ इन्द्रियादि के साथ मिल कर वह किसी आदमी को प्रत्यक्ष करा सकती है — इस तरह वह सहकारी बनती है, किसी अन्य को जन्म न देने पर भी) इसी तरह दण्ड-चक्रादि भी परस्पर मिल कर घटादि निपजाते हैं। तात्पर्य, परस्पर मिलकर कार्यकर्तृत्व यानी सहकर्तृत्व यही 'सहकार' है, न कि अतिशय का आधान यानी उत्पादन। क्षणिकवाद के प्रतिकार में आगे इस विषय पर अधिक चर्चा करेंगे।

[एक विषयता और प्रतिभासभेद की विकल्प में उपपत्ति]

- यह जो प्रमाणवार्तिककार ने कहा था (पृ०२३६-पं०९६) — "पहले विशेषण, बाद में विशेष्य, फिर संसर्ग एवं लौकिक स्थिति — इन का संकलन कर के ही विकल्प प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं।" तथा यह भी जो उस में कहा गया था (पृ०२३६-पं०९८) — "चाक्षुष तो पूर्वापरसंकलनरहित होता है, उस में ऐसी प्रतीति को अवकाश ही कहाँ जो संकेतस्मरण द्वारा पूर्वदृष्ट का संकलन करे?" इत्यादि...इसका भी पहले निरसन हो गया है। (पहले जो (पृ०२३८-पं०२२) सौगत के खंडन में नैयायिक ने विकल्प के बारे में चार पक्ष ऊठा कर ऊहापोह किया है उस में विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वं इस तीसरे विकल्प की चर्चा में निरसन को देख सकते हैं।)

- 25 यह जो पहले कहा था विकल्प और अध्यक्ष यदि एक विषयक मानेंगे तो प्रतिभासभेद नहीं होना चाहिये किन्तु वह दिखता है। कहा भी गया था (पृ०२३६-पं०२८) — "नेत्र के प्रयोग विना, शाब्दबुद्धि में दर्शन की तरह प्रतिभास नहीं होता इस लिये दर्शन तो शब्द से अनालिङ्गित अर्थ का वेदक होता है" इत्यादि. वह सब असंगत है क्योंकि शाब्दबोध एवं इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में विषयभेद रहता है इस तथ्य का युक्तियुक्त प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि कुछ 30 विद्वानों के मतानुसार शाब्दबोध एवं प्रत्यक्ष में सर्वथा एकान्ततः विषयभेद नहीं माना जाता। कुछ

ज्ञानपदोपादानस्य दर्शितत्वात् (पृ०२३३-पं०१)। व्यवसायात्मकग्रहणं तु धर्मनिर्देशार्थमिति न पुनरुक्तम्।

▲ननु फल-स्वरूप-सामग्रीविशेषणत्वेनाऽसंभवात्त्रेदं लक्षणम्। तथाहि- प्रत्यक्षफलविशेषणत्वे इन्द्रियार्थ-संनिकर्षजत्वादिषु ज्ञान-प्रत्यक्षशब्दयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः फलप्रमाणाभिधायकत्वेन। ज्ञानं हि फलम्, प्रत्यक्षं तत्साधकतमत्वात् प्रमाणमिति कथं तयोः सामानाधिकरण्यम् ? न चैवंभूतं फलं यतः तत् प्रत्यक्षम्, 'यतः' इत्यस्याऽश्रुतत्वात्। तन्न ^Aफलविशेषणपक्षः।

5

अथैतद्विषयपरिजिहीर्षया ^Bस्वरूपविशेषणपक्षः समाश्रीयते सोऽप्युक्तः, एतद्विशेषणविशिष्टस्य प्रत्यक्ष-निर्णयस्याऽकारकस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः। न चाऽकारकस्याऽसाधकतमत्वात् प्रत्यक्षत्वं युक्तम्। अथ कारकत्वं

विद्वान् कहते हैं कि शाब्दबोध में वाच्यार्थ का (वास्तव अर्थ का) प्रतिभास जरूर होता है किन्तु वह शब्दानुविद्धरूप से होता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि दोनों में विषयभेद न रहने पर भी अपने अपने कारण पृथक् होने से (एक में इन्द्रिय, दूसरे में शब्द) प्रतिभास का भेद सावकाश है। 10

निष्कर्ष, "व्यवसायात्मक ज्ञान इन्द्रिय एवं अर्थ से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह विकल्परूप है" यह बौद्धमत युक्तिसंगत नहीं है। यदि कहें कि — "नैयायिक के प्रत्यक्षलक्षण में 'व्यवसाय' पद से ही प्रत्यक्ष की ज्ञानरूपता का निरूपण हो जाने से, लक्षण में 'ज्ञान' पद का समावेश व्यर्थ है" — तो यह कथन असार है क्योंकि लक्षण के निरूपण में धर्मि-पदार्थ का निर्देश करने के लिये 'ज्ञान' पद का प्रयोग सार्थक है यह पहले कह आये हैं (पृ०२३३-पं०११)। लक्षण में जो 'व्यवसायात्मक' 15 ऐसा कहा है वह लक्षणरूप धर्म का निर्देश करने हेतु होने से, 'व्यवसाय' एवं 'ज्ञान' दो पदों के प्रयोग में कोई पुनरुक्ति का दोष नहीं है।

[प्रत्यक्षलक्षण के ज्ञानपदार्थ में फलादि विशेषण तीन पक्ष]

कुछ विद्वानों का अभिप्राय ऐसा है — न्यायसूत्र के प्रत्यक्ष के लक्षण में जितने पद हैं वे न तो ^Aफल के विशेषण हो सकते हैं, न तो ^Bस्वरूप के, न ^Cसामग्री के विशेषण हो सकते हैं। तीन 20 पक्षों में से एक भी प्रकार संगत न होने से यह लक्षण युक्त नहीं है।

प्रथमपक्ष :- इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्व आदि को प्रत्यक्ष के फल (ज्ञान) का विशेषण मानेंगे तो, 'ज्ञान' शब्द फल का और 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमाण (प्रमितिकरण) का वाचक होने से उन दोनों में सामानाधिकरण्य (विशेषण-विशेष्य रूप से मिल कर एक अर्थ का बोधकत्व) की संगति नहीं हो सकेगी।

स्पष्टता :- ^Aलक्षण में गृहीत इन्द्रियसंनिकर्षजन्यत्वादिलक्षण के निर्देश में ज्ञानशब्द और प्रत्यक्षशब्द 25 का सामानाधिकरण्य यानी विशेषण-विशेष्य भाव संगत नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान तो स्वयं इन्द्रियसंनिकर्षादि का फल है और प्रत्यक्ष तो उस से अभिन्न नहीं है किन्तु उस का साधकतम होने से प्रमाण (= प्रमाकरण) है, इन दोनों का सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है ? यदि 'यतः' पद ऊपर से जोड़ कर ऐसा भाव निकाला जाय कि "तथाविध ज्ञान रूप फल जिस से (= यतः) प्राप्त होता है वह

▲. न्यायमञ्जरीग्रन्थे द्वितीयाह्निके चर्चयमवधारणीया।

विशेषणमुपादीयते, तथापि संस्कारजनके प्रसङ्गः। अथ एवंविशिष्टमुपलब्धिसाधनं यत् तत् प्रत्यक्षम्। ननु एवमप्यश्रुतपरिकल्पनाप्रसक्तिः। 'सामान्यलक्षणानुवादद्वारेण विशेषणलक्षणविधानाद् नाऽश्रुतकल्पने'ति चेत् ? न, एवमपि द्वितीयलिङ्गदर्शनेऽविनाभावस्मृतिजनके गोत्ववदर्थदर्शने च सङ्केतस्मृतिजनके प्रसङ्गः। तन्निवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारे विपर्ययज्ञानजनके प्रसङ्गः। विपर्ययज्ञानं हि सारूप्यज्ञानादुपजायते

5 यथोक्तविशेषणविशेषितात्, तस्य चार्थोपलब्धित्वमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वप्रतिपादनात् सूत्रकारस्याभीष्टमेव।

'प्रत्यक्ष' प्रमाण है" — तो यह उचित नहीं है क्योंकि सूत्र में 'यत्:' पद का श्रवण नहीं है। सारांश, फल विशेषणवाला पहला पक्ष बेकार है।

प्रथम पक्ष के दोषों का परिहार करने के लिये यदि दूसरा पक्ष पकड़ा जाय — इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप है, मतलब कि 'जो ऐसा ऐसा स्वरूपवाला है वह प्रत्यक्ष है' तो फलितार्थ

10 यह होगा कि प्रत्यक्ष का तथाविधविशेषणविशिष्टज्ञानमय स्वरूप होगा, लेकिन प्रत्यक्षनिर्णय किसी अन्य ज्ञान का कारक तो नहीं होगा, जो कारक नहीं वह कारण यानी साधकतम भी नहीं हो सकता, फिर भी उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने से जो अकारक है उस में यानी प्रत्यक्षनिर्णय में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी। इस दोष से बचने के लिये यदि कारकत्व को भी विशेषण बना दिया जाय तो जो प्रत्यक्ष ज्ञान अन्यज्ञान का नहीं किन्तु संस्कार का जनक है (वह भी कारक होने से) उस में

15 अतिव्याप्ति तदवस्थ रहेगी। यदि संस्कार जनकता के द्वारा आने वाली अतिव्याप्ति से बचने के लिये यत्कारकत्व को छोड़ कर 'तथाविधविशेषणविशिष्ट उपलब्धि का जो कारण (साधन) है वही प्रत्यक्ष है' ऐसी व्याख्या करेंगे तो यद्यपि अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा किन्तु सूत्र में जो नहीं कहा है उस की कल्पना करने का दोष होगा (यानी सूत्र की न्यूनता का दोष आयेगा)। यदि कहें कि- "सूत्रकारने तो प्रत्यक्ष का विशेषलक्षण ही निरूपित किया है और विशेषलक्षण सामान्यलक्षण का अविनाभूत ही

20 होता है — इस लिये ऐसा समझ सकते हैं कि सूत्रकार ने उपलब्धिसाधनत्वरूप सामान्य लक्षण से लक्षित प्रत्यक्ष का अनुवाद कर के ही उस में विशेषलक्षण का विधान किया है। अब अश्रुतकल्पना का दोष कैसे रहेगा ?" — तो ऐसा करने पर भी अविनाभावरूप व्याप्ति की स्मृति का जनक जो द्वितीय लिङ्गदर्शन है (जो कि न्यायमत में प्रमाण नहीं कहा जाता, धारावाही होने से) तथा 'यह अर्थ गोपद का वाच्य है' इस तरह संकेत की स्मृति का जनक गोत्वजातिमद् गो अर्थ का दर्शन

25 है इन दोनों के उपलब्धिसाधनत्वरूप कारकत्व का अनुवाद हो कर इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्वादिविशेषणों का विधान लागू हो जाने से उन दोनों दर्शनों में अतिव्याप्ति लगी रहेगी। यदि इस दोष से बचने के लिये सामान्यलक्षण के अनुवाद को छोड़ दिया जाय, तो विपर्ययज्ञान के कारक में अतिव्याप्ति होगी। विपर्ययज्ञान (भ्रम) इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्व रूप विशेषण से विशेषित सारूप्य (सादृश्य) ज्ञान से ही उत्पन्न होता है (किन्तु उस में अर्थोपलब्धिकारकत्वरूप सामान्य लक्षण नहीं होता) वह इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य

30 होने से सिर्फ 'अर्थोपलब्धि' रूप ही होता है जो सूत्रकार को भी मान्य है। ऐसे विपर्ययज्ञान में अतिव्याप्ति तदवस्थ रहेगी।

अथ तद्व्यावृत्तये अव्यभिचारिविशिष्टोपलब्धिजनकत्वाध्याहारः, तथापि संशयज्ञानजनके प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः।
 अथ तन्निवृत्तये व्यवसायात्मकार्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारः, तथापि अनुमाने प्रसङ्गः, यस्मात् प्राक्
 प्रतिपादिताशेषविशेषणाध्यासितं विशिष्टोपलब्धिजनकं च परामर्शज्ञानमध्ययनादिभिरभ्युपगम्यत इति तस्यानुमिति-
 फलजनकस्याध्यक्षताप्रसक्तिः। अथेन्द्रियार्थसन्निकर्षजोपलब्धिजनकस्येत्यध्याहारः, तथापि उभयज्ञानजनकस्य
 प्रत्यक्षताप्रसक्तिः। यस्मात् इन्द्रियस्वरूपज्ञानात् केनचिद् 'देवदत्तोऽयम्' इति शब्द उच्चारिते इन्द्रियशब्दव्यापाराद् 5
 'देवदत्तोऽयम्' इति संकेतग्रहणसमये ज्ञानमुत्पद्यते यथोक्तविशेषणविशिष्टमिति तज्जनकस्य स्वरूपज्ञानस्य
 प्रत्यक्षताप्रसक्तिः। 'तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेशपदाध्याहार' इति चेत् तर्ह्यश्रुतस्य द्वितीयसूत्रस्य कल्पनाप्रसक्तिः।
 सत्यामप्यश्रुतसूत्रकल्पनायामव्याप्त्यतिव्याप्त्योरनिवृत्तिः तुला-सुवर्णादीनामबोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्राप्तेः
 सन्निकर्षेन्द्रियादीनां च।

[ज्ञानपद की स्वरूपविशेषणता पक्ष में मुसीबतपरम्परा]

10

यदि कहें कि — “इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष का विशेषण मानने पर, एवं अर्थोपलब्धिजनकत्व
 सामान्यलक्षण का अन्तर्भाव करने पर विपर्ययज्ञानजनक में अतिव्याप्ति लग जाती है — तो उस के
 निवारण हेतु हम अव्यभिचारि विशिष्टोपलब्धिजनकत्व का अध्याहार कर लेंगे — विपर्ययज्ञान तो व्यभिचारी
 होता है।” — तो नया दोष — संशयज्ञान के जनक में अतिव्याप्ति होगी। उभयकोटिक संशयज्ञान
 भी किसी एक कोटि में अव्यभिचारि होता है। अतः उस के जनक इन्द्रियादि में प्रत्यक्षत्व की प्रसक्ति 15
 होगी। यदि उस के निवारण के लिये व्यवसायात्मक अर्थोपलब्धिजनकत्व का अध्याहार करेंगे तो अनुमान
 व्यवसायात्मक होने से उस में अतिव्याप्ति होगी। कैसे यह देखिये — अनुमितिफल का जनक होता
 है परामर्शज्ञान। वह पूर्वोक्त सर्व विशेषणों से (अव्यभिचारि, व्यवसायात्मक इत्यादि से) अवगुण्ठित
 है, विशिष्टोपलब्धि का जनक है, ऐसा अध्ययनादि विद्वानोंने स्वीकार किया है — ऐसे परामर्शज्ञान
 रूप अनुमितिजनक में प्रत्यक्ष का लक्षण व्याप्त होने से अतिव्याप्ति आयेगी। 20

यदि कहें — “अनुमानजनक में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये ‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्योपलब्धि
 का जनक हो’ इस विशेषण का भी अध्याहार करेंगे” — तो उभय (इन्द्रिय-शब्द) जन्यज्ञान के जनक
 में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी। कारण, इन्द्रियजन्य देवदत्तविषयक स्वरूपज्ञान के साथ जब किसीने
 ‘यह देवदत्त है’ ऐसी पीछान करा दिया तब इन्द्रिय और शब्द उन दोनों के व्यापार से संकेतग्रहणकालीन
 ‘यह देवदत्त है’ ऐसा जो फलात्मक ज्ञान उत्पन्न होगा वह अव्यभिचारि, व्यवसायात्मक एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य 25
 अर्थोपलब्धि स्वरूप ही होता है, इसलिये उस के जनक स्वरूपज्ञान में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी।
 यदि कहें कि इस दोष को टालने के लिये ‘अव्यपदेश्य’ पद का भी समावेश चाहेंगे तो ‘यह देवदत्त
 है’ ऐसा ज्ञान शब्दव्यपदेशगर्भित होने से उस में तो अतिव्याप्ति नहीं रहेगी किन्तु सूत्र में अपठित
 ऐसे अव्यपदेशजनकम् नये सूत्र की कल्पना का दोष तो रहेगा। इस के उपरान्त भी अव्याप्ति और
 अतिव्याप्ति दोषयुगल अटल रहेगा। ज्ञानभिन्न तुला-सुवर्ण आदि में एवं सन्निकर्ष और इन्द्रियादि में 30

न च संनिकर्षस्य प्रामाण्यं सूत्रकृता नेष्टं 'संनिकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्' () इति वचनात्, ग्रहणहेतोश्च प्रामाण्यम्। न च कर्मकर्तृरूपता तस्येति, कर्म-कर्तृविलक्षणस्य ज्ञानजनकत्वात् कथं न तस्य प्रामाण्यम् ?

5 () इति वचनात्। न च प्रमाणसहकारित्वात् तेषां प्रमाणत्वम् अन्यस्येन्द्रियात् प्रागुपग्राहकस्योपग्राहिणोऽभावात् भावेऽप्यज्ञानरूपत्वात् तस्य न प्रमाणता भवेदित्यव्याप्तिस्तदवस्थैव। प्रदीपादीनां चाज्ञानात्मकत्वेऽपि प्रमाणत्वं प्रसिद्धं लोके।

तथा सुवर्णादिः 'प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत्' (न्या.द.२-१-१६) इति प्रामाण्यं प्रतिपादितं सूत्रकृता।

प्रत्यक्षत्व की अव्याप्ति आयेगी। (अब क्रमशः संनिकर्ष, इन्द्रिय, सुवर्ण और तुला में प्रत्यक्षत्व की
10 अव्याप्ति कैसे होती है, तथा इन्द्रियगति की अनुमिति में लिङ्गभूत इन्द्रियार्थसंनिकर्ष में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति कैसे होती है — यह क्रमशः कहा जायेगा।)

[संनिकर्ष एवं इन्द्रियों के प्रामाण्य का समर्थन]

यह नहीं कह सकते कि सूत्रकार को संनिकर्ष में प्रामाण्य अमान्य है क्योंकि 'संनिकर्षविशेष से उस का ग्रहण होता है' ऐसे मतलब के सूत्रवचन से संनिकर्ष की प्रमाणता सूचित होती है। सूत्रकार
15 के वचन से ग्रहणहेतु संनिकर्ष की प्रमाणता निर्बाध है। यदि पूछे कि संनिकर्ष प्रमाण का कर्म है या कर्त्ता तो उत्तर यह है कि वह न तो कर्म है न कर्त्ता किन्तु कारण है। तात्पर्य, कर्म-कर्त्ता से विभिन्न ऐसा करणात्मक संनिकर्ष ज्ञानजनक है तब उस में प्रामाण्य का अपलाप कैसे किया जाय ?

संनिकर्ष की भाँति इन्द्रियों की प्रमाणता भी सूत्रकार को मान्य है, साक्षि है 'अपने विषय को ग्रहण करनेवाली ईन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं' इस भाव का सूत्रवचन। विषयग्रहण (प्रमिति) में इन्द्रिय करण
20 है इसलिये वह प्रमाण है। प्रमिति के करण को प्रमाण कहते हैं। यदि कहें कि — 'इन्द्रिय तो स्वयं प्रमितिकरण = प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाण का सहकारि होने से उपचारतः प्रमाण है' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय को सहकारि तभी कहा जा सकता है जब उपग्राहक इन्द्रिय के पहले उस से अन्य कोई उपग्राह्य यानी सहकार्य का अस्तित्व हो। ऐसा तो कुछ है नहीं। यदि वैसा कोई पूर्ववर्ती भाव होने की कल्पना की जाय तो वह भी अज्ञानरूप ही होगा, इस स्थिति में संनिकर्षादि
25 की तरह उस में प्रमाणता न घटने से ही अव्याप्ति तदवस्थ रहेगी। ऐसा नहीं है कि जो अज्ञानरूप हैं वे प्रमाण नहीं होते, प्रदीपादि अज्ञानरूप होने पर भी लोक में प्रमाण गिने जाते हैं।

[तुला की तरह सुवर्णादि के प्रामाण्य का समर्थन]

न्यायसूत्रकार ने — 'तुला के प्रामाण्य की भाँति (सुवर्णादि) प्रमेयों भी प्रमाणभूत हैं' — ऐसे भावार्थवाले सूत्र के द्वारा सुवर्णादि प्रमेयों का भी प्रामाण्य मान्य किया है। सूत्र का प्रगट अर्थ ऐसा
30 है — जब सुवर्णादि को तुला के द्वारा तुला जाता है तब तुला ही प्रमाण है। तुला का प्रामाण्य

सूत्रस्य चार्थः- यथा (?दा) सुवर्णादि परिच्छिद्यते तदा तुला प्रमाणम् प्रमाणं चागमानुमानपूर्वकम् दशपलादिज्ञानस्यानिन्द्रियार्थसंनिकर्षपूर्वकत्वात् तदभावश्च वस्त्रादिव्यवहितेऽपि भावात्। तथा प्रमेयं च यदा सुवर्णादिना तुलान्तरमितेनानुमीयते तदा सुवर्णादिद्रव्यं प्रत्यक्षं प्रमाणम् इन्द्रियार्थसंनिकर्षजज्ञानजनकत्वात्। इन्द्रियार्थसंनिकर्षजं च पञ्चपलरेखादिज्ञानं तदभावभावित्वात्। अत इन्द्रियादिसहकारि तत् सुवर्णादि पञ्चपलरेखादिज्ञानमुत्पादयत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्। सुवर्णवदिन्द्रियार्थजज्ञानमुत्पादयन्तः सर्व एव भावाः 5 प्रत्यक्षप्रमाणतामाभिभ्रति।

स्मृति-संशय-विपर्ययादीनां चेन्द्रियार्थसंनिकर्षेण सह व्यापारे विशिष्टफलजनकत्वेन प्रत्यक्षतोपेयते। तथाहि— संशय-विपर्ययोरपि बाह्ये विषये स्वावलम्बने स्वावच्छेदकत्वेनेन्द्रियार्थसंनिकर्षेण सह व्यापारादात्म-

इस ढंग से है - सुवर्णादि का दश पलादिभार (गुरुत्व) का ज्ञान इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से तो नहीं हो सकता, किन्तु तुला के अवनमनरूप लिंग के द्वारा तथा 'इतना अवनमन होने पर इतना पल' इस 10 प्रकार का संकेत रेखा यानी आगम के द्वारा होता है - इस ज्ञान में करणरूप से तुला को 'प्रमाण' माना जाता है। गुरुत्व का ज्ञान इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से नहीं होता इस का सबूत यह है कि सुवर्णादि वस्त्रादि से आवृत कर के तुला जाय तो भी गुरुत्व का ज्ञान होता है। तथा कभी तुला भी प्रमेयः- जब नयी तुला के निर्माण हेतु पंचपलभारवाले निश्चित सुवर्णादि द्रव्य के द्वारा नूतन तुला पर पंचपलादि रेखाओं को अंकित किया तब वह सुवर्णादि द्रव्य भी प्रत्यक्षप्रमाणरूप है, क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य 15 ज्ञान का वह जनक है। कैसे ? यह देखिये - उस वक्त जो पंचपलादि दिखानेवाली तुला पर अंकित रेखा है उस का ज्ञान तो इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से ही होता है, उस के अभाव में नहीं होता। इस ज्ञान में सुवर्णादि भी इन्द्रिय आदि का सहकारी बनता है, पंचपलसूचक रेखा के ज्ञान को वह उत्पन्न करता है, इस तरह सुवर्णादि खुद प्रत्यक्ष का कारण होने से प्रमाण है। सुवर्णादि की तरह जो कोई भी पदार्थ इन्द्रियादि का सहकारी बन कर इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य ज्ञान का निमित्त बनता है उन सभी 20 को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का बिरुद घट सकता है।

एक ओर जब इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के साथ प्रत्यक्ष का व्यापार चल रहा हो तब दूसरी ओर पूर्वानुभवजन्य स्मृति या संशय किंवा विपर्यय (भ्रम) आदि का संनिधान रह जाने पर विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्षात्मक फल (विजातीय ज्ञानरूपप्रत्यक्ष फल) उत्पन्न होता है। वहाँ उन स्मृति आदि को भी 'प्रत्यक्ष' प्रमाण की संज्ञा दी जा सकती है। 'सुरभि चन्दन' इस अनुभव में चन्दन के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष 25 के काल में सौरभ की स्मृति भी संनिहित रहती है, वे दोनों मिलकर उस प्रत्यक्ष को उत्पन्न करते हैं अतः स्मृति भी प्रत्यक्ष (यानी प्रत्यक्षकरण) बन जाने से 'प्रमाण' है। इसी तरह अपने आलम्बन भूत बाह्यविषय के अपने अवच्छेदकरूप के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष का योग रहते हुए उस के साथ संशय एवं विपर्यय का भी व्यापार जुट जाता है; तब जो प्रत्यक्ष फल होगा उस में संशय और विपर्यय भी करण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण बिरुद प्राप्त करता है। जो विद्वान् आत्मा के प्रत्यक्ष को स्वीकारते 30 हैं उन के मत में आत्मा भी स्वप्रत्यक्ष की अपने विशेषण के रूप में विशिष्टप्रतीति उत्पन्न करने

प्रत्यक्षवादिनां चात्मनो विशेषणत्वेन विशिष्टप्रतीतिजनकत्वेन प्रत्यक्षत्वात्। न च तयोः सूत्रोपात्तविशेषणयोगिता संदिग्धविपर्ययस्वभावत्वात्।

अतिव्याप्तिरपि, यदेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् लिङ्गाद् गतिमदिन्द्रियं प्रतिपद्यते तदा सकलसूत्रोपात्तविशेषणयोगात् संनिकर्षलक्षणलिङ्गालम्बनस्य ज्ञानस्य तथाविधफलजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसंगात्। एतच्च 'इन्द्रियस्यार्थः' इति 5 समासाश्रयणे दूषणं द्रष्टव्यम्। इति स्वरूपविशेषणपक्षे अनेकदोषापत्तिः।

अथ 'ज्ञानप्रामाण्यवादिभिर्निर्णयस्य प्रामाण्यमिष्यत एवेति नानिष्टप्रेरणायकाशः। तथाहि— तत्सद्भावे विषयाधिगतिरिति लोकस्याभिमानः, यच्च तथाविधविषयाधिगमे करणं तत् प्रमाणम्। निर्णये च सति तदधिगतिरिति स एव प्रमाणम् अत एव नाऽश्रुतसूत्रान्तरकल्पनादोषानुषङ्गोपि।' नैतत् सारम्; यतो

में हेतु होने से, वह भी 'प्रत्यक्ष (करण) प्रमाण' गिना जाता है। किन्तु इन दोनों में (संशय-विपर्यय 10 में) व्यवसायात्मकतादि सूत्रोक्त विशेषण संगत नहीं होता क्योंकि एक संदेहात्मक है तो दूसरा विपर्ययरूप है। फलतः सूत्रोक्त लक्षण इन लक्ष्यों में न घटने से अव्याप्ति दोष अटल रहेगा।

[इन्द्रियगति के अनुमान में प्रत्यक्षत्वापत्तिः]

अब देखिये कि प्रत्यक्षलक्षण के विशेषणों को स्वरूपविशेषण मानने पर अतिव्याप्ति दोष भी अनिवार्य होगा। कोई प्रमाता इन्द्रिय की गतिमत्ता का अनुमान करता है, चक्षु इन्द्रिय का दूरवर्तिविषय 15 के साथ संनिकर्ष इन्द्रिय की गतिमत्ता के विना घट नहीं सकता। यहाँ जो परामर्शज्ञान है उस में प्रत्यक्षता की अतिव्याप्ति होगी। कारण, सूत्रोक्त सभी विशेषण इन्द्रियसंनिकर्षात्मक लिंग के ज्ञान में (परामर्श में) घट जाते हैं। अतः गतिमत्ता की अनुमिति के जनक संनिकर्षात्मकलिंगविषयक परामर्शरूप ज्ञान में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति आयेगी। इतना यहाँ ख्याल में रखना कि यहाँ 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष' पद में 'इन्द्रिय का (ग्राह्य) अर्थ' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास का आधार लेने पर ही अतिव्याप्ति 20 का दोष लग सकता है।

इस प्रकार स्वरूपविशेषण पक्ष में अव्याप्ति-अतिव्याप्तिरूप अनेक उक्त दोषों को अवकाश है।

[अकारकभूत निर्णय में अतिव्याप्ति वारण/आपादन]

स्वरूपविशेषण पक्ष के विरोध में पहले (पृ०२४६-पं०१२) जो कहा गया है कि पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट प्रत्यक्ष निर्णय में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी - उस के सामने प्रतिवादी कहता है - "ज्ञान प्रामाण्य 25 को माननेवाले निर्णय को भी प्रमाण ही मानते हैं, अत एव पूर्वोक्त अतिव्याप्ति आदि दूषणजाल निरवकाश है। देखिये - लोगों को ऐसा विश्वास होता है निर्णय के होने पर विषयों का अवगम होता है। वैसी दशा में तथाप्रकार के विषयों के अवगम के प्रति वह निर्णय 'करण' होने से प्रमाण क्यों नहीं होगा ?! निर्णय के रहने पर ही विषयावबोध होता है इस लिये निर्णय प्रमाण ही है। अत एव आपने जो 'अश्रुत सूत्रों की कल्पना के दोषों का कलंक दिखाया था वह निरर्थक है।" -

30 यह प्रलाप असार है। आपने जो कहा कि निर्णय के रहते हुए विषय के अवगम का विश्वास है उस पर प्रश्न उठेगा कि वह विश्वास निर्णय की साधकतमता के जरिये होता है या अपनी विषयावबोध

निर्णये सति योऽयं विषयाधिगत्यभिमानः स किं साधकतमत्वात्त्रिणयस्य उत विषयाधिगतिस्वभावत्वादिति संदेहः, विशेषहेत्वभावात् साधकतमत्वे च सिद्धे तत्प्रामाण्यावगतिः। अथ 'विषयाधिगतिस्वभावत्वेनैव निर्णयस्य विषयगत्यभिमानो न साधकतमत्वेनेति भवतोऽपि विशेषहेत्वभावः।' न, अबोधस्वभावानामप्य-
 र्थापलम्भनिमित्तानां भावे विषयाधिगतिसिद्धेः। तथा च 'धूमाज् ज्ञातोऽग्निः' इति व्यपदिशंल्लोकः उप-
 लभ्यते नाग्निज्ञानादिति। एवं चक्षुषः प्रदीपादेऽन्धकारे विषयाधिगतिनिमित्तताव्यपदेशो लोकप्रसिद्ध इति 5
 परिच्छेदेऽबोधस्वभावस्य तज्जनकस्य साधकतमत्वाद् नार्थज्ञानस्य प्रमाणता।

अथापि स्यात् - 'साधकतमज्ञानजनकत्वेनापि धूमादीनां तथाव्यपदेशः संभवीति न तेषां ततः साधकतमत्वसिद्धिः। तथा च धूमसद्भावेऽपि विषयाधिगतिरित्यभिमानाभावात्, सति त्वर्थज्ञाने प्रत्येक-
 शस्तेषामभावेऽपि भावाद् विषयाधिगत्यभिमाने अनन्तरवृत्तमर्थज्ञानमेव साधकतमम्।' न, (न हि) विषयाधिगतौ
 ज्ञानस्य साधकतमता, विषयाधिगतिस्वरूपत्वात् तस्य। न च किञ्चिद्द्वस्तु स्वरूपे साधकतमम्, तद्विशेषाभिधानं 10

स्वभावता के कारण ? इस संदेह के समक्ष आपको बताना पड़ेगा कि - 'तथाविध विश्वास के प्रति और कोई विशेष हेतु न होने से निर्णय में ही साधकतमत्व सिद्ध होने से उस में प्रामाण्य सिद्ध है। यदि निर्णय प्रामाण्यवादी इस के विरुद्ध यह कहेगा कि आप को भी विषयावबोधविश्वास अपनी विषयाधिगतिस्वभावता के जरिये ही होता है, और कोई विशेष हेतु मौजूद नहीं है। मतलब कि आप को भी (वादी को) इस ढंग से विशेषहेतुअभाव का ही आशरा लेना पड़ेगा। तो उसके निषेध में 15
 वादी कहता है कि हमें विशेषहेतुअभाव का आशरा लेना नहीं पडता क्योंकि जडस्वभावी अर्थापलब्धिहेतु संनिकर्षादि विशेष हेतु के रहने पर विषयावबोध हो सकता है। देखिये - लोक में भी अग्नि के ज्ञान से नहीं किन्तु 'धूम से हमने अग्नि (रूप विषय) का अवबोध किया' ऐसा व्यवहार चलता है। तथा, कहीं पर घनिष्ठ अन्धकार के रहते हुये विषय के ज्ञान से विषयावबोध नहीं होता किन्तु लोक में प्रसिद्ध है कि नेत्र और प्रदीपादि निमित्तों से ही अन्धकार में विषयावगम होता है। इस 20
 प्रकार यह निष्कर्ष सिद्ध होता है कि जडस्वभावी कारणों की साधकतमता के जरिये परिच्छेद (विषयबोध) होता है न कि अर्थज्ञान से। मतलब, निर्णय साधकतम न होने से प्रमाण नहीं है, फिर भी स्वरूपविशेषण पक्ष में अकारकभूत निर्णय में लक्षण का समावेश होने से अतिव्याप्ति दुर्निवार रहेगी।

[धूमादि के साधकतमत्व पर आक्षेप का प्रतिकार]

यदि ज्ञानप्रमाणवादी की ओर से कहा जाय - धूमादि स्वतः साधकतम नहीं, किन्तु साधकतमज्ञान 25
 (अर्थज्ञान) का जनक होने से उसे 'साधकतम' शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है यानी उपचार से। वास्तव में धूमादि का शब्दव्यवहारमात्र के आधार पर साधकतमत्व सिद्ध नहीं है। फलितार्थ यह है कि धूम के रहने पर भी 'मैंने विषय ज्ञात किया' ऐसा विश्वास नहीं होता किन्तु अर्थज्ञान की उपस्थिति में धूमादि एक एक के न होने पर भी वह विश्वास प्रगट होता है, इस से सिद्ध होता है कि विषयावबोध के विश्वास में उस के अनन्तरपूर्वकालीन अर्थज्ञान ही साधकतम होता है। 30

इस के विरुद्ध वादी कहता है - अर्थज्ञान स्वयं ही विषयावबोधस्वरूप होने से वह (अर्थज्ञान) विषयावबोध के प्रति साधकतम नहीं माना जा सकता। ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो अपने स्वरूप

च प्रमाणपदम्। अथ स्वविषये सव्यापारप्रतीततामुपादाय फलस्यैव प्रमाणतोपचारः। उक्तं च, ()
 “सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत्।।” तथा “सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि” (प्र०वा०२-
 ३०८) इति चेत् ? न, मुख्यसद्भावे उपचार(IS)परिकल्पनात्। बौद्धपक्षे तु न मुख्यं साधकतमत्वं क्वचिदपि
 सिद्धमिति नोपचारः। अस्मन्मते तु धूमादीनां साधकतमत्वं विशिष्टावगतिहेतुत्वात्, ज्ञानस्य तु न तद्
 5 युक्तं तस्य तत्त्वभावत्वात्। अभिमानवशात्तस्य साधकतमत्वे प्रमाण-फलयोर्भेदः प्रसज्यते स च भवतोऽनिष्टः।
 यच्च — ‘धूमादिभावेऽपि विषयाधिगतेरभावात् [▲]तद्भावे च भावात्’ इत्युक्तम्’ (पृ०२५१-पं०८)
 तदसंगतम्; यतो नैव ज्ञानसद्भावे क्वचित् तज्जन्या विषयाधिगतिः, धूमादिसद्भावे तु तस्याः
 सद्भावोऽनन्तरमुपलभ्यत एव। अतो धूमाद्येव साधकतमम्, अभिमानस्तु ज्ञानानन्तरमुपजायमानो
 धूमादिभावेऽप्यनुपजायमानो ज्ञानस्य न साधकतमत्वं प्रकाशयति अपि त्वर्थाधिगमस्वरूपताम्। तथाहि—

10 के प्रति ‘साधकतम’ मानी गयी हो। प्रमाणपद तो कारण (स्वरूप) विशेष, जो ‘साधकतम’ होता है
 उसी का निर्देशक है।

प्रतिवादी कहता है — विषयावबोधरूप फल ही उपचार से प्रमाण (या स्व के प्रति साधकतम)
 कहा जाय तो कोई बाधा नहीं है क्योंकि अर्थज्ञानरूप फल ही अपने विषय में अवबोध के लिये
 सव्यापार (सक्रिय) बनता है ऐसी प्रतीति उदित होती है। कहा भी गया है — “फल ही सव्यापार
 15 प्रतीत होने के कारण ‘प्रमाण’ कहा जाता है।” तथा प्रमाणवार्तिक में “अपने विषय में (बोधक) व्यापार
 के जरिये (फल भी) सव्यापार (यानी साधकतम) हो ऐसा प्रतीत होता है।” [२/३०८]

वादी कहता है — उपरोक्त कथन भी गैरमुनासीब है, क्योंकि — बौद्धमत में (एक क्षण ही दूसरे
 क्षण की उत्पादक होने से) ‘मुख्य साधकतम’ जैसा कुछ भी सिद्ध न होने से औपचारिक की तो
 बात ही कहाँ ? हमारे मत में तो धूमादि भी विशिष्टावबोध का हेतु होने से वही मुख्य साधकतम
 20 है। अर्थज्ञान तो स्वयं विशिष्टावबोधस्वभावी होने से अपने स्वरूप के प्रति ‘साधकतम’ नहीं माना
 जा सकता। फिर भी ‘अर्थज्ञान से मैंने विषय को ज्ञात किया’ ऐसे अभिमान के बल पर अर्थज्ञान
 को साधकतम मानेंगे तो उन दोनों में भेद मानना पड़ेगा क्योंकि प्रमाण तो साधकतम है और फल
 तो उस का कार्य होता है। उन का भेद आप को कहाँ इष्ट है ?

[धूमादि में साधकतमत्व के निषेध का निरसन]

25 यह जो आपने कहा कि (पृ०२५१-पं०२८) — ‘धूमादि के रहने पर भी विषयावबोध नहीं होता
 जब कि (अर्थज्ञान के रहने पर) प्रत्येक धूमादि न हो तब भी विषयावबोध होता है’ — वह भी
 असंगत है। कारण, ज्ञान रहे या न रहे — ज्ञान के बाद कोई ज्ञानजन्य पृथक् विषयावबोध ज्ञात
 नहीं होता। किन्तु, धूमादि के होने पर अनन्तर पल में ही विषयाधिगति का उपलम्भ होता ही है
 - इस लिये धूमादि ही विषयावबोध का साधकतम मानना चाहिये। आप के मतानुसार ‘विषयाधिगति
 30 का विश्वास (अभिमान) अर्थज्ञान के बाद होता है धूमादि के रहने पर भी नहीं होता है’ — इतना
 कह देने मात्र से ज्ञान में साधकतमत्व सिद्ध नहीं होता, उलटा उस से तो यह सिद्ध होता है कि

▲. तदभावेऽपि — इति भक्तिव्यम्।

— अर्थाधिगतावर्थाऽधिगत इत्यभिमानः प्रभवति न तु धूमादिभावे। अतो विषयाधिगत्यभिमानस्यानेन प्रकारेण भावाद् न तदवगतौ साधकतमत्वं ज्ञानस्य इति निर्णयेऽध्यक्षताप्रसक्तिप्रेरणा तदवस्थैव।

किञ्च, सुप्तावस्थोत्तरकालं घटादिज्ञानोत्पत्तौ यद्यबोधरूपं तज्जनकं प्रमाणं नेष्यते तदा प्रागपर-ज्ञानस्याभावात् कस्य तत् फलं भवेत् ? 'घटत्वसामान्यज्ञानस्य घटज्ञानं फलम्' इति चेत् ? ननु घटत्वज्ञाने किं प्रमाणम् ? 'तदेव' इति चेत् ? एकस्य प्रमाणफलताप्रसक्तिः। 'अभ्युपगम्यत एव' इति 5 चेत् ? न, विशेष्यज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ विशेषणज्ञानस्य प्रमाणत्वं दृष्टमिति ततस्तद्भिन्नमभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्; इन्द्रियार्थसंनिकर्षानन्तरं घटत्वादिसामान्यज्ञानस्य दर्शनात् तत्र

वह ज्ञान ही विषयावबोधस्वरूप है (— जो धूमादि से उत्पन्न हुआ है)। देख लो — अर्थ का अवबोध होने पर ही उस के साथ उस के मिलितरूप में 'अर्थ ज्ञात हुआ' ऐसा विश्वास भी जाग्रत् होता है चाहे वहाँ धूमादि हो या न हो। अतः इस प्रकार से विषयावबोध का विश्वास जाग्रत् होने की 10 घटना से सिद्ध होता है कि ज्ञान उस का साधकतम नहीं किन्तु तत्स्वरूप है।

इस चर्चा का सार यह हुआ कि निर्णय वास्तव में प्रत्यक्ष प्रमाण का जनक नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष के सूत्रोक्त लक्षण इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वादि उस में समाविष्ट होने से उस में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति तदवस्थ रहेगी।

[अज्ञानमय संनिकर्ष भी प्रमाण कैसे ?]

15

यह सोचिये — यदि आप को अज्ञानस्वरूप पदार्थ विषयावबोधजनक हो कर 'प्रमाण' पदवी प्राप्त करे यह अमान्य है तो सो कर ऊठने के समय जो घटादिज्ञान प्रथम उत्पन्न होगा उस के प्रति किस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे ? उसके पूर्व में सुप्तावस्था में ज्ञान तो कुछ भी नहीं होता, तो यह घटज्ञान किस का फल बनेगा ? यदि कहें — 'घटज्ञान के पहले घटत्व सामान्य (विशेषण) का ज्ञान अवश्य होगा, उस को प्रमाण और घटज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) को फल मानेंगे।' — तो यहाँ प्रश्न 20 है कि घटज्ञान के पहले घटत्व का ज्ञान होने में क्या प्रमाण है ? 'वह स्वयं ही प्रमाण है' ऐसा कहना गलत है क्योंकि तब तो एक ही घटत्व ज्ञान प्रमाण और खुद का फल भी मानना पड़ेगा। यदि कहें — 'कोई आपत्ति नहीं है, वैसा मान लेंगे।' — तो यह भी गलत है क्योंकि ऐसे तो एक ही विशेष्यज्ञान (घटज्ञान) को भी प्रमाण और फल द्वयात्मक मानना पड़ेगा। यदि कहें कि — 'दृष्ट नियम ऐसा है कि विशेषणज्ञान विशेष्यज्ञानोत्पत्ति में कारण होने से प्रमाण (यानी प्रमाजनक) होता 25 है, इस लिये वहाँ एक को द्वयात्मक न मान कर प्रमाण (विशेषणज्ञान) और फल (विशेष्यज्ञान) को अलग मानना होगा।' — तो ऐसा कथन अयुक्त है क्योंकि तब एक घटत्वज्ञान को प्रमाण-फल उभयरूप कहना गलत ठहरेगा क्योंकि वहाँ भी दृष्ट है कि घटत्व का ज्ञान इन्द्रियार्थसंनिकर्ष के उत्तरक्षण में उत्पन्न होता है अत एव उस के प्रति जड भी संनिकर्ष का प्रामाण्य बलात् आप को मानना पड़ेगा। 'वह अज्ञानरूप (जड) है' इस लिये वहाँ संनिकर्ष को प्रमाण न मान कर घटत्वज्ञान को ही उभयरूप 30 मानेंगे' — तो 'विशेष्यज्ञान की उत्पत्ति में विशेषणज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि वह ज्ञानरूप है' (मतलब, यदि आप संनिकर्ष को अज्ञान रूप होने से अप्रमाण करार देंगे तो अन्य कोई वादी ज्ञानरूप होने के हेतु से विशेषण ज्ञान को (विशेष्यज्ञानत्व व्यधिकरणधर्मरूपेण) अप्रमाण करार देगा।) ऐसा कोई

संनिकर्षस्य प्रमाणत्वप्रसक्तेः। 'अज्ञानत्वाद् न' इति चेत् ? न, विशेषणज्ञानं विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानत्वाद् विशेष्यविषयत्वेन प्रमाणं स्यात्, न च तदिष्यते विशेषण-विशेष्यालम्बनभिन्नज्ञानवादिभिः, अतो यथा विशेषणज्ञानस्य विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ प्रामाण्यं तथा संनिकर्षस्यापि विशेषणज्ञानोत्पत्तौ तदभ्युपगन्तव्यम्।

5 तथाहि— संनिकर्षः प्रमाणम् विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वात् विशेषणज्ञानत्वात्। ज्ञानत्वात्-प्रमाण-त्वाभ्युपगमेऽकारकाणां निर्णयादीनां प्रमाणत्वं स्यात्। न च नैयायिकैरनर्थान्तरभूतं बौद्धैरिव फलमभ्युपगम्यते तदभ्युपगमे वा तत्पक्षनिरासाद् अयमपि निरस्त एव। अतो ज्ञानप्रमाणवादिनः सुषुप्तावस्थोत्तरकालं घटत्वादिज्ञानाभावप्रसक्तेर्घटविज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यशेषस्य जगत आन्ध्यापत्तिः। न च सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावाद् नायं दोषः, असंवेद्यमानस्य तदवस्थायां तस्य सद्भावाऽसिद्धेः। न च जाग्रत्प्रत्ययेन तत्सद्भावोऽवसीयते, तस्य तत्प्रतिबन्धासिद्धेः। 'तत्कार्यत्वात् तत्प्रतिबन्ध' इति चेत् ? न, वैशेषिकैः

10 अन्यवादी कहे तो वह भी मानना पड़ेगा। किन्तु वह आप को मान्य नहीं होगा क्योंकि आप तो विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान भिन्नविषयक होने से अलग ही मानते हैं, एक को ज्ञानात्मक होने पर भी प्रमाण और दूसरे को फल मानते हैं। अत एव, जैसे विशेष्यज्ञानोत्पत्ति में विशेषणज्ञान को प्रमाण मानते हो वैसे ही विशेषणज्ञानोत्पत्ति में संनिकर्ष (भले अज्ञानरूप हो) को प्रमाण मानना चाहिये।

[प्रमाण की ज्ञानरूपता में दोष परम्परा]

15 ध्यान से सुनो ! — संनिकर्ष प्रमाण है क्योंकि विशिष्टज्ञानोत्पत्ति का कारण है, जैसे विशेषण ज्ञान। संनिकर्ष ज्ञानरूप नहीं है तो क्या हो गया ? ज्ञानमात्ररूप होने से कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं बन जाता। यदि ऐसा होता तो अकारक निर्णय-संशयादि को भी 'प्रमाण' मान लेना पड़ता। बौद्ध दार्शनिक भले प्रमाण और फल का अभेद स्वीकारे, नैयायिकों में तो ऐसा नहीं है। यदि नैयायिक हो कर बौद्ध की तरह फल-प्रमाण का अभेद मान लेगा (जिस से कि उन्हें संनिकर्ष को प्रमाण मानने की जरूर न रहे, संनिकर्ष जन्य ज्ञान ही फल एवं प्रमाण दोनों बन जायेंगे) तो बौद्धमत के निरसन में नैयायिकोंने जो तर्कजाल प्रस्तुत किया है उस से ही उस का अपना मत भी निरस्त हो जायेगा। अब इस स्थिति में यदि नैयायिक ज्ञान को ही प्रमाण मानने का आग्रह रखेंगे तो सुषुप्तिअवस्था के बाद जागरणदशा में घटत्वादिज्ञान का अस्तित्व ही नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्ति काल में नैयायिक मत में घटत्वज्ञानरूप प्रमाण का कोई साधन ही नहीं है। फलतः घटत्वज्ञान लुप्त होने से घटज्ञान का भी (विशेषणज्ञान के न होने से) अभाव प्रसक्त होने से निद्रावस्था के बाद सारा जीवजगत् अन्धों की तरह ज्ञानशून्य बन जायेगा।

[सुषुप्तिदशा में ज्ञानाभाव - नैयायिकमत]

यदि कहें कि 'सुषुप्ति में भी (कारणरूप से) ज्ञान का अस्तित्व मान लेंगे तो अन्धवत् ज्ञानशून्यता का दोष प्रसक्त नहीं होगा।' तो यहाँ किसीको अनुभव नहीं है कि सुषुप्ति में भी ज्ञान रहता है। 30 मतलब, सुषुप्ति में (पुरितत् नाडी में मनः प्रवेश हो जाने से) ज्ञान का सद्भाव असिद्ध है। यदि अनुमान करें कि — जागरणदशा में ज्ञान का उदय होता है अतः सुषुप्ति में कुछ ज्ञान होना चाहिये — तो विना व्याप्ति के ऐसा अनुमान अशक्य है। यदि कहें कि — सभी ज्ञान ज्ञान के कार्य हैं

सर्वस्य ज्ञानस्य ज्ञानपूर्वकत्वानभ्युपगमात् । विशेष्यज्ञानादीनामेव विशेषणज्ञानादिपूर्वकत्वं नान्येषां, प्रतिबन्धा-
भावात् । 'बोधरूपता प्रतिबन्ध' इति चेत् ? न, अबोधस्वभावादपि बोधस्योत्पत्त्यविरोधाद्, अन्यथा अधूम-
स्वभावादग्नेर्धूमोत्पत्तिर्न भवेत् । 'तस्य तज्जननस्वभावत्वाददोष' इति चेत् ? न, इतरत्राप्यस्य समानत्वात्
तथाहि— अबोधात्मिका कारणसामग्री बोधजननस्वभावत्वात् तं जनयिष्यतीति न प्रतिबन्धः ।

तस्मादबोधात्मकस्यापि प्रमाणत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यव्यापकत्वं लक्षणदोषः । तन्न Bस्वरूपविशेषणपक्षोऽपि 5
युक्तिसंगतः ।

नापि Cसामग्रीविशेषणपक्षः तत्रास्यौपचारिकत्वात् । तथाहि— सामग्रीविशेषणपक्षे इन्द्रियार्थसंनिकर्षो-
त्पन्नमित्युपपन्नमिति व्याख्येयम् तच्चाऽयुक्तम् उत्पत्तिशब्दस्य स्वरूपनिष्पत्तौ प्रसिद्धत्वात् । तथा ज्ञानशब्दोऽपि
सामग्रीविशेषणपक्षे ज्ञानजनकत्वात् 'सामग्र्यं ज्ञानम्' इति व्याख्येयम् । एवमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं च

इस लिये ज्ञानपूर्वक ही होते हैं ऐसी व्याप्ति प्रसिद्ध है — तो यह भी गलत है क्योंकि वैशेषिक 10
(एवं नैयायिकों) का ऐसा अभ्युपगम (मान्यता) नहीं है कि सब ज्ञान ज्ञानपूर्वक ही होता है। हाँ,
सब विशेष्यज्ञान विशेषणज्ञानपूर्वक ही हो — ऐसा नियम मान सकते हैं किन्तु ज्ञान मात्र में ज्ञानपूर्वकत्व
की व्याप्ति असिद्ध है।

यदि कहें कि — 'कार्य कारणानुरूप ही होना चाहिये, अतः जागृति में बोधस्वभावी कार्य भी
(सुषुप्तिकालीन) बोधात्मक कारण से ही उत्पन्न हो सकेगा।' — तो यह भी गलत है, अबोधस्वभावी 15
कारण से बोधात्मक कार्य की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है। यदि कारणानुरूप ही कार्य
मानेंगे तो अग्नि से धूम की उत्पत्ति कभी नहीं होगी। यदि कहें कि अग्नि में धूमोत्पादकस्वभाव
होने से उस से धूमोत्पत्ति हो सकेगी — तो यहाँ भी संनिकर्ष का ज्ञानोत्पादकस्वभाव होने से उस
से ज्ञान की उत्पत्ति हो सकेगी — यह बात समान है। तात्पर्य, कारणसामग्री भले ही अबोधात्मक
हो किन्तु वह बोधोत्पादकस्वभाववाली होने से वह बोध को उत्पन्न कर सकती है, अत एव बोध 20
से ही बोध की उत्पत्ति की व्याप्ति नहीं बन सकती।

निष्कर्ष — संनिकर्ष को प्रमाण मानना ही होगा भले ही वह अबोधात्मक हो। अत एव पूर्वोक्त
(ज्ञानस्वरूप प्रमाण) लक्षण की उस में अव्याप्ति का दोष दुर्निवार रहता है। इस लिये ही दूसरा
स्वरूपविशेषण पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है।

[सामग्रीविशेषणपक्ष की अयोग्यता का विमर्श]

25

तीसरापक्ष :- यदि 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न' आदि विशेषण, सामग्री के लिये प्रयुक्त करेंगे तो वह
मात्र औपचारिकता ही रह जायेगी। कारण, सामग्री में उन विशेषणों के अन्वय की योग्यता ही नहीं
है। अत एव, इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से 'उत्पन्न' के बदले इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से 'उपपन्न' ऐसी व्याख्या करनी
पड़ेगी। उपपन्न यानी घटित, अर्थात् सामग्री इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न नहीं किन्तु घटित है (इ.सं.
भी सामग्री का एक घटक है) ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। किन्तु वह भी निर्दोष नहीं है क्योंकि उत्पत्ति 30
का प्रसिद्ध अर्थ है कार्य को स्वरूपलाभ।

तथा सामग्रीविशेषणपक्ष में सामग्री में ज्ञान का सीधा अन्वय उचित न होने से, सामग्री ज्ञान

सामग्र्यम् तथाविधफलजनकत्वात्। अव्यपदेश्यमपि, तच्छब्देन सहाऽव्यापारात्। तदेवं सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं सामग्र्यस्य तथाविधफलजनकत्वेन, न स्वतः, इति न युक्तस्तत्पक्षोऽपि।

[फलविशेषणपक्षसमर्थनेन नैयायिक-प्रत्युत्तरः]

- ‘तर्ह्यनर्थकं सूत्रम्’। न, फलविशेषणपक्षस्योपपत्तेः। ननु “तत्रापि ‘यतः’ इत्यध्याहारोऽस्त्येव दोषः”।
 5 न, तावन्मात्रेण सकलदोषविकलाभिमतपक्षसिद्धेः। अतः- ‘तथाविधं’ ज्ञानं यतो भवति तत् प्रत्यक्षम्’ इति सकलदोषविकलं प्रत्यक्षलक्षणं सिद्धम्। नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ज्ञानस्य प्रामाण्यं न लभ्यते, इष्टं च तस्य प्रामाण्यम्— “यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानादिबुद्धयः फलम्” (वात्स्या. भा. १-१-३) इति वचनात्। नैष दोषः, ज्ञानस्याप्येवंविधफलजनकत्वेन प्रमाणत्वात्। तथा चानुभवज्ञानवंशजायाः स्मृतेः ‘तथा चायम्’ इत्येतद् ज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वात् प्रत्यक्षं फलं, तत्स्मृतेस्तु प्रत्यक्षप्रमाणता। सुख-दुःखसम्बन्धस्मृतेस्त्वि-
 10 न्द्रियार्थसंनिकर्षसहकारित्वात् ‘तथा चायम्’ इति सारूप्यज्ञानजनकत्वेनाऽध्यक्षप्रमाणता। सारूप्यज्ञानस्य की जनक होने से, ‘सामग्र्यं ज्ञानं’ ऐसी व्याख्या करनी पड़ेगी जिस का मतलब होगा कि ज्ञान स्वयं सामग्री नहीं किन्तु वह सामग्री का फल है। किन्तु ‘ज्ञान’ पद का ज्ञानफलक (सामग्री) ऐसा अर्थ औपचारिक होने से स्वाभाविक नहीं है। वैसे ही अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक पद का भी ‘ज्ञान’ पद की तरह अव्यभिचारि व्यवसाय फलक ऐसा औपचारिक अर्थ ही करना पड़ेगा। तथा अव्यपदेश्य
 15 पद का भी सामग्री के साथ अन्वय विशेषण-विशेष्यरूप से संभव नहीं है क्योंकि उस शब्द के साथ (यानी सामग्री शब्द के साथ) मिल कर एकार्थबोधकतारूप व्यापार ‘अव्यपदेश्य’ पद में है नहीं अतः यहाँ भी औपचारिकता का आशरा लेना होगा।

निष्कर्ष, सामग्रीविशेषणपक्ष युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इस पक्ष में सामग्र्य में सूत्रोक्त विशेषणों का अन्वय स्वतःसिद्ध यानी वास्तविकरूप से शक्य नहीं है, औपचारिकरूप से सूत्रोक्तविशेषणस्वरूपफल
 20 के जनकत्व को ले कर अन्वय करना पड़ता है।

[फलविशेषणादि पक्षत्रय के आक्षेप का प्रत्युत्तर - नैयायिक]

“तीनों पक्ष जब असंगत हैं तो फलितार्थ यह हुआ कि सूत्र बेकार है।” — इस प्रकार के आक्षेपों के प्रति नैयायिक अब अपना प्रत्युत्तर करते कहते हैं —

नहीं, सूत्र बेकार नहीं हो सकता। तीन पक्षों में से जो पहला फलविशेषणपक्ष है उस का हम
 25 सयुक्तिक स्वीकार करते हैं। वहाँ ‘यतः’ पद के अध्याहार का जो दोष लगाया गया है वह दूषण नहीं किन्तु भूषण है। ‘यतः’ का अध्याहार करने से सकलदोषमुक्त आप्तसंमत लक्षण सिद्ध होता है। ‘यतः’ पद जोड़ने से फलितार्थ यह होगा कि ‘सूत्रोक्त विशेषणों से विशिष्ट ज्ञानात्मक फल जिस (संनिकर्षादि करण) से निपजता है वही प्रत्यक्ष है।’ इस लक्षण में व्यधिकरणत्व का दोष नहीं है, न तो कहीं अव्याप्ति होगी, न कहीं अतिव्याप्ति, न तो कोई क्लिष्ट कल्पना, अत एव सकल पूर्वोक्त दोषों से
 30 मुक्त प्रत्यक्षलक्षण सिद्ध हो जाता है।

प्रतिवादी :- इस पक्ष में तो ज्ञानजनक करण (संनिकर्षादि) का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहा किन्तु ज्ञान का तो प्रामाण्य लुप्त हो गया। जब कि वह सूत्रकार को मान्य है — वात्स्यायन भाष्य में ‘जब

च 'सुखसाधनोऽयम्' इत्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता। न च सुखसाधनत्वज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजम् शक्तेरसंनिहितत्वात्। शक्तिर्हि सहकारिकारणान्तरसांनिध्यम् तच्चाऽसंनिहितम् इति नाध्यक्षप्रमाणफलं सुखसाधनत्वज्ञानमिति केचित्।

अपरे तु — बाह्योप्यर्थं विशेष्याकृष्टमसंनिहिते विशेषणे मनः प्रवर्तते इति मनोलक्षणेन्द्रियार्थसंनिकर्षजमध्यक्षप्रमाणफलमेतज् ज्ञानम्— इति सम्प्रतिपन्नाः। नन्वेवमप्यव्यापकं लक्षणम् आत्मसुखादिविषयज्ञानस्याऽप्रत्यक्षफलत्वात्, तच्च मनसोऽनिन्द्रियत्वात्, अनिन्द्रियत्वं तु मनस इन्द्रियसूत्रे (१-१-१२)ऽपरिपठितत्वात्। प्रत्यक्षफलता च तद्विषयज्ञानस्याभ्युपगम्यते। असदेतत्— मनस इन्द्रियधर्मोपेतत्वेनेन्द्रियत्वात्। अधिगतानधिगतविषयग्राहकत्वमिन्द्रियधर्मः स च मनसि विद्यत एव तेनेन्द्रियधर्मोपेतस्य सर्वस्यैव प्रत्यक्षसूत्रे इन्द्रिय-

ज्ञान प्रमाण बनेगा तब हेयोपादेयबुद्धि को फल मानेंगे' ऐसा स्पष्ट 'ज्ञान का प्रामाण्य' निर्दिष्ट है।

नैयायिक :- यह दोष भी नहीं है क्योंकि ज्ञान के फल में भी सूत्रोक्त लक्षण संगत होने से 10 ज्ञान का प्रामाण्य अक्षुण्ण है। इस लक्षण के अनुसार स्मृति भी 'प्रमाण' बन सकती है — देखिये, अनुभवज्ञान की परम्परा में जब कभी भावि में स्मृति होती है, उस स्मृति के बल से जो 'यह भी वैसा ही है' ऐसा ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षरूप फल है क्योंकि इन्द्रियसंनिकर्षजन्य है, इस प्रत्यक्ष फल के कारणभूत होने से स्मृति भी 'प्रमाण' बन सकती है।

तथा पूर्वानुभूत सुख या दुःख के सम्बन्ध की जब वर्तमानकालीन सुख या दुःख में स्मृति होती 15 है तब इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की सहकारिणी बन कर भूतकालीन-वर्तमानकालीन सुख/दुःख की समानता का प्रत्यक्षज्ञान निपजती है, तो इस सारूप्यज्ञानप्रत्यक्ष के प्रति स्मृति 'प्रमाण' मानी जाती है। जब कभी वर्तमानकालीन सुख के साधन में भूतकालीनसुखसाधन की समानता का ज्ञान होता है तब वहाँ इन्द्रियार्थसंनिकर्षव्यापार के न होने से, 'यह भी सुख का साधन है' ऐसा अनुमिति फल निपजता है, इस फल के प्रति वह (वर्तमानकालीन सुखहेतु में भूतकालीनसुखहेतु के) सारूप्य का ज्ञान 20 'अनुमानप्रमाण' बन सकता है। यहाँ सुखसाधनत्व का ज्ञान ('यह भी सुख का साधन है' ऐसा ज्ञान) इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य मानना वाजीब नहीं है क्योंकि सुख-दुःख की साधनता 'शक्ति' रूप है जो इन्द्रियसंनिकृष्ट (इन्द्रियग्राह्य) नहीं हो सकती। यहाँ शक्ति का तात्पर्य है अन्य सहकारि कारणों का सांनिध्य, (अन्य सहकारि कारणों में काल-अदृष्टादि शामिल है) जो इन्द्रिय अगोचर हैं अत एव यहाँ सुखसाधनत्व का ज्ञान प्रत्यक्षफलरूप न होने से सारूप्य ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं बना सकते। 25

[सुखसाधनत्व की प्रत्यक्षता का उपादान-अन्यमत]

'यह सुखसाधन है' इस (फलज्ञानजनक) सारूप्यज्ञान को दूसरे वादी 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप ही मानते हैं। उन का कहना है — शक्ति भले असंनिहित हो किन्तु जब मन विशेष्य के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब विशेष्य से आकृष्ट मन असंनिहित बाह्यार्थरूप विशेषण में भी गति कर ही लेता है, तो शक्ति को भी क्यों ग्रहण न करेगा ? इस लिये मनःस्वरूप इन्द्रिय और सुखसाधनत्वरूप विषय का 30 संनिकर्ष घटित होने से तथाविधसंनिकर्षजन्य फलज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण का ही कार्य है — इस प्रकार वे वादी सुखसाधनत्व के प्रत्यक्ष में संमत हैं।

ग्रहणेनाऽविरोधः। ततः प्रत्यक्षसूत्रे एवेन्द्रियत्वं मनसः सिद्धम् तत्सिद्धौ च नाऽव्याप्तिर्लक्षणदोषः।

इन्द्रियसूत्रे च मनसोऽपाठः तत्सूत्रस्य (न्या० १-१-१२) नानात्वे इन्द्रियाणां लक्षणपरत्वात्। सूत्रशब्देन हि जात्यपेक्षया सूत्रसमूह एवोच्यते तेन लक्षणसूत्रसमूहोद्देशार्थं तत्सूत्रम्। तथा च 'जिघ्रत्यनेने'ति घ्राणं भूतं गन्धोपलब्धौ कारणम् 'घ्राणम्' इत्यभिधीयमाने सन्निकर्षं प्रसङ्गः तन्नित्यर्थं 'भूतम्' इति भूतस्वभावत्वं विशेषणम्। एवं 'चष्टे अनेन' इति चक्षु रूपोपलब्धौ कारणम्। सन्निकर्षं प्रसङ्गः तन्नित्यर्थं भूतग्रहणं सम्बन्धनीयम्। प्रदीपे प्रसङ्गः तन्नित्यर्थमिन्द्रियाणामिति वाच्यम्। एवं त्वगादिष्वपि योज्यम्। एवं च

इस मत पर कोई अव्याप्ति की शंका करता है — “मन की गति यदि सुखसाधनत्व के ग्रहण के लिये हो सकती है तो यह सुखसाधनता का ज्ञान प्रत्यक्ष का फल नहीं कहा जा सकता, भले ही वह मनः-अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य हो। कारण, मन कोई 'इन्द्रिय' नहीं है, क्योंकि इन्द्रियनिरूपक सूत्र (न्या.द. १-१-१२) में श्रोत्रादि पाँच का ही उल्लेख है, मन का नामोच्चार नहीं है। आप तो सुखसाधनत्वविषयक ज्ञान को प्रत्यक्षफल मानते हैं किन्तु उस में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व नहीं है (क्योंकि मन 'इन्द्रिय' नहीं है)। फलतः यहाँ प्रत्यक्षलक्षण की अव्याप्ति होगी।” — यह शंका गलत है। कारण, मन भी 'इन्द्रिय' ही है क्योंकि उस में इन्द्रिय के धर्म (लक्षण) का समन्वय है। इन्द्रिय का धर्म है पूर्वदृष्ट या पूर्वअदृष्ट उभयप्रकार के विषयों को ग्रहण करना। (अनुमानादि तो पूर्वदृष्ट-पूर्वज्ञात का ही ग्राहक होता है, कभी तो पूर्वज्ञात का भी ग्रहण उन से नहीं होता)। मन में यह लक्षण विद्यमान है, तभी उस से पूर्वज्ञात या पूर्वअज्ञात विषयों का प्रत्यक्षग्रहण उत्पन्न होता है। इस स्थिति में इन्द्रिय निरूपक सूत्र भी इस इन्द्रिय लक्षण से अन्वित सभी का (सभी इन्द्रिय चाहे मन हो या श्रोत्रादि, उन सब का) संग्रह कर लेता है। इस तरह प्रत्यक्षनिरूपक सूत्र से ही मन का इन्द्रियपन सिद्ध होता है और उस के सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का समन्वय सुखसाधनत्वज्ञान में हो जाने से अव्याप्ति दोष का उद्धार हो जाता है।

[इन्द्रियसूत्र में मन के अग्रहण का कारण]

प्रश्न :- मन यदि इन्द्रिय है तो 'घ्राण-रसन-चक्षुस्त्वक्-श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः' — (१-१-१२) इस इन्द्रियदर्शकसूत्र में मन का नाम क्यों नहीं लिया ?

उत्तर :- वह सूत्र विभागद्योतक नहीं है, सिर्फ लक्षण-प्रदर्शक ही है क्योंकि इन्द्रिय एक नहीं अनेक हैं। यहाँ 'इन्द्रियसूत्र' शब्द में 'सूत्र' शब्द से कोई एक सूत्रव्यक्ति का निर्देश नहीं किन्तु भिन्न भिन्न इन्द्रियों के पृथक् पृथक् लक्षणों के सूचक पूरे सूत्र समुदाय का निर्देश ग्रहण करना, क्योंकि यहाँ 'सूत्र' शब्द व्यक्तिवाचक न हो कर जातिवाचक होने से सूत्रसमूह का ही निर्देशक है।

[प्रत्येक इन्द्रिय के लक्षण]

उन में 'घ्राण' इत्यादि सूत्रों का यह अर्थ है —

(१) जिस से सूंघा जाता है वह भूतात्मक घ्राणेन्द्रिय है जो कि गन्ध साक्षात्कार का कारण है। यहाँ 'भूत' शब्द छोड़ कर सिर्फ 'घ्राण' इतना ही कहा जाय तो 'जिस से' पद द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह भी सूंघने का कारण है। अतिव्याप्ति के निवारण के लिये यहाँ

सूत्रपञ्चकमेतल्लक्षणार्थं प्रत्येकमिन्द्रियाणाम् न पुनर्विभागार्थम्, आदिसूत्रोद्दिष्टस्य भेदवतो विभागाभ्युपगमात् । विभक्तिविभागे चानवस्था विभागार्थं वा बाह्यानामित्यध्याहारः कार्यः स्वलक्षणसामर्थ्यात् ।

मनसस्तु तदनन्तरं लक्षणानुपदेशो वैधर्म्यात् । तच्च तस्याभूतस्वाभाव्यात् । भूतस्वाभाव्येनेन्द्रियाणि व्यवच्छिद्यन्ते 'भूतेभ्यः' (न्यायद. १-१-१२) इति वचनात् । न तु मनस एतल्लक्षणमस्ति । अत एव सर्व-विषयत्वं मनसः, न त्विन्द्रियाणि बाह्यानि सर्वविषयाणि । तन्त्रयुक्त्या वा मनसोऽनभिधानम् । परमतम- 5

भूतशब्द का प्रयोग किया है। वह इन्द्रिय का विशेषण है अतः जो भूतस्वभाव भी है वह घ्राणेन्द्रिय है वह सूचित होता है। (२) जिस से चक्षुष्य (दर्शन) होता है वह चक्षु इन्द्रिय है। वह रूपसाक्षात्कार का कारण है। न्यायमत में प्राप्यकारी होने से चक्षुसंनिकर्ष में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति संभवित है। उस की निवृत्ति के लिये 'भूत' शब्द का प्रयोग यहाँ भी जोड़ लेना है। यद्यपि 'भूत' शब्द प्रयोग करने पर भी दीपक आदि में अतिव्याप्ति रह जायेगी क्योंकि वह भी रूपसाक्षात्कार का कारण एवं भूतात्मक ही है। उस की निवृत्ति के लिये 'इन्द्रियाणाम्' इस पद की सार्थकता स्पष्ट है। प्रदीप आदि इन्द्रियात्मक नहीं है। इस प्रकार सूत्रसमूहान्तर्गत स्पर्शनादि के लक्षणसूत्रों का भी अर्थ स्वयं समझ लेना।

इस प्रकार यह एकसूत्रान्तर्गत पञ्चसूत्रसमूह का निर्देश इन्द्रियों का विभाग दर्शाने के लिये नहीं है किन्तु एक एक इन्द्रियों के लक्षण का निरूपण करने के लिये है। विभाग का प्रतिपादन तो तभी शक्य है जब कि पूर्वसूत्र में पहले भिन्न भिन्न पदार्थों के समूह का किसी सामान्यरूप से निर्देश किया गया हो। इन्द्रियों का विभाग तो स्वयं लोकसिद्ध है, पुनश्च उस का यहाँ विभाग दर्शाने पर, पुनः पुनः विभक्त के विभाग दर्शाने की विपदा आने से अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। फिर भी यदि किसी विद्वान् का ऐसा आप्रह हो कि 'इस सूत्र से विभाग भी प्रदर्शित किया गया है, उस में मन के न लेने से वह इन्द्रिय होने की विपदा तदवस्थ रहेगी।' — तो उस का दूसरा भी समाधान है कि इस सूत्र में 'बाह्य' शब्द का अध्याहार मान लेना। तात्पर्य, इस सूत्र में बाह्य इन्द्रिय का ही विभाग कहा गया है, मन बाह्यकरण नहीं किन्तु अन्तःकरण होने से उस का यहाँ ग्रहण नहीं किया है, न कि उस के 'इन्द्रिय' न होने के कारण। 15

[इन्द्रियलक्षण के बाद तुरंत मन का निरूपण क्यों नहीं]

प्रश्न :- इन्द्रियों के लक्षण-कथन के बाद अव्यवधान से (१३ वे सूत्र में) मन का लक्षण न कह कर व्यवधान से १६ वे सूत्र में ('युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्हि मनसो लिङ्गम्' - न्यायद. १-१-१६) उस का लक्षण क्यों कहा ? 25

उत्तर :- बाह्य इन्द्रियों से अन्तःकरण का वैधर्म्य = विभिन्नता को सूचित करने के लिये। मन अभूतस्वभाव है, न तो वह भूत है, न भौतिक है। सूत्रकार ने 'घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः' (न्यायद. १-१-१२) सूत्र में घ्राणादि के भूतस्वभावता का निर्देश कर के इन्द्रियों में अभूतस्वभावता (वाले मन) का व्यवच्छेद कर दिया है। भूतस्वभावता लक्षण मन में नहीं है। यही कारण है कि इन्द्रियों के लक्षण के बाद अव्यवधान से मन का लक्षण नहीं कहा गया। इन्द्रियों की भूतस्वभावता के कथन से यह वैधर्म्य भी सूचित हो जाता है कि मन सर्वविषयक है जब कि इन्द्रियाँ सर्वविषयक 30

प्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः। न चैवं घ्राणादीनामप्यनभिधानं प्रसज्यते घ्राणादेरप्यनभिधाने स्वमतस्यैवाभावात् परमतमिति व्यपदेशाऽसम्भवात्। अस्ति च “युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्” (न्यायद. १-१-१६) इति वचनात् मनसोऽभिधानम्। इन्द्रियत्वेन इन्द्रियानन्तरं त्वनभिधानं वैधर्म्यादित्युक्तम्। तत्र अव्याप्तिदोष इति स्थितम्।

5

[नैयायिककृतं विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणनिरसनम्]

“श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका” () इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणमनेनैव निरस्तम्। यथा ह्यविकल्पिका

नहीं होती। आत्मा-मन सनिकर्ष के द्वारा बहिरिन्द्रियग्राह्य रूपादि एवं बहिरिन्द्रियअग्राह्य सुख-दुःखादि का भी ग्रहण होता है, यानी मन सर्वविषयस्पर्शी है। सुख-दुःखादि का ग्रहण बहिरिन्द्रियों से नहीं होता, अतः वे सर्वविषयक नहीं है।

10

[अव्यवधान से मन के निरूपण का दूसरा कारण]

अव्यवधान से मन का निरूपण नहीं किया उस का दूसरा समाधान है तन्त्रयुक्ति। उस का मतलब यह है कि जिस परमत का निषेध नहीं किया जाता उस में सम्मति मानी जाती है — यह है तन्त्रयुक्ति। परमत में मन को ‘इन्द्रिय’ कहा गया है। न्याय मत में कहीं भी इस परमत का खंडन नहीं है, अत एव परमतीय (वैशेषिकमत से) ‘मन का इन्द्रियत्व’ न्यायमत में भी मान्य सिद्ध होता है। यदि

15

पूछ जाय — समान न्याय से घ्राणादि इन्द्रियों में भी इन्द्रियत्व सिद्ध हो जायेगा, फिर उन का निरूपण करने की जरूर क्या थी ? — उत्तर यह है कि — घ्राणादि के बारे में कुछ भी न कहा जाय तो इन्द्रिय के बारे में अपना ‘स्वमत’ जैसा कुछ भी न रहा, स्व और पर तो सापेक्ष होते हैं, जब यहाँ कोई स्वमत ही नहीं होगा (यानी घ्राणादि इन्द्रियों के लिये अपना कुछ निरूपण ही नहीं रहेगा) तो अन्य दर्शनों के लिये ‘परमत’ ऐसा उल्लेख करने के लिये कुछ आधार ही नहीं रहेगा, फिर उस

20

के अनिषेध से उस के स्वीकार की तन्त्रयुक्ति निरवकाश बन जायेगी, यहाँ उस का अवतार ही कैसे होगा ? तात्पर्य, घ्राणादि इन्द्रियों का निरूपण न करने पर, परमत के आलम्बन से भी उन की सिद्धि नहीं होगी। स्वमत से घ्राणादि इन्द्रियों का निरूपण करने पर और मन का ‘इन्द्रिय’ रूप से निरूपण न करने पर, मन के लिये (घ्राणादि इन्द्रिय हैं — इस) स्वमत सापेक्ष ‘परमत’ की सिद्धि होने पर, तन्त्रयुक्ति से मन का इन्द्रियत्व सिद्ध हो सकता है। ऐसा नहीं है कि मन का स्वमत में निर्देश ही नहीं है — निर्देश तो है — “एक साथ अनेक घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति मन का लिंग है” — ऐसा न्यायसूत्र (१-१-१६) है। इस से मन के लिये भी स्वमत का निरूपण सिद्ध है। फिर भी वहाँ घ्राणादि इन्द्रियों के निरूपण के अव्यवधान से स्पष्टरूप से इन्द्रियत्व का निरूपण नहीं किये जाने का मुख्य उद्देश तो पहले कह दिया है — भूतस्वभावता और अभूतस्वभावता (एवं सर्वविषयता-असर्वविषयता) रूप वैधर्म्य।

30

इस प्रकार मन का इन्द्रियत्व सिद्ध हो जाने पर, पूर्वोक्त सुखादि साक्षात्कार में प्रत्यक्षत्व की अव्याप्ति का दोष जो प्रत्यक्षलक्षण में आपादित था — वह भी निराकृत हो जाता है।

[सांख्यवादी विन्ध्यवासी कृत प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा]

वृद्ध सांख्यवादी विन्ध्यवासी पंडित ने प्रत्यक्ष का ऐसा लक्षण किया है — श्रोत्रादि इन्द्रियों की

शाक्यदृष्ट्याऽध्यक्षमतिः प्रमाणं न भवति तथा विन्ध्यवासिपरिकल्पिताऽपि सा प्रमाणं न युक्ता। न च सांख्यदर्शनकल्पितस्य श्रोत्रादेः पदार्थस्य सिद्धिः, सत्कार्यवादसिद्धौ तत्पदार्थव्यवस्थितेः तस्य च निषिद्धत्वात्।

किञ्च, श्रोत्रादीनां वृत्तिस्तेभ्यो यद्यव्यतिरिक्ता तदा श्रोत्रादिकमेव, तच्च सुप्तमत्ताद्यवस्थास्वपि विद्यत इति तदाप्यध्यक्षप्रमाणप्रसक्तिरिति सुप्तादिव्यवहारोच्छेदः। अथ व्यतिरिक्ता तेभ्यो वृत्तिः तदा वक्तव्यम् ^Aकिमसौ तेषां धर्ममात्रम् ^Bआहोस्विदर्थान्तरम् ? यद्याद्य^A पक्षः तदा वृत्तेस्तैः सम्बन्धो वक्तव्यः। यदि ⁵ ^{तादात्म्यम्} तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्तो दोषः। अथ ^{समवायः} तदाऽयुतसिद्धिप्रसक्तिः इति व्यापिश्रोत्रादिसद्भावे सति नियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्यत इति प्लवते। अथ ^{संयोगः} तदार्थान्तरप्रसक्तिरिति न तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत्। ^Bअथार्थान्तरं वृत्तिः नासौ वृत्तिः अर्थान्तरत्वात् पटादिवत्।

निर्विकल्प वृत्ति (वृत्ति यानी बुद्धिव्यापार परिणति) ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। नैयायिक ने इस सांख्यलक्षण का भी निरसन कर दिया है। कैसे यह देखिये — बौद्धमत में निरूपित निर्विकल्प प्रत्यक्ष मति का ¹⁰ जिन युक्तियों से निरसन पूर्वग्रन्थ में यह कह कर किया गया है कि निर्विकल्प बुद्धि प्रमाण नहीं है, उन युक्तियों से विन्ध्यवासिप्रोक्त निर्विकल्प मति के प्रामाण्य का भी निरसन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सांख्यदर्शन की प्रक्रिया में जिस तरह श्रोत्रादि पदार्थों की कल्पना की गयी है वह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि उस की प्रक्रिया की बुनियाद है सत्कार्यवाद, उस की सिद्धि होने पर ही सांख्याभिमत पदार्थव्यवस्था प्रमाणभूत होगी। किन्तु (दूसरे खंड में पृ०३५०-पं०१ आदि में) ¹⁵ सत्कार्यवाद का पूर्व में निषेध किया जा चुका है।

[श्रोत्रादि की वृत्ति का विकल्प द्वारा परीक्षण]

विशेष चर्चा इस तरह है — यह जो श्रोत्रादि की वृत्ति कहते हैं वह श्रोत्रादि से पृथक् है या अपृथक् ? यदि अपृथक् मानेंगे तो श्रोत्रादि ही स्वयं वृत्तिरूप बने, वह तो निद्राकाल एवं मदमत्त मूर्छा अवस्था में भी विद्यमान ही है, अत एव निद्रादि अवस्था में भी प्रत्यक्ष प्रमाण-प्रवृत्ति को मानने ²⁰ की विपदा आयेगी, फलतः निद्रादि अवस्था के व्यवहार का भी लोप होगा क्योंकि प्रमाणप्रवृत्ति तो जाग्रत अमूर्च्छित अवस्था में होती है।

यदि वृत्ति को श्रोत्रादि से पृथक् स्वीकार करेंगे — तो इन दो विकल्पों का उत्तर देना होगा — ^Aपृथक् वृत्ति श्रोत्रादि का सिर्फ धर्म मात्र है या ^Bश्रोत्रादि के धर्म से बिलकुल स्वतन्त्र कुछ अर्थान्तर ही है ? ^Aप्रथमपक्ष में, धर्मस्वरूप वृत्ति का श्रोत्रादि के साथ कौन सा सम्बन्ध बैठता है यह दिखाईये। ²⁵ यदि ^{तादात्म्यम्} सम्बन्ध मानेंगे तो पहले जो अपृथक् पक्ष में निद्रादि अवस्था के लोप आदि का दोष दिखाया है वही प्रसक्त होगा, क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से वृत्ति का मतलब यही होगा कि वह केवल श्रोत्रादि मात्र ही है और कुछ नहीं। यदि ^{समवाय} सम्बन्ध मानेंगे तो श्रोत्रादि और वृत्ति — इन दोनों में अयुत (अपृथग्भाव) सिद्धि की प्रसक्ति होगी। फलतः श्रोत्रादि इन्द्रिय गगनादि रूप होने के कारण सर्वदेश में उन की वृत्ति भी व्यापकरूप से रह जायेगी, तब आप का यह मत कि 'श्रोत्रादि की वृत्ति ³⁰ नियतदेश में ही अभिव्यक्त होती है' (इस लिये सर्व शब्दों का एक साथ ग्रहण नहीं हो सकता) — यह मत डूब जायेगा। यदि श्रोत्रादि और वृत्ति का ^{संयोग} सम्बन्ध मानेंगे तो संयोगसम्बन्धवाला घट

अथाऽर्थान्तरत्वेऽपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात् तेषामसौ वृत्तिः। नन्वसौ विशेषो यदि श्रोत्रादिविषय-
प्राप्तिस्वरूपः तदेन्द्रियार्थसंनिकर्षोऽभिधानान्तरेण प्रतिपादितो भवेत्। स च यद्यव्यभिचारदिविशेषणविशि-
ष्टार्थोपलब्धिजनकः प्रत्यक्षं प्रमाणमभिधीयते तदाऽस्मत्पक्ष एव समाश्रितो भवेत्। अथ तथाभूतोपलब्ध्यजनकः,
न तर्हि प्रमाणमसाधकतमत्वात्।

- 5 अथाऽर्थाकारपरिणतिः श्रोत्रादीनां वृत्तिस्तदाऽत्रापि वक्तव्यम्— किमसौ परिणतिः ^Aश्रोत्रादिस्वभावा
उत् ^Bधर्मः ^Cआहोस्विदर्थान्तरमिति ? पक्षत्रयेऽपि पूर्ववदोषाभिधानं विधेयम्। न च श्रोत्रादीनां विषयाकारपरिणतिः
परपक्षे सम्भविनी, परिणामस्य व्यतिरिक्तस्याऽव्यतिरिक्तस्य चाऽसम्भवादिति प्रतिपादितत्वात् (द्वि० खण्डे
पृ० ३४८-३४९)। प्रतिनियताध्यवसायस्तु श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षफलम् न पुनरध्यक्षं प्रमाणमसाधकतमत्वात्।
विशिष्टोपलब्धिनिर्वर्तकत्वेनाध्यक्षत्वेऽस्मन्मतमेव समाश्रितं भवेत्। तत्र सांख्यमतानुसारिपरिकल्पित-
- 10 मध्यक्षलक्षणमुपपन्नम्।

जैसे भूतल से सर्वथा अर्थान्तर ही होता है न कि रूपादिवत् भूतलधर्म, उसी तरह संयोगसम्बन्धवाली
वृत्ति भी श्रोत्रादि से सर्वथा अर्थान्तर रूप होने से स्वतन्त्र अर्थान्तर रूप सिद्ध होगी। यदि कहें कि
— 'हम दूसरे विकल्प का, ^Bयानी श्रोत्रादि की वृत्ति स्वतन्त्र अर्थान्तररूप है — उस का स्वीकार करते
हैं' — तो यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह श्रोत्रादि की वृत्ति है, जैसे कि श्रोत्रादि से अर्थान्तर होने
15 वाले पटादि को कोई भी श्रोत्रादि की वृत्तिरूप नहीं मानते हैं। यानी वृत्तिस्वरूप लुप्त हो जायेगा।

[श्रोत्रादि से अर्थान्तररूप वृत्ति में प्रतिनियतविशेष के स्वरूप की छानबीन]

यदि कहा जाय- श्रोत्रादि से अर्थान्तरभूत वृत्ति में भी अपनी निजी एक ऐसी विशेषता है जिस
से वह 'श्रोत्रादि की वृत्ति' कही जा सकती है। — तो पूछना पड़ेगा कि उस विशेषता का स्वरूप
क्या है ? यदि श्रोत्रादि के विषय की प्राप्ति (संनिकर्ष) यही उस का स्वरूप है तो नामान्तर से
20 आपने इन्द्रियार्थसंनिकर्ष का ही कथन कर दिया है। अब, यदि आप के कथन का तात्पर्य ऐसा है
कि अव्यभिचारि आदि विशेषणों से विशिष्ट अर्थापलब्धि का जनक तो इन्द्रियार्थ संनिकर्ष है वही
प्रत्यक्ष प्रमाण है, तब तो आपने हमारे नैयायिक मत का ही आशरा ले रखा है। यदि आप तथाविध
उपलब्धि का जनक न हो ऐसे इन्द्रियार्थ संनिकर्ष का आशरा लेंगे तो आप उसे 'प्रमाण' नहीं मान
सकते क्योंकि वह प्रमितिजनन में साधकतम नहीं है।

25 [अर्थाकारपरिणतिरूप वृत्ति होने पर विकल्पत्रयी]

यदि श्रोत्रादि की वृत्ति की व्याख्या ऐसी की जाय कि वह 'अर्थाकारपरिणति' रूप है— तो यहाँ
भी तीन विकल्प प्रश्नों का उत्थान होगा— ^Aयह परिणति श्रोत्रादि का स्वभाव है (यानी अव्यतिरिक्त)
है या ^Bउस का धर्म है अथवा ^Cअर्थान्तर ही है ? पहले (पृ०२६९ में) वृत्ति के अव्यतिरिक्त, धर्म
और अर्थान्तर इन तीन विकल्पों में जैसे दोषप्रवेश दिखाया गया है वे सब दोष यहाँ परिणति के
30 तीन पक्षों में भी प्रविष्ट होंगे। तात्पर्य यह है कि सांख्य मत में श्रोत्रादि की अर्थाकार यानी विषयाकार
परिणति सम्भवित ही नहीं है, क्योंकि पहले यह कहा जा चुका है कि परिणाम अपने परिणामी से
व्यतिरिक्त भी नहीं हो सकता एवं अव्यतिरिक्त भी नहीं घट सकता, इस लिये उस की सत्ता असिद्ध है।

[नैयायिककृतं मीमांसासूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणनिरसनम्]

जैमिनिपरिकल्पितमपि प्रत्यक्षलक्षणम् 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्' (मीमांसाद० १-१-४) इति संशयादिषु समानत्वात् वार्तिककारप्रभृतिभिर्निरस्तमेव। यैरपि-

'सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः' (श्लो. वा.सूत्र ४ प्रत्यक्ष० श्लो.३८) इत्यादिना तल्लक्षणं व्याख्यातम्— तेषामपि प्रयोगस्यातीन्द्रियत्वात् सम्यक्त्वं न विशिष्टफलमन्तरेण ज्ञातुं शक्यम् फलविशेषणत्वेन च न किञ्चित् पदं श्रूयत इति न कार्यद्वारेणापि तत्सम्यक्त्वावगतिः। बुद्धिजन्मनः प्रमाणत्वं तु न

[ईश्वरकृष्णप्रदर्शित प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा]

ईश्वरकृष्ण विद्वान् ने अपने सांख्यकारिका ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का जो लक्षण कहा है ▲'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' (दृष्टम् यानी प्रत्यक्षम्) उसी का दूसरे ढंग से उल्लेख करते हुए यहाँ टीकाकार कहते हैं — श्रोत्रादि से जायमान प्रतिनियत (यानी तद् तद् विषय का) अध्यवसाय तो प्रत्यक्षप्रमाण का फल है, 10 वह स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं है क्योंकि वह फल के प्रति (यानी अपने प्रति) साधकतम नहीं है। यदि कहा जाय कि यह अध्यवसाय फल रूप नहीं है किन्तु विशिष्ट (प्रमात्मक) उपलब्धि का निर्वर्तक यानी निष्पादक है यानी विशिष्टोपलब्धि के प्रति साधकतम होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाण है — तो हमारे नैयायिक के मत का आशरा ही लेना पडेगा। निष्कर्ष :- सांख्यमत के आधार से प्रतिपादित प्रत्यक्ष का लक्षण भी युक्तियुक्त नहीं है। 15

[मीमांसकसूत्रप्रदर्शित प्रत्यक्षलक्षण का निरसन - नैयायिक]

नैयायिकों ने मीमांसदर्शनसूत्र के प्रणेता जैमिनि ऋषि ने जो प्रत्यक्षलक्षण कहा है उस का भी निरसन निम्नोक्तप्रकार से किया है।

मीमांसासूत्रोक्त लक्षण का अर्थ यह है कि — "पुरुष की इन्द्रियों का सद्भूत अर्थ के साथ सम्प्रयोग (संनिकर्ष) होने पर जिस बुद्धि का जन्म होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण है।" — यह व्याख्या गलत है 20 क्योंकि इन्द्रियों के अर्थ के साथ सम्प्रयोग होने पर संशयादि ज्ञानों का भी जन्म होता है, अतः अतिव्याप्ति दोष से ऐसा लक्षण संशयादि साधारण हो जायेगा — ऐसा कह कर न्यायवार्तिककार, न्यायमञ्जरीकार आदि न्यायदर्शन के पंडितों ने खंडन कर दिया है। कुमारिल भट्टने अपनी व्याख्या में इस दोष के वारणार्थ जो कहा है — (श्लो.वा.सू.४-प्रत्यक्ष श्लो. ३८) (संशयादि में) दुष्प्रयोग के निवारणार्थ ही सम्प्रयोग शब्द में 'सम्यग्'अर्थ द्योतक 'सम्' उपसर्ग को जोड़ा है। उस के सामने नैयायिकों 25 का प्रत्युत्तर यह है कि प्रयोग यानी इन्द्रिययोग (संनिकर्ष) का सम्यक्त्व है या नहीं यह कैसे पता चलेगा ? वह तो अतीन्द्रिय है, अतः संवादीप्रवृत्ति आदि फलविशेष के विना उस का अनुमान लगाना दुष्कर है। यहाँ वैसा अनुमान करने के लिये किसी फलविशेष का सूचक कोई भी पद सूत्र में तो नहीं है। अतः कार्यलिंगक अनुमान से प्रयोग के सम्यक्त्व का अवबोध शक्य न होने से दुष्प्रयोग का निवारण नहीं होगा। फलतः उक्त अतिव्याप्ति तदवस्थ ही रहेगी। 30

दूसरी बात यह कि 'बुद्धिजन्म' का प्रमाणत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि बुद्धि तो 'ज्ञाता' स्वरूप

▲. माठरवृत्ति में इस का व्याख्यान :- विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसायो नेत्रादीनामिन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिरूपं दृष्टाख्यम् (माठर वृत्ति पृ.१२-पं.१०)

सम्भवत्येव बुद्धेर्ज्ञातृव्यापारलक्षणायाः पूर्वमेव प्रमाणत्वनिषेधात्। यैस्तु 'नेदं प्रत्यक्षलक्षणविधानं किन्तु लोक-प्रसिद्धप्रत्यक्षानुवादेन प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वविधानम्' () इति व्याख्यातम् तैरपि वाच्यम्— कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते ? ^Aकिमस्मदादिप्रत्यक्षस्य उत ^Bयोगिप्रत्यक्षस्य ? इति।

तत्र यद्याद्यः^A पक्षः स न युक्तः सिद्धसाध्यताप्रसक्तेः। ^Bद्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः, योगिप्रत्यक्षस्य स्वमतेनाऽसिद्धत्वात्। न चाऽसिद्धस्याऽनिमित्तत्वविधानम् अन्यथा खरविषाणादेरपि तं प्रत्यनिमित्तत्वविधिर्भवेत्। न च योगिप्रत्यक्षं परेणाऽभ्युपगतम् इति तं प्रति तस्य तदनिमित्तत्वं साध्यत इति वक्तव्यम् — यतो यदि प्रमाणतस्तत् तेनाभ्युपगतं तदा प्रमाणप्रसिद्धस्य भवतोऽपि प्रसिद्धत्वात् कथं तस्य तदनिमित्तत्वं साध्येत तन्निमित्ततयैव योगिप्रत्यक्षस्य प्रमाणप्रसिद्धत्वात् ? अथाऽप्रमाणतस्तत् तेनाऽभ्युपगतम् तदा

है, ज्ञाता या ज्ञातृव्यापार कोई प्रमाणस्वरूप नहीं है। पहले ही उस के प्रमाणत्व का पूर्वग्रन्थ में निषेध किया हुआ है। (प्रथम खंड में ज्ञातृव्यापारस्वरूप प्रमाण का खंडन आ गया है — (२०-१))।

कुछ मीमांसकों का कहना है कि — सत्सम्प्रयोगे..... सूत्र में प्रत्यक्षम् पद के बाद 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्बनत्वात्' इतना अधिक जुड़ा हुआ है। तात्पर्य यह है कि सूत्रकार अपनी ओर से यहाँ प्रत्यक्ष का लक्षणविधान नहीं करते हैं किन्तु यथा तथा प्रसिद्ध प्रत्यक्ष में यहाँ 'धर्म' के प्रादुर्भाव में निमित्तभाव का, यानी धर्म ग्रहण के प्रति निमित्तकारणता का निषेध किया गया है। (क्योंकि प्रत्यक्ष तो वर्तमानग्राही होता है अतः अनागत धर्म उस का विषय ही नहीं है।) — ऐसा कहनेवाले मीमांसकों के प्रति नैयायिक पूछते हैं कि आप कौन से प्रत्यक्ष को धर्मग्रहण का अनिमित्त बता रहे हैं ? ^Aआपके और हमारे प्रत्यक्ष को या ^Bयोगिजन के प्रत्यक्ष को ?

[धर्मग्रहण का अनिमित्त वह प्रत्यक्ष किस का ?]

यहाँ प्रथम पक्ष माना जाय तो वह अयुक्त है, क्योंकि ^Aहमारे-तुम्हारे प्रत्यक्ष से धर्मग्रहण नहीं हो सकता यह तो प्रतिवादी को मान्य होने से वादीने नया क्या सिद्ध किया ? दूसरा ^Bयोगिप्रत्यक्षवाला पक्ष भी अयुक्त है क्योंकि आप (मीमांसक) के पक्ष में जब योगिप्रत्यक्ष ही अमान्य होने से असिद्ध है, असिद्ध पदार्थ को अनिमित्त दर्शाने में कुशलता नहीं होगी, अन्यथा आप को खरशृंग को भी 'अनिमित्त' दर्शाने में आयास करना होगा।

यदि कहा जाय :- "हमारे दर्शन में भले ही योगिप्रत्यक्ष असिद्ध है किन्तु परवादी के मत में वह प्रसिद्ध है, अतः उस पर वादी के प्रति उस के अनिमित्तत्व को दर्शाने में अनौचित्य नहीं है।"— तो यह भी कथन योग्य नहीं है। कारण, परवादीमान्य योगिप्रत्यक्ष यदि प्रमाणप्रदर्शनपूर्वक माना गया हो तब तो उस के लिये प्रमाणसिद्ध यो० प्र० आप के लिये भी प्रमाणसिद्ध ही रहेगा (प्रमाण पक्षपाती नहीं होता)। जब योगिप्रत्यक्ष आप के मत से भी प्रमाणसिद्ध हो गया तब तो अतीन्द्रियधर्म (के ग्रहण) के प्रति उस को असमर्थ दिखलाना कहाँ तक उचित होगा जब कि अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थ ग्रहण का निमित्त होने के कारणरूप में ही योगिप्रत्यक्ष को प्रमाणसिद्ध माना जाता है। यदि ऐसा कहें कि 'पर वादीने बिना प्रमाण ही योगिप्रत्यक्ष स्वीकार लिया है,' तब तो वह स्वीकार प्रमाणशून्य होने से अनुचित ही ठहरेगा। तब वैसे अनुचितरूप से स्वीकृत योगिप्रत्यक्ष में अनिमित्तत्व का प्रदर्शन

प्रमाणाभावादेव नाऽसावभ्युपगम इति कथं ततस्तस्य तदनिमित्तत्वसिद्धिः ? अत एवातीन्द्रियं वस्त्वनङ्गीकुर्वता परप्रतिपत्रे वस्तुन्यतीन्द्रियेऽसौ प्रमाणं प्रष्टव्यः— स चेत् तत् तत्र ब्रूते तदा तद्वस्त्वङ्गीकर्त्तव्यम्। अथ न ब्रूते तदा तस्य प्रमाणाऽभावादेवाऽसिद्धिः न तदुक्तप्रमाणप्रतिषेधात्। न ह्यतीन्द्रिये वस्तुनि प्रमाणं प्रतिषेधविधायि प्रवर्त्तितुमुत्सहते धर्म्यसिद्धत्वादिदोषैराघातत्वात्।

अथापि स्यात् — भवेदेष दोषः स्वतन्त्रसाधनपक्षे। नत्विदं स्वतन्त्रसाधनम् अपि तु प्रसङ्गसाधनम्। 5 तच्च स्वतोऽप्रसिद्धेऽपि वस्तुनि परप्रसिद्धेन परस्याऽनिष्टापादनमिति परैरभ्युपगतं यथा सामान्यादिनिषेधे। एतदप्ययुक्तम्— दृष्टान्तस्याप्यऽसिद्धेः। यथा च सामान्यादिनिषेधे न प्रसङ्गसाधनं प्रवर्तते तथा नैयायिकैः प्रतिपादितं सामान्यादिपरीक्षायाम्।

किञ्च, प्रसङ्गसाधनानुपपत्तिरत्र। यतः प्रसङ्गः सर्वोऽपि विपर्ययफलः इति पूर्वं प्रसङ्गः दर्शनीयः।

भी यानी अनिमित्तत्व की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ? आप का उचित फर्ज यह है कि जब आप 10 को योगिप्रत्यक्ष मान्य नहीं है, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मान्य नहीं है और दूसरा वादी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को मानता है तब इस स्थिति में सर्वप्रथम तो आपको उस की सिद्धि के लिये पर वादी को प्रमाण पूछना चाहिये। यदि वह ठोस प्रमाण दर्ज करता है तब तो उस प्रमाण के आधार पर आप को अतीन्द्रिय वस्तु का बरबस स्वीकार करना चाहिये। यदि परवादी प्रमाण दर्ज नहीं कर सकता तब तो प्रमाण के अभाव से ही अतीन्द्रिय तत्त्व की सिद्धि नहीं होगी, न कि परवादिप्रदर्शित प्रमाण का 15 अपलाप करने द्वारा। मीमांसक के मत में प्रमाण-पञ्चक किसी भी पदार्थ का निषेध करने में सक्षम न होने से, अतीन्द्रिय वस्तु के निषेध में तो कोई भी प्रमाण उत्साह नहीं रख सकता। कारण, वहाँ धर्म-असिद्धि आदि दोषगण का वह (प्रमाण) शिकार बन जायेगा।

[योगिप्रत्यक्ष में धर्म-अनिमित्तत्व दिखानेवाला प्रसङ्गसाधन]

मीमांसक :- आपने लगाये वे दोष तो तभी सम्भव होंगे यदि हमें स्वरस से योगिप्रत्यक्ष में 20 अनिमित्तत्व सिद्ध करने का शौख होता। स्वतन्त्ररूप से योगिप्रत्यक्ष में अनिमित्तत्व का प्रसाधन हमारा लक्ष्य नहीं है किन्तु हमारा लक्ष्य सिर्फ प्रसङ्गसाधन यानी अनिष्टापादनमात्र है। अनिष्टापादन का यही तरीका होता है — यदि आप योगिप्रत्यक्ष को मानेंगे तो उस में प्रत्यक्षत्वव्याप्त विद्यमानोपलम्भकत्व भी मानना पड़ेगा, फलतः वह धर्मग्राहक नहीं हो सकेगा। प्रसंगापादन में जरूरी नहीं है कि जिस धर्म के प्रति अनिष्टापादन किया जाता है वह स्वमतसिद्ध होना चाहिये। सिर्फ परमत में प्रसिद्ध 25 हो इतना काफी है। परमतप्रसिद्ध धर्म के प्रति अनिष्ट का आपादन अन्य दर्शनों में भी स्वीकृत है जैसे कि नैयायिकदर्शन प्रसिद्ध सामान्य के निषेध में बौद्धादि के द्वारा अनिष्टापादन किया जाता है, बौद्धादि के स्वमत में सामान्य मान्य न होने पर भी।

नैयायिक :- आपने जो यहाँ प्रसङ्गसाधन की चर्चा में बौद्धादि का दृष्टान्त दिया वह गलत है। सामान्यादि के निषेध के लिये बौद्धादि की ओर से किये जाने वाले प्रसङ्गसाधन की प्रवृत्ति 30 कैसे अशक्य है — इस तथ्य का विवेचन, नैयायिकों ने सामान्यादि की परीक्षा के अवसर में कर दिया है।

- स च कथं प्रदर्शयति इति वक्तव्यम्। अथ योगिप्रत्यक्षं धर्मग्राहकं न भवति विद्यमानोपलम्भनत्वात्। न, हेनोरसिद्धत्वात्। अथ तत्सिद्ध्यर्थं हेत्वन्तरोपादानम्— तथाहि, विद्यमानोपलम्भनं योगिप्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजत्वात्। न, अस्याप्यसिद्धत्वात्। अथैतत्सिद्ध्यर्थं हेत्वन्तरमुपादीयते— विवादास्पदं सत्संयोगजं प्रत्यक्षत्वात् तच्छब्दवाच्यत्वाद्वा, 'अस्मदादिप्रत्यक्षवदि'ति दृष्टान्तः सर्वत्र वक्तव्यः। धर्मादिग्राहकत्वे वा धर्मादेरसत्त्वाच्च विद्यमानोपलम्भकत्वमिति
- 5 विपर्ययः, अविद्यमानोपलम्भनत्वे च न सत्संयोगजम् असत्संयोगजत्वे वा न प्रत्यक्षम् नापि तच्छब्दवाच्यम्। ननु भवत्येवं प्रसङ्गपूर्वको विपर्ययः, तस्य त्वनेन किं सद्भावो निषिध्यत उत प्रत्यक्षत्वम् ? प्राच्ये विकल्पे धर्मसिद्धता हेतूनाम् इत्युक्तम्। द्वितीयेऽपि तस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः विशेषप्रतिषेधस्य शोभाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्। स्यादेतत्— विशेषप्रतिषेधे धर्मिण एव प्रतिषेधः तस्य तद्रूपतयैवाभ्युपगमात्।

[योगिप्रत्यक्ष प्रति प्रसङ्गसाधन की असंगतता]

- 10 दूसरी बात यह है कि आपने जो यहाँ योगिप्रत्यक्ष के बारे में प्रसङ्गसाधन दिखलाया है वह यहाँ संगत नहीं है। कारण यह है कि प्रसङ्ग का निरूपण हर हमेशा विपर्ययफलक यानी विपरीत अर्थ साधक होता है अत एव पहले प्रसङ्ग का निरूपण किया जाता है। अब आप दिखाओ कि प्रस्तुत में यहाँ किस तरह प्रसङ्ग लागू होता है ? आप यदि कहेंगे — योगिप्रत्यक्ष धर्मग्राहक नहीं होता, क्योंकि वह वर्तमानग्राही होता है। — तो हेतु असिद्ध होने से यह प्रयोग गलत है। आप
- 15 कैसे कह सकते हैं कि योगिप्रत्यक्ष वर्तमानग्राही ही होता है ? यदि वर्तमानग्राहिता हेतु की सिद्धि के लिये अन्य किसी हेतु की तलाश करेंगे, जैसे — योगिप्रत्यक्ष वर्तमानग्राही है क्योंकि सद्भूत अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य है। — तो यह भी गलत है क्योंकि यहाँ भी हेतु सद्भूतार्थसन्निकर्ष असिद्ध है। यहाँ आप पुनः हेतु की सिद्धि के लिये प्रयोग करेंगे तो क्या करेंगे — यही तो कि 'विवादास्पद योगिप्रत्यक्ष सद्भूतार्थ-सन्निकर्षजन्य है क्योंकि स्वयं प्रत्यक्षरूप है
- 20 अथवा स्वयं प्रत्यक्षशब्दवाच्य है। यहाँ और पहले जो दो प्रयोग कहे हैं — तीनों में हम-आप के प्रत्यक्ष का उदाहरण जान लेना। प्रसङ्गवादी कहता है कि 'यदि प्रतिवादी कहें कि योगिप्रत्यक्ष धर्मादिग्राहक है, तो योगिप्रत्यक्ष विद्यमान (सद्भूत) अर्थग्राही नहीं हो सकेगा — क्योंकि अतीतअनागत धर्मादि तो असत् है।' इस तरह प्रसङ्गवादी के मतानुसार विपर्यय फलित हो गया। यदि प्रतिवादी कहेंगे कि हम योगिप्रत्यक्ष को अतीतादिअर्थग्राही होने से मात्र विद्यमानार्थग्राही नहीं मानेंगे तो यहाँ भी
- 25 अविद्यमानार्थग्राही होने से सद्भूतार्थसन्निकर्षजन्यत्व का विपर्यय ही फलित होगा। यदि उसे भी मान लेंगे तो योगिज्ञान में प्रत्यक्षत्व का अभाव सिद्ध हो जायेगा। अथवा प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्व का व्यतिरेक सिद्ध हो जाने पर प्रसङ्गसाधन सफल हो गया।

[मीमांसक प्रदर्शित प्रसङ्गपूर्वकविपर्यय से निषेध किस का ?]

- नैयायिक विद्वान् कहते हैं — प्रसङ्गसाधन का परिणाम विपर्यय होता है — यह सच है, किन्तु
- 30 प्रश्न यह है कि आप को विपर्यय के द्वारा यहाँ क्या अभीष्ट है ? योगिप्रत्यक्ष के अस्तित्व का ही निषेध — या — उस के सिर्फ प्रत्यक्षत्व का निषेध ? पहले विकल्प में तो, योगिप्रत्यक्ष सर्वथा असत् सिद्ध होने से आप के पूर्वोक्त सभी हेतु (विद्यमानोपलम्भनत्व आदि) आश्रयासिद्धि दोष से

न च धर्म्यसिद्धत्वादिहेतुदोषः 'यदि' अर्थस्याभ्युपगमात् । असदेतत्— व्याप्तौ सत्यां प्रसङ्गपूर्वकस्य विपर्ययस्य प्रवृत्तेः । न च प्रत्यक्षत्वस्य तच्छब्दवाच्यत्वस्य वा सत्सम्प्रयोगजन्यत्वेन व्याप्तिसिद्धिः क्वचित् संजाता । अथ प्रसङ्गसाधनवादिनः तत्सिद्धिः । तथापि दोषः, न हि यत् तेन न गृह्यते तदन्येनापि न गृह्यत इति व्याप्तिसिद्धिः । तथाहि— यथा प्रसङ्गसाधनवादिचक्षुर्नातिदूरस्थविषयग्राहि ▲सम्पात्यादेर्गुधराजस्य तु चक्षुष्ट्वेऽपि चक्षुर्योजनशतव्यवहितावभासि श्रूयते रामायणादौ । न च कादम्बर्यादेरिव काव्यत्वादस्याऽप्रमाणतेति 5 न तन्निबन्धना वस्तुव्यवस्था, भारतेऽपि प्रमाणभूते अस्यार्थस्य संसूचनात् । स्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेऽपि च भारतादीनां प्रमाणता सिद्धैव यद्याप्तप्रणीतत्वे निश्चयः । तदा(यथा) वृषदंशचक्षुः चक्षुष्ट्वेऽपि तच्छब्दवाच्यत्वेऽपि

ग्रस्त बन जायेंगे। द्वितीय विकल्प में, फलित यह होगा कि आप जिस में सिर्फ प्रत्यक्षत्व का ही निषेध कर रहे हो वैसा भी कोई 'योगिप्रत्यक्ष' संज्ञक प्रमाणज्ञान है जिस का प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध प्रमाणों में अन्तर्भाव न होने से उस को एक नये प्रमाण के रूप में मीमांसक को स्वीकार करना पड़ेगा। 10 कारण यह न्याय है कि किसी धर्म के एक विशेष का निषेध करने पर शेष धर्मों में संमति हो जाती है। अपने भी योगिप्रत्यक्ष के एक विशेष 'प्रत्यक्षत्व' का निषेध तो किया किन्तु शेष प्रमाणत्व आदि धर्मों का निषेध तो नहीं किया।

[मीमांसक की धर्मी-निषेधाशंका का उत्तर]

यदि आशंका हो कि — 'प्रत्यक्षत्व' विशेष के प्रतिषेध से पूरे समूचे 'योगिप्रत्यक्ष' रूप धर्मी 15 का ही निषेध फलित हो जाता है क्योंकि आप तो उस धर्मी को 'प्रत्यक्षत्व' रूप से ही सत् मानते हो। धर्मी का निषेध होने पर भी आश्रयासिद्धि आदि हेतुदोष को इसलिये अवकाश नहीं है, कि हम यहाँ 'यदि' पद के 'काल्पनिक सत्त्व' रूप अर्थ का अन्तर्भाव कर के ही हमारे न्यायप्रयोगों में धर्मी का उल्लेख करते आये हैं। — तो यह आशंका भी गलत है। कारण, प्रसङ्गपूर्वक विपर्यय की प्रवृत्ति भी व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही हो सकती है। प्रस्तुत में, प्रत्यक्षत्व (अथवा 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्व) 20 के साथ सत्सम्प्रयोगजन्यत्व की व्याप्ति ही कहीं सिद्ध नहीं है। यदि कहें कि — प्रसङ्गसाधनप्रयोक्ता (मीमांसक) के मत में वह सिद्ध है — तो यहाँ भी दोष है — किसी एक प्रयोक्ता को यदि सत्सम्प्रयोग के बिना किसी अर्थ का (प्रत्यक्ष) ग्रहण नहीं होता तो दूसरे को भी नहीं होता ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं है। कैसे यह देखिये — प्रसङ्गसाधन प्रयोक्ता वादी की चक्षु अतिदूरवर्ति अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु सम्पाति आदि गीधराज की चक्षु चक्षुष्ट्व के समानरूप से रहते हुए भी सो-योजनदूरवर्ती 25 अर्थ की अवभासक होती है ऐसा रामायणादि काव्य से विज्ञात होता है।

यदि कादम्बरी आदि की तरह रामायणादि भी काव्यमात्र होने से उस सम्पाति आदि के दृष्टान्त को प्रामाणिक नहीं मानेंगे, उस के आधार पर वस्तुसिद्धि का इनकार करेंगे — तो प्रमाणभूत माने गये महाभारत में भी इसी अर्थ का सूचन मिलता है उसे कैसा मानेंगे ?! जब महाभारत में विश्वस्त ऋषि के कर्तृत्व का निश्चय है तब महाभारत की प्रामाणिकता सिद्ध ही है भले ही उस में स्वरूपार्थ 30

▲. रामायण-अरण्य० सं.१४ श्लो. ९ से ३६ में सम्पातिनामक गीधराज का उल्लेख है। एवं महाभारत.वनपर्व अ० २८० श्लोक में सम्पाति गीधराज को जटायु का सहोदर दिखाया है। (- भूतपूर्व सम्पादक टीप्पणी)

वा भिन्नस्वभावं दृष्टं तद्वत् योगिप्रत्यक्षं भविष्यति। एवं प्रतिवादिप्रत्यक्षेऽपि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिनिषेधो दृष्टव्यः।

- अथ गृध्र-वृषदंशचक्षुषोरेतत्त्वभावत्वेऽपि रूपग्रहणप्रतिनियमः। न हि ते रसादौ कदाचित् प्रवर्तन्ते, तथा योगिप्रत्यक्षस्यापि स्वविषय एवाऽतिशयो भविष्यति। तदुक्तम्- ▲‘यत्राप्यतिशयो दृष्टः’... इत्यादि।
- 5 तथा *‘येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः।’ इत्यादि च।

- एवमेतत्, किन्तु द्विविधं प्रत्यक्षम् बाह्येन्द्रियजम् मानसं च। तत्र पूर्वस्यातीतादिग्राहकत्वनिषेधे रसादिग्राहकाणामिव इतरेतरविषयाऽग्रहणे सिद्धसाध्यता। मानसस्य तु अतीतादिरपि विषयः, तस्य सर्व-
का प्रतिपादन हो। (हालाँकि मीमांसक विद्वान् अर्थवाद यानी अन्यप्रमाणसिद्ध वस्तु के स्वरूपार्थ का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ को प्रमाण नहीं मानते सिर्फ अन्यप्रमाण असूचित यज्ञादि अर्थ प्रतिपादक
10 वेदादि को ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु विश्वस्त ऋषि रचित ग्रन्थ स्वरूपार्थप्रकाशक हो तो भी उसे प्रमाण मानना अनिवार्यरूप से आवश्यक है यह नैयायिककथन का तात्पर्य है।) फलितार्थ यह है कि जैसे मार्जार का नेत्र और अपने नेत्र में नेत्रत्व अथवा नेत्रशब्दवाच्यत्व समान होने पर भी मार्जार के नेत्र का रात्रिदर्शनादि अलग ही स्वभाव सर्वविदित है, इसी तरह योगिप्रत्यक्ष भी हमारे प्रत्यक्ष से भिन्न स्वभाववाला यानी अतीन्द्रिय अर्थ का ग्राहक हो सकता है। अत एव मीमांसक के द्वारा
15 प्रदर्शित प्रसङ्ग-विपर्यय में जो साध्य-साधन का निर्देश है उन में व्याप्ति की सिद्धि अशक्य है क्योंकि प्रतिवादी सूचित (योगी)प्रत्यक्ष में वह संगत नहीं होती। (व्याप्ति यह कि जो एक व्यक्ति से गृहीत नहीं होता वह अन्य किसी से भी गृहीत नहीं होता — मार्जारादि एवं सम्पात्यादि प्रत्यक्ष में इस की निष्फलता सिद्ध है।)

[गीध-मार्जारादि का सातिशय प्रत्यक्ष भी मर्यादित]

- 20 मीमांसक :- गीध एवं मार्जार चक्षु का स्वभाव मानवीय चक्षु से कुछ अलग होता है, फिर भी वह अपने रूपग्रहण की मर्यादा का उल्लंघन कर के रसादि का अथवा अतीन्द्रिय अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकता। इसी तरह हो सकता है कि भिन्नस्वभाववाले योगिप्रत्यक्ष से अपने विषयभूत रूपादि का अधिक स्पष्ट दर्शन होता हो, किन्तु प्रत्यक्ष की मर्यादा (विद्यमानग्राहित्व) का उल्लंघन कर के वह अतीतादि का ग्रहण करने लगे ऐसा तो नहीं हो सकता। कुमारिल भट्टने श्लोकवार्त्तिक
25 (सू० १-१-४ का० ११४) में कहा है — ‘जहाँ भी अतिशय दिखता है वह अपने विषय तक मर्यादित ही होता है’ — तथा ‘जिन मनुष्यों की प्रज्ञा और मेधा आदि में सातिशयता दिखती है वह भी अपने विषय की सीमा तक ही होती है।’ (ऐसा नहीं होता कि कोई प्रज्ञावंत मेधावी पुरुष अपनी तीव्र मेधा-प्रज्ञा से सारी दुनिया को जान ले।)

[मानस प्रत्यक्ष की विशेषता के प्रदर्शन द्वारा नैयायिक का समाधान]

- 30 नैयायिक :- अतिशय को सीमा होती है यह आप की बात मानते हैं। किन्तु विशेष ज्ञातव्य यह है कि प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं — १बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, २दूसरा मनोजन्य मानस प्रत्यक्ष। प्रथम

▲. भाग-१, पृ.२०२ पं.५, तथा तत्त्वसंग्रहे का० ३३८७। ●. भा.१ पृ.२०२-३ तथा तत्त्वसंग्रहे का.३१६०।

विषयत्वात्। तथाहि— वादि-प्रतिवादिनोर्मानसं स्पष्टाभं स्मार्तमतीतार्थग्राहि विज्ञानं सिद्धम् एवमनागतार्थाध्यवसायि मानसं वादि-प्रतिवादिनोस्तथाविधं द्रष्टव्यम्। तस्य चाभूतार्थस्यापि स्पष्टाभता भावनाप्रकर्षात् काम-शोक-भयादिज्ञाने प्रतिपादिता। यत् पुनर्भूतार्थं प्रमाणद्वयपूर्वकं भावनाप्रकर्षसमुद्भूतं तत् संवादात् प्रमाणम् विशदत्वाच्च प्रत्यक्षम्। सम्भाव्यते च तथाविधं प्रत्यक्षं योगिनाम् यथाऽस्मदादीनां प्रातिभम् 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यानागतार्थग्राहकम्। न च सन्दिग्धस्वभावताऽस्य, निश्चितत्वेनोत्पादाद्। बाधकाभावात् न 5 विपर्यस्तताऽपि।

अथ सर्वा प्रतिभा न सत्यार्था सिद्धेति न प्रमाणं प्रातिभम् तर्हीन्द्रियजमपि सर्वं न सत्यार्थं सिद्धमिति तदप्यप्रमाणं भवेत्। अथ मा भूत् प्रमाणं यद् बाध्यते, इतरं(?) तु प्रमाणम् — प्रातिभेऽपि समानमेतत्।

प्रकार में आप अतीतानागतग्रहण का निषेध करो अथवा रूप-रसादिग्राहक चक्षु-रसनादि इन्द्रियों में अन्योन्य रस-रूपादि ग्राहकता का निषेध करो तो वह तो हमें भी मान्य है — मतलब सिद्धसाध्यता ही है। 10 दूसरे मानसप्रत्यक्ष के साथ आप की मर्यादा की बात संगत नहीं है। कारण, मन तो सर्वग्राही है कोई भी विषय उस से अछूता नहीं है, अतीतानागत को भी वह जान लेता है यह तो अनुभवसिद्ध है। कैसे — यह सुनिये,

मानस विज्ञान स्मृतिगर्भित अत्यन्त स्पष्ट अतीतार्थग्राहि प्रत्यक्षरूप होता है यह तो हम-आप को सभी को अनुभवसिद्ध है। (पूर्वकालीन स्मृतिजनक संस्कारों की प्रबलता से पूर्वदृष्ट दृश्यों का वर्तमान 15 में तादृश चीतार नजर समक्ष खड़ा हो जाता है — यह सर्वजनविदित है।) वैसा ही, हम-आप को भी कभी कभी स्पष्टरूप से भाविघटनाओं का स्पष्टरूप से दर्शन होता है — यह भी अनुभवसिद्ध है। हालाँकि अनागत अर्थ वर्तमान में अविद्यमान है फिर भी योगाभ्यास अथवा अदृष्टविशेष आदि कारणों से उस का स्पष्टरूप से (clairvoyance) दर्शन किसी किसी को हो जाता है। उस का प्रधान कारण है तीव्र भावना, तीव्र उत्कंठा अथवा तीव्र आवेग। तीव्र आवेग से कामज्वरपीडित कामान्ध 20 आदमी को स्तम्भादि की जगह अपने प्रेमपात्र का स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष दर्शन होता है उस का इनकार कौन कर सकता है ? तीव्र शोकदशा, प्रबल भयदशा में भी ऐसा होता है। वर्तमान में विद्यमान सद्भूतार्थ का भी (दूरस्थ होने से इन्द्रियसंनिकर्ष के विना) पूर्वजात प्रत्यक्ष-अनुमानप्रमाणद्वयपूर्वक नया प्रत्यक्ष ज्ञान तीव्रभावना के प्रभाव से हो जाता है। फिर वहाँ दूर जा कर के देखे तो उस की उपलब्धि होती है अतः इस संवाद से उस के प्रामाण्य में संदेह भी नहीं रहता। वह अत्यन्त स्पष्ट 25 होने से प्रत्यक्ष ही माना गया है। योगिजन को ऐसा दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष होना असम्भवित नहीं है, अरे हम लोगों को भी कभी कभी — 'मेरा भाई कल आ रहा है' ऐसा अनागत-दूरवर्ती भाई के बारे में प्रतिभाजन्य प्रातिभ प्रत्यक्ष होता है। वह भी निश्चितरूप से ही अनुभवारूढ होता है न कि संदेहरूप में। वह विपर्यस्तरूप भी नहीं होता क्योंकि वहाँ किसी बाध की उपस्थिति नहीं होती।

[प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य पर आक्षेप-प्रतिकार]

30

मीमांसक :- प्रातिभ ज्ञान तो प्रमाणभूत ही नहीं है, क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि अखिल प्रतिभा सत्यार्थस्पर्शी ही हो। कभी कभी प्रतिभा से गलत ज्ञान भी होता ही है।

अथ प्रतिभायाः न प्रमाणफलता अर्थजत्वानुपपत्तेः । तथाहि— कर्मशक्तिः कर्तृ-करण सहकृता क्रियानिर्वर्तिका । न चासती स्वरूपेणानागता वर्तमानकालकर्तृकरणाभ्यां सह कर्मशक्तिः स्वकार्यं व्याप्रियते । नापि कर्तृकरण-शक्तिः वर्तमानसमयसम्बन्धिनी भाविकर्मशक्त्या तदा विद्यमानया सह स्वकार्यं व्याप्रियते । इति कथमनागतार्थविषयार्थजा प्रतिभा ? ततो न प्रमाणफलं सेति ।

- 5 अयुक्तमेतत्, असमानकालत्वेऽपि प्रतिभाविषयस्य कर्तृ-करणव्यापारसमानकालतोपपत्तेः । तथाहि— करणं प्रतिभाजनकं न वर्तमानसमयवस्तुपरिच्छेदकं किन्त्वनागतस्य । तेनानागते वस्तुनि करणस्य व्यापाराद्, वस्तुनश्च तेन रूपेण सत्त्वात् कथं प्रतिभा निर्विषया ? यदि च सा(?) भाविभावविषयं ज्ञानं निर्विषयं तर्हि चोदनाजनितं ज्ञानं वाक्यप्रभवं वाक्यकाले कार्यस्यार्थस्यासत्त्वात्रिविषयमासज्येत ।

नैयायिक :- तब तो इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो पायेगा, क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि अखिल इन्द्रियजन्य ज्ञान सत्यार्थक ही हो ।

मीमांसक :- जहाँ बाध हो वह इन्द्रियजन्य ज्ञान भले ही अप्रमाण हो किन्तु जो निर्बाध है वह इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रमाण हो सकता है ।

नैयायिक :- प्रतिभा ज्ञान के लिये भी यह विधान समान ही है, निर्बाध प्रतिभा को प्रमाण मानना होगा ।

- 15 मीमांसक :- प्रतिभा प्रमाणफलक नहीं हो सकती, क्योंकि वह अर्थजन्य नहीं होती । देखिये :- जैसे कर्तृशक्ति (सुधार) और करणशक्ति (कुठार) ये दोनों शक्तियाँ कर्मशक्ति (काष्ठ) के सहकार के विना क्रियाकारिणी नहीं बन सकती, तो वैसे ही कर्मशक्ति (काष्ठ) भी कर्तृ-करणशक्ति के सहयोग के विना अपने कार्य को नहीं कर पायेगी । अब आप ही सोचिये कि भावि विषयरूप कर्मशक्ति जो कि वर्तमान में तो सिद्ध नहीं है — असत् है — वह वर्तमानकालीन (प्रतिभादि) कर्तृ-करणशक्ति को प्रतिभज्ञानोत्पत्ति में सहायक कैसे बनेगी ! इसी तरह वर्तमानकालीन (प्रतिभादि) कर्तृ-करणशक्तियाँ भाविकालीन कर्मशक्ति (विषय) को प्रतिभज्ञानोत्पत्ति रूप अपने कार्य के लिये सहायक कैसे बनेगी ? निष्कर्ष :- वर्तमानकालीन प्रतिभा भाविकालीन विषयरूप अर्थ से किस तरह उत्पन्न होगी ? इस प्रश्न के निरुत्तर रहने से यह फलित होता है कि प्रतिभा प्रमाणफलक नहीं होती । तात्पर्य— प्रतिभा से प्रमाण की उत्पत्ति असंभव है ।

- 25 नैयायिक :- आप का यह निरूपण असंगत है । प्रतिभा का विषय यानी कर्मशक्ति भले ही कर्तृ-करण से समकालीन न हो, फिर भी कर्तृ-करण के व्यापार से समकालीनता होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । कैसे यह देखिये — प्रतिभा का जनक मनरूप करण तो वर्तमानकालीन वस्तु का ग्राहक नहीं होता, वह तो भाविकालीन अर्थ का ग्राहक होता है, अत एव मानना होगा कि भावि अर्थ के प्रति भी मन रूप करण का व्यापार होता है । (वही प्रतिभा है ।) इस ढंग से कहो कि भावि अर्थ का वर्तमानरूप से सत्त्व न होने पर भी अनागतरूप से प्रतिभाकाल में उस का सत्त्व होता है जिसे प्रतिभा ग्रहण कर सकती है, तब कैसे कहते हो कि प्रतिभा निर्विषयक होती है ? यदि प्रतिभाजन्य भाविभावविषयक ज्ञान को आप निर्विषयक मानते हो (क्योंकि भाविभाव तब असत् है ।) तो फिर यही दोष आप के मत में प्रसक्त होगा । विधिवाक्यार्थ रूप चोदना से जन्य, भावि स्वर्गादि या भावि अपूर्व रूप विषय का ज्ञान भी निर्विषय ही मानना होगा क्योंकि उस ज्ञान के जनक विधिवाक्य

अथ वर्तमानार्थग्रहणस्वभावोऽध्यक्षस्यैव न शब्दादेः। उक्तं च, “सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।” (श्लो.वा.प्र.श्लो.८४) तथा “एष प्रत्यक्षधर्मश्च वर्तमानार्थतैव या” (श्लो.वा.निरा.श्लो.११४) “सन्निकृष्टार्थ-वृत्तित्वं न तु ज्ञानान्तरेष्वयम्” (श्लो.वा.निरा.श्लो.११५) इति। असदेतत् — मनोविज्ञानस्यातीतानागतार्थग्रहणे व्याघाताभावात्। चक्षुरादिप्रभवप्रतिपत्तीनां तु युक्त एव वर्तमानार्थग्रहणलक्षणो धर्मः, न तु मानसस्य, अन्यथा चोदनाजनितस्यापि स स्यादित्युक्तम्।

5

नन्वेवमपि भाविरूपता भावस्य सावधिः प्रागभावः। न च भिन्नकालत्वाद् वस्त्वस्तुनोः सम्बन्धः, इति कथं तस्य भाविरूपता? अत्र केचिदाहुः— न तयोरसम्बन्धिता, विशेषण-विशेष्यतया प्रतिपत्तेः। नैतत्, न हि सम्बन्धपूर्वको विशेषण-विशेष्यभावः, किं तर्हि भाविता भावस्य? उच्यते — बुद्धौ प्रतिभासमानस्याकारस्य के काल में अनागतकार्यरूप स्वर्गादि अर्थ तो असत् ही होता है।

[मनोविज्ञान भाविअर्थग्राहि होने में आक्षेप-प्रतिकार]

10

यदि कहा जाय — विधिवाक्यजनित स्वर्गादि अनागतार्थ के बारे में निर्विषयता का दोष नहीं हो सकता क्योंकि शब्दादिजन्य ज्ञान का ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह वर्तमानकालीनमात्र अर्थ का ग्रहण करे। जब कि प्रत्यक्ष का ही यह स्वभाव (= धर्म) होता है कि वह सिर्फ वर्तमान अर्थ का ग्राहक होता है। श्लोकवार्तिक में कहा है, “चक्षु आदि (इन्द्रियों) से (सिर्फ) वर्तमान एवं संनिहित अर्थ का ही ग्रहण होता है। तथा — यह जो वर्तमानार्थ(ग्राहि)ता है वह (सिर्फ) प्रत्यक्ष का ही धर्म है। प्रत्यक्ष भिन्न ज्ञानों का यह (वर्तमानार्थता) कोई धर्म नहीं है कि संनिहितार्थ में ही प्रवृत्ति करे।”

15

नैयायिक कहता है कि यह सब गलत है। कारण, सर्वविदित है कि अतीत-अनागत अर्थ के ग्रहण में मनोजन्यविज्ञान को कोई व्याघात नहीं होता। हाँ, चक्षु आदि (इन्द्रिय) जन्य बोधों का यह धर्म जरूर होता है कि वे वर्तमानकालीन अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु मानस प्रत्यक्ष ज्ञान का ऐसा धर्म नहीं है। यदि वर्तमानार्थग्राहिता धर्म को अपनी सीमा लाँघ कर मनोविज्ञान तक ले जायेंगे तो विधिवाक्यार्थ चोदना जन्य ज्ञान भी उस की चपेट में क्यों नहीं आयेगा?

[भाविरूपता का विशेषण-विशेष्यभाव कैसे ?]

मीमांसक :- मानसज्ञान त्रिकालविषयक मान लेने पर भी उस से गृहीत होनेवाली भावि पदार्थ की भाविरूपता का विचार करना पड़ेगा, आखिर तो वह सप्रतियोगिक प्रागभावरूप ही है। यहाँ स्पष्ट है कि प्रागभाव और उस का प्रतियोगि भिन्नकालीन ही होते हैं। प्रागभाव अवस्तुरूप है और प्रतियोगी तो वस्तुरूप है। कैसे उन दोनों का सम्बन्ध मेल खायेगा? जब प्रतियोगी रूप पदार्थ और प्रागभाव का मेल ही नहीं बैठता तो उस पदार्थ के साथ भाविरूपता का भी मेल कैसे बैठेगा? तब प्रागभाव के सम्बन्ध बिना किसी भी अर्थ की भाविरूपता संगत नहीं हो सकती।

25

यहाँ कुछ नैयायिकों का उत्तर यह है कि जब ‘प्रतियोगी का प्रागभाव’ भासित होता है तब प्रागभाव विशेष्यतया और प्रतियोगी विशेषणतया भासता है। विना सम्बन्ध विशेषण-विशेष्यभाव का बोध अशक्य होने से प्रतियोगी और प्रागभाव का सम्बन्ध सहज सिद्ध हो जाता है।

30

यह उत्तर उचित नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध के बिना भी विशेषण-विशेष्यभाव बन सकता है।

कुतश्चित्रिमित्तात् प्रागभावविशेषणता, तच्च निमित्तं भोजनादिकार्यं भ्रातृकृतम्, तद् भ्रातुरनागतस्य नोपपद्यत इत्यनागमनकाल एव कार्येण बुद्ध्युपस्थापितस्य भ्रातुः श्वस्तनागमनविशिष्टतां प्रतिपद्यते। सद्ब्यवहार-निबन्धनं च सत्त्वम् तच्च विधिप्रतिभास एव, अतो विधिप्रतिभासस्वभावत्वात्त्र निर्विषया प्रतिभा।

- मा भूत् निर्विषयत्वं तस्याः। तेन त्वर्थेन सह सन्निकर्ष इन्द्रियस्य वाच्यः, इन्द्रियार्थाऽसन्निकर्षजन्य
- 5 प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अत्र केचित् समादधति - 'श्रो मे भ्राताऽत्र देशे आगन्ता' इति प्रतिभोत्पादाद् देशादेश्चन्द्रियेण संयोगात् तद्विशेषणत्वाच्च श्वस्तनागमनविशिष्टस्य भ्रातुः संयुक्तविशेषणभावः सन्निकर्षः। एतत् परे नानुमन्यन्ते, विशेषणविशेष्योरेकविषयत्वात्त्र भ्रात्रा विशेषणेन चक्षुरादेः संनिकर्षः, तदभावाद्

(जैसे— खरविषाण में, वन्ध्यापुत्र में।) तो फिर (मीमांसक पूछता है) सही उत्तर दीजिये कि भाव की भाविता (= भाविरूपता) क्या है ?

- 10 उत्तर :- बुद्धि में भासित होने वाले (भावि अर्थ के) आकार की किसी विशेष निमित्त से प्रयोजित जो प्रागभावविशेषणता (यानी प्रागभावप्रतियोगिता) है वही भाव की भाविरूपता है।

प्रश्न :- वह निमित्तविशेष क्या है ?

- उत्तर :- भाई का भोजनादि कार्य। किसी को याद आ गया कि अग्रिम दिनों में कभी भी मैंने मेरे भाई को भोजन के लिये नौता दिया है, लेकिन अभी तो वह देशान्तर गया हुआ है। बार
- 15 बार उस की याद आती है। कभी ऐसे ही बैठा है और अचानक प्रतिभा के द्वारा उस को स्फुरणा होती है कि मेरा भाई कल जरूर आयेगा। यह स्वभ्रातृ का अग्रिमदिन में आगमन का प्रतिभाजन्य प्रत्यक्ष बोध होने में अपने भाई का भोजन रूप कार्य स्मरण यानी भ्रातृकृत भोजन निमन्त्रण निमित्त बन गया। अब जो प्रश्न है कि अपने स्मृत भ्राता में अग्रिमदिनागमन वैशिष्ट्य का भान कैसे प्रतिभा के द्वारा हुआ ? उस का उत्तर यह है कि जब तक अपना भाई अनागत है (आया नहीं है) तब
- 20 तक तो भ्रातृकृत भोजनादि निमित्त सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः भाई का जो अनागमन काल (जब तक नहीं आया उस अवधि पर्यन्त काल) है वही काल स्मृत भोजनादि कार्य के निमित्त से बुद्धिविषयतापन्न भाई की अग्रिमदिनागमनविशिष्टता के रूप में ज्ञात होता है। इस प्रकार अनागमनकाल में प्रागभाव के विशेषणरूप में अग्रिमदिनागमनरूप भाविअर्थ का प्रतिभा से बोध हो सकता है। सत्त्व का मतलब यह नहीं है कि वर्तमानकाल में ही जो विद्यमान हो। किसी भी काल में वस्तुसत्ता (भोजनादि कार्य)
- 25 के व्यवहार के निमित्तभूत अर्थ भी सत्त्व ही कहलाता है। इस लिये यहाँ भी भावि भोजनादि कार्य का सत्त्व प्रतिभा का विषय बना हुआ है, जो कि विधिरूप में प्रतिभासित होने के स्वभाव से अलंकृत होने से, प्रतिभा को निर्विषयक नहीं माना जा सकता।

[संनिकर्ष के बिना प्रत्यक्ष प्रतिभा कैसे ?]

- मीमांसक :- प्रतिभा भले निर्विषयक न हो, किन्तु वहाँ भी इन्द्रिय के साथ अर्थ का संनिकर्ष
- 30 तो होना जरूरी है क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से अजन्य ज्ञान में प्रत्यक्षत्व धर्म नहीं रह सकता।

विशेषणाऽग्रहणे कथं विशेष्यबुद्धिः ? अपि च, धस्तनागमनविशिष्टभ्रातृज्ञानं प्रतिभा, न देशादिज्ञानम् न चेन्द्रियस्य तेन कश्चित् सम्बन्धः।

अत एव आर्षमपि ज्ञानं न प्रतिभा। यतः 'ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमपूर्कम्' (वाक्य० प्र० का० श्लो० ३०) अनेनोपायजत्वमार्षस्य दर्शयति। उपायश्च सन्निकर्ष-लिङ्ग-शब्दस्वभावः आगमग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। नापि धर्मविशेषात् सन्निकर्षं विनाऽपि प्रतिभायाः समुद्भवः; यतो धर्माधर्मयोः फलजनकत्वं साधनजनकत्वेनैव 5 यथा सुखादौ जन्ये शरीरादेर्जननम्। एवं प्रतिभाया अपि धर्मविशेषजन्यत्वे केनचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना साधनेन धर्मविशेषजनितेन भाव्यम्। अत एव सिद्धदर्शनमपि न प्रतिभा रथ्यापुरुषस्यापि भावात्। 'अनियतनिमित्तप्रभवत्वेनाऽप्रमाणं प्रतिभा' इति यत् कैश्चिदभ्यधायि तत्रैयायिकैर्निराक्रियत एव, मनस-

नैयायिक :- (इस का समाधान नैयायिकों ने पहले श्लोकवार्तिक के उद्धरणों का निराकरण करते हुए कर ही दिया है कि मनोजन्मविज्ञान में विना सन्निकर्ष भी प्रत्यक्षत्व होने में कोई बाध नहीं 10 है। अन्य विद्वान् यहाँ क्या समाधान करते हैं और वह क्यों अनुचित है वह अब पढ़िये -) यहाँ कोई समाधान करते है - यहाँ जो प्रातिभ ज्ञान होता है वह देशगर्भित होता है - "मेरा भाई इस स्थान में कल आनेवाला है।" यहाँ यद्यपि अग्रिमदिनागमनविशिष्ट भ्रातृ के साथ अव्यवहित सन्निकर्ष भले न हो किन्तु संयुक्तविशेषणत्वरूप परम्परा सन्निकर्ष मौजूद ही है, क्योंकि 'इस स्थान' रूप देश के साथ चक्षुइन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष मौजूद है और उस देश में अग्रिमदिनागमनयुक्त भाई विशेषणरूप 15 से भासित होता है। यह समाधान दूसरे विद्वान् मान्य नहीं करते, क्योंकि 'इस स्थान' रूप देश एवं भ्राता दोनों ही विशेष्य-विशेषण एक ही चक्षुइन्द्रिय के विषयरूप में यहाँ प्रदर्शित करते हैं। किन्तु यह तभी सच माना जाय जब कि अनागत भ्राता भी चक्षु से सन्निकृष्ट हो। वह तो सम्भव ही नहीं है, घटादिविशेषण चक्षुसन्निकृष्ट न होने पर भूतलादि विशेष्य में घटादिवत्ता की बुद्धि हो नहीं सकती। दूसरी बात यह है कि - प्रस्तुत प्रतिभा में सिर्फ अग्रिमदिनागमनदिविशिष्ट भ्राता ही भासित 20 होता है न कि कोई देश। अतः न तो यहाँ देशादि विशेष्य ज्ञान होता है। न तो उस के साथ चक्षुः इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध है! (अन्धे को भी प्रतिभा से "मेरा भाई कल आ रहा है" ऐसा ज्ञान होता है वहाँ न तो देश के साथ चक्षुःसन्निकर्ष है, न तो देशादि का चाक्षुष ज्ञान है।)

[प्रतिभा प्रत्यक्षेतर ज्ञानस्वरूप नहीं है]

प्रतिभा एक स्वतन्त्र प्रमाण है जिस को किसी भी आगमादि की अपेक्षा नहीं होती, इसीलिये 25 वाक्यपदीयग्रन्थ कर्त्ताने भी लिखा है कि - ऋषियों का जो 'आर्ष' ज्ञान है वह भी प्रतिभा नहीं है क्योंकि 'ऋषियों को होनेवाला ज्ञान भी आगमप्रयुक्त होता है।' तात्पर्य यह है- प्रशस्तपाद भाष्यकार आर्षज्ञान को प्रातिभ मानते हैं। किन्तु नैयायिक कहते हैं कि आर्ष ज्ञान भी प्रातिभ नहीं है किन्तु बाह्य उपाय से उत्पन्न होनेवाला होता है। वह उपाय या तो सन्निकर्ष हो, या लिङ्ग अथवा शब्दरूप हो सकता है। वाक्यपदीय में जो ऋषिज्ञान को आगमजन्य कहा है वहाँ आगमपद अन्य भी लिङ्ग 30 और सन्निकर्ष को प्रदर्शित करनेवाला (उपलक्षण से) समझ लेना, जिस से सन्निकर्षादि तीन उपाय के कथन के साथ विरोध नहीं होगा। विना सन्निकर्ष सिर्फ पुण्यप्रभारूप धर्मविशेष से ही प्रतिभा

स्तत्रिमित्तत्वेन तत्र तत्र प्रतिपादनात् । नाप्यस्याः लिङ्ग-शब्दप्रभवत्वम् तदभावेऽपि भावात् । उपमानजत्वाशङ्का
दूरोत्सारिता । अतः प्रत्यक्षं प्रतिभा ।

यद्येवम्, तदुत्पत्तावक्षं वक्तव्यम् । किमत्रोच्यते— मनसः सन्निहितत्वात् तस्य विशिष्टार्थग्रहणे विशेषण-
विशेष्यभावः सन्निकर्षः नियामकत्वेन पूर्वं प्रदर्शितः । यथा प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तौ स्मर्यमाणप्रतीयमानानुभवविशेषणं
5 वस्तु तस्या विषयः, न चैतावति बाह्येन्द्रियव्यापार इति मानसं प्रत्यभिज्ञानम्, तद्वत् प्रातिभमपि । अन्याद्यभावो
बाह्यार्थाभ्युपगमे मनसः स्वातन्त्र्येण पूर्वं निराकृतः ।

के उद्भव को हम मान्य नहीं करते हैं, क्योंकि पुण्य हो या पाप, वह सुख/दुःख के बाह्य साधन
शरीरादि की उत्पत्ति के द्वारा ही सुख-दुःख के कारण बनते हैं, न कि साक्षात् । यदि प्रतिभा की
पुण्यविशेष से उत्पत्ति मानेंगे तो पुण्य साक्षात् प्रतिभाजनक न होने से, स्वजन्य कुछ इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि
10 साधन के उत्पादन द्वारा ही प्रतिभाजनक बन सकेगा, तब तो प्रतिभा को इन्द्रियादिजन्य मानना पड़ेगा ।
इसी लिये तो नेत्रांजनादि से चक्षु द्वारा (दूसरे के लिये अदृश्य) किसी सिद्धपुरुष के दर्शन को भी
हम 'प्रतिभा' नहीं कहते, क्योंकि वह तो किसी गुरु के प्रसादादि द्वारा, रथ्यापुरुष = अति सामान्य
पुरुष को भी अपनी चक्षु के द्वारा हो सकता है ।

[प्रतिभा को अप्रमाण नहीं मान सकते]

15 ऐसा जो कुछ लोग कहते हैं कि — 'प्रतिभा प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उन के जनक निमित्त
(भ्रमजनक दोषों की तरह) अनियत होते हैं।' तो उस का प्रतिकार नैयायिकोंने किया ही है — स्थान
स्थान पर कहा हुआ है कि प्रतिभा का मुख्य एवं नियत निमित्त मन ही है । लिङ्ग या शब्द से
प्रतिभा का जन्म नहीं माना जा सकता क्योंकि लिङ्ग या शब्द उभय के विरह में भी प्रतिभा का
उद्गम देखा जाता है । प्रतिभा उपमानजन्य होने की शंका उठाना तो बहुत दूर की बात है, मतलब,
20 शक्य ही नहीं है ।

[प्रातिभ प्रत्यक्ष के लिये विशेषण विशेष्यभाव संनिकर्ष]

मीमांसक :- प्रतिभा को प्रत्यक्ष मानेंगे तो उस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कौन से अक्ष से (= इन्द्रिय
से) होती है यह बोलो ! (अक्ष को व्याप्त रहनेवाला ही प्रत्यक्ष कहा जाता है ।)
नैयायिक :- उस में क्या पूछने का है ? मन यानी अन्तःकरण ही यहाँ 'अक्ष' है । वह सदा
25 आत्मा से सन्निहित रहता है, आत्मा में किसी धर्मी की स्मृति होती है, उस के साथ दूरदेशस्थ दूरकालवर्ती
उस धर्मी के धर्म का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस प्रकार मनःसंयुक्तआत्मनिष्ठस्मृति के विशेष्यभूत
धर्मी के साथ उस के विशेषणभूत धर्म का प्रत्यक्ष होता है, यहाँ स्पष्टरूप से विशेष्य-विशेषणभावरूप
संनिकर्ष के द्वारा उपरोक्त क्रम से मन अतीन्द्रिय अर्थ का प्रत्यक्ष कर सकता है, इस में अदृष्टविशेष
भी सहकारी हो सकता है । उदाहरण के रूप में प्रत्यभिज्ञा को याद करो :- यहाँ मनः संयुक्तआत्मनिष्ठस्मृति
30 के विषय का (यानी तत्ता का) विशेषणरूप में एवं पुरोवर्ती अर्थ का विशेष्य के रूप में जब भान
होता है तब मुख्यरूप से वह विशेषण रूप वस्तु तत्ता ही वहाँ प्रत्यभिज्ञा का विषय बन जाता
है । यहाँ तत्ता अतीत होने से विद्यमान नहीं है फिर भी यहाँ विशेषण-विशेष्यभावरूप संनिकर्ष के

एवं मानसस्याप्रत्यक्षस्याऽविद्यमानोपलम्भकस्य सद्भावाद् न प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धिः। तथा सर्वस्यैव स्थपत्यादेः क्रियमाणवस्तुग्रहणं प्रत्यक्षं सिद्धमेव। किञ्च, कथं जैमिनीयाः स्थिरग्रहणवादिनो वर्तमानविषयमेव प्रत्यक्षं संवक्षते ? स्थिरग्रहणं हि वस्तुनः एवं भवति यदि वर्तमानविशिष्टस्यैवातीतानगतकाल-विशिष्टग्रहणम् अन्यथा स्थिरग्रहणाभावः। तथा चोक्तम्— 'रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते' ()। ततः परस्परव्याहृतार्थाभिधानात् यत्किञ्चिदेतत्। तदेवं न प्रत्यक्षस्यातीन्द्रियार्थग्रहणनिषेधः पूर्वोक्तनीत्या, 5 सम्भाव्यते चातीन्द्रियार्थग्रहणमध्यक्षस्य। यथा तत् सम्भवति तथा सर्वज्ञसिद्धौ प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

किञ्च, सत्संयोगजत्वाद् यदि विद्यमानोपलम्भनत्यमुच्यते तत्र 'सता सीदता साधुना सद्भिर्वा'

द्वारा मन रूप अक्ष से मानस प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष ज्ञान, अतीत तत्ताविषयक होता है, बाह्यइन्द्रियव्यापार के विना भी होता है, ठीक इसी क्रम से प्रातिभ प्रत्यक्ष होने में भी कोई अडचण नहीं है।

यदि कहा जाय — 'मन अपने स्वातन्त्र्य से बाह्यार्थ का प्रातिभ प्रत्यक्ष यदि कर पायेगा तो 10 नेत्रविहीन व्यक्ति भी अन्ध नहीं रहेगी, विना नेत्र भी वह बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष कर लेगा, फिर विश्व में अन्धत्व का श्राप ही नहीं रहेगा।' — तो इस का निरसन तो मानस प्रत्यक्ष के प्रकरण में पहले ही किया जा चुका है।

उक्त प्रकार से यह फलित होता है कि प्रातिभ प्रत्यक्ष अविद्यमान वस्तु का भी उपलम्भक है, अत एव मीमांसकों ने विपर्यय सिद्ध करने के लिये जो प्रसङ्गसाधन कहा था - जो प्रत्यक्ष होता 15 है वह सत्सम्प्रयोगजन्य होता है — इस में सत्सम्प्रयोग के साथ प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति ही सिद्ध न होने से वह प्रसङ्गसाधन विपर्ययसिद्धि के लिये निरर्थक ठहरता है। यह तथ्य भी सुविदित है कि भवननिर्माता सूत्रधार आदि सभी को भवननिर्माण जब चालु होता है तब भवन वहाँ भावि है, विद्यमान नहीं, फिर भी उस के निर्माण के पहले ही स्थपति आदि को मन में तो वह प्रत्यक्ष ही रहता है, 20 अन्यथा वह भवन का निर्माण ही नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह है — मीमांसकपंथी तो स्थिर वस्तु का ग्रहण स्वीकारते हैं। स्थिर वस्तु में तो अतीत-वर्तमान-अनागत तीनों काल संकलित रहते हैं। यदि प्रत्यक्ष को सिर्फ वर्तमानग्राही ही मानेंगे तो तीन काल स्पर्शी स्थिर वस्तु का प्रत्यक्षग्रहण कैसे होगा ? स्थिर वस्तु का ग्रहण तब हो सकता है यदि वर्तमानकालीन अर्थ का ही अतीतानगतकालगर्भितरूप से ग्रहण किया जाय। ऐसा नहीं मानने पर स्थिर वस्तु का प्रत्यक्षग्रहण सम्भव ही नहीं। मीमांसकों ने ही अपने ग्रन्थों में क्षणिकवाद के परिहार 25 में कहा है — 'जब रजत का ग्रहण होता है तब चिरस्थायिरूप से ही वह गृहीत होता है।' एक ओर स्थिरवस्तु के प्रत्यक्ष ग्रहण का स्वीकार, दूसरी ओर प्रत्यक्ष को सिर्फ वर्तमानग्राही मानना — यह तो परस्पर विरोधग्रस्त है अत एव निरर्थक है। निष्कर्ष, मीमांसक के पूर्वोक्त कथनानुसार प्रत्यक्ष के द्वारा अतीन्द्रिय अर्थ के ग्रहण का जो निषेध किया गया है वह उक्त युक्तियों से गलत सिद्ध होता है। नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय अर्थ का ग्रहण सम्भवित है। किस तरह सम्भवित है उस की बात 30 प्रथम खंड में (पृ.५३-६९) सर्वज्ञसिद्धि प्रस्ताव में हो चुकी है, यहाँ उस की पुनरुक्ति नहीं करेंगे।

[सत्सम्प्रयोग. सूत्र का विद्यमानोपलम्भन अर्थ असंगत]

यह भी सोचिये :- जब मीमांसकों ने प्रत्यक्षलक्षण में सत्संयोगजन्यत्व को ही विद्यमानोपलब्धि

- इत्येतान् पक्षान् व्युदस्याऽभिमत्पक्षस्थापनं कृतम्— 'सति' सम्प्रयोगे। प्रयोगश्च द्विधा प्रदर्शितः- अर्थोच्चिन्द्रियाणां व्यापारः योग्यता वा, न तु नैयायिकाभ्युपगत एव संयोगादिः। स द्विविधोऽप्यनीतानागतादिलक्षणेऽर्थे अन्तःकरणस्य चोदनाया इव कार्येऽर्थे न वार्यते। अथाऽविद्यमाने कथं करणव्यापारः ? करणत्वे-नाभ्युपगतायाश्चोदनाया अपि कथं कार्येऽर्थे ? ततो नान्तःकरणस्य विशेषः तत्प्रमेयस्य त्रिकालावच्छिन्नत्वात्
- 5 भाविरूपस्यापि तद्रूपत्वेन वा सतो वर्तमानत्वापत्तिः। तथा चोक्तं व्यासेन () —
 अवश्यं भाविनं नाशं विद्धि सम्प्रत्युपस्थितम्। अयमेव हि ते कालः पूर्वमासीदनागतः॥
 यत् पुनः कार्यं कालत्रयपरामृष्टं शशशृंगप्रख्यं तत्र कथं प्रेरणाख्यकरणव्यापारः ? अथाऽबाधितप्रतीति-

- का प्रयोजक माना है, तो इस से भी मनोजन्य प्रातिभ ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का समर्थन होता है। कैसे यह देखिये — प्रत्यक्षसूत्र के व्याख्याकार ने 'सम्प्रयोगे' इस पद के समास का विग्रह पहले चार
- 10 विकल्प से दिखा कर उन का (यानी विद्यमानोपलम्भ का भी) निषेध किया है। (१) सता सम्प्रयोगः (= सत् यानी विद्यमान के साथ संयोग) । (२) सीदता संप्रयोगः (= सीदाते हुए अर्थ के साथ संयोग)। (३) साधुना सम्प्रयोगः (= साधु के साथ संयोग) (४) 'सद्भिः सम्प्रयोगः (= सज्जनों के साथ संयोग)। प्रस्तुत में इस में से एक भी विग्रह सार्थक न होने से व्याख्याकार ने उस का निषेध किया है। फिर वहाँ (५) 'सति सम्प्रयोगे (= संप्रयोग के रहते) ऐसा विग्रह कर के अर्थ विवेचन किया है।
- 15 सम्प्रयोग की व्याख्या दो प्रकार से वहाँ की गयी है। ^१अर्थों के प्रति इन्द्रियों का व्यापार, और ^२अर्थों के प्रति इन्द्रियों की योग्यता। नैयायिकोंने जो इन्द्रियों के संयोग-समवाय को दर्शाया है, वह मीमांसकने नहीं दर्शाया।

[अनागत अर्थ भी प्रेरणा का विषय होता है]

- मीमांसक को समझना चाहिये कि जैसे विधिवाक्यकृत प्रेरणा के काल में कार्य (यज्ञादि या स्वर्गादि)
- 20 विद्यमान न होने पर भी विधिवाक्य सूचित प्रेरणा का वह विषय बनता है, तो ऐसे ही यहाँ अन्तःकरण रूप इन्द्रिय का व्यापार अथवा योग्यता भी अतीत-अनागत स्वरूप अर्थ के ग्रहण में सक्रिय हो सकते हैं। यदि पूछा जाय — अविद्यमान अतीतादि अर्थ के प्रति करण का व्यापार कैसे सम्भव होगा ? तो हम भी मीमांसक को पूछ सकते हैं — करणभूत प्रेरणा का भी भावि कार्यार्थ के प्रति व्यापार कैसे होगा ? प्रेरणारूप करण का अन्तःकरण में, करणत्वरूप से कोई भेद नहीं है। प्रेरणा की तरह
- 25 अन्तःकरण ग्राह्य प्रमेयरूप विषय भी त्रैकालिक होने में कोई बाध नहीं है। ग्राह्य प्रमेय के त्रैकालिकरूप होने के प्रभाव से ही जो कभी भाविरूप होता है वही कुछ काल के बाद वर्तमानरूपता को भी प्राप्त करता है। (अत एव) अन्तःकरण से गृहीत होनेवाला भावि अर्थ भी कथंचित् वर्तमानरूप से वर्तमान में गृहीत होने में बाध नहीं है। व्यास ऋषि ने भी ऐसा कहा है — "(भूतकाल में) जो निश्चितरूप से भावि नाश था वही अब वर्तमान में उपस्थित हो गया है। पहले जो तेरे लिये अनागतस्वरूप
- 30 काल था वही अब यह (वर्तमानरूप में उपस्थित) काल है।"

मीमांसक जिस भावि कार्य को त्रैकालिकस्वरूप नहीं मानता, उस को कहना पड़ेगा कि जो त्रैकालिक नहीं है वह खरगोशसींग की तरह असत् होता है — उस के प्रति प्रेरणारूप करण का व्यापार कैसे

जनकत्वेन प्रेरणायास्तत्र व्यापारः — तर्हान्तःकरणेऽप्येतत्तुल्यम् । ततोऽविद्यमानोपलम्बनस्य मानसाध्यक्षस्य सद्भावाद् न प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धिरिति न प्रथमा व्याख्या ।

द्वितीयव्याख्याने तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि च न संशयज्ञानव्युदासः । तत्र ह्ययमर्थो व्यवतिष्ठते— यद्विषयं विज्ञानं तेनैव सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्षम् प्रत्यक्षाभासं त्वन्यसम्प्रयोगजमिति । तत्र संशयज्ञानं सम्यग्ज्ञानवत् यत्र प्रतिभासि तेनैव संयोगे भवति । ननु उभयालम्बनत्यादुभयप्रतिभासि संशयज्ञानम् नचोभयात्मकेन्द्रिय- 5 सम्बन्धः तथापि तत्त्वतः सामान्यवान् पुरोऽवस्थितो धर्मी प्रतिभासमानान्यतरविशेषाश्रयः, अतो यत् प्रतिभाति तेन सहेन्द्रियस्य संयोगे संशयज्ञानमुदेति न चैतद्व्यवच्छेदाय किञ्चित् पदमुपात्तमिति नैतल्लक्षणात्

संगत होगा ? यदि कहा जाय — 'प्रेरणा के द्वारा भावि कार्य की निर्बाध प्रतीति होती है, विना व्यापार वह नहीं हो सकती, इसलिये भावि कार्य के प्रति प्रेरणाकरण का व्यापार मानना पड़ेगा।' — तो हम भी कह सकते हैं, अन्तःकरण से त्रैकालिक अर्थ की निर्बाध प्रतीति होती है अतः अतीत- 10 अनागत अर्थ प्रति अन्तःकरण का व्यापार मानना ही पड़ेगा ।

निष्कर्ष, अविद्यमान अर्थ का भी उपलम्भक मानस प्रत्यक्ष निर्बाध सिद्ध होता है । अतः प्रसङ्गसाधन में उपयुक्त ऐसी विद्यमानउपलम्बन के साथ प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति की सिद्धि रुक जाती है । 'सारांश प्रथम व्याख्या अयुक्त है ।

[सूत्रोक्तलक्षण की संशयादि में अतिव्याप्ति तदवस्थ]

व्याख्याकार ने यैरपि.. (२६३-३) तथा यैस्तु... कर के पूर्व में (पृ०२६४-पं०१) दो व्याख्या का निरूपण किया है, उन में प्रथम (? द्वितीय) व्याख्या की समालोचना कर के अब द्वितीय (?प्रथम) व्याख्या के निरसन में कहा है — सत् और तत् का व्यत्यय (?) कर के सूत्र की व्याख्या करने पर भी संशयज्ञान में अतिव्याप्ति का निवारण नहीं होता । द्वितीय व्याख्या में अर्थ का व्यवस्थापन ऐसा है कि — जो विज्ञान का विषय है उसी के साथ ही इन्द्रियों का सम्प्रयोग होने पर प्रत्यक्ष 20 का उदय होगा, उसी के साथ नहीं किन्तु दूसरे किसी के साथ सम्प्रयोग होने पर प्रत्यक्षाभास उदित होगा । यहाँ त्रुटि स्पष्ट है, सम्यक् ज्ञान की तरह संशय में जो भासित होता है उस में से किसी एक के साथ संप्रयोग मौजूद होता है, फिर संशयज्ञान में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति क्यों नहीं होगी ?

यदि कहा जाय कि — 'संशयज्ञान तो कोटिद्वयालम्बन होने से उभय कोटि का भासक होता है किन्तु वहाँ उभय कोटि के साथ इन्द्रियसम्बन्ध कहाँ रहता है ? (सिर्फ किसी एक कोटि के साथ 25 ही इन्द्रियसम्बन्ध वहाँ रहता है।)' तो सोचना होगा कि भले उभयकोटि के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध न हो, फिर भी वास्तव में तो सन्मुख दिखनेवाला जो उच्चैस्तरत्वादि सामान्य धर्म का आश्रयभूत धर्मी है उस के साथ तो इन्द्रियसम्बन्ध है ही, और वही धर्मी आखिर भासमान अन्यतर कोटि का आश्रय है जिस के साथ इन्द्रियसम्बन्ध भी है, इस प्रकार प्रत्यक्ष की तरह ही यहाँ भी जो धर्मी एवं अन्यतर धर्म भासित होता है उसी के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर संशय ज्ञान का जन्म 30 होता है । इस तरह अतिव्याप्ति लगने पर भी सूत्रकारने यहाँ उस के वारण के लिये 'संशयभिन्न' ऐसे किसी भी पद का उपादान नहीं किया । फलतः यहाँ प्रत्यक्ष के लक्षण की संशय में अतिव्याप्ति

तद्व्युदासः इति न जैमिनीयमपि प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम्।

चावार्कैस्तु प्रत्यक्षमपि न तत्त्वतः प्रमाणमभ्युपगम्यते इति न तद्विचारणप्रयासः सफल इत्यक्षपादविरचितमेव प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यमिति नैयायिकाः।

[अक्षपादरचितप्रत्यक्षलक्षणमपि मिथ्या- जैनमतम्]

5 असदेतत् - तदभ्युपगमेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादेरघटमानत्वात्।

(चक्षुरिन्द्रियप्राप्यकारित्वमतनिरसनम्)

तथाहि- इन्द्रियं यदि चक्षुर्गोलकादिकमवयविरूपमभ्युपगम्यते तदा तस्य स्वविषयेण व्यवहितदेशेण पर्वतादिना सन्निकर्षोऽसिद्धः। न ह्यत्यन्तव्यवहितयोर्हिमवद्-विन्ध्ययोरिव चक्षुर्गोलक-तदर्थयोः सन्निकर्षः संयोगादिलक्षणः सिद्धः। न चावयविलक्षणं गोलकादि वस्तु सिद्धम् तद्ग्राहकाभिमतप्रमाणस्य निषिद्धत्वात्।

10 न च तदाधारः संयोगादिकः सम्बन्धः समस्ति पराभ्युपगतस्य तस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च। योऽपि कथंचित् पदार्थव्यतिरिक्तः संश्लेषणलक्षणः काष्ठ-जतुनोरिव सम्बन्धः प्रसिद्धः सोऽपि व्यवहितेन

के दोष का निरसन न हो पाने से जैमिनी सूत्रकार (मीमांसक) का रचा हुआ प्रत्यक्ष का लक्षण निष्कलंक नहीं है।

[नास्तिक चार्वाक कथित प्रत्यक्ष की व्याख्या तथ्यहीन]

15 नास्तिक चार्वाकपंथीयों ने प्रत्यक्ष का स्वीकार करते हुए भी 'वास्तव में वे प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हो' इस में कुछ तथ्य नहीं है सिर्फ नाममात्र से मानते होंगे। कारण, प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि करने के लिये उन्हें अनुमानादि के प्रामाण्य का अंगीकार बरबस करना ही पड़ेगा। अनुमानप्रमाण के बिना प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि कैसे होगी ? प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का प्रत्यक्ष तो नहीं होता। अतः चार्वाकरचित प्रत्यक्षलक्षण की चर्चा का प्रयत्न निरर्थक ही है। निष्कर्ष यह हुआ कि अक्षपादविरचित

20 प्रत्यक्षलक्षण ही निर्दोष है। ऐसा नैयायिक कहते हैं।

[नैयायिक अभिमत प्रत्यक्षलक्षण का प्रतिकार - जैन]

नैयायिकों का अंतिम कथन अनुचित है। कारण, यदि उस के कथनानुसार अक्षपादरचित प्रत्यक्ष लक्षण को निर्दोष कहा जाय तो इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व भी मानना पड़ेगा किन्तु उसका मेल नहीं खाता।

(चक्षुरिन्द्रियतथ्यता की परीक्षा)

25 देखिये :- (चक्षु इन्द्रिय गोलकरूप हो या रश्मिरूप, दोनों पक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मेल नहीं खाता। प्रथम पक्ष में) यदि चक्षुरिन्द्रिय को आप (नैयायिक) गोलकस्वरूप अवयवीरूप मानते हैं तो स्पष्ट ही है कि दूरदेश में रहे हुए अपने विषयभूत पर्वतादि के साथ उस का सन्निकर्ष शक्य नहीं है। अत्यन्त दूर रहे हुए हिमाचल एवं विन्ध्याचल का जैसे संयोगादिरूप सम्बन्ध शक्य नहीं, वैसे ही चक्षुर्गोलक तथा उस के विषयभूत अर्थ के साथ संयोगादि सम्बन्ध प्रमाणासिद्ध ही नहीं है। दूसरी

30 बात यह है अवयवित्स्वरूप कोई भी गोलकादि पदार्थ भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि उस (अवयवी) के साधकरूप से प्रदर्शित प्रमाण का पूर्व ग्रन्थ में () निषेध किया जा चुका है। उपरांत, अवयवी का आधारभूत अथवा अवयवित्मूलक कोई (नैयायिक प्रदर्शित तरीके के अनुरूप द्रव्य से सर्वथा भिन्न) न्यायदर्शन

पर्वतादिना स्वविषयेण सह चक्षुर्गोलकस्यानुपपन्नः, तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात्।

अथाऽस्ति तत्प्रसाधकं प्रमाणम्। ननु तत् किं प्रत्यक्षम् उतानुमानम् ? न तावत् प्रत्यक्षमत्र विषये प्रवर्तितुमुत्सहते। न हि 'देवदत्तचक्षुस्तद्विषयेण पर्वतादिना सम्बद्धम्' इत्यस्मदादेरक्षप्रभवा पतिपत्तिः।

अथानुमानं तत्संनिकर्षप्रसाधनाय प्रवर्तते। ननु किं तदनुमानमिति वक्तव्यम्। अथ[▲]— 'चक्षुः प्राप्ता-
र्धप्रकाशकम् बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्' इत्येतदनुमानं तत्संनिकर्षप्रसाधनम्। न, चक्षुर्गोलक-तदर्थयोरध्य- 5
क्षणेवासंनिकृष्टयोः प्रतिपत्तेरध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनास्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्, अवयविलक्षणस्य च चक्षुषोऽसिद्धेराश्रयासिद्धश्च हेतुः। अत एव स्वरूपासिद्धश्च। न हि अविद्यमानस्यावयविनो बाह्येन्द्रियत्वमुपपन्नम्। 'त्वगादिवत्' इति निदर्शनमपि साध्य-साधनविकलम्।

में माना गया संयोगादि सम्बन्ध भी अस्तित्व में नहीं है, क्योंकि पूर्व ग्रन्थ में उस का निषेध किया जा चुका है एवं अग्रिम ग्रन्थ (खंड-५) में भी किया जायेगा। काष्ठ और लाक्षा का जैसे परस्पर 10 संश्लेषरूप एवं परस्पर से कथंचित् अपृथक् सम्बन्ध सुविदित है वैसा भी कोई चक्षु आदि का सम्बन्ध दूरवर्ती अपने विषयभूत पर्वतादि के साथ युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उस की सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण मौजूद नहीं है।

[प्रत्यक्ष या अनुमान से चक्षुसंनिकर्ष की अप्रसिद्धि]

नैयायिक :- चक्षुसंनिकर्ष का साधक प्रमाण अस्तित्व में है। 15

सिद्धान्ती :- वह कौन सा प्रमाण है प्रत्यक्ष या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो बेचारा यहाँ गति कर सके इतना उत्साहित ही नहीं है। ऐसी कोई भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष बुद्धि अस्तित्व में नहीं है जो सिद्ध कर सके कि देवदत्त का नेत्र अपने विषयभूत पर्वतादि के साथ सम्बद्ध है।

यदि चक्षुसंनिकर्ष की सिद्धि के लिये अनुमान को मैदान में उतारेंगे तो बोलिये— वह कौन सा अनुमान है ? 20

नैयायिक :- 'चक्षु अपने से सम्बद्ध विषय को प्रकाशित करता है, क्योंकि वह 'बहिरिन्द्रिय' है जैसे स्पर्शनेन्द्रिय।' इस अनुमानबल से हम चक्षुसंनिकर्ष की सिद्धि करेंगे।

सिद्धान्ती :- नहीं रे ! ऐसे कैसे सिद्धि होगी ? 'चक्षुर्गोलक एवं उस का विषय (पर्वतादि) असम्बद्ध है' ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति सार्वजनिक है। इस प्रत्यक्ष से हि आप के अनुमान का साध्य (सम्बद्धविषयप्रकाशकत्व) बाधग्रस्त है। प्रत्यक्ष बाधित साध्यनिर्देश के बाद जिस हेतु का प्रयोग किया 25 जाय वह तो कालात्ययापदिष्ट (बाधित) दोष से कलंकित होता है। दूसरा दोष है — हेतु में आश्रयासिद्धि, क्योंकि अवयवी स्वरूप चक्षुरूप पक्ष ही असिद्ध है। तीसरा दोष है — जब अवयवी चक्षु ही असिद्ध है तब उस का बहिरिन्द्रियत्व भी कैसे सिद्ध होगा ? फलतः स्वरूप असिद्धि दोष भी रह गया। चौथा दोष — स्पर्शनेन्द्रियादि का दृष्टान्त भी साध्य-साधनशून्य है क्योंकि अवयवीरूप स्पर्शनेन्द्रियादि असिद्ध होने से न तो उस में बहिरिन्द्रियत्व हेतु रहेगा, न प्राप्तार्थप्रकाशकत्व रह पायेगा। 30

▲. जैनानां मते चक्षुषः, बौद्धानां मते चक्षुःश्रोत्रयोरप्राप्यकारित्वम् शेषाणां मते सर्वबाह्येन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वम्। सांख्य-वेदान्तयोर्मते मनसोऽपि प्राप्यकारित्वम् इति ध्येयम्।

- अथ चक्षुःशब्देनात्र तद्रश्मयोऽभिधीयन्ते इति न प्रागुक्तदोषावकाशः। न, तेषामसिद्धेः, इतरथाऽस्यानुमानस्य वैफल्यापत्तेः, आश्रयासिद्धो हेतुः। अथात एवानुमानात् तत्सिद्धेर्नायं दोषः। न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि— तद्रश्मिसिद्धावाश्रयासिद्धत्वदोषपरिहारः तस्मिंश्च सत्यतो हेतोस्तत्सिद्धिः, इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अत एव स्वरूपाऽसिद्धिरपि हेतोः, तेषामसिद्धौ तदाश्रयबाह्येन्द्रियत्वाऽसिद्धेः।
- 5 यदि पुनर्गोलकाद् बहिर्भूता रश्मयश्चक्षुःशब्दवाच्या अर्थप्रकाशकाः तर्हि गोलकस्याऽञ्जनादिना संस्कार उन्मीलनादिकश्च व्यापारो वैयर्थ्यमनुभवेत्। अथ गोलकाश्रयास्ते इति तन्निमीलने असंस्कारे वा तेषामपि स्थगनमसंस्कृतिश्चेति विषयं प्रति गमनं तत्प्रकाशनं च न स्यात् अतस्तदर्थं तदुन्मीलनं तत्संस्कारश्च न वैयर्थ्यमनुभवेत्— तर्हि गोलकानुषक्तकामलादेः प्रकाशकत्वं तेषां स्यात्, न हि प्रदीपः स्वलग्नं

[चक्षुरश्मि का समाधान निरर्थक]

- 10 नैयायिक :- 'चक्षुः' शब्द से हमें यहाँ के किरण अभिप्रेत हैं, उन का विषय के साथ संनिकर्ष सिद्ध होने से आश्रयासिद्धि आदि दोष निरवकाश हैं।
- सिद्धान्ती :- चक्षु के किरण प्रमाणसिद्ध न होने से आप का बचाव निष्फल है। यदि किरण सिद्ध होते और उन का संनिकर्ष सिद्ध होता तो उक्त अनुमान (चक्षु में प्राप्तार्थप्रकाशकत्वसाधक प्रयोग) निष्फल बन जायेगा, सिद्धसाधन दोष होने से। किरणस्वरूप चक्षु सिद्ध न होने पर हेतु (बहिरिन्द्रियत्व)
- 15 में आश्रयासिद्धि दोष तदवस्थ रहेगा। यदि इसी अनुमान से किरणों की सिद्धि करेंगे — प्राप्तार्थप्रकाशकत्व की इस अनुमान से सिद्धि होने पर उस की अन्यथानुपपत्ति से किरणों की सिद्धि होगी — तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा — किरणों की सिद्धि (याने पक्ष की सिद्धि) होने पर आश्रयासिद्धिदोष के परिहार के द्वारा प्राप्तार्थप्रकाशकत्व सिद्ध होगा और प्राप्तार्थप्रकाशकत्व की सिद्धि होने पर नेत्र के किरणों की सिद्धि होगी। चक्षु की सिद्धि किरणरूप में न होने पर उस में बाह्येन्द्रियत्व की भी
- 20 सिद्धि न होने से हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष भी लगेगा। यदि कहा जाय :- गोलक चक्षु नहीं है किन्तु गोलक के बाह्य देश में अर्थ से गोलकपर्यन्त जो (सौर या चान्द्र) किरणसमुदाय है वही चक्षु शब्द का वाच्यार्थ है जिस के संनिकर्ष से अर्थप्रत्यक्ष होता है। तो यह भी गलत है, क्योंकि तब तो गोलक और किरणसमुदाय दोनों ही भिन्न ईकाइ हैं, तो लोग इन्द्रिय को सतेज बनाने के लिये जो अञ्जनप्रयोग करते हैं वह तो गोलक के ऊपर करते हैं किन्तु वह तो इन्द्रियरूप है नहीं,
- 25 फिर वह अञ्जनप्रयोग निरर्थक ठहरेगा। दूसरी बात, जब गोलक तो इन्द्रिय ही नहीं तब वह खुले या बंद रहे क्या फरक पड़ेगा ? इन्द्रिय तो बहिर्भूत किरणसमुदायरूप है। फलतः गोलक बंद रहने पर भी प्रत्यक्ष हो जाने से, गोलक का उन्मीलन भी व्यर्थ ठहरेगा।

- नैयायिक :- बाह्य किरणसमुदाय गोलकाश्रित ही रहता है, अतः गोलक निमीलित रहने पर किरणसमुदाय भी अवरुद्ध हो जाने से उस की विषय प्रति गति न होने से अर्थप्रकाशन रूप कार्य नहीं होगा, वह
- 30 तभी होगा जब गोलक खुला रहेगा, इस तरह गोलक का खुलापन व्यर्थ नहीं होगा। दूसरी बात, गोलक के संस्कार से ही गोलकाश्रित किरणों की सतेजता शक्य है, गोलक के संस्कार के विना किरणों की सतेजता शक्य नहीं है, इस तरह गोलक का अञ्जनादि से संस्कार भी व्यर्थ नहीं होगा।

शलाकादिकं न प्रकाशयतीति दृष्टम्। यैरपि 'गोलकान्तर्गतं तेजोद्रव्यमस्ति तदाश्रितास्ते' इत्यभ्युपगमं तेषामपीदं दूषणं समानम्। न हि काचकूपिकान्तर्गताः प्रदीपादिरश्मयस्ततो निर्गच्छन्तस्तद्योगिनमर्थं न प्रकाशयन्ति। तदेवं रश्मीनामसिद्धेर्न ते चक्षुःशब्दाभिधेयाः।

अथ रसनादयो बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्तार्थप्रकाशका उपलब्धाः। बाह्येन्द्रियं च चक्षुः, ततः तदपि प्राप्तार्थ-प्रकाशकम्। न च गोलकस्य बाह्यार्थप्राप्तिः सम्भवितीति पारिशेष्यात् तद्रश्मीनां तत्प्राप्तिरिति 5 रश्मिसिद्धिः। न, अत्यासन्नमलाञ्जनशलाकादेः प्रकाशप्रसक्तेः। किञ्च, यदि गोलकात्रिगत्य बाह्यार्थनाभिसम्बध्य तद्रश्मयोऽर्थं प्रकाशयन्ति तर्ह्यर्थं प्रत्युपसर्पन्तः उपलभ्येरन्, रूप-स्पर्शविशेषवतां तैजसानां वह्न्यादिवत् सतामनुपलम्भे निमित्ताभावात्, न चोपलभ्यन्ते इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलम्भादसत्त्वम्। 'अनुद्भूतरूप-स्पर्शत्वादनुपलभ्यास्ते' इति चेत् ? किं पुनरनुद्भूतरूप-स्पर्शं तेजोद्रव्यमुपलब्धं येनैवं कल्पना भवेत् ?

सिद्धान्ती :- ऐसा मानेंगे तो किरणसमुदायरूप चक्षु का गोलक के साथ संनिकर्ष बन जाने से 10 गोलक की ऊपरी सतह पर जो कामलादि (पित्त का आवरण आदि) होगा उस का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा, जैसे प्रदीप के किरण प्रदीपाश्रित होते हैं तो प्रदीप से संलग्न बर्ती-शलाका आदि का भी प्रकाशन करते ही हैं। यही दूषण उन लोगों की मान्यता पर भी लगेगा जो मानते हैं कि गोलक के भीतर में जो तेजोद्रव्य रहता है तदाश्रित किरण ही इन्द्रिय है। यहाँ भी प्रसिद्ध है कि काच के फानस के अन्तर्गत जो प्रदीपादि के किरण होते हैं वे बाहर आते समय फानस के काच (या 15 उस के पर कोई दाग) आदि के साथ उन का संनिकर्ष होने पर काच आदि का प्रकाशन करते ही हैं — इसी तरह गोलक अन्तर्गत तेजोद्रव्य के किरण भी बाहर आते समय गोलक के साथ संनिकर्ष बन जाने से गोलक या उस के पर रहे हुए कामलादि का प्रकाशन कर देगा।

निष्कर्ष :- उक्त दोषों के कारण, चक्षु (अवयवी) की या चक्षुरूप किरणों की प्रमाण से सिद्धि न हो पाने से किरणों को चक्षुशब्द का वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता। 20

[संनिकृष्ट अर्थ द्योतक बहिरिन्द्रिय का विचार]

नैयायिक :- बाह्येन्द्रियात्मक होने से रसना-घ्राण आदि इन्द्रियाँ संनिकृष्ट अर्थ की प्रकाशक होती है यह सर्वविदित है, गोलक (नेत्र) भी बाह्येन्द्रिय है फिर भी साक्षात् गोलक की बाह्यार्थ के साथ प्राप्ति (संनिकर्ष) नहीं होती, न तो गोलक बाह्यार्थ के पास जाता है न तो बाह्यार्थ गोलक को मिलने आता है, तब परिशेषरूप में यही कल्पना मेल खाती है कि गोलक के किरण अर्थ को जा कर 25 मिलते हैं। अब तो किरणों की सिद्धि माननी पड़ेगी।

सिद्धान्ती :- नहीं। अगर गोलक रश्मि के माध्यम से प्राप्तार्थप्रदर्शन करेगा तो गोलक के अतिनिकटवर्ती मल या अञ्जन अथवा शलाका आदि का भी प्रदर्शन प्रसक्त होगा। दूसरी बात :- यदि गोलक से निकल कर बाह्यार्थ को मिल कर रश्मियाँ अर्थ का प्रदर्शन करती हैं — तो गोलक से निकलते हुए अर्थ के प्रति गति के कारक रश्मियों का दर्शन (प्रत्यक्ष) निकटवर्ती अन्य किसी 30 सज्जन को होना चाहिये। अग्नि आदि की तरह तेजोमय एवं रूप-स्पर्शविशेष गुणवाले रश्मियाँ सज्जनों को न दिखाई देने का कोई विशेष निमित्त (=प्रतिबन्धक) नहीं है। हकीकत है कि नहीं दिखते हैं।

अथ दृश्यते सतोरपि तैजसरूप-स्पर्शयोर्नीर-हेम्नोरनुद्भूतिः । न, स्वर्ण-तप्तोदकयोस्तेजस्त्वाऽसिद्धेः, दृष्टानुसारेण चानुपलभ्यमानभावप्रकल्पनाः प्रभवन्ति अन्यथा रात्रौ भास्करकराः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते अनुद्भूतरूप-स्पर्शत्वान्नायनरश्मिवदित्यपि कल्पनाप्रसक्तेः ।

अथ यद्यपि नायना रश्मयोऽध्यक्षतो न प्रतीयन्ते तथाप्यनुमानतः प्रतीयन्ते । अनुमानं च 'तेजो-
5 रश्मिवत् चक्षुः, रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपकलिकावद्' इति तद्रश्मिसत्त्वप्रतिपादकम् नैवं भास्करकरसत्त्वप्रतिपादकं क्षपायामनुमानमस्ति । न, निशायां बहुलान्धकारायां वृषदंशचक्षुर्बाह्यालोक-

अतः उपलब्धि की योग्यतावाले होने पर भी जब उपलब्धि नहीं होते तब मानना पडेगा कि रश्मियों का अस्तित्व नहीं है । यदि कहा जाय — रश्मियों का रूप और स्पर्श अनुद्भूत होने से नेत्र या स्पर्शनिन्द्रिय से उन का उपलम्भ नहीं होता — तो प्रश्न होगा कि ऐसा कौन सा अन्य तेजोद्रव्य
10 आपने ढूँढ लिया कि जिसमें रूप और स्पर्श होते हुए भी अनुद्भूत होने से वे द्रव्य उपलब्धि नहीं होते, जिस से कि यहाँ नयन रश्मियों में वैसी कल्पना की जा सके ?

[तेजोद्रव्य में अनुद्भूत रूप एवं स्पर्श की सिद्धि नहीं]

नैयायिक :- अरे भाई ! जलान्तर्गत तेजोद्रव्य का रूप एवं सुवर्ण (तैजसद्रव्य) का उष्णस्पर्श अनुद्भूत होता है तभी तो उन के भास्वरशुक्ल रूप एवं उष्ण स्पर्श प्रत्यक्ष नहीं होते ।
15 सिद्धान्ती :- नहीं । स्वर्ण का तैजस होना एवं तप्त उष्ण जलः में तेजोद्रव्य का होना प्रमाणसिद्ध नहीं है । जिन भावों की उपलब्धि नहीं होती उन के लिये किसी निमित्त की कल्पना लोकप्रतीति के अनुसार ही हो सकती है, यानी सुवर्ण कठोरतादि के कारण पार्थिवस्वरूप होने से ही उस में तेजस्त्व नहीं होने पर उष्णस्पर्श भी अनुद्भूत नहीं होता — यह कल्पना लोकप्रतीति अनुसार है, तैजसत्व मान कर उष्णस्पर्श अनुद्भूत होने की कल्पना लोकप्रतीति विरुद्ध है । कोई भी लौकिक व्यक्ति सुवर्ण को तेजोद्रव्यरूप
20 नहीं स्वीकारता, पार्थिवरूप ही स्वीकारता है । लोकप्रतीति के अनुसार नीर में भी नीर के ही उष्णस्पर्श की अनुभूति होती है, न कि नीर अन्तर्गत अग्नि के उष्णस्पर्श की । अतः लोकप्रतीति अनुसार तप्त जल का ही उष्णस्पर्श गुण माना जा सकता है । तप्तजल में अग्निद्रव्य का प्रवेश और उसके भास्वरशुक्लरूप की अनुभूति नहीं होती इस के विरुद्ध आम आदमी तो यही कहता है कि जल उष्ण है, कोई यह नहीं कहता कि जल अन्तर्गत अग्नि उष्ण है जल के रूप की उपलब्धि तो होती ही है । इस तथ्य
25 की उपेक्षा कर के यदि आप लोकप्रतीतिविरुद्ध कल्पना करने पर तुले रहेंगे — तो कोई ऐसी भी कल्पना कर सकेगा कि जैसे नेत्र के किरणों का अस्तित्व होने पर भी उन का रूप अनुद्भूत होने से दिन में दिखते नहीं वैसे ही सूर्य के किरणों का रात्रि में अस्तित्व होने पर भी उन का स्पर्शगुण एवं रूप अनुद्भूत होने के कारण रात को चाक्षुष या स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता ।

[चक्षुरश्मिसाधक अनुमान का प्रतिबन्ध]

30 नैयायिक :- हालाँकि प्रत्यक्ष से नयनरश्मियाँ दिखती नहीं है, फिर भी उन का अनुमान लगाया जा सकता है । अनुमानप्रयोग :- नेत्र तैजसकिरणालंकृत होते हैं, क्योंकि रूप-रसादि वर्ग में से सिर्फ रूप का ही प्रदर्शन करते हैं, जैसे — दीपकलिका । यह अनुमान नेत्र किरणों का अस्तित्व द्योतित करता है । आपने जो रात्रि में भी सूर्यकिरणों के अस्तित्व की कल्पना व्यक्त की है वह गलत है

सव्यपेक्षमर्थप्रकाशकं चक्षुष्टत्वात्, दिवा पुरुषचक्षुर्वद् इत्यस्यानुमानस्य रात्रौ तत्सत्त्वप्रतिपादकस्य भावात्। अथ वृषदंशादेश्चाक्षुषं तेजोऽस्तीत्यर्थसिद्धेर्न किञ्चिद् भास्करज्योतिषाऽनुद्भूतरूपेण प्रकल्पितेन— तर्हि मनुष्यादीनामपि तदस्ति इति किमनुद्भूतरूपेण बाह्यतेजसां कृत्यम् ? अथ यद् यथा दृश्यते तत् तथाऽभ्युपगम्यते इति मनुष्यादीनां नायनं सौर्यं च तेजो विज्ञानकारणं दृश्यते ततस्तथैव तत् कल्प्यते, क्षपायां मार्जारदेर्नायनमेव दृश्यते अतस्तदेव तत्कारणं प्रकल्प्यते न सौर्यम्। भवेदेवं यदि तथादर्शनं 5 स्यात्, यावता यथा रात्रौ भास्करकराऽदर्शनं तथा दिवा चाक्षुषरश्म्यदर्शनम् यथा वा दिवा भास्करकरावभासनं तथा क्षपायां वृषदंशनेत्रालोकावलोकनम्। विशेषस्त्वयम् — एकदा भास्कररश्मयोऽन्यदा नायनास्तेऽनुमेया

क्योंकि रात्रि में सूर्यकिरण की सत्ता का साधक कोई अनुमान नहीं है।

जैन :- अनुमान नहीं है यह कथन असत्य है। देखिये — घोर अन्धकार में मार्जार के नेत्र बाह्य प्रकाश से सहकृत हो कर अर्थप्रदर्शन करते हैं, क्योंकि नेत्रत्ववाले हैं, उदा० — दिन में जैसे 10 मनुष्यनेत्र। ऐसा अनुमान रात्रि में भी बाह्यप्रकाशात्मक गुप्त सूर्यकिरणों की सत्ता का प्रदर्शक है।

नैयायिक :- उक्त अनुमान के द्वारा मार्जार के नेत्र भी किरणोत्सर्गी ही हैं यह अर्थतः सिद्ध होता है। जब मार्जार के नेत्रकिरणों के द्वारा ही रात्रि में अर्थग्रहण शक्य बन जाता है तब रात्रि में गुप्तरूपवाले सूर्यकिरणों की कष्टप्रद कल्पना क्यों की जाय ?

जैन :- अच्छा, तो फिर दिन में भी मनुष्य के नेत्रकिरण आप के मत से सिद्ध है तो उस 15 वक्त प्रगटरूपवाले बाह्यसूर्यकिरणों की आवश्यकता क्यों मानी जाय ?

नैयायिक :- नियम है कि जो जैसा दिखता है वैसा उसे मान लिया जाता है। मनुष्य आदि के नेत्रकिरण और सूर्यकिरण मिल कर प्रत्यक्ष विज्ञान निपजाते हैं ऐसा दीखता है, अत एव दिन में सूर्यकिरण की भी आवश्यकता मानी जा सकती है। किन्तु रात्रि में तो सिर्फ मार्जार नेत्र के किरण का ही फल (प्रत्यक्ष) उपलब्ध होता है न कि सूर्यकिरणों का; अत एव रात्रि में मार्जारनेत्र-किरणों 20 को 'कारण' माना जाता है न कि सूर्यकिरणों को।

[मार्जारनेत्रकिरणवत् दिन में सूर्यकिरण मानने की विपदा]

जैन :- ऐसा तभी उचित होता यदि मार्जारनेत्रकिरण और सूर्यकिरण के बारे में आपने जैसा भेद दिखाया वैसा वास्तव में होता। हकिकत तो यह है कि रात्रि में जैसे सूर्यकिरणों का दर्शन नहीं होता तथैव दिन में चक्षुकिरणों का भी दर्शन कहाँ होता है ? (नैयायिक ने जो कहा था कि 25 जो जैसा दिखाई दे वैसा ही वह माना जाय — तो दिन में चक्षु के किरण न दिखने पर भी मानते हैं और रात को सूर्यकिरण न दिखने पर उन का इनकार कैसे करते हैं ?) दूसरी बात :- मार्जारनेत्र के किरण सिर्फ रात को ही दीखते हैं, और सूर्यकिरण सिर्फ दिन में ही दीखते हैं, तो फर्क इतना ही हुआ — दिन में जैसे आप नेत्र के किरणों का अनुमान करते हैं तो वैसे ही रात को सूर्यकिरणों का अनुमान क्यों नहीं हो सकता ? 30

नैयायिक :- तिमिरव्याप्त रजनीकाल में यदि सूर्यकिरण की सत्ता होगी तो रात्री को घूमनेवाले मार्जार आदि की तरह मनुष्यों को भी रूपप्रत्यक्ष होता रहेगा — इस अनिष्टप्रसंग से सिद्ध होता

इति । अथान्धकारावष्टब्धनिशीथिनीसमयेऽपि भास्करकरसम्भवे नक्तंचराणाभिव नराणामपि दूरदर्शनं स्यात् । न, सन्तोऽपि तदा तत्करा न नराणां रूपदर्शनजननप्रत्यलाः यथा ते एव वासरे उलूकादीनाम्, भावशक्तीनां विचित्रत्वात् । तस्मादनुपलम्भात् क्षपायां यथा न भास्करकरास्तथा नायना रश्मयोऽन्यदेति स्थितम् ।

- यदपि परेणाऽत्रोक्तम्— दूरस्थितकुड्यादिप्रतिफलितानामन्तराले गच्छतां प्रदीपरश्मीनां सतामप्यनुपलम्भ-
 5 दर्शनाद् नानुपलम्भात् तदभावसिद्धिः' इति; तदप्यनेनैव निरस्तम्; रविरश्मीनामपि क्षपायामभावाऽसिद्धिप्रसक्तेः । किञ्च, योगिनः आत्ममनःसंयोगो यदा सदसद्वर्गालम्बनमेकं ज्ञानं जनयति तदा सकलसदसद्वर्गस्तस्य भेदसहकारी तर्हि 'अर्थवत् प्रमाणम्' (वात्स्या. भा.पृ.१) इत्यत्र "अर्थः सहकारी यस्य विशिष्टप्रमितौ प्रमातृ-
 प्रमेयाभ्यामर्थान्तरं तदर्थवत् प्रमाणम्" () इति विरुध्यते । सहकारी चेदसौ देशाद्यन्तरीतोऽपि, तर्हि तत्कुड्यादेः प्रभासुरतयोत्पत्तौ प्रदीपो देशव्यवहितोऽपि सहकारीति नान्तराले तद्रश्मिसिद्धिः । ततो न
 10 तैरनुपलम्भव्यभिचारः । अत एव नाप्यनुमानम् ।

है कि रात्री को सूर्यकिरण नहीं होते ।

- जैन :- नहीं रे ! पदार्थों की शक्तियाँ तरह तरह की भिन्न होती हैं, जैसे ही दिन में सूर्यकिरण के होने पर भी उल्लू को दिन में कुछ भी नहीं दिखता, मनुष्य आदि को दिखता है, वैसे यह भी सम्भव हो सकता है कि अनुमित सूर्यकिरण रात्री में होते हुए भी मनुष्यादि को नहीं दिखता, मार्जार
 15 आदि को दिखता है । फिर भी यदि अनुपलब्धि के कारण रात्री को सूर्यकिरण का स्वीकार आप नहीं करते तो अनुपलब्धि के कारण नेत्र के किरणों का दिन में भी स्वीकार मत करो ।

[प्रदीपरश्मि की अन्तराल में अनुपलब्धि की समीक्षा]

- कोई यदि ऐसा कहे — राजमार्ग की एक ओर ऐसा मकान है जिस की बारी से तदन्तर्गत प्रदीप की किरणें बाहर निकल कर, ठीक उसी मकान के सामने राजमार्ग की दूसरी ओर रहे हुए
 20 मकान की दिवार को स्पर्श करती हैं तब रात्रि के अन्धकार में राजमार्ग के ऊपर चलते हुए आदमी को राजमार्ग के मध्यभाग से जानेवाली किरणें सद्भूत होने पर भी नहीं दिखाई देती हैं । यहाँ सिर्फ अनुपलब्धिमात्र से किरणों का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । इसी तरह दिन में नेत्र किरणों की अनुपलब्धिमात्र से उन का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता ।

- ऐसा कथन भी पूर्वोक्त तरीके से निरस्त हो जाता है, क्योंकि इस तरह जैन भी कहेंगे कि
 25 रात्री में सूर्य के किरणों की अनुपलब्धिमात्र से उन का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता ।

- दूसरी बात :- राजमार्ग के मध्य भाग में अनुपलब्धि से प्रदीपरश्मि का अभाव निम्नोक्तप्रकार से सिद्ध कर सकते हैं । योगीपुरुषों को अपने आत्म-मन संयोग से दूरस्थ सद् और असत् (अतीत या अनागत) अर्थवर्ग का एक ज्ञान उत्पन्न होता है । यहाँ प्रश्न यह है कि जिन जिन सद्-असत् अर्थवर्ग का एक प्रमाणभूत ज्ञान होता है वह सकल अर्थ वर्ग, ज्ञानजनक आत्ममनसंयोग का सहकारी
 30 मानेंगे या नहीं मानेंगे ? यदि नहीं मानेंगे तो वात्स्यायन भाष्य के 'अर्थवत् प्रमाणम्' इस विधान के साथ विरोध प्रसक्त होगा । विरोध है इस प्रकार :- प्रमाण 'अर्थवत् होता है' — इस भाष्योक्ति की व्याख्या में कहा गया है कि विशिष्ट प्रमिति के निष्पादन में जिस का अर्थ सहकारी बनता है

उदकं (?के) तेज उखादिव्यवहितमप्युष्णस्पर्शं जनयिष्यतीति नोदक उष्णस्पर्शोपलम्भादनुद्भूतभास्वररूपस्य तेजसः सिद्धिः।

यदपि 'चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात् प्रदीपवद्' इत्यनुमानम् - अनेन किं चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते उतान्यतः सिद्धानां ग्राह्यार्थसम्बन्धस्तेषां साध्यते ? इति। आद्ये पक्षे तरुणनारीनयनानां दुग्धधवलतया भासुररश्मिरहितानामध्यक्षतः प्रतीतेरध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः। अथ यदध्यक्षग्रहणयोग्यं साध्यमध्यक्षत एव तत्र नोपलभ्यते तत्र तद्बाधः कर्मणः, यथा 'ऽनुष्णोऽग्निः सत्त्वात्' इति। न चाध्यक्षग्रहणयोग्या नायना रश्मयः सदा तेषामदृश्यत्वात्। न, पृथिव्यादिद्रव्येऽपि तेषां

वह प्रमाण होता है जो कि प्रमाता और प्रमेय से भिन्न होता है। इस व्याख्या के अनुसार योगी के प्रमाणभूत ज्ञान में उक्त सद्-असत् अर्थ सहकारी सिद्ध होता है, आप उस का निषेध कैसे कर सकते हैं ? यदि कहें कि दूरस्थित होने पर भी अर्थसमुदाय को हम सहकारी मान लेंगे तब तो दिवार के ऊपर जो प्रभास्वरवर्णता निष्पन्न हुई है उस के प्रति किरणों के बदले दूरस्थित भी प्रदीप को सहकारी क्यों नहीं मान लेते ? मानेंगे तो राजमार्गमध्य भाग में प्रदीपरश्मि की सिद्धि नहीं हो पायेगी। तब उस के उदाहरण से नेत्रकिरण की अनुपलब्धि से उनके असत्त्व की सिद्धि में आप व्यभिचारदोषप्रदर्शन नहीं कर सकते। निष्कर्ष :- प्रत्यक्ष की तरह ही कई दोषों के कारण नेत्र की प्राप्यकारिता (रश्मि आदि द्वारा भी) अनुमान से सिद्ध नहीं है।

चक्षु में तैजस (किरणों) की सिद्धि के प्रसङ्ग में नैयायिक ने पहले जो कहा था कि तप्तजल में तैजसत्व (अग्नि) प्रविष्ट रहता है किन्तु उस का भास्वर रूप अनुद्भूत होने से वह नहीं दिखता है (एवं सुवर्ण में तैजसत्व होने पर भी उस का उष्ण स्पर्श अनुद्भूत होने से उपलब्ध नहीं होता) - उस का स्मरण कर के व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरि कहते हैं कि उखा (भाजन विशेष) का व्यवधान रहने पर भी अग्नि जल में उष्णस्पर्श का प्रादुर्भाव कर सकता है, जल में अग्नि का प्रवेश मानने की कोई जरूर नहीं है। तब जल में उष्णस्पर्श के अनुभव के द्वारा जल में अनुद्भूत भास्वररूपवाले अग्नि की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ?

[चक्षु में स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकता का अनुमान - नैयायिक]

नैयायिकों का जो यह अनुमान है - 'नेत्र अपने किरणों से स्पृष्ट अर्थ का प्रदर्शक होता है, क्योंकि तैजस हैं जैसे दीपक।' - उस में प्रश्न यह है कि इस अनुमान से आप किस की सिद्धि करते हैं ? नेत्र के किरणों की सिद्धि करनी है या अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध नेत्र-किरणों का विषय के साथ संनिकर्ष सिद्ध करना है ? आद्य पक्ष में हेतु कालात्ययापदिष्ट (= बाध) दोषप्रस्त बनेगा, क्योंकि युवती के नेत्र दुग्धवत् धवल दिखते होने से दीप्तिमन्त किरणों से विकल होने में प्रत्यक्ष प्रतीति ही साक्षिभूत है, अत एव प्रत्यक्षबाधित किरणरूप कर्म का निर्देश कर देने पर प्रयुक्त किया गया हेतु बाधित है।

नैयायिक :- कर्म (साध्य) का बाध वहाँ होता है जहाँ कर्म प्रत्यक्षग्रहणयोग्य होने पर भी प्रत्यक्ष से उपलब्धिशून्य हो। उदा० 'अग्नि अनुष्ण है क्योंकि सत् है' यहाँ अनुष्णत्व साध्य प्रत्यक्षग्रहणयोग्य

साध्यत्वप्रसक्तेः। तथाहि— 'रश्मिवन्तो भूम्यादयः सत्त्वात् प्रदीपवत्' इत्यनुमातुं शक्यत्वात्। यथैव हि तैजसत्त्वं प्रदीपे रश्मिवत्तया व्याप्तमुपलब्धं तथा सत्त्वमपि। 'अस्यान्यथाऽपि सम्भावना न तैजसत्वस्य' इति कुतो विभागः ? अथ भूम्यादेस्तत्साधनेऽध्यक्षबाधः। न, दुग्धवलक्षाबलालोचनानामपि तत्साधने तद्विरोधः समानः। अथ वृषदंशचक्षुषोऽध्यक्षतो वीक्ष्यन्ते रश्मयः इति कथं तद्विरोधः ? ननु यदि तत्र

5 त ईक्ष्यन्तेऽन्यत्र किमायातम् ? तत एवान्यत्र तत्साधने हेम्नि पीतत्वप्रतीतौ रजते पीतत्वप्रसङ्गः, प्रमाण-बाधनमुभयत्र तुल्यम्।

अथ तत्र तत्प्रतीतेर्नान्यत्र सत्त्वेन ते साध्यन्ते अपि त्वनुमानतः, तत् तु दृष्टान्तमात्रम्। नन्वत्र 'नेत्रत्वात्' इति यदि हेतुः 'तैजसत्त्वात्' (२८५-३) इत्यस्यानर्थक्यम् अत एव प्रकृतसिद्धेः। अध्यक्षबाधा चाऽत्रापि तदवस्थैव। 'तैजसत्त्वात्' इत्यस्य हेतुत्वे प्रदीपदृष्टान्तेनैवार्थसिद्धेर्वृषदंशनेत्रनिदर्शनमनर्थकम्। न

10 होने पर भी अग्नि में उस की उपलब्धि न होने के कारण अनुष्णत्व कर्म बाधित होता है। नेत्र के किरण प्रत्यक्षग्रहणयोग्य ही नहीं है क्योंकि वे सदा के लिये अदृश्य हैं। अतः युवति के नेत्र में किरणों की अनुपलब्धि के द्वारा वहाँ उस का बाध नहीं माना जा सकता।

[पृथ्वी आदि में किरणसिद्धि का अनिष्ट]

जैन :- इस तरीके से तो पृथ्वीजलादिद्रव्यों में भी तैजसत्व की सिद्धि निर्बाध हो सकेगी। देखिये

15 — 'पृथ्वी आदि किरणवन्त है क्योंकि सत् हैं, उदा० दीपक।' इस प्रकार से अनुमान सुकर है। यहाँ भी कह सकते हैं — नयनकिरण की तरह प्रत्यक्षयोग्यता न होने से बाध दोष निरवकाश रहेगा। दीपक में तैजसत्व जैसे रश्मिवत्त्व से व्याप्त है वैसे ही यहाँ भी सत्त्व हेतु रश्मिवत्त्व से व्याप्त हो सकता है। यदि कहें कि यहाँ सत्त्व हेतु के लिये व्यभिचार की सम्भावना शक्य है — तो तैजसत्व में भी वह क्यों नहीं हो सकती ? यदि कहें कि प्रत्यक्ष से पृथ्वी आदि में रश्मिवत्त्व का बाध

20 है - तो यह गलत है क्योंकि युवति के नेत्रों में भी दुग्धवत् धवलिमा होने के कारण 'रश्मिवत्त्व' को मानने में बाध तुल्य ही है।

यदि कहें कि — 'मार्जार के नेत्रों में प्रत्यक्ष से ही किरण दृश्य हैं — तो वहाँ विरोध कैसा ?' तो प्रश्न यह है कि यदि मार्जार के नेत्रों में किरण दिखता है उस से धवलाक्षी युवति के नेत्र को क्या फायदा हुआ ? यदि मार्जारनेत्र के रश्मियों के आलम्बन से धवलाक्षी के नेत्रों में (सिर्फ

25 दृष्टान्तमात्र से) किरणों की सिद्धि करने का प्रयत्न करेंगे तो सुवर्णगत पीतवर्ण के आलम्बन से रजत में भी पीतवर्ण की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? यदि रजत में पीतवर्ण प्रमाणबाधित है तो धवलाक्षी के नेत्र में किरण भी प्रमाणबाधित ही हैं। प्रमाणबाध दोनों पक्ष में समान है।

[नारीनेत्रों के रश्मि की सिद्धि में हेतुदोष एवं प्रत्यक्षबाध]

यदि कहा जाय :- 'मार्जारनेत्र में प्रत्यक्ष से किरणों की प्रतीति होती है — इतने मात्र से ही

30 अन्यत्र नारीनयनों में सत् रूप से हम उन की सिद्धि नहीं करते हैं किन्तु अनुमान से सिद्धि करते हैं, मार्जारनेत्र तो सिर्फ इस अनुमान में दृष्टान्तरूप से ही प्रस्तुत करते हैं।' — तो यहाँ भी प्रश्न है कि उस अनुमान में आप मार्जारनेत्र-नारीनेत्र दोनों में रहनेवाले 'नेत्रत्व' को हेतु बनायेंगे या तैजसत्व को ? नेत्रत्व को हेतु करेंगे तो पहले पूर्वपरिच्छेद (२८५-२४) में जो आपने तैजसत्व को हेतु बनाया

च तस्य तैजसत्वं परं प्रति सिद्धमिति तत्साधनविकलता तदपेक्षया दृष्टान्तदोषः। न च रश्मिवत्त्वाद् विडाललोचनस्य तैजसत्वं सिद्धम्, मण्यादीनामपि तत्प्रसक्तेः। न च रश्मिवत्त्वाद् मण्यादीनामपि तैजसत्वम् मूलोष्णप्रभाया एव तैजसत्वात् अन्यथा तरुणतरुकिसलयानामपि तैजसत्वं स्यात्। न च नारीनयनानां तैजसत्वं सिद्धम्— इत्यसिद्धो हेतुः। न च रश्मिवत्त्वादेव तेषां तत् साध्यते, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। सिद्धे भास्वरप्रभावत्वे तैजसत्वसिद्धिस्ततश्च भास्वरप्रभावत्वसिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? 5

अथ 'तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' (२८२-४) इत्यतोऽनुमानात् तैजसत्वसिद्धेर्नेतरेतराश्रयदोषः। नन्वत्र भास्वररूपोष्णस्पर्शतेजोद्रव्यसमवेतगोलकस्वभावं कार्यद्रव्यं यदि 'चक्षुः' शब्दवाच्यम् तस्य तैजसत्वसाधने अध्यक्षविरोधः, तद्विपरीतरूपस्पर्शाधारतयाऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः।

है वह व्यर्थ होगा, क्योंकि नेत्रत्व हेतु से ही आप के मतानुसार नारीनेत्र के किरणों की सिद्धि हो जायेगी। उपरांत, प्रत्यक्षबाधारूप दोष तो यहाँ तदवस्थ ही रहेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से वहाँ किरणाभाव 10 सिद्ध है। यदि नेत्रत्व को छोड़ कर 'तैजसत्व' को हेतु करेंगे तो मार्जारनेत्र का दृष्टान्तरूप में प्रस्तुतीकरण व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि तब तो प्रदीपदृष्टान्त से ही आप को साध्यसिद्धि बन जायेगी (क्योंकि उस में तैजसत्व निर्विवाद सिद्ध है।) फिर भी 'मार्जारनेत्र' का दृष्टान्त लेंगे तो वहाँ तैजसत्व हमारे मत में सिद्ध न होने से हमारे मत की अपेक्षा से 'साधनशून्यत्व' यह दृष्टान्तदोष प्रसक्त होगा। यदि मार्जारनेत्र में रश्मिवत्त्व हेतु से तैजसत्व सिद्ध करेंगे तो वह भी गलत है क्योंकि तब तो मणि 15 आदि में भी रश्मिवत्त्व होने से 'तैजसत्व' की प्रसक्ति आयेगी। यदि कहें कि इष्टापत्ति है, हम रश्मिवत्त्व से मणि आदि में भी 'तैजसत्व' मान्य करेंगे — तो वह भी अनुचित है — क्योंकि तैजसत्व वहाँ मणि आदि में मानने पर मूल में उष्णप्रभा भी प्रसक्त होगी क्योंकि जो तैजस होते हैं वहाँ मूल से ही उष्णप्रभा होती है। यदि इस बात का इनकार करेंगे तो तरुण-कोमल वृक्ष किशलयों (ऐसी औषधियाँ जो कि चमकीली होती हैं) में भी तैजसत्व की प्रसक्ति होगी। 20

दूसरी बात यह है कि प्रदीप के दृष्टान्त में तैजसत्व होने पर भी नेत्रों में तैजसत्व असिद्ध होने से नारीनयनों में किरण का साधक तैजसत्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी ठहरेगा। यदि नारीनयनों में 'रश्मिवत्त्व' हेतु से तैजसत्व की सिद्धि करेंगे तो (असिद्ध से असिद्ध का साधन-यह दोष तो होगा, उपरांत,) इतरेतराश्रय दोष भी प्राप्त होगा। नारी नयनों में भास्वर प्रभारूप किरण सिद्ध होंगे तभी तैजसत्व की सिद्धि होगी; और तैजसत्व की सिद्धि होने पर किरणों की सिद्धि होगी, इस प्रकार 25 अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं आयेगा ?

[चक्षु में तैजसत्वसाधक अनुमान का निरसन]

नैयायिक :- अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो इस लिये तो हम दूसरा अनुमान प्रस्तुत करते आये हैं — चक्षु तैजस है क्योंकि द्रव्यनिष्ठ रूप-रसादि के मध्य सिर्फ रूप का ही प्रकाश करता है। (कुछ परिच्छेद के पूर्व में (पृ०२८२-पं०३०) यही अनुमान तैजसकिरण को साध्य बनाकर प्रस्तुत किया जा चुका है।) 30

जैन :- 'चक्षु' शब्द से आपको क्या अभिप्रेत है ? यदि भास्वर-रूप-उष्णस्पर्शवाले तैजस अवयवद्रव्य में समवेत गोलाकार कार्य (अवयवी) द्रव्य अभिप्रेत हो तो उस के तैजसत्व के साधन में प्रत्यक्षबाध

तथाहि— अबला-पारावत-बलीवर्दादीनां चक्षुषो धवल-लोहित-नील-रूपतयोष्णस्पर्शविकलतया चाध्यक्षतः प्रतिपत्तिः सिद्धैव । न च गोलकव्यतिरिक्तं चक्षुः तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सिद्धमित्याश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धश्च 'रूपस्यैव प्रकाशकत्वादि'ति हेतुः, अनैकान्तिकश्च तुहिनकर-करनिकरेण, तस्य रूपस्यैव प्रकाशकत्वेऽप्यतैजसत्वात् । न चास्यापि पक्षीकरणाददोषः, व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणादैकान्तिकत्वे सर्वत्रानैकान्तिकहेत्वभाव-
5 प्रसक्तेः । न चैवं जलानलयोर्विशेषगुणसङ्कराद् भेदः सिध्येत । न च तत्रिकरान्तर्गतं तेजस्तत्रापि रूपप्रकाशक-मिति न व्यभिचारः; प्रदीपेऽप्यन्यस्य तदन्तर्गतस्य तत्प्रकाशकस्य प्रकल्पनात् दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः । प्रत्यक्ष-बाधा उभयत्र । चक्षुरूपसम्बन्धेन रूपस्यैव प्रकाशकेन च व्यभिचारः । न चासौ रसादेरपि प्रकाशकः

होगा, क्योंकि भास्वर के बदले अभास्वर रूप और उष्णस्पर्श के बदले समशीतोष्ण स्पर्शका आश्रय चक्षु का दर्शन सार्वजनिक है। उपरांत, स्त्री के नेत्र धवल रूपवाले, कबूतर के नेत्र रक्त रूपवाले,
10 वृषभ के नेत्र नीलरूपवाले, एवं उष्णस्पर्श से रहित, सभी को प्रत्यक्ष से दिखता है। यदि चक्षु को उक्तस्वरूप गोलकरूप न मान कर अन्य किसी प्रकार से मानेंगे तो उस प्रकार से उस का प्रदर्शक प्रमाण कोई भी न होने से उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष तो होगा ही, साथ साथ स्वरूपासिद्धि दोष भी होगा, क्योंकि गोलक या गोलकव्यतिरिक्त द्रव्य में रूपमात्र का प्रकाशकत्व भी असिद्ध है। हेतु व्यभिचारी भी है क्योंकि चन्द्र के किरणवृन्द में तैजसत्व साध्य के विरह में भी रूपमात्र का
15 प्रकाशकत्व सिद्ध है। यदि कहें कि — 'चन्द्रकिरणों का भी हम पक्ष में अन्तर्भाव कर के तैजसत्व की सिद्धि उन में करेंगे।' — तो यह नितान्त अनुचित है क्योंकि एक हेतु में एकान्तिकत्व यानी अव्यभिचार संगत करने के लिये व्यभिचारस्थल का पक्ष में अन्तर्भाव करेंगे तो सर्वत्र ऐसी पद्धति अपना लेने से व्यभिचार दोषमात्र का उच्छेद प्रसक्त होगा। फिर तो तैजसभिन्न जलादि द्रव्य में भी 'जल भी तैजस है शुक्लरूपवाला होने से' इस तरह अनुमान लगावेंगे, जब पृथ्वी आदि में वहाँ
20 व्यभिचार दिखायेंगे तो उस को पक्ष में अन्तर्भाव कर लेने से जल में तैजसत्व सिद्ध हो जायेगा; फलतः जल और अनल में रूपादि विशेष गुणों का सांकर्य हो जाने से भेद का छेद हो जायेगा। जलानलोभयरूप एक द्रव्य बचेगा।

[तैजसद्रव्य का अन्तर्भाव चन्द्रकिरण की तरह प्रदीप में]

यदि कहें कि — 'चन्द्रकिरणों के अन्तर्गत जो तैजस द्रव्य होता है उसी से रूप का प्रकाश
25 होता है न कि चन्द्रकिरणों से, अतः वहाँ व्यभिचार होने का संभव नहीं'- तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रदीप (दृष्टान्त) में भी जो अन्तर्गत तैजस द्रव्य रहता है वही रूप का प्रकाशक होता है, न कि प्रदीप। यदि यहाँ इष्टापत्ति कर लेंगे तो फिर प्रदीप में रूपप्रकाशकत्व हेतु के न रहने से दृष्टान्त असिद्धि दोष प्रसक्त होगा। यदि प्रदीप के संदर्भ में आप प्रत्यक्ष बाध दिखायेंगे तो चन्द्रकिरण के बारे में भी वह दिखाया जा सकेगा। दूसरी आपत्ति यह है — नेत्र और रूप का संनिकर्ष रूपमात्र
30 का प्रकाशक है किन्तु वह तैजस नहीं है अतः हेतु व्यभिचारी बनेगा। यदि कहें कि — चक्षु-रूप संनिकर्ष तो रसादि का भी प्रकाशक होता है न कि रूपमात्र का — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि चक्षु-रूप संनिकर्ष से रसादि का प्रकाशन हो जाय तो रसनादि अन्य इन्द्रियों की तत्तत्प्रत्यक्षकारणत्वेन

इन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैफल्यप्रसक्तेः।

रूपप्रकाशकत्वं च रूपज्ञानजनकत्वम् तच्च नीलरूपेऽपि विद्यते अन्यथा 'अर्थवत् प्रमाणम्' (वात्स्या. भा. पृ.१) इत्यत्रार्थसहकारित्वं तस्य न स्यादिति तेन व्यभिचारः। अथ द्रव्यत्वे सति करणस्य रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वादिति विशेषणाद् न सम्बन्ध-रूपाभ्यामनेकान्तः। ननु यथा सम्बन्धादेरद्रव्यादे- 5
रप्यतैजसस्य रूपज्ञानजननं तथा चक्षुषोऽपि किं न स्यात् ? न च 'अदर्शनात्' इत्युत्तरम्, असर्वदर्शिदर्शन-
निवृत्तेर्भावाऽनिवर्तकत्वात्। प्रदीपवदिति दृष्टान्तस्यापि रूपप्रकाशकत्वाऽसिद्धेः साधनविकलता दृष्टान्तस्य।
न च प्रदीपे सति प्रतिनियतप्राणिनां रूपदर्शनसम्भवात् तस्य रूपप्रकाशकत्वम्, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां
तदभावेऽपि रूपदर्शनसद्भावात्। न च यदन्तरेणाऽपि यद् भवति तत् तत्कार्यम् इतरत् तत्कारणम्,
अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनत्वात् तद्भावस्य।

रूपेण की जानेवाली कल्पना निरर्थक ठहरेगी।

10

[नीलादिरूप में रूपप्रकाशकत्वहेतु साध्यद्रोही ?]

रूपप्रकाशकत्व हेतु का नीलरूपादि में भी व्यभिचार प्रसक्त है — रूपप्रकाशकत्व का अर्थ होगा रूपज्ञानजनकत्व। नीलादि रूप भी स्वविषयकज्ञान का विषयविधया जनक है, यदि उसे जनक नहीं मानेंगे तो 'अर्थवत् प्रमाणम्' इस वा०भाष्य के द्वारा जो अर्थ का ज्ञान के प्रति सहकारित्व दिखाया गया है उस का लोप प्रसक्त होगा। नीलादिरूप में तैजसत्व तो नहीं है — अतः व्यभिचार स्पष्ट है। 15
यदि रूप में ऐसा व्यभिचार टालने के लिये— "हेतु में 'द्रव्यत्व' विशेषण जोड़ दिया जाय — मतलब, 'द्रव्य होते हुए चक्षुइन्द्रियरूप करण रूपादि के मध्य सिर्फ रूप का ही प्रकाश करता है' ऐसा विशेष हेतुप्रयोग किया जाय तो न तो चक्षु-रूप संनिकर्ष में व्यभिचार होगा, न तो नीलादिरूप में व्यभिचार होगा, क्योंकि संनिकर्ष (संयोग) या रूप एक भी द्रव्यात्मक नहीं है।" तो यहाँ भी प्रश्न है कि जब द्रव्यत्व एवं तैजसत्व के विरह में भी संनिकर्षादि से रूपज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो तैजसत्व के 20
विना भी चक्षुद्रव्य से रूपज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती ? ऐसा उत्तर - 'तैजसत्व के विना भी रूप का प्रकाशन करने वाला अब तक कहीं देखा नहीं (उलटा, तैजसत्ववाला प्रदीप आदि ही रूप का प्रकाश करनेवाला दिखता है)' ठीक नहीं है क्योंकि असर्वदर्शी यानी अल्पज्ञ व्यक्ति को अतैजसद्रव्य से रूपप्रकाश का कार्य देखने को नहीं मिला उस का मतलब यह नहीं है कि कोई अतैजस द्रव्य रूपप्रकाश कार्य नहीं कर सकता। छद्मस्थों की दर्शननिवृत्ति भावनिवृत्ति की व्याप्य नहीं है। 25

नैयायिक का प्रदीप दृष्टान्त भी हेतुशून्य है क्योंकि प्रदीप के रहते हुए भी बहुतों को रूप का दर्शन नहीं होता, एवं प्रदीप के अभाव में भी किसी को रूपदर्शन होता है। यदि कहा जाय — अमुक नियत प्राणिवर्ग को प्रदीप के सद्भाव में (ही) रूपदर्शन होता है अत एव उस में रूपप्रकाशकत्व असिद्ध नहीं है — तो यह भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सिद्धाञ्जन से लिप्त नेत्रवाले अञ्जनसिद्ध पुरुषों को प्रदीप के विरह में भी रूप का दर्शन होता है। कारण-कार्यभाव तो अन्वय-व्यतिरेक-मूलक 30
होता है। जो कार्य जिस के अभाव में भी होता है वह उस का कार्य और उस कार्य का वह कारण, ऐसा कभी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ व्यतिरेक नहीं है।

- अथ प्रदीपे सति यद् दर्शनं तत् तदभावे न भवति, यत्तु तदभावे भवति न तत् तत्रापि तत्सदृशम्। न चान्यस्यापि व्यभिचारे अन्यस्यासौ, अतिप्रसङ्गात्। असदेतत् — यतो यादृशमेव रूपदर्शनमालोके, संस्कृतचक्षुषां तदभावेऽपि तादृशमेव, तद्भेदानवधारणात्। तथाहि — तद्भेदकल्पने न किञ्चित् कस्यचिद् वस्तुनः सदृशमिति सौगतमतानुप्रवेशः स्यात्। रूप-प्रदीपयोश्च सहोत्पन्नयोर्युगपददर्शने प्रदीपवत् रूपस्यापि 5 प्रदीपप्रकाशकत्वात् रूपं तैजसं भवेत्, अन्यथा न प्रदीपोऽपि तैजसः स्यात्, तज्जनकत्वाऽविशेषात् तयोः। न चान्यदा प्रदीपस्यैव रूपप्रकाशकत्वोपलब्धेः स एव तदापि प्रकाशकः, अन्यदाऽप्यञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां

[प्रदीप में रूपप्रकाशनव्यभिचार का वारण निष्फल]

- नैयायिक :- प्रदीप की उपस्थिति में जो रूपदर्शन होता है वह कभी भी प्रदीप के विरह में नहीं होता — इस प्रकार प्रदीप और स्वोपस्थितिकालीनरूपदर्शन का अन्वय-व्यतिरेक सुव्यवस्थित है। 10 प्रदीप की अनुपस्थिति में जो मार्जारदि या अञ्जनसंस्कृतचक्षुष्मान् पुरुष को रूपदर्शन होता है वह भले ही होता हो किन्तु वह प्रदीपकालीन रूपदर्शन से सर्वथा विजातीय है। उस के प्रति प्रदीपकारणता का व्यतिरेक यानी व्यभिचार भले ही हो उस का मतलब यह नहीं है कि उस से विजातीय रूपदर्शन (प्रदीपकालीन रूपदर्शन) के प्रति भी प्रदीप व्यभिचारी हो। यदि ऐसा मानेंगे तो धूम के प्रति व्यभिचारी अग्नि को पाकादि के प्रति भी व्यभिचारी मानने का अतिप्रसंग होगा।
- 15 जैन :- यह कथन गलत है। आपने जो रूपदर्शनों में वैजात्य का प्रदर्शन किया वह अयुक्त है। जैसा रूपदर्शन प्रदीप की उपस्थिति में होता है वैसा ही रूपदर्शन प्रदीप के विरह में अञ्जनसंस्कृतचक्षुवाले पुरुष को भी होता है। उस पुरुष को कभी ऐसा भेद प्रतीत नहीं होता कि मुझे जब अञ्जनप्रयोग से दर्शन होता है वह अञ्जन के विरह में प्रदीप से होनेवाले दर्शन से तिलमात्र भी विभिन्न है। फिर भी यदि आप भेदकल्पना जबरन करेंगे तो, कोई भी चीज दूसरी चीज से लेशमात्र 20 भी समान नहीं माननेवाले बौद्धमत में ही आप को शरण लेना होगा। (बौद्ध मत में सामान्य का सर्वथा निषेध, और वस्तु-वस्तु में सर्वथा भेद का स्वीकार, किया गया है।)

[प्रदीप से रूपदर्शन या रूप से प्रदीपदर्शन ?]

- दूसरी बात यह है कि प्रदीप और जलादि का रूप जब समकाल उत्पन्न होंगे तब प्रदीप से रूपदर्शन मानेंगे तो रूप से प्रदीप का दर्शन भी मानना पड़ेगा। यहाँ प्रदीप (के रूप) का प्रदर्शकत्व 25 होने के कारण रूप में भी तैजसत्व मानना पड़ेगा। यदि प्रदीपरूप का प्रकाशकत्व होने पर भी जलादि के रूप को तैजस नहीं मानेंगे तो प्रदीप को भी तैजस कैसे माना जाय, जब कि रूपप्रदर्शकत्व तो दोनों में साधारण है ? यदि कहा जाय — 'जब दोनों सहोत्पन्न नहीं होते तब तो सिर्फ प्रदीप में ही रूपप्रदर्शकत्व उपलब्ध होता है, न कि रूप में। अत एव सहोत्पत्ति दशा में भी प्रदीप ही रूप का प्रकाशक मानना होगा' — तो यह गलत है, क्योंकि असहोत्पत्ति दशा में भी अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुवाले 30 को प्रदीप के विरह में भी रूप का दर्शन होता है, अतः प्रदीप में रूपप्रकाशकत्व की सिद्धि दूरापास्त है।

नैयायिक :- किसी किसी को कभी कभी प्रदीप के सद्भाव में ही रूप का दर्शन होता है यह सुविदित है।

तदभावेऽपि रूपदर्शनसद्भावात् तस्य तत्प्रकाशकत्वाऽसिद्धेः। अथ तस्मिन् सति कदाचित् कस्यचित् रूपदर्शनात् तस्य तत्प्रदर्शकत्वं तर्हि नक्तंचराणां सतमसे रूपदर्शनात् तदभावे च तदभावात् हेतुफलभावस्य सर्वत्र तन्निबन्धनत्वात् तमोऽपि रूपप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् तैजसं भवेत्। अन्यथा हेतोरनेनैव व्यभिचारः स्यात्।

[प्रसङ्गात् तमसः तेजोऽभावरूपतानिरसनम्]

5

‘आलोकाभाव एव तमः’ इति चेत् ? न, आलोकस्यापि तमोऽभावरूपताप्रसक्तेः। ‘आलोकस्य तरतमादिरूपतयोपलम्भात् नाभावरूपता’ इति चेत् ? न, तमस्यप्यस्य समानत्वात्। यथा चालोकः प्रतिभासविषयः तथा तमोऽपि तद्विषयः। न चालोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः; इतरत्राप्यस्य समानत्वात्। न च चक्षुर्व्यापाराभावेऽपि तत्प्रतिभाससंवेदनादालोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः, प्रतिनियतसामग्रीप्रभवविज्ञानावभासित्वात् प्रतिनियतभावानां, तमसस्तदतत्प्रभवविज्ञानावभासित्वात्, आलोकस्य च तद्विपर्ययात्। 10 यद्वा आलोकस्याप्यचक्षुर्जे सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभासनात् तमोज्ञानाभावरूपता भवेत्। अथालोकस्य रूपप्रतिपत्तौ

जैन :- तो गाढ अन्धकार के रहते हुए किसी किसी को - उलुक आदि निशाचरों को— रूपदर्शन होता है, अन्धकार के न रहने पर (प्रकाश में) वह नहीं होता है, इस प्रकार कारण-कार्यभाव सर्वत्र उक्त अन्वय-व्यतिरेक पर ही अलवम्बित होने से अब अन्धकार को भी रूप का प्रदर्शक मानना पड़ेगा एवं रूपप्रकाशकत्व के जरिये प्रदीप की तरह उस को तैजस भी मानना पड़ेगा। अगर अन्धकार में 15 रूपप्रकाशकत्व मानेंगे और तैजसत्व नहीं मानेंगे तो फिर अन्धकार में ही रूपप्रकाशकत्व हेतु तैजसत्व का व्यभिचारी हो जायेगा।

[तमस् में तेजअभावरूपता का निरसन]

नैयायिक :- तमस् में तैजसत्व नहीं रहता क्योंकि वह तो प्रकाशाभावरूप है।

जैन :- नहीं, तेजोद्रव्य में तमसअभावरूपता मानने की विपदा होगी। 20

नैयायिक :- तरतमभाव द्रव्य में ही होता है, प्रकाश में मंद-तीव्रभाव होता है, अभाव में कभी तरतमभाव नहीं होता अत एव प्रकाश अभावस्वरूप नहीं होता।

जैन :- नहीं, तमस् में भी तीव्र-मन्दतारूप तरतमता होती है अत एव तमस् भी अभावरूप नहीं हो सकता। प्रकाश जैसे निरपेक्ष प्रतीति का विषय होता है, तमस् भी तथा निरपेक्षप्रतीति का विषय होता है। ऐसा नहीं है कि प्रकाशप्रतिभास का अभाव ही तमःप्रतिभासरूप हो, उस से उल्टी कल्पना 25 भी शक्य है कि तमःप्रतिभास का अभाव ही प्रकाशप्रतिभासरूप हो। कल्पना दोनों ओर समान है। यदि कहा जाय — ‘नेत्र की सक्रियता के विरह में भी बन्द आँखों से तमस का प्रतिभास संविदित होता है। इस का अर्थ यह हुआ कि प्रकाश के प्रतिभास का अभाव ही तमस है।’ — यह गलत है; भावों का अवभास विचित्र होता है। कुछ नियत प्रकार के भावों का प्रतिभास कुछ नियत सामग्रीजन्यविज्ञान से ही होता है, जैसे चाँद और सितारों का अवभास प्रकाश का अभाव एवं तमस् का सद्भाव होने 30 पर उत्पन्न होने वाले विज्ञान से ही होता है। अत एव मान सकते हैं कि — तमस का अवभास, आँख चाहे खुली रहे या बन्द रहे (यानी चक्षु सक्रिय हो या निष्क्रिय) दोनों अवस्था में उत्पन्न होनेवाले विज्ञान से ही होता है न कि बन्द नेत्र से। आलोक के लिये उस से उलटा है। मतलब चक्षु खुले होने पर

हेतुभावाद्भावरूपता तर्हि तमसोऽपि नक्तंचररूपप्रतिपत्तौ हेतुभावो विद्यत इति नाभावरूपता भवेत्। तदेवमालोकस्य वस्तुत्वे तमसोऽपि तदस्त्विति तेन हेतोर्व्यभिचारः।

भवतु वाऽऽलोकाभाव एव तमः, तथापि व्यभिचाराऽपरिहारः, तदभावस्याऽतैजसस्याऽपि तत्प्रकाशकत्वात्। अथ तमोऽभावेऽपि रूपदर्शनात् तस्य तत्प्रकाशकत्वं तर्हि नक्तंचरणामालोकाभावेऽपि रूपदर्शनादालोकस्यापि न तत्प्रकाशकत्वं भवेत्। अथाऽस्मदादीनां किमित्यालोकाभावे रूपदर्शनं न भवति ? भवत्येव, कथमन्य-
5 थान्धकारसाक्षात्करणम् ? 'घटरूपदर्शनं किं न ?' इति चेत् ? बहलतमोव्यवधानात् तीव्रालोकतिरोहिताल्प-
रूपवत्। प्रदीपोपादानं तु तस्य व्यवच्छेदार्थम्। अत एवान्यत्रोक्तम्-

'तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसाऽनावृत्तं(?) परम्। घटादिकम्...' () इत्यादि। प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधायकतमोऽपनेतृत्वे 'तैजसं चक्षु रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इति

10 ही उस का अभाव होता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि आलोक तमोज्ञानाभावरूप ही है, क्योंकि सच्चे स्वप्नज्ञान में जहाँ एक ओर नेत्र निष्क्रिय हैं, दूसरी ओर तमसज्ञान का अभाव है (यानी काला काला कुछ भी नहीं दीखता) तब स्वप्न में प्रकाश दिखाई देता है — इस से सिद्ध होगा कि उस वक्त तमोज्ञान का अभावरूप ही प्रकाश है। यदि रूपदर्शन के प्रति प्रकाश की हेतुता होने से प्रकाश को अभाव स्वरूप नहीं माना जा सकता — तो (सितारों के दर्शन में तमस की हेतुता अथवा) निशाचर
15 प्राणियों को रूपदर्शन के प्रति तमस की हेतुता सिद्ध होने से तमस भी अभावस्वरूप नहीं हो सकता। निष्कर्ष, यदि प्रकाश वस्तु है तो तमस भी वस्तु ही है (न कि अभाव), अतः तैजसत्वशून्य तमस में रूपप्रकाशकत्व हेतु तैजसत्व का व्यभिचारी ठहरता है।

[तमस् को आलोकाभावरूप मानने पर भी दोष तदवस्थ]

व्याख्याकार कहते हैं — एक बार मान लिया कि तमस् प्रकाशाभावरूप है। फिर भी चक्षु में
20 तैजसत्वसाधक हेतु (रूपप्रकाशकत्व) में व्यभिचार दोष अनिवार्य है। कारण, प्रकाशाभावात्मक तमस् में तैजसत्व नहीं है फिर भी सीतारे आदि के रूप का प्रकाशकत्व तो है। यदि कहें कि — 'दिन में (प्रकाशाभावरूप) तमस् न होने पर भी रूपदर्शन होता है अतः तमस में रूपप्रकाशकत्व मान्य नहीं हैं' — तो समान ढंग से ऐसा भी जान लो कि रात्री में प्रकाश न होने पर भी निशाचरों को रूपदर्शन होता है फलतः प्रकाश में भी रूपप्रकाशकत्व मान्य नहीं होगा। यदि आप पूछेंगे कि प्रकाश में रूपप्रकाशकत्व
25 नहीं मानते तो प्रकाश के विरह में हम लोगों को क्यों रूपदर्शन नहीं होता ? उत्तर :- होता ही है, अन्यथा प्रकाश के विरह में तमस का प्रत्यक्ष कैसे होता है ? यदि ऐसा प्रश्न हो कि घट का रूप क्यों नहीं दीखता ? उत्तर :- अति गाढ तमोद्रव्य का व्यवधान होने से। अति तीव्र प्रकाश से भी फिकारूपवाला पदार्थ तिरोहित हो जाने पर कहाँ दीखता है ? फिर से आप पूछेंगे कि प्रकाश रूपप्रकाशक नहीं है तो रात्री में लोग क्यों प्रदीप प्रगटाते हैं ? उत्तर :- अन्तरायभूत तमोद्रव्य का विध्वंस करने
30 के लिये। इसी लिये तो अन्य ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है — 'तमस् का निरोध (ध्वंस) हो जाने पर तमस के आवरण से मुक्त घटादि पदार्थ को देखते हैं।' () इतनी चर्चा का फलितार्थ यह हुआ कि प्रदीप या प्रकाश रूपप्रकाशक नहीं है किन्तु घट के रूप का आवरण करने वाले तमस् को दूर करने हेतु

—साधनविकलत्वाद् दृष्टान्तस्य— निरस्तं दृष्टव्यम्।

न चान्यत् एव तस्य रश्मयः सिद्धा केवलमनेन प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तेषां साध्यते इति (द्र०२८५-४) वक्तव्यम् तत्सद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावात्। अथ यद्यप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः अविशेषेण सर्वं प्रकाशयेत्। न, भावानां नियतशक्तित्वात्। यतो य एव यत्र योग्यः, स एव तत् प्रकाशयति, अन्यथा संयुक्तसम-वायाऽविशेषाच्चक्षुर्यथा कुवलयरूपं प्रकाशयति तथा तद्गन्धमपि प्रकाशयेत्, तथा चेन्द्रियान्तस्वैफल्यम्। 5 अथ योग्यताऽभावाद् न तत् तद्गन्धमवभासयति तर्हि योग्यताऽभावात् प्राप्त्यभावेऽपि नातिव्यवहितमति-संनिकृष्टं वा तद्रूपं प्रकाशयतीति सर्वत्र योग्यतैवाश्रयणीया, नापरं सम्बन्धप्रकल्पनेन कृत्यम्। 'रश्मयो वा कुतो न लोकान्तमुपयान्ति ?' इति प्रेरणायां परेणाऽप्ययोग्यतैव तत्र, इतरत्र तु योग्यता प्रतिविधान-

ही वह उपयोगी बनता है। निष्कर्ष, 'चक्षु तैजस है क्योंकि रूपादि मध्ये सिर्फ रूप का ही प्रदर्शक है जैसे प्रदीप' इस अनुमान प्रयोग का प्रदीपदृष्टान्त हेतुशून्य होने से वह अनुमान भी निरस्त हो जाता है। 10

[नयनरश्मियों में रूपप्रकाशकत्व की सिद्धि अशक्य]

पहले नैयायिक का (पृ०२८५-पं०२६) एक अभिप्राय आशंकित था उसी को दूसरे ढंग से दोहराते हुए वे कहते हैं — 'चक्षु के रश्मि तो अन्य प्रमाण से सिद्ध ही है, उक्त रूपप्रकाशकत्वहेतुक अनुमान से तो हमें सिर्फ नयन रश्मियों में सम्बद्ध अर्थ के प्रकाशकत्व की सिद्धि ही अभिप्रेत है।' — किन्तु यह भी गलत है क्योंकि नयनों के रश्मियों को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण ही नहीं है। 15

नैयायिक :- यदि चक्षु के रश्मि नहीं स्वीकारेंगे तो अर्थ के साथ संनिकर्ष न होने पर चक्षु असम्बद्ध अर्थ का प्रकाशक बन जाने से अपने से असम्बद्ध सारे विश्व के पदार्थों का वह प्रकाशक बन जायेगा। अतः नेत्र-रश्मि को मानना होगा।

जैन :- नहीं, असम्बद्धअर्थ-प्रकाशकत्व होने पर भी सारे विश्व के पदार्थों का वह प्रकाशक नहीं होगा क्योंकि चक्षु की इतनी प्रबल शक्ति ही नहीं है। भवामात्र की शक्ति नियत यानी मर्यादित होती 20 है। शक्तिमर्यादा का मतलब यह है कि जिस कार्य को करने की योग्यता जिस पदार्थ में होती है, वह उसी कार्य का प्रकाश (प्रादुर्भाव या ज्ञापन) कर सकता है। यदि इस तथ्य का इनकार करेंगे तो विपदा यह आयेगी की चक्षु-संयुक्त-समवायसंनिकर्ष के द्वारा जब रूप का प्रकाशन करती है तब उस द्रव्य के गन्ध का भी प्रकाशन करने लग जायेगी (सम्बद्धार्थता अक्षुण्ण होने से।) फलतः एक ही चक्षु से सभी द्रव्यों के रूप-रसादि का प्रकाशन हो जाने पर अन्य इन्द्रियाँ बेकार बन जायेगी। 25 यदि योग्यता न होने के कारण चक्षु किसी द्रव्य के गन्ध का प्रतिभासन नहीं करती है ऐसा कहेंगे तो प्रस्तुत में भी कह सकते हैं कि चक्षु योग्यता न होने के कारण सभी पदार्थों के रूप का प्रकाशन नहीं कर सकती, मर्यादित योग्यता (शक्ति) के कारण मर्यादित अप्राप्त पदार्थों को ही देख सकती है।

तात्पर्य, अति दूरस्थ और अतिनिकटवर्ती अप्राप्त पदार्थों का प्रकाशन करने की योग्यता चक्षु में नहीं है अत एव सर्वत्र इस प्रकार आखिर तो योग्यता का ही आशरा है। अन्य किसी सम्बन्ध 30 (संनिकर्ष) की कल्पना करना बिनजरूरी है। नेत्र के रश्मियों की कल्पना भी इसलिये अयुक्त है कि वहाँ भी जब प्रश्न होगा कि नेत्रकिरण दूर-सुदूर लोकान्त तक पहुँच कर लोकान्तवर्ती पदार्थों का

त्वेन वक्तव्या। तथा, यस्य कारणाद् भिन्नमेव कार्यं तस्य भेदाऽविशेषात् सर्वं सर्वस्मात् कुतो नोत्पद्यते इति चोद्ये योग्यतातो नापरमुत्तरमिति सैवाऽत्राप्यभ्युपगमनीया।

किञ्च, यदि प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः, स्फटिकाद्यन्तरितवस्तु प्रकाशकं न स्यात्, तदश्मीनां विषयं प्रति गच्छतां स्फटिकादिना प्रतिबन्धात्। न च तैस्तस्य ध्वस्तत्वादयमदोषः, तद्व्यवहितवस्तुदर्शनसमये स्फटिकादेर्व्यवधायकस्याऽदर्शनप्रसङ्गात्, तदुपरि व्यवस्थापितस्य चाधारविनाशात् पातप्रसक्तेश्च। न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारभूता वा अवयविकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। 'अन्यस्यावयविन आशूत्पत्तेरदोषः' चेत् ? न, तदा तद्व्यवहितस्यादर्शनप्रसक्तेः। तथा च यदा व्यवधायकदर्शनं न तदा व्यवहितदर्शनम् यदा च व्यवहितदर्शनं न तदा व्यवधायकदर्शनमिति प्रसज्येत। न चैवम्, युगपद् द्वयोर्दर्शनात्। अथाशूत्स्ते-

प्रकाशन क्यों नहीं करते ? तब आप को भी उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि अतिदूरस्थ (एवं अतिनिकटवर्ती) वस्तुओं के पास पहुँचने की उन में योग्यता यानी सामर्थ्य नहीं है, अतिदूर न हो ऐसे ही पदार्थों तक उन की पहुँच यानी योग्यता रहती है। सिर्फ यहाँ ही नहीं, कारण-कार्यभाव की चर्चा में भी योग्यता का स्वीकार करना ही होगा। देखिये — आप तो कारण-कार्य के एकान्त भेद को स्वीकारते हैं। तब प्रश्न आयेगा — तन्तु कारण से पट एवं घट दोनों ही तुल्यरूप से सर्वथा भिन्न है, फिर भी तन्तु से पट ही उत्पन्न होता है घट उत्पन्न नहीं होता, कारण क्या है ? किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? तो उत्तर दूसरा कुछ नहीं, यही आयेगा कि योग्यता मर्यादित ही होती है। तब प्रस्तुत में चक्षु के अप्राप्यकारिता के संदर्भ में भी वही योग्यता का उत्तर सुचारु है।

[स्फटिकान्तरित वस्तुदर्शन की न्यायमत में अनुपपत्ति]

यह भी सोचने जैसा है — नेत्र यदि प्राप्तार्थप्रकाशक है तो स्फटिक-काचादि से व्यवहित वस्तु का दर्शन नहीं होगा। कारण, विषय के प्रति जाने वाले रश्मियों को स्फटिकादि से रोक लग जायेगी। यदि कल्पना करें कि — 'स्फटिकादि का ध्वंस कर के नेत्र के रश्मि आरपार निकल जायेंगे (अहो ! घन से भी नहीं टूटनेवाला स्फटिक, नेत्र के किरणों से टूट जायेगा !) तो विषय के साथ संनिकर्ष होने में कोई दोष नहीं होगा।' — तो नया दोष होगा, ध्वस्त स्फटिक से निकल जानेवाले नयनरश्मियों से विषयवस्तु का दर्शन होगा किन्तु उस समय व्यवधायक स्फटिक का भी साथ साथ समकालीन दर्शन होता है वह स्फटिकध्वंस के कारण नहीं होगा। दूसरा दोष, उस स्फटिक के ऊपर से कुछ पुष्पादि नीचे गिर जायेंगे। आधारनाश के बाद वहाँ सिर्फ परमाणुपुञ्ज शेष रहा, वह तो दृश्य नहीं है, न तो वे किसी का आधार बन सकते हैं, यदि परमाणुवृन्द दृश्य एवं आधार बन बैठेंगे तब तो अवयवी की कल्पना भी (बौद्ध मत की तरह) निरर्थक ठहरेगी, परमाणुपुञ्ज से ही अवयवीसाध्य सभी कार्य सिद्ध हो जायेंगे। यदि कहें कि — एक अवयवी के नाश के बाद शीघ्र ही नये अवयवी की उत्पत्ति हो जाने से उक्त दोष नहीं होगा। — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि तब तो बार बार किरणों की गति में रुकावट आ जाने से व्यवहित अर्थ का दर्शन ही नहीं हो सकेगा। नतीजा यह आयेगा कि स्फटिकादि का ध्वंस कर के रश्मि अर्थ के पास पहुँचेंगे तब व्यवधायक स्फटिक का दर्शन नहीं होगा, जब नया

निरन्तरं व्यवहितप्रतिप्रतिविभ्रमः तर्हि तदभावस्यापि आशुवृत्तेरभावप्रतिपत्तिविभ्रमस्तथा किं न भवेत् ? 'भावपक्षस्य बलियस्त्वात्' इति चेत् ? न, भावाभावयोः परस्परं स्वकार्यकरणं प्रत्यविशेषात्। किञ्च, कलुषजलाद्यावृतस्यार्थस्य किं न ते प्रकाशकाः, स्फटिकादेरिव जलादेरपि भेदे तेषां सामर्थ्याऽप्रतिघातात् ? न च जलेन ते प्रतिहन्यन्ते, स्वच्छजलेनापि तेषां प्रतिघातात् तद्व्यवहितस्याप्यप्रकाशनप्रसङ्गात्। अथ तेषां तत्र प्रकाशनयोग्यता, तर्हि तत एव तेऽप्राप्तमप्यर्थं प्रकाशयिष्यन्तीति व्यर्थं संयुक्तसमवायादिसंनिकर्ष- 5 प्रकल्पनम्।

अपि च समवायसम्बन्धनिषेधे चक्षुषो घटरूपेण संयुक्तसमवायप्रतिबन्धस्याभावात् तद्व्याऽप्रकाश- कत्वात् कथं नासिद्धो हेतुः 'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति ? अथ 'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिः सम्बन्धनिबन्धना तद्बुद्धित्वात् 'इह कुण्डे दधि' इति बुद्धिवत्, इत्यतोऽनुमानात् समवायसिद्धे अवयवी उत्पन्न हो जायेगा तब उन रश्मियों से सिर्फ व्यवधायक ही दीखेगा, न कि व्यवहित अर्थ। 10 सब जानते हैं कि वैसा होता नहीं, दोनों का एकसाथ ही दर्शनानुभव होता है।

[स्फटिकान्तरित वस्तुदर्शन में अन्ततः योग्यता शरण]

यदि कहा जाय — 'नये नये अवयवी की उत्पत्ति एवं ध्वंस इतना शीघ्र होता है कि व्यवहितपदार्थ का एवं व्यवधायक स्फटिक का दर्शन निरन्तर हो रहा है ऐसा विभ्रम दृष्टा को होता रहता है' — अहो तब तो पुनः पुनः शीघ्र ध्वंस के कारण व्यवधान के दर्शन के अभाव की भी निरन्तर 15 प्रतीति का विभ्रम क्यों नहीं होगा ? यदि कहें कि — 'अभाव से भाव ज्यादा बलवान् होता है अतः स्फटिक दर्शन का निरन्तर विभ्रम होता है।' तो यह गलत है क्योंकि अपने अपने कार्य के सम्पादन में भाव और अभाव दोनों ही तुल्यबली होते हैं। दूसरी बात (प्रश्न) यह है कि — यदि नेत्रकिरणों स्फटिक का भेदन कर सकते हैं तो जल का भी कर ही सकते हैं — तब कलुषित जलादि से आवृत नीचे रहे हुए विषय का प्रदर्शन क्यों नहीं करते ? यदि कहें कि कलुषित जल से उन 20 का व्याघात हो जाता है — तो स्वच्छ जल से भी प्रतिघात क्यों नहीं होगा ? तब तो स्वच्छ जल से व्यवहित अर्थ का भी प्रदर्शन रुक जायेगा। यदि कहें कि स्वच्छ जल व्यवहित अर्थ के प्रकाशन की योग्यता उन में है — तब तो हम (जैन) भी कहेंगे कि नेत्रों में अप्राप्त अर्थ के प्रकाशन की योग्यता भी वैसी ही है। निष्कर्ष, संयुक्त समवायादि संनिकर्ष की कल्पना व्यर्थ है।

[समवाय सिद्ध न होने से चक्षुःसंयुक्तसमवाय की असिद्धि] 25

समवाय की कल्पना व्यर्थ हो जाने से समवाय निषिद्ध हो जाने पर घट के रूप के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय संनिकर्ष भी असिद्ध हो गया, तो चक्षु से रूपप्रकाशन कार्य अब शक्य न रहा। फलतः 'रूपादि के मध्य सिर्फ रूप का ही प्रकाशक होने से' ऐसा हेतु, तैजसत्व के अनुमान में असिद्ध क्यों नहीं ठहरेगा ?

यदि समवायसाधक अनुमान कहा जाय — 'यहाँ तन्तुओं में वस्त्र है' ऐसी बुद्धि सम्बन्धमूलक 30 है क्योंकि उस में सम्बन्धिबुद्धित्व है जैसे (उदा०) 'यहाँ कुण्ड में दही है' ऐसी बुद्धि। इस अनुमान से समवाय सिद्ध है अतः संयुक्तसमवाय सम्बन्ध सिद्ध होने से हेतु-असिद्धि दोष नहीं आयेगा। तो यह भी ठीक नहीं है — 'यहाँ' ऐसी बुद्धि से आप 'समवाय' का नाम लेकर तो उस की सिद्धि

न संयुक्तसमवायसम्बन्धाभावः। न, इहबुद्ध्या सम्बन्धमात्रसाधने घट-तद्रूपयोः कथंचित्तादात्म्यसम्बन्धाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात्। अथ कथंचित्तादात्म्यसम्बन्धः तद्बुद्धिनिमित्तत्वेन न प्रतिपन्नः इति कथमतोऽसौ साध्यः ? तर्हि समवायेऽपि एतत् समानम्। तथापि ततस्तत्साधनेऽन्यत्र कः प्रद्वेषः ? अथ घट-तद्रूपयोः कथंचित्तादात्म्यसम्बन्धः विरोधान्नेष्यते— तर्हि भावाभावयोः कथंचित्तादात्म्याभावे समवायादेरसम्भवादसम्बन्धः

5 स्यात्, तथा च अभावेनाक्षाणां संनिकर्षाभावाद् नाऽक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्।

‘विशेषण-विशेष्यभावस्य भावाभावयोः सम्बन्धस्य भावाद् नायं दोषः’ इति चेत् ? न, भावाभावाभ्यां तस्यानर्थान्तरत्वे तावेव, स एव वा स्यात्। अर्थान्तरत्वे भावाभावयोः सद्भावेऽपि न विशेषण-विशेष्यरूपता ताभ्यां तस्याऽसम्बन्धात्। सम्बन्धे वा ताभ्यां तस्याऽपरेण सम्बन्धनिमित्तेन विशेषण-विशेष्यभावेन भवितव्यम्, तस्यापि सम्बन्धनिमित्तेनाऽपरेण तेनेत्यनवस्था भवेत्। तस्मात् कथंचित्

- 10 नहीं कर सकते! पहले तो आप को सम्बन्धमात्र की ही सिद्धि करनी पड़ेगी (क्योंकि समवाय तत्पूर्व कहीं सिद्ध नहीं है।) तो घट और रूप का सम्बन्ध कथंचित् तादात्म्य भी सिद्ध हो सकता है जो कि हमारा इष्ट सिद्ध करनेवाला होने से आप को यहाँ सिद्धसाध्यता दोष लागू होगा। यदि कहें — ‘पहले तो कभी ‘यहाँ.’ ऐसी बुद्धि के निमित्तरूप में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं रहा, फिर यहाँ इस अनुमान का साध्य वह कैसे हो सकता है ?’ — समवाय के लिये भी यही बात
- 15 समान है, वह भी पहले प्रसिद्ध नहीं रहा। फिर भी आप उसी को साध्य बनाना चाहे तो कथंचित्तादात्म्य के ऊपर आप को प्रद्वेष होने का कारण क्या ? यदि कहें कि — घट एवं उस के रूप में भेद सिद्ध होने से कथंचित्तादात्म्य वहाँ विरोधग्रस्त है इसलिये उस की सिद्धि उक्तानुमान से नहीं हो सकती। — तो भूतल एवं घटाभाव में भी कथंचित्तादात्म्य के अभाव में, एवं समवाय के भी न होने से (आप को अभाव का सम्बन्ध समवाय मान्य न होने से) सर्वथा सम्बन्धाभाव प्रसक्त होगा; फलतः
- 20 अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई भी सम्बन्ध संगत न होने से, इन्द्रिय द्वारा अभाव का बोध कभी नहीं होगा।

[भाव-अभाव का वि०वि० भाव सम्बन्ध असंगत]

नैयायिक :- कथंचित्तादात्म्य नहीं, समवाय भी नहीं, भाव और अभाव का विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध जाग्रत होने पर कोई दोष नहीं है। विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से भूतल (विशेष्य) में अभाव

25 (= विशेषण) का भान हो सकता है।

जैन :- नहीं नहीं, पहले यह कहो कि वह सम्बन्ध भाव-अभाव से सर्वथा भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तब तो नया कुछ नहीं हुआ, ऐसा कहिये कि सिर्फ भाव-अभाव का ही अस्तित्व है न कि अभिन्न सम्बन्ध का। अथवा उस सम्बन्ध का ही अस्तित्व रहेगा न कि भावाऽभाव का। यदि कहें कि भाव-अभाव से सम्बन्ध भिन्न है तो भाव-अभाव दोनों रहेगा किन्तु उन से भिन्न सम्बन्ध

30 का (यानी विशेषण-विशेष्य भाव का) सम्बन्ध तो कोई है नहीं। यदि है तो उस के भी साथ सम्बन्ध कराने वाले अन्य कोई विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध की आवश्यकता आ पड़ेगी। उस के साथ भी सम्बन्ध करानेवाले अन्य सम्बन्ध की... इस तरह नये नये सम्बन्ध की जरूरत का अन्त न होने

तयोस्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथाऽभावस्याध्यक्षप्रमाणग्राह्यता न भवेत्। तदेवं समवायाऽसिद्धेर्नाक्षस्य रूपेण सम्बन्ध इति न तेन तस्य ग्रहणं परपक्षे भवेत्। इति 'चक्षुषो घटेन संयोग एव युतसिद्धत्वात्, द्रव्यसमवेतानां गुणादीनां संयुक्तसमवाय एव' () इत्यादि षोढासंनिकर्षप्रतिपादनमयुक्तम् संयोग-समवाय-विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धानामभावेन तदनुपपत्तेः। संयोगादेश्चाभावः प्रतिपादित एव (प्र० खंडे पृ० ४६०) यथावसरमिति न पुनः प्रतिपाद्यते।

5

अथ यथाऽस्माकं चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं प्रमाणाभावाद् न सिद्धं तथा भवतोऽप्यप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्य तत एव न सिद्धमिति, कथं 'रूवं पुण पासइ अपुडुं तु' (आव.नि.गा.५) इत्यभिधानं युक्तिसङ्गतम् ? न, तस्याऽप्राप्तार्थप्रकाशने अनुमानसद्भावात्। तथाहि— अप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः अत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्; यत् पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यासन्नप्रकाशकमुपलब्धम् यथा श्रोत्रादि, अत्यासन्नार्थाप्रकाशकं च चक्षुः, तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकमिति व्यतिरेकी हेतुः। न चाऽयमसिद्धो हेतुः, गोलकस्थस्य कामलादेः पक्षमपुटगतस्य चाञ्जनादेस्तेनाऽप्रकाशनात्। कथमन्यथा दर्पणादेः परोपदेशस्य वा तत्प्रतिपत्त्यर्थमुपादानं से अनवस्था दोष लगेगा। आखिर मानना पडेगा कि भाव और अभाव का कथंचित् तादात्म्य ही है जिस से नये नये सम्बन्धों की झंझट खडी न हो। कथंचित् तादात्म्य के विना प्रत्यक्ष प्रमाण से अभाव का ग्रहण शक्य नहीं है क्योंकि वि.वि. भाव या समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं है। समवाय असिद्ध होने के कारण, समवाय के द्वारा इन्द्रिय (चक्षु) का रूप के साथ सम्बन्ध न घटने से न्यायमत में इन्द्रिय द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष हो नहीं पायेगा। अत एव, जो सनिकर्ष के छः प्रकार — चक्षु और घट, पृथक्सिद्ध होने से संयोग सनिकर्ष और द्रव्यनिष्ठ गुणादि के साथ संयुक्तसमवाय सनिकर्ष...इत्यादि प्रतिपादन संगत नहीं है, क्यों कि अभाव के साथ संयोग या समवाय या वि० वि० भाव एक भी सम्बन्ध घटता नहीं है। संयोग आदि क्यों नहीं घटता इस बात का निरूपण पहले खंड में (४६०-१८) अवसरानुकूल कह दिया है इसलिये यहाँ उस की पुनरुक्ति नहीं की जाती।

10

15

20

[चक्षु में अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वसाधक व्यतिरेकी हेतु]

नैयायिक :- हमारे मत में मान लो कि जैसे चक्षु का प्राप्तार्थप्रकाशकत्व प्रमाण के विरह में असिद्ध है, उसी तरह जैनों के मत में चक्षु का अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व भी प्रमाणाभाव के कारण असिद्ध ही है। तो आप के आचार्य (भद्रबाहुस्वामी) का 'अस्पृष्ट (अप्राप्त) ही रूप को देखता है' ऐसा वचन (आवश्यक-निर्युक्तिग्रन्थ वचन) कैसे युक्तिसंगत होगा ?

25

जैन :- प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे मत में चक्षु का अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व का साधक अनुमान मौजूद है। देखिये — 'चक्षु अप्राप्तार्थ का प्रकाशक है क्योंकि अतिनिकटवर्ती अर्थ का अप्रकाशक है। यहाँ व्यतिरेकी उदाहरण है श्रोत्र और व्यतिरेकव्याप्ति ऐसी है — जो अप्राप्तार्थप्रकाशक नहीं होता (यानी प्राप्तार्थप्रकाशक होता है) वह अतिनिकटवर्ती अर्थ का प्रकाशक होता है जैसे श्रोत्रादि। चक्षु तो अतिनिकटवर्ती अर्थ का प्रकाशक नहीं होती अत एव प्राप्तार्थप्रकाशक भी नहीं होती। यानी अप्राप्तार्थप्रकाशक होती है। हेतु यहाँ असिद्ध नहीं है, चक्षुगोलक में यदि कामलादि आवरण रहता है तो वह अतिनिकट होने पर भी दिखता नहीं है। तथा नेत्र की पांपणों में यदि अञ्जनादि द्रव्य

30

भवेत् ? अथ साध्यनिवृत्तौ नियमेन यतः साधनं निवर्तते स वैधर्म्यदृष्टान्तः। जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वे साध्ये घट इव आत्मशरीरसंयोगविशेषे सात्मकत्वे निवर्तमाने नियमेन ततः प्राणादिमत्त्वनिवृत्तेः। न च श्रोत्रादेरप्राप्तार्थप्रकाशकत्वे निवर्तमानेऽत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वं नियमेन व्यावर्तते चक्षुष इव तस्याऽप्यत्यासन्नार्थाऽप्रकाशकत्वात्। ततो नायं व्यतिरेकी हेतुः। न, कर्णशष्कुलीप्रविष्टमशकादिशब्दस्य तेन प्रकाशनात्।

5 स्पर्शनादौ त्वविवाद एव।

“चक्षुः-श्रोत्र-मनसामप्राप्तार्थकारित्वम्” () इति वचनादप्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमिति न साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिस्तत इति नायं व्यतिरेकी हेतुरिति सौगतः, यथा ‘सर्वगतात्मपक्षे सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्’ इति हेतुः।” न, अप्राप्तकारित्वे श्रोत्रस्य चक्षुष इवात्यासन्नविषयप्रकाशकत्वं न स्यादिति मशकादिशब्दस्य प्राप्तस्य प्रत्यक्षतः प्रकाशकत्वेन प्रतीयमानस्याऽप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्याऽध्यक्षबाधितम्

10 लगाते हैं तो वह अतिनिकट होने पर भी नहीं दिखता। यदि इन द्रव्यों का प्रकाशन चक्षु से होता तो उन को जानने के लिये न तो दर्पण जरूरी होता, न तो उस को जानने के लिये अन्य किसी के निर्देश की जरूरत रहती।

नैयायिक :- वैधर्म्य (व्यतिरेकी) दृष्टान्त वही हो सकता है जहाँ साध्य के न रहने पर हेतु भी अवश्य न रहे। जैसे, जीवन्त देह में सात्मकत्व सिद्ध करते हैं तब वैधर्म्य दृष्टान्त घट में से 15 जीव-शरीर संयोगविशेषरूप सात्मकत्व साध्य न रहने पर प्राणादिमत्त्व हेतु भी वहाँ अवश्य नहीं रहता है। श्रोत्रादि में ऐसा नहीं है कि अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व साध्य के न रहने पर नियमतः वहाँ अतिनिकट अर्थ अप्रकाशकत्व की भी व्यावृत्ति हो। मतलब चक्षु की तरह श्रोत्र भी अतिनिकट अर्थ का अप्रकाशक होता है। सारांश, अतिनिकटवर्ती अर्थ अप्रकाशकत्व हेतु को व्यतिरेकी हेतु नहीं कहा जा सकता।

जैन :- यह कथन गलत है। कर्ण के छिद्र में प्रविष्ट मच्छर की गुणगुनाहट का ध्वनि जो अतिनिकट 20 है उस का प्रकाशन श्रोत्र से होता ही है, नहीं होता ऐसा नहीं। अतः श्रोत्र के दृष्टान्त में साध्य की (अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व की) निवृत्ति के साथ अतिनिकटवर्तीअर्थअप्रकाशकत्व की व्यावृत्ति भी वहाँ नियमतः है। अन्य स्पर्शनादि तीन इन्द्रियों में तो साध्यनिवृत्ति के साथ साधन की निवृत्ति निर्विवाद ही है।

[श्रोत्रेन्द्रिय अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व-वादी बौद्धमत प्रतिक्षेप]

बौद्धवादी :- चक्षु-श्रोत्र और मन के अप्राप्तार्थकारित्वप्रतिपादक हमारे शास्त्रवचन से सिद्ध है 25 कि श्रोत्रेन्द्रिय अप्राप्तार्थप्रकाशक है। अत एव श्रोत्र में ‘अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व’ साध्य की निवृत्ति के द्वारा अत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वरूप साधन की निवृत्ति पूर्वोक्त अनुमान से सिद्ध न होने पर व्यतिरेकी हेतुप्रयोग भी अयोग्य है। जैसे आत्मा के विभुपरिमाणवादी के पक्ष में जीवंत शरीरमें सात्मकत्वसाधक प्राणादिमत्त्व हेतु व्यतिरेकी नहीं है। कारण, आत्मा व्यापक होने से साध्य की निवृत्ति ही अशक्य है।

जैन :- नहीं नहीं, श्रोत्र को अप्राप्तकारि मानेंगे तो चक्षु की तरह वह भी अतिनिकटवर्तीविषय 30 का प्रकाशक नहीं हो पायेगा। प्रत्यक्ष से यह सिद्ध है कि कर्णछिद्र में अतिनिकटवर्ती मच्छर का ध्वनि श्रोत्र से स्पष्ट सुनाई देता है, अतः श्रोत्र से अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व प्रत्यक्ष से बाधित है जैसे अग्नि में अनुष्णात्।

अग्नावनुष्णत्ववत्। अथ 'दूरे शब्दो निकटे शब्दः' इति प्रतीतेः प्राप्तार्थाऽप्रकाशकम् प्राप्तार्थ-प्रकाशकं च श्रोत्रमिष्यते। न सदेतत्; यतः साकारज्ञानपक्षेऽनाकारज्ञानपक्षे वाऽयमभ्युपगमः ? इति वाच्यम्। न तावत् प्रथमः पक्षः शब्दाकारस्य ज्ञानगतस्यावभासे दूर-निकटव्यवहाराऽनुपपत्तेः, अन्यथा स्वसंवेदनाकारेऽपि तत्प्रसक्तिर्भवेदिति सर्वत्रासन्नदूरव्यवहारोऽघटमानकः स्यात्। अथाकाराधायकस्याऽऽसन्नादित्वात् तद्व्यवहारः, तर्हि परपक्षेऽप्येतदुत्तरं समानं भवेद् इति किं तत्प्रतिक्रियः ? शक्यं हि परेणाप्येवमभिधातुम्— कर्ण- 5 शष्कुल्यनुप्रविष्टस्य शब्दस्य ग्रहणेऽपि तत्प्रथमकारणस्य दूरत्वाद् दूरव्यवहारो विपर्ययत्वाच्च विपर्यय इति। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः सौगतस्याऽनभिमतत्वात्।

अथ परापेक्षयाऽप्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमित्यभिधीयते दूरादिव्यवहारात् तद्विषये चक्षुर्वत्। न, एवं परसिद्धेनानुमानेन प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थादेः चार्वाकस्योत्पत्त्यनित्यत्वादिना सुखादेरचेतनत्वप्रसाधनं सांख्यस्य चाऽनिषिद्धं भवेत्, बौद्धाभ्युपगतेनानुमानेनोत्पत्त्यादिना च तेनापि स्वाभिप्रेतसाध्यस्य साधयितुं शक्यत्वात्। 10

बौद्ध :- 'शब्द दूरवर्ती है, शब्द निकटवर्ती है' ऐसी प्रतीति सभी को होती है। इस से सिद्ध होगा कि श्रोत्र प्राप्तार्थ का अप्रकाशक और अप्राप्तार्थ का प्रकाशक है (प्राप्तार्थ का प्रकाशक है— यह अशुद्ध पाठ है।)

जैन :- यह कथन गलत है। कारण, दो प्रश्न अनुत्तर है। (१) उक्त प्रतीति साकारज्ञानपक्ष में स्वीकृत होगी या (२) निराकार ज्ञानपक्ष में ? आद्य पक्ष उचित नहीं है। साकार ज्ञान पक्ष में तो 15 शब्द ज्ञान का ही आकार है, आकार में तो दूरत्व-निकटत्व का व्यवहार संगत ही नहीं हो सकता। यदि फिर भी ज्ञानाकार में दूर-निकट व्यवहार को मान्य करेंगे तो सिर्फ शब्द में ही क्यों, ज्ञान का जो अपना संवेदनाकार है उस में भी दूर-निकट व्यवहार की आपत्ति आयेगी, फलतः बाह्य समस्त पदार्थों में दूर-निकट व्यवहार विलुप्त हो जायेगा, क्योंकि, ज्ञानाकार से ही वह व्यवहार सम्पन्न हो जायेगा।

बौद्ध :- ज्ञान का आकार बाह्यार्थसापेक्ष ही होता है, अतः आकार का मुद्रक बाह्यार्थ दूर या 20 निकट होने पर ही ज्ञान में दूरादि आकार उद्भूत होता है, इस प्रकार दूर-निकट का व्यवहार बाह्यार्थ सापेक्ष ही होता है, अतः अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व में कोई क्षति नहीं होगी।

जैन :- हमारे मत से प्राप्तार्थप्रकाशकत्व मानने पर भी इसी तरह समान उत्तर प्रस्तुत है — फिर प्राप्तार्थप्रकाशकत्व का निरसन कैसे हो सकता है ? सुनिये — हम भी कह सकते हैं, शब्द जब कर्णविवर में प्राप्त होकर प्रकाशित होता है तब उस शब्द का जो सर्वप्रथम कारणभूत शब्द 25 है वह दूर या निकट उत्पन्न होने पर प्राप्त शब्द में भी दूरत्व, निकटत्व का व्यवहार युक्तिसंगत ही है। दूसरा जो निराकार ज्ञानपक्ष है वह तो बौद्धों को भी स्वीकृत नहीं है, अतः उस पक्ष में दूरत्व निकटत्व का व्यवहार संगत हो नहीं सकता।

[अन्यमतावलम्ब से अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व साधन अनुचित]

बौद्ध :- निराकारज्ञान पक्ष यद्यपि हमें अमान्य है, फिर भी परकीय पक्ष के आलम्बन से हम 30 कहते हैं कि श्रोत्र अप्राप्तार्थप्रकाशक है क्योंकि शब्द ज्ञानाकाररूप नहीं है। एवं शब्द में निरुपचरित दूरादिव्यवहार भी चक्षु के विषय की तरह होता है।

यश्च बाणादेरागतस्य ग्रहणेऽपि दूरादिव्यवहारं प्रतिपद्यते परः स कथं तत एव त्वदीयं साध्यं प्रतिपद्येत ? यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नागतः तर्हि कथमनुवाते शब्दस्य तद्देशोत्पत्तिकस्यैव श्रवणम् प्रतिवातेऽश्रवणम् मन्दवाते मनाक् श्रवणं भवेत् ?

न च प्रतिकूलवातेन शब्दस्य नाशितत्वात् श्रोत्रस्य वाभिहतत्वात् न श्रवणम्, शब्दविनाशे
5 अनुकूलवातस्थस्यापि तदश्रवणप्रसक्तेः, शब्दस्य विनष्टत्वात्, व्यवहितदेशस्थस्य तस्य श्रोत्राभिघातहेतुत्वानुपपत्तेः, अन्यथा भस्त्रादिव्यवस्थितस्यापि तस्य तदुपघातकत्वं स्यात्। अनुकूलवातेन तस्य तं प्रति प्रेरणात् तेन तच्छ्रवणे 'प्राप्तः शब्दः श्रूयते' इति प्राप्तम्। तथापि तत्र दूरादिव्यवहारे न श्रोत्रमप्राप्तप्रकाशकमतः सिध्यतीति कथं न व्यतिरेकी हेतुः ? न च 'चक्षुः'शब्देन नायनरश्म्यभिधानादत्यासन्नप्रकाशकत्वाच्च

जैन :- यदि इस प्रकार परकीय पक्ष के द्वारा स्वमतसिद्धि करना चाहेंगे तो नास्तिक चार्वाकवादी
10 कह सकेगा — हमारे मत में अनुमान प्रमाण एवं सामान्यतत्त्व भले न हो, अन्यमतसिद्ध अनुमान के द्वारा हम ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य और सामान्यतत्त्व की व्यवस्था कर लेंगे। सांख्यवादी भी कहेगा कि हमारे सत्कार्यवाद में उत्पत्ति एवं अनित्यत्व आदि मान्य न हो, किन्तु अन्यमत सिद्ध उत्पत्ति आदि से हम सुखादि में — सुखादि अचेतन हैं क्योंकि उत्पत्तिशील एवं अनित्य है — इस प्रकार सिद्धि कर लेंगे। इस प्रकार बौद्धमतमान्य अनुमान प्रमाण एवं अनित्यत्व आदि के द्वारा चार्वाक एवं
15 सांख्यवादी अपने अपने दार्शनिक मत की सिद्धि कर सकते हैं — क्या बौद्ध इस को मान्य करेगा ? यदि नहीं, तो अन्यमत सिद्ध निराकारज्ञानवाद के द्वारा आप कैसे श्रोत्र में अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व की सिद्धि कर सकेंगे ?

दूसरी बात यह है कि जब अन्यमतवादीयों को यह मान्य है कि दूर से बाण जब अपने पास पहुँचता है (प्राप्त होता है) तब वह प्रात होने पर भी 'दूर से आया-नजदीक से आया' — ऐसा
20 व्यवहार तो होता ही है। तब दूसरे मतवादी सिर्फ दूरादिव्यवहार के थोथे आलम्बन से अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व का शब्द में स्वीकार कैसे करेंगे ?

यह भी सोचिये कि शब्द अपने उत्पत्ति देश में रहा हुआ ही (यानी अप्राप्तदशा में ही) गृहीत होता हो न कि कर्ण-छिद्र में आया हुआ; तो अपने उत्पत्तिदेश में ही रहा हुआ शब्द 'अनुकूल पवन हो तब सुनाई दे, प्रतिकूल दिशा का पवन हो तब न सुनाई दे एवं मन्द मन्द पवन दशा में मन्द
25 मन्द सुनाई दे' ऐसा कैसे हो सकता है ?

यदि कहा जाय— प्रतिकूल दिशा के वात से शब्द का नाश हो जाता है अथवा कर्ण को अभिघात पहुँचता है इस लिये शब्द नहीं सुनाई देता — तो प्रश्न है कि वही प्रतिकूल वात जिसके लिये अनुकूल है उस को वह शब्द कैसे सुनाई देगा ? जब कि वह खुद ही विनष्ट हो गया है ? कर्ण के अभिघात की बात तो नितान्त गलत है क्योंकि अप्राप्त दूर रहा हुआ प्रतिकूलवातवाला शब्द दूरवर्ती मानव
30 के श्रोत्र के अभिघात का कारण हो ही नहीं सकता। अन्यथा यदि प्रतिकूलवातदशा में दूरस्थ अथवा नष्ट शब्द से कर्णोपघात सम्भव बने तो मशक (चर्मावरण) से आवृत शब्द से भी कर्ण को उपघात हो जायेगा। यदि कर्ण के अनुकूल वात से श्रोता की ओर प्रेरित दूरस्थ शब्द से श्रोता को श्रवण

तेषाम् 'अत्यासन्नाऽप्रकाशकत्वाद्' इति हेतुरसिद्धः, तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽविषयत्वेन सद्भावाऽसिद्धेरिति प्रतिपादनात्। तदसिद्धतादिदोषविकलादतो हेतोरप्राप्तार्थ-प्रकाशकत्वं चक्षुषः सिद्धम् इति 'रूवं पुण पासइ अपुहुं तु' (आ.नि.५) इति न युक्तिविकलं वचनं। तदेवमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं प्रत्यक्षस्यासिद्धम्।

यदपि 'न त्वन्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धस्य सुखादिज्ञानोत्पत्तावसम्भवेन तस्याऽव्यापकत्वाद् अभिधानम्' (२२०-५) इति तदप्यसम्बद्धम्; यथा हीन्द्रियार्थसन्निकर्षो यथोक्तन्यायेन रूपि (?प)ज्ञानोत्पत्तौ न सम्भवीति 5 न प्रत्यक्षलक्षणम् तथाऽन्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धोऽपि, अन्तःकरणस्य परपरिकल्पितस्याऽसिद्धत्वात् तत्सम्बन्धस्य च दूरापास्तत्वात्। यथा चान्तःकरणस्याऽसिद्धिः तथा स्वनिर्णयं ज्ञानस्य साध्यदिभः प्रदर्शितम् (७३-६ तः ७४-३)। यदपि 'अव्यभिचारदिकार्यविशेषणोपादानमन्तरेण सन्निकर्षस्य साधुत्वं ज्ञानं न शक्यते' इति (२२१-५) अभिधानम् तदप्यसङ्गतम्, परपक्षेऽव्यभिचारदिधर्मोपेतस्य ज्ञानकार्यस्यैवाऽसिद्धेः कथं

हो सकता है तो मतलब यह हुआ कि वह दूरस्थ शब्द अनुकूलवात से प्रेरित हो कर कर्णछिद्र को 10 प्राप्त होता है तभी श्रवणगोचर होता है। फिर भी यदि उस में दूरत्वादि का व्यवहार होता है तो भले हो किन्तु उतने मात्र से श्रोत्र को अप्राप्तप्रकाशक सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जब इस प्रकार श्रोत्र में प्राप्तार्थप्रकाशकत्वव्याप्य अतिनिकटवर्तीअर्थप्रकाशकत्व निर्दोषतया सिद्ध है तब हमने जो पहले चक्षु में अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व सिद्ध करने के लिये 'अतिनिकट अर्थअप्रकाशकत्व' ऐसा व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग किया है वह कैसे गलत होगा ? 15

यदि कहा जाय - 'चक्षु तो 'नेत्ररश्मि' कहा गया है, वह तो अतिनिकट अर्थ का अप्रकाशक नहीं, प्रकाशक ही है, अत एव चक्षु में अतिनिकटअर्थ का अप्रकाशकत्व हेतु असिद्ध ठहरेगा।' - तो यह गलत है क्योंकि नेत्ररश्मि तो प्रत्यक्षादिप्रमाण के गोचर न होने से उन की सत्ता ही असिद्ध है - यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। सारांश, असिद्धिआदिदोषमुक्त 'अतिनिकटअर्थअप्रकाशकत्व' व्यतिरेकी हेतु से चक्षु में अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व साध्य निर्बाध सिद्ध होता है, अत एव 'रूवं पुण पासइ अपुहुं तु' यह आ० निर्युक्तिकार-वचन युक्तिशून्य नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व' लक्षण असिद्ध ठहरता है क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में उस की अव्याप्ति है। 20

[मन-इन्द्रियसम्बन्ध के असम्भव का प्रतिपादन]

नैयायिकने अपने प्र०लक्षण की चर्चा के प्रारम्भ में जो कुछ असंगत निरूपण किया है उस के प्रतिकार का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं - ऐसा जो कहा था (२१०-१०) सुखादिज्ञान की उत्पत्ति 25 में मन और इन्द्रिय के सम्बन्ध का सम्भव न होने से वह व्यापकरूप में लक्षण नहीं बन सकता - वह निरर्थक है। वस्तुगत तथ्य यह है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ऊपर कथित युक्तिसंदर्भ से रूपज्ञानोत्पत्ति के प्रति सम्भव नहीं है अत एव वह जैसे 'लक्षण' नहीं हो सकता, उसी तरह अन्तःकरण-इन्द्रियसम्बन्ध भी 'लक्षण' नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायमतकल्पित मन (= अन्तःकरण) की सत्ता ही असिद्ध है फिर उस के सम्बन्ध की बात ही कहाँ ? ज्ञान की स्वप्रकाशकता की सिद्धि के पूर्वोक्त (७३-२२ 30 तः ७४-१६) प्रकरण में मन की असिद्धि कैसे है यह कहा जा चुका है।

यह जो कहा था (२२१-२५) - फलभूत प्रत्यक्ष के अव्यभिचार आदि विशेषणों के प्रयोग के

ततः संनिकर्षस्य साधुत्वावगमः ? कार्यत्वानवगमश्च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमे ज्ञानान्तरप्रत्यक्ष-
तायामनवस्थादिदोषोपपत्तेः प्राक् प्रतिपादनात्। यच्च 'अर्थग्रहणं स्मृतिफलसंनिकर्षनिवृत्त्यर्थम्' इत्युक्तम्
(२२२-४) तदप्यसङ्गतम्, स्मृतिवद् ज्ञानस्याप्यर्थजन्यत्वाऽसिद्धेः तज्जन्यत्वात् तस्य तद्ग्राहकत्वे समान-
समयचिरातीतानागतार्थग्राहकत्वं तस्य न स्यात् तथाभूतस्यार्थस्य तत् प्रत्यजनकत्वात्, तथा च सर्वज्ञज्ञानं
5 सकलपदार्थग्राहकं न भवेदिति प्राक् प्रतिपादितम्।

यदपि 'ज्ञानग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थम्' इति (२२२-६) प्रतिपादितम्— तदप्यसङ्गतम्, सुखादेर्ज्ञान-
रूपत्वाऽनतिक्रमात्, अन्यथा आह्लादाद्यनुभवो न स्यात् तद्ग्राहकस्यापरस्यानुभवस्यानवस्थादिदोषतो
निषिद्धत्वात्। यदपि भिन्नहेतुकत्वं सुखादेः प्रतिपादितम् (२२३-५) तदपि सुखत्वादेः सामान्यस्याऽसिद्धेः
असङ्गतम्।

- 10 विना संनिकर्ष की यथार्थता का ज्ञान ही अशक्य है — वह भी संगत नहीं है, क्योंकि न्यायमत
में अव्यभिचारादिविशेषणयुक्त ज्ञानात्मक कार्य भी असिद्ध है, फिर उस से संनिकर्ष की यथार्थता का
समर्थन ही कैसे होगा ? जब तक न्यायवादी ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं स्वीकारता, ज्ञानान्तर से (पर)प्रकाश्य
मानता है तो वहाँ अनेक अनवस्था आदि दोष पूर्वग्रन्थ में (पृ०६५ से ८२) कहे जा चुके हैं, फलतः
ज्ञान का खुद का स्वरूप ही अनिश्चित होने पर उस में कार्यता का बोध भी कैसे होगा ? फलतः
15 अव्यभिचारादि विशेषण भी संगत कैसे होगा ?

यह जो कहा था — स्मृतिरूप फल के जनक अन्तःकरण (रूप इन्द्रिय) और आत्मा इन दोनों
का जनक जो संनिकर्ष है उस में से प्रत्यक्षत्व की व्यावृत्ति करने के लिये 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष' शब्दावली
में 'अर्थ' शब्द का ग्रहण किया है... इत्यादि (२२२-२९) वह भी असंगत है क्योंकि स्मृति में अर्थजन्यत्व
असिद्ध है तो न्यायमत में ज्ञान में भी अर्थजन्यत्व कहाँ घटता है ? अभी तो कह आये कि न्यायमत
20 में ज्ञान में कार्यत्व ही संगत नहीं है। दूसरी बात यदि अर्थजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष को अर्थग्राहक
कहेंगे तो चिरदिनष्ट, एवं अनागत अर्थ की ग्राहकता प्रत्यक्ष में घट नहीं सकेगी, क्योंकि वे दोनों
असत् होने से वे प्रत्यक्ष के जनक नहीं बन पायेंगे। फलतः, सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सकलार्थजन्य
न होने से सकलार्थग्राही नहीं बन सकेगा। पहले यह प्रतिपादन किया जा चुका है।

यह जो कहा था (२२२-३२) — प्रत्यक्ष के लक्षण में 'ज्ञान' पद की योजना न की जाय तो
25 सुखादि में अतिव्याप्ति होगी — यह भी असंगत है। कारण, सुखत्वादि ज्ञान की ही अन्तर्गत जातियाँ
होने से ज्ञान सुखादिरूप ही होता है (इसी लिये तो अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन को क्रमशः सुख और
दुःख माना गया है।) यदि सुखादि को ज्ञानमय नहीं मानेंगे तो आह्लादादिमय जो अनुभूति होती
है वह नहीं घट सकेगी। प्रत्युत, सुखादि के ग्राहक अनुभव को भिन्न मानने पर, उस के भी ग्राहक
अपर अपर ज्ञान के स्वीकार में अनवस्था आदि दोषप्रवेश होगा। अत एव सुखादि की ज्ञानभिन्नता
30 का निषेध किया गया है।

यह जो कहा था — सुखादि अदृष्टजन्य होने से ज्ञानभिन्न है और सुखादि पदार्थ समानजातीय
से ही उत्पन्न होते हैं... इत्यादि (२१२-२२) वह भी असङ्गत है क्योंकि सामान्य का निषेध किया

यश्च प्रत्यक्षविरोधः प्रतिपादितो ज्ञानसुखयोरेकत्वे— 'ज्ञानमर्थावबोधस्वभावं सुखादिकमाह्लादादिस्वभावं ततो भिन्नमध्यक्षतोऽनुभूयते' इति सोऽप्यनुपपन्नः। यतः स्वभावबोध एव विज्ञाने अव्यभिचरितो धर्मः स्मरणादौ ज्ञानरूपतायामप्यर्थावबोधरूपताया अभावात्। एतच्च 'अर्थोपलब्धि'.... (४९-६) इति विशेषणमुपाददता प्रमाणे परेणाऽभ्युपगतमेव। स्वावबोधरूपता तु ज्ञानाऽव्यभिचारिता सुखादावप्यस्ति अन्यथा तस्यानुभव एव न स्याद् इति प्रतिपादितम्, ततश्च सुखादेर्ज्ञानरूपतायां कथमध्यक्षविरोधः ? 5 अदृष्टविशेषप्रभवत्वेन च सुखादेर्भेदे सुरूपज्ञानस्य विरूपज्ञानाद् ज्ञानरूपतया भेदो भवेत् अदृष्टविशेषजन्यताया अविशेषात्। तत्र सुखादिव्यवच्छेदार्थं ज्ञानपदोपादानं युक्तम्।

'अव्यपदेश्य'पदोपादानमप्यनर्थकम् व्यवच्छेद्याभावात्। 'उभयजं ज्ञानं व्यवच्छेद्यम्' इति चेत् ? न, तस्याध्यक्षतायां दोषाभावात्। अथ शब्दजत्वात् तस्य शाब्देऽन्तर्भावः। नन्वक्षजत्वादध्यक्षे किमिति नान्तर्भावः ? 'शब्दस्य तत्र प्राधान्याच्छाब्दं तद्' इति चेत् ? न, अक्ष-लिङ्गातिक्रान्ते एव शब्दस्य प्राधान्येन व्यापारोपगमात्। 10 जा चुका है, तदन्तर्गत सुखत्वजाति का भी निषेध हो जाता है।

[ज्ञान और सुख के एकत्व में प्रत्यक्षविरोध का परिहार]

नैयायिकों ने जो ज्ञान-और-सुख के एकत्व के विरुद्ध ऐसा कहा था कि — उस में प्रत्यक्षविरोध है क्योंकि ज्ञान का स्वभाव अर्थबोधात्मक है सुखादि का स्वभाव आह्लादादिरूप है — उस प्रकार उन दोनों का स्वभावभेद प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है — वह भी युक्तिहीन है। कारण, अर्थावबोध नहीं किन्तु 15 स्व का (खुद का) बोध ही ज्ञान का अव्यभिचरित यानी असाधारण धर्म है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञानों में आपने ही पहले प्रत्यक्षलक्षण की व्यावृत्ति के लिये अर्थस्पर्शित्व का निषेध किया है हालाँकि वहाँ ज्ञानरूपता तो अक्षुण्ण है। आपने यह भी पहले कहा है कि 'अर्थोपलब्धिजनक सामग्री प्रमाण है' (४९-२०) तो इस प्रकार विशेषण के रूप में अर्थोपलब्धि का कथन करते हुए एवं स्मृति में अर्थग्राहकता का निषेध करते हुए उपरोक्त तथ्य का स्वीकार किया ही है। सुखादि में, स्वावबोधरूपता 20 जो कि ज्ञान की अव्यभिचरितारूप है, अक्षुण्ण है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उस का (सुखादि का) अनुभव ही लुप्त हो जायेगा यह पहले भी कहा जा चुका है। फिर सुखादि में स्वभावभेद का आभास खडा कर के प्रत्यक्षविरोध की बात कितनी विश्वसनीय ?

यदि अदृष्टविशेषजन्य होने से सुखादि को ज्ञानभिन्न ही माना जाय तो विरूपज्ञान से पृथक् सुरूपज्ञान भी, ज्ञानरूपता दोनों में होने के बावजूद भी भिन्न मानना पड़ेगा क्योंकि वह भी सुखादि 25 की तरह अलग ही प्रकार के अदृष्ट से (पुण्य से) उत्पन्न होता है, जहाँ सुखादि एवं सुरूपज्ञान में अदृष्टविशेषजन्यता समान है। फलतः, सुरूपज्ञान ज्ञानरूपतया भिन्न यानी ज्ञान से भिन्न मानना पड़ेगा। फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष के लक्षण में सुखादि की व्यावृत्ति के लिये ज्ञानपद का ग्रहण युक्तिरहित है।

[प्रत्यक्ष के न्यायदर्शनीय लक्षण में 'अव्यपदेश्यपद की व्यर्थता]

नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के लक्षण में जो 'अव्यपदेश्य' पद रखा है वह भी उस का कोई व्यवच्छेद्य 30 न होने से निरर्थक है। यदि कहें कि — जो प्रत्यक्ष-शब्दउभयसामग्रीजन्य ज्ञान है वही इस का व्यवच्छेद्य है — तो वह गलत है क्योंकि उभयसामग्रीजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है। शब्दजन्य

अथोभयजज्ञानविषयस्यापि तदतिक्रान्तत्वम् तर्हि अव्यपदेश्यपदोपादानमन्तरेणापि शाब्दे एव तस्याऽन्तर्भावो भविष्यतीति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यपदेश्यपदोपादानमनर्थकम् । अथोभयजत्वादस्य प्रमाणान्तरत्वं स्याद् असति अव्यपदेश्यग्रहणे । न, अक्षप्राधान्ये प्रत्यक्षता शब्दप्राधान्ये तु शाब्देति कथं प्रमाणान्तरता ? न चोभयोरपि प्राधान्यम् सामग्र्यामेकस्यैव साधकतमत्वात् तेनैव च व्यपदेशप्राप्तेः ।

- 5 यदपि 'व्यभिचारिज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदमुपात्तम्' तदप्युक्तम्, तत्रप्रतिपाद्यस्यार्थस्य परमतेनाऽसङ्गतेः । तथाहि— अदुष्टकारणप्रभवत्वं बाधारहितत्वं वा अव्यभिचारित्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यावगमव्यतिरेकेण न ज्ञातुं शक्यमिति स्वतःप्रामाण्यनिराकरणप्रस्तावे प्रतिपादितमिति (प्र०खंडे पृ० ३६ तः ६६) प्रवृत्तिसामर्थ्यमेवाऽव्यभिचारित्वम् । तच्च विषयप्राप्त्या विज्ञानस्याऽव्यभिचारित्वं ज्ञायमानं किं ^Aप्रतिभातविषयप्राप्त्याऽवगम्यते

- होने से उस का अन्तर्भाव शाब्द में किया जाय तो इन्द्रियजन्यत्व के कारण प्रत्यक्ष में उस का अन्तर्भाव क्यों न होगा ? शब्द की प्रधानता सोच कर उसे 'शाब्दबोध' रूप मानना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय एवं लिङ्ग का जहाँ योगदान न रहे वहाँ ही शब्द की प्रधानरूप से सक्रियता होती है, यहाँ तो इन्द्रिय का योगदान होने से शब्द की प्रधानता नहीं हो सकती । यदि इन्द्रियशब्दोभयजन्य ज्ञान के विषय को भी आप इन्द्रियातीत मानेंगे तो वहाँ इन्द्रियव्यापार के न होने से अव्यपदेश्य पद न होने पर भी अपने आप ही उस का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में न हो कर शाब्दबोध में हो जाने से 'अव्यपदेश्य' पद की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती ।

नैयायिक :- "उभयजन्यता के जरिये उस ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानना पड़ेगा यदि 'अव्यपदेश्य' पद नहीं कहा जायेगा — 'अव्यपदेश्य' पद के रहने से स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ शब्दजन्यता (व्यपदेश्यता) के कारण उस का अन्तर्भाव शाब्द में है ।"

- जैन :-** जब इन्द्रिय के प्राधान्य की विवक्षा होगी तब प्रत्यक्ष में एवं शब्द की प्रधानता की विवक्षा करेंगे तब शाब्द में — इस प्रकार दोनों में अन्तर्भाव शक्य है तब प्रमाणान्तरता (स्वतन्त्र प्रमाण) की कल्पना को अवकाश ही कहाँ है ? दोनों की प्रधानता भी नहीं हो सकती क्योंकि किसी भी प्रमाण की सामग्री में किसी एक ही कारण में (प्रमा का)साधकतमत्व हो सकता है अतः साधकतमत्वरूप प्राधान्य किसी एक में ही शक्य है । जिस का प्राधान्य होगा उसी प्रमाण का व्यवहार प्राप्त होगा ।

[प्रत्यक्षलक्षणगत 'अव्यभिचारि' पद की समीक्षा]

- 25 नैयायिकों ने व्यभिचारिज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति को टालने के लिये जो अव्यभिचारि-पद का प्रयोग किया है वह भी अयुक्त है । कारण, अव्यभिचारि पदार्थ ही न्यायमत में संगत नहीं होता । देखो अव्यभिचारित्व का अर्थ यदि निर्दोषकारणजन्यत्व अथवा बाधारहितत्व करेंगे तो उस का बोध, कार्योत्तरकाल में समर्थ (संवादी) प्रवृत्ति के जनकत्वरूप सामर्थ्य के अवबोध के विना शक्य नहीं हो सकता । प्रथम खण्ड में (पृ०३६ से ६६) स्वतःप्रामाण्यवादनिषेधप्रकरण में यह तथ्य कहा जा चुका है । जब प्रवृत्तिसामर्थ्य से ही अव्यभिचारित्व ज्ञात होता है तब यही कहो कि प्रवृत्तिसामर्थ्य ही अव्यभिचारित्व है । यह प्रवृत्तिसामर्थ्यरूप विज्ञान का अव्यभिचारित्व, विषय की उपलब्धि से जब ज्ञात होगा तब क्या वह ^Aविज्ञानावभासित विषय की प्राप्ति से ज्ञात होगा या ^Bविज्ञान में अभासित

^Bआहोस्विदप्रतिभातविषयप्राप्त्या ? ^Aयदि प्रतिभातविषयप्राप्त्या, ^Bतदोदकज्ञाने किमुदकावयवी प्रतिभातः प्राप्यते उत ^Bतत्सामान्यम् ^Cआहोस्विदुभयमिति पक्षाः।

तत्र यद्यवयवी प्रतिभातः प्राप्यते इति पक्षः, स न युक्तः अवयविनोऽसत्त्वेन प्रतिभासं प्रति विषयत्वाऽसम्भवात्। सत्त्वेऽपि न तस्य पराभ्युपगमेन प्रतिभातस्य प्राप्तिः झषादिविवर्तनाभिघातोपजाता-वयवक्रियादिक्रमेण ध्वंससंभवात्। अथाऽवस्थितव्यूहैरवयवैरारब्धस्य तस्य तज्जातीयतया प्रतिभातस्यैव 5 प्राप्तिः। नन्वेवमप्यन्यः प्रतिभातोऽन्यश्च प्राप्यते इति कथं तदवभासिनो ज्ञानस्याऽव्यभिचारिता ? न ह्यन्यस्य प्रतिभासनेऽन्यत्र प्राप्तावव्यभिचारिता, अन्यथा मरीचिकाजलप्रतिभासे दैवात् सत्यजलप्राप्तौ तदवभासिनः तस्याऽव्यभिचारिता भवेत्। न च तद्देशजलप्रापकस्याऽव्यभिचारितेति नायं दोषः। यतो देशस्यापि भास्कर-करानुप्रवेशादिनाऽवयवक्रियाक्रमेण नाशात् तत्त्वानुपपत्तिः। न चैवमव्यभिचारवादिनश्चन्द्रार्कादिज्ञानं विनश्य-

विषय की प्राप्ति से ? ये दो विकल्प प्रश्न हैं। (A) यदि पहला विकल्प, विज्ञानावभासित विषय 10 की प्राप्तिवाला स्वीकारेंगे तो यहाँ भी तीन विकल्प प्रश्न ऊठेंगे, ^Bजलज्ञान में भासित होनेवाला जलस्कन्ध (यानी व्यक्तिविशेष) ही प्राप्त होगा ? या ^Bजलसामान्य प्राप्त होगा ? ^C अथवा विशेष-सामान्य उभय प्राप्त होंगे ? ^Bप्रथम विकल्प संगत नहीं है, क्योंकि वहाँ यदि जलस्कन्ध भासित एवं प्राप्त होता है तो वह इसलिये सच्चा नहीं है चूँकि अवयवी ही असिद्ध है अतः वह किसी भी प्रतिभास का विषय ही नहीं बनता। कदाचित् अवयवी सिद्ध हो जाय तो भी सरोवर में जिस जलावयवी को देखा था 15 उस की प्राप्ति अशक्य है, क्योंकि दर्शन के बाद उस सरोवर में मगर-मत्स्यादि की हिलचाल से उन के पुच्छाभिघात से उत्पन्न अवयवकम्पनों से क्रिया-विभाग इत्यादि क्रम से पूर्वदृष्ट अवयवी के प्राप्तिकाल के पहले ही ध्वंस हो जायेगा, ध्वस्त अवयवी की प्राप्ति कैसे होगी ?

यदि कहा जाय कि — 'पूर्वदृष्ट अवयवी के ध्वंस के बाद तुरन्त ही उसी विद्यमानव्यूह वाले अवयवों से जो समानजातीय नया अवयवी उत्पन्न होगा जो कि पूर्वजातीय के रूप में प्रतिभात ही 20 है उस की प्राप्ति हो सकती है' — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पूर्वविज्ञानभासित विषय व्यक्ति अन्य है और प्राप्त तज्जातीय विषयव्यक्ति अन्य है, तब विषयावभासि पूर्वज्ञान को अव्यभिचारि कैसे माना जाय? विषयभिन्नता के बावजूद भी यदि आप उसे अव्यभिचारि मानेंगे, तो मरुमरीचिका में जलप्रतिभास के बाद दैवयोग से यदि किसी को सत्य जल की प्राप्ति हो गयी तो मिथ्याजलावभासि ज्ञान भी अव्यभिचारि मानना पड़ेगा। यदि कहें कि — 'जिस देश में जलावभास' हुआ था उसी देश 25 में (न कि वही) जल का प्राप्तिकारक होने के कारण उस विज्ञान (जलभ्रम) को अव्यभिचारि मानने में कोई पूर्वोक्त दोष सावकाश नहीं है क्योंकि देश (आधार) रूप विषय एक ही है।' — तो यह भी गलत है क्योंकि सूर्यकिरणों के अनुप्रवेश से (जैसे आप काँच का नाश मानते हैं वैसे) उस देश के अवयवों में संजात क्रिया से विभागादि क्रम से उस देश का भी प्राप्तिकाल में नाश हो चुका है फिर एक ही आधार-देश की प्राप्ति कैसे सम्भव होगी ? विचारणीय तथ्य यह है कि यदि विषयप्राप्ति 30 को अव्यभिचारिता का मूल कहेंगे तो सूर्य-चन्द्र के ज्ञान के उत्तरकाल में कभी भी सूर्य-चन्द्र की प्राप्ति न होने से सूर्यज्ञान या चन्द्रज्ञान कैसे भी अव्यभिचारि नहीं बन सकेगा। एवं नाशप्रक्रियाधीन

दवस्थपदार्थोत्पादितत्वा(दितं वा) तदव्यभिचारि भवेत्।

- अथ ^bप्रतिभातोदकसामान्यप्राप्त्या तदव्यभिचारीति पक्षः। सोऽप्ययुक्तः, एकान्ततो व्यक्तिभ्यो भिन्नस्या-
 5 ऽभिन्नस्य वा सामान्यस्याऽसत्त्वेन प्रतिभासप्राप्त्यालम्बनत्वाऽयोगात्। सत्त्वेऽपि तस्य नित्यतया स्वप्रति-
 भासज्ञानजनकत्वाऽयोगादजनकस्य च परेण ज्ञानविषयत्वाऽनभ्युपगमात्। ज्ञानविषयत्वेऽपि तस्य पानावगा-
 10 हनाद्यर्थक्रियाऽनिर्वर्तकत्वान्नार्थक्रियार्थिनां तज्ज्ञानात् जलाद्युपादानार्था प्रवृत्तिर्भवेत्। न च समवायात्
 सामान्यावगमेऽपि व्यक्तावर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः अन्यप्रतिभासे अन्यत्र प्रवृत्त्ययोगात्। योगे वाऽतिप्रसङ्गात्।
 न च समवायस्यातिसूक्ष्मतया जाति-व्यक्त्योरेकलोलीभावेन जातिप्रतिपत्तावपि भ्रान्त्या व्यक्तौ प्रतिपत्तिः,
 तज्ज्ञानस्याऽतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तिरूपत्वादव्यभिचारित्वाऽयोगात्। न च समवायोऽपि जातेर्व्यक्तौ
 15 सम्भवति। सम्भवेऽपि तस्य व्यापितया सर्वत्रैकस्य प्रतिनियतव्यक्तिप्रवृत्तिनिमित्तत्वाऽनुपपत्तिः। न च
 20 नित्यस्य तस्य ज्ञानजनकत्वमपि सम्भवतीति स्वग्राहिणि ज्ञाने अप्रतिभासमानस्य कथं भ्रान्तिहेतुतापि तस्य
 पदार्थ के ज्ञान के बाद उस पदार्थ का नाश हो जाने के कारण, उस की प्राप्ति शक्य न होने से
 वह भी अव्यभिचारि नहीं हो सकेगा।

[प्रतिभासितजलसामान्यप्राप्ति का असम्भव]

- अब यदि ^aउदकावयवी पक्ष छोड़ कर ^bउदकसामान्य का पक्ष लेकर कहा जाय — ‘अवभासितजलसामान्य
 15 की प्राप्ति से ज्ञान की अव्यभिचारिता निश्चित की जाती है’ — तो यह पक्ष भी गलत है। कारण,
 व्यक्ति से एकान्त (सर्वथा) भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न सामान्य असिद्ध होने से न तो वह प्रतिभास
 का विषय हो सकता है न तो प्राप्ति का। कदाचित् सामान्य की सत्ता स्वीकृत करें तो भी वह
 नित्य होने से अपने प्रतिभासज्ञान का जनक न होने से वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता
 क्योंकि आप की ही मान्यता है कि जो ज्ञान का जनक नहीं होता वह उस का विषय नहीं होता।
 20 कदाचित् फिर भी उस को ज्ञान का विषय मान लिया जाय तो भी नित्य जलसामान्य के द्वारा जलपान-
 जलावगाहन आदि अर्थक्रिया सम्पन्न न हो सकने से जलपानादि चाहकों की वहाँ जलसामान्यज्ञान से
 (नित्य सामान्य में) जलपानादि के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसा भी शक्य नहीं है कि समवाय सम्बन्ध
 से नित्य सामान्य का बोध होने के बाद व्यक्ति रूप जल के प्रति जलपानादि चाहकों की प्रवृत्ति
 हो जाय। कारण, अन्य (एक) वस्तु (घटादि) का प्रतिभास होने पर अन्य (पटादि) वस्तु के लिये
 25 प्रवृत्ति होना युक्तिसंगत नहीं है। यदि वैसा शक्य होता तो किसी भी वस्तु के ज्ञान से किसी भी
 वस्तु के प्रति प्रवृत्ति हो जाने का अतिरेक प्रसक्त होगा।

- यदि कहा जाय — ‘जाति-व्यक्ति का सम्बन्ध समवाय अति सूक्ष्म (यानी नहींवत्) है। अतः जाति
 और व्यक्ति अत्यन्त मिले-धूले रहते हैं। इस लिये जाति का बोध होने पर भी भ्रान्ति से व्यक्ति के
 लिये प्रवृत्ति हो जायेगी।’ — यह भी गलत है क्योंकि पुरोवर्त्ती जातिपदार्थ जो कि अव्यक्तिरूप है
 30 उस में व्यक्तिरूप से व्यक्ति का ग्रहण होना, यह तो भ्रान्तिरूप है, भ्रान्तिज्ञान में ‘अव्यभिचारिता’ सम्भव
 ही नहीं है तब ज्ञान के लक्षण में अव्यभिचारिता का समर्थन कैसे हो पायेगा ?

[जातिवाद में अनेक दोष]

दूसरी बात यह है, जाति का व्यक्ति में समवायसम्बन्ध भी अघटित है। कदाचित् सुघटित हो,

सम्भवति ? प्रतिभासनेऽपि स्वरूपेण प्रतिभासनात् कथं भ्रान्तिनिमित्तता ? न च सामान्यस्य प्रतिपत्तौ सामान्यसाध्यार्थक्रियार्थितया तदर्थिनां प्रवृत्तिः, ज्ञानाभिधानलक्षणायास्तदर्थक्रियायास्तदैव निष्पत्तेः। व्यापकत्वाच्च सामान्यस्य न प्रतिनियतदेशकालप्रवृत्तिविषयतेति प्रवृत्त्यभावात् न तत्सामर्थ्यम्, तदभावाद् न तदवभासिनो ज्ञानस्याऽव्यभिचारितावगतिः।

अथ प्रतिभाततद्वदर्थप्राप्त्या तदव्यभिचारित्वमिति पक्षः। सोऽप्यसङ्गतः अवयवि-सामान्ययोरभावे 5 तद्व्यपक्षस्य दूरापास्तत्वात्। अथ प्रतिभातावयवप्राप्त्या तस्याऽव्यभिचारिता। न, अवयवानामपि द्व्यणुकं यावदवयवित्वात् परमाणूनां चाऽर्वाग्दर्शनेऽप्रतिभासनाद् न कथंचित्प्रतिभातार्थप्राप्त्या ज्ञानस्याऽव्यभिचारितासम्भवः।

तब भी वह तो व्यापक और एक है अतः सभी व्यक्ति के साथ साधारण है, तो फिर किसी एक ही नियत व्यक्ति में प्रवृत्ति का वह निमित्त कैसे माना जाय ? जब वह भी नित्य है तब (पूर्वोक्त 10 युक्ति अनुसार) वह ज्ञानजनक एवं ज्ञानविषय भी नहीं बन सकता। फिर स्वग्राहकरूप से अभिमत ज्ञान में न भासनेवाले समवाय को भ्रान्ति का निमित्त कैसे माना जा सकता है ? भासेगा तो भी वह अपने स्वरूप से ही भासित होगा न कि भ्रान्तिजनकरूप से, तो उसे भ्रान्ति का निमित्त क्यों मानेंगे ?

यदि कहें — 'जलसामान्य का बोध होने पर जलपानादि अर्थक्रिया भले सिद्ध न हो, सामान्यमात्रसाध्य 15 अर्थक्रिया तो होगी न ? उस के लिये उन के अर्थियों की प्रवृत्ति भी हो सकेगी।' — तो यह भी गलत है। कारण, सामान्यमात्र की साध्य दो ही अर्थक्रियाएँ हैं, स्वविषयक बोध एवं स्वप्रतिपादक नामप्रयोग। ये दो अर्थक्रिया तो उस के अर्थी की प्रवृत्ति के पहले ही सिद्ध हो जाती है। देखिये, अर्थी की प्रवृत्ति के पहले ही उस का बोध तो हो ही जाता है, और उस के बाद दूसरे को दिखाने के लिये उस का नामाभिधान भी हो ही जाता है। अब तीसरी कौन सी अर्थक्रिया शेष रही जिस में अर्थक्रियार्थी की प्रवृत्ति का सम्भव रहेगा ? यह भी जान लो कि सामान्य भी व्यापक होने से नियतरूप से एक प्रदेश 20 में और एक ही काल में वह प्रवृत्ति का विषय (यानी लक्ष्य) कैसे हो सकता है ? मतलब कि वहाँ अर्थी की नियत प्रवृत्ति शक्य न होने से, मानना पड़ेगा कि सामान्य अर्थक्रियाकारकसामर्थ्य से शून्य है। इस प्रकार, शक्तिहीन होने से सामान्यावभासि ज्ञान में अव्यभिचारिता का निर्णय असिद्ध है।

पहले जो तीन विकल्प (a-b-c) प्रतिभात विषय के बारे में कहे गये हैं — उन में से दो विकल्प का निरसन करने पर जो तीसरा विकल्प 'उभयपक्षवाला उल्लिखित किया गया था, अब उस 25 के संदर्भ में पूर्वपक्षी यदि कहेगा — 'प्रतिभात तो सामान्य ही है लेकिन प्राप्ति प्रतिभातसामान्य विशिष्ट व्यक्ति की होती है, यही ज्ञान की अव्यभिचारिता कही जायेगी।' — यह भी गलत है, क्योंकि न तो सामान्य सिद्ध है, न तो तद्वान् अवयवी सिद्ध है। इस लिये तद्वान् की प्राप्ति-रूप अव्यभिचारित्ववाला पक्ष तो डर का मारा दूर ही भाग जायेगा। यदि कहा जाय (a-b-c विकल्प उपरांत) — 'अवयव तो सिद्ध है, प्रतिभासित अवयवों की प्राप्ति से हम ज्ञान की अव्यभिचारिता जाहीर करेंगे।' — तो 30 यह भी असंगत है। कारण... द्व्यणुकपर्यन्त अवयव भी आखिर तो अवयवी ही है जो कि असिद्ध है। शेष बचे परमाणु, वे तो छद्मस्थ (सतहदर्शी) के ज्ञान से भासित ही नहीं हो सकते। तीनों

क्रिञ्च, प्रवृत्तिसामर्थ्येनाऽव्यभिचारिता पूर्वोदितज्ञानस्य किं ^Aलिङ्गभूतेन ज्ञायते ^Bउताऽध्यक्षरूपेण ? यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, तेन सह सम्बन्धानवगतेः। अवगतौ वा न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रयोजनम्। अथ द्वितीयः, सोऽपि न युक्तः, ध्वस्तेन पूर्वज्ञानेन सह इन्द्रियस्य संनिकर्षाभावात् तद्विषयज्ञानस्याध्यक्षफलतानुपपत्तेः। केशोन्दुकादिज्ञानवत् तस्य निरालम्बनत्वाच्च कथमव्यभिचारिताव्यवस्थापकत्वम् ? न चाऽविद्यमानस्य

5 कथंचिद्विषयभावः सम्भवति जनकत्वाऽऽकारार्पकत्व-महत्त्वादिधर्मोपेतत्व-सहोत्पाद-सत्त्वमात्रादीनां विषयत्वहेतुत्वेन परिकल्पितानामसति सर्वेषामभावात्। अथात्मान्तःकरणसम्बन्धेनाऽव्यभिचारिताविशिष्टज्ञानमुत्पन्नं गृह्यत

पक्ष की चर्चा का एक ही निष्कर्ष है — प्रतिभासित अर्थ की प्राप्ति के द्वारा ज्ञान में अव्यभिचारित्व का किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। (इस प्रकार मूल विकल्प A का निरसन पूर्ण हुआ। अप्रतिभात विषय की प्राप्ति से ज्ञान की अव्यभिचारितारूप दूसरा मूल विकल्प B तो अत्यन्त असम्भवप्रस्त है

10 यह स्वयं ही समझ लेना। कारण, जब प्रतिभात विषय की प्राप्ति से भी ज्ञान का अव्यभिचारित्व संगत नहीं होता तो अप्रतिभातविषय की प्राप्ति से तो कैसे संगत होगा ?)

[प्रवृत्तिसामर्थ्य के द्वारा अव्यभिचारिता का बोध कैसे ?]

एक और बात है — पहले कह चुके हैं कि ज्ञान का अव्यभिचारित्व, प्रवृत्तिसामर्थ्य का बोध न होने पर अवगत नहीं हो सकता। (पृ०३०४-पं०६) अब यहाँ भी जाँच करो, ^Aपूर्वकालीन ज्ञान

15 का प्रवृत्तिसामर्थ्य लिङ्ग बन कर लिङ्गीअव्यभिचारित्व का बोध करायेगा ? या ^Bअध्यक्षरूप से ज्ञात प्रवृत्तिसामर्थ्य से अव्यभिचारित्व का बोध होगा ?

^Aप्रथम पक्ष इस लिये अयुक्त है कि ज्ञान के अव्यभिचारित्व के साथ प्रवृत्तिसामर्थ्य का व्याप्तिरूप सम्बन्ध किसी प्रत्यक्षादि से उपलब्ध नहीं है। यदि वह सम्बन्ध उपलब्ध है तो जिस प्रमाण से अव्यभिचारित्व के साथ सम्बन्ध का ग्रह होगा उसी प्रमाण से अव्यभिचारित्व की भी उपलब्धि हो

20 जाने से, प्रवृत्तिसामर्थ्यात्मक लिंग का अभी कोई प्रयोजन ही नहीं रहा।

^Bद्वितीय पक्ष इसलिये अनुचित है कि पूर्वज्ञान तो वर्तमान में विनष्ट हो जाने से उस के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष सम्भव न होने से पूर्वज्ञान के प्रवृत्तिसामर्थ्य का अध्यक्ष सम्भव ही नहीं है। अत एव पूर्वज्ञान विषयक (प्रवृत्तिसामर्थ्यग्राहक) ज्ञान में अध्यक्षप्रमाणजन्य फलत्व संगत नहीं होगा। यह भी प्रश्न खड़ा है कि अतीत ज्ञान तो असत् होने से वर्तमान अध्यक्ष ज्ञान का वह विषय

25 ही नहीं हो सकता, अत एव वर्तमान अध्यक्ष निर्विषयक है जैसे केशोन्दुकादि असद्भासि ज्ञान, ऐसा निर्विषयक अध्यक्ष पूर्वज्ञान की अव्यभिचारिता की सत्यता कैसे भासित कर सकेगा ?

[सत्य वस्तु पाँच प्रकार से विषय बनेगी]

जो वस्तु ही असत् है वह किसी भी प्रकार से ज्ञानादि के विषयभाव को प्राप्त नहीं हो सकती। कोई भी वस्तु निम्नोक्त (पाँच) प्रकार से ही ज्ञानादि के विषय बन सकती है १ वस्तु अपने आकार

30 को ज्ञान में मुद्रित करे (स्व आकार अर्पकत्व) २ अथवा वस्तु उस ज्ञान को उत्पन्न करे (तज्जनकत्वरूप से) ३ अथवा वस्तु महत्त्वादि धर्म से युक्त होने के कारण अध्यक्षयोग्यता प्राप्त करे, ४ अथवा वस्तु अपनी उत्पत्ति के साथ साथ (स्वविषयक) ज्ञान को भी उत्पन्न करे, ५ सिर्फ अपनी सत्ता मात्र से

इति तदव्यभिचारितावगमः; नन्वत्राप्यव्यभिचारित्वं किं ^Aज्ञानधर्मः उत ^Bतत्स्वरूपम् ? यदि तद्धर्मः तदा न नित्यः सामान्यदूषणेनापोदितत्वात्। अनित्योऽपि यदि ज्ञानात् प्राक् उत्पन्नः तदा न तद्धर्मः धर्मिणमन्तरेण तस्य तद्धर्मत्वाऽयोगात्। सहोत्पादेऽपि तादात्म्य-तदुत्पत्ति-समवायादिसम्बन्धाभावे 'तस्य धर्मः' इति व्यपदेशानुपपत्तिः। पश्चादुत्पादे पूर्वं व्यभिचारि तद् ज्ञानं स्यात्।

किञ्च, अव्यभिचारितादिको धर्मो ज्ञानाद् ^Aव्यतिरिक्तो ^Bअव्यतिरिक्तो वा ? यदि ^Aव्यतिरिक्तः तदा 5 तस्य ज्ञानेन सह सम्बन्धो वाच्यः। स न समवायलक्षणः तस्याऽसिद्धेः। सिद्धौ अपि ज्ञानस्य धर्मतया अव्यभिचारितादिधर्माधिकरणताऽयोगात् धर्माणां धर्माधिकरणताऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा तस्यापि धर्मिरूपताप्रसक्तिः। अथ समानधर्माधिकरणता धर्माणां नाभ्युपगम्यते, विजातीयधर्माधिकरणता त्विष्यत ही वह ज्ञान को प्रभावित कर के विषय बन जाय। लेकिन पाँचो ही प्रकार से सद्द्वस्तु ही ज्ञान का विषय बन सकती है, असद् वस्तु में पाँच में से एक भी प्रकार सम्भव न होने से पूर्वोदित 10 ज्ञान वर्तमान ज्ञान का विषय नहीं बन सकता क्योंकि वह असत् है।

[मानससंनिकर्ष से अव्यभिचारिता का ज्ञान कैसे ?]

यदि कहा जाय — 'अव्यभिचारिता से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होने पर तत्काल ही (उत्तरक्षण में नहीं) आत्मा और मन के संनिकर्ष से गृहीत हो जाता है। इस प्रकार मानस संनिकर्ष समानकाल में ही अव्यभिचारिता को जान लेता है।' — तो यहाँ प्रश्न खड़ा होगा कि वह अव्यभिचारिता क्या 15 ^Aज्ञान का धर्म है या ^Bज्ञान का अपना स्वरूप ही है ? यदि वह धर्म है तो नित्य (जाति) रूप तो नहीं ही होगा, क्योंकि हमने जो जाति (= सामान्य) वाद में दोषारोपण दिखाया है वह सब यहाँ भी प्रसक्त होगा। यदि वह धर्म अनित्य है तो तीन प्रश्न खड़े होंगे कि वह ज्ञान के पूर्व, ज्ञान के साथ, या ज्ञान के बाद उत्पन्न होगा ? ज्ञान के पहले उत्पन्न होने वाला पदार्थ (उस समय उत्पन्न न होने से) ज्ञान का धर्म कहा नहीं जा सकता क्योंकि धर्मों के अभाव में उस का कोई 20 धर्म नहीं घट सकता। यदि वह ज्ञान के साथ (लेकिन स्वतन्त्र अलग) उत्पन्न होगा तो, ज्ञान के साथ उस का कोई सम्बन्ध घटने पर ही वह ज्ञान का धर्म कहा जा सकेगा। तादात्म्य, तदुत्पत्ति या समवाय जैसे किसी सम्बन्ध का ज्ञान के साथ मेल न बैठने पर वह 'ज्ञान का धर्म' ऐसा बीरुद प्राप्त नहीं कर सकता। यदि अव्यभिचारितत्व धर्म ज्ञानोत्पत्ति के क्षण में नहीं किन्तु उत्तरक्षण में उत्पन्न होना मानेंगे तो पूर्व क्षण में वह ज्ञान अव्यभिचारित नहीं किन्तु व्यभिचारि ठहरेगा। कारण, पूर्व क्षण 25 में वह अव्यभिचारित्व धर्म से शून्य है।

[अव्यभिचारितादि धर्म ज्ञान से भिन्न या अभिन्न ?]

अव्यभिचारिता आदि को ज्ञान का धर्म मानने पर, वह ज्ञान से ^Aपृथक् (भिन्न) है या ^Bअभिन्न, ऐसे कई प्रश्न खड़े होंगे। यदि वह ज्ञान से भिन्न कहेंगे तो साथ में, ज्ञान के साथ उस धर्म के सम्बन्ध का भी नाम देना पड़ेगा। समवाय का तो नाम ही नहीं ले सकते क्योंकि वह सिद्ध नहीं 30 है। सिद्ध होने पर भी समवाय सम्बन्ध के द्वारा ज्ञान में अव्यभिचारिता आदि धर्मों की अधिकरणता घट नहीं सकती क्योंकि ज्ञान खुद ही एक (आत्मा का) धर्म है। यह नियम है कि एक धर्म दूसरे

- एव, अन्यथा ज्ञाने 'अव्यभिचारि' इत्यादिव्यपदेशानुपपत्तिर्भवेत्। तर्हि अव्यभिचारितादीनामपि धर्माणां सत्त्व-प्रमेयत्व-ज्ञेयत्वाद्यनेकधर्माधिकरणतया धर्मिरूपतैव प्रसक्तेति कस्यचिद्धर्मस्यापरधर्मानधिकरणस्याभावात् धर्माभावतो धर्मिणोऽप्यभावप्रसक्तिः। नापि विशेषण-विशेष्यभावलक्षणोऽसौ, तस्याप्यपरसम्बन्धकल्पनया सम्बद्धत्वेऽनवस्थाप्रसक्तेः, असम्बद्धत्वे आत्मन्येवाऽव्यभिचारितादिधर्मकलापस्य प्रसक्तेः। न च समवायाऽभावे
- 5 एकार्थसमवायः सम्भवी, न चान्यः सम्बन्धोऽत्र परैरभ्युपगम्यते।

धर्मों का अधिकरण नहीं हो सकता। यदि इस नियम के विरुद्ध ज्ञान को अव्यभिचारितादि धर्मों का अधिकरण मान लेंगे तो ज्ञान में धर्मिता की प्रसक्ति होने से उस की धर्मरूपता का लोप होगा, क्योंकि एक वस्तु में धर्मिता और धर्मता परस्पर विरुद्ध है। अतः ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं रहेगा।

[धर्म-धर्मिभाव समीक्षा]

- 10 यदि कहा जाय कि — “नियम ऐसा है कि ज्ञानादि धर्मों में समान धर्म (यानी ज्ञानादि) की अधिकरणता नहीं होती जैसे ज्ञान में ज्ञान, जाति में जाति, गुण में गुण इत्यादि। किन्तु, धर्म में विजातीय धर्मों की अधिकरणता तो मान्य ही है, जैसे गुणों में जाति, द्रव्यों में क्रिया... इत्यादि। यदि ऐसा नहीं मानेंगे — मतलब कि ज्ञान रूप धर्म में विजातीय अव्यभिचारितत्वादि धर्मों की अधिकरणता को नहीं मानेंगे — तो अव्यभिचारितत्वादि धर्मों से शून्य ज्ञान में 'अव्यभिचारि' इत्यादि शब्दों का
- 15 उचित व्यवहार लुप्त हो जायेगा।” — अच्छा, यदि विजातीय धर्मों की अधिकरणता मान्य है तब तो अव्यभिचारितादि धर्मों में भी विजातीय सत्त्व, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्वादि अनगनित धर्मों की अधिकरणता प्रविष्ट होने से, अव्यभिचारितादि धर्मों में भी धर्मिरूपता का प्रसंजन होगा। यानी धर्मता-धर्मिता विरुद्ध धर्म प्रवेश प्राप्त होगा। (निष्कर्ष, विरुद्धधर्मसमावेश दोष को टालने के लिये यही मानना पडेगा कि कोई भी धर्म अन्य धर्मों का अधिकरण नहीं हो सकता, चाहे वह सजातीय हो या विजातीय।) तथापि
- 20 धर्म को धर्मों का अधिकरण मानने पर, प्रमेयत्वादि धर्म का अधिकरण न हो ऐसा कोई शुद्ध धर्म (अनौपचारिक धर्म) अस्तित्व में न रहने से सारा जगत् धर्मशून्य बन जायेगा, फलतः धर्म के अभाव में धर्मों भी कोई न बचेगा तो उस के भी अभाव की आपत्ति आयेगी, क्योंकि धर्म नहीं तो धर्मों (धर्माधिकरण) भी कैसे ?

- ज्ञान से अव्यभिचारित्व को भिन्न मानने पर, एवं समवाय को उन दोनों के सम्बन्धरूप में स्वीकार
- 25 करने पर भी उपरोक्त आपत्ति अटल रहेगी। अत एव ज्ञान और अव्यभिचारित्व का विशेष्य-विशेषणभावरूप सम्बन्ध भी संगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि यदि इस विशेष्य-विशेषणभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान के साथ कोई अन्य सम्बन्ध भी मानना पडेगा और तब उस के साथ भी अन्य एक सम्बन्ध... इस तरह अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। यदि विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध को ज्ञान के साथ असम्बद्ध ही मानेंगे, तब तो 'ज्ञान का अव्यभिचारित्व के साथ विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध है' ऐसा व्यवहार लुप्त
- 30 हो जायेगा, क्योंकि विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध को ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसा भी नहीं कह सकते कि “ज्ञान के साथ अव्यभिचारित्व का 'एकार्थसमवाय' सम्बन्ध है।” क्योंकि वह तभी हो सकता है कि जब ज्ञान की तरह अव्यभिचारिता को भी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से

किञ्च, यदि अव्यभिचारितादयो धर्मा अर्थान्तरभूता ज्ञानस्य विशेषणत्वेनोपेयन्ते तदैकविशेषणावच्छिन्नज्ञानप्रतिपत्तिकाले नापरविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिपत्तिरित्यशेषविशेषणानवच्छिन्नं तत् सामग्र्या व्यवच्छेदकं भवेत्, अपरविशेषणावच्छिन्नतत्प्रतिपत्तिकाले ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधितया तस्याऽसत्त्वात्। अथ निर्विकल्पके युगपदनेकविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिभासात्रायं दोषः, तर्हि 'व्यवसायात्मकम्' इति पदमध्यक्षलक्षणे नोपादेयम् अनिश्चयात्मकस्याप्यध्यक्षफलत्वेनाभ्युपगमात्। अथ विशेषजनितं व्यवसायात्मकम्; 5 नन्वेवं सामान्यजनितं विशेषणज्ञानमध्यक्षफलं न भवेत्। यदि चानेकविशेषणावच्छिन्नैकज्ञानाधिगतिरेकं ज्ञानम् कथमेकानेकरूपं वस्तु नाऽभ्युपगतं भवेत् ?

वृत्ति माना जाय। अन्यथा एकार्थसमवाय घटेगा नहीं। यदि एकार्थ समवाय मानेंगे तो अब अव्यभिचारित्व आदि धर्मसमूह को ज्ञान में नहीं किन्तु समवाय सम्बन्ध से आत्मा में मानने की आपत्ति होगी। सच बात तो यह है कि जब समवाय भी आकाशपुष्पवत् असत् है तो एकार्थसमवाय का तो सम्भव 10 ही कहाँ ? ज्ञान के साथ (विशेष्यविशेषणभाव का अथवा) अव्यभिचारित्व का और कोई सम्बन्ध भी मेल नहीं खाता, न तो नैयायिक अन्य किसी सम्बन्ध को मानता है।

[धर्मस्वरूप अव्यभिचारितादि ज्ञान से भिन्न या अभिन्न ?]

दूसरी बात — यदि अव्यभिचारित्व आदि धर्मों को ज्ञान से अर्थान्तरभूत होते हुए ज्ञान के विशेषण मानेंगे तो नतीजा यह होगा कि एक विशेषण (अनुभवत्वादि) से अवरुद्ध ज्ञान का जब 15 ग्रहण होगा तब अन्यविशेषण (अव्यभिचारित्व) से अवरुद्ध ज्ञान का ग्रहण, विशेषणों के विरोध के कारण शक्य नहीं होगा, फलतः परस्पर विरोध के कारण, ज्ञानसामग्री से ऐसा विशेषण विनिर्मुक्त ही ज्ञान गृहीत होगा जो एक भी विशेषण से अवरुद्ध नहीं होगा। इस स्थिति में अशेष विशेषणविनिर्मुक्त ज्ञान को ही ज्ञानान्तरजनक सामग्री का व्यवच्छेदक मानना पड़ेगा — यह अनिष्ट खडा होगा। उस का निमित्त यह है कि अन्य अन्य विशेषण से अवरुद्ध ज्ञान ग्रहण काल में विवक्षित विशेषण 20 (अव्यभिचारित्व) अवरुद्ध ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं हो सकता क्योंकि एक ज्ञान अपने अस्तित्व काल में अन्य ज्ञान का विरोधि होता है।

यदि कहा जाय — 'उपरोक्त दोष निरवकाश है क्योंकि पृथक् पृथक् विशेषण से अवरुद्ध सविकल्प ज्ञान का ग्रहण शक्य न होने पर भी एक साथ अनेकविशेषणों से अवरुद्ध (अव्यभिचारित्वादि धर्मों से विशिष्ट) एक ही ज्ञान का निर्विकल्पग्रहण शक्य हो सकेगा।' — तो वहाँ प्रत्यक्षलक्षण में 25 'व्यवसायात्मकम्' ऐसा विशेषण व्यर्थ हो जाने से उपादेय नहीं रहेगा, क्योंकि अब तो आपने अध्यक्ष प्रमाण के फलस्वरूप अनिश्चय (=अव्यवसाय) रूप निर्विकल्प का ही स्वीकार कर लिया। यदि कहा जाय कि — अध्यक्षविशेष जन्य प्रमाणफल तो व्यवसाय (= निश्चय) रूप ही होता है, उस के लिये अध्यक्षप्रमाण लक्षण में 'व्यवसायात्मकम्' पद उपादेय रहेगा। तो ऐसा दूसरा अनिष्ट यह होगा कि अध्यक्षसामान्यजन्य विशेषणज्ञान को अध्यक्षफल स्वरूप (यानी अध्यक्षप्रमारूप) नहीं मान सकेंगे। 30

यह भी समस्या होगी कि एक ही ज्ञान को अनेक विशेषणों से अवरुद्ध एक ज्ञान के रूप में गृहीत होने का स्वीकार करेंगे तो उस ज्ञान वस्तु में (ज्ञानत्वरूप से एकत्व और विशेषणों के जरिये अनेकत्व-इस प्रकार) एकानेकरूपता (जैन मत प्रवेश) के स्वीकार की आपत्ति क्यों नहीं होगी ?

अथाऽव्यतिरिक्तः—^Aतर्हि ज्ञानमेव नाऽव्यभिचारितादि, तदेव वा न ज्ञानमित्यन्यतरदेव स्यात् न सामग्रीव्यवच्छेदस्ततो भवेत्।^Bअथाऽव्यभिचारितादि ज्ञानस्वरूपमेव तदा विपर्ययज्ञानेऽप्यव्यभिचारिताप्रसक्तिः। अथ विशिष्टं ज्ञानमव्यभिचारितादिस्वभावम्— ननु विशेषणमन्तरेण विशिष्टता कथमुपपत्तिमती ? विशेषणस्य चैकान्ततो भेदे सैव सम्बन्धाऽसिद्धिः, अभेदे न विशिष्टता, कथंचिद्भेदे परपक्षसिद्धिः। तन्न अव्यभि-
5 चारितापदोपादानमर्थवत्।

इतोऽप्यपार्थक्यम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनैव तद्व्यावर्त्यस्याऽपोदितत्वात्। तथाहि— मरीच्युदकज्ञानव्य-
वच्छेदायाऽव्यभिचारिपदोपादानम् तज्ज्ञाने च उदकं प्रतिभाति न च तेनेन्द्रियसम्बन्धः, अविद्यमानेन सह
सम्बन्धानुपपत्तेः। विद्यमानत्वे वा न तद्विषयज्ञानस्य व्यभिचारिता विद्यमानार्थज्ञानवत्। अथ प्रतिभास-
मानोदकसम्बन्धाभावेऽपि मरीचिभिः सम्बन्धादिन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षप्रभवं तत्, अत एव मरीचीनां तदालम्बनत्वं

10 अब यदि इन झंझटो से छूटने के लिये आप दूसरे विकल्प (३०९-५) का आलम्बन ले कर कहें कि अव्यभिचारित्व आदि धर्म ज्ञान से पृथक् नहीं है, तद्रूप ही है। तब तो दो बात नहीं हो सकती, या तो कहो कि ज्ञान ही है न कि अव्यभिचारित्वादि, अथवा कहो कि अव्यभिचारित्वादि ही है न कि ज्ञान। यानी दो में से कोई एक ही रहेगा, फलतः ज्ञानसामग्री और अव्यभिचारित्वादि की सामग्री का कोई भेदक नहीं रह पायेगा।

15 [अव्यभिचारित्व ज्ञान का स्वरूप— इस पक्ष में दोष]

यदि ऐसा मानेंगे कि^Bज्ञान का अपना निजी स्वरूप (३०९-९) ही है अव्यभिचारित्वादि, तो ज्ञानमात्र में यानी विपरीतज्ञान (भ्रम) में भी अव्यभिचारित्वादि की प्रसक्ति होगी। यदि कहें कि ज्ञानमात्र नहीं किन्तु ज्ञानविशेष यानी विशिष्टज्ञान ही अव्यभिचारित्वादिस्वभाववाला होता है तो वही प्रश्न खडा होगा कि विशेषण के विना विशिष्टता का सम्भव न होने से विशेषण को मानना पडेगा, तब
20 ज्ञान और विशेषण का सर्वथा भेद मानेंगे तो पूर्वोक्त 'सम्बन्धअसंगति' दोष आ पडेगा, सर्वथा अभेद मानेंगे तो दो में से एक ही बचने से विशिष्टता की सिद्धि नहीं होगी। यदि कथंचिद् भेदाभेद मानेंगे तो जैन मत की सिद्धि होगी न कि न्याय मत की।

निष्कर्ष, प्रत्यक्षलक्षण में अव्यभिचारित्वादि पदों का उपादान निरर्थक है।

[अव्यभिचारिपद की निरर्थकता का अन्य हेतु]

25 'अव्यभिचारि' ऐसा प्रत्यक्षलक्षणान्तर्गत पद इसलिये भी निरर्थक है, चूँकि उस लक्षण में 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य' ऐसा जो कहा है उस से ही अव्यभिचारिपद चरितार्थ हो जाता है। आशय, अव्यभिचारि-पद के द्वारा व्यभिचारि ज्ञान की व्यावृत्ति ही करना है जो 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य' पद से ही हो जाती है। विस्तार से समझिये — सूर्य के मरीचि (= किरण) में दृश्यमान जल (जिस को मृगजल कहते हैं उस) के ज्ञान में प्रत्यक्ष की अतिव्याप्ति दूर करने हेतु आपने 'अव्यभिचारि' पद प्रयोग
30 किया है। अब देखिये कि उस ज्ञान में जो जल प्रतीत होता है उस के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं ही होता है। (मतलब कि वह जलज्ञान इन्द्रियसन्निकर्षजन्य नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष का लक्षण भी वहाँ नहीं घटेगा, इस प्रकार अतिव्याप्ति का निवारण हो जाने पर 'अव्यभिचारि' पद की आवश्यकता

तस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। तद्देशं प्रति प्रवृत्तेश्च मिथ्यात्वमपि तज्ज्ञानस्यान्यदालम्बनमन्वत् प्रतिभातीति कृत्वा। नन्वप्रतिभासमानं कथमालम्बनम् ? यदि ज्ञानजनकत्वात्, इन्द्रियादेरप्यालम्बनत्वप्रसक्तिः। आकारार्पकत्व- तदधिकरणत्वादिकं त्वालम्बनत्वं न परस्याभिमतम्। तस्मात् तदवभासित्वमेवालम्बनत्वम्। न च मरीच्युदकज्ञाने मरीचयः प्रतिभान्ति। अथोदकाकारतया ता एव तत्र प्रतिभान्ति। ननु ताभ्य उदकाकारता व्यद्यव्यतिरिक्ता परमार्थसती च तदा तत्प्रतिपत्तेर्न व्यभिचारित्वम्। अथाऽपरमार्थसती तदा तासामप्यपरमार्थसत्त्वप्रसक्तिः। 5 किञ्च अपारमार्थिकोदकतादात्म्ये मरीचीनां तदुदकज्ञानवत् मरीचिज्ञानमपि वितथं भवेत्। न च उदकाकार एकस्मिन् प्रतीयमाने मरीचयः प्रतीयन्त इति वक्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात्। अथ ^१व्यतिरिक्ताः ताभ्य उदकाकारता तर्हि तत्प्रतिपत्तौ कथं मरीचय प्रतिभान्ति अन्यप्रतिभासेऽप्यन्यप्रतिभासाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्।

क्या रही ?) जल वहाँ विद्यमान न होने से उस के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष भी नहीं होता। यदि वहाँ जल के साथ इन्द्रियसम्बन्ध बना होगा तब तो जलविषयक ज्ञान व्यभिचारि नहीं हो सकता, 10 जैसे कि विद्यमान घट-पटादि का ज्ञान व्यभिचारि नहीं होता। यदि कहा जाय — ‘वहाँ प्रतिभासमान जल के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने पर भी मरीचियों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने के कारण वह मरीचिजलज्ञान भी इन्द्रियसंनिकर्षजन्य ही है, अजन्य नहीं है। इसी लिये तो जल के रूप में मरीचियाँ उस ज्ञान का आलम्बन बनते हैं, क्योंकि उस ज्ञान के साथ मरीचियों का ही अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुसरण उपलब्ध है। जब दृष्टा जलार्थी उस देश में जल उपलब्धि के लिये वहाँ 15 पहुँचता है तब उस की प्रवृत्ति को मिथ्या भी कह सकते हैं क्योंकि ज्ञान का आलम्बन कुछ ओर ही है (मरीचि हैं जिस के साथ इन्द्रिय संनिकर्ष है) किन्तु जो दीखता है वह (जल) कुछ ओर ही है।’ — तो यहाँ यह बड़ी समस्या है, जो प्रतिभासमान नहीं है वह ‘आलम्बन’ कैसे कहा जाय ? यदि ज्ञान का जनक होने के जरिये उस को ‘आलम्बन’ मान लेंगे तो ज्ञानजनक इन्द्रियों को भी ज्ञान का ‘आलम्बन’ मानना पड़ेगा। आप को ऐसा तो मान्य नहीं है कि अपने आकार का मुद्रण 20 करने के जरिये अथवा अपना अधिकरण होने के जरिये उसे आलम्बन कहा जाय। तब आखिर यही मानना होगा कि ज्ञान यदवभासि होगा वही उस का आलम्बन। मरीचिजलज्ञान मरीचियों का अवभासि न होने से मरीचियों को वहाँ आलम्बन नहीं कह सकते।

[मिथ्याजलज्ञान में मरीचि का प्रतिभास विकल्पग्रस्त]

यदि कहा जाय — मरीचियाँ ही वहाँ जलाकार रूप से प्रतीत होती हैं — तो यहाँ दो प्रश्न 25 ऊठेंगे — क्या वह जलाकारता मरीचियों से ^२अभिन्न एवं पारमार्थिक सत् है ? यदि हाँ, तब तो सत्यजलाभिन्न मरीचियों का ग्रहण (ज्ञान) सत्य होने से व्यभिचारि कैसे होगा ? यदि वह जलाकारता अवास्तवी है तब तो उस से अभिन्न मरीचि भी अवास्तव ठहरेंगे। दूसरी बात यह कि अवास्तव जलाकार (यानी जल) के साथ मरीचियों का अभेद मानने पर मिथ्याजलज्ञान की तरह मरीचिज्ञान भी जूठा ठहरेगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि एक स्थान में जलाकार प्रतीत होने पर वहाँ 30 मरीचियाँ भी प्रतीत होते हैं। अगर ऐसा कहेंगे तब तो घट-पटादि भी प्रतीत होते हैं — ऐसा भी कहना प्रसक्त होगा। ^३दूसरा प्रश्न यह ऊठेगा कि क्या वह जलाकारता मरीचियों से भिन्न है ? यदि

किञ्च, केशोन्दुकज्ञाने किमालम्बनम् किं वा प्रतिभाति ? इति वक्तव्यम् । अथ केशोन्दुकादिकमेवालम्बनम् प्रतिभाति च तदेव तत्र, तर्हि मरीच्युदकज्ञानेऽपि तदेवालम्बनम् तदेव प्रतिभातीति किं न भवेत् ? न च तज्ज्ञानस्य प्रतीयमानान्यालम्बनेन मिथ्यात्वम् अपि तु प्रतिभासमानस्याऽसत्यत्वेन, अन्यथा केशोन्दुकज्ञानस्य मिथ्यात्वं न भवेत् । न च मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तेर्मरीच्यालम्बनत्वम् तद्देशस्यैवमालम्बनत्वप्रसक्तेः । न च प्रतिभासमानान्यार्थसन्निकर्षजत्वं तज्ज्ञानस्य, सत्योदकज्ञाने अस्याऽदृष्टेः । न चा (वा) प्रतीयमानसन्निकर्षजत्वस्य तस्य तज्जत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्, अन्यथानुमेयदहनज्ञानस्यापीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं स्यात् । अथ मन एव हाँ, तो जलाकार प्रतीत होने पर मरीचि भी प्रतीत होते हैं ऐसा कैसे कह सकते हैं ? यानी मरीचि को उस ज्ञान का आलम्बन कैसे कह सकते हैं ? यदि वैसा कहने का साहस करेंगे तो घट-पटादि को भी आलम्बन मानने का अनिष्ट प्रसंग होगा ।

10 [केशोन्दुकज्ञान एवं मरीचि-उदकज्ञान की तुलना]

यह भी प्रश्न खड़ा है -- बोलिये, केशोन्दुकज्ञान में आलम्बन क्या है और क्या प्रतीत होता है ? (खिडकी के बाहरखुले गगन में नजर डालने पर सफेद केशों के गुच्छ जैसा कुछ (असत्) प्रतीत होता है जिसे 'केशोन्दुक' कहा गया है, यहाँ 'एक के बदले दूसरा प्रतीत होता है' ऐसा कुछ नहीं होता इसी लिये यह प्रश्न खड़ा किया है) । यदि ऐसा जवाब दे कि -- 'यहाँ केशोन्दुक (असद् वस्तु) ही आलम्बन है और वही तो प्रतीत होता है' -- तो मरीचिजलज्ञानस्थल में भी ऐसा क्यों नहीं कि जल ही आलम्बन, और वही प्रतीत होता है ? यदि कहें कि -- 'वहाँ प्रतीयमानपदार्थ जल है किन्तु उस से भिन्न मरीचि ही वहाँ आलम्बनीभूत है इस लिये वह ज्ञान मिथ्या होता है' -- तो यह ठीक नहीं है, प्रतीयमान से भिन्न आलम्बन होने के कारण वह ज्ञान मिथ्या नहीं होता किन्तु प्रतीयमान जल वहाँ असत्य (अवास्तव) होने के कारण वह ज्ञान मिथ्या होता है । ऐसा नहीं मानेंगे तो जो केशोन्दुक है वह प्रतिभासमान से अन्य आलम्बनरूप न होने से उस के ज्ञान को मिथ्या कैसे कहा जा सकेगा ? प्रतीयमान केशोन्दुक अवास्तव होने के जरिये ही उस के ज्ञान को 'मिथ्या' माना जाता है ।

यह भी प्रश्न है कि मरीचिजलज्ञानस्थल में आप मरीचि को 'आलम्बन' किस आधार से मानते हैं ? यदि जहाँ मरीचि दिखते हैं उस देश के प्रति जलार्थी कदम उठाता है इस लिये उस ज्ञान का आलम्बन मरीचि माना जाय, तब तो उस देश को देखने से जलार्थी उस देश के प्रति कदम उठाता है, इस लिये उस देश को ही आलम्बन क्यों न मान लिया जाय ?

[मरीचि जलज्ञान की मरीचि सन्निकर्ष से उत्पत्ति असंभव]

मरीचिजलज्ञान को प्रतिभासमानजलभिन्न मरीचि के साथ सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न होने का कहना भी अयुक्त है क्योंकि सत्यजलस्थल में जल के साथ सन्निकर्ष के द्वारा ही जलज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा ही देखा गया है, जलभिन्न अर्थ के साथ सन्निकर्ष के द्वारा जलज्ञान की वहाँ (सत्यजलस्थले) उत्पत्ति नहीं दीखती । फिर जलभिन्न मरीचि के साथ सन्निकर्ष के द्वारा जलज्ञान की उत्पत्ति कैसे मान ली जाय ? यदि मरीचिजलप्रत्यक्ष को प्रतीयमानजलभिन्न मरीचि-इन्द्रियसन्निकर्षजन्य होना मान लिया जाय तो अनुमेयअग्निज्ञान भी अग्निभिन्नआत्मा धूमादि के साथ मनःसन्निकर्ष से जन्य होने पर

तत्रेन्द्रियं तस्य च दहनेन सह प्रतीयमानेन नास्ति सम्बन्धः; इहापि तर्हि प्रतीयमानोदकेन न सम्बन्धश्चक्षुषः-
मरीचीनां तु न प्रतीयमानत्वमिति ताभिरपि कथं तस्य सम्बन्धः ?

यच्च— “सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानम् ‘इदमुदकम्’ इत्येकं ज्ञानम्, तस्य सामान्यवानर्थः स्मृत्यु-
पस्थापितविशेषापेक्षो जनकः, तिरस्कृतस्वाकारस्य परिगृहीताकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो जन-
कत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेरिन्द्रियार्थसंनिकर्षजो विपर्ययः” (२२८-९) इति — तदत्यन्तमसम्बद्धम्, 5
पराभ्युपगमेनाऽस्याऽनुपपत्तेः। तथाहि— ‘सामान्योपक्रमम्’ इति यदि सामान्यविषयम् ‘इदम्’ इति ज्ञानम्,
तदा मरीच्युदकयोः साधारणमेकं सामान्यं ‘इदम्’ इति ज्ञानस्य विषयो वक्तव्यः। न चैकान्ततो व्यक्तिभिन्नमभिन्नं
वा सामान्यं सम्भवति, संभवेऽपि सत्त्व-द्रव्यत्वव्यतिरिक्तस्य मरीच्युदकसाधारणस्य तस्य न सद्भावः, सत्त्व-
द्रव्यत्वादेश्च ज्वलनादावपि सद्भाव इति न मरीच्युदकसाधारणत्वम्। तरङ्गायमाणत्वं तूभयसाधारणं
इन्द्रियसंनिकर्षजन्यं यानीं प्रत्यक्षरूपं माननां होगी।

यदि कहें कि — ‘वहाँ मन रूप इन्द्रिय का आत्मा के साथ सम्बन्ध है, प्रतीयमान अग्नि के
साथ नहीं है इसलिये उस के ज्ञान को इन्द्रियसंनिकर्षजन्य नहीं मानेंगे यानी अनुमेय अग्नि के ज्ञान
में प्रत्यक्षत्व का अनिष्ट प्रसंग नहीं होगा’ — तो यहाँ भी फिर कह सकते हैं कि चक्षु इन्द्रिय का
प्रतीयमान जल के साथ संनिकर्ष नहीं है, — और मरीचियों की सत्ता होने पर भी वे प्रतीयमान
नहीं है, तो उन के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध कैसे स्वीकार किया जाय ? उस ज्ञान को इन्द्रियार्थ 15
संनिकर्षजन्य प्रत्यक्ष कैसे स्वीकार किया जाय ? तब वहाँ अतिव्याप्ति के निवारणार्थ ‘अव्यभिचारि’
पदप्रयोग का प्रयोजन क्या ?

[इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से भ्रम की उपपत्ति का व्यर्थप्रयास]

विपर्यय (यानी भ्रम) को इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य सिद्ध करने के लिये पहले (२२८-२९) जो यह
कहा था — “सामान्यधर्म से उपक्रमवाला एवं विशेषधर्म में पर्यवसित होनेवाला ‘यह जल है’ ऐसा जो 20
(भ्रम) ज्ञान होता है उस का जनक तो ऐसा सामान्यवान् अर्थ ही होता है जिस को अपेक्षित होता
है स्मृति से उपस्थापित विशेष। अपना (शुक्तिस्वरूप) आकार जहाँ तिरस्कृत रहता है और अन्याकार
(रजत्व) का जिसने स्वांग धारण किया है वैसी जो सामान्यधर्मअवगुण्ठित वस्तु है उस के (सीप के)
साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध निर्बाध हो सकता है, अत एव तज्जन्य विपर्यय ‘इन्द्रियसंनिकर्षजन्य’ ही होता
है।” — यह तो अत्यन्त असंगत ही है। न्यायदर्शन की मान्यता के अनुसार इस का समर्थन शक्य 25
नहीं है। देखिये — ‘सामान्यधर्म से उपक्रमवाला’ इस का क्या मतलब ? सामान्य को विषय करनेवाला
ऐसा ज्ञान, यानी ‘यह’ ऐसा आंशिक ज्ञान। अब यहाँ बोलिये कि मरीचि और उदक दोनों में साधारण
हो ऐसा ‘यह’ इस आंशिक ज्ञान का सामान्य विषय कौन है ? पहले कई बार कह दिया है कि व्यक्ति
से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न होने वाला कोई सामान्य पदार्थ सम्भवी ही नहीं है। कदाचित् उस
का सम्भव है तब भी मरीचि और जल दोनों में सत्त्व या द्रव्यत्व के अलावा और कोई सामान्य धर्म 30
होना असंभव है। सत्त्व-द्रव्यत्व भी सिर्फ मरीचि और जल का ही साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता
क्योंकि अग्नि-वायु आदि में भी वे दोनों धर्म मौजूद हैं। तरंगाकारता भी मरीचि-जल का साधारण धर्म

सामान्यं पराभ्युपगमेन न सम्भवत्येव । सम्भवेऽपि न तस्य तदुभयनियतत्वम्, अन्यत्रापि सद्भावोपपत्तेः ।

‘विशेषपर्यवसानम्’ इत्येतदपि यदि विशेषग्राहकं तदा सामान्यग्राहकत्वानुपपत्तिः । न हि ‘इदम्’-इत्येतस्य ज्ञानस्य विशेषग्राहिताऽनुभूयते, तत्त्वे वा सामान्य-विशेषयोर्भिन्नस्वरूपत्वात् कथं सामान्यग्राहिताऽस्य ?

5 अथ ‘उदकम्’ इति ज्ञानं विशेषग्राहि तर्हि भिन्नावभासं ‘इदं’ — ‘उदकम्’ इति ज्ञानद्वयं प्रसक्तम् प्रतिभासभेदस्यान्यत्रापि भेदनिबन्धनत्वात् तस्य चात्रापि भावात् । ज्ञानद्वये च ‘इदम्’ इति सामान्यावभासि सत्यार्थविषयं संनिकर्षप्रभवम्, ‘उदकम्’ इति त्वविद्यमानविशेषावभासि न तत् संनिकर्षप्रभवम् । यदसत्यार्थं न तद् (अ)व्यभिचारिपदोपादानव्यवच्छेद्यम् संनिकर्षपदेनैवाऽपोदितत्वात् । यच्च संनिकर्षजं सामान्यज्ञानं तद् व्यभिचारि न भवतीति नाऽव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यम् । अथ ‘इदमुदकं’ इत्युल्लेखद्वययुक्तमेकं ज्ञानं -

10 यानी सामान्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायदर्शनानुसार उस में भी ‘एक हो और अनेकसमवेत हो एवं संकरादिदोषमुक्त हो’ ऐसी सामान्य की व्याख्या उस में घट नहीं सकती क्योंकि यहाँ जलत्वादि के साथ सांकर्य है । कदाचित् किसी तरह उसे ‘सामान्य’ कह दिया जाय तो भी वह मरीचि एवं जल से भिन्न वायु में भी विद्यमान होने से मरीचि और जल मात्र का ‘सामान्य’ नहीं बन सकता ।

[विशेष पर्यवसायि भ्रम की समीक्षा]

15 तथा, ‘विशेष में पर्यवसित होने वाला’ इस का मतलब यदि ऐसा हो कि वह ज्ञान ‘विशेष का ग्राहक’ है, तब तो विरुद्धधर्माध्यास के कारण वह ज्ञान सामान्य का ग्राहक नहीं हो सकता । ‘यह’ — इस आंशिक ज्ञान में किसी को भी विशेषार्थविषयता का अनुभव नहीं होता । यदि विशेषविषयता का अनुभव होगा तो सामान्य और विशेष दोनों का स्वरूप परस्परविरुद्ध यानी विभिन्न होने से, विशेष विषयता होने पर उस ज्ञान में सामान्यग्राहिता कैसे प्राप्त होगी ?

20 [भ्रमस्थल में विशेषग्राहिता के जरिये ज्ञानद्वय प्रसक्ति]

यदि ‘उदक’ ऐसे ज्ञान को विशेषग्राहि माना जाय तो भिन्न भिन्न सामान्य और विशेष ऐसे भिन्न भिन्न अर्थावभासक दो ज्ञान वहाँ प्रसक्त होंगे — एक ‘इदम्’ सामान्य उल्लेखवाला, दूसरा ‘जलं’ ऐसे विशेष उल्लेखवाला । अन्यस्थलों में भी भेद का प्रयोजक प्रतिभासभेद ही होता है, यहाँ भी वैसा प्रतिभासभेद अक्षुण्ण है । फलतः यहाँ मरीचि जलज्ञान स्थल में जो दो ज्ञान सिद्ध हुए उन में एक ‘इदम्’ (यह)

25 ऐसा ब्रह्मसामान्य का ज्ञान तो सामान्यावभासक एवं सत्यार्थविषयक अत एव संनिकर्षजन्य है, जब कि दूसरा ‘जलम्’ ऐसा ज्ञान (वहाँ जल के न होने से) अविद्यमान विशेष का अवभासक है जो कि संनिकर्षजन्य नहीं है । दूसरा ज्ञान असत्यार्थावभासि है, असत्यार्थ के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष संभव न होने से, ‘इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य’ इस प्रत्यक्षलक्षणान्तर्गत पद से उस का व्यवच्छेद हो गया । फिर उस के व्यवच्छेद के लिये ‘अव्यभिचारि’ पद निरर्थक है । जो इन्द्रियसंनिकर्षजन्य सामान्यज्ञान है वह

30 तो व्यभिचारि नहीं है, अत एव उस के व्यवच्छेद के लिये भी ‘अव्यभिचारि’ पद निरर्थक ही है ।

[सामान्य-विशेषोभयग्राहि एक ज्ञान में विरोधप्रसक्ति]

यदि ‘यह जल है’ ऐसे सामान्य-विशेष उभयोल्लेखि इस ज्ञान को आप एकरूप ही मानेंगे तो

तर्हि सामान्ये तत् प्रत्यक्षं प्रमाणं च, विशेषे अनध्यक्षमप्रमाणं चेति कथमेकं ज्ञानमध्यक्षानध्यक्षरूपं प्रमाणाऽप्रमाणरूपं च नाभ्युपगतं भवेत् ? अथ सामान्येऽपि नाध्यक्षं प्रमाणं चेदमभ्युपगम्यते — तर्हि इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वाभावादस्य नाऽव्यभिचारिपदापोद्यता । विशेषेऽप्यस्य प्रामाण्येऽध्यक्षत्वे चाऽव्यभिचारि-पदमपार्थक्यमपोद्याभावात् । यदि च सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षोऽस्य जनकः, कथमस्य विपर्य-स्तता विद्यमानविशेषविषयत्वात् ? अथ स्मृत्युपस्थापितत्वाद् विशेषस्य अविद्यमानविशेषविषयतया तस्य 5 विपर्यस्तता— ननु तत्राऽविद्यमानः स्मृत्युपस्थापितो विशेषः कथं तज्जनको येन सामान्यवानर्थस्तदपेक्षस्तज्जनकः परिगीयेत ?

तथापि तज्जनकत्वे इन्द्रियस्य स्वदेशकालाऽसंनिहितार्थापेक्षस्य ज्ञानजनकत्वादर्थेन संनिकर्षकल्पना तस्य प्रमाणस्य चार्थवत्त्वकल्पना विशीर्यत, तथा च 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नम्' (न्याय. १-१-४) इति 'अर्थवत् प्रमाणम्' (वात्स्या. भा.पृ.१) इति च न वक्तव्यं स्यात् । अथाऽजनकस्य तत्र न प्रतिभासः 10 इति स्मृत्युपस्थापितस्य तस्य तज्जनकता तर्ह्यविद्यमानस्य न जनकत्वमिति विद्यमानविशेषविषयत्वेन निम्नोक्त रूप से परस्परविरुद्ध वस्तु का स्वीकार गले पड़ेगा। जैसे : सामान्य के विषयांश में तो वह प्रत्यक्षरूप एवं प्रमाणरूप है किन्तु जलरूप विशेष विषयांश में वह (असत् के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष के न होने से) अप्रत्यक्षरूप एवं अप्रमाणरूप भी है। अब यहाँ विरोध ऊठेगा कि एक ही ज्ञान प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप एवं प्रमाणाप्रमाणरूप कैसे स्वीकारपात्र होगा ? यदि इस ज्ञान को सामान्यविषयांश में 15 भी अप्रत्यक्ष एवं अप्रमाण ही मानेंगे तो वह इन्द्रियसंनिकर्षजन्य न होने से ही प्रत्यक्षलक्षण से बहिष्कृत हो जायेगा, फिर 'अव्यभिचारि' पद के द्वारा उस का व्यवच्छेद आवश्यक कहाँ रहा ? अथवा तो यदि विशेष विषयांश में भी उस ज्ञान को प्रमाण एवं प्रत्यक्षरूप मानेंगे तब तो उस के व्यवच्छेद के लिये 'अव्यभिचारि' पद का ग्रहण सुतरां निरर्थक बनेगा।

यदि कहें कि — 'स्मृति द्वारा उल्लिखित जलरूप विशेष से सापेक्ष ऐसा सामान्यवान् अर्थ (मरीचि) 20 'यह जल है' इस ज्ञान का जनक है' — तब तो यह ज्ञान विपर्ययभूत कैसे जब कि वहाँ स्मृति उल्लिखित जलरूप विशेष विषय अगर विद्यमान है ? यदि वह विशेष रूप अर्थ जो स्मृति से उल्लिखित है वह अविद्यमान है तो वह जनक कैसे ? जब वह जनक ही नहीं तब सामान्यवान् अर्थ उसकी अपेक्षा क्यों रखेगा ? एक कारक (जनक) ही दूसरे कारक की अपेक्षा रख सकता है, अकारक की नहीं। अजनक विशेष की भी सामान्यवान् जनक अर्थ अपेक्षा करता है ऐसा गीतगान क्यों आप कर रहे हैं ? 25

[असत् विशेष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में दोष सन्तान]

अविद्यमान विशेष को भी यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक मान लिया जाय तब तो कहना पड़ेगा कि इन्द्रिय अपने देश-काल में अनुपस्थित अर्थ का भी मुहताज बन कर प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कर सकती है, वृथा ही है फिर संनिकर्ष की कल्पना करना, एवं वृथा ही है प्रमाण को अर्थसापेक्ष यानी अर्थवत् होने की कल्पना। फलतः न्यायसूत्र में जो प्रत्यक्ष की व्याख्या में 'इन्द्रियार्थ संनिकर्षोत्पन्नम्' कहा 30 गया है वह व्यर्थ ठहरेगा, एवं वात्स्यायनभाष्य में 'अर्थवत् प्रमाणम्' कहा गया है वह भी व्यर्थ होगा। यदि कहा जाय — 'जो ज्ञान का जनक नहीं होता वह ज्ञान से प्रतिभासित भी नहीं होगा, जब कि

तज्ज्ञानस्याऽविपर्यस्ततेति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानमनर्थकं भवेत्। सामान्यवतोऽर्थस्य केवलस्य तज्जनकत्वे तस्यैव तत्र प्रतिभासः स्यात्। यदपि 'तिरस्कृतस्वाकारस्य परिगृहीताकारान्तरस्य तस्य तज्जनकत्वम्' (२२८-३) तत्रापि वस्तुनः स्वाकारतिरस्कारे वस्तुत्वमेव न स्यादिति कथं तस्य सामान्यविशिष्टता ? तथाहि— मरीचीनां मरीच्याकारतापरित्यागे वस्तुत्वमेव परित्यक्तं भवेत् स्वाकारलक्षणत्वाद् वस्तुनः। न चाकारान्तरस्य परिग्रहः सम्भवति, वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरानापत्तिरूपत्वात्, तदापत्तिरूपत्वे वा मरीचय उदकरूपतामापन्ना इति तत्रप्रतिभासि ज्ञानं सत्योदकज्ञानवदविपर्यस्तमिति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानं न कार्यं भवेत्। सामान्यविशिष्टस्य च वस्तुनः इन्द्रियसम्बद्धस्य विपर्ययज्ञानजनकत्वे यत्रांशे तस्येन्द्रियसम्बन्धोत्पाद्यत्वं तत्राध्यक्षता प्रमाणता च, अन्यत्र तद्विपर्यय इत्येकं ज्ञानमध्यक्षं प्रमाणं तद्विपर्ययरूपं

स्मृति उपस्थापित जल तो अविद्यमान हो कर भी मरीचिजलस्थल में प्रतिभासित होता है इसलिये उस को मृगजलीयज्ञान का जनक मानना पड़ेगा।' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'जो जनक होता है वह विद्यमान हो कर ही जनक होता है' इस नियमबल से मानना पड़ेगा कि वहाँ भी यदि स्मृति उपस्थापित विशेष जनक है तो वहाँ जलज्ञान विद्यमानविशेषविषयक ही है, फिर उस ज्ञान को विपर्यस्त कैसे कहा जाय ? फिर उस के व्यवच्छेद के लिये 'अव्यभिचारि' पद का प्रयोजन भी क्या ? यदि कहें कि वहाँ विशेष जनक नहीं है सिर्फ सामान्यवान् अर्थ ही जनक है तब तो पूर्वोक्त नियमानुसार ज्ञान में सिर्फ सामान्यवान् (मरीचि) का ही प्रतिभास होगा, विशेष (जल) का प्रतिभास नहीं होगा।

[स्वविषयाकार संवरण एवं अन्याकार का धारण अयुक्तिक]

पहले जो कहा था — (२२८-३३।३१५-२२) 'अपने (मरीचिरूप) आकार का संवरण कर के अन्य (जल) के आकार का स्वांग धारण करनेवाला (मरीचिरूप) अर्थ ही ज्ञान का (मृगजल ज्ञान का) जनक है। यहाँ भी, मुख्य बात यह है कि अगर वस्तु अपने ही आकार का संवरण यानी तिरस्कार करेगा तो वह अपने वस्तुत्व को ही खो बैठेगा, फिर उस वस्तु को सामान्यविशिष्ट भी कैसे माना जायेगा ? देखिये मरीचि जब अपने मरीचिआकार का संवरण-तिरस्कार-परित्याग कर देगा तो अपने वस्तुत्व को ही गँवा देगा, क्योंकि आकार का अर्थ है वस्तु का अपना लक्षण या स्वरूप। एवं वस्तु अन्य आकार को अपना ले यह असम्भव है, क्योंकि एक वस्तु अन्य वस्तुमय कभी बन नहीं सकती। फिर भी यदि वैसा होना मान ले तो फलितार्थ यहाँ ऐसा होगा कि मरीचि स्वयं जलस्वरूप में परिवर्तित हो गये, यानी वहाँ अब मरीचि की नहीं जल की ही सत्ता है, उस का प्रतिभासि ज्ञान जो है वह अन्यत्र सत्यजल प्रतिभासी ज्ञान की तरह यहाँ भी सत्य जल का ही प्रतिभासि हो गया, तब उसे विपर्यस्त कैसे कह सकेंगे ? वह ज्ञान सत्य ही है, अव्यभिचारि ही है, तब उस के व्यवच्छेद के लिये अव्यभिचारि पद का प्रयोग करने की जरूर नहीं है।

यदि सामान्य से अवगुण्ठित इन्द्रियसम्बद्ध वस्तु विपरीतज्ञान को उत्पन्न करेगी तो उस के जिस (सामान्य) अंश में इन्द्रियसम्बन्धजन्यत्व है उतने अंश में वह ज्ञान प्रत्यक्ष एवं प्रमाणभूत मानना होगा, जिस अंश (विशेष) में इन्द्रियसम्बन्धजन्यत्व नहीं है उतने अंश में वह ज्ञान अप्रत्यक्ष एवं अप्रमाण मानना पड़ेगा — इस प्रकार एक ही ज्ञान में परस्परविरुद्ध प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता, प्रमाणता-अप्रमाणता

च भवेदित्युक्तम् (३१७-१)।

यदिपि 'यत्संनिधाने यो दृष्टः'... (२२९-३) इत्यादि, तदप्युक्तम्, शब्दावच्छेदेन 'उदकम्' इति ज्ञानस्यानुपपत्तेः। न ह्युदकवत् शब्दोऽप्यत्र ज्ञाने विशेषणभूतो ग्राह्यतया प्रतिभाति तथाप्रतीतेरभावात्। शब्दविशिष्टोदकप्रतिभासाभ्युपगमेऽपि यदि शब्दस्मरणाद्यन्तरेण नार्थनिश्चयः तदाऽनवस्थादोषप्रतिपादनाद् न तद्ध्वनिस्मृतिर्भवेत्। अथ शब्दस्मरणाद्यन्तरेणाप्युदकादेर्निश्चयस्तदा जैनमतानुप्रवेशाद् न दोषासक्तिः 5 काचित्।

एवं संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायात्मक-पदोपादानमपि न कर्तव्यम् 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न'-पदे-
के समावेश का प्रसङ्ग आ पडेगा। यह पहले कहा जा चुका है (३१९-११)।

[अव्यपदेश्यपद द्वारा इष्टसिद्धि हो जाने से अव्यभिचारि-पद व्यर्थ]

यह जो पहले कहा था (२२९-२३) - 'जिस की उपस्थिति में जो (शब्दप्रयोग) बार बार देखा 10 गया है, उस के पुनः देखने से उस शब्द का स्मरण होता है'... इत्यादि - यह भी असंगत कहा था। [यहाँ पूर्वपक्षिने ऐसा कहा था कि - अव्यपदेश्यपद के द्वारा अव्यभिचारि पद चरितार्थ नहीं हो सकता। मरीचि जलज्ञान जलशब्द प्रेरित नहीं होता अत एव अव्यपदेश्य पद से मरीचिजलज्ञान का व्यवच्छेद शक्य न होने से अव्यभिचारि पद द्वारा उस का व्यवच्छेद करना सार्थक बनेगा। पूर्वपक्षी को मरीचिजलज्ञान शब्द प्रेरित नहीं मानना है इसी लिये यहाँ ऐसा नियम प्रदर्शित किया है कि 15 जिस के संनिधान में जिस का दर्शन होता है, उस को देखने पर तद्वाचक शब्द स्मृति में आता है। तरंगापत्र (मरीचि आदि) वस्तु मात्र के संनिधान में 'जल' शब्द का दर्शन नहीं होता (किन्तु जल के संनिधान में 'जल' शब्द का दर्शन होता है) इसी लिये मरीचिजलस्थल में मरीचि के संनिधान में 'जल' शब्द की स्मृति न होने से मरीचिजलीय ज्ञान शब्दव्यपदेश्य न बनने से, 'अव्यपदेश्य' विशेषण से उस का व्यवच्छेद जब शक्य नहीं है तब उस के व्यवच्छेद के लिये 'अव्यभिचारि' पद प्रयोग 20 अनिवार्य है। उस के निषेध के लिये ग्रन्थकर्ता कहते हैं -]

'जलम्' ऐसा ज्ञान भी, न केवल मरीचिजलज्ञान, शब्दावच्छेदेन (यानी शब्दोल्लेखपूर्वक) नहीं होता। जल ज्ञान में 'जल' शब्द विशेषणविधया विषय के रूप में भासित नहीं होता, क्योंकि जल के ज्ञान की तरह वहाँ शब्द की प्रतीति नहीं होती। कदाचित् शब्दविशिष्ट जल का प्रतिभास मान लिया जाय तो भी यदि शब्दस्मरण के विना जब अर्थनिश्चय नहीं होगा तब उस के लिये अन्य शब्द का, उस 25 के भी लिये अन्य अन्य शब्द का ज्ञान आवश्यक बन जाने पर अनवस्था दोष गले पडने के कारण शब्द का स्मरण होना प्रमाणित नहीं होता। यदि शब्दस्मरण के विना ही जलादि का निश्चय स्वीकार करेंगे तो जलज्ञान जलशब्दप्रेरित न होने से अव्यपदेश्य पद से उस का व्यवच्छेद हो जाने पर 'अव्यभिचारि' पद निरर्थक ही ठहरेगा। एवं शब्दविनिर्मुक्त जल-ज्ञान का स्वीकार तो जैनमत का ही स्वीकार होने से फिर तो कोई दोष को अवकाश ही नहीं रहेगा। 30

['व्यवसायात्मक' पद समीक्षा]

अव्यभिचारिपद की व्यर्थता प्रदर्शित कर के अब ग्रन्थकर्ता व्यवसायात्मक-पद की निरर्थकता प्रत्यक्षलक्षणप्रतिषेध के संदर्भ में दिखा रहे हैं। 'व्यवसायात्मक' यह पद निरर्थक इसलिये है कि

नैव तस्यापि निरस्तत्वात्। न हि पराभ्युपगमेन 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयज्ञानमेकमुभयोल्लेखीन्द्रियार्थसंनिकर्षजं संभवति। असम्भवप्रकारश्च पूर्ववदनुसृत्यात्रापि वक्तव्यः। सविकल्पाध्यक्षप्रसाधनप्रकारश्चैकान्ताऽक्षणिकपक्षे न सम्भवत्येव, 'यः प्रागजनको बुद्धेः' (२३५-११) इत्यादेर्दूषणस्य तत्राऽविवलितस्वरूपत्वात्। यथा चाऽक्षणिकैकान्ते सहकार्यपेक्षा न संभवति भावानां तथा प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

5 यदपि 'संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायात्मकपदम्' (२३३-६) तत्र 'सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाऽप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेश्च' (द्रष्टव्यं वैशे०द०-२।२।१७) 'किंस्वित्' इत्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः सन्देहो व्यवच्छेद्यतयाऽभिमतः— तत्र च किं प्रतिभाति ? धर्मिमात्रम् धर्मो वा ? यदि धर्मो वस्तुसत् प्रतिभाति तदा नाऽस्यापनेयता सम्यग्ज्ञानत्वात्। अथाऽवस्तुसन्नसावन्न प्रतिभाति तदाऽव्यभिचारिपदव्यावर्तितत्वात् तद्व्यावर्तनाय व्यवसायपदोपादानमर्थवत्।

10 अथ धर्मः प्रतिभाति तदाऽत्रापि वक्तव्यम् किमसौ स्थाणुत्व-पुरुषत्वयोरन्यतरः उभयं वा ? यदि स्थाणुत्वलक्षणो वस्तुसन् कथमस्य ज्ञानस्य व्यवच्छेद्यता सम्यग्ज्ञानत्वादिति ? अथाऽपारमार्थिकोऽसौ तत्र

'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न' पद से ही संशयज्ञान का व्यवच्छेद हो जाता है।

न्यायदर्शन के सिद्धान्तानुसार देखा जाय तो कोटिद्वय उल्लेख कारक 'यह ठूँठ है या पुरुष' ऐसा एक संशयज्ञान कभी भी इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से उत्पन्न नहीं ही होता। जैसे मरीचिजल ज्ञान में
15 जल के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष संभव नहीं है वैसे ही संशयज्ञानस्थल में अन्यतर कोटि के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष का सम्भव नहीं है, इत्यादि पूर्वोक्त अनुसार (मरीचिजलज्ञानानुसार पृ० ३१२ से ३१८) यहाँ भी विवरण समझ लेना। संशयज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण संगत नहीं है तो क्या सविकल्प प्रत्यक्ष में संगति है ? नहीं नहीं, एकान्त अक्षणिक वस्तु स्वीकारवादी नैयायिक के मत में सविकल्प प्रत्यक्ष की सिद्धि का प्रस्तार भी सम्भवविहीन है। कारण, 'पहले जो बुद्धि का जनक नहीं है वह पीछे भी बुद्धि का जनक
20 नहीं हो सकता' ... इत्यादि जो दूषण पहले (२३५-३१) कहा गया है वह यहाँ भी अविचलरूप से सावकाश है। यह भी पहले कहा है () कि एकान्त अक्षणिक वस्तु वाद में पदार्थों को सहकारी की अपेक्षा संगतियुक्त नहीं, इस लिये यहाँ पुनरुक्ति नहीं करते हैं।

यह जो नैयायिकों ने कहा है — "प्रत्यक्षलक्षण में व्यवसायात्मकपद संशयज्ञान का व्यवच्छेद करने के लिये है। (२३३-१९) संशय उस प्रतीति को कहते हैं — जो 'यह कुछ है' इस प्रकार अनिश्चयात्मक
25 होती है, (वैशेषिकदर्शन के सूत्र २-२१७ के मुताबिक) जो सामान्यधर्म के दर्शन से, विशेष धर्म के अदर्शन से एवं विशेषधर्म के स्मरण से उत्पन्न होती है। नैयायिक ने भी न्यायदर्शन के सूत्र १-१-२३ में विशेषसापेक्ष विमर्श को संशय कहा है। ऐसा संशय 'व्यवसायात्मक' पद का व्यवच्छेद्य है।" — नैयायिकों के इस कथन पर प्रश्न है कि इस प्रतीति में क्या दीखता है — मात्र धर्मो अथवा धर्म ? यदि वास्तव धर्मो प्रतीत होता है तब तो वह सम्यग्ज्ञान रूप होने से व्यवच्छेद्य नहीं हो सकता। यदि
30 अवास्तविक धर्मो वहाँ दीखता है, तब तो 'अव्यभिचारि' पद से ही उस की व्यावृत्ति हो जाने से व्यवसाय-पद का प्रयोग निरर्थक ठहरा।

['अव्यभिचारि' पद से 'व्यवसायात्मक' पद की चरितार्थता]

संशय प्रतीति में यदि धर्म दिखता है — तो यहाँ कहो कि कौनसा धर्म दिखता है ? स्थाणुत्व,

प्रतिभाति तथाप्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव मिथ्याज्ञानत्वात्। एवं पुरुषत्वलक्षणप्रतिभासेऽप्येतदेव दूषणं वाच्यम्। उभयस्यापि तात्त्विकस्य प्रतिभासे न तज्ज्ञानस्य सन्देहरूपतेति नापोह्यता। उभयस्याप्यतात्त्विकस्य प्रतिभासे तद्विषयज्ञानस्य विपर्ययरूपता न सन्देहात्मकतेत्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव। अथैकस्य धर्मस्य तात्त्विकत्वम् अपरस्याऽतात्त्विकत्वम् — एवमपि तात्त्विकधर्मावभासित्वात् तज्ज्ञानमव्यभिचारि अतात्त्विकधर्मावभासित्वाच्च तदेव व्यभिचारीति एकमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च प्रसक्तम्। न च सन्दिग्धाकार-प्रतिभासित्वात् सन्देह- 5 ज्ञानमिति वाच्यम्, यतो यदि सन्दिग्धाकारता परमार्थतोऽर्थे विद्यते तदाऽबाधितार्थगृहीतिरूपत्वाद् न सन्देहज्ञानता सत्यार्थज्ञानवत्। अथ न विद्यते तदाऽव्यभिचारिपदेन तद्ग्राहिज्ञानस्यापोदितत्वाद् व्यवसायग्रहणं तद्व्यवच्छेदायोपादीयमानं निरर्थकम्। अथ न किञ्चिदपि तत्र प्रतिभाति न तर्हि तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमिति न तद्व्यवच्छेदाय व्यवसायात्मकपदोपादानमर्थवत्। तन्न तदपि प्रत्यक्षलक्षणे उपादेयम्।

यदपि 'फलस्वरूपसामग्रीविशेषणत्वेनाऽसंभवात्त्रेदं लक्षणम्' इति (२४५-१) तद्युक्तमेवाभिहितम्, 10 अस्य पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वात्। यदपि 'यतः' इत्यध्याहारात् (२४५-३/२५६-४) फल-विशेषणपक्षाश्रयणम् तदप्यसंगतम्; यतोऽपरिच्छेदस्वरूपस्याध्यक्षप्रमाणता विशिष्टप्रमितिजनकत्वेन प्रमेय-प्रमात्रोरिवाऽसङ्गता।

पुरुषत्व या दोनों ? यदि स्थाणुत्व भी वास्तव ही दिखता है तब तो वह सम्यग्ज्ञान है, फिर उस के व्यवच्छेद का प्रयास क्यों ? यदि स्थाणुत्वधर्म अवास्तव दिखता है तब तो अव्यभिचारी पद से ही उस का व्यवच्छेद हो जाता है क्योंकि वह मिथ्याज्ञान है। इसी तरह वास्तव/अवास्तव पुरुषत्व धर्म 15 के लिये भी ये ही दोष प्रसक्त होंगे। उभय पक्ष में भी यदि तात्त्विक उभय का प्रतिभास है तो उभय का ज्ञान संदेहरूप ही नहीं होने से वह व्यवच्छेद्य भी नहीं है। यदि उभय अवास्तव है ओर दिखता है तब तो उभयसंबन्धि ज्ञान विपर्ययरूप ही है न कि संदेहात्मक। विपर्यय का व्यवच्छेद तो अव्यभिचारीपद से ही सिद्ध है। यदि एक धर्म को तात्त्विक और दूसरे को अतात्त्विक मानेंगे तो एक ही ज्ञान तात्त्विक एवं अतात्त्विक धर्मों का अवभासक होने से क्रमशः अव्यभिचारि एवं व्यभिचारि, तथा वही एक ज्ञान 20 अव्यभिचारि होने से प्रमाण, व्यभिचारि होने से अप्रमाण — ऐसा विरुद्धधर्माध्यास प्रसक्त होगा।

ऐसा कहना कि — 'संशयज्ञान संदिग्धाकारभासक होने से संशयरूप होता है' — तो ऐसा कथन अयुक्त है, क्योंकि यदि विषय वस्तु में संदिग्धाकारता परमार्थतः विद्यमान है तब तो सत्यार्थज्ञान की तरह यह ज्ञान भी अबाधितार्थग्रहणरूप होने से संदेहरूप नहीं हो सकता। यदि विषय वस्तु में 25 संदिग्धाकारता नहीं है तब तो संदिग्धाकारताग्राहि ज्ञान का अव्यभिचारिपद से ही व्यवच्छेद हो जाने से, उस के व्यवच्छेद के लिये व्यवसायपद का ग्रहण व्यर्थ ठहरेगा। यदि वहाँ कुछ भी भास नहीं होता ऐसा कहेंगे तो न वहाँ ज्ञान होगा, न तो वहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होगा, तो किस के व्यवच्छेद के लिये व्यवसायपद प्रयोग सार्थक होगा ? निष्कर्ष, प्रत्यक्ष के लक्षण में व्यवसायपद का पठन अयोग्य है।

[न्यायदर्शानुक्त प्रत्यक्षलक्षण समर्थन के विविध वक्तव्यों की समीक्षा]

न्यायसूत्र के प्रत्यक्षलक्षण के विरोध में पहले जो कहा था — लक्षणान्तर्गत विशेषण फल, स्वरूप 30 या सामग्री तीन में से किसी के लिये संगत नहीं है, वह तो बिलकुल ठीक ही कहा है, क्योंकि तीनों पक्षों में कोई विशेषण घटित नहीं होता।

न च प्रमातृ-प्रमेययोरर्थान्तरत्वे सति विशिष्टप्रामितिजनकं यत् तत् प्रत्यक्षमिति विशेषणात् प्रमातृ-प्रमेयव्यतिरिक्तस्य तस्य प्रमाणता, संनिकर्षादिप्रमाणत्वाभिमतव्यतिरिक्तस्य तज्जनकस्य प्रमाणतेत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। न च सामग्र्यस्य संनिकर्षस्य वा साधकतमत्वात् प्रमाणता, साधकतमत्वस्य प्रमाणसामान्यलक्षणप्रस्तावे (६३-८) निरस्तत्वात्। यदपि 'इन्द्रियादेरचेतनस्य प्रमाणत्वं' प्रतिपादितम् (२४८-४) तदप्यतिप्रसङ्गतो-
5 ऽघटमानकम्। यदपि ज्ञानसद्भावे न काचित् तज्जन्या विषयाधिगतिः, अक्षादिसद्भावे तु विषयाधि-
गतिर्भिन्नोपजायत इत्यक्षादेरेवाधिगतिजनकस्य प्रमाणता' (२५२-७) इति - तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानस्यैव यथावस्थितार्थाधिगतिस्वभावतया प्रमाणत्वात्, प्रमाण-फलाभेदाविरोधस्य च प्रतिपादितत्वात्, अक्षादिसद्भावे तु विषयाधिगतेरसिद्धत्वात्।

तथाहि— व्यापारवदक्षादिसद्भावेऽपि व्यासक्तचेतसो न विषयाधिगतिः सत्यस्वप्नज्ञाने त्वक्षादिव्यापारा-

10 न्यायसूत्र के लक्षण में 'यतः' ऐसा पदाध्याहार कर के जो पहले (२४५-१२) फल के विशेषण-पक्ष का आशरा दिखाया गया था वह भी असंगत है। कारण 'यतः' पद का अध्याहार कर के इन्द्रियों की अध्यक्षप्रमाणता असंगत इस लिये है कि इन्द्रिय जड हैं, परिच्छेद (ज्ञान) स्वरूप नहीं है, उदा० प्रमेय और प्रमाता भी (न्याय मत में) ज्ञान स्वरूप न होने से, विशिष्ट प्रमाजनक होने पर भी अध्यक्षप्रमाणरूप नहीं है। यदि परिष्कार किया जाय कि 'प्रमेय-प्रमाता से भिन्न जो विशिष्ट प्रमाजनक हो वह प्रत्यक्ष है' -
15 तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि विना किसी आधार यदि प्रमेय-प्रमाता के भेद की विवक्षा करने पर तो संनिकर्षादि - जो आप को प्रत्यक्षप्रमाण रूप से इष्ट है - के भेद का भी अन्तर्भाव कर के उन से जो भिन्न विशिष्टप्रमाजनक हो उसे प्रमाण कहा जाय - ऐसा भी लक्षण करने की विपदा होगी।

साधकतमत्व को लक्षण बना कर कारकसमप्रता अथवा संनिकर्ष को साधकतम मान कर प्रमाण ठहराया जाय तो यह भी गलत है क्योंकि पहले (६३-२०) प्रमाण सामान्य के लक्षण की विस्तृत
20 चर्चा में साधकतमत्व का निरसन किया गया है। न्यायदर्शन में अचेतन (जड) इन्द्रियादि को 'प्रमाण' माना गया है (२४८-२२) वह भी जड विषयादि में अतिव्याप्ति होने के कारण असंगत ही है। यह जो पहले (२५२-२६) कहा था - 'ज्ञान के होते हुए भी कोई ज्ञानजन्य विषयबोध प्रतीत नहीं होता, जब कि इन्द्रियादि के रहते स्वतन्त्र विषयभान प्रतीत होता है। अत एव विषयबोधकारक इन्द्रियादि को 'प्रमाण' कह सकते हैं।' - यह भी बिना सोच के किया गया कथन है। कारण, जो यथार्थ
25 वस्तुबोधस्वभावरूप होता है वही 'प्रमाण' होता है, ज्ञान ही यथार्थवस्तुबोधरूप होता है न कि इन्द्रियादि, इस लिये प्रमाण हमेशा ज्ञानात्मक ही होता है न कि जड इन्द्रियादि। - "ज्ञान तो प्रमाण का फल है, उसे प्रमाण मानेंगे तो प्रमाण और फल का अभेद हो जायेगा।" - ऐसी आशंका व्यर्थ है क्योंकि एक ही वस्तु में (ज्ञान में) प्रमाणत्व और फलत्व का समावेश मानने में कोई विरोध नहीं है। यह पहले प्रदर्शित हो चुका है। इन्द्रियादि के रहते विषय का भान होने की बात तथ्यहीन है क्योंकि
30 इन्द्रिय के होने पर भी कई बार (व्यासंगकाल में) विषयबोध नहीं होता है, यह सर्वविदित है।

[अक्षादिव्यापार यथार्थ अर्थाधिगम का कारण नहीं है]

कैसे यह देखिये - व्यापारयुक्त इन्द्रियादि के रहते हुए भी चित्त व्याक्षिप्त होने पर विषयावबोध नहीं होता है! (अन्वयव्यभिचार हुआ)। सत्य स्वप्नज्ञान में इन्द्रियादिव्यापार के विरह में भी यथार्थ

भावेऽपि यथावस्थितार्थाधिगतिः उपलभ्यत इति न सा अक्षादिकार्या। न चाऽसावपि मनोऽक्षकार्या, परपरिकल्पितमनोऽक्षस्य प्रागेव निषिद्धत्वात्। अत एव 'चक्षुषाऽधिगतम्' इति तस्य साधकतमत्वाभिमानः न साधकतमताव्यवस्थापकः, तदभावेऽपि विषयाधिगतिसद्भावात्। 'ज्ञानेनाऽधिगतः' इत्यभिमानस्तु ज्ञानस्य साधकतमताव्यवस्थापक एव, ज्ञानाभावे तदधिगतेरभावात्। परम्परया तूपचरितमर्थाधिगतौ साधकतमत्वमक्षादेर्न प्रतिषिध्यते, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य स्वार्थाधिगतिस्वभावस्याक्षादिप्रभवत्वात्। 'तत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' 5 (तत्त्वार्थ० १-१४) इति वचनात्। एतेन प्रातिभस्याऽनक्षप्रभवस्यापि स्वार्थाधिगतिरूपस्य विशदतयाऽध्यक्षप्रमाणता प्रतिपादिता दृष्टव्या। तेन यत् तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वाभावप्रतिपादनेन मीमांसकैर्दूषणमभ्यधायि (२७०-३) यच्च नैयायिकैर्मनोऽक्षार्थजत्वसमर्थनेनोत्तरं प्रतिपादितं (२७०-६) तदुभयमप्ययुक्ततया व्यवस्थितम्। शेषं त्वत्र यथास्थानं प्रतिविहितत्वाद् न प्रत्युच्चार्य दूष्यते। तद् नैकान्तवादिप्रकल्पितमध्यक्षलक्षणमनवद्यम्।

विषयविबोध दिखता है जो इन्द्रियजन्य नहीं है। ऐसा नहीं कहना कि 'वह भी मनःस्वरूप इन्द्रिय 10 जन्य ही है', क्योंकि न्यायदर्शन-प्रदर्शित लक्षणवाले मनःस्वरूप इन्द्रिय का तो पहले ही हम खण्डन कर आये हैं। इसी लिये तो उन लोगों का जो यह 'चक्षु से जान लिया' — इस प्रतीति से चक्षु में साधकतमत्व की प्रतीति का अभिमान है वह वस्तुतः चक्षु में साधकतमत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वोक्तरीत्या चक्षु इन्द्रिय के बिना भी सत्य स्वप्नज्ञान में विषय का अवबोध अनुभवसिद्ध है। दूसरी ओर यह जो बुद्धि है कि 'ज्ञान से जान लिया', वह ज्ञान में साधकतमत्व की साधक 15 है, क्योंकि बिना ज्ञान के विषयावबोध कभी नहीं होता।

[इन्द्रियों में औपचारिक साधकतमत्व का अनिषेध]

यहाँ एक स्पष्टता जरूरी है कि इन्द्रियाँ साक्षात् तो विषयबोध में साधकतम नहीं है फिर भी विषयबोध के प्रति परम्परागत यानी औपचारिक साधकतमत्व का जैन मनीषी निषेध नहीं करते, स्व-पर अर्थावबोध स्वभाववाले हम लोगों के प्रत्यक्ष का जन्म इन्द्रियादि से ही होता है। तत्त्वार्थ सूत्र 20 (१-१४) में भी वाचकवर उमास्वाति महर्षिने कहा है कि 'जो सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है।' इन्द्रिय में साक्षात् साधकतमत्व का निषेध करने का तात्पर्य यह है कि बिना इन्द्रिय भी स्व-पर अर्थव्यवसायि एवं विशदस्वरूप जो प्रातिभ (प्रतिभाजन्य) ज्ञान किसी योगिपुरुष को होता है वह भी प्रत्यक्षप्रमाणरूप ही है, भले ही वहाँ इन्द्रिय का व्यापार न रहे। अत एव प्रातिभज्ञान में प्रत्यक्षत्व का निषेध करने के लिये मीमांसकों ने जो वहाँ इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व 25 के अभाव की आपत्ति दी है वह (२७०-२१) असंगत ही है। एवं नैयायिकों ने प्रातिभज्ञानरूप प्रत्यक्ष में भी मनःस्वरूप इन्द्रियार्थजन्यत्व के समर्थन द्वारा मीमांसकों के प्रति उत्तर दिया है (२७०-२६) वह भी निरर्थक है क्योंकि प्रत्यक्ष में साक्षात् इन्द्रियसंनिकर्ष का प्रभाव अमान्य है।

प्रत्यक्ष लक्षण की चर्चा में नैयायिकों ने पूर्वपक्ष के रूप में पहले (इस ग्रन्थ में) जो कुछ कथन किया है उन सभी का प्रायः यथावसर प्रतिविधान एक या दूसरे रूप में यहाँ किया जा चुका है 30 इस लिये उन की पंक्ति-पंक्ति को ले कर दोषारोपण का प्रयास बार बार नहीं किया जाता। सुज्ञ सुधी स्वयं समझ लेंगे। निष्कर्ष, एकान्तवादियों का उक्त प्रत्यक्षलक्षण निर्दोष नहीं है।

[जैनसिद्धान्ते प्रत्यक्षस्य सभेदस्य स्वरूपम्]

- किं पुनस्तदनवद्यम् ? 'स्वार्थसंवेदनं स्पष्टमध्यक्षं मुख्यगौणतः' () इत्येतत् । अत्र च मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषविशेषालम्बनमध्यक्षं सर्वज्ञसिद्धौ प्रतिपादितम् (प्रथम खंडे पृ०२२० तः २६६) । गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवमस्मदाद्यध्यक्षं विशदमुच्यते । अस्य च स्वयोग्योऽर्थः
- 5 स्वार्थः, तस्य संवेदनं विशदमुच्यते तथा निर्णयस्वरूपम् । तेन संशय-विपर्ययाऽनध्यवसायलक्षणस्य ज्ञानस्य संव्यवहाराऽनिमित्तस्य नाध्यक्षताप्रसक्तिः । नाप्यज्ञानरूपस्येन्द्रियादेरविकल्पस्य वा सौगतपरिकल्पितस्येन्द्रियजमानस-योगिज्ञानस्वसंवेदनरूपस्य । स्वं चार्थश्च स्वार्थो, तयोः संवेदनं स्वार्थसंवेदनमित्यस्यापि समासस्याश्रयणात् अर्थसंवेदनस्यैव जैमिनी-वैशेषिकादिपरिकल्पितस्य परोक्षस्य तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यस्याऽसंविदित-

[जैनसिद्धान्तानुसारि प्रत्यक्षलक्षण]

- 10 अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष के लक्षण को आपने सदोष करार दिया, तो बतलाओ कि निर्दोष लक्षण क्या है ?

व्याख्याकार अपने जैनदर्शन के आधार पर प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण प्रदर्शित करते हैं।

'मुख्य या गौण स्वरूप जो स्व-अर्थ का अथवा स्व एवं अर्थ का स्पष्ट संवेदन है वह अध्यक्ष है' यह प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण है।

- 15 एक तो सर्वज्ञ प्रत्यक्ष है जो 'मुख्य' शब्द से अभिप्रेत है। वह अशेष विशेषों को विषय करता हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान है — इस तथ्य का प्रतिपादन प्रथम खंड में (पृ० ५३ तः ६९) सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में हो चुका है।

दूसरा गौण किन्तु विशद (यानी स्पष्ट) अध्यक्ष यह है जो संव्यवहार (=निश्चयपूर्वक हानोपादान) का निमित्त होता है, असर्व पर्याय एवं असर्व द्रव्यों को विषय करता है, इन्द्रियजन्य या मनोजन्य

20 होता है। हम लोगों का (छद्मस्थों) प्रत्यक्ष इसी प्रकार का होता है।

इस प्रत्यक्ष का विषय है स्वयोग्य अर्थ यानी स्वार्थ। उस का स्पष्टरूप से निर्णय हो यही है संवेदन। 'स्पष्टरूप से' ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान और अनध्यवसायात्मक ज्ञान, जो संव्यवहार का निमित्त बनने योग्य नहीं, उस का व्यवच्छेद करना है। उपरांत, अज्ञान (अचेतनरूप) इन्द्रियादि का भी व्यवच्छेद करना है। तथा, बौद्धमत कल्पित निर्विकल्प ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का भी

25 व्यवच्छेद अभीष्ट है, क्योंकि वह संव्यवहार का निमित्त नहीं है। एवं बौद्धकल्पित निर्विकल्प स्वसंवेदनरूप इन्द्रियजन्य या मनोजन्य योगिज्ञान का भी व्यवच्छेद अभीष्ट है। कर्मधारय समास के बदले 'स्वार्थ' पद में द्वन्द्व समास का आश्रय ले कर ऐसा अर्थ किया जाय कि स्व (यानी ज्ञान स्वयं) और अर्थ (विषय) दोनों का ग्राहक जो संवेदन— वह स्वार्थसंवेदन है — तो इस के द्वारा ज्ञान को परोक्ष माननेवाले मीमांसकों के मत का निरसन अभीष्ट है क्योंकि मीमांसकमत में ज्ञान को, मात्र अर्थग्राहि एवं अपने

30 समान अधिकरण में समवेत उत्तरज्ञान के द्वारा ग्राह्य एवं अस्वसंविदित माना गया है। वैशेषिक मत में भी ज्ञान को अस्वसंविदित परोक्ष माना गया है। इस लिये उस के मत का भी निरसन हो जाता है। उपरांत विज्ञानवादी बौद्ध बाह्यार्थ को न मानते हुए ज्ञान को मात्र अपने स्वरूप का ही ग्राहक मानते हैं, उन का भी निरसन यहाँ 'अर्थ' शब्द से अभीष्ट है। तात्पर्य, बौद्ध, मीमांसक और वैशेषिक

स्वभावस्याध्यक्षताव्युदासः, विज्ञानवादिपरिकल्पितस्य च स्वरूपमात्रग्राहकस्य ।

प्रमाण-प्रमेयरूपस्य च सकलस्य क्रमाक्रमभाव्यनेकधर्माक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनः सद्भावेऽध्यक्षप्रमाण-
स्यैकस्य क्रमवर्तिपर्यायवशात् तथाव्यपदेशमासादयतश्चातुर्विध्यमवग्रहेहावायधारणरूपतयोपपन्नम् । तत्र विषय-
विषयिसंनिपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः । विषयस्य तावत् द्रव्य-पर्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्युप-
करणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्य- 5
तास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातो = योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावं दर्शनम्
उत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः । पुनः अवगृहीतविषयाकांक्षणमीहा । तदनन्तरं
तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः । अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा ।

अत्र च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणता उत्तरोत्तरस्य च फलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यम् कथञ्चित्
प्रमाणफलभेदश्चोपपन्नः । यथा च प्रतिभासभेदेऽपि ग्राह्य-ग्राहकसंविदां युगपदेकत्वं तथा क्रमभाविनामवग्रहादीनां 10

आदि मत परिकल्पित प्रत्यक्ष में वास्तव प्रत्यक्षत्व होता नहीं है ।

मुख्यप्रत्यक्ष का विवरण पहले सर्वज्ञसिद्धि के रूप में हो चुका है — इस लिये अब गौण प्रत्यक्ष
का विवरण किया जाता है । प्रमाण-प्रमेयात्मक सकल पदार्थ व्यक्तिशः एकरूप होते हुए भी अनेकधर्मों
से अवगुण्ठित होते हैं और वे धर्म भी कुछ तो समानकाल भावि (यानी कालक्रमरहित) होते हैं
तो कुछ धर्म पूर्वोत्तरकालक्रम भावि होते हैं । इस प्रकार क्रमाऽक्रमभावि धर्मों का ग्राहक गौण प्रत्यक्ष 15
भी अपने क्रमाक्रमभावि पर्यायों के कारण, कभी अवग्रह, कभी ईहा, कभी अपाय और कभी धारणा
ऐसी भिन्न भिन्न संज्ञाओं से निर्दिष्ट होने के कारण, एक ज्ञान की चतुर्विधता असंगत नहीं है ।

अवग्रह :- विषय एवं विषयि का संनिपात (सम्पर्क) होने के बाद जो सर्वप्रथम ज्ञान होता
है उसे 'अवग्रह' कहा जाता है । (यह गौण प्रत्यक्ष का आद्य प्रकार है ।)

अवग्रह का विशेषार्थ :- द्रव्य-पर्यायस्वरूप अर्थ को यहाँ विषय कहते हैं । विषयि है इन्द्रिय । 20
प्रत्येक इन्द्रिय के दो भेद हैं १-द्रव्येन्द्रिय, २-भावेन्द्रिय । द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं निर्वृत्ति इन्द्रिय और
उपकरणेन्द्रिय । भावेन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं — लब्धि इन्द्रिय और उपयोगेन्द्रिय । द्रव्येन्द्रिय है वह
विशिष्टपुद्गलपरिणामस्वरूप है । भावेन्द्रिय वस्तुग्रहणयोग्यतास्वरूप है । इन विषय-विषयि का क्रमिक
संनिपात, यानी योग्यदेशावस्थान होने पर प्रथम तो वस्तु की सत्ता मात्र का दर्शन होता है, बाद
में जो अपने विषय का प्रतिपादन (ग्रहण) करनेवाले विकल्परूप में परिणत होने वाला है, ऐसा स्वग्राहि 25
ज्ञान अवग्रहप्रत्यक्ष है ।

ईहा :- अवग्रह से दृष्ट विषय के बारे में विशेषान्वेषणरूप ज्ञान ईहाप्रत्यक्ष है ।

अवाय :- ईहा से अन्वेषित विशेष का निश्चयात्मक ज्ञान अवायप्रत्यक्ष है ।

धारणा :- अवायनिश्चित विशेषविषय का भविष्य में स्मरण करानेवाला ज्ञान धारणा है ।

[मतिज्ञान के भेदों में हेतु-फलभाव निरूपण]

30

इन चार भेदों में पूर्व-पूर्व भेद प्रमाणरूप यानी प्रमा के करणरूप है जिन का फल हैं उत्तरोत्तर
भेद । इस प्रकार, सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष, जिस का जैन परिभाषानुसार मतिज्ञान में अन्तर्भाव है, उस

हेतुफलरूपतया व्यवस्थितस्वरूपाणामेकत्वं कथंचिदविरुद्धम् अन्यथा हेतुफलभावाभावप्रसक्तिरिति प्रतिपादितमनेकशः। धारणास्वरूपा च मतिरविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञाऽपि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्ताऽप्यनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात्। तदुक्तम्- 'मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' (त.सू.१-१३) अनर्थान्तरमिति कथंचिदेकविषयम्। 'प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत्, शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतम्' () इति केचित्।

सैद्धान्तिकास्तु अवग्रहेहावायधारणाप्रभेदरूपाया मतेर्वाचका पर्यायशब्दाः मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्येते शब्दाः इति प्रतिपन्नाः। स्मृतिसंज्ञाचिन्तादीनां तु कथंचिद्गृहीतग्राहित्वेऽप्यविसंवादकत्वात् अनुमानवत् प्रमाणताऽभ्युपेया। न चानुमानस्याऽगृहीतस्वलक्षणाध्यवसायात् प्रामाण्यं न यथोक्तस्मृत्यादेः; शब्दाऽनित्यत्वादिषु लिङ्ग-लिङ्गिधियोरप्रमाणताप्रसङ्गात्, व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन साकल्येनानधिगतस्वलक्ष-

एक मतिज्ञान के चार प्रकार एवं उन में कथंचित् प्रमाण-फल का भेद संगत है। उदा० जैसे (संभवतः बौद्धमत में) ग्राह्य संवेदन एवं ग्राहक संवेदन का प्रतिभास अलग अलग होने पर भी उन दोनों में एककालीनता एवं एकत्व रह सकता है, उसी प्रकार जैन मत में हेतु-फल भाव से अवस्थित क्रमशाली अवग्रहादि चार में भी कथंचिद् ऐक्य होने में कोई विरोध नहीं है। यदि ऐसा नहीं माने — तो एकत्व के विरह में हेतु और फल में सम्बन्ध का मेल न खाने से हेतु-फल भाव का उच्छेद हो जायेगा। पहले भी अनेकशः यह बात कही जा चुकी है। मतिज्ञान के जो विविध भेद जैन शास्त्रों में दिखाये हैं वे सब प्रमाण हैं ? हाँ, देखिये — अविसंवादि स्मृतिरूप फल की जनिका होने से धारणा स्वयं प्रमाणभूत है। स्मृति भी प्रमाण है क्योंकि ऊहापोहात्मक प्रत्यवमर्शरूप संज्ञा की वह जनिका है। संज्ञा- जिस का स्वरूप है प्रत्यवमर्श, वह भी प्रमाण है क्योंकि तथाविध तर्क स्वभाव जो चिन्ता है उस की वह जनिका है। चिन्ता भी प्रमाण है क्योंकि वह अनुमानस्वरूप अभिनिबोध की जनिका है। अभिनिबोध भी प्रमाण है क्योंकि वह प्रामाणिक हान-उपादान बुद्धि का जनक है। इन विविध स्वरूपों को प्रदर्शित करने के लिये आचार्य उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थ सूत्र (१-१३) में कहा है — मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता एवं अभिनिबोध ये सब अर्थान्तररहित हैं। अर्थान्तररूप नहीं है, मतलब कथंचित् एकविषयक हैं। तात्पर्य, ये सब मतिज्ञान के ही विविध भिन्नाभिन्न स्वरूप हैं। कुछ आचार्यों का कथन ऐसा है — शब्दयोजना से पूर्व में जो इन्द्रियादि द्वारा स्पष्ट ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। ये ही मतिज्ञान के विविध स्वरूप जब शब्दयोजना से अवगुण्ठित हो जाते हैं तब जो अनेक प्रकार वाला अविशद ज्ञान होता है वह मतिज्ञानरूप नहीं किन्तु श्रुतज्ञान होता है।

[मति-स्मृति आदि शब्द मति के पर्यायशब्द - सैद्धान्तिकमत]

आगमिक व्याख्याताओं का कथन तो ऐसा है कि ये जो मति-स्मृति-चिन्ता-संज्ञा-अभिनिबोध पाँच शब्द तत्त्वार्थसूत्र में कहे हैं वे अवग्रह-इहा-अपाय-धारणा चतुष्टय स्वरूप समुचे मतिज्ञान के पर्यायशब्द हैं। गृहीतग्राहि ज्ञान को अप्रमाण माननेवाले मीमांसकादि के प्रति व्याख्याकार कहते हैं कि भले ही ये स्मृति-चिन्ता-संज्ञादिभेद गृहीतग्राहि हैं फिर भी अप्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे अविशद हैं, अविशद

णाध्यवसायिना सत्त्वाऽनित्यत्वादेर्ग्रहणे तयोः समधिगतस्वलक्षणविषयत्वात्। शेषमत्र सविकल्पकमध्यक्षं प्रसाध्यदिभश्चिन्तितम् (२१६-३ पर्यन्तम्)। अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादि- व्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः।

[चार्वाकस्य प्रत्यक्षेतरप्रमाणनिषेधवादः]

अत्राहुश्चार्वाकाः — भवतु सांव्यवहारिकं विशदमध्यक्षम्, अनुमानादिकं तूपचरितरूपत्वाद् विषयाभावाच्च 5 प्रमाणमनुपपन्नमिति कथं शब्दयोजनात् श्रुतं स्मृत्याद्युपपत्तिमत् ? तदुक्तम्- 'प्रमाणस्याऽगौणत्वादनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभः' (द्र० प्र० खंडे पृ० २८५-१०) तथा 'अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्' ()। न चानुमानमर्थपरिच्छित्ति- स्वभावम्, तद्विषयाभिमतस्य सामान्यादेरर्थस्याभावात्। भावेऽपि यदि विशेषः तद्विषयोऽभ्युपगम्यते तदा ज्ञान अनुमानवत् सर्वत्र प्रमाणभूत ही माना जाता है। अतः स्मृति आदि भेदों को भी प्रमाण मानना चाहिये।

[गृहीतग्राहि ज्ञान भी प्रमाण]

10

यदि कहा जाय — अनुमान (अभिनिबोध) तो अगृहीत स्वलक्षण का अध्यवसायि होने से प्रमाणभूत स्वीकृत है, किन्तु स्मृति आदि गृहीतग्राहि प्रमाण नहीं है — तो यह भी गलत है क्योंकि शब्द की अनित्यता आदि के अनुमान में लिंग की (सत्त्व की) बुद्धि एवं लिङ्गि (अनित्यत्व) की बुद्धि दोनों में अप्रामाण्य का अनिष्ट आ पड़ेगा। कारण, व्यापकरूप से समग्रतया अगृहीत शब्द स्वलक्षणों के अध्यवसायि व्याप्तिग्राहक प्रमाण से सत्त्व-अनित्यत्व धर्मों का पहले ग्रहण होने के बाद जब अनुमान 15 से उन का ग्रहण होगा तब वह गृहीत सत्त्व-अनित्यत्व का ही ग्रहण होगा, इस प्रकार उन्हें अप्रमाण मानने का अनिष्ट प्रसक्त होगा।

प्रत्यक्ष लक्षण के बारे में और जो कुछ वक्तव्य है वह पहले सविकल्प प्रत्यक्ष की सिद्धि की चर्चा में (२१६-१७ पर्यन्त) सोच लिया गया है अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं।

मति एवं श्रुत का स्पष्ट विभाजन ज्ञात करने के लिये व्याख्याकार कहते हैं — शब्दयोजना 20 के पहले, अविसंवादि व्यवहार प्रवर्तन में समर्थ जो स्मृति आदि उदित होते हैं वे मतिज्ञान रूप हैं, किन्तु शब्दयोजना के बाद जो स्मृति आदि उत्पन्न होंगे वे सब श्रुतज्ञानरूप हैं। इति।

[चार्वाक की ओर से प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाण का प्रतिक्षेप]

चार्वाक यानी नास्तिकमतानुयायी कहते हैं — सांव्यवहारिक एवं स्पष्ट ज्ञान को अध्यक्ष मानना ठीक है। किन्तु अनुमानादि को प्रमाण मानना अयुक्त है क्योंकि वह नकली एवं विषयशून्य होता 25 है। नकली यानी प्रमाणाभासरूप, एवं विषयशून्य यानी विषय से निरपेक्ष। तो आपने कैसे कहा कि शब्द संयोजन से होनेवाला ज्ञान श्रुतात्मक प्रमाण है तथा स्मृति आदि भी शब्दसंयोजन न हो तब तक अध्यक्ष प्रमाणरूप कैसे हो सकता है ? कहा गया है कि 'प्रत्यक्ष तो अगौण (अनुपचरित) होता है, अनुमान से अर्थनिर्णय दुःशक्य है।' तथा यह भी कहा गया है — 'अगृहीत अर्थ का परिच्छेद प्रमाण होता है।' अनुमान कहाँ अर्थपरिच्छेदरूप है ? उस का जो कल्पित सामान्यादि वस्तु विषय 30 माना गया है वह तो असत् है। यदि अनुमान का कोई विषय माना जाय तो वहाँ प्रश्न यह होगा कि वह विषय विशेष (स्वलक्षण) रूप है ? या सामान्यरूप ? यदि विशेष को (व्यक्ति को) अनुमानगोचर

तत्र हेतोरनुगमाभावः, अथ सामान्यं तद्विषयः तदा सिद्धसाध्यताप्रसक्तिः। तदुक्तम् — ‘विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्।’ () इति। किञ्च, व्याप्तिग्रहणे पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमानं प्रवर्तते। न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः संभवति, तस्य संनिहितमात्रार्थग्राहकत्वेन सकलपदार्थाक्षेपेण व्याप्तिग्रहणेऽसामर्थ्यात्। नाप्यनुमानं तद्ग्रहणक्षमम् तस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरतया तत्र प्रवृत्तेः, अनुमानात्तद्ग्रहणेऽनवस्थे-
5 तरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तस्य च व्याप्तिग्राहकत्वाऽयोगात्, विशेषविरुद्धानुमानविरोधयोश्च सर्वत्र सुलभत्वात् कुतोऽनुमानस्य प्रामाण्यम् ?

[चार्वाकवादप्रतिविधानम्]

अत्र प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादिनः सौगताः प्रतिविदधति— प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः परबुद्धिपरिच्छितेः स्वर्गापूर्वदेवतादिप्रतिषेधस्य चाऽकृतलक्षणाभिः स्वसंवित्तिभिः कर्तुमशक्तेः प्रमाणान्तरसद्भावः सिद्धः। यच्च
10 ‘प्रमाणस्याऽगौणत्वात्’ (३२७-६) इत्युक्तम् तत्र यद्यगौणत्वमनुपचरितत्वमभिप्रेतम् तदाऽनुमानमप्यनुपचरितमेव मानेगे तो व्यक्ति से व्याप्त कोई अनुगत हेतु न होने से अनुमान ही नहीं होगा। यदि सामान्य को विषय मानेगे तो सिद्धसाधन दोष होगा। (पहले तो अनुमान का सामान्यादि अर्थ नहीं है ऐसा कहा है, अतः कल्पितविषयता के कारण अनुमान अप्रमाण— इस अर्थ में फिर सिद्धसाधन दोष है) हम भी कहते हैं कि अनुमान सामान्यगोचर होता है किन्तु वह सामान्य वस्तुभूत नहीं है। प्राचीन ग्रन्थ
15 में कहा है — ‘विशेष होने पर अनुगमविरह और सामान्य होने पर सिद्धसाधन।’

[व्याप्तिग्रह का असंभव]

दूसरी बात यह है — व्याप्ति का ग्रह एवं हेतु में पक्षधर्मता का अवबोध होने पर ही अनुमानप्रवृत्ति होती है। यहाँ व्याप्तिग्रह कैसे होगा यह बड़ा प्रश्न है। प्रत्यक्ष से वह सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष तो संनिहित (स्वदेशकाल में प्राप्त) अर्थ का ही बोधक होता है, जब कि व्याप्ति तो संनिहित-असंनिहित
20 सर्व अर्थों को गोद में लेकर प्रवृत्त होती है तो वहाँ प्रत्यक्ष कैसे उन के ग्रहण में सक्षम होगा ? अनुमान भी व्याप्तिग्रहसक्षम नहीं हो सकता। क्योंकि व्याप्तिग्राहक अनुमान में भी व्याप्तिग्रह की आवश्यकता रहेगी, उस का ग्रह अन्य अन्य अनुमान से मानने पर अनवस्था दोष लगेगा। यदि दूसरे अनुमान की व्याप्ति का ग्रह प्रथम अनुमान से मानेगे तो अन्योन्याश्रय दोष गले पड़ेगा। प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़ कर और तो कोई उपाय नहीं है जिस से व्याप्ति का ग्रह हो। उपरांत, प्रत्येक अनुमान में विशेषविरुद्ध
25 संज्ञक दोष एवं प्रतिअनुमानविरोध दोष ये दो दोष तो सर्वत्र सुलभ रहेगा, फिर अनुमान को कैसे प्रमाण माना जाय ? (प्रथम दोष की चर्चा प्रथम भाग में हो गयी है (५००-१८)। दूसरा दोष सुगम है।)

[अनुमान प्रमाण की सिद्धि - बौद्ध वक्तव्य]

चार्वाकमत के प्रतिकार में प्रत्यक्षानुमानप्रमाणयुगलवादी बौद्धमतानुयायी अब अपना मत प्रस्तुत करते हैं — प्रत्यक्ष के उपरांत भी अन्य प्रमाण है — उस की साधक तीन युक्ति हैं — १. प्रमाणेतर
30 सामान्यस्थिति यानी ‘यह ज्ञान प्रमाण यह अप्रमाण’ ऐसा भेदव्यवहार प्रत्यक्ष से तो शक्य नहीं है, अतः भेदव्यवहार की उपपत्ति के लिये अनुमान को प्रमाण स्वीकारना होगा। २. अतीन्द्रिय होने पर भी अन्य व्यक्ति के अभिप्राय का पता चलता है, जो बहुत सारे व्यवहारों की नींव है। ३. नास्तिक यदि स्वर्ग, अपूर्व एवं देवतादि का प्रतिषेध करना चाहे तो अनुमान से ही कर सकता है, अकृतलक्षणावाले

अस्खलितबुद्धिरूपत्वात्। अथ धर्मिधर्मसमुदायस्य साध्यत्वे हेतोः पक्षधर्मत्वम् अन्वयो वाऽसंभवीति, धर्मिणः साध्यत्वं पक्षधर्मत्वप्रसिद्ध्यर्थं धर्मस्य चान्वयसिद्ध्यर्थमुपचरितमित्युपचरितविषयत्वादानुमानमुपचरितम्। असदेतत्, यतो यत्र धर्मिणि धूममात्रमग्निमात्रव्याप्तमुपलभ्यते तत्रैवान्निप्रतिपत्तिर्भवन्ती लोके दृश्यत इति कस्यात्रोपचारः ? समुदायस्याप्येवं साध्यत्वं सिद्ध्यत्येव। यदाह— 'केवल एव धर्मो धर्मिणि साध्यस्तथेष्ट-समुदायस्य सिद्धिः कृता भवति' ()। इति। पुनरप्युक्तम् () —

धर्मस्याऽव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते। तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति।। इति। 5

न चानुमानविषये 'साध्य'शब्दोपचारेऽनुमानमुपचरितं नाम। न चाऽगौणत्वादभ्रान्तत्वात् प्रमाणस्य, अनुमानस्य च भ्रान्तत्वादप्रामाण्यम्; भ्रान्तस्याप्यनुमानस्य प्रतिबन्धबलादुपजायमानस्य प्रामाण्यसिद्धेः। तथाहि-प्रत्यक्षस्यापि अर्थस्याऽसंभवेऽभाव एवाऽव्यभिचारित्वलक्षणं प्रामाण्यम् तच्च साध्यप्रतिबद्धहेतुप्रभवस्यानु-

यानी उपचार किये विना अपने संवेदन से तो उस का निषेध कर नहीं सकता।

यह जो चार्वाकने कहा कि — प्रमाण कभी गौण नहीं मुख्यार्थक ही होता है — वहाँ अगौणत्व 10 का मतलब क्या है ? यदि अनुपचरितत्व से मतलब है तो हम कहते हैं कि अनुमान अनुपचरित ही है, क्योंकि वह बाधानाक्रान्तबुद्धिस्वरूप है। यदि ऐसा कहा जाय — “अनुमान का साध्य धर्मि-धर्म समुदाय है या धर्मो और धर्म पृथक् पृथक् साध्य है ? यदि समुदाय को साध्य मानेंगे तो ऐसा कोई धर्मो-धर्मउभय का अधिकरण नहीं है जिस में हेतु रहता हो, अतः हेतु में पक्षधर्मत्व सिद्ध नहीं होगा। (धर्मो पर्वत के अधिकरण धरती में धूम नहीं रहता)। तथा हेतु कभी समुदाय का व्याप्य 15 नहीं होता। नतीजतन, आप को कहना होगा कि धर्मो स्वतः साध्य नहीं है किन्तु हेतु की पक्षधर्मता उपपन्न करने के लिये उस को साध्यकोटि में रखा गया है। तथा धर्म भी स्वतः साध्य नहीं है किन्तु व्याप्ति के प्रदर्शन के लिये उसे भी साध्य कोटि में लिया है — इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि वे दोनों वास्तव साध्य नहीं है किन्तु उपचरित है, उपचरित विषयक होने से अनुमान भी उपचरित हुआ, अत एव वह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता” — तो यह सब गलत है। कारण :- जिस धर्मो 20 में अग्निमात्र से व्याप्त धूममात्र उपलब्ध होता है वहाँ लोक में अग्नि का अवबोध होता दिखाई देता है — तो यहाँ उपचरितत्व कैसे जब कि वास्तव ही अग्नि की उपलब्धि होती है ?! अत एव यहाँ धर्मो-धर्म के समुदाय को साध्य मानने में कुछ भी असम्भव नहीं है, क्योंकि तभी पर्वत धर्मो में धर्म अग्नि का बोध होता है। किसीने कहा भी है — 'यदि धर्मो में सिर्फ धर्म को ही केवल साध्य मानेंगे तो इस से ही (धर्मो की भी अधिकरणरूप में साध्यता सिद्ध हो जाने से) समुदाय 25 की भी सिद्धि अर्थापत्ति से प्राप्त है।' किसीने पुनः यह भी कहा है — 'एक धर्म का अन्य धर्म के साथ अन्य स्थान में अव्यभिचार प्रकाशित किया जाता है तब वहाँ प्रस्तुत में प्रसिद्ध (धर्म) स्वअव्यभिचारयुक्त धर्मो का बोध करायेगा।'

[भ्रान्त अनुमान भी व्याप्ति के बल से प्रमाण]

अनुमान का विषय स्वतः साध्य नहीं है किन्तु 'साध्य' शब्द के उपचार से साध्य है — इस 30 का मतलब यह नहीं कि अनुमान भी उपचरित है। यदि कहा जाय — प्रमाण तो अगौण एवं अभ्रान्त

मानस्याप्यस्तीति कथं न प्रामाण्यम् ? तदुक्तम् — (द्रष्टव्यं प्र० खंडे पृ० २९६-३)

अर्थस्याऽसंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥ इति।

तेन 'अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्' इत्यादि यदुक्तम् (३२७-७) तदप्यपास्तम्, यतः सर्व एव

प्रेक्षावान् प्रवृत्तिकामः प्रमाणमन्वेषते प्रवृत्तिविषयार्थप्रदर्शकम्। अर्थक्रियासमर्थश्चार्थः प्रवृत्तिविषयः। अनागतं

- 5 च प्रवृत्तिसाध्यमर्थक्रियासामर्थ्यमर्थस्य नाध्यक्षमधिगन्तुं समर्थम् भाविनि प्रमाणव्यापाराऽसम्भवात्, तत् कथमस्यार्थपरिच्छेदमात्रात् प्रामाण्यं युक्तम् ? अतः स्वविषयेऽध्यक्षं तदुत्पत्त्या 'यत् पूर्वं मया प्रबन्धेनार्थक्रियाकारि प्रतिपन्नं वस्तु तदेवेदम्' इति निश्चयं कुर्वत् प्रवर्तकत्वात् प्रमाणम्। अनुमानेऽपि चैतत् समानम्, यतोऽर्थक्रियाकारित्वेन निश्चितादर्थात् पारम्पर्येणोत्पत्तिरेवाऽव्यभिचारित्वलक्षणं प्रामाण्यमनुमानेऽप्यध्यक्षवत् कथं नाऽविप्रतिपत्तिविषयः ? प्रतिपद्यत एव चाग्न्यनुमानस्य तदुत्पत्त्या बाह्यवह्न्यध्यवसायेन लोकोऽध्यक्षवत्

- 10 होता है जब कि अनुमान तो भ्रान्त होता है (चूंकि वह स्वलक्षणग्राहि नहीं होता)। अतः अप्रमाण है — यह भी गलत कथन है, क्योंकि व्याप्ति के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण भ्रान्त अनुमान भी प्रमाण ही होता है। प्रत्यक्ष का प्रामाण्य कौन सा होता है — अर्थ न हो तो वह स्वयं भी उदित नहीं होता, यही है अव्यभिचारित्वरूप प्रत्यक्ष का प्रामाण्य। अनुमान में भी ऐसा प्रामाण्य असंगत नहीं है — साध्य से व्याप्त हेतु से उत्पत्ति यही अव्यभिचारित्व है जो अनुमान में अक्षुण्ण है फिर
- 15 उसे क्यों प्रमाण न माना जाय ? कहा भी है — 'प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य यही है अर्थ के विरह में न होना। प्रतिबद्ध स्वभाववाले अनुमान में भी प्रामाण्य का निमित्त वही है — इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों समान ही हैं।' ()

[प्रत्यक्ष की तरह अनुमानप्रामाण्य की संगति]

अनुमान का प्रामाण्य अविरोद्ध है इस लिये उस के विरोधार्थ जो पहले चार्वाकने (३२७-३०)

- 20 कहा था कि 'प्रमाण अगृहीतार्थग्राही होता है' वह निरस्त हो जाता है। उस का यह कारण है कि सभी बुद्धिमान् लोग प्रवृत्ति की अभिलाषा होने पर प्रवृत्ति के विषयभूत अर्थ के प्रदर्शक प्रमाण की अपेक्षा करते हैं। प्रवृत्तिविषयभूत भावि अर्थ के अर्थक्रियासामर्थ्य का पता तो भाविप्रवृत्ति से सिद्ध होगा, अत एव भावि सामर्थ्य का पता लगाने में प्रत्यक्ष समर्थ नहीं होता क्योंकि भावि विषय के प्रति (प्रत्यक्ष) प्रमाण का व्यापार सम्भव नहीं होता। जब तक प्रत्यक्ष के विषय का अर्थक्रियासामर्थ्य
- 25 प्रच्छन्न है तब तक सिर्फ अर्थपरिच्छेदमात्र से उस को प्रमाण मान लेना कहाँ तक उचित है ? फलितार्थ यह हुआ कि सिर्फ अर्थपरिच्छेदमात्र के बल से नहीं किन्तु अपने विषय में प्रत्यक्ष उत्पन्न होने के साथ 'पहले मैंने प्रवृत्ति प्रक्रिया के द्वारा जो अर्थक्रियाकारि वस्तु प्राप्त की थी वही (वैसी ही) यह है' ऐसा निश्चय करानेवाला अध्यक्ष प्रवृत्तिकारक बन जाने से प्रमाण माना जाता है। अनुमान में भी यह बात समान है। कारण, अनुमान भी 'अर्थक्रियाकारिरूप से निश्चित' अर्थ से परम्परया उत्पन्न
- 30 होता है वही उस का अव्यभिचारित्वरूप प्रामाण्य है। इतनी समानता अक्षुण्ण होने पर प्रत्यक्ष की तरह अनुमान का प्रामाण्य विवादास्पद कैसे माना जाय, अस्वीकारपात्र कैसे कहा जाय ? लोग भी प्रत्यक्ष की तरह, बाह्य अग्नि के अध्यवसाय द्वारा, बाह्य अग्नि से परम्परया उत्पन्न अग्नि के अनुमान

प्रामाण्यम् ।

अथाऽध्यक्षमपि प्रमाणं नेष्यते, तर्हि लोकप्रतीतिबाधा भवन्तमनुबध्नाति अध्यक्षानुमानयोः प्रमाणतया लोके प्रतीतत्वात् । न च नाध्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यमस्माभिर्निषिध्यते किन्तु त्रिलक्षणं चतुर्लक्षणं वा लिङ्गं न केनचित् प्रमाणेन भवतः प्रसिद्धमिति पर्यनुयोगे यद्यनुमानं साधकमभिधीयते ततस्तत्रापि स एव पर्यनुयोग इत्येवं सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव बृहस्पतेः सूत्राणीति (प्र० खण्डे पृ० २८३-३) वक्तव्यम् । यतः पक्षधर्मात् 5 तदंशव्याप्तात् प्रमाणतोऽवगतात् साध्यप्रतिपत्तिरनुमानम् । पक्षधर्मतानिश्चयश्च क्वचित् प्रत्यक्षात् क्वचिच्चानुमानात् । यत्राप्यनुमानात् तन्निश्चयः तत्रापि नाऽनवस्थादिदूषणम् प्रत्यक्षादेव क्वचित् तन्निश्चयादनवस्थादिदोषव्यावृत्तेः । तदंशव्याप्तिनिश्चयश्च कार्यहेतोः कस्यचित् स्वभावहेतोश्च विशिष्टप्रत्यक्षादेव ।

को प्रमाणभूत स्वीकारते ही हैं।

[चार्वाक के लिंगसिद्धिकारक प्रमाण विषयक प्रश्न का उत्तर]

10

यदि चार्वाकवादी कहें कि — 'हमारा काम तो दूसरों के मत में आपत्ति उठाने का ही है, बाकी हम तो प्रत्यक्ष को भी प्रमाण नहीं स्वीकारते तो उसके उदा० से अनुमान की प्रमाणता का सपना भी कहाँ ?' — तो चार्वाक को लोकप्रतीति के बाध का बन्धन गले पड़ेगा यह बड़ी आपत्ति होगी। कारण, लोग तो प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मान कर ही चलते हैं। अब चार्वाक कहता है — "हम प्रत्यक्ष या अनुमान के प्रामाण्य का निषेध नहीं करते हैं (स्वीकार भी नहीं) किन्तु 15 आप जो तीन या चार (पक्षसत्त्वादि) लक्षणवाले लिङ्ग का स्वीकार करते हैं वह किस प्रमाण से — यह हमारा प्रश्न है, इस के उत्तर में आप अनुमान को ही लिङ्ग साधक प्रमाण बतलायेंगे तो उस अनुमान का लिङ्ग भी किस प्रमाण से सिद्ध है — वही प्रश्न पुनरावर्तित होगा — इस प्रकार हमारे मत के जितने भी प्रसिद्ध सूत्र हैं उन का तात्पर्य यही समझना कि हम अन्य सभी दर्शनों की मान्यता पर प्रश्न ही प्रश्न खड़े करनेवाले हैं, (प्र० खण्ड पृ० २८३-१८) न कि हम किसी मत 20 का स्थापन करते हैं।" — ऐसा कहना अयुक्त ही है। कारण, प्रमाणसिद्ध एवं अपने साध्यांश के साथ व्याप्त हो ऐसे पक्षधर्म (हेतु) के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उस को हम अनुमान प्रमाण कहते हैं, मतलब पक्षधर्मता एवं व्याप्ति के आधार पर लिङ्ग का निर्णय असम्भव नहीं है, फिर अनवस्था कैसे ? यदि पूछा जाय कि पक्षधर्मता का निश्चय कैसे हुआ तो उत्तर है कि कभी तो वह प्रत्यक्ष से ही हो जाता है, तो कभी अनुमान से भी होता है। जब अनुमान से निश्चय किया 25 जाय तब भी अनवस्था आदि दोष को अवकाश नहीं रहता, क्योंकि अनुमान से निश्चित की जानेवाली पक्षधर्मता का भी प्रत्यक्ष से पुनः निश्चय हो सकता है। अतः अनवस्था दोष को वहाँ रोक लग जाती है। साध्य के साथ व्याप्ति के निश्चय में भी अनवस्था दोष नहीं लगता, क्योंकि विशिष्ट प्रत्यक्ष से ही कभी कार्य हेतु की या कभी स्वभावहेतु की व्याप्ति का निश्चय सुलभ होता है। उदा० जब कभी स्वभावहेतु के रूप में अनित्यत्व का प्रयोग होता है तब प्रत्यक्ष से ही अनित्यत्वरूप स्वभावहेतु 30 का निश्चय प्राप्त रहता है। यदि पूछा जाय कि — अनित्यत्व यानी क्षणिकत्व जब निर्विकल्प प्रत्यक्ष गृहीत होने से सिद्ध है तो फिर सत्त्व हेतु से उस का अनुमान व्यर्थ क्यों नहीं होगा — तो उत्तर

स्वभावहेतोरप्यनित्यत्वस्याऽध्यक्षेणैव प्रतिपत्तेस्तन्निबन्धन एव तन्निश्चयः अध्यक्षावगतेऽपि च क्षणिकत्वे तद्व्यवहारसाधनाय प्रवर्तमानमनुमानं न वैयर्थ्यमनुभवेत् शिंशपात्वाद् वृक्षत्वानुमानवत्।

न च सत्त्व-क्षणिकत्वयोस्तादात्म्ये सत्त्वनिश्चये क्षणिकत्वस्यापि निश्चयात् तदनिश्चये वा सत्त्व-स्याप्यनिश्चयात् - अन्यथा तत्तादात्म्याऽयोगात् - क्षणिकत्वानुमानवैयर्थ्यम्; यतो निश्चयापेक्षो हि गम्य-
5 गमकभावः निश्चयश्चानुभवाऽविशेषेऽपि सत्त्व एव, न क्षणिकत्वे, सदृशापरापरोत्पत्त्यादेर्भ्रान्तिनिमित्तस्य सद्भावात्, विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या सत्त्व-क्षणिकत्वयोस्तादात्म्यसिद्धेः बाधकप्रमाणस्य च प्रतिबन्ध-
सिद्धिरध्यक्षतः इति नानवस्थादिदोषः। न च निर्विकल्पकं व्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणाक्षमम् विकल्पोत्पादनद्वारेण तस्य तत्र सामर्थ्याभ्युपगमात्। न चाऽप्रमाणकेन परः पर्यनुयुज्यते वादि-प्रतिवादिनोः पर्यनुयोगस्य प्रमाणत्वे-

है कि क्षणिकत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध होने पर भी उस के व्यवहार का सम्पादन अनुमान से प्राप्त होता है, जैसे प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी वृक्षत्व व्यवहार का सम्पादन शिंशपा हेतु के द्वारा किया जाता है। अतः क्षणिकत्व का अनुमान व्यर्थ नहीं होगा।

[क्षणिकत्वनिश्चय की सिद्धि से अनुमानव्यर्थता - चार्वाक]

चार्वाक :- फिर भी आप का क्षणिकत्वानुमान व्यर्थ ही है। कैसे यह देखो - आप के मत में स्वलक्षण पदार्थमात्र सत् एवं क्षणिक है। सत् एवं क्षणिक में अथवा सत्त्व एवं क्षणिकत्व में कुछ
15 भी भेद नहीं है। दोनों अभिन्न है, अत एव सत्त्व के निश्चय में क्षणिकत्व भी निश्चित हो गया, यदि क्षणिकत्व का निश्चय नहीं हुआ तो सत्त्व भी अनिश्चित ही मानना होगा। यदि एक का निश्चय, दूसरे का अनिश्चय ऐसा मानेंगे तो उन दोनों का तादात्म्य असत् हो जायेगा। इस प्रकार सत्त्वहेतु का निश्चय क्षणिकत्वनिश्चयरूप ही होने से पुनः क्षणिकत्व का अनुमान क्यों व्यर्थ नहीं होगा ?-

[क्षणिकत्व निश्चय न होने से अनुमान सार्थक - बौद्ध]

बौद्ध :- नहीं होगा। कारण, हेतु और साध्य का बोधक-बोध्यभाव हेतु के निश्चय-मूलक ही होता है। हालांकि निर्विकल्पानुभव तो सत्त्व-क्षणिकत्व दोनों का होता है फिर भी (यानी सत्त्व-क्षणिकत्व का तादात्म्य रहने पर भी) निश्चय तो सिर्फ सत्त्व का ही होता है क्षणिकत्व का नहीं। सत् पदार्थ यद्यपि क्षणिक ही होता है फिर भी अक्षणिक (स्थायी) दिखता है वह भ्रान्ति है, भ्रान्ति का मूल है प्रतिक्षण सजातीय सदृश नये नये पदार्थों की उत्पत्ति। यदि - 'सत् होने पर भी पदार्थ क्षणिक
25 नहीं होगा तो' - इस प्रकार विपरीत शंका का उद्भव हो तो उस का निवारक बाधक प्रमाण यह है कि 'पदार्थ का कभी ध्वंस ही नहीं होगा।' इस प्रकार सत्त्व एवं क्षणिकत्व में तादात्म्य सिद्ध होने पर तादात्म्यसम्बन्धमूलक व्याप्ति सिद्ध होने से क्षणिकत्व (जो कि सत्त्व के निश्चित होने पर भी अनिश्चित रहता है उस) का अनुमान भी निर्बाध एवं सार्थक बन गया। यहाँ व्याप्ति की सिद्धि के लिये जो बाधक प्रमाण 'ध्वंस-असंभव' का दिया गया वह भी व्याप्ति आधारित है इस का मतलब
30 यह नहीं कि अब अनवस्था दोष प्रसक्त होगा; अनवस्था नहीं होगी क्यों कि बाधक प्रमाण की मूलभूत व्याप्ति अनुमान-व्याप्ति आधारित नहीं किन्तु प्रत्यक्ष से सिद्ध है। सत् वस्तुमात्र का ध्वंस प्रत्यक्ष सिद्ध है अत एव क्षणिकत्व-सत्त्व की व्यतिरेकव्याप्ति भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

नाऽसिद्धेः। अथ 'यथा वचनात्मकमनुमानं न वक्तुः प्रमाणम् अथ चानेन वक्ता परान् प्रतिपादयति तथाऽप्रमाणकेन पर्यनुयोगः क्रियत इति' अयुक्तमेतत् — यतो वचनाद् द्वयोरप्यर्थप्रतीतिः प्रमाणभूतैवोत्पद्यते ऽर्थपरिच्छेदकत्वात्, केवलं वक्तुरधिगमस्य निष्पन्नत्वात् प्रमाणं नोच्यते न पुनरप्रमाणं भवति, अप्रामाण्ये वा द्वयोरप्यप्रमाणमिति कथं तथाऽर्थप्रतीतिः ?

यदपि 'परप्रसिद्धेनानुमानेन तदेव निषिध्यते' इत्युच्यते तदप्येतेनैव निरस्तम्। यच्च 'तद्विषयस्य सामान्यादेरभावादननुमानमप्रमाणम्' इत्युक्तम् (३२७-७) तदप्यतद्गुणपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधकत्वेनानुमानस्य 5 प्रतिपादनात् प्रतिविहितम्। यथोक्तस्य च सामान्यस्याऽयोगव्यवच्छेदेन प्रतिनियतदेशादिसम्बन्धितयाऽनुमानेन प्रसाधनात्। 'विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्' (३२७-८) इत्यपि प्रतिविहितमेव। अवगतता-

[विकल्प द्वारा व्याप्तिग्रह में निर्विकल्प समर्थ]

ऐसा नहीं कहना कि - 'व्यापकरूप से व्याप्ति के ग्रहणार्थ निर्विकल्प प्रत्यक्ष असमर्थ है' — विकल्प के उत्पादन द्वारा व्यापकरूप से व्याप्ति के ग्रहण में निर्विकल्प समर्थ होता है। दूसरी बात यह है 10 कि — चार्वाक को जब अनुमान प्रमाण मान्य नहीं है तब अप्रमाणभूत प्रतिअनुमान के द्वारा दूसरे वादी के मत ऊपर आक्षेप करना अनुचित है। चार्वाक मत में तो वादी या प्रतिवादी का 'पर्यनुयोग' प्रमाण नहीं माना जाता।

चार्वाक :- परार्थानुमान वचनात्मक होता है जो बौद्धमत में भी (शब्दरूप होने से) प्रमाण नहीं होता। फिर भी बौद्ध वक्ता अप्रमाणभूत वचनस्वरूप परार्थानुमान द्वारा दूसरों के प्रति प्रतिपादन तो 15 करता ही है। इसी तरह हम भी अप्रमाण वचनों के द्वारा दूसरों के प्रति पर्यनुयोग कर सकते हैं।

बौद्ध :- यह कथन अनुचित है। हम मानते हैं कि अप्रमाणभूत परार्थानुमानरूप वचनों के द्वारा भी पर को अर्थबोध तो प्रमाणभूत ही होता है, क्योंकि परार्थानुमान अर्थावबोधक होता है। फिर भी परार्थानुमान को प्रमाण इस लिये नहीं मानते, कि वक्ता को उस के पहले ही निर्विकल्प से अर्थबोध निष्पन्न रहता है। ऐसा नहीं है कि वह परार्थानुमान जूठा होता है या अप्रमाण होता है। यदि उस 20 को अप्रमाण कहेंगे तो वादी-प्रतिवादी दोनों के लिये वह अप्रमाण बन जाने पर, वाद में प्रवृत्त वादी-प्रतिवादी को एक-दूसरे के वक्तव्य द्वारा विश्वसनीय अर्थावबोध कैसे हो पायेगा ?!

[चार्वाक की पूर्वोक्त विविध युक्तियों का निरसन]

अनुमान प्रमाण न माननेवाले चार्वाक अनुमान के प्रामाण्य का निषेध भी अनुमान से ही करते हैं वह कैसे उचित गिना जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में चार्वाक जो बचाव करते हैं कि 'हम अन्य 25 मतसिद्ध अनुमान से उस का निषेध करते हैं, हमारे मत में तो वह असिद्ध ही है' — तो यह बचाव भी अब निरस्त हो जाता है क्योंकि अनुमान के प्रामाण्य का समर्थन किया जा चुका है।

यह जो कहा था (३२७-३१) कि — 'सामान्यादि अर्थ का अस्तित्व न होने से अनुमान प्रमाण नहीं है — यह भी निरस्त हो जाता है। कारण :- अयोगव्यवच्छेदस्वरूप अतद्व्यावृत्ति आत्मक वस्तुमात्र रूप सामान्य, प्रतिनियत देश-काल से संलग्न रहता है — इस रूप से उस की सिद्धि अनुमान से हो 30 चुकी है। यह जो कहा था (३२७-३२) — 'विशेष को साध्य करेंगे तो हेतु का अनुगम नहीं रहेगा,

दात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य च लिङ्गस्य साध्यगमकत्वे विशेषविरुद्धानुमानविरोधयोः सहभावदर्शनमात्रप्रति-
पन्नाविनाभावलिङ्गप्रभवयोः कथमवकाशः ? तेन 'विशेषविरुद्धः'... (३२८-५) इत्याद्यप्यसङ्गतमेव।
अतोऽनुमानस्यापि प्रामाण्योपपत्तेः 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्' इति चार्वाकमतमयुक्तम्। अत्र च 'पक्षधर्मस्तदंशेन
व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। अविनाभावनियमाद्धेत्वाभासास्ततोऽपरे।।' (प्र.वा.३-१) इति वचनात् 'पक्षधर्मस्तदंशेन
5 व्याप्तः' इति लक्षणनिर्देशः, 'हेतुः' इति लक्ष्यनिर्देशः, 'त्रिधैव स हेतुः' इति तत्रभेदनिर्देशः।

अथ हेत्वन्तराभावनिश्चये त्रिधैव स इति नियमो युक्तः प्रतियोग्यभावनिश्चयसापेक्षत्वाद् भावेषु
सावधारणनिश्चयस्य। उक्तं च, () 'अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः। नैष वस्तुन्तराभावसंवित्थ-
नुगमादृते।। इति। न च हेत्वन्तराभावः प्रत्यक्षसमधिगम्यः तस्याभावविषयत्वविरोधात्। नाप्यनुमानतः,

सामान्य को सिद्ध करना है तो वह असद्व्यावृत्तिरूप से पूर्वसिद्ध होने से सिद्धसाधन दोष आयेगा'
10 — यह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि हेतु में साध्य के तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति मूलक व्याप्ति सिद्ध
होने पर व्याप्तिविशिष्ट हेतु से साध्य का अनुमानात्मक बोध निष्पन्न (सिद्ध) होता है- फिर विशेषविरोध
या अनुमानविरोध कितना भी लगाया जाय बेकार है क्योंकि आप विरोध के लिये जो अनुमान लगाते
हैं उस की व्याप्ति ही बहुत दुर्बल होती है क्योंकि वह अत्यन्त पङ्गु सिर्फ सहभावदर्शन पर ही अवलंबित है।

अत एव चार्वाकने जो कहा था (३२८-२८) 'सभी अनुमान में विशेषविरुद्धादि दोष सुलभ हैं'
15 वह भी निरस्त हो जाता है। निष्कर्ष — 'एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' यह चार्वाकमत असंगत है क्योंकि
अनुमान का प्रामाण्य निष्कण्टक संगत है।

बौद्धमतवादी इस संदर्भ में हेतु के त्रैविध्य दर्शाने के लिये प्रमाणवार्तिक (३-१) की कारिका
का निर्देश कर के कहते हैं 'साध्यरूप अंश से व्याप्त पक्षधर्म 'हेतु' है, वह तीन ही भेदवाला होता
है, वह भी अविनाभाव के बल से। शेष सब हेत्वाभास होता है।' इस कारिका में 'हेतु' शब्द लक्ष्य
20 का, 'साध्य अंश से व्याप्त पक्षधर्म' यह लक्षण का, निर्देश है। 'वह हेतु तीन ही भेदवाला होता
है' यह प्रभेदों का निर्देश है।

[तीन से अधिक हेतु का निषेध कैसे ? - आशंका]

'त्रिधैव स' कारिकांश की स्पष्टता के लिये पहले एक आशंका व्यक्त की जाती है। — यदि
तीन से अतिरिक्त कोई अन्य हेतु के अभाव का दृढ निश्चय हो तभी 'वह हेतु तीन प्रकार का
25 ही है' ऐसा नियम उचित कहा जायेगा; क्योंकि हर कोई भावसम्बन्धि अवधारणार्थित दृढनिश्चय उस
भावात्मक प्रतियोगि के अभाव के निश्चय पर अवलम्बित रहता है। पूर्वजाने कहा भी है — "भाव
के विषय में 'यही है' ऐसा जो यह निश्चय किया जाता है वह उस भाव से अतिरिक्त वस्तु के
अभाव के संवेदन के विना हो नहीं सकता।" मतलब है कि 'तीन ही प्रकार का' ऐसा अवधारणार्थित
दृढ निश्चय अशक्य है। कारण :- अन्य (चौथे) हेतु का अभाव निश्चित नहीं है। कैसे यह देखिये
30 — प्रत्यक्ष से अन्यहेतुविरह ग्राह्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व के साथ अभावविषयत्व का विरोध है।
यानी अभावग्रहण में प्रत्यक्ष का सामर्थ्य नहीं है। अनुमान से भी अन्यहेतुविरह का निश्चय शक्य
नहीं है। कारण :- आपने अनुमान को जो त्रिविधलिंग (कार्य -स्वभाव-अनुपलब्धि) जन्य ही सूचित

तस्य त्रिविधलिङ्गप्रभवत्वोपवर्णनात्, कार्य-स्वभावयोश्च विधिसाधकत्वेनाभावे साध्ये व्यापाराऽसम्भवात्, अनुपलब्धेश्च हेत्वन्तराभावनिश्चये चतुर्विधाया अप्ययोगात्। तथाहि- स्वभावानुपलब्धिर्हान्योपलब्धिरूपता तुल्ययोग्यतारूपस्यैकज्ञानसंसर्गिणोऽभावव्यवहारहेतुरभ्युपगम्यते। न चात्यन्तासत्तयोपगतं हेत्वन्तरमुक्तस्वभावम् तथात्वे देशादिनिषेध एव तस्य भवेन्नात्यन्ताभावः। कारण-व्यापकानुपलब्ध्योरपि कार्य-कारण-व्याप्य-व्यापकभावसिद्धौ सत्यां व्यापारः। न चात्यन्तासतो हेत्वन्तरस्य किञ्चिद् वस्तु कारणं व्यापकं वा सिद्धं येन तयोस्तत्र व्यापारो भवेद्। विरुद्धविधिरप्यत्रासम्भवी यतो विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽ- 5 भावादवसीयते। न च हेत्वन्तरेऽत्यन्तासत्ययंप्रकारः सम्भवति। सम्भवे वा न कारणानुपलब्ध्यादीनामात्यन्तिक-

किया है, उन में से पहले दो यानी कार्य और स्वभाव लिंग तो सिर्फ विधि (भावात्मक) वस्तु के ही ग्राहक होने से अभाव की सिद्धि करने में उन का कोई योगदान ही नहीं है। तथा अनुपलब्धिलिंग से भी — जिन के चार प्रकार है, (१-स्वभावानुपलब्धि, २-कारणानुपलब्धि, ३-व्यापकानुपलब्धि, ४-विरुद्ध उपलब्धि अथवा विरुद्धविधि) उन में से किसी भी एक का अन्य हेतु नास्तित्व की सिद्धि करने का 10 सामर्थ्ययोग नहीं है। कैसे यह देखिये —

१-स्वभावानुपलब्धि आखिर तो किसी एक वस्तु की उपलब्धिरूप ही होती है। अन्योन्य संलग्न दो पदार्थ जब तुल्य योग्यतावाले एवं एकज्ञान ग्राह्य होते हैं तब 'वृक्षस्वभाव न होने से यह शिंशपा नहीं है' — इस प्रकार शिंशपा के अभाव के व्यवहार का प्रवर्तन वृक्षस्वभावानुपलब्धि से सम्पन्न होता है, यह मान्यताप्राप्त है। किन्तु जब चतुर्थ हेतु अत्यन्त ही असत् है तब तो उस का कोई स्वभाव 15 न होने से, उस के अभाव का स्वभावानुपलब्धि से ग्रहण ही अशक्य है। यदि वह शक्य होगा तब तो उस का किसी देश-काल में ही निषेध किया जा सकेगा, न कि सर्वथा। अतः स्वभावानुपलब्धि से उस का अत्यन्ताभाव सिद्ध नहीं होगा।

२-३:- कारणानुपलब्धि एवं व्यापकानुपलब्धि से भी चतुर्थ हेतुप्रकार का निषेध शक्य नहीं है क्योंकि उस चतुर्थ हेतु का कहीं कार्य-कारणभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होने पर ही इन दोनों 20 अनुपलब्धि कि गतिविधि हो सकती है। किन्तु यदि चतुर्थ हेतु अत्यन्तासत् है तो न उस का कोई कारण सिद्ध होगा, न व्यापक, जिस की अनुपलब्धि को उस के अभाव की प्रसिद्धि के लिये अवसर मिल सके।

४:- विरुद्धविधि का भी यहाँ सम्भव नहीं है। कारण :- अत्यन्त असत् के साथ किसी का विरोध भी कैसे ज्ञात होगा ? वह तो जिस के सर्व कारण उपस्थित रहने पर भी किसी प्रतिबन्धक 25 के रहने पर जब वह उत्पन्न नहीं होता तब उस के अभाव से विरोध ज्ञात होता है। अत्यन्त असत् हेतु से ऐसा किसी का विरोध भी सम्भवित नहीं है। यदि अत्यन्त असत् के साथ भी किसी के विरोध होने की सम्भावना करेंगे तो कारणानुपलब्धि आदि में आत्यन्तिक निषेध की प्रवर्तकता ही लुप्त हो जायेगी, क्योंकि अब तो विरुद्धविधि से ही वह कार्य सम्पन्न हो जायेगा।

इस प्रकार चार में से एक भी अनुपलब्धि चतुर्थ हेतु का निषेध करने में सक्षम नहीं है। 30 इस विस्तृत आशंका के प्रत्युत्तर में ही 'पक्षधर्मः...' इत्यादि कारिका में 'ततो अपरे हेत्वाभासाः

निषेधहेतुतेत्याशंक्याह- 'हेत्वाभासास्ततोऽपरे।।' (प्र० वा० ३-१) इति। तदंशव्याप्तिवचनेनान्वय-व्यतिरेकयोरभिधानात् ततः 'त्रिधैव स' इति। (द्र० पृ० ३३४-६)

- अयमभिप्रायः - त्रित्वे हेतुर्नियम्यमानो हेतुविपर्ययेण हेत्वाभासत्वेन त्रिसंख्याबाह्यस्यार्थस्य व्याप्तौ त्रिसंख्यायामेव नियतो भवति। यथा सत्त्वलक्षणो हेतुः क्षणिकेषु नियम्यमानः सत्त्वविपर्ययेणाऽसत्त्वेन 5 क्षणिकविपक्षस्याऽक्षणिकस्य व्याप्तौ नियतः सिध्यतीति त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेष्वर्थेषु हेत्वाभासतोपदर्शनम्। इह च विरुद्धोपलब्ध्या कार्यस्वभावानुपलम्भव्यतिरिक्तानां भावानां हेतुत्वाभावनिश्चयः। हेतु-तदाभासयोश्च परस्परपरिहारस्थितलक्षणतैव विरोधः प्रतिपन्नः, हेतुलक्षणप्रतीतिकाल एव तदात्मनियतप्रतिभासज्ञानादेव तद्विपरीतस्यान्यतया तदाभासताप्रतीतेः परस्परमितरेतररूपाभावनिश्चयात्। तेन हेत्वाभासत्वं त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेषूपलभ्यमानं स्वविरुद्धं हेतुत्वं निराकरोति।

- 10 = तीन से अतिरिक्त सब हेत्वाभास हैं' ऐसा कहना पडा है। जब तीन से अतिरिक्त का निषेध अशक्य है तब भी तीन से अतिरिक्त जो कोई भी है वे सब हेत्वाभास हैं ऐसा तो कहा जा सकता है।' 'तदंशेन व्याप्त' ऐसा पक्षधर्म का विशेषण अन्वय-व्यतिरेक को सूचित करता है। इस प्रकार 'त्रिधैव स' ऐसा विधान सार्थक है। अवधारण से चतुर्थ हेतु का निषेध नहीं किन्तु तीन से अन्यो का 'हेत्वाभास' रूप से विधान करना है यह भावार्थ है।

- 15 [हेतु के तीन ही प्रकार हैं - इस कथन की स्पष्टता]

- इसी भावार्थ को स्पष्ट करने के लिये अपने अभिप्राय को खोल कर दिखाते हैं - हेतु जब तीन संख्या से नियन्त्रित कहा जाता है तब फलित यह होता है कि तीन संख्या से बहिर्भूत अर्थ विपरीत हेतु यानी हेत्वाभासत्व से व्याप्त है, इस प्रकार हेत्वाभास व्यावृत्त हेतु तीन संख्या से नियत बन जाता है। इस की स्पष्टता उदाहरण से देखिये - सत्त्वात्मक हेतु क्षणिक अर्थों में नियन्त्रित 20 दिखाया जाय तब, सत्त्व से उलटा यानी असत्त्व के साथ क्षणिकत्व से उलटा यानि अक्षणिकत्व व्याप्त होने का फलित होगा, इस से क्षणिकत्व के साथ सत्त्व हेतु की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। उससे यह निश्चय होता है कि त्रिविध हेतु से अतिरिक्त अर्थों में हेत्वाभासता ही रहेगी।

- उक्त प्रकार से, कार्य, स्वभाव एवं अनुपलब्धि से जो भिन्न अर्थ है उन में हेतु से विरुद्ध 'हेत्वाभासत्व' की उपलब्धि होने के कारण उन में हेत्वाभास का निश्चय निष्कंटक है। यदि पूछा जाय कि हेतुत्व 25 और हेत्वाभासत्व में कौन सा विरोध है ? - तो उत्तर है परस्परपरिहार अवस्थिति ही यहाँ विरोध के रूप में विदित है। उस का कारण है उन दोनों में परस्पर इतरेतराभाव यानी भेद होने का निश्चय। हेतु के स्वरूप की जब प्रतीति होती है उसी काल में हेतुस्वरूप के नियत प्रतिभास रूप ज्ञान से ही हेतुविपरीत अर्थ की भिन्नरूप से यानी हेत्वाभासरूप से प्रतीति होती है जिससे उन दोनों के भेद का निश्चय निष्पन्न होता है। इस प्रकार, 'त्रिविध हेतु से भिन्न' अर्थों में ही उपलब्ध होने वाला 30 हेत्वाभासत्व अपने विरोधी हेतुत्व को अपने आश्रय से व्यावृत्त कर देता है।

न चाऽत्यन्ताऽसत्त्वेन हेतुत्रयबाह्यार्थाः अभ्युपगताः, केवलं हेतुत्वमन्यत्र तेषु व्यामोहादध्यारोपित-
माशङ्कितं वा तद्विरुद्धोपलब्धेः प्रतिषिध्यते, इति कथं 'अत्यन्ताऽसंभविनो न विरोधगतिः' () इति
दूषणम् ? सहानवस्थानलक्षणवत् परस्परपरिहारस्थितलक्षणस्यापि विरोधस्य भावे सर्वत्र तन्त्रयायोपवर्णनम-
संगतमेव। अन्यत्र च प्रसिद्धविरोधयोः शीतोष्णयोरिव हेतुतदाभासयोर्हेतुत्रयबाह्येष्वर्थेषु हेत्वाभासत्वोपल-
म्भाद्धेतुत्वनिरासो यथाग्नावुष्णस्पर्शोपलम्भात् शीतस्पर्शनिषेध इति न क्वचित् साध्य-धर्मिण्येव विरोधः 5
प्रतिपत्तव्यः। अत्यन्ताऽसतोऽपि च लाक्षणिको विरोधोऽवगम्यत एव यथा भावेन सर्वशक्तिविरहलक्षणस्याभावस्य।

कृतः पुनः प्रमाणात् त्रिसंख्याबाह्यानामर्थानां हेत्वाभासत्वेन व्याप्तिरवगतेत्याशङ्क्याह-'अविनाभावनियमात्'
(३३४-४) इति लिङ्गतयाऽऽशङ्क्यमाने त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेऽर्थे पक्षधर्मतासद्भावेऽप्यविनाभावस्याभावात्।

[अत्यन्त असत् का विरोध कैसे - आक्षेप का प्रतिकार]

बौद्ध कहता है कि हमने तीन हेतु से भिन्न किसी अत्यन्तासत् अर्थ का विधान या स्वीकार 10
किया ही नहीं। हमारा इतना ही स्वीकार है कि धूम आदि असद्भिन्न यानी सत् वस्तु में हेतुत्व
प्रसिद्ध है, असत् आकाशकुमुसादि अर्थों में वह नहीं होने पर भी यदि कोई वादी उन में हेतुता
का आरोप करे अथवा उन में भी हेतुत्व होने की शंका करे तो असद्विरुद्ध सत् में ही उस की
उपलब्धि प्रसिद्ध होने से असद् अर्थों में हेतुत्व होने का हम प्रतिषेध करते हैं। फिर हमारे मत
के ऊपर 'अत्यन्त असद्भूत अर्थ में विरोध का अवबोध शक्य नहीं है' ऐसा दूषण कैसे लागू होगा ? 15

विरोध सिर्फ सहानवस्थानरूप ही नहीं होता, किन्तु परस्पर परिहारेण स्थिति - स्वरूप भी विरोध
होता है। यहाँ हेतुत्व और हेत्वाभासत्व परस्पर एकदूसरे को छोड़ कर ही रहनेवाले हैं यह सुविदित
है, यानी उन दोनों में परस्पर परिहारेण स्थितिरूप विरोध सुज्ञात है। फिर सर्वत्र सहानवस्थानरूप
विरोध को लेकर 'अत्यन्तअसंभवि अर्थ के साथ विरोध का बोध शक्य नहीं' इस न्याय का प्रसज्जन
कैसे संगत कहा जाय ?!

जैसे अग्नि-जलादि पदार्थों में शीतोष्ण स्पर्शों का विरोध सुप्रसिद्ध है वैसे यहाँ हेतुत्व और
हेत्वाभासत्व का भी विरोध सुविदित होने से, तीन हेतु से भिन्न अर्थों में हेत्वाभासत्व का ग्रहण
होने पर, उन में हेतुत्व का निषेध प्रमाणसिद्ध ही है : जैसे अग्नि में उष्णस्पर्श का ग्रहण होने पर
शीत स्पर्श का निषेध प्रमाणसिद्ध होता है। मतलब यह हुआ कि विरोध का उद्भावन अन्य धर्मों
में तो ठीक है किन्तु साध्यधर्मों में विरोध का उद्भावन उचित नहीं होता। हमने जो परस्परपरिहारस्थितिरूप 25
विरोध का लक्षण दिखाया है वैसा विरोध तो अत्यन्त असत् में भी उठाय जा सकता है। उदा०
जैसे सर्वशक्तिशून्यस्वरूप अभाव का भाव के साथ विरोध होता है।

[तीन से अतिरिक्त अर्थ हेत्वाभास होने में प्रमाणपृच्छा]

आशंका :- तीन संख्या से बहिर्भूत अर्थों की हेत्वाभासत्व के साथ व्याप्ति का अवधारण कौन
से प्रमाण से करेंगे ? 30

उत्तर :- प्र०वा०३-१ की पक्षधर्मस्तदंशेन... इस कारिका में 'अविनाभावनियम से' यह उत्तररूप
में ही कहा है। तात्पर्य, लिंगरूप से सम्भावित तीन हेतु से बहिर्भूत अर्थ में पक्षधर्मता के होने पर

वक्ष्यति च— 'न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रास्तीत्यत्रैव नियत उच्यते' () इति हेत्वाभासत्वे साध्ये तत्त्वभावहेतुः । त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तत्वादेव तदन्येषामविनाभाववैकल्यं व्यापकानुपलब्धेः सिद्धम् अविनाभावस्य तादात्म्य-
तदुत्पत्तिभ्यां व्याप्तत्वात्, तयोरेव तस्य भावात्, तत्र च तयोरवश्यं भावादतदुत्पत्तेरतत्त्वभावस्य च
तदनायत्ततया तदव्यभिचारनियमाभावात्। उक्तं च — (प्र०वा० ३-३१/३२)

- 5 कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमोऽदर्शनात् तु दर्शनात्॥
अवश्यंभावनियमः कः परस्यान्यथा परैः। अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मं वाससि रागवत्॥ इति॥
याऽपि रसतः समानसमयस्य रूपादेः प्रतिपत्तिः साऽपि स्वकारणाऽव्यभिचारनिमित्ताऽविनाभावनिबन्धनेति
तत्कारणोत्पत्तिरेवाऽविनाभावनिबन्धनम्। अन्यथा तदनायत्तस्य तत्कारणानायत्तस्य वा तेनाऽविनाभावकल्प-

- भी अविनाभाव के न होने से उन अर्थों की हेत्वाभासत्व के साथ व्याप्ति ज्ञात होती है। कहा जायेगा
10 कि — 'वह अविनाभावनियम त्रिविध हेतु से भिन्न अर्थों में नहीं होता, अतः तीन में ही नियत
कहा गया है।' असिद्ध-विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास हैं, उन में हेत्वाभासत्व सामान्य
धर्म है जो अविनाभावविरह से व्याप्त है, प्रमेयत्वादि आशंकित हेतुओं में वह दृष्ट है। अतः उन
में (असिद्धादि में) हेत्वाभासत्व की सिद्धि के लिये अविनाभावविरह जो कि हेत्वाभासों का स्वभाव
है उस को स्वभावहेतु के रूप में दिखाया जाता है। त्रिविधहेतु भिन्न अर्थों में व्यापकानुपलब्धि से
15 अविनाभावविरह सिद्ध है। अविनाभाव का व्यापक है त्रिविधहेतुता, हेत्वाभासों में उस व्यापक का
अनुपलम्भ होने से अविनाभाव रूप व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है।

- अविनाभाव कहाँ होता है ? उत्तर :- जिस अर्थ में जिसका तादात्म्य या तदुत्पत्ति रहती है
वहाँ उस का अविनाभाव होता है ऐसी व्याप्ति है। तादात्म्यवाले या तदुत्पत्तिवाले अर्थ में ही अविनाभाव
का अस्तित्व होता है, उपरांत — जहाँ अविनाभाव रहता है वहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति (अन्यतर)
20 अवश्य रहते हैं। जो जिस से तादात्म्यापन्न नहीं होता अथवा जिस से उत्पन्न नहीं हुआ वह उस
का आयत्त यानी अविनाभावि नहीं होता। अत एव वह उस का अव्यभिचारि हो ऐसा नियम भी
नहीं होता। कहा है — (प्रमाणवार्तिक ३-३१/३२ का० में) अविनाभाव का नियम नियामकस्वरूप
कार्यकारणभाव से अथवा स्वभाव (तादात्म्य) से होता है। विपक्ष में (व्याप्य के) दर्शन से नहीं किन्तु
अदर्शन से होता है। — "इस के अलावा और कौन सा एक का दूसरों के साथ अवश्यंभावनियम
25 हो सकता है ? वस्त्र में (औपाधिक) रंग की तरह अर्थान्तरमूलक धर्म में अवश्यंभावनियम कैसा ?"

[रस से रूप के अनुमान में समानकारणजन्यत्वमूलक अविनाभाव]

- प्रश्न :- तादात्म्य या तदुत्पत्ति के विना भी रस के से समानकालीन रूपादि का अनुमान कैसे
होता है ? उत्तर :- रूपादि के कारणवृन्द रसादि के कारणों का व्यभिचारि नहीं होता। इस अव्यभिचारमूलक
अविनाभाव के बल से ही, रस के द्वारा रूपादि का अनुमान होता है। तात्पर्य, यहाँ भी अविनाभाव
30 का मूल कारण-कार्यभाव यानी तदुत्पत्ति (तत्समानकारणोत्पत्ति) ही है। यदि ऐसा न मानोगे— तो जो
स्वभाव से आयत्त नहीं होता अथवा अपने कारणों का आयत्त नहीं होता, फिर भी उन में अविनाभाव
की कल्पना की जाय तो फिर सभी अर्थों का किसी भी अर्थ के साथ अविनाभाव मान लेने में क्या

नायामविशेषात् सर्वार्थरविनाभावात् भवेत् । न चैकार्थसमवायनिमित्तो रूपरसादेरविनाभावः, तस्य निषिद्धत्वात् । तदुक्तम् — (प्र०वा०४-२०३)

एकसामग्र्यधीनत्वाद् रूपादे रसतो गतिः । हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥ इति ।

तदेवं तादात्म्य-तदुत्पत्त्योरविनाभावव्यापिकयोर्यत्राभावस्तत्राऽविनाभावाऽभावाद् हेतुत्वस्याप्यभावः सिद्धः ।

तदुक्तम् — (प्र०वा०३-९)

‘संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः । न ते हेतवः इत्युक्तं व्यभिचारस्य संभवात् ॥’

तथा च प्रयोगः — यस्य येन तादात्म्य-तदुत्पत्ती न स्तः न स तदविनाभावी यथा प्रमेयत्वादिरनित्यत्वादिना; न स्तश्च केनचित् तादात्म्य-तदुत्पत्ती स्वभाव-कार्यव्यतिरेकेणामर्थानामिति व्यापकानुपलब्धेः । स्वभावानुपलब्धेस्तु स्वभावहेतावन्तर्भावः इति तस्यास्तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्धः । कारण-व्यापकानुपलब्ध्योरपि तादात्म्य-तदुत्पत्तिप्रतिबन्धाद् व्याप्य-कार्यनिवृत्तिसाधकत्वम् । उक्तं च, (प्र०वा०३-२३)

‘तस्मात् तन्मात्रसम्बद्धः स्वभावो भावमेव वा । निवर्त्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः ॥’

यद्वा ‘त्रिधैव सः’ इति स पक्षधर्मस्त्रिप्रकार एव स्वभाव-कार्याऽनुपलम्भाख्यः तदंशेन व्याप्तो नान्यः,

नुकसान है जब कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति विना भी अविनाभाव स्वीकार्य है ? यदि कहें कि — ‘रूप रस का एकार्थसमवायि होने से रूप में रस का अविनाभाव एकार्थसमवायमूलक हो सकता है’ — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि समवाय का निषेध पहले कई बार हो चुका है। कहा भी है — (प्रमाण वार्त्तिक ४-२०३ में) ‘रूपादि की रस से जो उपलब्धि होती है वह एकसामग्रीमूलक होने से होती है। जैसे हेतुधर्म के अनुमान से धूमेन्धनविकार।’ इस प्रकार अविनाभाव के व्यापक तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप प्रतिबन्ध जहाँ नहीं होगा वहाँ अविनाभाव नहीं होने से हेतुत्व का भी अभाव सिद्ध होगा। प्र०वा०में (३-९) में कहा है — ‘संयोगी (समवायी-एकार्थसमवायी-आकाश) आदि जिन (हेतुओं) में ता०त० प्रतिबन्ध नहीं है वहाँ व्यभिचार का सम्भव होने से वे हेतु नहीं हो सकते ॥’ अत एव अविनाभाव के व्यापकीभूत तादात्म्य या तदुत्पत्ति जिस की जिस के साथ नहीं होती वह उस का अविनाभावि नहीं होता। उदा० प्रमेयत्व का अनित्यत्व के साथ न तो तादात्म्य है न तो वह उस से उत्पत्तिवाला है। (इस लिये प्रमेयत्व अनित्यत्व का अविनाभावी नहीं होता) स्वभाव एवं कार्य से अतिरिक्त अर्थों का किसी से भी तादात्म्य या तदुत्पत्तिभाव नहीं होता। यही है व्यापकानुपलब्धि। स्वभावानुपलब्धि का अन्तर्भाव अन्ततो गत्या स्वभावहेतु में ही हो जाता है। इस लिये वहाँ तादात्म्यमूलक ही अविनाभाव समझना। कारणानुपलब्धि और व्यापकानुपलब्धि में तो तदुत्पत्ति एवं तादात्म्य प्रेरित ही अविनाभाव प्राप्त होने से व्याप्य की एवं कार्य की व्यावृत्ति निर्दिवाद सिद्ध हो सकेगी। प्रमाणवार्त्तिक में (३-२३) कहा है — ‘अतः अविनाभाव से सम्बद्ध स्वभाव (अनुपलब्धि) भाव की व्यावृत्ति करता है एवं अव्यभिचार बल से कारण (अपनी अनुपलब्धि से) कार्य की व्यावृत्ति करता है।’

[‘तीन प्रकार का हेतु’ इस कारिकांश के अर्थ का दूसरा प्रकार]

‘त्रिधैव सः’ इस कारिकांश का अन्यप्रकार से भी व्याख्यान इस प्रकार है — उक्त पक्षधर्म स्वभाव,

स त्रिप्रकारस्तदंशेन व्याप्त एवेति सम्बन्धनीयम्। अविनाभावनियमात् = अविनाभावस्य व्याप्तेस्त्रिप्रकार एव पक्षधर्म नियमात् त्रिविधस्य च पक्षधर्मस्याऽविनाभावनियमात् तेन त्रिविधपक्षधर्मव्यतिरिक्ता न हेतवः। त्रिविधश्च पक्षधर्मो हेतुरेव तदंशेन व्याप्त एवेति कृत्वा हेतुलक्षणावगमादेव हेत्याभासाः ततो हेतुलक्षण-युक्तादपरे = अन्ये तल्लक्षणविकला हेत्याभासा अवगम्यन्त इति न पृथक् तल्लक्षणाभिधानम्। तदेवं

5 यथोक्तलक्षणाद्धेतोः साध्यप्रतिपत्तिः स्वार्थमनुमानम्, यथोक्तहेत्वभिधानं च परार्थानुमानमिति स्थितम्। एतेन 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च' (न्या०सू०१-१-५) नैयायिक-परिकल्पितमनुमानलक्षणं प्रतिक्षिप्तम्।

अत्र च सूत्रे 'तत्पूर्वकमनुमानम्' इत्येतावदनुमानलक्षणमित्येके। 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' इति चान्ये। 'तत्पूर्वकं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चानुमानम्' इत्यपरे। आद्ये सूत्रे लक्ष्य-
10 लक्षणविभागमुपदर्शयन्ति— 'अनुमानम्' इति लक्ष्यनिर्देशः तत्पूर्वकमिति लक्षणम्। अत्र चैकस्य पूर्वकशब्दस्य

कार्य, अनुपलम्भ नामक तीन प्रकारवाला हो तभी वह साध्यांश के साथ व्याप्त माना जा सकता है, अन्य कोई नहीं। तथा ऐसा भी अन्यव्य करना कि वह तीन प्रकारवाला जो होगा वह साध्यांश से व्याप्त ही होगा। कारिकांश 'अविनाभावनियमात्' का अर्थ है अविनाभावस्वरूप व्याप्ति तीनप्रकारवाले पक्षधर्म में ही नियत होती है। तथा तीन प्रकारवाले पक्षधर्म में ही अविनाभाव का नियम करने
15 से फलित यह होगा कि तीनप्रकारवाले पक्षधर्म से जो भिन्न होंगे वे हेतु नहीं होंगे। तीनप्रकारवाला पक्षधर्मस्वरूप जो हेतु होता है वही साध्यांश से व्याप्त होता ही है — इस ढंग से हेतु के लक्षण का बोध होने से (हेत्याभासास्ततोऽपरे — इस कारिकांश का अर्थ यह होगा कि) हेतुलक्षण से युक्त हेतुओं से भिन्न यानी हेतुलक्षणशून्य अर्थ हेत्याभास होते हैं — ऐसा सहजतया अर्थतः ज्ञात हो जाने से हेत्याभास का अलग लक्षण कहा नहीं गया है।

20 निष्कर्ष :- उपरकथित सुलक्षणयुक्त हेतु से स्वयं जो साध्य का बोध करना वह स्वार्थानुमान कहा जाता है। अन्य के बोध के लिये तथाकथित सुलक्षण हेतु का विधान करना — यही है परार्थानुमान - यह निश्चित होता है।

[नैयायिक प्रदर्शित अनुमानलक्षण की समालोचना]

अनुमान के प्रामाण्य में बाधा डालनेवाले चार्वाकमत का प्रतिक्षेप करने के बाद बौद्ध मनीषी
25 कहते हैं कि नैयायिकमत में अनुमान का प्रामाण्यस्वरूप दुर्घट होने से उन के मतानुसार जो यह लक्षणसूत्र हैं कि 'तत्पूर्वक होनेवाले अनुमान की तीन विधाएँ हैं — पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।' यह भी निरस्त हो जाता है। (एतेन... से लेकर पृ०३६६ में पं०४ तक एक प्रघट्टक है।)

[लक्षणगत 'तत्पूर्वक' पद की विविध व्याख्या]

नैयायिक के इस लक्षणसूत्र के विवरण में अनेक मत-मतांतर हैं। १- कुछ विद्वान् कहते हैं कि
30 यह पूरा सूत्र लक्षणरूप नहीं है। 'तत्पूर्वक हो वह अनुमान है' इतना ही अनुमान का लक्षण है। २- कुछ विद्वान् कहते हैं 'तत्पूर्वक तीन भेदवाला हो वह अनुमान है। इतना अनुमान का लक्षण है।' ३-अन्य मनीषियों का कहना है कि पूरा सूत्र लक्ष्य एवं लक्षण का निर्देश इस तरह करता है

समानश्रुत्या '▲प्रमाण-तर्कसाधनोपालम्भ...' (न्या०सू०१-२-१) सूत्रवत् साधनशब्दस्य लुप्तनिर्देशं मन्यन्ते। 'तत्पूर्वकम्' इत्यत्र तच्छब्देन प्रत्यक्षं प्रमाणमभिसम्बध्यते। तत्पूर्वकं = तत् = फलं तत्फलपूर्वकं तत्पूर्वकं-तदनुमानं व्यवच्छिन्नतीत्युच्यमाने संस्कारेऽतिप्रसंगः तस्य तत्फलपूर्वकत्वेऽप्यबोधरूपत्वान्नानुमानव्यवच्छेदकत्वमिति तत्रिवृत्तये ज्ञानग्रहणं कार्यम्। अथ प्रत्यक्षसूत्रे ज्ञानग्रहणं प्रक्रान्तं तदिहापि सम्बध्यते। नन्वेवमपि 'ज्ञानरूपं तत्पूर्वकं यतो भवति तदनुमानम्' इत्युच्यमाने स्मृत्याऽतिप्रसङ्गः, द्वितीयलिङ्गदर्शनपूर्विकाया अविनाभाव- 5 सम्बन्धस्मृतेस्तत्पूर्वकत्वात् तज्जनकस्यानुमानत्वप्रसंगः, इति तत्रिवृत्तयेऽर्थोपलब्धिग्रहणं कार्यम् स्मृतेस्त्वनर्थ-जन्यत्वमर्थं विनाऽपि भावात्। न च विनष्टस्य जनकत्वम् अविनष्टत्वप्रसक्तेः। न च विनष्टरूपतया जनकत्वम्, तदाऽसत्त्वात्। अतोऽर्थोपलब्धिर्यथोक्तविशेषणा यतो भवति तदनुमानम्।

कि 'तत्पूर्वक' होनेवाला पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट तीन भेदवाला जो होता है वह अनुमान है।' इस आद्य सूत्र में लक्ष्य-लक्षण का विभाग इस तरह है - 'अनुमान' यह लक्ष्य का निर्देश है। 'तत्पूर्वकम्' 10 यह लक्षण है (तीनभेद उस में अन्तर्भूत है।) यहाँ समानशब्दश्रुति के कारण एक 'पूर्वक' शब्द का लोप (अध्याहार) मानना होगा, यानी 'तत्पूर्वक' शब्द को 'तत्पूर्वक-पूर्वक' ऐसा परिष्कृत मानना पड़ेगा। उदा० न्यायसूत्र का एक सूत्र है प्रमाण-तर्कसाधनोपालम्भ... (१-२-१) इत्यादि। इस सूत्र में भी समानश्रुति के कारण एक साधनशब्द का अध्याहार माना गया है। 'तत्पूर्वक' इस में तत् शब्द का अभिसम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिये है। 'तत्पूर्वकपूर्वक' यहाँ 'तत्पूर्वक' का शब्दार्थ है 'तत्फल' यानी प्रत्यक्षप्रमाण का फलरूप 15 जो प्रत्यक्षज्ञान। अब 'तत्पूर्वकपूर्वक' का अर्थ होगा प्रत्यक्षप्रमाणफलभूत प्रत्यक्षज्ञान का फल अनुमान है। इस से यह ध्वनित हुआ कि अनुमान अनुमानपूर्वक नहीं होता। किन्तु ऐसा कहने पर भी यानी अन्य भावों से अनुमान का व्यवच्छेद करने पर भी संस्कार में अनुमानत्व का व्यवच्छेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि संस्कार भी प्रत्यक्षज्ञानमूलक ही होता है, अतः उस में अनुमानलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उस के निवारणार्थ लक्षण में 'ज्ञान' पद का ग्रहण करना होगा। जैसे प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र 20 में 'ज्ञान' पद का ग्रहण है वैसे यहाँ भी ग्रहण कर लेना होगा।

[संस्कार में लक्षण की अतिव्याप्ति की आशंका - निवारण]

आशंका :- प्रत्यक्षसूत्र की तरह यहाँ (संस्कार का व्यवच्छेद करने के लिये) 'ज्ञान' पद का अध्याहार करेंगे तो 'यतो' पद के अध्याहार के साथ वाक्यार्थ यह होगा कि 'प्रत्यक्ष पूर्वक ज्ञानरूप फल जिस से प्राप्त हो वह अनुमान है।' ऐसा वाक्यार्थ करने के कारण अब स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति 25 होगी। व्याप्तिग्रहणकाल में एक बार लिंगदर्शन के बाद, दूसरी बार पक्ष में लिंगदर्शन होने पर, तत्पूर्वक व्याप्तिस्मरण होगा, तो वह स्मृति भी प्रत्यक्षपूर्विका होने से स्मृतिजनक लिङ्गदर्शन में भी अनुमानत्व की अतिव्याप्ति होगी।

इस आशंका के निवारण में, उक्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ कहना होगा कि अनुमानलक्षण में अर्थोपलब्धि (अर्थाद् उपलब्धि) का भी ग्रहण किया जाय। स्मृति तो अर्थ के विना भी हो सकती 30 है, वह अर्थजन्य उपलब्धिरूप नहीं होती इसलिये उस में अतिव्याप्ति नहीं होगी। कदाचित् स्मृति को

▲. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोत्पन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' इति पूर्ण सूत्रम्। इति पूर्वमुद्रिते।

एवमपि लैङ्गिकविपर्ययेऽतिप्रसङ्गः, यतो गवयविषाणदर्शनाद् गोप्रतिपत्तिरुपजायते यद् गोविषाण-
सादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षफलं तत्पूर्वकं 'गौः' इति विपर्ययज्ञानम् अतस्तज्जनकस्याप्यनुमानत्वप्रसक्तिः। तन्नित्ये
अव्यभिचारिपदमनुवर्तनीयम्।

एवमपि संशयज्ञानजनकेऽतिप्रसंगः, यतो गो-गवयानुयायिलिङ्गदर्शनात् 'गौर्गवयो वा' इति संशय
5 उपजायते तज्जनकं च सदृशल्लिङ्गज्ञानं प्रत्यक्षफलम् तत्पूर्वकं संशयज्ञानमर्थविषयं च तज्जनकस्याऽप्यनु-
मानप्रसक्तिरिति— तद्व्यवच्छिन्नये व्यवसायात्मकपदमनुवर्तनीयम्।

तथाप्यविनाभावसम्बन्धस्मरणाऽनन्तरं 'तथा चायं धूमः' इति प्रदर्शनज्ञानाद् 'अग्निः' इति वाक्याच्च

अनुभवविषयभूत अतीत यानी विनष्ट अर्थ से जन्य मानी जाय तो वह शक्य नहीं, क्योंकि विनष्ट
को जनक मानने पर उसका विनष्टत्व विनष्ट होकर अविनष्टत्व प्रसक्त होगा। विनष्टत्वरूप से ही
10 जनकत्व मानना उचित नहीं, क्योंकि विनष्टत्वरूपेण विनष्ट वस्तु असत् है, असत् वस्तु स्मृतिजनक
नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि जिस (प्रमाण) से तत् (प्रत्यक्ष) पूर्वक त्रिविध अर्थोपलब्धि होती
है वह अनुमान है।

[अनुमानलक्षण में अव्यभिचारिपदानुवृत्ति]

(न्यायसूत्रीय प्रत्यक्षलक्षण (१-१-४) में 'इन्द्रियार्थं संनिकर्षउत्पन्न' इस अंश को छोड़ कर बाकी
15 सब विशेषण अनुमान के लक्षण में भी जरूरी है यह दिखा रहे हैं, 'ज्ञान' पद की आवश्यकता
दिखा दिया है — अब 'अव्यभिचारि' आदि पदों की आवश्यकता दिखा रहे हैं।) उक्त परिष्कार करने
पर भी लिङ्गजन्य विपरीत ज्ञान (भ्रम) में अनुमान के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। कारण :- जब
पूरा गवय नहीं दीखता किन्तु उस का गोविषाणसदृश सींग दिखता है तब किसी को गौ का अवबोध
हो जाता है जो कि तत्पूर्वकादि लक्षणांशों से आक्रान्त है, अविनष्ट विषाण अर्थ से उपलब्धि प्रकट
20 हुई है। गोविषाण का गवयविषाण में जो सादृश्य ज्ञान है वह प्रत्यक्ष का फल है। तत्पूर्वक ही 'यह
गौ है' ऐसा भ्रम हुआ है। इस लिये उस के जनक में अनुमान(अनुमितिकरण)त्व की अतिव्याप्ति
होगी। उसका निवारण 'अव्यभिचारि' पद से हो जायेगा। भ्रम तो व्यभिचारि होता है।

[व्यवसायात्मक पद की अनुवृत्ति]

तथापि संशयज्ञान के जनक में अतिव्याप्ति है — गौ एवं गवय दोनों में समानधर्मरूप विषाणात्मक
25 लिंग के देखने पर यह 'गवय है या गौ' ऐसा जो संशयज्ञान होगा उसका जनक है समान लिङ्ग
(विषाण) का ज्ञान। वह प्रत्यक्ष का फल है, तत्पूर्वक होता है अर्थविषयक संशयज्ञान। अतः उस
के जनक सदृशल्लिङ्गज्ञान में अनुमानत्व की अतिव्याप्ति होगी। उस के निवारणार्थ 'व्यवसायात्मकम्'
यह विशेषण उपयुक्त है। संशय व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं होता।

[अव्यपदेश्य - पद की अनुवृत्ति]

30 'अव्यपदेश्य' पद न लिया जाय तो शाब्द ज्ञान में निम्नोक्त रीति से अतिव्याप्ति होगी — अविनाभाव
सम्बन्ध का स्मरण होने पर "यह धूम भी वस्तिव्याप्य है" ऐसा प्रदर्शन परक बोध जो होता है
उस से अग्नि का बोध होता है वह प्रत्यक्षपूर्वक है, अनुमानप्रमाणजन्य नहीं है। इसी तरह नालीकेरद्वीपवासी

नालिकेरद्वीपवासिनो विशिष्टदेशेऽग्निप्रतिपत्तिरुपजायते— न च तस्या अनुमानफलत्वम्, शाब्दत्वेन व्यवस्थापनात्
— तन्निवृत्तयेऽव्यपदेश्यपदानुवृत्तिः।

तथाप्युपमानेऽतिप्रसङ्गः, गृहीतातिदेशवाक्यस्य पुंसः सादृश्यज्ञानं वाक्यार्थानुस्मरणसहायमव्यपदेश्य
श्यादिविशेषणत्रयविशिष्टं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं तत्पूर्वकपूर्वकं जनयदपि नानुमानम् तत्फलस्याऽव्यपदेश्यत्वं
च श्रूयमाणवाक्याऽजनितत्वात्। तथाऽनुमानादिपूर्वकाणामसङ्ग्रहः — इति अव्याप्त्यतिव्याप्ती न निवर्तते, 5
ततस्तन्निवृत्तये विग्रहद्वयाश्रयणम्— 'तानि ते च पूर्वं यस्य' तत् तत्पूर्वकम्। 'तानि' इति विग्रहविशेषाश्रयणेन
सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य लभ्यते। न च तेषां पूर्वमप्रकृतत्वात् कथं सर्वनाम्ना परामर्श इति प्रेर्यम्,
यतः साक्षादप्रकृतत्वेऽपि प्रत्यक्षसूत्रे व्यवच्छेद्यत्वेन प्रकृतत्वात् अव्याप्तेरेव निवृत्तिः। अतिव्याप्तेस्तु 'ते

पुरुष को जब अग्नि के प्रति अंगुलीनिर्देश कर के यह 'अग्नि' ऐसा वाक्यप्रयोग किया जाता है तब
उस पुरुष को अग्नि की प्रतीति होती है वहाँ भी प्रत्यक्षपूर्वकता तो है अनुमानप्रमाणपूर्वकता नहीं 10
है, क्योंकि दोनों स्थल में अग्नि का बोध शाब्दरूप ही होता है — उन में अब अनुमानत्व की आपत्ति
होगी क्योंकि उक्त सभी लक्षण यहाँ 'अग्नि' ज्ञान (शाब्द) में घट रहे हैं। इस अतिव्याप्ति को दूर
करने के लिये 'अव्यपदेश्य' (शब्द से अनाक्रान्त) पद भी लगाना पड़ेगा।

[उपमान में अतिव्याप्ति और अनुमानादिपूर्वकों में अव्याप्ति]

इतना होने पर भी उपमान में अतिव्याप्ति प्रसक्त होगी। जिस पुरुषने 'गोसदृश गवय होता 15
है' यह अतिदेशवाक्य सुन लिया है उस पुरुष को गवय में गोसादृश्य का ज्ञान होगा, वह ज्ञान
उस पुरुष को 'यह (गवय) गवयपदवाच्य है' ऐसा जो उपमानस्वरूप संज्ञा-संज्ञिज्ञान उत्पन्न करेगा वह
प्रत्यक्षफलपूर्वक है, वाक्यार्थ के पुनः स्मरण की सहायता से हुआ है एवं अव्यभिचारि — अव्यपदेश्य
आदि तीन विशेषणों से युक्त है। किन्तु वह अनुमानरूप नहीं है। पूर्वश्रुत वाक्य से यह ज्ञान साक्षात्
जन्य न होने से उसे 'अव्यपदेश्य' कौन नहीं मानेगा ? उक्त अतिव्याप्तिओं के उपरांत, अनुमानादिपूर्वक 20
होने वाले अनुमानों में 'प्रत्यक्षफलपूर्वकत्व' न होने से अव्याप्ति दोष भी लागू होगा।

[अतिव्याप्ति -अव्याप्ति का निवारणोपाय]

इन सभी दोषों की निवृत्ति के लिये 'तत्पूर्वकम्' समास का द्विविध विग्रह करना पड़ेगा। 5.
वे हैं पूर्व जिस के, २— वे (दो प्रत्यक्ष) पूर्व हैं जिस के। 'वे (तानि)' ऐसा विशिष्ट विग्रह का
आशरा लेने से मात्र प्रत्यक्षपूर्वकत्व नहीं किन्तु 'सर्वप्रमाणपूर्वकत्व' ऐसा अर्थलाभ होगा, अतः अनुमानपूर्वक 25
होने वाले अनुमानों में अव्याप्ति दोष निवृत्त हो जायेगा।

प्रश्न :- 'तत्पूर्वकम्' पद में 'तत्' सर्वनाम से प्रत्यक्ष का परामर्श तो न्याययुक्त है क्योंकि अनुमान
सूत्र के पहले प्रत्यक्ष सूत्र पठित है। किन्तु 'सर्वप्रमाण' अपठित है तो तत् का 'तानि' कर के सर्वनाम
से सकल प्रमाण का परामर्श क्यों कर होगा ?

उत्तर :- साक्षात् उन का परामर्श न रहने पर भी प्रत्यक्षेतर प्रमाण वहाँ प्रत्यक्षलक्षण के व्यवच्छेद्य 30
के रूप में प्रत्यक्ष के साथ ही बुद्धि में उपस्थित होने से, उन का भी परामर्श न्याययुक्त है, अतः
अव्याप्ति की निवृत्ति शक्य है।

द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य' विग्रहविशेषाश्रयान्निवृत्तिः। तथाहि— 'तत्पूर्वकम्' इत्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं च सम्बध्यते। न चोपमानफलमेवंभूताध्यक्षफलद्वय-पूर्वकम् इति तत्फलाद् भिद्यत अनुमानफलम्।

- न चानुमेयप्रतिपत्तिकाले सम्बन्धग्रहणस्य निवृत्तत्वात् कथं तत्पूर्वकत्वमनुमेयप्रतिपत्तेः इत्याशङ्कनीयम्, यतोऽविनाभावसम्बन्धग्रहणजनितसंस्कारप्रभवा स्मृतिः सम्बन्धदर्शनवाच्याऽत्र गृह्यते, तथा जनितो लिङ्ग-
5 परामर्शः, तेनाऽप्रत्यक्षस्यार्थस्यानुमानम्। न चोपमानफलमेवंभूतफलपूर्वकम् अविनाभावसम्बन्धानुभवसम्बन्ध-
स्मृतिपूर्वकत्वेन तस्य निषेत्स्यमानत्वात्। न चैवमपि प्रत्यक्षद्वयस्याऽश्रुतत्वात्त्रैवं सम्बन्ध इति वक्तव्यम्
एकशेषतस्तत्सिद्धेः। नन्वेवमप्यविनाभावसम्बन्धदर्शनस्याऽश्रुतत्वादेव व्याख्यानमयुक्तम्। न, विशिष्टफल-
द्वारेण तदुपपत्तेः। तथाहि— अव्यभिचारदिविशेषणविशिष्टं फलं यतः समुपजायते तदनुमानमित्युक्ते अवि-

- (२) 'ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य = वे दो प्रत्यक्ष पूर्व हैं जिस के' ऐसा विशिष्ट विग्रह करने
10 द्वारा अतिव्याप्तियों की भी निवृत्ति हो जायेगी। देखिये — 'तत्पूर्वकम्' शब्द के द्वारा यहाँ लिङ्ग-
लिङ्गि का दर्शन एवं लिङ्ग का दर्शन ये दोनों परामृष्ट किये जाते हैं। उपमानफल कभी भी उक्त
प्रत्यक्षफल युगलपूर्वक नहीं होता। अत एव उपमानफल से अनुमानफल का भेद स्पष्ट हो जाने से,
उपमानफल में अतिव्याप्ति को अवकाश नहीं रहता।

[सम्बन्धप्रत्यक्षविनाश के बाद अनुमिति प्रत्यक्षपूर्वक कैसे ? - उत्तर]

- 15 ऐसी शंका करना नहीं — अनुमेय अर्थ के अवबोध होने के काल में लिङ्ग-लिङ्गी का सम्बन्ध-
प्रत्यक्ष क्षणिक होने से नष्ट हुआ रहता है, फिर अनुमेय अर्थ का अवबोध प्रत्यक्षपूर्वक कैसे हो सकता
है ? — शंका के निषेध का कारण यह है — यहाँ प्रत्यक्ष पूर्वकत्व का अर्थ करते समय प्रत्यक्ष
का 'लिङ्ग-लिङ्गीसम्बन्ध दर्शन' ऐसा अर्थ नहीं लेना किन्तु उस अविनाभावसम्बन्ध दर्शनजन्य जो संस्कार,
उस संस्कार से जन्य जो स्मृति है वही सम्बन्धदर्शन-पद का वाच्यार्थ समझना। मतलब स्मृतिस्वरूप
20 सम्बन्धदर्शन से लिङ्गपरामर्श उत्पन्न होने के बाद परोक्ष अर्थ का अनुमान होने में कोई असंगति
नहीं है। उपमान का फल उक्तप्रकार लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध-स्मरणपूर्वक न होने से प्रत्यक्षफलपूर्वकत्व उस
में नहीं रहेगा। कदाचित् कोई उपमान फल को अविनाभावसम्बन्धदर्शनजन्य सम्बन्धस्मरणपूर्वक होने
का कथन करे तो हम आगे चल कर उस का निषेध करेंगे।

- शंका :- सूत्र में सिर्फ 'तत्पूर्वक' इतना ही कहा है, उस का अर्थ भी 'प्रत्यक्षपूर्वक' इतना ही
25 हो सकता है। किन्तु 'प्रत्यक्षद्वयपूर्वक' ऐसा अर्थ तो कभी सुनने को नहीं मिला। अतः उक्त व्याख्यान
अयुक्त है।

उत्तर :- नहीं। एकशेष समास का अवलम्बन कर के 'तत् च तत् च इति ते' इस प्रकार से
एकशेष समासान्तर्गत तत् शब्द से प्रत्यक्षद्वय का परामर्श सिद्ध ही है।

- शंका :- फिर भी यहाँ प्रत्यक्ष के लिये अविनाभावसम्बन्ध का दर्शन साक्षात् पठित नहीं होने
30 से उक्त प्रत्यक्षद्वय... इत्यादि व्याख्या अयुक्त है।

उत्तर :- नहीं, विशिष्ट फल द्वारा वैसी व्याख्या सुघटित ही है। देखिये — प्रत्यक्षसूत्र अन्तर्गत
अव्यभिचारि आदि जो पठित विशेषण हैं उन विशेषणों से युक्त फल जिस से निष्पन्न होता है वह

नाभावसम्बन्धः सिध्यत्येव। अनिन्द्रियार्थसंनिकर्षजमशाब्दमसारूप्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं न ह्यविना-
भावविकलाद् लिङ्गादुदयमासादयितुं समर्थम्, अर्थापत्त्यादीनां चानुमान एवान्तर्भावाद् न तत्प्रसङ्गः। एवं
यथोक्तप्रकारेण नातिव्याप्त्यव्याप्ती।

ये तु पूर्वशब्दस्यैकस्य लुप्तनिर्देशं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षफले अनुमानत्वप्रसक्तिः, तत्फलस्य
प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वकत्वात्। अथाऽकारकस्याऽप्रमाणत्वात् कारकत्वं लभ्यते तथापि संस्कारजनके प्रसङ्गः। 5
'उपलब्धिजनकस्य' इति चेत् ? स्मृतिजनके प्रसङ्गः। 'अर्थापलब्धिजनकस्य' इति विशेषणे लैङ्गि-
कविपर्ययोपलब्धिजनके प्रसङ्गः। 'अव्यभिचारितार्थापलब्धिजनकस्य' इति विशेषणे लैङ्गिकसंदिग्धार्थाप-
लब्धिजनके प्रसङ्गः। 'व्यवसायात्मिकार्थापलब्धिजनकस्य' इत्यभिधाने लिङ्गशब्दोत्पाद्यार्थापलब्धिजनके
प्रसङ्गः। 'अव्यपदेश्यार्थापलब्धिजनकस्य' इति विशेषणे विशिष्टफलजनकस्याध्यक्षफलस्यानुमानत्वमभ्युपगतं

है अनुमान— इस प्रकार के व्याख्यान से अर्थतः ही अविनाभावसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है क्योंकि 10
उस के विना अनुमान निष्पन्न ही नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि जो इन्द्रियसंनिकर्षजन्य नहीं, शाब्द
(व्यपदेश्य) नहीं, सरूप (यानी सादृश्यग्रह उपमानस्वरूप) नहीं, व्यभिचारि नहीं, किन्तु व्यवसायात्मक
होता है ऐसा ज्ञानफल (अनुमान) अविनाभावसम्बन्ध रहित लिंग से कभी भी उदयप्राप्त नहीं हो सकता।

यदि अर्थापत्ति को भी अविनाभावसम्बन्धदर्शनजन्य माना जाय तो भी उस में अतिव्याप्ति दोष
नहीं है क्योंकि तब तो नामभेद से अर्थापत्ति भी अनुमान ही है। अतः न तो उक्त लक्षण में कोई 15
अतिव्याप्ति है न अव्याप्ति।

[पूर्व-शब्द के अध्याहार विना प्रत्यक्षफल में अनुमानत्वप्रवेश]

कुछ पंडित एक 'पूर्व' शब्द का लुप्त निर्देश नहीं स्वीकारते। उन को प्रत्यक्षफल में अनुमानत्व
की अतिव्याप्ति का दोष गले पड़ेगा। कारण, प्रत्यक्ष का फल (प्रत्यक्षप्रमादि भी) प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक
ही होते हैं। यदि कहें कि— 'जो कारक नहीं वह प्रमाण भी नहीं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण में (अनुमान 20
का) कारकत्व सिद्ध होने पर अनुमान में अनुमानत्व प्राप्त होने से कोई दोष नहीं' — तो कहना
पड़ेगा कि सिर्फ अनुमान की उत्पत्ति से ही कारकत्व हो ऐसा तो नहीं है, संस्कार के जनक प्रत्यक्ष
प्रमाण में भी कारकत्व हो सकता है। अतः वहाँ अतिव्याप्ति तदवस्थ रहेगी। (संस्कार में अनुमानत्व
की अतिव्याप्ति।) यदि इस के निवारणार्थ उपलब्धि के जनक प्रमाण में अनुमानप्रमाणत्व मानेंगे तो
संस्कार यद्यपि उपलब्धि रूप न होने से वहाँ अतिव्याप्ति का निवारण हो जाने पर भी स्मृतिजनक 25
प्रत्यक्षप्रमाण में अतिव्याप्ति आयेगी, क्योंकि स्मृति तो उपलब्धिरूप ही है। फिर भी वह (स्मृति) साक्षात्
अर्थ ग्राहिणी न होने से 'अर्थापलब्धिजनक' ऐसा विशेषण करेंगे तो जो विपर्ययरूप लिङ्गज्ञानस्वरूप
अर्थापलब्धि का जनक है उस में अतिप्रसङ्ग खड़ा होगा। यद्यपि वह भी व्यभिचारिअर्थापलब्धिरूप
होने से उस के निवारणार्थ 'अव्यभिचारिअर्थापलब्धिजनक' ऐसा विशेषण लगाया जाय तो संदिग्ध (यानी
जो व्यभिचारि नहीं है ऐसी) लैङ्गिक अर्थापलब्धि के जनक में अतिप्रसंग प्राप्त होगा। यद्यपि यह 30
भी व्यवसायात्मक न होने से उस के निवारणार्थ 'व्यवसायरूप अर्थापलब्धिजनक' ऐसा विशेषण किया
जाय तो 'लिङ्ग' शब्द से उत्पन्न अर्थापलब्धि जो कि शाब्दरूप है उसके जनक में अतिप्रसंग प्राप्त

भवेत्। तथा च विशिष्टज्ञानमेवानुमानं प्रसज्यत इत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः।

न च तस्यैवानुमानत्वम् 'स्मृत्यनुमानागम-संशय-प्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि' (वा.भा.१-१-१६) इति वचनात् सर्वस्य विशिष्टफलजनकस्याऽनुमानत्वात्। तथापि स्वरूप-विशेषणवादिनामेषामनुमानत्वं न प्राप्नोति अव्यभिचारादिविशेषणानामसम्भवात्। स्मृत्यादयस्तु स्वज्ञानविशिष्टा

5 लिङ्गं सम्भवन्त्येव 'अतोऽर्थोपलब्धिरेव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा तत्पूर्वकपूर्विका यतः— तदनुमानमि' त्यभिधीयमाने न कश्चिद्दोषः।

नन्वेतस्मिन् सूत्र-व्याख्याने त्रिविधग्रहणमनर्थकम्। न, अनुमानविभागार्थत्वात्। न च पूर्ववदादिवैयर्थ्यम्।

होगा। उस के निवारणार्थ 'अव्यपदेश्यार्थोपलब्धिजनक' ऐसा विशेषण कर दिया जाय तो यद्यपि 'लिङ्ग' शब्द से उत्पन्न अर्थोपलब्धि अव्यपदेश्य न होने उस में अतिप्रसंग तो नहीं होगा। किन्तु इन सभी

10 विशेषणों के लगाने से फलितार्थ यही होगा कि इतने विशेषणों से विशिष्टफलजनक जो अध्यक्षफल है वही अनुमान (करण) है। इस स्थिति में विशिष्टज्ञान (प्रत्यक्षफलरूप) ही अनुमान बनेगा न कि अन्य अनुमान, अतः उन में अव्याप्ति दोष ध्रुव रहेगा।

[स्मृति आदि भी अनुमानप्रमाण-वात्स्यायन]

यदि प्रत्यक्षफलरूप विशिष्टज्ञान को ही अनुमान(करण) कहा जाय, अन्य स्मृति आदि को नहीं

15 तो वह अयुक्त है। कारण, वात्स्यायनभाष्य (१-१-१६) में कहा है — 'मनःपदार्थ की सिद्धि के ये सब लिंग हैं — स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, ऊह, सुखादिप्रत्यक्ष, इच्छा-प्रयत्नादि।' इस कथन से स्पष्ट होता है कि सिर्फ प्रत्यक्षफलरूप विशिष्टज्ञान ही अनुमान नहीं है किन्तु मन की सिद्धि करने वाले उपरोक्त सभी लिंग (अनुमानकरण होने से) अनुमानप्रमाण हैं, क्योंकि ये सब विशिष्टफल के जनक हैं।

20 इस आशंका का उत्तर यह है कि — ये जो स्मृति आदि हैं वे स्वरूपसत् विशेषण हो कर अनुमानरूप नहीं बन सकते, क्योंकि उन में (स्मृत्यादि में) अव्यभिचारादि विशेषणों का मेल नहीं खाता। उन का ज्ञान अवश्य अव्यभिचारि विशेषणों के साथ मेल रखता है, अतः ज्ञानविशिष्ट (अर्थात् स्मृति आदि का ज्ञान यानी लिंगज्ञान) स्मृत्यादि सब अव्यभिचारादि विशेषणों से मेल रखने के कारण लिंगरूप यानी 'अनुमान' हो सकते हैं।

25 **निष्कर्ष :-** अव्यभिचारादि विशेषणों से अन्वित प्रत्यक्षपूर्वकपूर्विका अर्थोपलब्धि जिस (लिंगज्ञान) से होती है वही अनुमान है — ऐसा लक्षणकथन करने में कुछ भी दोष नहीं है।

प्रश्न :- उपरोक्त सूत्र (सभाष्य) की जो आपने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की उस से तो लगता है कि स्मृति आदि लिंगज्ञान के तो अनेक प्रकार हैं, फिर सूत्रकारने 'त्रिविध' ऐसा व्यर्थ कथन क्यों किया ?

30 उत्तर :- नहीं, 'त्रिविध' ऐसा जो कहा है वह तो अनुमान के स्मृत्यादि भिन्न भिन्न स्वरूप दिखाने के लिये नहीं कहा किन्तु उन के पूर्ववत् आदि तीन विभाग सूचित करने के लिये 'त्रिविधम्' कहा है।

प्रश्न :- 'त्रिविधम्' से तीन विभाग कह देने पर पुनः पूर्ववत् आदि के कथन से पुनरुक्ति दोष

स्वभावादिविषयप्रतिषेधेन तद्ग्रहणस्य पूर्ववदादिविषयज्ञापनार्थत्वात्। पूर्ववदाद्येव त्रिविधविभागेन विवक्षितम् न स्वभावादिकम्।

अपरे तु 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' इत्येतावदनुमानलक्षणमाचक्षते। अत्र च 'अनुमानम्' इति लक्ष्यम् 'तत्पूर्वकं त्रिविधम्' इति लक्षणम्। 'तत्पूर्वकमनुमान'मित्यभिधीयमाने संस्कार-स्मृति-शाब्द-विपर्यय-संशयोपमानादिषु प्रसङ्गाः, तत्रिवृत्त्यर्थं 'त्रिविध'-पदोपादानम्। त्रिविधमिति त्रिरूपम्, त्रीणि च रूपाणि 5 पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणानि गृह्यन्ते पूर्ववदादिश्रुतेः। 'पूर्वमुपादीयमानत्वात् कथान्नयेऽपि— पूर्वः = पक्षः सोऽस्यास्तीति पूर्ववत्' — पक्षधर्मत्वम्। शेषः = उपयुक्तादन्यत्वात् साधर्म्यदृष्टान्तः, तस्मिन् विद्यते इति शेषवत्— सपक्षे सत्त्वम्। सामान्यतोऽदृष्टमिति विपक्षे मनागपि यत्र दृष्टम् 'विपक्षे सर्वत्राऽसत्त्वम्' तृतीयं रूपम्— एतद्रूपलिङ्गालम्बनं यत् - तत्पूर्वकं तदनुमानमित्युच्यमाने संस्कारादौ नातिप्रसङ्गः। तथाप्यति-व्याप्तिर्बाधित-सत्प्रतिपक्षेषु, तत्रिवृत्त्यर्थं सामान्यतोऽदृष्टं च — इति 'च' शब्दोऽबाधितविषयत्वअसत्प्रति- 10 पक्षत्वरूपद्वयसमुच्चयार्थः। तथाप्यव्याप्तिः, अन्वय-व्यतिरेकिलिङ्गालम्बनयोरसंग्रहात्। न, अन्वयिलिङ्ग-

होने के कारण क्यों व्यर्थता दोष नहीं होगा ?

उत्तर :- नहीं, बौद्ध मतानुसार हेतु के स्वभाव-कार्य-अनुपलब्धिरूप तीन विषयों का प्रतिषेध करने के लिये 'पूर्ववद्' आदि का ग्रहण, अनुमान के पूर्ववत् आदि विषयों के सूचन करने से सार्थक ही है। तात्पर्य, 'त्रिविध' ऐसे विभाग के द्वारा पूर्ववत् आदि ही यहाँ विवक्षित हैं न कि स्वभावादि। 15

[अन्य विद्वानों की ओर से अनुमानसूत्र की व्याख्या]

सूत्र की व्याख्या कुछ विद्वान अन्य प्रकार से करते हैं — अनुमान का लक्षण — 'तत्पूर्वक त्रिविध अनुमान' इतना ही मानों। इस में 'अनुमान' पद लक्ष्यवाचक है, 'तत्पूर्वक त्रिविध' यह लक्षण है। सिर्फ 'तत्पूर्वक' इतना ही अनुमानलक्षण मानने पर संस्कार-स्मृति-शाब्दबोध-भ्रम-संशय-उपमान आदि सब प्रत्यक्षमूलक होने से उन में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग होगा, उन के वारणार्थ 'त्रिविध' पद का ग्रहण 20 किया है।

त्रिविध यानी त्रिरूप। त्रिरूप-पद से पक्षधर्म, अन्वय और व्यतिरेक ये तीन रूप विवक्षित हैं, क्योंकि सूत्रकार ने पूर्ववत् आदि तीन प्रकारों से इन्हीं का निर्देश किया हुआ है। कैसे यह देखिये— कथा के जो वाद-जल्यवितण्डा ये तीन भेद हैं — तीनों में सब से 'पूर्व' यानी पहले जिस का उल्लेख किया जाता है, 'पूर्व' यानी पक्ष (जिस का सर्वप्रथम उल्लेख किया जाता है) — ऐसा पूर्व है जिस 25 अनुमान का — वह 'पूर्ववत्'। पूर्वशब्द से मतुप् प्रत्यय कर के 'पूर्ववत्' शब्द बना है। फलितार्थ हुआ पक्षधर्मत्व, क्योंकि कथा में पहले पक्षधर्म का निर्देश होता है। अन्वय का मतलब है सपक्ष में हेतु का सत्त्व, 'शेषवत्' पद से इसी का उल्लेख है। 'शेष' का मतलब है उपयुक्त (पक्ष) से जो शेष यानी (सधर्मा), यानी सपक्ष, अर्थात् साधर्म्य दृष्टान्त यानी अन्वय। शेष में (सपक्ष में) रहने वाला (हेतु) यानी शेषवत्। (यहाँ भी 'शेषो अस्ति अस्य इति मतुप्' समझ लेना।) तीसरा रूप है 30 विपक्ष में असत्त्व यानी व्यतिरेक। इस का उल्लेख सामान्यतोऽदृष्ट-पद से किया है। सामान्यतो यानी तलमात्र भी जो विपक्ष में नहीं देखा गया (अदृष्ट) वह है सामान्यतो अदृष्ट। (अवग्रह 'ऽ' का प्रक्षेप

विवक्षायां सामान्यतोऽदृष्टमित्येतस्यानभिसम्बन्धात् 'पूर्ववत् - शेषवत्- च'शब्दसमुच्चितरूपद्वयोपेतचतुर्लक्षण-
लिङ्गप्राप्तेः। व्यतिरेकिविवक्षायां शेषवदित्येतस्यानभिसम्बन्धात् व्यतिरेके चतुर्लक्षणलिङ्गसंग्रहाद्। अन्वय-
व्यतिरेकिलिङ्गविवक्षायां समस्तपदाभिसम्बन्धात् पञ्चलक्षणलिङ्गप्राप्तेः।

अन्ये तु त्रिविधग्रहणमतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमेवाऽन्यथा वर्णयन्ति- त्रिविधं = त्रिप्रकारम्। के पुनस्त्रयः
5 प्रकाराः ? इति विवक्षायां पूर्ववदादिनिर्देशः। तत्र पूर्ववत् = यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते। अथापि स्यात् -
पूर्वं = कारणं तदस्यास्तीति पूर्ववत् कार्यम् एवं च कार्यात् कारणानुमानं पूर्ववत् प्रसक्तम् न कारणात्

समझ लेना)। ऐसे त्रिरूपलिंग के आलम्बनवाला जो तत्पूर्वक होता है वह अनुमान है। सिर्फ 'तत्पूर्वक'
इतना लक्षण करने पर जो संस्कारादि में अतिव्याप्ति प्राप्त होती थी वह अब 'त्रिविध' पद के प्रवेश
से दूर हो जाती है

10 [अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का समुच्चय]

अब देखिये - असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचार दोष वाले अनुमान में अतिव्याप्ति का तो त्रिविध
(पक्षधर्मादि) कहने से वारण हो गया, किन्तु बाध एवं सत्प्रतिपक्ष में होनेवाली अतिव्याप्ति का वारण
कैसे होगा ? - उत्तर :- उन की निवृत्ति के लिये 'सामान्यतोऽदृष्टं च' सूत्र में जो 'च'कार पद है
उस से अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षत्व इन दोनों रूपों का भी लक्षण में समुच्चय कर लेंगे, तब

15 बाध एवं सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति नहीं रहेगी।

तथापि एक अव्याप्ति आशंकित है। त्रिरूप कहने से अन्वय-व्यतिरेकोभयवाले लिंग (अनुमान)
का तो संग्रह हो गया किन्तु केवलान्वयि एवं केवलव्यतिरेकी का तो लक्षण से संग्रह नहीं हुआ, अतः
उन दोनों में अतिव्याप्ति रहेगी। उत्तर :- नहीं, केवलान्वयिलिंग होगा तब विपक्ष में असत्त्व का (व्यतिरेक
का) सूचक 'सामान्यतोऽदृष्ट' पद का सम्बन्ध ग्रहण नहीं करेंगे, सिर्फ चार लक्षण (चार रूप) वाले
20 लिंग का ही स्वीकार करेंगे। मतलब, 'पूर्ववत् शेषवत् च' (सामान्यतोऽदृष्ट को छोड़ दिया) इतने
अंशों को लक्षण में ग्रहण करेंगे, अतः पूर्ववत्, शेषवत् तथा चकार से समुच्चित अबाधितत्व-असत्प्रतिपक्षत्व
ऐसे चार रूपवाला लक्षण केवलान्वयि में सुव्याप्त होगा। तथा केवल व्यतिरेकी स्थल में 'शेषवत्'
को लक्षण में से छोड़ देंगे, अतः 'पूर्ववत्-सामान्यतोऽदृष्ट' एवं, चकारसमुच्चित दो रूप-मिला कर
चाररूपवाले लक्षण की केवलव्यतिरेकी में अव्याप्ति नहीं होगी। अन्वयव्यतिरेकीउभय लिंग में तो सभी
25 पदों को (चकार सहित) लक्षणान्तर्गत कर लेने से न्यायदर्शन में पंचरूपवाले हेतु की प्राप्ति सुकर
बनी रहेगी।

['त्रिविध' पद की अन्यप्रकार से व्याख्या - अन्य मत]

कुछ अन्य विद्वान् अव्याप्ति-अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'त्रिविध' पदप्रयोग का व्याख्यान अन्यस्वरूप
से करते हैं -

30 त्रिविध यानी त्रिप्रकार, कौन से तीन प्रकार ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में पूर्ववत् आदि तीन का
निर्देश है। उन में पहले पूर्ववत् का मतलब है कि जिस (अनुमान) में कारण से कार्य का अनुमान
होता है।

कार्यानुमानम् । न च कारणदर्शनात् कार्यप्रतिपत्तिः सम्भविनी । तथाहि— कारणात् कार्ये साध्ये यदि कार्यस्य धर्मित्वं तदा तस्याऽसिद्धत्वादाश्रयाऽसिद्धो हेतुः । अथ तस्य सिद्धत्वाद् न धर्म्यासिद्ध्या हेतोराश्रयाऽसिद्धता तर्हि साधनवैफल्यम् कार्यसत्त्वस्य हेतुव्यापारात् प्रागेव सिद्धत्वात् । न च कार्यसत्तायां साध्यायां कारणलक्षणो हेतुर्भावधर्मः सिद्धः, तत्सत्तासिद्धौ हेतोस्तद्धर्मतासिद्धेः । नाऽप्यभावधर्मोऽसौ, तत्सत्तासाधने तस्य विरुद्धत्वात् । नाऽप्युभयधर्मः, तत्र तस्य व्यभिचारित्वात्, न ह्युभयधर्मो भावमेव प्रतिपादयेत् । उक्तं च — ‘नाऽसिद्धे 5 भावधर्मोऽस्ति’ (प्र०वा०३-१९१) इत्यादि । किञ्च, कारणात् ‘कार्यमस्ति’ साध्ये हेतुर्व्यधिकरणः स्यात् । कारणाच्च यदि प्रतिबद्धसामर्थ्यात् कार्यास्तित्वं भाव्यनुमीयते तदाऽनैकान्तिकत्वं हेतोः । तदुक्तम्— ‘नावश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ति’ () प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवात् । अथाऽप्रतिबद्धसामर्थ्यात्, तदा तथाभूतकारणदर्शनसमय एव कार्यस्योत्पत्तेरनन्तरसमये तस्याध्यक्षत्वात् प्रतिबन्धाद्यनुस्मरणं व्यर्थम् । यदपि समग्रेण हेतुना कार्यात्पादानुमानं सौगतैरभ्युपगतम् तदपि योग्यतानुमानम् । तथाहि— योग्येयं बीजादिसामग्री प्रतिबन्धवैकल्याऽसम्भवे 10

कोई ऐसा कहे (पूर्वपक्ष) — ‘पूर्व = कारण, वह है जिस का’ ऐसा पूर्ववत् यानी कार्य — तो इस का फलितार्थ होगा कार्य से कारण का अनुमान, न कि कारण से कार्य का अनुमान । उपरांत, (पूर्वपक्ष चालु) कारणदर्शन से कार्य की उपलब्धि का संभव नहीं है । कैसे यह देखिये — कारण से कार्य की सिद्धि के लिये धर्म (पक्ष) कौन होगा ? कार्य (जो सिद्ध करने का है अभी सिद्ध नहीं है) को धर्म करेगे तो वह असिद्ध होने से हेतु को आश्रयासिद्धि दोष स्पर्शा । यदि धर्म कार्य 15 सिद्ध है अतः ‘उस की असिद्धता को देखा कर आश्रयासिद्धि दोष के प्रदर्शन’ को निष्फल बनायेंगे — तो साधन (हेतुप्रयोग) को निष्फलता मिलेगी, क्योंकि उसके प्रयोग के पहले ही कार्य (धर्म) सिद्ध ही है ।

कार्य की नहीं किन्तु कार्यसत्ता की सिद्धि यदि कारणात्मक हेतु से अभिलषित है — तो तीन प्रश्न है कि वह हेतु भावधर्मरूप से सिद्ध है ? अभावधर्मरूप से सिद्ध है ? या उभयधर्मरूप से 20 सिद्ध है ? भावधर्मरूप से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कार्यसत्ता सिद्ध होने पर ही कारण की भावधर्मता सिद्ध हो सकती है, कार्यसत्ता सिद्ध न होने पर वह कारण कैसे ? यदि हेतु अभावधर्मरूप से सिद्ध रहेगा तो वह कार्य की सत्ता के बदले कार्यसत्ता का विरोधी होने से कार्यसत्ता के अभाव को सिद्ध कर बैठेगा । यदि हेतु भावाभाव — उभय धर्म के रूप में सिद्ध मानेंगे तब तो कभी कार्यसत्ता का, कभी कार्यसत्ताभाव का सहचारी होने से व्यभिचारी बन जायेगा । मतलब कि नियम नहीं होगा 25 कि वह भाव (यानी सत्ता) की ही सिद्धि करे । प्रमाणवार्तिक में भी यही कहा है (३-१९१) कि ‘(कार्यसत्ता की) सिद्धि के बिना भावधर्म भी (सिद्ध) नहीं होता ।’

[कारण से कार्य यानी योग्यता का अनुमान]

(पूर्वपक्ष चालु) यह भी विचारणीय है — ‘कारण से कार्य होता है’ ऐसा साध्य करेंगे तो कारणात्मक हेतु साध्य का व्यधिकरण बन बैठेगा । मतलब, हेतु साध्य का समानाधिकरण नहीं रहेगा, क्योंकि 30 कार्यसत्ता तो कार्य में रहेगी और कारण तो कार्य में रहता नहीं है । यदि प्रतिबन्धित सामर्थ्ययुक्त कारण से भावि कार्यसिद्धि (अस्तित्व) का अनुमान होगा, तो यहाँ हेतु अनैकान्तिक होने से वह शक्य

विवक्षितकार्योत्पादने - इत्येवं तत्त्वभावहेतुप्रभवम्। तदुक्तम् (प्रवा० ३-७) -

हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते। अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः। इति।

- असदेतत् - यतो न कार्यस्य धर्मित्वं कारणस्य हेतुत्वमस्माभिः क्रियते येन कार्यस्य सिद्ध्यसिद्धि-
भ्यामनुमानाऽप्रवृत्तिर्भवेत्, किन्तु कारणस्यैव धर्मित्वं मेघादेः क्रियते, तस्य च सिद्धत्वाद् नाऽऽश्रयासिद्धत्वदोषः।
5 तत्रैव च वृष्ट्युत्पादकत्वं धर्मः साध्यते तद्धर्मणोऽन्नतत्वादिना। न च प्रतिज्ञार्थैकदेशः एवं हेतुः, साध्य-
साधनयोर्धर्मिधर्मयोर्वा भेदात्। तथाहि— मेघत्वजातियुक्तानां धर्मित्वं भविष्यद्वृष्ट्युत्पादकत्वमसिद्धमर्थान्तरं
ततः साध्यो धर्म उन्नतत्वादिकमपि साधनधर्मः मेघेभ्यो भिन्नम् तेषां द्वैविध्यदर्शनात्, तेन न प्रतिज्ञार्थैकदेश-
ताऽपि। न च साध्य-साधनयोरैक्यम्। न च भाष्यविरोधः 'कारणेन कार्यमनुमीयते' (वा०भा०१-१-५)

- नहीं है। किसी विद्वान ने यही कहा है — 'कारण अवश्य कार्ययुक्त हो ऐसा नियम नहीं।' कार्य
10 के साथ अविनाभाव से विकल रहने पर अभिमत कारण कार्य नहीं साध सकता। यदि अप्रतिबद्ध
= दृढनिष्ठा युक्त सामर्थ्ययुक्त कारण से कार्यसिद्धि मानी जाय तब तो अनिष्ट यह होगा कि उक्तसामर्थ्यवाले
कारण के दर्शनकाल में ही कार्य झटिति उत्पन्न हो कर प्रत्यक्षदृष्टिगोचर बन जायेगा, फिर
अविनाभावस्मरणादि तो बेकार बन जायेंगे। बौद्धोंने जो मान लिया है कि समग्र (सर्वसामर्थ्ययुक्त)
कारण से कार्य का अनुमान हो सकता है — उदा० यह बीजादि सामग्री विवक्षितफल के उत्पादन
15 में योग्य है, जब प्रतिबन्ध की विफलता की कोई शक्यता ही नहीं है। इस प्रकार स्वभावहेतुमूलक
बीजादिस्वभावभूत योग्यता का अनुमान शक्य होने से बौद्ध ऋषियों ने वैसा स्वीकार किया है। प्रामाणार्तिक
(३-७) में कहा है — 'अर्थान्तर की अपेक्षा न रखने के कारण समग्र हेतु से जो कार्योत्पत्ति का
अनुमान होता है उसी को स्वभाव (हेतु) कहा गया है।'

- (उत्तरपक्ष) :- यह सब निवेदन मिथ्या है। तीन प्रकारवाले अनुमानों में से प्रथम प्रकार के व्याख्यान
20 में ऐसा हमारा प्रयास नहीं है कि हम कार्य में धर्मित्व और कारण में हेतुत्व की सिद्धि करें। —
जिस से कि 'कार्य सिद्ध है या असिद्ध' ऐसे विकल्पों के द्वारा अनुमान की प्रवृत्ति को बाधा पहुँच
सके। हम तो वृष्टि के कारणभूत मेघादि को धर्मिताया प्रस्तुत करते हैं जो कि सिद्ध होने से आश्रयासिद्धि
दोष को अवकाश ही नहीं रहता। उसी (मेघादि) धर्मों में वृष्टिकारकत्व धर्म, उसी धर्मों के अन्य
धर्मरूप उन्नतता (हेतु) के द्वारा सिद्ध किया जाता है। ऐसा कहना तथ्यविहीन ही है कि यहाँ प्रतिज्ञात
25 अर्थ मेघादि के एकदेश (उन्नतत्वादि) को ही हेतु कैसे किया ? — क्योंकि साध्य वृष्टिकारकत्व और
साधन उन्नतत्वादि में तो भेद ही है। अथवा धर्मों मेघादि और उन्नतत्वादि धर्म में तो भेद ही है।
देखिये, यहाँ भेद इस तरह है — मेघत्वजातियुक्त पदार्थों को धर्मों बनाया है, उस से अर्थान्तर यानी
भिन्न है भाविवृष्टिकारकत्व धर्म जो असिद्ध है और उस को यहाँ साध्य किया है। उन्नतत्वादि साधनरूप
धर्म है (मेघादि का) जो मेघों से तो भिन्न है एवं वृष्टिकारकत्व से भी भिन्न है। मेघरूप धर्मों
30 और उन्नतत्व धर्म एक (अभिन्न) नहीं है, क्योंकि मेघ तो उन्नत-अनुन्नत दोनों प्रकार के होते हैं।
अत एव यहाँ प्रतिज्ञात अर्थ एकदेशता दोषरूप नहीं है। उक्त ढंग से साध्य-साधन का भी भेद यहाँ
सिद्ध है। भाष्य व्याख्या के साथ कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि वात्स्यायन भाष्य में भी यही

इति तत्र वचनात्। यत उन्नतत्वादिधर्मविशेषा मेघाः कारणम् तथाविधकारणधर्मण भविष्यद्वृष्ट्युत्पादकत्वं धर्मा यदाऽनुमीयते तदा वृष्टेरनुमानात्, कारणात् कार्यानुमानमित्युपदिश्यते। अथोन्नतत्वादिधर्मयुक्तानामपि मेघानां वृष्ट्यजनकत्वदर्शनात् कथमैकान्तिकं कारणात् कार्यानुमानम् ? न, विशिष्टस्योन्नतत्वादेर्धर्मस्य गमकत्वेन विवक्षितत्वात्। न च तस्य विशेषो नाऽसर्वज्ञेन निश्चेतुं पार्यत इति वक्तुं शक्यम्, सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तेः।

तथाहि — मशकादिव्यावृत्तधूमादीनामपि स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वमसर्वविदा न निश्चेतुं शक्यमिति वक्तुं 5 शक्यत एव। अथ 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' () इति न्यायाद् धूमादेर्गमकत्वम् तर्ह्यत्रापि तुल्यम्। यो हि भविष्यद्वृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः स एव तस्मात्तामनुमिनोति नाऽगृहीतविशेषः। तदुक्तम्— 'अनुमातुरयमपराधो नाऽनुमानस्य' (वा.भाष्य-२-१-३८)। तथा सूत्रकारेणाऽप्यभ्यधायि— 'नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्' (न्या.सू.२-१-३८)। अत एव 'गम्भीरध्वानवत्त्वे

कहा है — 'कारण से कार्य का अनुमान होता है' — (जैसे मेघ की उन्नति से भावि मेघवृष्टि।) 10 इस वचन के बल से यह उपदेश करना उचित ही है कि — उन्नतत्वादि धर्म से विशिष्ट मेघादि 'कारण' है, उस कारण के धर्मभूत उन्नतत्वादि धर्म के द्वारा भाविवृष्टिकारकत्व धर्म का जब अनुमान किया जाता है तब वृष्टि के अनुमान के बल पर, कारण से कार्य का अनुमान फलित होता है।

प्रश्न :- यहाँ एकान्ततः कारण से कार्य का अनुमान कैसे शक्य है जब कि कभी कभी उन्नतत्वादिधर्मविशेष मेघों के रहते हुए भी वृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा दीखता है ? 15

उत्तर :- नहीं, विशिष्ट प्रकार के उन्नतत्वादि धर्म को (निमित्त शास्त्रों में) वृष्टि का ज्ञापक माना गया है।

असर्वज्ञ पुरुष मेघोन्नति की विशिष्टता का निश्चय कैसे कर पायेगा ? ऐसा पूछना व्यर्थ है क्योंकि तब तो सभी अनुमानों में हेतु के लिये ऐसे प्रश्न उत्थित किये जाने पर अनुमान मात्र के उच्छेद का अतिप्रसङ्ग हो सकता है। 20

[अनुमान के उच्छेद की विपदा का स्पष्टीकरण]

कैसे यह देख लो — 'यह तो धूम ही है न कि मशकादिवृन्द इस तरह धूमादि की स्पष्ट प्रमा होने पर भी वह अपने साध्य (अग्नि आदि) का व्यभिचारी है या अव्यभिचारी— ऐसा निर्णय सर्वज्ञ के विना कौन कर सकता है ? (क्योंकि सर्व धूमों के साथ सर्वत्र अग्निसत्ता को तो सर्वज्ञ ही देख सकता है।) इस प्रकार कोई भी कह सकता है। यदि कहें '(अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अग्नि 25 के साथ पूर्वदृष्ट ऐसा) सुविवेचित (धूमादि) कार्य कभी भी अपने (अग्निरूप) कारण का व्यभिचारी नहीं होता।' इस न्याय के बल पर धूम अग्नि का बोधक क्यों नहीं होगा ? — तो फिर ऐसा ही कथन — 'सुविवेचित उन्नतत्वादिविशेष मेघ भावि वृष्टि का बोधक क्यों नहीं होगा ?' हम भी तुल्यरूप से कह सकते हैं। हम भी कहते हैं कि भावि वृष्टि का अव्यभिचारी ऐसे उन्नतत्वादि विशेष को पहचान लेने में जो काबिल होगा वही उस विशेष के बल पर भावि वृष्टि का अनुमान कर 30 लेगा। जिसने उस विशेष को नहीं पहचाना वह नहीं करेगा। वा० भाष्य में कहा है — 'वह अनुमानकर्ता का अपराध है न कि अनुमान का।' तथा न्यायसूत्रकारने भी कहा है — नहीं, (अनुमान मिथ्या नहीं।)

सति' (न्या.वा.१-१-५) इत्याद्युन्नतत्वादेर्वार्तिककृता विशेषो दर्शितः। न चैवं साध्य-साधनभावे कार्यसत्तायाः साध्यत्वं येन भावाभावोभयधर्मस्याऽहेतुत्वमिति दोषः स्यात्। वैयधिकरण्यमपि प्रदर्शितप्रयोगे परिहृतमेव।

यच्च अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणस्य हेतुत्वे कार्यप्रत्यक्षतालक्षणं दूषणमभिहितम्- (३४९-८) तदसंगतमेव व्यवधानसम्भवात्। तथाहि— निष्पाद्ये पटे अनुत्पन्नावयवक्रियस्यान्त्यतन्तोर्यदा क्रियातो विभागः तदाऽविना-
5 भावसम्बन्धस्मृतिर्विभागात् पूर्वसंयोगविनाशः तन्त्वन्तरेण च संयोगोत्पत्तिर्यदैव तदैवाऽविनाभावसम्बन्धस्मरणात् परामर्शज्ञानम्, यदा संयोगात् कार्योत्पादस्तदैव परामर्शविशिष्टाल्लिङ्गात् 'भविष्यति कार्यम्' इत्यनुमेयप्रतिपत्तिः। न चोत्पादकाल एव कार्यस्य प्रत्यक्षता, तत्र तदा रूपाद्यभावात्। न च रूपादिभिः सहोत्पादस्तदधिकरणानाम्, एकदेश, त्रास और सादृश्य से सिद्धान्ती के दिये हुए हेतु भिन्न होने से।▲

अत एव वार्तिककार ने भी (विशेष सिर्फ सर्वज्ञगोचर ही है ऐसा न मानते हुए) सूत्र १-१-५
10 की व्याख्या में गम्भीरध्वनिवाला हो (अनेक बगुले चक्कर मारते हैं) इत्यादि कहते हुए उन्नतत्वादि विशेष को प्रदर्शित किया ही है। उपरोक्त प्रकार से मेघादि में वृष्टिकारकत्व को साध्य कर के विशिष्ट उन्नतत्वादि को साधन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कार्यसत्ता हमारा साध्य ही नहीं है। अत एव हेतु के भावधर्म-अभावधर्म-उभयधर्म ऐसे तीन विकल्पों द्वारा उस के हेतुत्व का निरसन किया गया था (३४९-२०) वह व्यर्थ है। पहले जो कहा है कि 'कारण से कार्य होने का सिद्ध किये जाते वक्त हेतु
15 व्यधिकरण हो जायेगा' इस दोष का भी परिहार उपरोक्त अनुमानप्रयोग के द्वारा अनायास हो जाता है।

[कारणदर्शनकाल में कार्योत्पत्ति प्रत्यक्षापत्तिनिरसन]

पहले (३५०-१०) जो दोष कहा था कि — 'दृढप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले कारण को हेतु करने पर, उस कारण के दर्शनकाल में कार्य की भी झटिति उत्पत्ति हो जाने से उस का प्रत्यक्ष ही हो जायेगा, फिर व्याप्तिस्मरण व्यर्थ बन जायेगा...' वह भी असत् है क्योंकि बीच में कालादि का व्यवधान सावकाश
20 होने से कारणदर्शनकाल में कार्य की उत्पत्ति का कथन गलत है। कैसे यह देखिये — जब एक वस्त्र उत्पन्न होने वाला है और शेष अवयवभूत तन्तुओं निष्क्रिय रहे एवं अन्तिम तन्तु में क्रिया उत्पन्न होगी तब क्रिया से, पहले तो पूर्वसंयोगनाशक विभाग उत्पन्न होगा। उस के बाद अविनाभावसम्बन्ध का स्मरण एवं विभाग जन्य पूर्वसंयोगनाश तथा अन्य तन्तुओं से संयोग तीनों की एक साथ उत्पत्ति होगी। तथा उस वक्त ही अविनाभावसम्बन्ध के स्मरण से परामर्शज्ञान भी हो जायेगा। दूसरी ओर
25 उक्त संयोग से कार्य भी उत्पन्न होगा। उसी वक्त परामर्शयुक्त लिंग से 'कार्य निपजेगा' इस प्रकार अनुमेय (कार्य) की (जब कि इस समय वह उत्पन्न नहीं हुआ अत एव उस के प्रत्यक्ष का संभव नहीं तब) प्रतिपत्ति होगी। इस को कहेंगे कारण से कार्य का अनुमान।

▲. सूत्र का तात्पर्य यह है कि सभी अनुमान को मिथ्या नहीं कह सकते। अनुमान को मिथ्या (यानी व्यभिचारी) दिखाने के लिये जो तीन बात है कि एकदेश में नदी वृद्धि, त्रास के कारण कुछ चींटियों का स्थान परिवर्तन, एवं मयूरघोष सदृश किसी के नकली घोष के द्वारा मेघवृष्टि की सिद्धि नहीं हो सकती — इस के सामने सिद्धान्ती का कहना है कि हमारा हेतु इन नकली तीन बातों से विलक्षण (अर्थान्तर) है। वे ये तीन वैलक्षण्य हैं — एकदेश नदीवृद्धि नहीं किन्तु पूर्णरूप से नदी की विलक्षणवृद्धि, त्रास के कारण नहीं किन्तु सहजरूप से अण्डे लेकर चींटियों का स्थान परिवर्तन, एवं मयूर का असली शब्द। हमारे ये तीन हेतु अव्यभिचारी होने से अनुमान प्रमाणभूत हो सकता है। इति।

रूपादीनां तत्कार्यत्वात् कार्य-कारणयोश्च सहोत्पादे निर्हेतुकत्वप्रसक्तेः। न चान्त्यतन्तुक्रिया अन्तराले प्रतिबन्धसंभवात् त्रिचतुरक्षणव्यवधानान्नावश्यं विवक्षितकार्योत्पादिके ति वक्तव्यम्, यतोऽनुत्पन्नावयवक्रिये तन्ताविति विशेषणोपादानं कृतमिति नाधारविनाशात् क्रियाविनाशः। क्रिया चाऽविनष्टा स्वकार्य विभागमवश्यमुत्पादयति, स च स्वप्रतिबन्धकाभावे स्वाश्रयसंयोगं नियमतो निर्वर्तयति, अन्यथा क्रियायाः स्थैर्यप्रसक्तिर्नित्याधारयोश्च नित्यत्वप्रसक्तिर्भवेत्। स च क्रियाप्रभवः संयोगो नियतो द्रव्याविर्भावकः, सति 5 तस्मिन् द्रव्यप्रभवोपलम्भात्। ततोऽन्त्यतन्तुक्रियातोऽन्त्यतन्तोर्विभागविशिष्टस्योपलम्भात् कार्यानुमाने न कार्यप्रत्यक्षतादोषः। येषां तु परामर्शज्ञानं न संभवति तेषां कार्यप्रत्यक्षता दूरापास्तैव।

यत् पुनः 'समग्रात् कारणात् स्वात्मभूतस्य योग्यताख्यधर्मस्थानुमानं न कार्यस्य, तेन स्वभावहेतु-प्रभवमेतदनुमानम्' (३४९-९) इति - तदसङ्गतम्, अभेदे गम्य-गमकभावस्याऽसम्भवात्। अथ यत्रापि

[कार्योत्पत्तिकालीनप्रत्यक्षापत्ति का निरसन]

10

यदि कहें कि कार्योत्पत्ति के पहले भले ही उस का प्रत्यक्ष न हो किन्तु उत्पत्तिकाल में प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा ? जवाब यह है कि उत्पत्तिक्षण में द्रव्य निर्गुण-निष्क्रिय होने से उस में रूपादि न होने से उत्पत्तिकाल में उस का प्रत्यक्ष अशक्य है। रूपादि और उन के अधिकरण द्रव्यों का समकालीन उत्पाद भी शक्य नहीं है क्योंकि द्रव्य समवायिकारण है और रूपादि गुण उस का कार्य है, कारण-कार्य एक साथ नहीं किन्तु पूर्वापरभाववाले ही होते हैं। यदि उन की समकालीन उत्पत्ति मानेंगे तो 15 कौन कारण, कौन कार्य यह विभाग न होने से कार्य रूपादि कारणनिरपेक्ष उत्पत्तिवाले बने रहेंगे।

यदि कहा जाय - 'अन्त्य तन्तु में क्रियोत्पत्ति होने के बाद भी तीन या चार क्षणों के व्यवधान से विवक्षित वस्त्र की उत्पत्ति अवश्य होगी ऐसा नहीं कह सकते - क्योंकि बीच में तीन-चार क्षणों में कुछ न कुछ विघ्न - यानी पूर्व व्यूत वस्त्र के अवयवों में विनाशक क्रिया की उत्पत्ति आदि विघ्न का पूरा सम्भव है।' - तो यह ठीक नहीं, क्योंकि हमने अन्तिम तन्तुक्रिया का यह विशेषण 20 भी कहा है कि शेष पूर्व व्यूत तन्तु अवयवों में कोई क्रिया उत्पन्न नहीं हुई तभी की यह बात है। फलतः, आधार (पूर्व व्यूत वस्त्र) का नाशरूप विघ्न जब असंभव है तब विभागजनक क्रिया का नाश भी शक्य नहीं है। अविनष्ट क्रिया अवश्य अपने विभागरूप कार्य को उत्पन्न किये विना रहेगी नहीं। वह विभाग कोई प्रतिबन्धक न होने से अपने कार्य अन्तिमतन्तुसंयोग को अवश्य पैदा करेगा, (जो कि विभागजनक क्रिया का नाशक भी है)। यदि वह संयोग नहीं पैदा होगा तो क्रिया 25 स्थिर रह जायेगी। उस क्रिया का आधार नित्य परमाणु होने पर नित्य परमाणुसमवेत क्रिया में भी नित्यत्व की आपत्ति आयेगी। अतः मानना पडेगा कि क्रिया से नियमतः स्वाश्रयसंयोग उत्पन्न होगा जो कि द्रव्यजनक असमवायि कारण होने से द्रव्य का उत्पादक बनेगा, क्योंकि उस की उत्पत्ति के बाद त्वरित द्रव्य की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होती है। इस प्रकार, अन्त्य तन्तु क्रिया से पूर्वदेशविभाग विशिष्ट अन्त्यतन्तु का उपलम्भ मात्र ही शक्य है, अतः उस को देख कर भावि कार्य का अनुमान 30 हो सकता है किन्तु कार्योत्पत्ति के अभाव में उस समय कार्य के प्रत्यक्ष की आपत्ति का दोष दूरापास्त है। जिन को परामर्शज्ञान ही सम्भव नहीं है उन के मत में कार्यप्रत्यक्षता को अवकाश ही नहीं है।

साध्य-साधनयोर्वास्तवोऽभेदस्तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहाराऽयोगात् लिङ्गसाध्यधर्मिसाध्यधर्मनानात्वप्रतिपत्तिरूपो व्यवहारो बुद्ध्यारूढ एव। तदुक्तम्— 'सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्म-धर्मिभेदेन' () इत्यादि। असदेतत्, यतो यदि बुद्धिकल्पितो धर्म-धर्मिव्यवहारः तर्हि कल्पिताद्धेतोः साध्यसिद्धिर्भवेत्। ततश्च यावान् हेतुदोषः स सर्वो भवत्प्रयुक्ते साधने प्रसज्येत। तदुक्तं कुमारीलेन (श्लो.वा.निरा.श्लो.१७१-१७२) - "यदि चाऽविद्यमानोऽपि भेदो बुद्धिप्रकल्पितः। साध्य-साधनधर्मदिव्यवहाराय कल्पते।। ततो भवत्प्रयुक्तेऽस्मिन् साधने यावदुच्यते। सर्वत्रोत्पद्यते बुद्धिरिति दूषणता भवेत्।।" अथ धर्म-धर्मितया भेद एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि लिङ्ग-लक्षणो, विकल्पभेदानामिच्छामात्रानुरोधत्वेन स्वतन्त्राणामर्थाऽप्रतिबद्धत्वेन तदप्रतिपादकत्वात्। विकल्पकल्पिताद् हेतोरर्थप्रतिपत्त्यभ्युपगमे अर्थप्रतिलम्भ एव न भवेत्, ततोऽर्थ एवार्थं गमयति। असदेतत्— यतो यदि कृतकत्वलक्षणोऽर्थोऽनित्यत्वादेरर्थस्य 10 गमकस्तदा तयोस्तादात्म्याद् गम्यकगमकभावोऽयुक्त इत्यसकृदावेदितम्। अथ विकल्पप्रतिभासी कृतकत्वादिकः

[कारण से कार्य का नहीं योग्यता का अनुमान असंगत]

यह जो कहा था — (३५०-१३) 'समग्र यानी अविकल (समर्थ) कारण से कार्य का अनुमान शक्य नहीं किन्तु कारण में एकात्मभावापन्न योग्यता संज्ञक धर्म का ही अनुमान होता है। मतलब कि कारण के स्वभाव रूप समग्रता हेतु के द्वारा स्वभाव अभिन्न योग्यता का अनुमान होने से यह 15 स्वभावहेतुजन्य अनुमानभेद है न कि कारण से कार्य का।' — तो यह नितान्त असंगत है। कारण, अभेद में गम्य-गमकभाव सम्भव नहीं।

[धर्मि-धर्मभाव बुद्धिकल्पित होने की आशंका - उत्तर]

बौद्धआशंका :- जहाँ भी साध्य-साधन में वास्तव अभेद होता है वहाँ भी स्वलक्षण से (अतीन्द्रिय होने के कारण) व्यवहार तो सम्पन्न नहीं होता। एक ही वस्तु में परस्पर अभिन्न धर्मों का — किसी 20 का लिंग के रूप में, किसी का साध्यधर्मों के रूप में, तो किसी का साध्यधर्म के रूप में जो पृथक् पृथक् अवबोधस्वरूप व्यवहार किया जाता है वह बुद्धिकृत (बुद्धि कल्पित) ही होता है। इस बुद्धिकृत भेद से ही गम्य-गमकभाव संभव है। कहा गया है — 'यह सम्पूर्ण ही अनुमान-अनुमेय (साधन-साध्य) का व्यवहार बुद्धिकल्पित धर्म-धर्मों भेद से होता है।'

उत्तर :- यह आशंका गलत है। कारण, यदि सम्पूर्ण धर्म-धर्मों व्यवहार बौद्धकथनानुसार बुद्धिकल्पित 25 ही है तब तो कल्पित (न कि वास्तविक) हेतु से ही साध्य की सिद्धि करनी पड़ेगी। फलतः बौद्धदर्शनोक्त सभी हेतुओं में वे सब हेतुदोष लागू होंगे जो काल्पनिक हेतु में लग सकते हैं। कुमारीलेने भी श्लोकवार्तिक में कहा है — 'यदि साध्य-साधनधर्मादि का भेद अवास्तव होने पर भी व्यवहार के लिये बुद्धि से कल्पना की जाती है — तब तो आप के कहे हुए साधनों में, कहा जा सकता है कि सदोषता प्रसक्त होगी क्योंकि बुद्धि तो सर्वत्र उत्पन्न हो सकती है।'

30 [अभेदावस्था में भी स्वभावहेतु की संगति का प्रयास व्यर्थ]

यदि बौद्ध कहें — "स्वभावहेतुस्थल में यद्यपि साध्यधर्मों और हेतुधर्म का अभेद होते हुए भी बुद्धिकल्पना से भेद किया जाता है। वह भेद जरूर कल्पित ही है किन्तु कल्पितभेदवाला जो हेतु

सामान्यलक्षणोऽर्थोऽभ्युपगम्यते, तदा तस्याऽवस्तुत्वेन साध्यप्रतिबद्धत्वाभावाद् वस्तुत्वेनाऽध्यवसितस्यापि कुतो गमकत्वम् ? ययोर्हि प्रतिबन्धो न तयोर्भेद इति न गम्यगमकभावः ययोश्च भेदाध्यवसायो न तयोः प्रतिबन्धः।

न च दृश्य-विकल्पयोरेकत्वाध्यवसायादनुमानानुमेयव्यवहाराददोषः। तथाभ्युपगमे तदेव कल्पनाविरचित-लिङ्गप्रभवत्वमनुमेयप्रतिपत्तेः संवादविरोधि समायातम् इति कुतः परोक्तदूषणव्युदासः ? न च समारोपव्यवच्छेदः 5 स्वभावहेतोः फलं सम्भवीति प्रतिपादितमसकृदिति न पुनः प्रतन्यते। ततोऽप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणदर्शनात् कार्यस्यैवानुमानं न पुनः समग्रेभ्यः सामर्थ्यानुमानं युक्तम्। न च समर्थकारणस्य धर्मिभूतस्यानन्तरभावि-

(लिङ्ग) है वह कल्पित नहीं है। अतः सर्व हेतुदोष प्रसक्त होने की सम्भावना नहीं है। यह सच है कि विकल्पजाल सब इच्छामात्रानुसारी होता है वह वास्तव पदार्थस्पर्शी नहीं होता। अत एव स्वैच्छिक होने से अर्थ के साथ प्रतिबद्धता न होने के जरिये विकल्प अर्थप्रतिपादक नहीं होते, अत एव विकल्पचित्रित 10 हेतु से अर्थग्रहण का स्वीकार करेंगे तो (वह मिथ्या अर्थग्रहण होने से वास्तव) अर्थ का उपलम्भ होगा ही नहीं। फलितार्थ, अर्थ ही अर्थ का ग्राहक होता है, मतलब — लिंग अकल्पित वास्तव होने से स्वभाव हेतु अनुमान हो सकेगा।”

—तो यह बौद्ध कथन गलत है — क्योंकि कई बार हम कह चुके हैं कि यदि कृतकत्वादि (हेतुभूत) अर्थ अनित्यत्वादि धर्म का ज्ञापक मानते हैं तो उन दोनों में वास्तव भेद के कारण ही 15 गम्य-गमकभाव बन सकता है, तादात्म्य (अभेद) होने पर गम्य-गमकभाव मान लेना अयुक्त है। यदि आप कहें कि ‘हम अभेदापन्न कृतकत्व को हेतु नहीं करते किन्तु विकल्पकल्पित कृतकत्वसामान्यरूप अर्थ का ज्ञापकरूप से स्वीकार कर लेंगे तो स्वभाव हेतु बन जायेगा’ — तो यह अयुक्त है क्योंकि विकल्प कल्पित सामान्य को तो आप वस्तुरूप ही नहीं मानते, उस की किसी साध्य के साथ वास्तव प्रतिबद्धता भी शक्य नहीं है, तब यदि लाख बार उस में वस्तुत्व का आरोप कर के हेतु बनावें 20 तो भी वह ज्ञापक नहीं बन सकेगा। हमारी स्पष्ट मान्यता है कि जिन दोनों में प्रतिबद्धता का आप स्वीकार करते हैं उन में यदि भेद नहीं है तो ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव नहीं बन सकता; तथा जिन में भेद का आरोप करेंगे उन में वास्तव प्रतिबद्धता का सम्भव नहीं घट सकता।

[विकल्प द्वारा कल्पित हेतु से अनुमान अनुचित]

आशंका :- यद्यपि दृश्य और विकल्प्य अर्थों में भेद तो होता ही है, वह भेद वहाँ अगोचर 25 रहता है उस का कारण यह है कि उन दोनों में भेद की उपलब्धि न हो कर एकत्व का अध्यवसाय बना रहता है किन्तु वह वास्तव भेद का बाधक न होने से भेद के रहते हुए गम्य-गमक भाव यानी अनुमान-अनुमेय व्यवहार घट सकता है।

उत्तर :- नहीं, ऐसा मानने पर तो दृश्य की सिद्धि के लिये विकल्पविषय को हेतु बनाने पर, पहले कहा था उसी का पुनरावर्तन—विकल्पकल्पित हेतु से ही अनुमेय का भान मानना होगा, किन्तु 30 कल्पित हेतु वास्तव अर्थ से संलग्न न होने से वहाँ जो अनुमेय भासित होगा उस का संवाद (संवादी उपलम्भ) तो होना दूर, यहाँ तो उस का विरोधी विकल्प फलित होगा, अब बोलिये कि पहले जो दोष लगाया था कि — विकल्प से अर्थ की उपलब्धि ही नहीं हो सकती — उस दूषण का परिहार

कार्यविशिष्टत्वेऽनुमीयमाने समर्थत्वेन तद्गतने साधनधर्मेण हेतुरपि व्यधिकरणः। अतः 'हेतुना यः समग्रेण...' (प्र.वा.३-७) इत्याद्युक्तमेव।

अत्र च पूर्वं कारणमस्यास्तीति पूर्ववत् कार्यं नाभिधीयते किन्तु कारणधर्म उन्नतत्वादिः, तेन कारण-धर्मस्य वृष्ट्युत्पादकत्वस्यानुमानम्, न तु पूर्ववत्—कार्यात् कारणानुमानम्, तेन 'पूर्ववत् कार्यात् कारणानुमानं प्राप्नोति' इति यद् (३४८-६) गोगाचार्येण प्रेरितम् तन्निराकृतं द्रष्टव्यम्।

5 'शेषवत्' इत्यत्रापि 'कारण-कार्ययोर्लिङ्गत्वेनोपक्षेपे अनुपयुक्तं कार्यं शेषः तद् यस्यास्ति तच्छेषवद्' इति तद्गत एव साधनधर्मः कश्चिदुक्तः न तु कारणम्। तेन हि कार्यगतेन धर्मान्तरमप्रत्यक्षं वृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वाविकं कार्यगतमेवानुमीयते। अत एव कारणगमकत्वपक्षोक्तदोषप्रसक्त्यभावोऽत्रापि द्रष्टव्यः। तथाहि— 'नदी' शब्दवाच्यो गर्तविशेषो धर्मो तस्योपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वं साध्यो धर्मः, उभयतटव्यापित्वादिकस्तु

10 कैसे होगा ? भेद के बिना भी स्वभाव हेतु से अर्थापलम्भ को छोड़ कर सिर्फ समारोपव्युच्छेद को ही अनुमान का फल मान लिया जाय तो यह भी संभव नहीं है — यह तो पहले बार बार कहा जा चुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति क्यों करें ?

[पूर्ववत् अनुमान के विवरण का निष्कर्ष]

निष्कर्ष यह है कि सामर्थ्य के साथ प्रतिबद्धता के विरह में (कार्य के साथ प्रतिबद्ध) कारण 15 के देखने से कार्य का ही वहाँ अनुमान समझना उचित है न कि समग्र कारणसमुदाय के द्वारा सिर्फ योग्यता का, यानी कार्य के प्रति सामर्थ्य का अनुमान। यहाँ हेतु की व्यधिकरणता के दोष को भी अवकाश नहीं है, क्योंकि धर्माभूत समर्थ कारण को पक्ष कर के, उसी कारण के धर्मरूप सामर्थ्य को हेतु कर के पश्चाद्भाविकार्यवैशिष्ट्य का अनुमान हम मानते हैं — यहाँ कारण धर्म धर्मी में सद्भूत है अतः हेतु व्यधिकरण नहीं। अत एव प्रमाणवार्तिक (३-७) में जो कहा है कि 'समग्र हेतु 20 से जहाँ कार्यात्पत्ति का अनुमान होता है वहाँ अन्य अर्थ (कार्य) सापेक्षता न होने से स्वभाव ही अनुवर्णित (यानी अनुमित) किया जाता है' — इत्यादि अयुक्त ही है।

पूर्ववत् की इस व्याख्या का सार यह है कि जैसा पूर्व में अन्ये तु—वालोंने कहा था कि 'पूर्व-कारण है जिस का वह' यानी कार्य—वैसा हम नहीं कहते हैं किन्तु पूर्ववत् का अर्थ है कारणधर्म उन्नतत्वादि, जिस से कि अन्य कारणधर्म वृष्टिकारकत्व का अनुमान होता है। 'पूर्ववत् = कार्य, कार्य 25 से कारण का अनुमान' ऐसा हम नहीं कहते। अत एव गोगाचार्यने वैसा जो आरोप किया था कि (३४८-३९) 'पूर्ववत् = कार्य, उस से कारण का अनुमान आ पडेगा' वह विध्वस्त हो जाता है।

[शेषवत् अनुमान का ऊहापोह]

शेषवत्— यहाँ 'शेष' शब्द से अभिप्रेत वह कार्य है, जो पूर्ववत् अनुमान में कारण-कार्य के लिंग की चर्चा के उपक्रम में अर्चिंत है। ऐसा शेष (कार्य) जिस में उपयुक्त है वह शेषवत् अनुमान 30 है। इस संदर्भ में कार्य के ही एक धर्मरूप 'शेष' के द्वारा कार्यगत ही किसी परोक्ष धर्मान्तर वृष्टिवाले प्रदेश का संसर्ग आदि अनुमानित किया जाता है। अत एव, जो दोष कारण के ज्ञापकत्व-पक्ष के ऊपर थोपा गया था वह 'कार्यगत साधन धर्म द्वारा कार्यगत धर्मान्तर की सिद्धि के कथन' द्वारा

साधनधर्मः अनेकफलफेनसमूहयत्त्व-शीघ्रतरगमनत्व-कलुषत्वादिकश्च तस्य विशेषः साध्याऽव्यभिचारी यदा निश्चितो भवति तदा गमकत्वात् नोभयतटव्यापित्वमात्रं तोयस्य । अत एव न प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि दोषः । न चोभयतटव्यापित्वमुदकस्य कथमपामधःपातलक्षणाया वृष्टेः कार्यम् इति वक्तव्यम् पारम्पर्येण तस्य तत्कार्यत्वात् ।

तथाहि— द्रव्यत्वादापः भूसंस्पृष्टाः स्पन्दन्ते, स्पन्दमानाश्च संयुक्ताः परस्परं महत्कार्यमारभन्ते, तदपि 5
स्पन्दमानं स्वात्मनि वेगमारभते, क्रियाकारणापेक्षं तच्च तथाप्रवृत्तं नदीशब्दवाच्यं गर्तं विदधाति । तत्र पूर्वोदकविलक्षणस्योदकस्योभयतटसंयोगः पारम्पर्येण वृष्टिकार्यं इति कार्यात् कारणानुमानं शेषवत् । शेषमत्र पूर्ववदनुमान एव चिन्तितम् ।

निरस्त हो जाता है। कैसे यह देखिये — 'नदी'पद वाच्य जो दो किनारे के बीच गर्ताविशेष है वह यहाँ धर्मो (पक्ष) किया गया है, उस गर्ता का उपरवास में वृष्टिवाले प्रदेश का सम्बन्धित्व — यह 10
साध्य धर्म है। 'जल का उभय तटव्यापकत्व' यह साधन धर्म है किन्तु सामान्य प्रकार का नहीं, विशेष प्रकारवाला — यानी उन तटों के बीच अनेक फल-फल बहते हो, बहुत फेन छटा उछलती हो, बड़े वेग से पानी बहता हो, पानी भी तटीय मिट्टी से कलुषित हो- ऐसा विशिष्ट साधनधर्म (उभयतटव्यापित्व) कभी साध्यव्यभिचारी नहीं होता ऐसा निश्चय जिस को है उस के लिये उक्त साधनधर्म अवश्य साध्य का ज्ञापक बन सकता है। जल की उभयतटव्यापिता मात्र को हम ज्ञापक नहीं कहते। इसी लिये 15
तो यहाँ प्रतिज्ञातार्थैकदेशता का दोष नहीं लगता, क्योंकि विशिष्ट धर्म को साधन बनाया गया है। ऐसा प्रश्न करना कि 'जल तो सदा अधोदिक्गामी होता है, तो वृष्टि का कार्य भी अधोदिक्पतन ही होगा, उभयतटव्यापिता वह वृष्टि का कार्य कैसे ?' (ऐसा प्रश्न) अनुचित है, क्योंकि वृष्टि के कारण जब नदी में पानी बढ जाता है किन्तु ढलान कम रहता है तब पानी दोनों किनारों की ओर बढता है, इस प्रकार परम्परा से वृष्टि का कार्य उभयतट जलव्यापिता हो सकता है। कैसे यह 20
देखिये—

[उभयतटव्यापिता वृष्टि का कार्य - स्पष्टता]

प्रवाही होने के कारण छूटी छूटी बारीश नीचे गिरती है तो भूमि ऊपर ऊछलकूद करती है, परस्पर मिल कर विशाल जलस्कन्ध कार्य का निर्माण करती है, वह कार्य भी आंदोलित होता हुआ अपने भीतर वेग को उत्पन्न करते हैं। वेग से उत्पन्न क्रियात्मक कारण के सहयोग से वह जलस्कन्ध 25
कार्य बहता हुआ जमी में खड्डा बना देता है। जिस को हम 'नदी' कहते हैं। छूटे छूटे बुंद रूप से गिरे बारीश से विलक्षण यह जलस्कन्धरूप कार्य का गर्ता की दोनों ओर किनारे से संयोग हो जाता है। इस प्रकार, यह जल की उभयतटव्यापिता परम्परया वृष्टि का कार्य कहा जाता है। यहाँ उस कार्य से उपरवास प्रदेश में भयी वृष्टि रूप कारण का जो अनुमान होता है यह 'शेषवत्' अनुमान प्रकार है। इस के बारे में और भी जो कुछ चर्चा है वह पूर्ववत् अनुमान के विवेचन में कही जा 30
चुकी है, अलं विस्तरेण ।

- सामान्यतोदृष्टम् अकार्यकारणभूतेन लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमः। अविनाभावित्वं त्रयाणामप्य-
विशिष्टम्। विवक्षितसाध्यसाधनापेक्षयाऽकार्यकारणभूतत्वादिकस्तस्य विशेषः। अन्यत्रदृष्टस्याऽन्यत्रदर्शनं
व्रज्यापूर्वकं देवदत्तादेः, तथा चादित्यस्याऽन्यवृक्षोपरिसम्बन्धितया निर्दिश्यमानस्यान्यपर्वतोर्ध्वभागसम्बन्धितया
निर्देशो दृष्टः, तेन च गत्यविनाभाविना भाव्यम्। अन्यत्र दर्शनस्य च न गतिकार्यत्वम् गतेः संयोगादिकार्यत्वात्।
5 'अन्यत्रदर्शनं' धर्मि 'गत्यविनाभूतम्' इति साध्यो धर्मः, अन्यत्रदर्शनशब्दवाच्यत्वात्, देवदत्तान्यत्रदर्शनवत्।
नन्वन्यत्रदर्शनस्य शेषवत्यन्तर्भावो गतिजन्यत्वात्। अथान्यत्रदर्शनं न साक्षात् गतिकार्यम् अपि तु
पारम्पर्येणेति न शेषवत्यन्तर्भावः तर्हि उभयतटव्यापित्वमपि न साक्षाद् वृष्टिकार्यम् इति न शेषवदुदाहरणं
भवेत्। अथ नान्यत्रदर्शनं हेतुः किन्तु तच्छब्दवाच्यत्वम् नन्वत्रापि वक्तव्यम् किं तद् अन्यत्रदर्शनमेव

[सामान्यतो दृष्ट अनुमानप्रकार का विवरण]

- 10 तीसरा सामान्यतोदृष्ट अनुमानप्रकार इस प्रकार है — ऐसा लिंग जो न तो कारणरूप से न तो कार्यरूप से प्रस्तुत किया जाता है, ऐसे लिंग से लिंगी का अवबोध होना।
तीनों प्रकार में हेतु में साध्य का अविनाभावित्व, विना भेदभाव अपेक्षित है। विशेषता (तफावत) यहाँ तीसरे अनुमान में इतनी ही है कि इस में लिंग को कारणविधया या कार्यविधया पेश नहीं किया जाता। तीसरे अनुमान का एक उदाहरण :- एक स्थल में देवदत्तादि को देखा था, फिर कहीं दूर दूसरे
15 स्थान में देखा, तो समझ जाते हैं कि देवदत्त का यह स्थानान्तर गतिपूर्वक (चाहे पैदल चाहे वाहन द्वारा) ही है। वैसे ही सुबह पूर्व में एक वृक्ष के ऊपरीभाग वाले गगनदेश में जब सूरज का स्पष्ट निर्देश किया गया था, बादमें शाम को दूसरे पर्वतादि के ऊपरिभागवाले गगनदेश के सम्बन्धि के रूप में सूरज का निर्देश लोक में देखा जाता है तब समझ सकते हैं कि सूरज का यह स्थान-परिवर्तन गतिपूर्वक ही होना चाहिये। इतना ध्यान में लिया जाय यह कार्यहेतु नहीं है क्यों कि यहाँ अन्यत्रदर्शन
20 गति का कार्य नहीं है। गति का कार्य तो देशान्तर-संयोग आदि ही होता है। अतः यहाँ प्रयोग ऐसा होगा कि 'अन्यत्र (स्थानान्तर में एक वस्तु का) दर्शन' धर्मि है, 'गति से अविनाभूत होना' यह साध्य धर्म है, हेतु है 'अन्यत्र दर्शनशब्दप्रयोगविषयत्व'। दृष्टान्त है, देवदत्त का अन्यत्रदर्शन।

[अन्यत्रदर्शन का शेषवत् में अन्तर्भाव शंका — समाधान]

- शंका :- अन्यत्रदर्शन गतिजन्य होने से उस का अन्तर्भाव 'शेषवत्' में होना चाहिये।
25 उत्तर :- अन्यत्रदर्शन गति का साक्षात् कार्य नहीं है किन्तु परम्परया है इस लिये शेषवत् में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।
शंका :- अहो ! तब तो जल का उभयतटव्यापित्व भी वृष्टि का साक्षात् कार्य न होने से, वह शेषवत् का उदाहरण नहीं होगा।
उत्तर :- अन्यत्रदर्शन यहाँ हेतु नहीं है किन्तु अन्यत्रदर्शनशब्दवाच्यत्व हेतु है — जो परम्परया
30 भी गतिकार्य नहीं है।

शंका :- यहाँ भी पूछना पड़ेगा - अन्यत्रदर्शन ही अन्यत्रदर्शनशब्दवाच्यता है या अन्यत्रदर्शन की शक्ति ही अन्यत्रदर्शनशब्दवाच्यत्व से अभिप्रेत है ? पूर्व विकल्प मानेंगे तो पुनः अन्यत्रदर्शन परम्परया

उत तच्छक्तिः ? पूर्वस्मिन् विकल्पे शेषवत्यन्तर्भावः। उत्तरस्मिन्नपि 'अन्यत्र दर्शनम्' इत्येवंविधः शब्दो विशिष्टप्रत्ययजनने 'अन्यत्रदर्शन'स्वरूपस्य सहकारी हेतुः, स च गतेः कार्यत्वात् शेषवान्। असदेतत्-अत्र ह्यन्यत्रदर्शनत्वं हेतुः न तच्छब्दवाच्यत्वम् तच्च स्वरूपसहकारिभेदेन द्विरूपा शक्तिः अन्यत्रदर्शनं स्वरूपशक्तिः तद्दर्शनत्वं सहकारिशक्तिः। सा चात्मनःसंयोगोऽदृष्टादि च। तत्र केषांचिन्नित्यत्वे केषांचिदनित्यत्वेऽपि न गतिकार्यतेति कुतः शेषवत्यन्तर्भावः।

5

एतदपरे दूषयन्ति - 'अन्यत्रदर्शनम्' इत्यनेन सवितुः किमप्यधिकरणं निर्दिष्टम्। न च निरूप्यमाणं तत् सम्भवतीति तद्दर्शनमात्रमेवावशिष्यते न 'अन्यत्र' इति शब्दवाच्यम्। अथोदयसमये ऽन्यत्रदर्शनं ततोऽन्यत्रदर्शनं सवितुरस्तमयसमये, न च दृष्टस्याऽपलापो युक्तियुक्तः - सत्यम् अस्त्ययं प्रतिभासः स तु 'अन्यत्र' इत्यधिकरणस्य निर्देष्टुमशक्तेर्युक्तः। न च तत्सद्भावेऽप्यन्यत्रदर्शनत्वमनुपलभ्यमानं हेतुः। न च तस्योपलंभः संभवति आत्मनःसंयोगादृष्टादेः सर्वस्यातीन्द्रियत्वात् संयोगस्यैन्द्रियकत्वेऽप्यप्रत्यक्षद्रव्यवृत्तेः

10

गतिकार्य होने से शेषवत् में अन्तर्भाव प्राप्त होगा। दूसरे विकल्प में - 'अन्यत्रदर्शन' ऐसा शब्दप्रयोग विशिष्टप्रतीति के उत्पादन में अन्यत्रदर्शनस्वरूप का सहकारी हेतु बनेगा और वह तो परम्परया गति का कार्य है - अतः शेषवत् में अन्तर्भाव गले पडा।

उत्तर :- यह शंका गलत है। वास्तव में तो यहाँ अन्यत्रदर्शन ही हेतु है न कि अन्यत्रदर्शनशब्द-वाच्यत्व। अब ध्यान में लो कि वह अन्यत्रदर्शन स्वरूपशक्ति और सहकारीशक्ति के भेद से दो प्रकारवाला है। अन्यत्रदर्शन यह स्वरूपात्मक शक्तिरूप है, अन्यत्रदर्शनत्व यह सहकारिशक्तिरूप है। क्या मतलब ? आत्म-मनः संयोग और अदृष्टादि सहकारि यही है सहकारिशक्ति। यही सहकारिशक्ति चाहे नित्य हो (तब तो किसी का कार्य नहीं) या अनित्य, कभी गति का कार्य नहीं है, फिर कैसे शेषवत् में अन्तर्भाव होगा ?

15

[अन्यत्रदर्शन की पदार्थरूप से अघटमानता]

20

उपरोक्त मान्यता को दूषित करनेवाले कुछ अन्य विद्वान कहते हैं - सूरज का अन्यत्र (स्थानान्तर में) दर्शन - ऐसा जो प्रयोग है, उस में 'अन्यत्र' शब्द सूरज के किसी न किसी अधिकरण का सूचक है, किन्तु सूरज का कोई अधिकरण ही नहीं है। तब बचा सिर्फ दर्शन, 'अन्यत्र' शब्द का तो कुछ अर्थ ही न रहा। यदि कहा जाय - 'सूरज उदयकाल में एक दिशा में दीखता है, अस्त काल में अन्य दिशा में दीखता है, सर्वजनप्रतीत इस तथ्य का अपलाप क्यों ? मतलब, अन्यत्र शब्द भी सार्थक है।' - तो हम कहते हैं कि यह बात सच है कि वैसा दिशाभेद से प्रतिभास होता है किन्तु वह असंगत इस लिये है कि 'अन्यत्र' शब्द के द्वारा किसी वास्तव अधिकरण का निर्देश नहीं होता, क्योंकि उस की उस के लिये शक्ति नहीं है। कदाचित् वैसी शक्ति होने पर भी, अन्यत्रदर्शनत्व अतीन्द्रिय अत एव अनुपलब्ध होने से हेतु नहीं हो सकता। अन्यत्र दर्शनत्व सहकारी शक्तिरूप, यानी आत्ममनः-संयोग-अदृष्टादिरूप कहा गया है जो अतीन्द्रिय है। अदृष्ट तो अतीन्द्रिय ही है, संयोग इन्द्रियगोचर हो सकता है किन्तु परोक्षद्रव्ययुग्म का अथवा एक प्रत्यक्ष-एक परोक्ष दो द्रव्यों का संयोग अधिकरण की परोक्षता के कारण उपलब्धिगोचर नहीं हो सकता, अतीन्द्रिय हो गया। अतीन्द्रिय हेतु

25

30

प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षद्रव्यवृत्तेश्च तस्याऽतीन्द्रियत्वात्। अतोऽसिद्धत्वान्नान्यत्र दर्शनत्वं गत्यनुमापकमिति न सामान्यतोदृष्टानुमानोदाहरणमेतद् युक्तम्।

किन्तु समानकालस्य स्पर्शस्य रूपादकार्यकारणभूतात् प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टानुमानप्रभवा। न च रूप-स्पर्शयोः कार्यकारणभावो नैयायिकदृष्ट्या प्रसिद्धः, अविनाभावस्तु तमन्तरेणाऽपि तयोरुपपन्न एव।
5 न च सौगतप्रक्रियया रूपस्य स्पर्शकार्यता, तत्कार्यतया लोके तस्याऽप्रसिद्धेः। न चाऽप्रसिद्धमपि तत्कार्यत्वं गमकत्वाऽन्यथानुपपत्त्या तस्य परिकल्पनीयम्, प्रतिबन्धस्य सौगताभ्युपगमेन तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणस्याऽसम्भवात्। सम्भवेऽपि तद्ग्राहकप्रमाणाऽयोगात्, क्षणविशरारुत्वे भावानां सर्वस्याप्यस्याऽघटमानत्वेन प्रतिपादितत्वात्। ततो रूपेण स्पर्शानुमानं सामान्यतोदृष्टानुमानम्।

अथवा — पूर्वेण तुल्यं वर्तते इति 'पूर्ववद्' इति वतेः प्रयोगः। न च क्रियातुल्यत्वे वतिप्रयोगस्य
10 वैयाकरणैरिष्टेः च सम्बन्धप्रतिपत्तेः स्पष्टत्वादनुमेयप्रतिपत्तेश्चाविशदतया तदभावतो विषयतुल्यत्वस्य च तन्निमित्तत्वेनानिष्टेर्वतिप्रयोगोऽनुपपन्न इति वक्तव्यम्, यतो यद्यपि प्रत्यक्षानुमानप्रतीत्योर्भेदस्तथापि विषय-असिद्ध होने से अन्यत्रदर्शनत्व कभी भी गति-अनुमानकारक नहीं होगा। निष्कर्ष, यह उदाहरण (अन्यत्रदर्शनवाला) सामान्यतोदृष्ट अनुमान का समर्थक नहीं है।

[रूप से स्पर्शानुमान सामान्यतोदृष्ट]

15 किन्तु सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण यह है — रूप से, जो कि स्पर्श का न कारण है न कार्य, ऐसे रूप से समानकालीन स्पर्श का अवबोध सामान्यतोदृष्टानुमानजन्य होता है। नैयायिक दर्शनानुसार रूप-स्पर्श का कोई कारण-कार्यभाव नहीं होता। फिर भी उस के विना भी अविनाभाव तो सुघटित ही है। बौद्धमत में भी रूप स्पर्श का कार्य नहीं माना जाता, लोक में भी स्पर्शकार्य के स्वरूप से रूप की प्रसिद्धि नहीं है। “अप्रसिद्धि के बावजूद भी, ज्ञापकत्व की अन्यथानुपपत्ति के
20 कारण, रूप को स्पर्शकार्य मानना पडेगा” ऐसी कल्पना भी असंगत है, क्योंकि बौद्धमतानुसार रूप एवं स्पर्श में न तो तादात्म्य है न तो तदुत्पत्ति का सम्भव है। कदाचित् संभव की कल्पना करें तो भी उस के प्रकाशक प्रमाण का उपलम्भ नहीं है। 'सर्वं क्षणिकं' मत में तो किसी भी भाव का अन्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति घटमान नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। निष्कर्ष, रूप से स्पर्श का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

25 [वत्-प्रत्यय का 'तुल्यता' अर्थ ले कर पूर्ववत् की व्याख्या]

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार 'अथवा...' कर के और भी एक अर्थ सूचित करते हैं — वत् प्रत्यय 'तुल्य' अर्थ में ले कर 'पूर्व के तुल्य (प्रत्यक्ष के तुल्य) बरते वह पूर्ववत्' ऐसा विग्रह करना।
शंका :- वैयाकरणों का मत यह है कि क्रिया की तुल्यता हो तभी 'वत्' प्रयोग होता है। यहाँ तो 'वत्' स्पष्ट ही (मतुबर्थ) सम्बन्ध अर्थ में ही प्रतीत होता है। क्रियातुल्यता अर्थ में नहीं। देखिये—
30 अनुमेय अर्थ प्रतीति अस्पष्ट होती है जब कि प्रत्यक्षप्रतीति स्पष्ट होती है अतः यहाँ क्रिया का तुल्यत्व हे नहीं। विषय की तुल्यता है किन्तु वह 'वत्' का निमित्त व्याकरणशास्त्र में नहीं माना गया। अतः 'वत्' का प्रयोग असंगत है।

उत्तर :- नहीं, कारण यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष-अनुमान-प्रतीतिक्रियाओं में स्वतः भेद न होने

तुल्यत्वात् कथंचित् क्रियाया अपि तुल्यता समस्तीति न वतेः प्रयोगोऽनुपपन्नः। तेन पूर्वप्रतिपत्त्या तुल्या प्रतिपत्तिर्यतो भवति तत् पूर्ववदनुमानम्। ननु एवं शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोरपि पूर्ववत्त्वप्रसक्तिः। तथाहि-साध्य-साधनयोः प्रत्यक्षेण दृष्टान्तधर्मिणि सामान्यरूपतया प्रतिबन्धग्रहणम् अन्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेरनुमान-स्याऽप्रवृत्तिरिति तन्नितयस्यापि पूर्वेण तुल्यत्वात् पूर्ववत्त्वम्। न हि यादृग्भूतेन साध्यसामान्येन लिंगसामान्यस्य दृष्टान्ते अध्यक्षतोऽविनाभावग्रहः तादृग्भूतस्यैवानध्यक्षस्य साध्यस्य क्वचिद्धर्मिणि हेतुसामान्यात् शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोरप्रतिपत्तिः। अतो विषयतुल्यतया क्रियातुल्यत्वात् वतेः सर्वत्रैव सम्भवात् कुतः शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोः पूर्ववतो भेदसिद्धिः ? असदेतत्— प्रत्यक्षेणाऽगृहीतान्वयम् केवलव्यतिरेकबलात् प्रमां निर्वर्त्तयत् शेषवदनुमानमित्यभ्युपगमात्।

तथाहि— शेषवन्नाम परिशेषः, यथा गुणत्वाद् इच्छादीनां पारतन्त्र्ये सिद्धे शरीरेन्द्रियादिषु प्रसक्तेषु प्रतिषेधः। शरीरविशेषगुणा इच्छादयो न भवन्ति तद्गुणवैधर्म्यात्, तच्च रूपादीनां स्वपरात्मप्रत्यक्षत्वेऽपीच्छादीनां

पर भी विषयतुल्यतामूलक कथंचित् क्रियातुल्यता मानने में कोई हानि नहीं है- इस लिये 'वत्' का प्रयोग असंगत नहीं। फलितार्थ यह है कि पूर्व प्रतीति (प्रत्यक्ष) के समान प्रतीति जिस से हो वह पूर्ववत् अनुमान है।

शंका :- ऐसी तुल्यता लेने पर ऐसी हानि हो सकती है कि शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट में भी पूर्ववत्त्व की अतिव्याप्ति होगी। कैसे यह देखिये — पूर्ववत् - शेषवत् या सामान्यतोदृष्ट किसी भी अनुमान के पूर्व में दृष्टान्तभूत धर्मों में सामान्यरूप से साध्य-साधन का अविनाभाव तो देखना ही होगा। यदि प्रत्यक्ष से अविनाभावग्रह न मान कर अन्य किसी (अनुमान आदि) से मानेंगे, तो उस के लिये जरूरी अविनाभावग्रह के लिये भी प्रत्यक्ष की जरूर पड़ेगी... ऐसा कर के अनवस्था दोष प्रसक्त होगा अतः अविनाभावग्रह कहीं तो प्रत्यक्ष से मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार तीनों ही अनुमान आप की पूर्वोक्त विवक्षानुसार तो पूर्व से (प्रत्यक्ष से) तुल्य हो जाने से, पूर्ववत्त्व की अतिव्याप्ति हुई। ऐसा तो नहीं है कि लिंग सामान्य का यथा प्रकार साध्यसामान्य के साथ दृष्टान्त में प्रत्यक्ष से अविनाभावग्रह किया गया था, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट में तथाप्रकार के परोक्षसाध्य का किसी पक्ष में हेतुसामान्य के बल से ग्रहण नहीं हो सकता (ऐसा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षविषयीभूत अर्थ का ही, वह जब परोक्ष हो तब साध्य के रूप में अन्य अनुमानद्वय में ग्रहण होता है।) इस प्रकार अन्य दो अनुमानों में भी विषय की तुल्यता से क्रिया की तुल्यता की विवक्षा कर के 'वत्' का प्रयोग सर्वत्र (तीनों अनुमानों में) सम्भव है। तब शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट अनुमानद्वय पूर्ववत् से भिन्न तरह का कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर :- शेषवत् की भिन्नता इस प्रकार है — जब प्रत्यक्ष से अन्वयव्याप्ति का ग्रहण नहीं हुआ, सिर्फ केवल व्यतिरेक व्याप्ति के बल से अनुमिति प्रमा निष्पन्न होगी तब उसे शेषवत् कहेंगे ऐसा हमारा अभिमत है।

[शेषवत् यानी परिशेषानुमान द्वारा आत्मसिद्धि]

देखिये — शेषवत् का मतलब है परिशेष (अनुमान)। वह इस प्रकार — गुण कभी स्वतन्त्र

स्वात्मप्रत्यक्षत्वमेव, नापीन्द्रियाणाम् इच्छाद्युत्पत्तौ तेषां समवाय्यादिकारणत्वाऽयोगात्, नापि विषयाणाम् उपहतेष्वनुस्मरणदर्शनात्, न चान्यस्य प्रसक्तिरस्ति, अतः परिशेषादात्मसिद्धिः। प्रयोगश्चात्र योऽसौ परः स आत्मा इच्छाद्याधारत्वात्, ये त्विच्छाद्याधारा न भवन्ति ते आत्मशब्दवाच्या अपि न भवन्ति यथा शरीरादयः, आत्मशब्दश्च आत्मत्वसम्बन्धिनि दृष्टव्यः। न चैवं 'पूर्वेण तुल्यं पूर्ववद्' इति वतिरत्र सम्भवति 5 सपक्षेऽदृष्टत्वात्।

न चैवं सामान्यतोदृष्टात् पूर्ववतोऽविशेषः, यतो यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदाऽप्रत्यक्षः साध्यते तत् सामान्यतोदृष्टम्— यथेच्छादयः परतन्त्राः गुणत्वात् रूपवत्। उपलब्धिर्वा करण-साध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्। 'असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वात् चित्रादिवैचित्र्यवदि'त्यादि सामान्यतोदृष्टस्यानेकमुदाहरणम्। उक्तं च ईश्वरकृष्णेन— 'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्' 10 (सां०का०-६) इत्यादि। ननु साध्यधर्मस्य सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वे तेन हेतोर्व्याप्तिग्रहणाऽसंभवात् कथं तत्प्रतिपादकलिङ्गप्रवृत्तिः ? नैष दोषः केनचिदर्थेन सामान्यात्।

नहीं होते, अतः इच्छादि में गुणत्वहेतु से पारतन्त्र्य सिद्ध होता है। अब ढूँढना होगा कि इच्छादि किस के परतन्त्र है ? शरीर या इन्द्रिय आदि के ? नहीं, 'इच्छादि शरीर के विशेषगुण नहीं होते, क्योंकि शरीरगुणों (जडतादि) से विलक्षण हैं। वैलक्षण्य इस प्रकार है — शरीर के रूपादिगुण स्व 15 और पर सभी को प्रत्यक्ष होते हैं जब कि इच्छा-ज्ञानादि तो सिर्फ स्व = अपनी आत्मा को ही प्रत्यक्ष होते हैं। इच्छादि इन्द्रियों के भी विशेष गुण नहीं हो सकते क्योंकि इन्द्रिय इच्छादि का समवायी आदि कारण बन नहीं सकता। विषयगण भी इच्छादिगुणों का आधार नहीं है क्योंकि विषयों के विनष्ट होने पर भी स्मृतिज्ञान बचा रहता है। और तो कोई प्रसिद्ध आधार संगत नहीं होगा। इस तरह परिशेष अनुमान से आत्मतत्त्व सिद्ध होता है। उस का विधिवत् प्रयोग देखिये — (परतन्त्र यानी 20 पर को अधीन, तो) यहाँ जो पर है वही आत्मा है क्योंकि इच्छादि का आधार है। जो इच्छादि के आधार नहीं होते वे आत्मशब्दवाच्य भी नहीं होते, यथा शरीरादि (व्यतिरेक व्याप्ति)। 'आत्मा' शब्द आत्मत्व के संबन्धि अर्थ में ही देखा गया है। (शरीरत्वादिसम्बन्धि में नहीं।) इस अनुमान में कोई सपक्ष न होने से हेतु सपक्ष में वृत्ति नहीं है। इसी लिये क्रियातुल्यताप्रयोजक विषयतुल्यता सपक्षरूप पूर्व के साथ नहीं है। (यानी पूर्व = सपक्षप्रत्यक्ष की तुल्यता नहीं है।) अत एव 'वत्' 25 का सम्भव न होने से वत्प्रत्ययवाले पूर्ववत् में इस का समावेश नहीं है।

[सामान्यतोदृष्ट का पूर्ववत् से तफावत]

शंका :- शेषवत् का तो आपने भेद बताया, किन्तु सामान्यतोदृष्ट का पूर्ववत् से अभेद खड़ा ही रहा।

उत्तर :- नहीं, पूर्ववत् से यहाँ भेद इस तरह है — जहाँ पक्ष और साधन प्रत्यक्ष हो, किन्तु 30 साध्य सदा के लिये परोक्ष हो कर सिद्ध किया जा रहा हो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। (पूर्ववत् में तो साध्य सपक्ष में प्रत्यक्ष होता है।) इस के ये उदाहरण हैं — इच्छादि परतन्त्र हैं क्योंकि गुण हैं जैसे रूप। अथवा उपलब्धि करणसाध्य है क्योंकि क्रियारूप है जैसे छेदन क्रिया। जगत् का वैचित्र्य

ननु लिङ्गं गुणत्वं कार्यत्वं वाऽत्र सामान्यस्वभावम्। न च तस्य सामान्यं केनचिदर्थेन संभवति 'निःसामान्यानि सामान्यानि ()' इति वचनात्— अत्र केषांचित् प्रतिसमाधानम्— इच्छादय एवात्र लिङ्गत्वेनोक्ता इच्छादेश्च रूपादिना सामान्यं गुणत्वं कार्यत्वं चोपपद्यत एव। अपरे तु लिङ्गाधिकरणत्वादच्छादयो लिङ्गत्वेनोक्ता इति व्याचक्षते। तेषां च पूर्ववत् सामान्ययोगः प्रतिपत्तव्यः। ततोऽप्रत्यक्षस्य पारतन्त्र्यस्य प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टम्। अत्रापि च धर्मिण इच्छादेः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वं गुणत्व-कार्यत्वादेरपि साधनस्य 5 तद्धर्मत्वं प्रतिपन्नमेव। पारतन्त्र्येण च स्वसाध्येन तस्य व्याप्तिरध्यक्षतो रूपादिष्ववगतैव। साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिरपि प्रमाणान्तरादेवावगता। न च त्रितयप्रसिद्धावस्य प्रवृत्तेर्न सामान्यतोदृष्टता अपि तु पूर्ववदेवैकमनुमानं प्रसक्तमिति वक्तव्यम् धर्मिणि पारतन्त्र्यस्य सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वात्, नहीच्छादौ धर्मिणि कदाचित् पारतन्त्र्यं प्रत्यक्षम् परस्याऽप्रत्यक्षत्वात्। अनेन च विशेषणैतत् सामान्यतोदृष्टव्यपदेशमासादयति।

असाधारणकारणमूलक है क्योंकि विचित्र है, जैसे चित्रों का वैचित्र्य। ईश्वरकृष्णेन सांख्यकारिका (६) 10 में स्पष्ट ही कहा है — सामान्य से उपलब्ध (साधन) के द्वारा जिस अनुमान से अतीन्द्रिय अर्थों की सिद्धि होती है (वह सामान्यतोदृष्ट है)।

शंका :- यदि यहाँ साध्यधर्म सदा के लिये परोक्ष है तो उस के साथ हेतु की व्याप्ति का ग्रहण संभव न होने से उस के साधक हेतु की प्रवृत्ति कैसे शक्य होगी ?

उत्तर :- यह दोष नहीं होगा, क्योंकि सदा परोक्ष अतीन्द्रिय अर्थ का भी किसी न किसी रूप 15 से अन्य किसी अर्थ के साथ साम्य रहता है, उस साम्य के आधार पर उस के साथ हेतु की व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है।

[इच्छादि में पारतन्त्र्य का सामान्यतोदृष्ट अनुमान]

शंका :- आपने जो इच्छादि परतन्त्र है गुणत्व होने से, इत्यादि अनुमान दिखायें उन में गुणत्व और कार्यत्व जो पक्ष और सपक्ष में स्वयं ही सामान्य स्वभावी है, अब उस का अन्य किसी अर्थ 20 से सामान्य होना संभव ही नहीं क्योंकि ऐसा ग्रन्थवचन है कि सामान्य निःसामान्य (= सामान्य रहित) होते हैं।

समाधान :- एक देशियों का इस शंका के प्रतिसमाधान में यह अभिप्राय है कि यहाँ गुणत्व या कार्यत्व शब्द इच्छादि का ही प्रतिपादक होने से इच्छादि ही यहाँ लिङ्ग हैं। उन में तो गुणत्व एवं कार्यत्व सामान्य निर्बाध रह सकता है। अन्य विद्वानों की ऐसी व्याख्या है कि इच्छादि गुणत्वादि 25 लिंग के अधिकरण होने से लिंगात्मक कहे गये हैं। दोनों अभिप्रायों में आखिर इच्छादि लिंग में अन्य अर्थ के साथ सामान्ययुक्तता घट सकती है। ऐसे सामान्यलिंग से परोक्ष पारतन्त्र्य (आत्माधीनत्व) अनुमित होता है — यही सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

इस संदर्भ में भी पक्ष इच्छादि तो प्रत्यक्ष ग्राह्य है। गुणत्व-कार्यत्वादि साधन इच्छादि के धर्मरूप में स्वीकृत ही है। उस के (गुणत्वादि के) साध्यभूत पारतन्त्र्य के साथ व्याप्ति भी रूपादि में प्रत्यक्ष 30 से उपलब्ध है। व्यतिरेक व्याप्ति भी 'साध्य की निवृत्ति से साधन की निवृत्ति' अभावग्राही प्रमाणान्तर से सुग्राह्य है।

धर्मिणः साध्य-साधनयोर्वा सर्वदा प्रत्यक्षत्वे गमकाङ्गासिद्धौ गमकत्वाऽसिद्धेः सामान्यतोदृष्टमनुमानमेव न भवेत्।

- नन्वेवं पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टानां परस्परतः को विशेषः ? उच्यते— इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववत्। तदेव चाश्रयान्तरबाधया विशिष्टाश्रयत्वेन बाधकेन प्रमाणेनावसीयमानं शेषवत् फलम्। तस्य साध्यधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रत्यक्षस्यापि तत्र धर्मिणि सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वं सामान्यतोदृष्टव्यपदेशनिबन्धनम् अतस्त्रयाणाममेकमेवोदाहरणम्। शेषवत्स्य शिष्यमाणोक्तिरन्वय-व्यतिरेकिणो हेतोः पारतन्त्र्यप्रतिपत्तौ द्रष्टव्या। तत् स्वहेतोः प्रतिपन्नमाश्रयान्तराद् बाधकेन प्रच्यावितं तस्य शिष्यमाणविशिष्टाश्रयत्वप्रतिपत्तिः शेषवतः फलम्। एवं च 'वतेः सर्वत्र संभवात् विशेष' इति न वक्तव्यम्, विशेषस्य प्रदर्शितत्वात्। एतन्निप्रकारां मतिं जनयत् 'तत्पूर्वकं' सदनुमानमित्यव्याप्त्यादिदोषविकलमनुमानलक्षणम्।

- 10 शंका :- पारतन्त्र्य अनुमान तो आप के मतानुसार पक्ष, हेतु और व्याप्ति तीनों की प्रसिद्धि होने पर ही प्रवृत्त हुआ। (यहाँ परोक्षता तो है नहीं) फिर इस को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कैसे कहा जाय ? यह तो पूर्ववत् स्वरूप ही एक प्रकार का अनुमान हुआ।
- समाधान :- नहीं, व्याप्तिग्रहण जहाँ रूपादि में होता है वहाँ भले पारतन्त्र्य प्रत्यक्ष है, किन्तु इच्छादि में आत्ममूलक पारतन्त्र्य प्रत्यक्ष नहीं, सर्वथा परोक्ष है क्योंकि पर = आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है।
- 15 इसी विशेषता के कारण इस अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' व्यवहार प्राप्त होता है। यदि पक्ष, अथवा साधन या साध्य सर्वदा प्रत्यक्ष ही है, तब तो वहाँ अनुमान के अङ्गभूत पक्षतादि अप्राप्त होने से गमकत्व ही असिद्ध हो जाने पर सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही निरवकाश बन जायेगा।

[पूर्ववत् शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट का एक ही उदाहरण]

- प्रश्न :- फिर भी यह कहो कि पूर्ववत्- शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट तीन अनुमान में परस्पर
- 20 मौलिक भेद क्या है ?

- उत्तर :- इच्छादि में सिर्फ पारतन्त्र्य मात्र की सिद्धि अपेक्षित होने पर गुणत्व या कार्यत्व हेतु का प्रयोग, यह पूर्ववत् अनुमान है। पारतन्त्र्य तो सिद्ध हुआ किन्तु उस के इच्छादि के पररूप आश्रय की शोध में शरीरादि अन्य अन्य आश्रय, बाधक प्रमाण से बाधित होने पर, शरीरादिभिन्न का (आत्मा का) विशिष्टाश्रयतारूप से इच्छादि में पारतन्त्र्य का अवबोध होना यह शेषवत् का फल है। साध्यधर्म
- 25 पारतन्त्र्य अन्य रूपादिगुणों में प्रत्यक्ष होने पर भी इच्छादि धर्मि का पारतन्त्र्य (में पर आत्मा) सदा के लिये अप्रत्यक्ष है यह बोध सामान्यतोदृष्ट व्यपदेश का मूल है। इस प्रकार तीनों अनुमान का उदाहरण तो एक ही है। शेषवत् से जो शिष्यमाण (शरीरादि बाध के कारण बचे हुए पर = आत्मा) के साधन का निरूपण पहले पहल नहीं, किन्तु अन्यव्यतिरेकि गुणत्वादि हेतु से पारतन्त्र्य का अवबोध होने पर ही होता है यह समझ रखना। शेषवत् फल यह है कि अपने हेतु (गुणत्वादि) से पारतन्त्र्य
- 30 जब सिद्ध हुआ, तब अन्य आश्रयों से उस की निवृत्ति कर के शेष बचे हुए पर (= आत्मा) की विशिष्टाश्रयता का अवबोध होना। इस स्थिति में, — तीनों में कोई भेद न होने से वत् का संभव सर्वत्र हो सकता है' — ऐसा बोलना अयुक्त है, क्योंकि तीनों में विशेषता = भेद प्रदर्शित कर दिया

तृतीयसूत्रेऽप्येतदेव व्याख्यातम्। अयं तु विशेष :- पूर्वस्मिंस्त्रिप्रकारमेव लिङ्गमनुमानव्यवच्छेदकम् पूर्ववदादयस्तु त्रिप्रकारलिङ्गविशेषणार्थाः। उत्तरस्मिंस्तु सर्वमेतदनुमानव्यवच्छेदार्थम् व्यवच्छेदस्तु पूर्वेणैव न्यायेन। अत्र च सूत्रत्रये प्रथमसूत्रव्याख्यानमेवाभिमतमध्ययनप्रभृतीनाम् अणुना सूत्रेण महतोऽर्थस्य संग्रहाद्। अकारकस्य च त्रिप्रकारलिङ्गालम्बनस्योत्तरव्याख्यानेऽनुमानत्वप्रसक्तिः फलस्याश्रयणाद्। 'उपलब्धिसाधनस्य' इत्याध्याहारो न युक्तोऽप्रकृतत्वात्। 'सामान्यलक्षणे प्रकृतत्वाददोष' इति चेत् ? तद्व्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थं 5 पूर्ववदादिपदोपादानं न कर्तव्यम् प्रत्यक्षसूत्रेऽव्यपदेश्यादीनां प्रकृतत्वात्। शाब्दे च प्रसङ्गो न व्यावर्तते यत् लिंग-शब्दाभ्यां जन्यते विज्ञानं यथोक्तविशेषणविशिष्टोपलब्धिरूपं तत्साधनस्यानुमानत्वप्रसक्तिः अतस्तत्रिवृत्तये विशेषणान्तरोपादानं कर्तव्यम्।

है। निष्कर्ष, अनुमान का लक्षण यह हुआ — ये तीन प्रकार के बोध को उत्पन्न करता हुआ जो 'तत्पूर्वक' होता है वह सच्चा अनुमान है, जो कि अव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त है। 10

तृतीयसूत्रे... यहाँ व्याख्याकारने जो 'तृतीय' शब्दप्रयोग किया है उस का तात्पर्य यह है कि पहले अनुमानसूत्र के तीन व्याख्या प्रकार शुरु में ही कहे गये थे (१) 'तत्पूर्वकमनुमानम्' इतना ही लक्षण सूत्र है। (२) तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् — यह दूसरे मत का लक्षणसूत्र है। (३) तत्पूर्वकं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चानुमानम्— यह तीसरे मत से अनुमान का पूरा लक्षण सूत्र है। इस प्रकार भिन्न भिन्न मत से लक्षण सूत्र का अवान्तर तीन भेद हो गया। पहले-दूसरे अवान्तर लक्षण 15 सूत्रों का व्याख्यान पूर्ण होने के बाद अब तीसरे अवान्तर लक्षण सूत्र के व्याख्यान के लिये व्याख्याकार कहते हैं — इस व्याख्यान का भी तात्पर्य यही है। विशेष तो यह है — पहले जो १-१-५ सूत्र की व्याख्या दर्शायी गयी है उस में कहने का तात्पर्य है कि तीनप्रकारवाले लिङ्ग का कथन अनुमान की ही विशिष्टता का द्योतक है। जब कि पूर्ववत् आदि तीन हैं वे तीन प्रकारवाले लिंग की विशिष्टता का द्योतन करता है। उत्तर व्याख्या में तो — त्रिविधशब्द और पूर्ववत् आदि पद ये सब अनुमान 20 की ही विशिष्टता बतानेवाले हैं। विशिष्टता का द्योतन पूर्वोक्त न्याय (पद्धति) से ही समझ लेना।

इन तीन सूत्र मध्ये अध्ययनादि विद्वानों को प्रथम जो सूत्रव्याख्यान है वही मान्य है, क्योंकि सूत्र अणु दिखने पर भी उस से महान् अर्थ का संग्रह किया गया है। उत्तर व्याख्यानों में तो अकारक (उदासीन) तीन प्रकारवाले लिंग के आलम्बन (विषय) में अनुमानत्व की अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि फल की विवक्षा होने से, अकारक में अतिव्याप्ति टालने के लिये 'उपलब्धिसाधनस्य' ऐसा अध्याहार किया 25 जाय तो वह भी अप्रकृत होने से अनुचित है। यदि कहें कि सामान्यलक्षण में तो वह भी (अध्याहृत पद) प्रकृत होने से दोष नहीं रहेगा — तब तो फिर पूर्ववत् आदि पदों का ग्रहण भी अतिव्याप्ति टालने के लिये करना निरर्थक हो जायेगा, क्योंकि प्रत्यक्षसूत्र में अव्यपदेश्यादि पद भी प्रकृत ही है।

तथा, शाब्दबोध में अतिव्याप्ति प्रसंग अनिवृत्त रहेगा। — लिंग और शब्द से पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट उपलब्धिस्वरूप जो विज्ञान उत्पन्न होगा उस के साधन में अनुमानत्व की अतिव्याप्ति होगी। फिर उस 30 की निवृत्ति के लिये और कोई विशेषण जोड़ना पडेगा।

प्रथमसूत्रव्याख्याने तु सर्वदोषाभावः, प्रक्रान्तस्याऽविरोधिनः सर्वस्याभिसम्बन्धात्। त्रिविधग्रहणं तत्र विभागार्थमित्युक्तम्। पूर्ववदादिग्रहणमपि स्वभावादित्रैविध्यप्रतिषेधेन पूर्ववदादिष्वेव नियमज्ञापनार्थम्। पूर्ववदादीनां तु द्वितीयसूत्रे यद् व्याख्यानं तदेवेहापि द्रष्टव्यम्। विशेषस्तु तत्रानुमानलक्षणोपयोगित्वमिह तु त्रिविधभागेन विभज्यमानस्य स्वरूपदर्शनार्थम्। अनुमानस्य च त्रैविध्यं कारणादित्रैविध्यादेवेति।

5 [नैयायिकप्रदर्शितानुमानलक्षणस्य प्रतिषेधः]

कथं पुनः सौगतप्रणीतलक्षणादस्य प्रतिषेधः ? उच्यते, तत्पूर्वकमिति प्रत्यक्षप्रमाणफलपूर्वकं यतो भवति तदनुमानम् इति प्रथमसूत्रव्याख्यानमसंगतमेव, परोक्तलक्षणलक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेनाऽसिद्धेः तत्पूर्वकत्वस्यानुमानलक्षणस्याऽसम्भवात्। तदसंभवे च स्मृत्यादिजनकव्यवच्छेदार्थं विशेषणकलापाध्याहारोऽप्यसंगतः एव। यदपि पूर्वशब्दस्य लुप्तस्याऽनिर्देशे प्रत्यक्षफलेऽनुमानत्वप्रसक्तिप्रेरणम् तदप्यसंगतम्

10 [प्रथमव्याख्यान सर्वदोषविमुक्त]

प्रथम सूत्रव्याख्यान में उपरोक्त कोई दोष नहीं है। अविरोद्ध प्रकृत उपयोगि सब कुछ इस में जुड़ा हुआ है। त्रिविधपदप्रयोग तो वहाँ अनुमान के विभाग का सूचन है। पूर्ववत्-शेषवत् आदि तीन प्रकार के उल्लेख भी बौद्धाभिमत स्वभाव-कार्यादि तीन अनुमानों का प्रतिषेध करने हेतु है। इस से यह अवधारण किया है कि वे तीन भेद पूर्ववत् आदि ही हैं। (न कि स्वभावादि)। प्रथमव्याख्यान में पूर्ववत् आदि की व्याख्या दूसरे सूत्रव्याख्यान से भिन्न नहीं है। फर्क तो इतना रहेगा कि द्वितीय सूत्रव्याख्यान में 'पूर्ववत्' आदि पद अनुमान के लक्षण में उपयोगी बनते हैं जब कि प्रथमसूत्रव्याख्यान में वे लक्षण के लिये उपयोगि नहीं होंगे किन्तु तीन खंडों में विभाजित होने वाले अनुमानों के स्वरूप को समझाने के लिये प्रस्तुत बनेंगे। अनुमान के तीन प्रकार (पूर्ववत् आदि) का मूल तो वही है, कारण, कार्य एवं सामान्य ये तीन।

20 (संदर्भ :- पूर्वग्रन्थ (पृ०३४० पं०६ तथा पृ०३४०-२६) में बौद्ध मतवादी ने कहा था कि 'चार्वाकमत के प्रतिषेध द्वारा, नैयायिकों ने जो अनुमान लक्षण (न्या०सू०१-१-५) कहा है इस का भी प्रतिषेध हो जाता है' — इस संदर्भ में बीच में यहाँ विस्तार से न्यायमतानुसार अनुमानलक्षण की चर्चा हुई। अब नैयायिक के इस अनुमानलक्षण का प्रतिषेध बौद्ध दिखायेंगे।)

[प्रथमव्याख्यान असंगत-बौद्ध]

25 प्रश्न :- बौद्धदर्शन के अनुमान लक्षण के द्वारा न्यायदर्शन के अनुमानलक्षण का प्रतिषेध कैसे हो गया ?

उत्तर :- प्रथमसूत्रव्याख्यान में, तत्पूर्वकम् यानी प्रत्यक्षप्रमाणफलपूर्वक जिस (हेतु) से होता है वह अनुमान है — ऐसा जो कहा है वह गलत है। कारण, न्यायदर्शनने जो अपनी ओर से प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है वह वास्तव में प्रमाणतया असिद्ध है अत एव तथाविध प्रत्यक्षपूर्वकत्व अनुमान का लक्षण कैसे घट सकता है ? जब प्रथमसूत्रव्याख्यान का लक्षण ही गलत है तब स्मृति आदि के उत्पादक में अतिव्याप्ति के वारणार्थ जो शेष विशेषणवृंद का अध्याहार है वह भी असंगत ही सिद्ध हुआ। उपरांत, एक 'पूर्व' शब्द यहाँ लुप्त होने का न माने तो प्रत्यक्षफल में अतिव्याप्ति अनुमानत्व

तत्फलस्यैव प्रत्यक्षप्रमाणत्वेन व्यवस्थापितत्वात् अबोधरूपस्य प्रमाणत्वनिषेधात्। यदपि (३४६-७) 'त्रिविध-ग्रहणमनुमानविभागार्थम् पूर्ववदादिग्रहणं च विभागविषयज्ञापनार्थम्' इत्युक्तम् (३४८-४) तदप्यसारम् कारणादप्रतिबद्धसामर्थ्यात् प्रदर्शितन्यायेन कार्यानुमाने कार्याध्यक्षतादोषस्याऽविचलितरूपत्वात्। या च 'अनुत्पन्नावयवस्यान्त्यतन्तोर्यदा क्रियातो विभाग'... (३५२-४) इत्यादिप्रक्रियोपवर्णिता साऽपि प्रमाणबाधितत्वादनुद्घोष्या। यथा च क्रिया-विभागादीनां प्रमाणबाधितत्वं तथा प्राक् प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते 5 (पंचमखण्डे) च यथावसरम्।

यदपि 'मेघानां भविष्यद्वृष्टिकार्यविशेषणविशिष्टत्वमुन्नतत्वादिना धर्मेण तद्गतेन साध्यते' (३५०-५) इत्युक्तम्, तदप्यसंगतम्, अस्वसंविदितविज्ञानाऽभ्युपगमवादिनां प्रदर्शितन्यायेन धर्माद्यसिद्धेरवयविसंयोग-विशेषणविशेष्यभावादीनां च पराभ्युपगमेनासिद्धेर्हेतोरश्रय-स्वरूप-दृष्टान्तासिद्धिदोषा वाच्याः। न च कार्या-भावात् कारणमात्रस्याभावसिद्धिरिति संदिग्धव्यतिरेको हेतुः, अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणविशेषस्याभाव- 10 सिद्धावपि नाऽप्रतिबद्धसामर्थ्यत्वं कारणस्योन्नतत्वादिधर्मविशिष्टस्य ज्ञातुं शक्यम् ज्ञप्तौ वा कार्यस्यैव तदा

की लगायी है (३४९-९) वह भी असंगत है क्योंकि प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) के फल में वास्तविक प्रत्यक्षत्व की स्थापना पहले की जा चुकी है, अबोधस्वरूप इन्द्रिय में प्रमाणत्व की कल्पना निरस्त हो चुकी है। यह जो कहा था - 'त्रिविध' पद अनुमान के विभाग के लिये और 'पूर्ववत्' आदि का निरूपण विभाग के विषयों को दर्शाने के लिये कहा है (३४८-३०) - वह भी तुच्छ है, क्योंकि पहले दर्शाये 15 गये न्याय से प्रतिबन्धविकलसामर्थ्यवाले कारण से कार्य के अनुमान को मानने पर कार्यप्रत्यक्ष हो जाने की विपदा अचल रहेगी। (पहले यह कहा था कि अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले कारण से कार्य को साध्य करेंगे तो तथाविधकारण के दर्शनक्षण में ही कार्य उत्पन्न हो जाने से अग्रिमक्षण में तुरंत उस का प्रत्यक्ष हो जाने से प्रतिबन्धादि का अनुस्मरण व्यर्थ हो जायेगा।) तथा यह जो प्रक्रिया कही गयी (३५२-२९) अवयवों में क्रिया अनुत्पन्न है ऐसे अन्तिम तन्तु का जब क्रिया से विभाग होगा...इत्यादि, 20 वह प्रक्रिया भी उद्घोषणाअर्ह नहीं है क्योंकि प्रमाणबाधित है। क्रिया-विभाग आदि कैसे प्रमाणबाधित है यह पहले कहा जा चुका है, आगे भी (पंचम खण्ड में) यथावसर कहा जायेगा।

[मेघ के यानी कारण के एक धर्म से अपरधर्मसिद्धि सदोष]

यह जो नैयायिकने कहा है - (३५०-२३) 'मेघों के स्वगत उन्नतत्वादि धर्म के बल पर मेघों में भाविवृष्टिउत्पादकत्वरूप विशेषणविशिष्टता सिद्ध करने पर आश्रयासिद्धि आदि दोष नहीं है' - 25 वह भी असंगत है क्योंकि नैयायिक जब तक ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते तब तक पूर्वोक्त न्याय से धर्म और धर्मी सब असिद्ध है। एवं अवयवी भी (मेघादि) सिद्ध न होने से, उन के संयोग, विशेषण-विशेष्यभाव इत्यादि सब उसके (नैयायिक के) मतानुसार सिद्ध न होने से, नैयायिक प्रोक्त हेतुओं में आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि, दृष्टान्तासिद्धि दोष कह देना होगा। यह भी कहाँ सिद्ध है कि कार्य न होने पर कारणमात्र का (समस्त कारणों का) अभाव होवे ही। अत एव हेतु में व्यतिरेक 30 सिद्ध नहीं है संदिग्ध है। यद्यपि कार्य के विरह में अप्रतिबद्ध (अनिरुद्ध) सामर्थ्यवाले कारणविशेष का विरह सिद्ध जरूर हो सकता है, किन्तु प्रस्तुत में उन्नतत्वादिधर्मविशिष्ट मेघादि कारण में अनिरुद्धसामर्थ्य का ज्ञान शक्य नहीं है। कदाचित् कार्य के देखने से वैसा सामर्थ्य का ज्ञान करेंगे तब तक तो कार्य

प्रत्यक्षतेत्युक्तं प्राग्।

- यदपि 'यो हि भविष्यद्दृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः स एव तस्मात् तामनुमिनोति' इत्युक्तम् (३५१-७) तदप्यसंगतम् तदनुमितेः प्रागेव कार्यस्य प्रत्यक्षतया तदनुमितेर्वैयर्थ्यप्रसक्तेरित्युक्तत्वात्। यदपि 'गम्भीरध्वानवत्त्वे सति' इत्याद्युन्नतत्वादेर्विशेषणम् (३५१-९) तदप्येतेनैव निरस्तम्, अनुमेयप्रतिपत्तौ 5 तस्याऽनुपयोगित्वात् अध्यक्षत एव तत्रप्रतिपाद्यस्यार्थस्य सिद्धेः। यदपि शेषवतः उदाहरणं प्रतिपादितम् तत्र नदीविशेषो धर्मी अवयविरूपोऽसिद्धः, उभयतटव्यापित्वादिकस्तु संयोगविशेषत्वात् साधनधर्मोऽसिद्धः संयोगस्याऽसत्त्वेन प्रतिपादनात्।

- यदपि वृष्टिकार्यत्वं साधनधर्मस्य परम्परया प्रक्रियोपवर्णनेन प्रदर्शितम् (३५७-३) तदपि प्रक्रियाया असिद्धत्वाद् निरस्तम्। 'अकार्य-कारणभूतेन लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमस्तत् सामान्यतोदृष्टम्'— (३५८- 10 9) इति यदभिधानम् तदप्यसङ्गतम् अकार्यकारणभूतस्याऽस्वभावभूतस्य च लिङ्गस्य गमकत्वेऽविनाभावनिमित्तस्य तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धस्याभावेऽपि गमकत्वाभ्युपगमात् सर्वस्य सर्वं प्रति गमकत्वोपपत्तेः। न चाऽसत्यपि जन्यजनकभावे तादात्म्ये वा स्वसाध्येनैव लिङ्गस्याविनाभावो नान्येन - इत्यत्र वस्तुस्वभाववैरुत्तरं का ही प्रत्यक्ष हो जाने से अनुमान व्यर्थ बन जायेगा यह पहले कह दिया है।

[उन्नतत्वादिविशेषज्ञानी को भाविवृष्टिअनुमान असंगत]

- 15 यह जो कहा था (३५१-२९) 'जो भाविवृष्टिकार्य के अव्यभिचारि उन्नतत्वादि विशेष को जान पायेगा वह उस विशेष के द्वारा भाविवृष्टि का अनुमान करेगा।' - वह भी असंगत है, क्योंकि वैसा अव्यभिचारित्व का ज्ञान कार्य को देखने के पहले सम्भव नहीं, कार्य देखने के बाद होगा तो अनुमान व्यर्थ, क्योंकि कार्य पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका है। एवं (३५२-१०) उन्नतत्वादि का विशेषण गम्भीरध्वनियुक्तत्व कहा है वह भी उपरोक्त युक्ति से ही निरस्त हो जाता है, क्योंकि अनुमेय अर्थ के अनुमान में वह 20 निरुपयोगी है, क्योंकि अनुमानबोध्य अर्थ तो व्याप्तिग्रहण काल में प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो गया है। एवं शेषवत् का जो उदाहरण (नदी, उपरिवृष्टिमहेशसम्बन्ध, उभयतटव्यापिता इत्यादि (पृ०३५७-९) कहा था वहाँ भी न तो अवयवीरूप नदी विशेष धर्मी सिद्ध है, न तो संयोगविशेषरूप उभयतटव्यापित्वादि साधनधर्म सिद्ध है, क्योंकि हमने कहा है कि संयोग ही असिद्ध है, युक्तिसंगत नहीं है।

[प्रक्रियावर्णन एवं अकार्य-कारणभूत लिंग की निःसारता]

- 25 यह जो कहा था (३५७-२०) - साधनधर्म अभयतटसंयोग वृष्टि का कार्य है, साक्षात् नहीं किन्तु परम्परा से, वहाँ जो आपने प्रक्रिया का वर्णन किया था, वह प्रक्रिया ही असिद्ध है इस लिये उभयतटसंयोग वृष्टिकार्य आदि निरस्त हो जाता है। "न कारण हो न कार्य का ऐसे लिङ्ग से होनेवाला लिङ्ग का भान- वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है" - ऐसा जो कहा था (३५८-१०) वह भी असंगत है। जो लिङ्ग न कारण है, न कार्य है, न स्वभावभूत है - उस को यदि गमक माना जाय, यह भी इस 30 लिये कि अविनाभाव का मूल जो तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध है वह न होने पर भी आप मानते हैं कि लिंग गमक होता है - तब तो वस्तुमात्र को अन्य सभी वस्तु का गमक मान लेना पड़ेगा। शंका :- ऐसा क्यों ? जन्य-जनक भाव न होने पर भी एवं तादात्म्य के न होने पर भी,

वाच्यं ये एवं भवन्ति, नास्माभिः, वयं केवलं द्रष्टार इति वक्तव्यम्; यत् एवमभ्युपगमे आकस्मिक एव वस्तूनां स स्वभावो भवेत्, तथा च न कस्यचिदसौ न स्यात्, न ह्यहेतोर्देशकालनियमो युक्तः। तद्धि किञ्चित् क्वचित् उपलीयेत न वा यस्य किञ्चिद् यत्रायत्तमनायत्तं वा, अन्यथेष्टदेशकालद्रव्यवदन्य-देशादिभावः केन वार्येत विशेषाभावात् ?

ततो येनाऽविनाभूतं यद् दृश्यते तेन तस्य तत्त्वचिन्तकैरव्यभिचारनिबन्धनं वाच्यम् न पुनः पादप्रसारिका 5 विधेया। तच्च यथोक्तादन्यदव्यभिचारनिबन्धनं नोपपत्तिमत्। न च तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धमन्तरेण पक्षधर्मताऽपि हेतोः संभवति संयोग-समवायादिलक्षणस्य सम्बन्धस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। एकार्थसमवायित्वस्य च समवायाभावे दूरापास्तत्वात् विशेषण-विशेष्यभावस्य च सम्बन्धस्य संयोगाद्यन्तरेणाऽसंभवात्। न चानवगतपक्षधर्मत्वादेर्हेतोर्भवद्भिः गमकत्वमभ्युपगम्यते। एकसामग्र्याधीनतालक्षणस्तु प्रतिबन्धः कार्य-

अपने साध्यके साथ ही लिंग का अविनाभाव होता है न कि सभी अन्य वस्तु के साथ ? क्या करे ! 10 उत्तर तो वस्तु के उन स्वभावों को देना होता है, जो वस्तुस्वभाव ही ऐसे होते हैं, हमें कोई उत्तर देना नहीं है। हम तो वस्तु के तथास्वभाव के ज्ञाता दृष्टा हैं। (मतलब, वस्तु का स्वभाव ऐसा होता है कि तादात्म्य-तदुत्पत्ति के विना भी किसी का किसी के साथ अविनाभाव होता है।

उत्तर :- नहीं, क्योंकि ऐसे आप के कथन अनुसार तो वस्तु मात्र में आकस्मिक ही (अकारण 15 ही) तथास्वभाव मानने की आपत्ति होगी। किसी भी वस्तु में अमुक स्वभाव नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकेगा। वस्तुमात्र निर्हेतुक उत्पन्न नहीं होगी। निर्हेतुक वस्तु (धूम) नियत देश-काल (अग्निदेश-काल) में ही उत्पन्न हो ऐसा नियम भी नहीं रहेगा। वास्तविकता तो यह है कि कोई चीज नियत देश-काल में आविर्भूत-तिरोभूत हो या न हो उस का बीज यह होता है कि वह वस्तु उस देश-काल से आयत्त (अधीन) या अनायत्त (अनधीन) होनी चाहिये। अन्यथा वस्त्रादि की उत्पत्ति इष्ट तन्तु के देश-काल में इष्ट उपादान तन्तु द्रव्य में ही होती है उस के बदले भिन्न देश-काल द्रव्यों 20 में होने लगेगी — कौन उस को रोकेगा जब कि आकस्मिक वस्तु उत्पत्ति को कोई देश-काल-द्रव्य का बन्धन विशेष ही नहीं है।

[तादात्म्य-तदुत्पत्ति के विना अव्यभिचार नहीं]

यदि ऐसी अराजकता इष्ट नहीं है तो फिर तत्त्वचिन्तकों को चाहिये कि वे स्पष्टता करें कि — जो जिस का अविनाभूत दिखाई देता है उस के साथ इस के अव्यभिचार का मूल क्या है ? 25 ऐसी स्पष्टता करने के बजाय पैर लम्बे कर के बैठ जाना, यानी स्पष्टता करने की जिम्मेदारी चुक जाना — यह ठीक नहीं है। स्पष्टता करने के लिये सोचेंगे तो तुरन्त पता चलेगा कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के विना और कोई अव्यभिचार का मूल युक्तियुक्त नहीं है। अरे, तादात्म्य-तदुत्पत्ति के विना तो हेतु में पक्षधर्मता भी नहीं घटेगी। संयोग-समवायारूप सम्बन्ध तो पहले ही निरस्त हो चुका है अतः पक्षधर्मता के लिये उन की आशा व्यर्थ है। एकार्थसमवायिता (रूप-रस की) भी यहाँ नहीं 30 घट सकती क्योंकि समवाय कोई पदार्थ नहीं है। यदि (हेतु-पक्ष का) सिर्फ विशेषण-विशेष्यभाव को ही सम्बन्ध बना ले तो यह भी संयोगादि के विना सम्भव रहित है। अज्ञात पक्षधर्मता आदि वाले

कारणभावविशेष एवेति तदभावे तस्याप्यभाव इति नाकार्यकारणभूताद् रूपादेस्तत्समानकालस्य रसस्यानुमानं सामान्यतोदृष्टस्योदाहरणं युक्तिसङ्गतम्।

यदपि वनेः प्रयोगमाश्रित्य पूर्ववदनुमानं व्याख्यातम् (३६०-८) तत्रापि दृष्टान्तधर्मिणि साध्य-साधनयोः प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणेऽनुमानस्योत्थानं न स्यात्, साध्यधर्मिणि हेतोः साध्यधर्मणाऽविनाभूतत्वा-
5 ऽग्रहणात्। न च दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः साध्याऽविनाभूतत्वग्रहणमात्रादेव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिः, अन्यथा 'लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यत्रापि साध्यप्रतिपत्तिर्भवेत्, दृष्टान्तधर्मिणि पार्थिवत्वस्य लोहलेख्यतयाऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः। न चाध्यक्षबाधनादत्र न साध्यप्रतिपत्तिः बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् अविनाभावयुक्ते अध्यक्ष-बाधाऽयोगात्। न चाऽबाधितत्वाऽसत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वययोगात् त्रिलक्षणस्य हेतोरविनाभावपरिसमाप्तिरिति त्रैलक्षण्येऽपि पार्थिवत्वस्याऽबाधितत्वरूपान्तराभावाद् न साध्याविनाभाव

10 हेतु में तो आप गमकत्व मानते नहीं है। यदि अव्यभिचार का मूल एकसामग्रीजन्यत्व को माना जाय तो तत्त्वतः वह कार्य-कारणभावविशेषरूप ही फलित होगा। एक सामग्री यानी रूप और रस के उत्पादक समान उपादान कारण। रूपोत्पादक उपादान कारण, और उस का कार्य रस - इस तरह आखिर रूप और रस में रूपकारणजन्यत्व के जरिये कारण-कार्यभाव ही अव्यभिचार का मूल सिद्ध हुआ। उस के विरह में अव्यभिचार भी कैसे होगा ? सारांश, न कारण हो न कार्य हो ऐसे रूपादि से स्वसमानकालीन
15 रस का अनुमान, यह सामान्यतोदृष्ट के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना युक्तिसंगत नहीं है।

[पार्थिवत्व हेतु से लोहलेख्यत्व-अनुमान की प्रसक्ति]

नैयायिकने जो वत् प्रत्यय के प्रयोग का आशरा ले कर पूर्ववत् अनुमान की व्याख्या दर्शायी (३६०-२५) है फिर भी वह अनुमान सम्भव नहीं होगा। दो बात है - १ दृष्टान्तधर्मि में अगर साध्य-साधन का प्रत्यक्ष से प्रतिबन्ध (व्याप्ति) ग्रहण करे, तो अनुमान नहीं होगा क्योंकि वहाँ साध्य-
20 साधन दोनों प्रत्यक्ष है। २- साधनधर्मि में भी अनुमान नहीं होगा क्योंकि साध्यधर्मि में, हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव गृहीत नहीं है। ऐसा तो शक्य नहीं है कि दृष्टान्तधर्मि में हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव ग्रहण कर लिया इतने मात्र से साध्यधर्मि में (अर्थतः साधनधर्मि) भी साध्य का अवबोध हो जाय। यदि शक्य होगा, तो 'वज्र लोह से लेख्य है (खुरेदा जा सकता है) क्योंकि पार्थिव है जैसे काष्ठ' इस अनुमान से भी साध्य का सच्चा बोध हो बैठेगा, क्योंकि दृष्टान्त धर्मि
25 काष्ठ में प्रत्यक्ष से लोहलेख्यत्व की प्रतीति होती है। यदि कहें - 'यहाँ तो प्रत्यक्ष बाध होने से साध्यबोध नहीं होगा।' - तो यह कथन, युक्त नहीं है क्योंकि बाध हो वहाँ विरोध के कारण अविनाभाव नहीं होता। यदि यहाँ अविनाभाव है तो वहाँ विरोध होने से प्रत्यक्षबाध नहीं हो सकता।

शंका :- हेतु के अविनाभाव के अन्तर्गत सिर्फ पक्षसत्त्वादि ही पर्याप्त नहीं है, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो धर्मों का योग होने पर ही त्रिलक्षण हेतु का अविनाभाव पर्याप्त = पूर्ण स्वरूप
30 होता है। प्रस्तुत में पार्थिवत्व हेतु का पक्षसत्त्वादि त्रिलक्षण होने पर भी अन्य चौथा अबाधितत्व रूप न होने से, हेतु में साध्य का अविनाभाव नहीं है। अतः सत्य अनुमिति नहीं होगी।

उत्तर :- नहीं। जब तक हेतु में अविस्वादित्व का बोध नहीं होगा तब तक अबाधितत्व की

इति वक्तव्यम् अबाधितत्वस्याऽविसंवादित्वप्रतिपत्तिमन्तरेण ज्ञानुमशक्तेः, अज्ञातस्य च ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वात्, तदङ्गत्वे वाऽनवगताऽविनाभावस्यापि धूमोऽग्निप्रतिपत्तिं विदध्यात्। तत्राऽबाधितत्वं हेतो रूपान्तरम् इति पार्थिवत्वं काष्ठे लोहलेख्यत्वाऽविनाभूतमध्यक्षतः प्रतिपन्नं वज्रे उपलभ्यमानं लोहलेख्यत्वं गमयेत्।

अथ सर्वोपसंहारेणाध्यक्षं दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं साध्य-साधनयोरविनाभावमवगमयतीति, साध्यधर्मिण्यपि हेतोः साध्यधर्मणाऽविनाभावनिश्चयाद् (अतः) नानुमानानुत्थानम्; भवेदेतत्— यद्यस्मदाद्यध्यक्षं 5 सकलदेशकालनियतसाध्यसाधनसाकल्यावभासि भवेत्, तथाभ्युपगमे वा धूमस्वरूपभावभासिनाऽध्यक्षेण देशादिव्यवहितस्याग्नेरपि प्रतिपत्तेरनुमानप्रवृत्तेर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः स्यात्। न च मानसं योगिप्रत्यक्षं वा सर्वोपसंहारेण साध्य-साधनयोर्व्याप्तिग्राहकं संभवति अध्यक्षस्य विशदाभासस्य साध्यसाधनावगतिस्वभावस्याऽसंवेदनात्। विशदावभासि च संनिहितार्थग्रहणस्वभावमस्मदाद्यध्यक्षमित्युक्तं प्राक्। अधानुमानेन व्याप्तिग्रहणेऽनवस्था- 10 प्रसक्तेर्भवताऽप्यध्यक्षतस्तद्ग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् तत्र चोक्त एव दोषः। तदसत् प्रतिबन्धग्राहिणा प्रमाणेन

उपलब्धि शक्य नहीं है। अनुपलब्ध अबाधितत्व कभी ज्ञापक हेतु का अंग (धर्म) नहीं माना जा सकता। यदि अज्ञात अबाधितत्व को हेतु का अंग मानेंगे तो अज्ञात अविनाभाव वाले हेतु धूम से अग्नि का भान भी क्यों न माना जाय ? सारांश, अबाधितत्व यह हेतु का अंग नहीं है। अतः यह दोष तदवस्थ रहेगा कि काष्ठ में पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का अविनाभूत होने का प्रत्यक्ष से सिद्ध है अतः 15 वज्र में भी पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का बोध कर बैठेगा।

[सकलोपसंहारेण अविनाभाव का ग्रहण अशक्य]

शंका :- दृष्टान्तधर्मि में जो प्रत्यक्ष प्रवर्तता है वह सर्व हेतु-साध्य स्थलों का अवगाहन (उपसंहार) कर के होता है। उसी अध्यक्ष के प्रभाव से साध्य-साधन की व्याप्ति गृहीत हो जाती है। फिर साध्यधर्मि में भी हेतु की साध्यधर्म के साथ पूर्वगृहीत व्याप्ति के निश्चय से अनुमान निर्बाध उत्थित होता है, उस के लिये साध्यधर्मि में उस काल में साध्य के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं। 20

उत्तर :- वैसा तब शक्य होता, यदि हम लोगों का प्रत्यक्ष सर्व देश सर्वकालवर्ती साध्य-साधन समग्र का अवभासि होता। अगर यह भी मान लें तब तो धूमस्वरूप ग्राहि उपसंहारक प्रत्यक्ष से (दृष्टान्तधर्मि के प्रत्यक्ष से) देश-काल व्यवहित भी (साध्यधर्मिवृत्ति) अग्नि का भान हो जाने पर, यहाँ साध्य धर्मि में अनुमान प्रवृत्ति की निष्फलता पुनः प्रसक्त होगी। यह ज्ञातव्य है कि सर्वोपसंहार से साध्य-साधन की व्याप्ति का ग्रहण न तो मानस ज्ञान से शक्य है न तो योगिप्रत्यक्ष से। हम 25 लोगों का विशदाभासि प्रत्यक्ष भी संनिहित अर्थ ग्रहणस्वरूप से ही हमें संविदित होता है न कि साध्य-साधनावभासिस्वरूप से — यह पहले कहा जा चुका है।

शंका :- व्याप्ति का ग्रहण अनुमान द्वारा मानेंगे तो उस अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण किस से ? यदि और एक नये अनुमान से... तब नये नये अनुमानों की कल्पना से अनवस्था प्रसक्त होगी, अत एव प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण करना पड़ेगा और आप तो उस में दोष दिखा रहे हैं, 30 जो गलत है।

उत्तर :- आप की बात गलत है। हम कहते हैं कि व्याप्ति ग्राहक प्रमाण से सर्वोपसंहार के

सकलोपसंहारेण व्याप्तिनिश्चयात्।

तथाहि - महानसादौ विशिष्टमध्यक्षमग्नि-धूमयोः कार्य-कारणभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तं 'सर्वत्रानग्निव्यावृत्तोऽग्निः अधूमव्यावृत्तस्य धूमस्य जनकः' इति व्यवस्थापयति, अन्यथा सकृदप्यग्नेर्धूमस्योत्पत्तिर्न भवेत् अहेतोः कदाचिदप्युत्पत्तिविरोधात्। तदुक्तम् (प्र०वा०३-३४) -

- 5 कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः। संभवंस्तदभावेऽपि हेतुसत्तां विलंघयेत्।
तथाभावमन्तरेणापि भवन् स्वभावो निःस्वभाव एव स्यात्। तदुक्तम् (प्र०वा०३-३९) -
स्वभावेऽप्यविनाभावो भावमात्रानुरोधिनि। तदभावे स्वयंभावस्थाभावः स्यादभेदतः।।

इति तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यवस्थापकं प्रमाणं सकलोपसंहारेण व्याप्तिव्यवस्थापकमित्युक्तं प्राक्।

- अथ सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणे अनुमानस्याऽप्रामाण्यं भवेत् व्याप्तिग्राहकप्रमाणप्रतिपन्नार्थविषयत्वेन
10 स्मृतिरूपत्वात्। तदंशव्याप्तिसामर्थ्येन च हेतोः स्वसाध्यप्रतिपादकत्वं न पक्षे सत्तामात्रतः, तत्स्थस्य
रासभादेरपि साध्यप्रतिपादकत्वप्रसक्तेस्ततस्तदंशव्याप्तिवचनेनैव गतत्वात् पक्षधर्म इति हेतोः पृथग् लक्षणं
द्वारा व्याप्ति का ग्रहण = निश्चय किया जा सकता है। कैसे यह देखिये -

[कार्य-कारणभावग्राहक विशिष्ट प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह]

- भोजनगृह में अग्नि-धूम उभय का ग्राहक विशिष्ट प्रत्यक्ष जब उदित होता है तब कार्य-कारणभाव
15 का भी ग्रहण कर लेता है। वही प्रत्यक्ष तब यह निश्चित कर देता है कि अनग्निव्यावृत्त अग्नि
अधूमव्यावृत्त धूम का उत्पादक है। यदि यह निश्चय असत्य है तो एक बार भी अग्नि से धूम की
उत्पत्ति न होनी चाहिये। अहेतुभूत कारणाभास से कभी कार्योत्पत्ति मानेंगे तो विरोध दोष होगा।
प्रमाणवार्तिक (३-३४) में कहा है -

- “धूम अग्नि का कार्य है क्योंकि (अग्नि के) कार्यधर्मों का अनुसरण करता है। अग्नि के विना
20 भी यदि धूमोत्पाद होगा तो (अग्नि में) हेतुत्व का उल्लंघन (विघटन) हो जायेगा।”

हेतुभाव के विना भी यदि धूम अग्नि के प्रति अविनाभावस्वभाववाला होगा तो वह निःस्वभाव
यानी जूठा (जाली) होगा। प्रमाणवार्तिक में कहा है (३-३९)

भावमात्र से अनुरुद्ध (भाव का) स्वभाव होने पर भी अविनाभाव माना जायेगा, तब भाव
खुद अपना स्वभाव अभेद के कारण खो बैठेगा।

- 25 निष्कर्ष :- जो प्रमाण तादात्म्य-तदुत्पत्ति का निश्चायक होता है वही सर्वोपसंहार से व्याप्ति का
भी निश्चायक होता है। यह पहले भी कहा जा चुका है।

[अनुमानप्रामाण्य एवं पक्षधर्मता के लोप की शंका]

पक्षधर्मता के ऊपर दोष की शंका की जा रही है -

- शंका :- बौद्धने जो सर्वोपसंहार के द्वारा व्याप्तिग्राहक प्रमाण का निर्देश दिखाया वह सम्भव नहीं,
30 क्योंकि यहाँ अनुमान के अप्रामाण्य की आपत्ति आयेगी। सर्वोपसंहार से व्याप्तिग्राहकप्रमाण में, प्रस्तावित
अनुमान का साध्यधर्म भी पूर्वगृहीत हो गया है। पुनः अनुमान उस का ग्रहण करेगा तो वह गृहीतप्राही
होने से अनुमानरूप नहीं किन्तु स्मृतिस्वरूप हो गया। दूसरी बात, कोई भी हेतु धर्मों के अंशभूत साध्यधर्म

न वक्तव्यं भवेत्। उक्तं च जैनैः () -

▲अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

अनुपलब्धिश्च पक्षधर्मत्वं नोपपत्तिमत् अन्योपलब्धिस्वभावायाः तस्याः पुरुषधर्मत्वात्। कार्यहेतोश्च स्वातन्त्र्येण धर्म्यनपेक्षत्वात् कुतः पक्षधर्मता ? स्वभावहेतोः पुनर्धर्मिरूपत्वाद् भेदनिबन्धना पक्षधर्मता दूरोत्सारितैव। न च कल्पितस्य पक्षधर्मस्य कार्य-स्वभावहेतुत्वं साध्यव्याप्तिश्चोपपत्तिमती। ततो न 5 पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं भवदभिप्रायेण युक्तिसंगतम्।

[सकलोपसंहारेण व्याप्तिग्रह अनुमानप्रामाण्यं च]

असदेतत्- यतो यद्यपि सर्वापसंहारेण साध्य-साधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिः, तथापि न तत्र प्रतिपत्तिमात्रात्

के साथ व्याप्ति के बल से ही अपने साध्य का प्रकाशन करता है, न कि पक्ष में उस की सत्ता (यानी पक्षधर्मता) के बल पर। अन्यथा, घटाधिकरणभूत कुलाल की शाला में हरहमेश गर्दभ की सत्ता होने 10 से गर्दभ भी घट का (साध्य का) प्रकाशक बन बैठेगा। फलितार्थ :- धर्मस्वयं अंश के साथ (अनुमान के) पहले व्याप्तिग्रह अनिवार्य हुआ। तब तो साध्य का भी ग्रहण उस में हो गया, फिर उसकी पक्षधर्मता से क्या निसबत ? अत एव हेतु के लक्षण में पक्षधर्मता का प्रवेश जरूरी नहीं है। जैन विद्वानों ने (पात्रकेसरी या पात्रस्वामी ने) कहा है - जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीन (पक्षसत्त्वादि) होवे तो भी क्या ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ भी तीन हो तो क्या ? 15

अनुपलब्धि (हेतु) तो पक्ष का धर्म हो नहीं सकती क्योंकि वह तो पुरुष(आत्म)धर्मरूप होती है। कारण, वह किसी न किसी अन्य (अभावादि) अर्थ की उपलब्धिरूप ही होती है। जैसे अग्नि की अनुपलब्धि अग्नि भिन्न भूतलादि की अथवा अग्नि के अभाव की उपलब्धिरूप ही है। यहाँ पर्वत में धूम नहीं है क्योंकि अग्नि की अनुपलब्धि है, इस प्रयोग में अग्नि की अनुपलब्धि पर्वत की अथवा अग्नि के अभाव की उपलब्धि स्वरूप ही है जो कि ज्ञानात्मक होने से आत्मधर्म है, पक्ष (पर्वत) 20 का धर्म नहीं।

कार्य हेतु को कारणविधया धर्मासम्बन्ध रहता है, स्वतन्त्ररूप से धर्मों की सापेक्षता नहीं होती, फिर पक्षधर्मता की बात ही कहाँ ? स्वभावहेतु में भी वह नहीं घट सकती क्योंकि पक्ष और धर्म भिन्न होते हैं, यानी पक्षधर्मता भेदमूलक होती है। यहाँ स्वभाव हेतु में तो धर्मों और उस के स्वभावभूत हेतु में भेद ही नहीं है। फलतः स्वभाव हेतु की पक्षधर्मता दूरापास्त हो जाती है। 25

जब वास्तविक पक्षधर्मता नहीं है तब न तो कल्पित पक्षधर्म का कार्यहेतुत्व या स्वभावहेतुत्व घट सकता है न तो कल्पित पक्षधर्म में साध्य के साथ व्याप्ति भी घट सकती है। फलितार्थ यह है कि पक्षधर्मत्व हेतु के लक्षणान्तर्गत नहीं हो सकता।

[सकलोपसंहारेण व्याप्तिग्रह और अनुमानप्रामाण्य]

उत्तर :- उक्त कथन गलत है। कारण :- साध्य-साधन की व्याप्ति का बोध सर्वापसंहार से होता 30 है यह सत्य है किन्तु इतने बोधमात्र से 'अब यहाँ साध्यधर्मों में साध्यधर्म है' ऐसा विशिष्ट बोध

▲. अयं श्लोको (जैन)न्यायविनिश्चयग्रन्थे पृ.१७७ मध्ये का०१२४ रूपो द्रष्टव्यः।

‘इदानीमिह साध्यधर्मिणि साध्यधर्मः’ इति विशेषावगमः तेनाऽप्रतिपन्नविशिष्टदेशादिसम्बन्धिसाध्यार्थ-
 प्रतिपादकत्वेनानुमानं नाऽप्रामाण्यमश्नुते। न चान्यदेशादिस्थेन साध्यधर्मणान्यदेशादिस्थः साधनधर्मः सम्बन्ध-
 मनुभवति, तेन प्रतिनियतदेशादिविशेषितसाधनप्रतिपत्तिबलादेव प्रतिनियतदेशाद्यवच्छिन्नसाध्यप्रतिपत्तिरेवानुमानमिति
 न पक्षधर्मत्वमन्तरेणानुमानसम्भवः। न च धूममात्राद् वह्निमात्रस्यावगतिरनुमानम् व्याप्तिग्राहकप्रमाणफलत्वात्
 5 तस्याः। न च हेतोः पक्षधर्मत्वं ‘यत्र साधनधर्मस्तत्र साध्यधर्मः’ इति अविशिष्टावगतिमात्रात् सिध्यति,
 साध्यधर्मिधर्मतया साधनधर्मस्याऽप्रतीतेः सामान्येनाऽभिधानात्, ततो विशिष्टदेशाद्यवच्छिन्नसाध्यावगतये
 पक्षधर्मत्वं प्रदर्शनीयम्। अतः — ‘यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः’ इत्यनेनैव पक्षधर्मत्वस्योक्तत्वात् प्रदेशविशेषे
 अग्नि-सिद्ध्यर्थं ‘धूमश्चात्र’ इति न वक्तव्यम् उक्तार्थत्वात्— इति यदुक्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्।
 एतेनैव यदुक्तं कुमारिलेन—[▲]

10 नदीपुरोऽप्यधोदेशे दृष्टः सन्नपरि स्थिताम्। नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिनियामिकाम्॥

वहाँ नहीं होता। विशिष्ट देश-काल अवरुद्ध साध्यार्थ का निरूपण सर्वोपसंहारि व्याप्ति से नहीं होता
 किन्तु वह अनुमान से होता है अत एव अनुमान में अप्रामाण्य असंगत नहीं रहता है। एकदेशकालवर्ती
 साधनधर्म भिन्नदेश-कालवर्ती साध्यधर्म के साथ संलग्न नहीं होता। अतः नियत देश-कालवृत्ति साधन
 के बोध के बलबुते पर ही नियतदेशादिविशेषित साध्य का भान होता है और वही अनुमान है।
 15 फलित हो गया कि साधनधर्म का नियतदेशादिवृत्तित्व यानी पक्षधर्मत्व के बिना अनुमान का उत्थान
 अशक्य है।

केवल धूम से केवल अग्नि का बोध अनुमान नहीं होता, क्योंकि धूम से अग्नि का भान
 व्याप्तिग्राहकप्रमाण को अधीन है। व्याप्तिग्रह के बिना धूम से अग्नि का बोध असंभव है। जहाँ साधनधर्म
 होता है वहाँ साध्यधर्म रहता है — इतने सामान्य कोटि के व्याप्तिज्ञान में पक्षधर्मत्व का (सामान्य
 20 से) ज्ञान आ गया ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इस अवबोध से देश-काल का सामान्यरूप से ही निर्देश
 किया गया है जो प्रवृत्ति-उपयोगी नहीं होता। सामान्यनिर्देश में साधनधर्म प्रतिनियत साध्यधर्म के
 धर्मरूप में विदित नहीं होता। अतः प्रतिनियत देश-काल से विशिष्ट साध्य का बोध कराना हो तो
 पक्षधर्मत्व का निर्देश करना जरूरी है।

अत एव शंकाकार ने जो कहा था — ‘जहाँ जहाँ धूम वहाँ वहाँ अग्नि - इतने कथन से
 25 ही पक्षधर्मत्व निर्दिष्ट हो जाने से, नियत प्रदेश में अग्नि की सिद्धि के लिये ‘यहाँ धूम है’ ऐसा
 पक्षधर्मत्व का निर्देश (उपनय) कहने की जरूर नहीं है’ — यह कथन निरस्त हो जाता है।

[कुमारिलमत निरसन के साथ पक्षधर्मत्वसमर्थन]

पक्षधर्मत्व की आवश्यकता के उक्त समर्थन से वह निरस्त हो जाता है जो कुमारिलने कहा है —
 निम्नप्रदेश में देखा हुआ नदीपुर (जो कि उपरिप्रदेशरूप साध्यधर्मी (पक्ष) का धर्म नहीं है)
 30 उपरि देश में अवस्थित नियामक (नियमतः) जात वृष्टि को अवश्य बोधित करता है। इस प्रकार,

▲. कुमारीलनाम्ना ख्यापिता इमे श्लोका अधुना श्लोकवार्तिके नोपलभ्यन्ते। प्रमेयकमल-मार्तण्ड-स्याद्वावरत्नाकरयोः आद्यास्त्रयः
 प्रमाणमीमांसा-रत्नाकरावतारिकयोः आद्यश्लोकः समुद्धृता दृश्यन्ते — इति भूतपूर्वसम्पादकयोः टीप्यण्याम्।

एवं यत् पक्षधर्मत्वं ज्येष्ठं हेत्वङ्गमिष्यते। तत् पूर्वोक्तान्यधर्मत्वदर्शनात् व्यभिचार्यते॥
 पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा। सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥
 क्लेशेन पक्षधर्मत्वं यस्तत्रापि प्रकल्पयेत्। न संगच्छेत तस्यैतल्लक्ष्येण सह लक्षणम्॥
 यथा लोकप्रसिद्धं च लक्षणैरनुगम्यते। लक्ष्यं हि लक्षणेनैतदपूर्वं न प्रसाध्यते॥
 इति तदपि प्रत्युक्तम्—

5

यतः किमित्यधस्तान्नदीपूरमुपलभ्योपर्येव वृष्ट्यनुमानं नान्यत्र ? तथा, शिशुरयं ब्राह्मणो माता-
 पित्रोः ब्राह्मण्यादिति किमिति यस्यैव शिशोः ब्राह्मण्यं साध्यं तस्यैव मातापितृब्राह्मण्यलक्षणो धर्मः सम्बन्धी
 गमको न माता-पितृब्राह्मण्यमात्रम् ? अथ नदीपूरस्योपरिदेशसम्बन्धिनः अन्यसम्बन्धिमातापितृब्राह्मणस्य
 चाऽगमकत्वादेवमनुमानम् तर्हि नदीपूरो यतः समायातस्तत्रैव वृष्ट्यनुमानं नान्यत्र व्यभिचारात्, तस्य च
 तत्सम्बन्धित्वनिश्चये गमकत्वं नान्यथा, अनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः, एवं च कथं न पक्षधर्मतानिश्चयो हेत्वङ्गम् ? 10
 तद् मातापितृब्राह्मण्यस्यापि पक्षधर्मत्वं तत्रिन्श्चयश्च समस्त्येवान्यथा गमकताऽयोगाद्, नात्रापि क्लेशेन
 पक्षधर्मत्वकल्पना।

जो पक्षधर्मत्व को ज्येष्ठ हेत्वंग समझा जाता है वह पूर्वोक्त (उपरिदेश) से अन्य (निम्नदेश) में वृत्ति
 दिखाई देने से व्यभिचारग्रस्त किया जाता है। मातापिता के ब्राह्मणत्व से पुत्र में ब्राह्मणत्व की अनुमिति
 सर्वजनप्रसिद्ध है जिस में पक्षधर्मता अपेक्षित नहीं होती।। क्लेशपूर्वक (यानी खिंचातानी कर के) जो 15
 वहाँ भी पक्षधर्मता की कल्पना करते हैं उस के लक्ष्य से लक्षण की संगति नहीं बैठती।। लक्षणों
 के द्वारा जो लोकप्रसिद्ध होता है उस का ही अवबोध कराया जाता है। लक्षण के द्वारा कोई अपूर्व
 लक्ष्य की निष्पत्ति नहीं की जाती।।

यह पक्षधर्मता की व्यर्थता का कथन निरस्त होने का कारण, ये प्रश्न हैं — निम्नदेश में नदीपूर
 के देखने से उपरिदेश में ही वृष्टि का अनुमान होता है तो अन्यप्रदेशों में क्यों नहीं होता ? तथा, 20
 'यह बच्चा ब्राह्मण है क्योंकि माता-पिता ब्राह्मण है' यहाँ जिस बच्चे का ब्राह्मणत्व सिद्ध करने का
 है उसी बच्चे के माता-पिता के सम्बन्धी ब्राह्मणत्वरूप धर्म को ज्ञापक बनाते हैं — सिर्फ माता-पिता
 के ब्राह्मणत्व सामान्य को क्यों नहीं ? यदि आप कहेंगे — "उपरिदेशसम्बन्धि नदीपूर एवं अन्य बच्चे
 के संबन्धि माता-पिता का ब्राह्मणत्व ज्ञापक नहीं होते इसी लिये निम्नदेशवाले नदीपूर और उसी बच्चे
 के माता-पिता के ब्राह्मण्य द्वारा अनुमान किया जाता है।" अरे ! तब तो फलितार्थ यही हुआ कि 25
 निम्नदेश का नदीपूर जिस देश से बहता आया है वहाँ ही वृष्टि का अनुमान करा सकता है अन्य
 देश में नहीं, क्योंकि तब व्यभिचार होगा। तात्पर्य, (निम्न देश का भी) नदीपूर उपरिदेश का सम्बन्धितया,
 निश्चित हो कर ही ज्ञापक बन सकता है, अन्यथा व्यभिचार होगा। यहाँ उपरिदेशसम्बन्धितया नदीपूर
 का पक्षधर्मतानिश्चय हुआ, तभी तो अनुमान हुआ। फिर पक्षधर्मत्व को हेत्वंगता क्यों नहीं होगी ?
 इसी प्रकार उसी बच्चे के मातापिता के ब्राह्मणत्व को ज्ञापक मानने पर तद्बालमाता-पिताब्राह्मणत्व 30
 में पक्षधर्मता और उस का निश्चय आवश्यक बन गया, क्योंकि उस के बिना ज्ञापकता संगत नहीं
 होती। इस प्रकार तो बिना खिंचातानी के पक्षधर्मता सिद्ध होने पर मानना पडेगा कि यहाँ पक्षधर्मता

- अथवाऽव्यभिचारनिमित्त एव धर्मो हेतुर्युक्तो धूमस्याग्निकार्यत्ववत्, ब्राह्मणमातापितृजन्यत्वं च ब्राह्मण्य-
निमित्तं शिशोरिति तदेव हेतुर्युक्तोऽन्यस्य तत्कल्पनायां क्लेशः स्यादेव। एवं चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमानं
किमिति तदेव, न पूर्वं नापि पश्चात् ? 'तदेव व्याप्तिग्रहणाद्' इति चेत् ? तर्हि साध्य-साधनयोः तत्काल-
सम्बन्धित्वमेवेति स एव कालो धर्मो तत्सम्बन्धिनश्चन्द्रोदयात् तत्रैव साध्यानुमानमिति कथमत्राप्यपक्षधर्मत्वम् ?
- 5 कालानभ्युपगमे च नैतदनुमानं व्यभिचारात्। न च सौगतैः कालानभ्युपगमात् नास्यानुमानस्य सम्भवः।
पूर्वाह्णादिप्रत्ययविषयस्य महाभूतविशेषस्य कालशब्दवाच्यस्याभ्युपगमात्। एवं विशिष्टपिपीलिकोत्सर्पणादेरपि
पक्षधर्मता योज्या।

नन्वेवमपि तदंशव्याप्तिवचनेनैव गतत्वात् पक्षधर्म इति पृथग् लक्षणं न वक्तव्यम्। न, अपक्षधर्मस्यापि
साध्यव्याप्तस्य हेतुत्वनिराकरणार्थत्वात् तस्य, अन्यथा महानसोपलब्धधूमाद् महार्णवे पावकानुमानं प्रसज्येत।

- 10 की कल्पना क्लिष्ट नहीं है।

[पक्षधर्मता के बल से धूम में अग्निकार्यत्व का अव्यभिचार]

- अथवा हेतु के लिये कह सकते हैं कि अव्यभिचार का निमित्तभूत जो धर्म हो वही हेतु बन
सकता है, अग्निकार्यत्व धर्म धूम में कभी भी व्यभिचारी नहीं होता। (इस लिये 'धूमः अग्निमत्
तत्कार्यत्वात्' ऐसा अनुमान पक्षधर्मता के बल पर ही होगा।) बच्चे में ब्राह्मण्य के अव्यभिचार का
- 15 निमित्त ब्राह्मणमातापितृजन्यत्व है, अतः उस बच्चे में ब्राह्मणमातापितृजन्यत्व हेतु पक्षधर्म बन कर ब्राह्मण्य
का बच्चे में अनुमान करा सकेगा। पक्षधर्म के अलावा और किसी को हेतु मानने पर तो क्लेश
होगा ही। जब यह निश्चित हुआ कि अव्यभिचारनिमित्तभूत धर्म ही हेतु बन सकता है, तो प्रश्न
सहज होगा कि चन्द्रोदय से समुद्रवृद्धि का अनुमान चन्द्रोदय की वेला में ही होता है, पहले या
बाद में क्यों नहीं होता ? उत्तर में यदि कहें कि 'व्याप्ति ग्रह तभी होता है' तब तो फलित होगा
- 20 कि साध्य (समुद्रवृद्धि) और साधन (चन्द्रोदय) दोनों में एककालसम्बन्धिता विशेष है। अत एव वहाँ
उसी काल को धर्मो मानना पड़ेगा, तत्सम्बन्धि चन्द्रोदय वह पक्ष धर्म यानी हेतु बनेगा और उसी
काल धर्मो में साध्यधर्म समुद्रवृद्धि का अनुमान होगा — तो यहाँ पक्षधर्मता का निषेध कहाँ हुआ ?
हाँ, काल का अस्तित्व स्वीकार न हो तब तो पक्षधर्म न बनने पर व्यभिचार के कारण उक्त अनुमान
नहीं हो सकता। ऐसा बोलना मत कि 'बौद्ध तो काल को नहीं मानते इस लिये बौद्ध मत में उक्त
- 25 अनुमान संभव नहीं' — हमारे बौद्धमत में कालशब्द का वाच्यार्थ है पूर्वाह्नादिप्रतीति का विषयभूत
एक प्रकार का महाभूत। उक्त विवरण के मुताबिक चींटियों के विशिष्ट स्थानपरिवर्तन की पक्षधर्मता
की उपपत्ति भी स्वयं समझ लेना।

[सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रह से अनुमान तथा पक्षधर्मता]

- पहले जो कहा था (३७२-११) — सर्वोपसंहार से व्याप्तिग्रहण करने पर धर्मो अंश (साध्य)
- 30 के साथ भी व्याप्ति ग्रहण के वचन (निरूपण) से ही पृथग् पक्षधर्म को हेतु का लक्षण मानने की
जरूर नहीं है — वह तो बोलना ही मत। पक्षधर्म यह हेतु का पृथग् लक्षण जरूरी है अन्यथा साध्य
से व्याप्त हो किन्तु — पक्षधर्मरूप न हो वह भी हेतु बन कर बैठ जायेगा। जैसे कि भोजनगृह

अथ महानसस्थो धूमो न तत्स्थेन पावकेन व्याप्तः। एवमेतत् किन्तु 'साध्यव्याप्तो हेतुः' इत्येतावन्मात्रे लक्षणे यत्रैव साधनधर्मस्तत्रैव साध्यधर्मानुमानमिति न प्राप्येत— इत्यन्यत्रापि साध्यानुमानाशङ्का भवेत्, ततः तन्निवृत्त्यर्थं पृथक् पक्षधर्मवचनम्।

यदा च भूतलादेरुपलब्धिजननयोग्यताऽनुपलब्धिः तदाऽसौ भूतलादिस्वभावेति कथमनुपलब्धेरपक्षधर्मत्वम् ? पुरुषधर्मरूपायास्त्वनुपलब्धेरन्यभूतलादिकार्यत्वमेव तद्धर्मत्वम् परमार्थतस्तस्याः तदायत्तत्वात्। 5 कृतकत्वादेस्तु शब्दादिधर्मत्वम् परमार्थत एकत्वेऽपि भेदान्तरप्रतिक्षेपाद् धर्मभेदव्यवस्थापनात्। धूमादेरपि धर्मस्य प्रदेशादिधर्मत्वम् तत्कार्यतया तदायत्तत्वात्। तेषां च विकल्पेन तत्सम्बन्धिस्वरूपमेव 'पक्षस्यायं धर्मः' इति व्यवस्थाप्यते। तन्नास्मन्मते सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणेऽनुमानानुत्थानम्। नापि हेतोः पक्षधर्मत्वाभिधानं व्यर्थम् यथा च पक्षधर्मतानिश्चयो व्याप्तिनिश्चयश्च यतश्च प्रमाणतः सम्भवति तथा प्रदर्शितमेव प्रमाण-

में देखा हुआ धूम जो कि अग्निव्याप्य है वह अपक्षभूत महासमुद्र में भी अग्नि का अनुमान कर 10 बैठेगा। यदि कहें कि — 'भोजनगृह स्थित धूम समुद्रगत वडवानल से व्याप्त नहीं होता अतः उक्त विपदा नहीं होगी।' — तो यह मान लिया किन्तु विशेष ज्ञातव्य है कि यदि 'हेतु साध्य का व्याप्य होता है' इतना हि यदि हेतु का लक्षण मानेंगे तो इस से यह स्पष्ट नहीं होगा कि साधनधर्म (हेतु) जहाँ होगा, वहाँ ही साध्यधर्म का अनुमान होगा। स्पष्टता के विरह में तब साधनधर्मशून्य स्थल में भी साध्य के अनुमान होने की शंका बनी ही रहेगी। उस के निवारण के लिये पक्षधर्म का पृथग् 15 निर्देश अनिवार्य है।

अनुपलब्धि हेतु में जो आपने असंगति दिखाई थी (३७३-३) वह भी अनुचित है। अनुपलब्धि का मतलब है कि 'यदि भूतल में वस्तु रहती तो भूतल में उपलब्ध होती' इस प्रकार की वस्तुउपलब्धिजननयोग्यता जो कि भूतल का धर्म है — यह योग्यता भूतलादि स्वभावरूप ही है। ऐसी अनुपलब्धि पक्षधर्म कैसे नहीं बनेगी ? यदि आप अनुपलब्धि को यानी अन्य वस्तु की भूतल में 20 उपलब्धि को पुरुष का धर्म मानते हैं तो वह भी आखिर विवक्षित वस्तु शून्य जो अन्य भूतलादि है उस का कार्य ही है। परमार्थतः देखा जाय तो वैसी अनुपलब्धि अन्य भूतलादि को अधीन होने से, उसे भूतल का धर्म कहने में कोई हरकत नहीं है।

शब्द और कृतकत्व वास्तव में तो एक ही है फिर भी शब्द पक्ष और कृतकत्व उस का धर्म है जो अनित्यत्व साध्य की सिद्धि का हेतु बनता है। इस प्रकार अन्य भेद (धर्म) को दूर रख 25 कर कृतकत्व धर्म विशेष का हेतुरूप में प्रस्तुतीकरण है। अग्नि का धूमादि कार्य भी अपने प्रदेशादि (पक्ष) का धर्म है क्योंकि अग्नि का कार्य होते हुए भी वह उस प्रदेश को अधीन है क्योंकि उस की उत्पत्ति वहाँ हुई है। इस प्रकार, हेतुओं में अपने अपने पक्ष का संसर्गिस्वरूप ही 'यह पक्ष का धर्म है' इस निरूपण से निश्चित किया जाता है वह भी विकल्प के द्वारा, प्रत्यक्ष का तो ऐसा व्यापार नहीं। सारांश, हमारे बौद्ध मत में सर्वोपसंहार से व्याप्ति निश्चय करने पर अनुमान के अनुत्थान 30 का कोई दोष नहीं रहता। अतः 'प्रत्येक हेतु किसी तरह पक्षधर्म भले हो किन्तु अनुमान प्रयोग में उस का कथन व्यर्थ है' — यह कथन भी निरस्त है। उपरान्त, जिस प्रमाण से पक्षधर्मता का और

वार्त्तिकादौ ग्रन्थगौरवभयाद् नेह प्रदर्श्यते विस्तरतः।

यदपि विषयतुल्यतया क्रियातुल्यत्वं वतेः प्रयोगनिबन्धनमभ्यधायि (३६१-१) तदपि प्रतिभासभेदस्य विषयभेदमन्तरेणानुपपद्यमानत्वप्रतिपादनात् प्रतिक्षिप्तम्। तन्न 'पूर्ववत्' इति 'वति'प्रयोगाश्रयणेनापि व्याख्यानं युक्तिसंगतम्। यदपि पूर्ववतः शेषवदनुमानस्य भेदप्रतिपादनाय 'शेषवन्नाम परिशेषः' (३६९-९) इत्याद्यभिधानम्, तदपि स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रम्। यतः इच्छादीनां गुणत्वसिद्धौ पारतन्त्र्यसिद्धेः शरीरादिषु प्रसक्तेषु प्रतिषेधे सति परिशेषादात्मसिद्धिः। तच्च गुणत्वमिच्छादीनां द्रव्याश्रितत्वसिद्धौ सिध्यति, तच्च समवायाभावतोऽयुक्तमिति प्रतिपादितम्। यदपि 'सामान्यवत्त्वे सति अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् रसवत्' इत्यादि इच्छादीनां गुणत्वसिद्धावनुमानमुपन्यस्यते, तदपि न युक्तिक्रमम् रसादीनामपि गुणत्वसिद्धितो दृष्टान्तासिद्धेः। न च तेषामपि गुणत्वसिद्धौ दृष्टान्तान्तरमस्ति, इच्छादीनां तद्दृष्टान्तत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः।

10 यदपि— इच्छादयो गुणाः प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे सत्येकद्रव्यत्वात् शब्दवत्—इत्यनुमानम्, तत्रापि दृष्टान्ता-ऽसिद्धिः। तथाहि— द्रव्यस्य द्वैविध्यं वैशिष्टिकैः प्रतिपादितम्— घटादि अनेकद्रव्यं द्रव्यम् अद्रव्यमाकाशादि।

जिस प्रमाण से व्याप्ति का निश्चय किया जाता है वह भी प्रमाणवार्त्तिक आदि बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट दिखाया है इसलिये ग्रन्थगौरवभय से यहाँ नहीं कहते हैं।

[पूर्ववत्-शेषवत् आदि का निरसन]

15 पहले जो नैयायिकने कहा था — (३६१-११) पूर्ववत् में 'वत्' प्रयोग विषयतुल्यतामूलक क्रियातुल्यता होने से अघटित नहीं है — वह भी इसलिये निरस्त है कि वहाँ विषयतुल्यता है नहीं विषयभेद है। विषयभेद के विना प्रत्यक्ष-अनुमान में प्रतिभासभेद घट नहीं सकेगा। अतः 'वत्' प्रयोग का आलम्बन ले कर 'पूर्ववत्' का व्याख्यान युक्तिसंगत नहीं है। उपरांत, पूर्ववत् अनुमान से शेषवत् का भेद करने के लिये जो कहा था (३६१-३२) कि 'शेषवत् यानी परिशेष' — वह भी अपनी काल्पनिक प्रक्रिया का ही निरूपण मात्र है। आप की प्रक्रिया :- इच्छादि में प्रथम गुणत्व की सिद्धि, गुणत्वसिद्धि के द्वारा इच्छादि में पारतन्त्र्यसिद्धि, शरीरादि में प्रसक्त पारतन्त्र्य का निषेध, तब परिशेष से आत्मा की सिद्धि। यह प्रक्रिया निर्मूल है क्योंकि इच्छादि में गुणत्व सिद्ध करने के लिये पहले तो इच्छादि में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध करना चाहिये किन्तु पहले हमने कहा ही है कि समवाय जूठा होने से वह सिद्ध हो नहीं सकता। इच्छादि में गुणत्व सिद्ध करने के लिये यह जो अनुमानप्रयोग किया जाता है कि

25 — 'इच्छादि गुण है क्योंकि सामान्यवाले होने के साथ चाक्षुषप्रत्यक्षविषय नहीं है जैसे रस' — यह अनुमान भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण, दृष्टान्त ही असिद्ध है, रसादि में कहाँ गुणत्व सिद्ध है ? रसादि में गुणत्व सिद्धि के लिये और कोई दृष्टान्त भी नहीं है। इच्छादि को ही दृष्टान्त बनायेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। रसादि में गुणत्वसिद्धि का आधार इच्छादि, और इच्छादि में गुणत्वसिद्धि का आधार रसादि, तब एक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

30 [इच्छादि में एवं शब्द में गुणत्वानुमान का निरसन]

इच्छादि में गुणत्व का साधक यह जो अनुमान है कि — 'इच्छादि गुण है क्योंकि कर्मभिन्न होने के साथ एकद्रव्याश्रित है जैसे शब्द' — यहाँ भी दृष्टान्त में गुणत्व असिद्ध है। कैसे ? देखो —

शब्दस्तु प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे सत्येकद्रव्यः तस्माद् रूपादिवद् गुणः इत्येवं शब्दस्य गुणत्वसिद्धौ दृष्टान्तसिद्धिर्भवेत् । न चैतत् शब्दगुणत्वसिद्धौ साधनमुपपत्तिमत् । शब्दस्य हि गुणत्वसिद्धौ निराश्रयस्य गुणस्याऽसम्भवादाश्रयभूतेन गुणिना भवितव्यम् पृथिव्यादेश्च तद्गुणत्वनिषेधात् परिशेषादाकाशाश्रयः शब्दः, तस्य चैकत्वं शब्दलिङ्गाऽविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च । ततो गुणत्वसिद्धौ शब्दस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिः ततश्च यथोक्तविशेषणाद् गुणत्वसिद्धि-रितीतरेतराश्रयत्वाद् न शब्दस्य दृष्टान्तत्वसिद्धिः ।

5

अथ नानेन प्रकारेणैकद्रव्यत्वं शब्दस्य साध्यते किन्तु कादाचित्कत्वाच्छब्दः कार्यम् कार्यस्य च क्षणिकत्वनिषेधे अनाधारस्यासम्भवात् समवायिकारणेन भवितव्यम् पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधे आकाशस्यैव समवायिकारणत्वम् तस्यैकत्वं पूर्ववद् द्रष्टव्यम् । अत एकद्रव्यत्वं शब्दस्य सिद्धमिति प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे एकद्रव्यत्वात् रूपादिवद् गुणः शब्दः सिद्धः इति न दृष्टान्ताऽसिद्धिः । प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं च 'शब्दः कर्म न भवति शब्दान्तरहेतुत्वात् आकाशवत्' । शब्दान्तरहेतुत्वं च शब्दस्य कार्यत्वाऽव्यापकत्वाभ्यां

10

वैशेषिकों ने द्रव्य के दो प्रकार कहे हैं १-अनेकद्रव्य (यानी अनेक अवयवों में आश्रित) जैसे घट-पटादि, २ निर्द्रव्य (द्रव्य में अनाश्रित) जैसे आकाश आदि। शब्द दृष्टान्त की सिद्धि के लिये आप कहेंगे कि 'शब्द कर्मभित्र होने के साथ एकद्रव्याश्रित होने के कारण (उक्त द्रव्य के दो प्रकार में से एक भी प्रकार शब्द में न घटने से) 'गुण' है जैसे रूपादि'। किन्तु शब्द में गुणत्व की सिद्धि के लिये यह अनुमान असमर्थ है क्योंकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है। कैसे ? देखिये — शब्द में पहले 15 गुणत्व सिद्ध होना चाहिये तभी शब्द में एकद्रव्याश्रितत्व की सिद्धि हो सकती है। शब्द में गुणत्व सिद्ध रहेगा तो सोचेंगे कि गुण निराश्रित नहीं होता अतः शब्दगुणी कोई आश्रय द्रव्य होना चाहिये। पृथ्वी आदि द्रव्य शब्दगुणी नहीं हो सकते अतः परिशेषन्याय से शब्दाश्रयद्रव्य के रूप में आकाश सिद्ध होगा। (ध्यान में रखो शब्द में गुणत्व सिद्ध होने पर ही आकाश की सिद्धि होगी।) तब आकाश में एकत्व भी सिद्ध करना पड़ेगा (शब्दगुण में एकद्रव्याश्रितत्व की सिद्धि करने के लिये)। वह इस 20 प्रकार :- आकाशमात्र का शब्द ही एक लिङ्ग है शब्द के अलावा और कोई लिंग नहीं है — ऐसा द्रव्य एक (अद्वितीय) ही होता है। अब अन्योन्याश्रय स्पष्ट है, क्योंकि गुणत्व की सिद्धि होने पर उक्त ढंग से शब्द में एकद्रव्याश्रितत्व की सिद्धि होगी और आकाश एकद्रव्य सिद्ध होने पर शब्द में एकद्रव्यत्व के आधार पर गुणत्व सिद्ध होगा। इस दोष के कारण शब्द में गुणत्व सिद्धि रुक जाने पर, इच्छादि में गुणत्व साधक अनुमान के (शब्दात्मक) दृष्टान्त की असिद्धि स्पष्ट है। 25

[कादाचित्कत्वेहेतुक शब्द में एकद्रव्यत्वसिद्धि - नैयायिक]

नैयायिक :- आप के कथित प्रकार से हम शब्द में एकद्रव्यत्व सिद्ध नहीं करते (जिस से कि अन्योन्याश्रय दोष हो)। हम तो कादाचित्कत्वे हेतु से शब्द में एकद्रव्यत्व सिद्ध करेंगे (तब अन्योन्याश्रय नहीं होगा)। प्रक्रिया देखिये — शब्द कार्य है, कार्यमात्र को हम क्षणिक नहीं कहते। जब क्षणिकत्व निषिद्ध है तब निराधार कार्य का सम्भव न होने से उस का समवायिकारण ढूँढना चाहिये। पृथ्वी 30 आदि में शब्द का समवायिकारणत्व घटता नहीं अतः आकाश को ही शब्द का समवायिकारण मानना होगा। उस के एकत्व की सिद्धि तो अभी आपने कहा उसी तरह होगी। इस तरह शब्द में एकद्रव्यत्व

सिद्धम्। कार्यं हि पूर्ववत् समवायिकारणापेक्षम्, पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधात् व्योमः तं प्रति समवायिकारणता शब्दस्य च प्रत्यक्षत्वाऽन्यथानुपपत्त्या सन्तानकल्पना, सन्तानश्च शब्दान्तरहेतुत्वमन्तरेणानुपपन्नः- इति नासिद्धौ हेतु-दृष्टान्तौ। प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं चेच्छादीनां कर्मत्वानधिकरणतयाऽध्यक्षप्रतिपत्ति एव सिद्धम्। एकद्रव्यत्वं च यज्ञदत्तेच्छादीनां देवदत्तादावनुभवाभावतो व्यवस्थितमेव।

- 5 असदेतत्— कार्यत्वस्य समवायिकारणप्रभवत्वेन शब्दादावसिद्धेः न पूर्वोक्तप्रक्रिययाऽप्येकद्रव्यत्वसिद्धिः। अत एव शब्दान्तरहेतुत्वाद् न कर्मत्वप्रतिषेधः शब्दस्य, हेतु-दृष्टान्तयोरसिद्धेः। न हि शब्दलक्षणस्य कार्यस्य निराधारस्य सम्भवे व्योमः समवायिकारणत्वेन शब्दान्तरहेतुत्वं शब्दस्य वाऽसमवायिकारणत्वेन तद् युक्तम्। न च शब्दप्रत्यक्षताऽन्यथानुपपत्त्या सन्तानकल्पना युक्तिसंगता, तामन्तरेणापि शब्दप्रत्यक्षतोपपत्तेः प्रतिपादनात्। एकद्रव्यत्वस्य प्रतिषिध्यमानकर्मत्वस्य चेच्छादिष्वध्यक्षतः एव सिद्धौ गुणत्वसमवायाद् गुणरूपताया
- 10 अपि तत एव सिद्धेरनुमानोपन्यासस्य वैयर्थ्यं स्यात्। न चाऽध्यक्षसिद्धेऽपि गुणत्वयोगे व्यवहारसाधनार्थं

सिद्ध हुआ। अब अनुमान :- शब्द गुण है, क्योंकि कर्मभिन्न होने के साथ एकद्रव्याश्रित है जैसे रूपदि। इस तरह शब्द में गुणत्व सिद्ध हो जाने पर उस को दृष्टान्त करने में दृष्टान्तासिद्धि दोष नहीं है।

प्रश्न :- शब्द में कर्मभिन्नत्व कैसे सिद्ध होगा ?

- उत्तर** :- शब्द 'कर्म' नहीं है क्योंकि शब्दान्तरका जनक है, जैसे आकाश। शब्द में कार्यत्व और
- 15 अव्यापकत्व के आधार से शब्दान्तरजनकत्व, सिद्ध करते हैं। देखिये — पूर्वकथनानुसार कार्य समवायिकारणजन्य होता है। शब्द के प्रति पृथ्वीआदि में समवायिकारणता संगत नहीं है इसलिये आकाश में उस के प्रति समवायिकारणता सिद्ध की गयी है। क्षणिक एवं अव्यापक शब्द का दूर से प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब उस का सन्तान माना जाय। संतान के विना शब्द के प्रत्यक्षत्व की घटना की नहीं जा सकती। शब्द को शब्दान्तर का जनक नहीं मानेंगे तो सन्तान भी संगत नहीं होगा।
- 20 इस प्रकार सन्तान के द्वारा शब्दान्तरहेतुत्वसिद्धि, उस के द्वारा कर्मभिन्नत्व की सिद्धि, कर्मभिन्नत्व विशिष्ट एकद्रव्याश्रितत्व के द्वारा गुणत्व की शब्द में सिद्धि हुई। इस प्रकार इच्छादि में गुणत्व की सिद्धि में न तो कर्मभिन्नत्वविशिष्ट एकद्रव्यत्व हेतु असिद्ध है, न तो गुण दृष्टान्त की असिद्धि है। तथा इच्छादि में कर्मत्व की अनधिकरणता (कर्मत्व के अभाव) का प्रत्यक्ष सर्वजनविदित होने से कर्मभिन्नत्व सिद्ध ही है। एवं यज्ञदत्त की इच्छादि का देवदत्तादि अन्य किसी को प्रत्यक्षानुभव न होने से इच्छादि
- 25 में एकद्रव्यत्व यानी यज्ञदत्तादि एक आत्मद्रव्य में आश्रितत्व भी सिद्ध है।

[शब्द में कार्यत्वासिद्धि अतः एकद्रव्यत्वासिद्धि - बौद्ध]

- बौद्ध** :- नैयायिक का यह सब प्रलाप गलत है। पहली बात तो यह है कि शब्दादि में समवायिकारणजन्यत्व रूप कार्यत्व सिद्ध नहीं है। इस लिये पूर्वोक्त नैयायिकप्रक्रिया से शब्दादि में एकद्रव्याश्रितत्व की सिद्धि आशाविहीन है। यही सबब है कि शब्द में शब्दान्तरहेतुत्व हेतु से कर्मत्व का
- 30 प्रतिषेध शक्य नहीं। फलतः इच्छादि में कर्मभिन्नत्वविशिष्ट एकद्रव्यत्व हेतु, तथा उस के लिये शब्द का दृष्टान्त दोनों असिद्ध रह गया। शब्द कार्य के प्रति आकाश में समवायिकारणता की सिद्धि भी अनुचित है क्योंकि शब्द कार्य निराधार हो सकता है। अत एव आकाश दृष्टान्त में शब्दान्तरहेतुत्व भी निरस्त

तदुपन्याससाफल्यम्, तद्गुणत्वस्य समवायस्य वाऽध्यक्षप्रतिपत्तौ कदाचिदप्यप्रतिभासनात्। एतेन 'गुणत्वयोगाद्
रूपादयो गुणाः' इति निरस्तम् गुणत्वसमवायस्य व्यतिरेकिहेतो रूपादिषु गुणव्यवहारसाधकस्याऽसिद्धेः।
यदपि इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववदित्यादित्रयाणामपि हेतूनां विभागेनोदाहरणप्रदर्शनम्,
(३६४-३) तदप्यसंगतमेव, गुणत्व-कार्यत्वयोर्यथोक्तप्रकारेण पारतन्त्र्यप्रतिपत्तौ हेतुत्वाऽसम्भवतः सर्वस्या-
नुपपत्तिकत्वाद् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

5

एतेन सांख्यपरिकल्पितमपि पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानं निरस्तम् न्यायस्य
समानत्वात्। यदपि ▲'तल्लिङ्ग-लिङ्गपूर्वकम् (सां०का०-५) इत्यनुमानलक्षणं तैरभ्यध्यायि तदपि यद्यस्म-

हो गया। तथा आकाश में शब्द के प्रति समवायिकारणता निरस्त हो जाने से, शब्द में शब्दान्तर के प्रति
असमवायिकारणतारूप हेतुत्व भी निरस्त हो जाता है। सन्तान की सिद्धि के लिये दूरस्थ शब्द के प्रत्यक्ष
की अनुपपत्ति का कथन भी अनुचित है क्योंकि सन्तान के विना भी दूरस्थ शब्दद्रव्य के कर्णसमीप आगमन 10
से उस की प्रत्यक्षता की संगति का प्रतिपादन किया जा चुका है।

यह जो कहा कि - इच्छादि में (३८०-२२) एकद्रव्यत्व एवं कर्मभिन्नत्व (हेतु) प्रत्यक्ष से ही
सिद्ध है, तब तो इच्छादि में गुणत्व के समवाय से गुणरूपता की भी सिद्धि प्रत्यक्ष से ही हो जायेगी,
(क्योंकि आप के मत में एक आत्मद्रव्य में आश्रितत्व प्रत्यक्षगोचर है)। फिर अनुमान का प्रयास (इतनी
लम्बी प्रक्रिया) सब निरर्थक ठहरा। यदि कहें कि - 'गुणत्व का इच्छादि में योग तो प्रत्यक्ष से सिद्ध 15
है किन्तु उस के बल पर इच्छादि में 'गुण' रूपता के व्यवहार के प्रवर्तन के लिये अनुमानप्रयास
सफल रहेगा' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष बोध में न तो कभी इच्छादि का गुणत्व भासता
है, न तो कभी समवाय भासता है। समवाय के निरस्त होने पर यह कथन भी निरस्त हो जाता
है कि 'रूपादि गुणत्व के योगसे 'गुण' स्वरूप हैं' क्योंकि रूपादि में 'गुण' व्यवहार प्रवृत्ति के लिये
आशंकित साधक व्यतिरेकी हेतु गुणत्व का समवाय ही असिद्ध है। 20

यह भी जो कहा था - (३६४-२९) "इच्छादि में पारतन्त्र्यमात्र सिद्धि के लिये गुणत्व या कार्यत्व
'पूर्ववत्' अनुमान हुआ, उन्हीं हेतुओं से आश्रयान्तरबाध के द्वारा विशिष्टाश्रय का अनुमान वह शेषवत्,
तथा अन्यधर्मी में प्रत्यक्ष किन्तु साध्यधर्मी में उस की अप्रत्यक्षता प्रयुक्त अनुमान - सामान्यतोदृष्ट
- इस ढंग से जो तीन हेतुओं का विभागशः उदाहरण प्रदर्शित किया था" - वह सब असंगत
है क्योंकि नैयायिककथित प्रक्रिया असिद्ध होने से इच्छादि में पारतन्त्र्य की सिद्धि करने में गुणत्व 25
या कार्यत्व हेतु सक्षम ही नहीं है। अतः नैयायिक कथित पूरा बयान युक्तिविमुक्त है। अधिक चर्चा
से क्या लाभ ?!

[सांख्यकल्पित पूर्ववत् आदि अनुमान का निषेध - बौद्ध]

जिन युक्तिओं से नैयायिक कथित, पूर्ववत् आदि का निरसन किया है उन युक्तियों से सांख्यकारिका
में कहे गये पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट त्रिविध अनुमान भी निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि वे सभी 30
युक्तियाँ यहाँ समानरूप से लागू होती हैं। तथा सांख्यकारिका (५) में जो ईश्वरकृष्ण ने (सांख्य विद्वानोंने)

▲. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु।।५।। सांख्यकारिका।

त्प्रणीतानुमानलक्षणानुयायि (३३४-४) न व्याख्यायते तदा प्रतिबन्धग्राहकप्रमाणाऽसंभवतः प्रदर्शितन्यायेन नानुमेय-प्रतिपत्त्यङ्गम्। अथानुयायितया, तदैतदेव लक्षणं शब्दान्यत्येऽप्यभ्युपगतमिति न विप्रतिपत्तिः।

[शाबरभाष्यानुमानलक्षणसमीक्षा]

ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम् (शाबर-भाष्य १-१-५) इति शाबरमनुमानलक्षणम्।

- 5 अत्र च यदि दर्शनाऽदर्शननिबन्धनं सम्बन्धग्रहणमाश्रीयते तदा तत्पुत्रत्वादेरप्यनुमानत्वसंभवादतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः। अथ न सहभावदर्शनमात्रात् सम्बन्धावगमः किन्तु विपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणबलात्। न च तदत्रास्तीति नातिव्याप्तिः। ननु किं विपर्यये बाधकप्रमाणम् ? 'अदर्शनम्' इति चेत् ? स्वसम्बन्धिनोऽदर्शनस्यात्रापि सद्भावात् सर्वसम्बन्धिनोऽन्यत्राप्यसिद्धेः, न ह्यर्वाग्दृशा देशकालविप्रकृष्टा साध्यविकला हेतुरहितत्वेन सकलार्था निश्चेतुं शक्याः। अथ कारण-व्यापकानुपलब्धि-विरुद्धविधीनामन्यतमद् बाधकं प्रमाणम्। तर्हि
- 10 कार्यकारण- व्याप्यव्यापकभावविरोधसिद्धौ प्रमाणतस्तत् प्रवर्तते इति कार्यकारणभावादिकः सम्बन्धस्तदवगमनिमित्तं 'वह (अनुमान) लिङ्ग (और) लिङ्गीपूर्वक होता है' ऐसा अनुमान का लक्षण कहा है, वह भी यदि हमने प्रमाणवार्तिक (कारिका ३-१) में 'पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।' ऐसे कहे गये लक्षण (३३४-१८) की व्याख्या के अनुसार ही— व्याख्यात न किया जाय तब तो पूर्वप्रदर्शित युक्तियों के मुताबिक व्याप्तिग्राहक प्रमाण के असम्भव के कारण अनुमेय अर्थ के बोध में समर्थ नहीं हो सकेगा।
- 15 यदि हमारी उक्त व्याख्या के अनुसार ही उस का व्याख्यान अभिमत हो तब तो शब्दभेद के बावजूद भी हमारे पूर्वकथित लक्षण का ही स्वीकार हो गया, अतः उस में कोई विवाद नहीं रहता।

[शाबरभाष्योक्त ज्ञातसम्बन्धमूलक अनुमानव्याख्या की समीक्षा]

- शाबरभाष्य में अनुमान का लक्षण :- (जिन धेनों में व्याप्तिरूप) सम्बन्ध जिस का ज्ञात है उस के एक देश (व्याप्य) के दर्शन से असंनिकृष्ट (परोक्ष) अर्थ की बुद्धि यही अनुमान है। इस
- 20 की समीक्षा में बौद्ध कहते हैं — यदि यहाँ सम्बन्ध का ग्रहण सह दर्शन — अन्यत्र अदर्शन के आधार पर ही माना जाय तो 'वह श्याम है क्योंकि उस का पुत्र है' यहाँ भी अनुमानत्व एवं असद्वहेतु तत्पुत्रत्व में अतिव्याप्ति लक्षणदोष आयेगा। यदि कहें — 'सहास्तित्व के दर्शनमात्र से ही सम्बन्धग्रहण नहीं मानते किन्तु विपर्यय में यानी साध्यशून्य में बाधकप्रमाण का आधार ले कर सम्बन्ध ग्रहण करते हैं अतः बाधकप्रमाण के कारण सम्बन्धग्रहण के अभाव में तत्पुत्रत्व में अतिव्याप्ति नहीं होगी।'
- 25 — तो इस पर बौद्ध कहता है, यहाँ विपर्यय में कौनसा बाधक प्रमाण है ? यदि 'साध्यशून्य में अदर्शन' मात्र बाधक कहा जाय तो वह (श्यामाभावदर्शन) तो स्व = तत्पुत्रत्व के सम्बन्धि अन्य पूर्वजात शिशुओं में विद्यमान है। भूत-भविष्य एवं अन्य देशीय सर्व अग्निविरह सम्बन्धि में तो धूमादि का अदर्शन असिद्ध है। छद्मस्थ (अर्वाग्दर्शी) के लिये ऐसा निश्चय शक्य नहीं है कि साध्यशून्य समस्त परोक्ष देश-काल हेतुशून्य हैं। यदि कहें कि — 'कारणानुपलब्धि, व्यापकानुपलब्धि और विरुद्धविधि इन
- 30 में से किसी भी बाधक प्रमाण से सम्बन्धग्रहण होगा' — तो ऐसा प्रमाण तब प्रवृत्त होगा जब कार्य-कारणभाव, व्याप्यव्यापकभाव एवं विरोध — तीन में से कोई भी सिद्ध रहेगा। फलित यह हुआ कि सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्रहण में कार्यकारणभावादि सम्बन्ध एवं इस सम्बन्ध के बोध के लिये प्रत्यक्षादि

चाध्यक्षादिकं प्रमाणमभ्युपगन्त्वयम्। न चैवमप्यपक्षधर्मस्य हेतोर्गमकत्वं प्राक्प्रदर्शितन्यायेनोपपद्यत इति पक्ष-
धर्मत्वमपरं रूपान्तरं लक्षणं वक्तव्यम्। तथाभ्युपगमे च 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इत्यनेनान्वय-व्यतिरेकयोः संसूचनात्
पक्षधर्मत्वस्य चाध्याहारात् 'त्रिरूपालिङ्गालिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' (▲) इत्येतावदेवास्मदीयमनुमानलक्षणं
भवद्भिरभ्युपगतं भवतीति सौगताः।।

[प्रमाणसङ्ख्या - तत्र सौगतमतम्]

5

अप्रत्यक्षस्य चार्थस्य स्वसाध्येन धर्मिणा च सम्बद्धाद् अन्यतः सामान्याकारेण प्रतिपत्तेः यदप्रत्यक्षार्थ-
विषयं प्रमाणं तदनुमानेऽन्तर्भूतमिति प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे। तथाहि— न परोक्षोऽर्थः स्वत
एव तदाकारोत्पत्त्या प्रतीयते प्रमाणेन तस्याऽपरोक्षत्वप्रसक्तेः। विकल्पमात्रस्य च स्वतन्त्रस्य राज्यादिविकल्पवद-
प्रमाणत्वात् तदप्रतिबद्धस्यावश्यंतया तदव्यभिचाराऽभावात्। न च स्वसाध्येन विनाभूतोऽर्थो गमकः
अतिप्रसक्तेः, धर्मिसम्बन्धानपेक्षस्यापि गमकत्वे प्रत्यासत्तिविकर्षाभावात् सर्वत्र प्रतिपत्तिहेतुर्भवेत्। यच्चैवं 10
विधार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रमाणं तदनुमानमेव, तस्यैवलक्षणत्वात्। तथा च प्रयोगः - यदप्रत्यक्षं प्रमाणं

प्रमाण आवश्यक हैं। सार यह निकला कि इस प्रकार की आवश्यकता को मानने पर ही पूर्वप्रदर्शित
युक्तियों से अपक्षधर्म हेतु की ज्ञापकता का निरसन संगत होगा। अत एव हेतु के लक्षण में रूपान्तर
यानी पक्षधर्मत्वस्वरूप और भी एक अंग मानना पड़ेगा। इस स्थिति में शाबरभाष्य में जो 'ज्ञातसम्बन्धवाले'
ऐसा कहा है उस से हेतु के अन्वय-व्यतिरेक की सूचना एवं पक्षधर्मत्व का अध्याहार समझ लेना 15
होगा। फलतः आखरी निष्कर्ष यही निकलता है कि हमने (बौद्धों) जो अनुमान लक्षण कहा था
(न्या० वि० २-३) 'तीन रूपवाले लिंग से लिंगी का भान अनुमान है' — इतना आपने (मीमांसक ने)
भी स्वीकार लिया है। इस प्रकार बौद्धों की और से अनुमान के लक्षण की चर्चा समाप्त।

[प्रत्यक्ष/अनुमान दो ही प्रमाण - सौगतमत]

प्रत्यक्ष के अलावा और जितने भी प्रमाण हैं उन सभी में अनुमान की तरह एक सर्वसामान्य 20
तत्त्व यह है कि वहाँ सामान्यस्वरूप से परोक्ष अर्थ की प्रतीति अपने से अन्य साध्य एवं धर्मी (उपमानादि)
के आलम्बन से होती है। अनुमान में भी ऐसा ही है, अत एव जितने भी अप्रत्यक्षार्थप्राप्ति प्रमाण
हैं उन सभी का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में हो जाता है। फलतः प्रमाण के दो ही भेद (प्रकार)
सिद्ध होते हैं — प्रत्यक्ष और अनुमान। कैसे यह देखिये — परोक्ष अर्थ अपने आप प्रमाण में स्व
आकार का आधान कर के प्रतीतिप्राप्त हो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि तब उस (अर्थ) की परोक्षता 25
का भंग होगा, अपरोक्षता प्रसक्त होगी। बौद्धमत में प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प होता है जो अर्थ से उत्पन्न
होने से अर्थप्रतिबद्ध होता है। सविकल्प ज्ञान सब अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण अर्थप्रतिबद्ध
(अर्थाकार) नहीं किन्तु अर्थनिरपेक्ष स्वतन्त्र (स्वच्छन्द) आकारवाले होते हैं इस लिये वे अप्रमाण ही
होते हैं। जो अर्थ से अप्रतिबद्ध होते हैं वे अवश्य अर्थ के अव्यभिचार से शून्य होते हैं। अपने
साध्य का विनाभावि (साध्यशून्य में रह जानेवाला) अर्थ कभी भी साध्य का गमक नहीं होता, गमक 30
मानने पर अतिप्रसंग होगा। तथा धर्मी के साथ सम्बन्ध न रखनेवाले अर्थ भी गमक नहीं होते,

▲. तत्र त्रिरूपालिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् (न्यायविन्दु. २-३)

तदनुमानान्तर्भूतम् यथा लिंगबलभावि, अप्रत्यक्षप्रमाणं च शाब्दादिकं प्रमाणान्तरत्वेनाभ्युपगम्यमानम् इति स्वभावहेतुः। यच्च यत्रान्तर्भूतं तस्य न ततो बहिर्भावः यथा प्रसिद्धान्तर्भावस्य क्वचित् कस्यापि, अन्तर्भूतं चेदं सर्वं प्रत्यक्षादन्यत् प्रमाणमनुमाने, इति विरुद्धोपलब्धिः, अन्तर्भाव-बहिर्भावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया विरोधात्।

5 अत एव — “प्रत्यक्षस्याभावविषयत्वविरोधाद् न ततः प्रमाणान्तराभावोऽवसानुं शक्यः। नापि कार्य-स्वभावलक्षणादनुमानात्, कार्यस्वभावयोर्विधिसाधकत्वेनाऽभावसाधने व्यापाराऽनभ्युपगमात्। कारण-व्याप-कानुपलब्ध्योस्तु अत्यन्ताऽसत्तयोपगते प्रमाणान्तरेऽभावसाधकत्वेन व्यापार एव न संगच्छते, अत्यन्तासत्तस्य कार्यत्वेन व्याप्यत्वेन वा कस्यचिदसिद्धेः। तयोश्च कार्य-कारण-व्याप्य-व्यापकभावसिद्धावेव व्यापाराद् विरुद्धविधिरप्यत्राऽसंभवी सहानवस्थानलक्षणस्य विरोधस्याऽत्यन्तासत्यसिद्धेः” () इत्यादि यत् परेणोच्यते

10 यदि उन्हें ज्ञापक माने जाय तो सर्वदेशकालवृत्ति अर्थों का वह ज्ञापक बन बैठेगा क्योंकि धर्मीसम्बन्धनिरपेक्ष अर्थ को प्रत्यासत्ति (संनिकर्ष) या विप्रकर्ष से कुछ नाता रिश्ता नहीं है कुछ लेना-देना नहीं है। धर्मी सम्बन्ध सापेक्ष एवं अपने साध्य का अविनाभूत ऐसे धर्म से, परोक्ष अर्थका भान करानेवाला जो कोई प्रमाण है वह आखिर तो अनुमान ही है, क्योंकि अनुमान का यही तो लक्षण है।

[अप्रत्यक्षप्रमाण का अनुमानान्तर्भावक अनुमानप्रयोग]

15 यहाँ एक प्रयोग देखिये — जो कोई अप्रत्यक्ष प्रमाण है वे सब अनुमानान्तर्भावि हैं जैसे लिंग के आधार से होने वाले (अप्रत्यक्ष) प्रमाण। अन्य प्रमाणरूप से स्वीकृत जो अन्यमतीय शब्द आदि हैं वे भी अप्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं (अत एव वे अनुमानान्तर्भावि होने चाहिये। यह स्वभावहेतुक प्रयोग है। अन्य प्रमाणों के अप्रत्यक्षस्वभाव को यहाँ हेतु किया गया है।) जो जिस में अन्तर्भूत होता है वह उस से बहिर्भूत नहीं होता, जैसे — किसी (पृथ्वी) में प्रसिद्ध अन्तर्भूत वस्तु (मिट्टी) उस (पृथ्वी) से बहिर्भूत नहीं होती। प्रत्यक्षभिन्न प्रमाण भी अनुमान में अन्तर्भूत हैं। (अत एव वे अनुमान से बहिर्भूत नहीं हो सकते।) — यह विरुद्ध (बहिर्भूतत्व से विरुद्ध अन्तर्भूतत्व) की उपलब्धिस्वरूप हेतुप्रयोग है। स्पष्ट है कि परस्पर परिहार स्वरूपवाले होने के कारण अन्तर्भाव का बहिर्भाव से विरोध होता है।

[प्रमाणान्तर के अभावसाधक निश्चय के असंभव का निरसन]

कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भूत है इसी लिये तो अभावविषयत्व बारे में जो कुछ कहा गया है वह निरस्त समझ लेना। कहने वाले ऐसा कहते हैं — “प्रत्यक्ष में अभावविषयत्व का विरोध होने से, (अनुमान भी अभावग्राहक न होने से) अन्य प्रमाण के अभाव का निश्चय अशक्य है। अनुमान का भी अभावग्रहण में कोई योगदान शक्य नहीं, क्योंकि कार्यलक्षणानुमान एवं स्वभाव लक्षण अनुमान से कार्य एवं स्वभाव का ही विधिरूप से ग्रहण हो सकता है न कि अभाव का। अभाव को अत्यन्त असत् स्वरूप से ग्रहण करनेवाले अभावसाधक प्रमाणान्तर के विषय में न तो कारणानुपलब्धि का कुछ योगदान है न तो व्यापकानुपलब्धि का। जो अर्थ (अभाव) अत्यन्त असत् है वह न तो किसी के कार्यरूप से सिद्ध है न व्याप्यरूप से। जब कि कारणानुपलब्धि और व्यापकानुपलब्धि का योगदान तो कार्य-कारणभाव एवं व्याप्यव्यापकभाव सिद्ध होने पर ही शक्य है। विरुद्धविधि अनुमान

तदपास्तं दृष्टव्यम्, यथाप्रदर्शितन्यायेन स्वभावविरुद्धोपलब्धेरत्र व्यापारात्।

स्यादेतत्— भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः अर्थान्तरविषयस्य च तस्याऽसावयुक्तः। न, प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यामन्यस्यार्थस्याभावात्, प्रमेयरहितस्य च प्रमाणस्य प्रामाण्याऽसम्भवात्, प्रमीयतेऽनेनेत्या- गृहीतप्रमेयस्यैव प्रमाणम् इति व्युत्पत्त्या तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। तथाहि— यदविद्यमानप्रमेयं न तत् प्रमाणम् यथा केशोन्दुकादिज्ञानम्, अविद्यमानप्रमेयं च प्रमेयद्वयातिरिक्तविषयतयाऽभ्युपगम्यमानं प्रमाणान्तरमिति 5 कारणानुपलब्धिः, प्रमेयस्य साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रमाणं प्रति कारणत्वात्। तदुक्तम्— ‘नाननुकृतान्वय- व्यतिरेकं कारणम् नाऽकारणं विषयः’ () इति।

न च प्रत्यक्ष-परोक्षातिरिक्तप्रमेयान्तराभावप्रतिपादकप्रमाणान्तराभावादसिद्धो हेतुः—इति वक्तव्यम् अध्यक्षेणैव प्रमेयान्तरविरहप्रतिपादनात्। तद्धि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तदात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति। तदन्यात्मतां च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यदर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत् 10 भी यहाँ (अभाव के बारे में) असंभवी है क्योंकि अत्यन्त असत् अर्थ का किसी के भी साथ सहअनवस्थानरूप विरोध संभव नहीं है।”.... इत्यादि जो कहनेवाले अन्य लोग कहते हैं वह इस लिये निरस्त हो जाता है कि पूर्वप्रदर्शित चर्चा युक्ति के अनुसार अभाव के विषय में स्वभावलिङ्गक एवं विरुद्धोपलब्धिमुलक अनुमान सक्रिय है।

[प्रत्यक्षपरोक्षभिन्न कोई भी अर्थ प्रमेय नहीं]

15

कदाचित् ऐसा सोचे कि — ‘परोक्षविषयक प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ठीक है किन्तु (प्रत्यक्ष-परोक्ष से) अन्य अर्थसंबन्धी प्रमाण का उस में अन्तर्भाव युक्त नहीं है’ — तो यह सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष-परोक्ष के अलावा विश्व में कोई अन्य अर्थ ही नहीं है। अर्थ यानी प्रमेय, प्रमेयशून्य कोई प्रमाण नहीं होता, मतलब वैसे आभासिक प्रमाण में प्रमाणत्व संभव नहीं होता। ‘जिस से प्रमित किया जाय वह प्रमाण’ इस सुविदित व्याख्या के अनुसार प्रमेय का आकलन करनेवाले प्रमाण में 20 ही प्रमाणत्व सुव्यवस्थित घट सकता है। प्रयोग देखिये — जिस का कोई प्रमेय नहीं है वैसे कोई प्रमाण नहीं होता। उदा० असत् अर्थ केशोन्दुकादि का ज्ञान। (प्रत्यक्ष-परोक्ष) दो प्रमेय से अधिक विषयक माने गये प्रमाणान्तर भी प्रमेयशून्य ही है, (अतः केशोन्दुक ज्ञान प्रमाण नहीं है) — यह कारणानुपलब्धि प्रकार का अनुमान है। (प्रमाणत्व प्रयोजक प्रमेय की कारणरूप से अनुपलब्धि)। कोई भी प्रमेय साक्षात् या परम्परया प्रमाण का कारण होता है (जो यहाँ नहीं है।)। कहा है कि ‘अन्वय-व्यतिरेक अननुसारि 25 ‘कारण’ नहीं होता, कारण नहीं होता वह (किसी प्रमाण का) विषय नहीं होता।’ () इति।

[प्रत्यक्षप्रमाण से प्रमेयान्तराभाव की सिद्धि]

शंका :- प्रत्यक्ष-परोक्ष से अधिक अन्य प्रमेय के अभाव का साधक जब कोई अन्य प्रमाण ही नहीं है तब उस को पक्ष बनाकर अविद्यमान प्रमेयता को हेतु भी कैसे बना सकते हैं ? आप का हेतु असिद्ध है।

30

उत्तर :- अन्य प्रमेय के अभाव का साधक कोई प्रमाणान्तर नहीं है ऐसा नहीं — अपि तु प्रत्यक्ष से ही प्रमेयान्तर का अभाव निश्चित है। प्रत्यक्ष प्रमाण संमुखस्थित अर्थ के बल से उत्पन्न होता

- तृतीयप्रकाराभावं च साध्यति, तत्राऽप्रतीयमानस्य सकलस्याऽर्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थापनाद्, अन्यथा तस्य तदन्यात्मताऽव्यवच्छेदे तद्रूपतया परिच्छेदो न भवेत् इति न किञ्चिदध्यक्षणावगतं भवेत्। प्रतिनियतस्वरूपता हि भावानां प्रमाणतो व्यवस्थिता, अन्यथा सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसङ्गतः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिर्भवेत्। सा चेद् न प्रत्यक्षावगता किमन्यद् रूपं तेन तस्यावगतमिति पदार्थस्वरूपावभासिना
- 5 प्रमेयान्तराभावः प्रतिपादित एव।

अनुमानतोऽपि तदभावः प्रतीयत एव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामितरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनात्। प्रयोगश्चात्र—यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था, न तत्र प्रकारान्तरसम्भवः। तद्यथा— पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेन अनीलप्रकारव्यवस्थायाम्। अस्ति च प्रत्यक्ष-परोक्षयोरन्यतरप्रकारव्यवच्छेदेनेतरप्रकारव्यवस्था व्यवच्छिद्यमानप्रकाराऽविषयीकृते सर्वस्मिन् प्रमेये — इति विरुद्धोपलब्धिः। तद-

- 10 है एवं वह उसी अर्थात्मा के साथ नियत प्रतिभास का प्रकाशन करता है इसलिये उसी अर्थात्मा के प्रति 'प्रत्यक्ष' ऐसे व्यवहार का कारण बनता है। साथ साथ उस अर्थात्मा से भिन्न अर्थात्मा का विषयरूप से व्यवच्छेद भी करता है। उस अर्थात्मा से भिन्न समस्त अर्थों को अन्य राशि अन्तर्गत (प्रत्यक्षभिन्न यानी परोक्षराशिअन्तर्गत) जाहीर करता है, उन से (प्रत्यक्ष-परोक्ष से) भिन्न राशि का निषेध भी सिद्ध करता है। इस प्रकार तृतीय प्रकार का अभाव भी सिद्ध करता है। कारण, वहाँ प्रत्यक्ष में अभासमान
- 15 समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष भिन्न परोक्षरूप से निश्चित किया गया है। यदि ऐसा न करे तो, पदार्थ की स्वभिन्नरूपता का व्यवच्छेद न किया जाय तो स्वकीयरूप से स्व का स्पष्ट बोध भी नहीं हो सकेगा, फलतः प्रत्यक्ष के द्वारा (अपने अपने नियत स्वरूप से) कुछ भी भासित ही नहीं होगा। पदार्थों का प्रतिनियत स्वरूप प्रमाण से निश्चित होता है, अप्रमाण से यदि पदार्थस्वरूप निश्चित होने का माना जाय तब तो किसी भी अर्थ के लिये किसी भी शब्दादि का उपयोग मान्य करने को बाध्य
- 20 होना पड़ेगा, तो तत्तदर्थ के लिये तथा तथा शब्दव्यवहार आदि समस्त नियत व्यवहारों का उच्छेद प्रसक्त होगा। अतः पदार्थों की यथार्थस्वरूपता यदि प्रत्यक्ष को अज्ञात रहेगी तो अन्य कौन सा स्वरूप है पदार्थ का जिस को वह ज्ञात करेगा ?! अत एव प्रत्यक्ष जो कि पदार्थस्वरूप अवभासी है उसी से प्रमेयान्तर का अभाव भी सूचित होने में कोई बाध नहीं है।

[अनुमान से भी प्रमेयान्तराभाव की सिद्धि]

- 25 अनुमान से भी प्रमेयान्तर अभाव सुज्ञात किया जा सकता है — दो तत्त्व जब एक-दूसरे के व्यवच्छेद (= भेद) रूप होते हैं तब एक प्रकार के निषेध करने पर अनायास ही दूसरे का विधान प्राप्त हो जाता है। प्रयोग ऐसा है — जहाँ जिस के एक प्रकार का निषेध करने द्वारा उस के अन्य प्रकार का विधान होता है वहाँ तीसरे प्रकार का सम्भव नहीं रहता। उदा० पीतवर्णादि के सम्बन्ध में नीलप्रकारता का निषेध करने द्वारा अनीलप्रकार का विधान होता है (तो वहाँ अनीलप्रकार छोड़
- 30 कर अन्य किसी प्रकार का सम्भव नहीं होता।) प्रत्यक्ष-परोक्ष के सम्बन्ध में भी दो में से एक प्रकार का व्यवच्छेद करने पर दूसरे प्रकार का विधान प्राप्त होता है। निषिध्यमान प्रकार का अविषयीभूत हो ऐसे समस्त प्रमेय के बारे में ऐसी व्यवस्था है। — यह विरुद्धोपलब्धि हेतु हुआ। तथा प्रकार

तत्प्रकारयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्। अतः प्रमेयान्तराभावाद् न प्रमाणान्तरभावः। उक्तं च —
'न प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः। तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते।।' (प्र०वा०२-६३)

[मीमांसकस्य शाब्दप्रमाणान्तरस्थापना]

अत्राह मीमांसकः— 'शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्' (शाबरभाष्य १-१-५) इति वचनात्,
'शब्दादुदेति यद् ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः। ()' 5
इतिलक्षणलक्षितस्य प्रमाणान्तरस्य सद्भावात् कथं द्वे एव प्रमाणे ? न चास्य प्रत्यक्षप्रमाणात्ता
सविकल्पकत्वात्। नाप्यनुमानता, त्रिरूपलिङ्गाऽऽप्रभवत्वात् अनुमानगोचराऽविषयत्वात् च। तदुक्तम् —
(श्लो०वा०शब्दपरि० ९८)।

'तस्मादननुमानत्वं शाब्देऽप्रत्यक्षवद् भवेत्। त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात्।।'

तथाहि— न शब्दस्य पक्षधर्मत्वम् धर्मिणोऽयोगात्। न चार्थस्य, तेन तस्य सम्बन्धाऽसिद्धेः। न 10
चाऽप्रतीतेऽर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः संभविनी। प्रतीते चार्थे न तद्धर्मताप्रतिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी,

और अतथाप्रकार का यह लक्षण है कि वे एक-दूसरे का परिहार कर के रहनेवाले होते हैं — इस प्रकार विरुद्ध की उपलब्धि से अन्य प्रकार का निषेध सिद्ध होने पर प्रमेयान्तर अभाव से प्रमाणान्तर भाव का निषेध सिद्ध होता है। प्रमाणवार्तिक में कहा है (प्र०वा०२-६३) — प्रत्यक्ष और परोक्ष को छोड़ कर प्रमेय के अन्य कोई प्रकार का सम्भव नहीं है, अतः दो प्रकार के प्रमेय की सिद्धि से 15 प्रमाण भी दो सिद्ध होते हैं।

[प्रत्यक्षानुमानभिन्न शब्दप्रमाण की सिद्धि — मीमांसक]

शाब्द के अनुमान में अन्तर्भाव के विरोध में मीमांसक अपना पक्ष दिखाते हैं — शाबरभाष्य में कहा है 'शब्दज्ञान से असन्निकृष्ट (अन्यदेशकालीन) अर्थ की बुद्धि यह शाब्द(प्रमाण) है।' तथा अन्य विद्वानोंने एक श्लोक द्वारा कहा है — 'अप्रत्यक्ष वस्तु का शब्द से जो ज्ञान उदित होता है 20 वह शाब्द है — ऐसा प्रमाणान्तरवादियों का मत है।' इस लक्षण से निर्दिष्ट शाब्दरूप प्रमाणान्तर जब मौजूद है तब 'दो ही प्रमाण' होने का कैसे माना जाय ? शाब्दबोध तो विकल्परूप है, बौद्ध मत विकल्प को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मानते, अतः प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। शाब्दबोध अनुमानरूप भी नहीं है क्योंकि रूपत्रययुक्त लिंग से जन्य नहीं है तथा अनुमान का गोचर उस का विषय भी नहीं है। कहा है (श्लोकवार्तिक में) — 'शाब्द में अप्रत्यक्षता की तरह अननुमानरूपता 25 है क्योंकि तीन रूप नहीं है और तादृश विषय का त्यागी है।' (शाब्द० ९८)

त्रैरूप्य कैसे नहीं है ? देखिये — स्व के अलावा स्व का कोई धर्मि (पक्ष) न होने से शब्द में पक्षधर्मत्व ही नहीं है। अर्थ भी शब्द का धर्मि नहीं है क्योंकि अर्थ के साथ उस का प्रत्यक्षअनुमानप्रेरक सम्बन्ध ही असिद्ध है। शब्दश्रवण के पूर्व में जो अर्थ पूर्णतः अज्ञात है उस के धर्मरूप में शब्द का भान संभवित नहीं है। जो अर्थ पूर्व ज्ञात है उस की भी धर्मरूपता शब्द में हो नहीं सकती, कदाचित् 30 हो तब भी निरुपयोगिनी है क्योंकि उस की शब्द में धर्मरूपता के विना भी अर्थ तो पहले ही ज्ञात

तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः, अन्यथा तस्य तद्धर्मतया प्रतीत्ययोगात्।

भवतु वार्थो धर्मी, तथापि किं तत्र साध्यमिति वक्तव्यम्। 'सामान्यम्' इति चेत् ? न, तस्य धर्मिपरिच्छेदकाले एव सिद्धत्वात् तदपरिच्छेदे धर्मिपरिच्छेदाऽयोगात् 'नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' () इति न्यायात्।

5 न च सामान्यं धर्मी अर्थविशेषस्तत्र साध्यो धर्मः, उक्त दोषानतिक्रमात् विशेषस्य चानन्वयात्। अथ शब्दो धर्मी, 'अर्थवान्' इति साध्यो धर्मः, शब्द एव च हेतुः। न, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्राप्तेः। अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं दोषः। न, शब्दत्वस्याऽगमकत्वात् गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनाऽसिद्धत्वात्। अत एवानुमानतुल्यविषयतापि न शाब्दे संभवति। तदुक्तम्— (श्लो० वा० शब्दपरि० ५५-५६, ६२-६३-६४) "सामान्यविषयत्वं हि पदस्य स्थापयिष्यते।।५५ उ०।।

10 धर्मी[▲] धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम्। न तावदनुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत्।।५६।।
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते।।६२उ०।।"

हो गया है। यदि अर्थ पूर्व ज्ञात नहीं हुआ तब तो शब्द में उस के धर्मरूपता की प्रतीति भी असंभव है।

[शब्द के द्वारा सामान्यादि की अर्थ धर्मी में सिद्धि का व्यर्थ प्रयास]

अरे ! चलो मान लिया कि अर्थ धर्मी है फिर भी उस में क्या सिद्ध करना है यह तो बोलो ?!

15 सामान्य ? (शब्द से सामान्य का बोध होता है तो अनुमान में भी शब्द के माध्यम से सामान्य रूप साध्य, धर्मी अर्थ में बोधित करना है ?) नहीं रे ! वह तो धर्मी जिस काल में ज्ञात हुआ उसी काल में सिद्ध हो चुका है। यदि वह ज्ञात (=सिद्ध) नहीं हुआ तो धर्मी का (सामान्य के धर्मी के रूप में) बोध ही कैसे शक्य होगा ? प्रसिद्ध न्याय है कि 'विशेषण के अज्ञात रहने पर विशेष्य की (विशेष्य = धर्मी के रूप में) बुद्धि नहीं होती।

20 यदि कहें — यहाँ सामान्य को धर्मी बना कर 'वह अर्थविशेषयुक्त है' यह साध्य करेंगे — तो भी वही दोष (— सामान्य (जाति) का बोध व्यक्ति के बोध विना अशक्य है)। तथा अकेले सामान्य का विशेष के साथ अन्वय भी लुप्त हो जायेगा। यदि शब्द को ही धर्मी बना कर 'सार्थकत्व' साध्य धर्म और शब्द को हेतु करे तो धर्मीहेतु एक होने से प्रतिज्ञात अर्थ का एक देश रूप लिङ्ग घट नहीं सकता। यदि शब्द के बदले शब्दत्व को हेतु करें तो यद्यपि प्रतिज्ञार्थैकदेश दोष नहीं होगा
25 फिर भी वह ठीक नहीं है क्योंकि शब्दत्व को अर्थविशेष के साथ अविनाभाव सम्बन्ध न होने से वह गमक नहीं हो सकेगा। यदि गोशब्दत्व को हेतु करें, किन्तु उसका तो आगे चल कर निषेध होनेवाला है (गोशब्दत्व कोई वस्तु ही नहीं है)। अतः वह असिद्ध हो जाता है। जब इस प्रकार शब्द और अनुमान का कोई मेल ही नहीं खाता, तब शाब्द में अनुमानतुल्यविषयता का प्रतिपादन भी असंभव है। श्लोकवार्तिक में शब्दपरिच्छेद में कहा है — (गाथा-५५-५६, ६२-६३-६४)

30 "शब्द सामान्यविषयक है यह स्थापना की जाने वाली है, धर्मविशिष्ट धर्मी लिङ्गी है यह भी निश्चित है। वह तो अनुमान ही नहीं है जो तद्विषय (= लिङ्गीविषयक) नहीं है। प्रश्न :- अर्थ (वाच्यार्थ)वत्त्वरूप से शब्द पक्षतया क्यों नहीं माने ? उत्तर :- वहाँ (शब्द को हेतु करने से) प्रतिज्ञार्थैकदेश

▲. धर्माऽधर्मविशिष्टश्च इति मुद्रित श्लो० वा० पाठः।

प्रतिज्ञार्थकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते। पक्षे धूमविशेषे हि सामान्यं हेतुरिष्यते ॥६३॥
शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते। व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो हेतुश्चैकः प्रसज्यते ॥ इति ॥
शब्दस्य चार्थेन सम्बन्धाभावतो यथा न पक्षधर्मत्वं तथाऽन्वयोऽपि प्रमेयेण व्यापाराभावतोऽसंगत
एव। तदुक्तम्- (श्लो०वा०शब्द०८५ से ८८)

अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते। व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते ॥ 5

यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः। न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः ॥

न तावत्तत्र देशेऽसौ न तत्कालेऽवगम्यते। भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ॥

तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् व्यतिरेकस्य चागतेः। सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते ॥

अन्वयाभावे व्यतिरेकस्याप्यभावः। उक्तं च - 'अन्वयेन विना तस्माद् व्यतिरेकः कथं भवेत् ?'

() इति। तदेवमनुमानलक्षणाभावात् शाब्दं प्रमाणान्तरमेव। 10

[उपमानं प्रमाणान्तरमिति मीमांसकमतम्]

उपमानमपि प्रमाणान्तरम्। तस्य लक्षणम् - ()

दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते। सादृश्योपाधि तत्त्वज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥ यथोक्तम् -

'उपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य' (शाबर० १-१-५) इति।

ही हेतु प्रसक्त होता है (यही दोष है)। (यदि) धूमविशेषात्मक पक्ष में ही सामान्य को हेतु (गमक) 15
किया जाता है किन्तु वैसे शब्दत्व गमक नहीं बन सकता। गोशब्दत्व का भी (गमकत्वरूप से) आगे
निषेध किया जायेगा। अतः विशेषित एक व्यक्ति ही हेतु (रूप से) प्रसक्त होती है।

[शाब्द में अनुमान के लक्षणों का अभाव - मीमांसक]

अर्थ के साथ सम्बन्ध के विरह में जैसे शब्द पक्षधर्म नहीं बन सकता वैसे ही प्रमेय के प्रति
उस का कुछ भी व्यापार न होने से अर्थ के साथ अन्वय (व्याप्ति) भी असंगत ही है। श्लोकवार्तिक 20
में कहा है (शब्द० ८५ से ८८) "शब्द का प्रमेय के साथ अन्वय अनिरूपित है। किसी भी वस्तु
के (प्रमेय के साथ) व्यापार के जरिये ही अन्वेतृत्व (= अन्वय की) सत्ता के साथ स्फुट अन्वय
है, किन्तु 'जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ है' ऐसा निश्चय नहीं है। और शब्द के देश में एवं शब्द के
काल में वह (अर्थ) ज्ञात नहीं होता। 'नित्य और व्यापक होने के कारण नहीं होता' ऐसा यदि
कहें तो यह कथन सभी अर्थों के प्रति समान है। शब्द तो सभी अर्थों के प्रति दृष्ट साधारण होने 25
से, व्यतिरेक (कहीं भी) न दिखने से सभी शब्दों से सभी अर्थों की प्रतीति प्रसक्त होगी।"

तात्पर्य, अन्वय नहीं बैठता इस लिये 'अर्थ के विना शब्द का भी न होना' ऐसा व्यतिरेक
भी नहीं हो सकता। कहा है - इस हेतु से, अन्वय के विना व्यतिरेक भी कैसे हो सकता है ?

निष्कर्ष, शाब्द में अनुमान का लक्षण संगत न होने से शाब्द प्रमाणान्तर ही है यह सिद्ध होता है।

[उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण - मीमांसक]

30

मीमांसक कहते हैं - सिर्फ शाब्द नहीं, उपमान भी प्रमाणान्तर है। उस का यह लक्षण कहा
है - 'दृश्यमान वस्तु से अन्य सम्बन्धि जो सादृश्यमूलक विज्ञान उत्पन्न होता है, तत्त्वविद् जनों ने

अस्यायमर्थः — येन प्रतिपत्त्रा गौरुपलब्धो न गवयः, न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवयः' इति श्रुतम् तस्याटव्यां पर्यटतः गवयदर्शने प्रथमे उपजाते परोक्षगवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौः' इति तदुपमानमिति। तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः, तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्। सादृश्यं च वस्तुभूतमेव। यदाह— (श्लो०वा०उपमान०श्लो० १८)

- 5 सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमवबोधितुम्। भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्॥
अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तुतया प्रामाण्यमुपपन्नम् यतोऽत्र गवयविषयेण प्रत्यक्षेण गवय एव विषयी-
कृतो न पुनरसन्निहितोऽपि सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्। यदपि तस्य पूर्वं 'गौः' इति
प्रत्यक्षमभूत् तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम् ? तदेवं 'गवयसदृशो
गौः' इति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तु परोक्षे गवि गवयदर्शनात् सादृश्यज्ञानम्। तदुक्तम् — (श्लो०
10 वा० उप० श्लो० ३७ तः ३९)
तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणता॥ इति॥

- उसे 'उपमान' कहा है। शाबरभाष्य में कहा है — 'असन्निकृष्ट अर्थ में सादृश्य के प्रभाव से जो बुद्धि
15 पैदा होती है वह उपमान है, जैसे गवय का दर्शन गोस्मरण की।' इस की स्पष्टता यह है — जिस
दृष्टाने गाय को देखा है, गवय को नहीं देखा, न तो किसी 'गवय गौ जैसा होता है' ऐसे अतिदेशवाक्य
को सुना है — ऐसा आदमी कभी अरण्य में अटन करता था तब पहली बार गवय को देखा, तब
गाय तो परोक्ष है लेकिन उस में जो सादृश्यबोध हुआ 'इस के सरिखी गाय है' — यही उपमान
प्रमाण है। इस का विषय है सादृश्यविशिष्ट परोक्ष गाय अथवा परोक्षगायविशेषित सादृश्य। सादृश्य
20 भी वस्तुभूत पदार्थ है। श्लोकवाक्यिक (उपमान० श्लो० १८) में कहा है — 'सादृश्य के वस्तुत्व का
निषेध नहीं हो सकता, अन्य जातिवाले का अनेक उपांगो से समानता का योग ही सादृश्य है।'

[उपमान के प्रामाण्य का समर्थन-मीमांसक]

- यह उपमानप्रमाण अनधिगतार्थाधिगन्तुत्वविशिष्ट होने से उस का प्रामाण्य अक्षुण्ण है। कारण,
गवयसम्बन्धि प्रत्यक्ष सिर्फ संनिहित गवय को ही विषय करता है, सादृश्यविशिष्ट गौ को या गौविशिष्ट
25 सादृश्य को नहीं, क्योंकि वह असंनिहित है। वह जो पहले 'गौ' ऐसा गाय का प्रत्यक्ष हुआ था
उस के लिये गवय तो परोक्ष ही था, फिर उस वक्त गाय में गवयप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान होगा कैसे ?
तो इस प्रकार पहले 'गाय गवयसदृश है' ऐसा बोध अशक्य होने से परोक्ष गाय में गवय के दर्शन
से हुआ सादृश्य ज्ञान अनधिगतार्थाधिगन्तु होने से प्रमाणान्तर सिद्ध होता है। श्लो०वा०में कहा है —
इस हेतु से, सादृश्य से विशेषित स्मर्यमाण गौ उपमान (प्रमाण) का प्रमेय (गोचर) है। अथवा
30 स्मर्यमाण गौ से विशिष्ट सादृश्य उस का प्रमेय है।। गाय स्मृतिगोचर है और सादृश्य प्रत्यक्षदृष्ट
है किन्तु उन दोनों का वैशिष्ट्य अन्य (प्रमाण) से गृहीत न होने से वहाँ उपमान की प्रमाणता है।।

न चेदं प्रत्यक्षम् परोक्षविषयत्वात् सविकल्पत्वाच्च । नाप्यनुमानम् हेत्वभावात् । न च स एव दृश्यमानो गवयविशेषः तद्गतं वा सादृश्यं हेतुः, उभयस्यापि धर्मिणा सह प्रतिबन्धाभावात् । न चाऽप्रतिबद्धो हेतुः, अतिप्रसंगात् । न च गोगतं सादृश्यं गौर्वा हेतुः, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् । न च सादृश्यमात्रं प्राक् प्रमेयेण सम्बद्धं प्रतिपन्नम् । न चान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धम् । तदेवं गवार्थदर्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं सम्बन्धानुस्मरणं चान्तरेण प्रतिपत्तिरूपजायमाना नानु- 5 मानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम् । तदुक्तम् (श्लो० वा० उप० श्लो० ४३ तः ४६) -

न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात् । प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं न धर्मत्वेन गृह्यते ॥
गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धात् गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च पूर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने । सादृश्येन सहैकस्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥ 10

(उदा०) कोई देश प्रत्यक्ष है - अग्नि स्मृतिगोचर है उन के वैशिष्ट्य के विषय में जैसे अनुमान अप्रमाण नहीं है (वैसे उपमान के लिये समझना) ॥ (श्लो० ३७ से ३९)

[प्रत्यक्ष/अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं]

इस उपमानज्ञान का विषय परोक्ष होने से और यह ज्ञान सविकल्पात्मक होने से प्रत्यक्षरूप तो नहीं हो सकता । यह अनुमानरूप भी नहीं है क्योंकि इस में कोई हेतु ही नहीं है । पुरतः दृश्यमान 15 गवयविशेष को या गवयनिष्ठ सादृश्य को हेतु नहीं बना सकते, क्योंकि गोरूप धर्मी के साथ उन दोनों में से एक का भी कोई अविनाभावप्रतिबन्ध नहीं है, प्रतिबन्धहीन वस्तु हेतु नहीं बन सकता, अन्यथा सभी पदार्थ हेतु बन बैठेंगे । गोनिष्ठ सादृश्य या गौ स्वयं हेतु नहीं बन सकते, क्योंकि वे तो प्रतिज्ञान्तर्गतार्थ का एकदेश है । (पहले कई बार यह बात आ गयी है - प्रतिज्ञातार्थैकदेश हेतु नहीं हो सकता ।) गवयनिष्ठ नहीं, गोनिष्ठ नहीं सिर्फ सादृश्यमात्र को हेतु बनाया जाय तो वह 20 भी अनुचित है क्योंकि गवयदर्शन के पहले कभी भी गो रूप प्रमेय में वैसा सादृश्य गृहीत नहीं हुआ । दूसरी बात, (जहाँ धूम वहाँ अग्नि इस प्रकार के) अन्वय के बोध के बिना हेतु कभी भी साध्य का साधक दृष्टिगोचर नहीं हुआ । इस चर्चा के अनुसार कह सकते हैं कि जिस आदमी ने पहले गौ को देखा है अभी गवय को देखता है, उस को न तो सादृश्यविशिष्ट गौधर्मी में पक्षधर्मता का ज्ञान है, न तो सम्बन्ध (अविनाभाव) का स्मरण है, फिर भी जो गौविशिष्टसादृश्य अथवा 25 सादृश्यविशिष्ट गौ का भान होता है वह अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता, इस लिये उपमान प्रमाणान्तर है यह सिद्ध होता है । श्लो० वा० उप० श्लो० ४३ से ४६ में कहा गया है -

“पक्षधर्मादि का सम्भव न होने से यह (उपमानज्ञान) अनुमानरूप नहीं है, पहले सादृश्य का प्रमेय के धर्मरूप में ग्रहण हुआ नहीं । गवय में गृहीत सादृश्य गौार्थ का अनुमापक नहीं हो सकता । गोनिष्ठ (सादृश्य) प्रतिज्ञार्थैकदेशरूप होने से लिंगरूप नहीं है । सम्बन्ध के बिना गवय भी गौ का 30 लिंग (ज्ञापक) नहीं बन सकता । पूर्व में (प्रमेय में) सादृश्य उस के अन्वयी के रूप में पूर्व दृष्ट नहीं है । एक अर्थ (गौ) पहले देखा, बाद में अरण्य में दूसरा (गवय) देखा, उसी वक्त सादृश्य से

[उपमानस्य स्वरूपं प्रमाणान्तरत्वं च - नैयायिकमतम्]

नैयायिकास्तु उपमानलक्षणमभिदधति - 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (न्या०सू०१-१-६) इति। अत्र 'उपमानम्' इति लक्ष्यनिर्देशः 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्' इति लक्षणम् 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्' इत्यागमपूर्विका प्रसिद्धिर्दर्शिता। आगमस्तु 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्येवम्, प्रसिद्धेन साधर्म्यं प्रसिद्धं वा साधर्म्यमिति। साधर्म्यप्रसिद्धेः संस्कारवान् पुरुषः कदाचिदरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थं यदा पश्यति तदा तज्ज्ञानादागमाहितसंस्कारप्रबोधः, ततः स्मृतिः 'गौसदृशो गवयः' इत्येवंरूपा, स्मृतिसहायेन्द्रियार्थसंनिकर्षण 'गौसदृशोऽयम्' इति ज्ञानमुत्पाद्यते तच्चेन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वात् प्रत्यक्षफलम् तदेवाऽव्यपदेश्यादिविशेषण- विशिष्टार्थोपलब्धिजनकत्वाद् गौसारूप्यज्ञानमुपमानम्। न च तत्रैव विषये हेयादिज्ञानोत्पादकत्वेनोपमान- प्रमाणताप्रसक्तिः, हेयादिज्ञानस्येन्द्रियसंनिकर्षजत्वात् तज्जनकत्वेनास्य प्रत्यक्षप्रमाणताप्रसक्तेः। न च शब्देन सार्धं यथोक्तमुत्पादयदेतच्छब्दं प्रसज्यते अव्यपदेश्यपदाध्याहारात्। अव्यभिचार्यादिपदानां तु पूर्ववद् व्यवच्छेद्यं दृष्टव्यम्।

युक्त एक अर्थ (गौ) की (उपमान प्रमाणरूप) मति उत्पन्न होती है।।

[नैयायिकमत में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण]

नैयायिकों का उपमान प्रमाण :- न्यायसूत्र में (१-१-६) कहा है 'प्रसिद्धसाधर्म्यं से साध्य का साधन यह उपमान है।' यहाँ 'उपमान' यह लक्ष्य का निर्देश है, शेष अंश 'प्रसिद्धसाधर्म्यं से साध्य का साधन' यह लक्षण का निर्देश है। 'प्रसिद्ध साधर्म्यं' में 'प्रसिद्धि' से यह प्रसिद्धि आगम (आप्तवाक्यअतिदेश) पूर्वक होने का सूचित किया है। आप्तवाक्य है 'जैसा गौ वैसा गवय होता है' इस वाक्य से प्रसिद्ध गौ के साथ साधर्म्य अथवा उस वाक्य से प्रसिद्ध ऐसा साधर्म्य सूचित होता है। उक्त साधर्म्यप्रसिद्धि के संस्कारप्राप्त पुरुष कभी जंगल में पर्यटन करता हुआ गौ के समान अर्थ (गवय) को देखता है। उस अर्थज्ञान से उस को आप्तवाक्य से सिक्त संस्कार का प्रबोधन हुआ। प्रबोधन से 'गौसदृश गवय होता है' यह स्मरण हुआ। अब इस स्मृति से सहकृत इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के द्वारा जो 'यह (गवय) गौसदृश है' ऐसा ज्ञानोत्पादन हुआ वह प्रत्यक्षफल है, क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य है। यही गौसारूप्यज्ञान जो कि प्रत्यक्ष का फल है वही 'उपमान' है क्योंकि अव्यपदेश्यादिविशेषणों से विशिष्ट (सादृश्यविशिष्ट गवयरूप) अर्थोपलब्धि का जनक है। ऐसा नहीं कहना कि - 'इसी सारूप्यज्ञान में उपमान प्रमाणत्व की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह स्वविषय में हेयादिबुद्धि रूप प्रमितिफल का उत्पादक है।' - क्योंकि तब तो हेयादिज्ञानजनकत्व के कारण तो उस में प्रत्यक्षप्रमाणत्व की आपत्ति होगी क्योंकि हेयादिज्ञान तो इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य होता है। ऐसा नहीं कहना कि - 'आप्तवाक्य रूप शब्द से सहित उक्त ज्ञान को उत्पन्न करता हुआ तो यह शाब्द प्रमाण प्रसक्त होगा' - क्योंकि यहाँ अव्यपदेश्य (शब्दोल्लेखरहित) पद का अध्याहार है। इस अध्याहृत 'अव्यपदेश्य' पद से ही शाब्द की निवृत्ति हो जाती है। साथ में अव्यभिचारि इत्यादि विशेषण भी यहाँ अपने अपने व्यावर्त्य की निवृत्ति करेंगे - यह भी पूर्ववत् जान लेना।

नन्वेवमप्यनुमाने प्रसङ्गः तस्य यथोक्तफलजनकत्वात् । न, अविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकस्य परामर्श-
ज्ञानस्य विशिष्टफलजनकत्वेनाऽनुमानत्वात् । न चाधिकृतज्ञानमविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकम् गोसदृशस्य
गवयशब्दवाच्यत्वेनाऽन्यस्याऽप्रसिद्धत्वात् । “गोसदृशस्य गवयशब्दः संज्ञा’ इत्यागमात् प्रतीतिः” — इति
चेत् ? न, तस्य सन्निधीयमानगोसदृशपिण्डविषयत्वेनाऽप्युपपत्तेः । निश्चितश्चान्वयः साध्यप्रतिपत्त्यङ्गम् ।
न च तदोपलभ्यमानाद् गोसदृशपिण्डाद् व्यतिरिक्तगोसदृशसद्भावनिश्चायकं प्रमाणमस्ति । न चात्र व्यतिरेक्यपि 5
हेतुः समस्ति सपक्षाऽसत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाभावात् । अतो नाऽविनाभावसम्बन्धानुस्मृतिः । व्याप्तिरहितेऽपि
चागमे ‘गोसदृशो गवयः’ इति सकृदुच्चारिते उत्तरकालं गोसदृशपदार्थदर्शनात् ‘अयं स गवयशब्दवाच्यः’
इति प्रतिपत्तिर्भवतीति नानुमानमेतत् । संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानं त्यागमिकं न भवत्येव शब्दस्य तज्जनकस्य
तदाऽभावात् । शब्दजनितं च शाब्दं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् ।

‘प्राक् शब्दप्रतीतत्वात् शाब्दम्’ इति चेत् ? नन्वनुमानस्याप्येवमभावप्रसक्तिः अग्निसामान्यस्य प्राक् 10

[अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव नहीं]

शंका :- शाब्द में नहीं तो भी अनुमान में अतिप्रसंग है, क्योंकि वह भी गोसादृश्यज्ञानफल का जनक
है। उत्तर :- नहीं, अनुमान तो वही है जो अविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वक परामर्शज्ञान द्वारा विशिष्ट
फलजनक होता है। अधिकृत उपमानज्ञान अविनाभावसम्बन्धस्मृति पूर्वक नहीं होता। कारण यह है कि
व्याप्तिग्रहण के लिये उदा० चाहिये वह तो है नहीं, अर्थात् गवयशब्दवाच्य अन्य कोई गोसदृश प्रसिद्ध 15
ही नहीं है। यदि कहें कि — ‘आप्तवाक्य से यह पता चल सकता है कि ‘गवय शब्द गोसदृश की संज्ञा
है’ — तो ऐसा शक्य नहीं, क्योंकि ऐसा संज्ञाज्ञान तो पुरोवर्ती सनिहित अन्य किसी गोसदृश पिण्ड
(गर्दभादि) के विषय में भी हो सकता है, जरूरी नहीं है कि वह संज्ञाज्ञान ‘गवय’ के विषय में ही हो।
यह ज्ञातव्य है कि निश्चित व्याप्ति ही साध्योपलब्धि का उपाय है, संज्ञाज्ञानकाल अनन्तर तत्काल
उपलब्धिविषय जो गोसदृशपिण्ड है (गर्दभादि) उस के अतिरिक्त भी कोई गोसदृश पशु है या नहीं उस 20
का निश्चायक प्रमाण तो है नहीं, अतः अन्वय व्याप्ति ग्रहण सम्भव न होने से अनुमान असम्भव है।

व्यतिरेकी हेतु भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जब तक सपक्ष में उस हेतु के असत्त्व का साधक
कोई ठोस प्रमाण न मिले तब तक ‘व्यतिरेकी’ हेतु को अवकाश कैसे होगा ? फलित यही है कि
अविनाभावसम्बन्ध का स्मरण वहाँ शक्य नहीं है अतः अनुमान असम्भव है। यह तो सर्वविदित है
कि व्याप्ति के विना भी, ‘गवय गोतुल्य होता है’ ऐसे एक बार आप्तवाक्य का श्रवण होने के बाद 25
गोसदृशपिण्ड का दर्शन होवे तो ‘यह वो गवयशब्दवाच्य है’ ऐसा भान हो ही जाता है; वह कोई
अनुमान नहीं है। यह भी ज्ञातव्य है कि संज्ञा-संज्ञीसम्बन्धज्ञानरूप उपमान ज्ञान आप्तवाक्यश्रवणमात्र
से नहीं होता (उस के बाद तादृशपिण्ड के दर्शन से होता है।) क्योंकि उस वक्त तथाप्रकार का ज्ञानजनक
शब्द उपलब्ध नहीं है, जब कि शाब्दप्रमाण भी वही है जो शब्द से जनित हो (यहाँ शब्दमात्रजनित
न होने से यह उपमानज्ञान शाब्दबोध नहीं है।) 30

[उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं — नैयायिक]

‘उपमान शब्दजनित न हो फिर भी उपमान के पूर्व उपमान का विषय शब्द से प्रतीत ही है’

प्रत्यक्षेण प्रतीतत्वात्। न ह्यप्रतीते महानसादावग्निसामान्येऽनुमानप्रवृत्तिरिति अप्रतीतार्थाप्रतिपादकत्वादानुमानं न प्रमाणं भवेत्। न च विशिष्टदेशाद्यवच्छेदसाधकत्वेनास्य प्रामाण्यम् इतरत्रापि समानत्वात्। तथाहि— सन्निधीयमानपिण्डविषयत्वेन स्वप्रतिपाद्यमिदं प्रतिपादयति आगमस्त्वसंनिहितपिण्डविषयत्वेन। न चागमात् संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धः प्रतीयते, ततः सारूप्यमात्रप्रतीतेः। यत्र च शब्दस्यैव साधकतमत्वं तदेव शाब्दफलम्, न च विप्रतिपत्त्यधिकरणे संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञाने एतत् समस्ति। प्रत्यक्षफलं तु न भवत्येवैतत् संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धस्येन्द्रियेणाऽसंनिकर्षात्। तदसंनिकर्षश्चेन्द्रियाऽविषयत्वात् तस्य। तदेवं संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपं फलं यतः समुपजायते तदुपमानम्। आह च सूत्रकारः— 'साध्यसाधनम्' (न्या०सू०१-१-६) साध्यं = विशिष्टं फलम् तस्य साधनं = जनकं यत् तदुपमानम्। एवं सारूप्यज्ञानवत् सारूप्यस्याप्युपमानत्वं न पुनः संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य, फलाभावात्। न च हेयादिज्ञानमस्य फलं प्रत्यक्षादिफलत्वात्। तथाहि— हेयादिज्ञानं

- 10 एसा तर्क करना ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान के पूर्व अग्निसामान्य प्रत्यक्ष से प्रतीत होने से अनुमान भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठेगा। क्या भोजनगृह में अग्निसामान्य की जिस को प्रत्यक्षप्रतीति कभी नहीं हुई उस को कभी अनुमान होगा ? जब पूर्व में प्रत्यक्ष प्रतीति जरूरी है तब कह सकते हैं कि अनुमान भी अप्रतीत अर्थ का प्रतिपादक न होने से प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि — 'पूर्व में प्रत्यक्ष प्रतीत होने पर भी अनुमान के द्वारा प्रतिनियत देश-काल विशिष्ट
- 15 अग्नि का साधक होने से अनुमान प्रमाण है' — तो उपमान में भी यह समाधान समान है। देखिये — आगम (आप्तवाक्य) तो असंनिहितपिण्ड का निर्देश करता है जब कि उपमान तो संनिधानवर्ति अपने विषय का निरूपण (= निर्देश) करता है। आगम से तो सिर्फ सारूप्य मात्र ही प्रतीत होता है, संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। जिस बोध के प्रति शब्द ही साधकतम है वही बोध शाब्दफल माना जायेगा। प्रस्तुत में विवादापन्न बोध यानी संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञान के प्रति शब्द साधकतम नहीं
- 20 है। तथा, संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धज्ञान के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष न होने से इस के बोध को प्रत्यक्षफल तो कतई नहीं माना जा सकता, इन्द्रियसंनिकर्ष न होने का कारण भी यही है कि वह सम्बन्ध इन्द्रियगोचर नहीं है। निष्कर्ष, जिस के द्वारा संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धबोधरूप फल निपजता है वह 'उपमान' है। सूत्रकारने न्यायसूत्र (१-१-६) में 'साध्यसाधनम्' कह कर यही निर्दिष्ट किया है। साध्य यानी विशिष्ट फल (संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धबोध), उस का जो जनक है वह उपमान है — यह सूत्र का भावार्थ है।
- 25 यहाँ ज्ञातव्य है कि संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध बोध उपमानफल है न कि उपमान। उपमान तो सारूप्यज्ञान है क्योंकि सं०सं०सं०ज्ञान उस का फल है। सं०सं०सं० ज्ञान का आगे कोई फल ज्ञान नहीं है इस लिये उस को 'उपमान' नहीं कह सकते। इतना विशेष है कि सारूप्यज्ञान जैसे सं०सं०सम्बन्ध बोध फल को निपजता है वैसे सारूप्य भी उस को निपजाता है अतः उसे भी 'उपमान' कहना न्याययुक्त है। यह कहना कि — 'सं०सं०सं० बोध का हेयादिज्ञान फल मान कर सं०बोध को भी 'उपमान' क्यों
- 30 न माना जाय' — तो यह नहीं हो सकता क्योंकि हेयादि ज्ञान तो प्रत्यक्षादि का भी फल है। देखिये— हेयादि ज्ञान का विषय गौ या गवय पिण्ड है, पिण्डविषयक ज्ञान तो इन्द्रिय-पिण्ड संनिकर्ष से निपजता

पिण्डविषयं तच्चेन्द्रियार्थसंनिकर्षादुपजायते यथा प्रत्यक्षफलमनुमानं विशिष्टफलजनकत्वात्। एवं प्रमाणान्तरानिष्पाद्यविशिष्टफलजनकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानम्।

[अर्थापत्तिः प्रमाणान्तरम् - मीमांसकमतम्]

अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्। यतस्तस्या लक्षणम्— 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना' (शा०भा०१-१-५)। कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यवचनं विभजन्नाह—(श्लो०वा०अर्था०१-२) 5

'प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयत्यन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहता।।

दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा। प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा।।'

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः यथाग्नेर्दाहकत्वम्। तत्र 'प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपलभ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते। न हि शक्तिरध्यक्षपरिच्छेद्या। नाप्यनुमानादिसमधिगम्या, अप्रत्यक्षेणाऽर्थेन शक्तिलक्षणेन कस्यचि- 10
दर्थस्य सम्बन्धाऽसिद्धेः। 'अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिः यथादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमाने ततो गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्यावसीयते। 'उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिः यथा 'गवयवद् गौः' इत्युक्तेरर्थाद्

है। तो जैसे विशिष्टफलजनक होने से प्रत्यक्षफलरूप अनुमान प्रमाणान्तर है वैसे ही अन्यप्रमाण से असाध्य ऐसे विशिष्टफल का (सं०सं०सं० बोध का) जनक होने से 'उपमान' भी प्रमाणान्तर सिद्ध हुआ। नैयायिक वक्तव्यता समाप्त। 15

[अर्थापत्ति भी स्वतन्त्र प्रमाण-मीमांसकमत]

अर्थापत्ति भी स्वतन्त्र प्रमाण है। शाबरभाष्य में उस का यह लक्षण है — दृष्ट या श्रुत अर्थ जिस के विना उपपन्न नहीं है अतः (अन्य) अदृष्ट अर्थ की कल्पना की जाय यह प्रमाण अर्थापत्ति है। इसी भाष्यवचन का विभागप्रदर्शन करनेवाले कुमारिल कहते हैं — (श्लो०वा०अर्था०श्लो०१-२) 'षट् प्रमाणों से ज्ञात अर्थ अन्य के विना (अनुपपद्यमान होने से) संगत नहीं होता तब अन्य अदृष्ट (अर्थ) 20 की कल्पना करायेगा — यही अर्थापत्ति कही गयी है।। शाबरभाष्य में 'दृष्ट' लिखने पर भी 'श्रुत' क्यों लिखा है उस का स्पष्टीकरण श्लो.२ में किया है — 'दृष्ट का मतलब पाँच प्रमाणों से। श्रुतजन्य (अर्थापत्ति) का उन से भिन्न निर्देश किया है। प्रमाणग्राहिणीत्व के भेद से दृष्टार्थापत्तियों से विलक्षणता देखाने के लिये श्रुतार्थापत्ति का पृथग्रहण किया है।।

भाव यह है कि पाँच प्रमाणों प्रत्यक्षादि से प्रसिद्ध ऐसा जो अर्थ जिस अन्य अर्थ के विना 25 उपपन्न नहीं हो सकता उस अर्थ की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है जैसे अग्नि में दाहकत्व शक्ति की कल्पना। स्पष्टता :- १, प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति :- प्रत्यक्ष से अग्नि के उष्ण स्पर्श को छुने पर अग्नि में दाहकशक्तियोग अर्थापत्ति से कल्पित होता है। यहाँ शक्ति प्रत्यक्षगोचर तो नहीं है, अनुमानादिगोचर भी इस लिये नहीं है कि अप्रत्यक्षशक्तिरूप अर्थ के साथ किसी भी अर्थ का सम्बन्ध (व्याप्ति) सिद्ध नहीं है। २, अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति :- उदा० देवदत्त की तरह सूरज की स्थानान्तरप्राप्ति से सूर्यगति 30 का अनुमान होने पर, अनुमितगति से सूर्य में गमनशक्तियोग अर्थापत्ति से ज्ञात होता है।

३-उपमानपूर्वक अर्थापत्ति :- 'गवयतुल्य गाय' इस वचन से गाय में वाह-दोहादिशक्तियोग अर्थापत्ति

वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्य प्रतीयते, अन्यथा गोत्वस्यैवाऽयोगात्। शब्दपूर्विकार्थापत्तिः यथा शब्दादर्थप्रतीतौ शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धिः। अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धावर्था-
त्रित्यत्वसिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य सम्बन्धाऽयोगात्। अभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः यथा जीवतो देवदत्तस्य
गृहेऽदर्शनाद् अर्थाद् बहिर्भावः।

- 5 अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते, पञ्चम्यां नित्यता, षष्ठ्यां गृहाद्बहिर्भूतो देवदत्त एव
साध्यत इत्येवं षट्प्रकारा अर्थापत्तिः। अन्ये तु श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरन्ति 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'
इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभोजनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः। गवयोपमितस्य गोः तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिरुप-
मानपूर्विकार्थापत्तिः। तदुक्तम् - (श्लो०वा०अर्था०)

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातात् दाहादहनशक्तिता। वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोगिता।।३।।

- 10 पीनो दिवा न भुङ्क्ते, इत्येवमादिवचः श्रुतौ। रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते।।५१।।
गवयोपमिताया गोः तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता।।४।।

- से प्रतीत होता है, क्योंकि उस शक्ति के विना तो गोत्व का योग भी अनिश्चित हो जायेगा। ४-
शब्दपूर्वक अर्थापत्तिः- उदा० शब्द से अर्थ ज्ञात होने पर अर्थ के साथ सम्बन्ध अर्थतः सिद्ध होता
है। ५-अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति :- पूर्वोक्त अर्थापत्ति से अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध सिद्ध होने पर,
15 शब्द में अर्थतः नित्यत्व भी सिद्ध होगा, क्योंकि अनित्य या पौरुषेयत्व पक्ष में अर्थ के साथ शब्द
का सम्बन्ध ही मेल नहीं खायेगा। ६-अभाव (प्रमाण) पूर्वक अर्थापत्ति :- जीवित देवदत्त की गृह में
अनुपलब्धि (यही अभावप्रमाण, जिस) से अर्थतः उस का गृहबहिर्भाव सिद्ध होता है।

[विविध अर्थापत्तियों के विविध साध्यों की स्पष्टता]

- स्पष्टता :- पहली चार अर्थापत्तियों से शक्ति सिद्ध होती है, पाँचवी से नित्यत्व (शब्द का),
20 तथा छठी से 'देवदत्त का गृह से बहिर्भाव' सिद्ध होता है - इस विधि से अर्थापत्ति के छह प्रकार
है। सूत्र के लक्षण में जो 'दृष्ट या श्रुत' ऐसा लिखा है उस में श्रुत अर्थापत्ति का विवरण अन्य
विद्वान् दूसरी तरह करते हैं - 'तगडा देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य के श्रवण से रात्रिभोजनसूचक
'रात्रि में खाता है' ऐसे वाक्य का स्फुरण होता है - यह है श्रुतार्थापत्ति। तथा गवय से उपमित
(= सदृशीकृत) गौआ में सादृश्यज्ञान की ग्राह्यता (= विषयता) संज्ञक शक्ति (की कल्पना) ही उपमानपूर्विका
25 अर्थापत्ति किसी के मत से मानी गयी है। जैसे कि श्लोकवार्तिक में कुमारिल ने कहा है - (अर्था०श्लो०३-
५१-४-५-८-९)

- 'अर्थापत्ति (प्रकरण) में प्रत्यक्ष से ज्ञात दाह से दहन शक्ति वह्नि में। सूरज की अनुमित गति
से गमनशक्तियोग। तगडा (देवदत्त) दिन में नहीं खाता... इस प्रकार का वचन श्रवण होने पर रात्रिभोजन
का ज्ञान यह श्रुतार्थापत्ति कही जाती है। गवय से उपमित गौआ में सादृश्यज्ञानग्राह्यता। अर्थापत्ति
30 से बोधित (शब्द में) वाचकसामर्थ्य के द्वारा, अभिधान (सामर्थ्य की) सिद्धि के लिये शब्द में नित्यत्व
प्रमेयता (अभिधान की अनुपपत्तिप्रयुक्त अर्थापत्ति से शब्द में वाचकशक्ति की कल्पना, फिर उस की
भी अनुपपत्ति से शब्द में नित्यत्व की कल्पना यह अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति है।) (पाँच) प्रमाण निवृत्ति

अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्यावबोधितात्। शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रमेयता॥५॥
 प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्। गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता॥८॥
 तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्॥९॥... इत्यादि।

इयं च षट्प्रकारापर्यर्थापत्तिर्नाध्यक्षम् अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थविषयत्वात्। अत एव नानुमानम् प्रत्यक्षा-
 वगतप्रतिबद्धलिङ्गप्रभवत्वेन तस्योपवर्णनात्, अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षाऽविषयत्वात्, तेन 5
 सहार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य सम्बन्धाप्रतिपत्तेः, तदैवार्थापत्या ततस्तस्य प्रकल्पनात् प्रमाणान्तरमेवार्थापत्तिः।

[अभावप्रमाणनिरूपणम्— मीमांसकमतम्]

अर्थस्याऽसंनिकृष्टस्य प्रसिद्ध्यर्थं प्रमान्तरम्। प्रमाभावमभावाख्यं वर्णयन्ति तथाऽपरे॥ ()

“अभावोऽपि प्रमाणाभावः ‘नास्ति’ इत्यर्थस्याऽसंनिकृष्टस्य” (शा०भा०१-१-५) इति वचनात्। अन्ये
 पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति — प्रमाण-पञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोक्तोऽभावः, प्रतिषिध्यमानाद् वा 10
 तदन्यज्ञानम् आत्मा वा विषयरूपेणाऽनभिनिवृ(वृ)त्तस्वभाव इति। अनेन चाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटादी-
 नामभावो गम्यते। तदुक्तम्— (श्लो०वा०अभाव०१, ११)

से निश्चित चैत्राभाव से विशिष्ट गृह से चैत्र की बहिर्भावसिद्धि जो यहाँ दर्शायी जाती है वह, अभाव (प्रमाण) से उत्थित ऐसी अन्य अर्थापत्ति लक्षित करना।

छह प्रकारवाली ये अर्थापत्तियाँ एक भी प्रत्यक्षात्मक नहीं हैं, क्योंकि उस का विषय शक्ति आदि 15
 अर्थ अतीन्द्रिय है। प्रत्यक्ष नहीं है। अत एव अनुमानात्मक भी नहीं हो सकती। कारण, अनुमान
 तो प्रत्यक्ष से ज्ञात व्याप्तियुक्त लिंग से निपजनेवाला दिखाया गया है। अर्थापत्ति का विषयभूत अर्थ
 (शक्ति आदि) कभी भी प्रत्यक्षगोचर न होने से उस के साथ अर्थापत्तिप्रेरक अर्थ के (व्याप्तिरूप) सम्बन्ध
 का भान अशक्य होता है। (विना व्याप्तिज्ञान के) उसी काल में (दृष्ट-श्रुत अर्थ ग्रहण काल में) अर्थापत्ति
 के द्वारा उस अर्थ (श्रुत-अर्थ) से उस अर्थ (शक्ति आदि) की कल्पना की जाती है। अत एव अर्थापत्ति 20
 स्वतन्त्र प्रमाण है।

[मीमांसकमतानुसार अभावप्रमाण का निर्देशन]

‘(नास्ति — इस प्रकार जो) असंनिकृष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये प्रमाणभावरूप अभावसंज्ञक प्रमान्तर
 है — ऐसा अन्य (विद्वान्) वर्णन करते हैं।’ शाबरभाष्य का ऐसा वचन है — “असंनिकृष्ट अर्थ का
 ‘नास्ति’ इस प्रकार प्रमाणाभावरूप अभाव (प्रमाण) है।” 25

कुछ अन्य विद्वान् अभावप्रमाण को तीन प्रकार से दिखाते हैं। भाष्य में अभी कहा है तदनुसार
 एक तो प्रमाणपञ्चकाभावस्वरूप अभाव (प्रमाण)। दूसरा, जिस का (पर्युदास नञ् से) प्रतिषेध होता
 है उस से अन्य का (जो विधानात्मक) ज्ञान होता है। तीसरा, कोई ज्ञानविषयक न होने पर, विषयबोधरूप
 से अपरिणतस्वभाववाला आत्मा। इस प्रकार के अभाव प्रमाण से (घटशून्य) भूप्रदेश आदि में घटादि
 का अभाव ज्ञात होता है। श्लो०वा० (अभाव० श्लो० १ और ११) में कहा है — “जिस वस्तु के 30
 बारे में वस्तु के अस्तित्व का भान करने के लिये पाँच प्रमा (पाँच में से एक भी प्रमा) उत्पन्न
 नहीं होती वहाँ अभाव की प्रमाणता है। प्रत्यक्षादि जहाँ प्रवृत्त नहीं होते, अभावप्रमाण वहाँ कहा

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।। प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। सात्मनोऽपरिमाणो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि।।” न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात्, भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात्। तदुक्तम्— (श्लो०वा०अभाव०श्लो०१८)

“न तावदिन्द्रियैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः। भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि।।”

- 5 नाप्यनुमानेनासौ साध्यते हेत्वभावात्। न च प्रदेश एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात्। न चैवमपि हेतुः, प्रतिज्ञार्थैकदेशताप्राप्तेः। न च प्रदेशविशेषो धर्मी तत्सामान्यं हेतु, तस्य घटाभावव्यभिचारात्। न हि सर्वत्र प्रदेशे घटाभावः शक्यः साध्ययितुम्, सघटस्यापि प्रदेशस्य सम्भवात्। अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यते। असदेतत्— साध्य-साधनयोः कस्यचित् सम्बन्धस्याभावात्। तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव। न चाभावस्य तद्विषयस्याभावादभावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या
- 10 वस्तुरूपताऽवसीयते। तदुक्तम् — (श्लो०वा०अभाव० श्लो०७)

न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते।। अभावस्य च प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते। तदुक्तम् (श्लो०वा०अभाव०श्लो०८)

- जाता है, वह आत्मा का (प्रत्यक्षादिरूप से) अपरिणामरूप माना जाय अथवा अन्य वस्तु के विज्ञान रूप माना जाय।।” अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता, क्योंकि उस का अभावविषयत्व
- 15 से विरोध है। इन्द्रियों का संयोग तो सिर्फ भावात्मक वस्तु से ही शक्य है। श्लोकवार्तिक में कहा है (अभाव० श्लो०१८) ‘नास्ति— ऐसी बुद्धि इन्द्रियों से तो नहीं उत्पन्न होती। योग्यताविशिष्ट होने से भावांश के साथ ही इन्द्रिय का संयोग होता है।’

[अनुमान से अभाव की उपलब्धि अशक्य]

- अनुमान से भी अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, हेतु के न होने से। प्रदेश (= अभावाधिकरण)
- 20 को हेतु नहीं बना सकते, क्योंकि उस का ग्रहण तो साध्यधर्म के रूप में है। फिर भी उसको यदि हेतु करें तो प्रतिज्ञार्थैकदेश दूषण प्राप्त है। प्रदेशविशेष को धर्मी कर के प्रदेशसामान्य को हेतु करें तो वह घटाभाव का व्यभिचारी होगा। वह इस प्रकारः- प्रदेश सामान्य तो सर्वत्र है किन्तु सर्व देश में घटाभाव सिद्ध करना अशक्य है क्योंकि कई प्रदेश घटयुक्त भी हो सकते हैं। यदि घटानुपलब्धि को हेतु कर के प्रदेश धर्मि में घटाभाव सिद्ध किया जाय तो वह भी गलत है, क्योंकि साधन को
- 25 साध्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। साध्य-साधन के सम्बन्ध के विना अनुमान हो नहीं सकता। अतः मानना पड़ेगा ‘अभाव प्रमाणान्तर ही है।’ यदि कहें कि — ‘अभाव प्रमाण का विषय ही कोई न होने से प्रमाणान्तरत्व निरर्थक है’ — तो यह निषेधपात्र है क्योंकि प्रागभाव आदि चार प्रकारवाले वस्तुरूप अभाव का अस्तित्व है, ऐसा न मानें तो ‘प्रागभाव सभी कार्यों का कारण है’ इत्यादि विभागपूर्वक जो लोकविदित व्यवहार है उस का उच्छेद हो जायेगा। श्लो०वा० (अभाव०श्लो० ७) में कहा है —
- 30 ‘प्रागभाव आदि भेद से अभाव यदि अस्तित्व में नहीं है तो कारणादिविभाग से व्यवहार भी नहीं हो पायेगा।’ तात्पर्य, अभाव के अस्तित्व के विना प्रागभावादि प्रकारों की उपपत्ति शक्य न होने से, इस अर्थापत्ति से उस की वस्तुरूपता सिद्ध है। श्लो०वा० (अभाव० श्लो०८) में और भी कहा है—

‘न चाऽवस्तुनः एते स्युर्भवास्तेनास्य वस्तुता। कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादि न॥’ इति।
 अनुमानप्रमाणावसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता। यदाह— (श्लो०वा०अभाव०श्लो०९)
 यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तौ यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद् वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्॥ इति।
 अभावश्च चतुर्धा व्यवस्थितः — प्रागभावः प्रध्वंसाभावः इतरेतराभावः अत्यन्ताभावश्चेति। तदाह—
 (श्लो०वा०अभाव०श्लो०२-३-४) क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते॥२॥ 5
 नास्तिता पयसो दधि प्रध्वंसाभावलक्षणम्। गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते॥३॥
 शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः॥ शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते॥४॥
 यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत् तदा प्रनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात्।
 तदुक्तम् — (श्लो०वा०अभाव०श्लो०५-६)
 क्षीरे दधि भवेदेवं दधि क्षीरं घटे पटः। शशे शृंगं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि॥ 10
 अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह। व्योम्नि संस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणता॥ इति।
 न च निरंशभावैकरूपत्वाद् वस्तुनस्तत्स्वरूपप्राहिणाऽध्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य
 चापरस्यासदंशस्य तत्राऽभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुत इति

ये (प्रागभावादि) प्रकार अवस्तु के हो नहीं सकते अतः उस की वस्तुरूपता सिद्ध है। कारणादिभावरूप से यदि (उस का) अस्तित्व ही नहीं है तो कार्यादि का अभाव क्या है ? 15

अथवा अभाव की वस्तुरूपता तो अनुमानप्रमाण से भी सिद्ध है — श्लो०वा०(अभाव० श्लो०९) में कहा है — अथवा, ‘चूँकि अभाव अनुवृत्ति-व्यावृत्ति बुद्धिगोचर अत एव (अभाव) वस्तु है क्योंकि प्रमेय है उदा० गौ आदि — इस (अनुमान) से जान लो!’

अभाव के चार प्रकार हैं १-प्रागभाव, २-प्रध्वंस-अभाव, ३-अन्योन्याभाव, ४-अत्यन्ताभाव। यहाँ श्लो०वा०(अभाव०२-३-४) में उन के ये लक्षण कहे हैं — ‘दूध में जो दही आदि का नास्तिपन है 20 वह प्रागभाव कहलाता है।। दही में जो दूध आदि का नास्तिपन है वह प्रध्वंसरूप अभाव है। गाय में जो अश्वदि का नास्तिपन (भेद) है वह अन्योन्याभाव कहलाता है।। (शश के) शिर के जो निम्न भाग में वृद्धि-कठोरता वर्जित अवयव हैं, वे ही शशशृंगादि के अत्यन्ताभाव है। ‘यदि इन अभावों का निश्चायक कोई अभावसंज्ञक प्रमाण न होता तो ‘यह अभाव — यह भाव’ इत्यादि नियत वस्तुव्यवस्था का उच्छेद ही हो जाता। श्लो०वा०(अभाव० श्लो०५-६) में कहा है — ‘यदि अभाव (प्रमाण) की प्रमाणता 25 न होती तो दूध में दही रह जाता, दही में दूध रह जाता, घट में वस्त्र रह जाता, शश में भी शृंग मिल जाता, पृथ्वी आदि में चैतन्य एवं आत्मा में मूर्तता, जल में सुगन्ध, आग में स्वाद, वायु में रूप-रस-गन्ध, गगन में स्पर्श एवं रूपादि इत्यादि रह जाते।’

ऐसा कहना नहीं कि — “वस्तु निरंश एकमात्र भावरूप होती है, उस के स्वरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष उसे सर्वात्मना गृहीत कर लेता है, प्रत्यक्ष से अगृहीत ऐसा अन्य कोई अंश उस में 30

▲. शशशृंगादिरूपेणेति — शृंगस्य यदसद्रूपं शशमूर्द्धावयवसमवेतं सोऽत्यन्ताभाव उच्यते। इति पार्थसारथि टीका॥

- वक्तव्यम्— यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्याऽसदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः। तदुक्तम्— (श्लो०वा०अभाव०श्लो०१२-१३-१४, १७)
- स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके। वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित् रूपं कैश्चित् कदाचन।।।
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते। चेत्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते।।
- 5 तस्योपकारकत्वेन वर्ततेऽशस्तदेतरः। उभयोरपि संवित्योरुभयानुगमोऽस्ति तु।।
प्रत्यक्षाद्यवतारस्थ भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशो जिघृक्षितः।।
न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाभ्युपगमात्।
उक्तं च— (श्लो०वा०अभाव०श्लो० १९-२०)
- ‘ननु भावादभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च। न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः।।
10 धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते। उद्भवाभिभवात्मत्वाद् ग्रहणं चावतिष्ठते।। इत्यादि।।
तदेवमगृहीतप्रमेयाभावग्राहकत्वात् प्रमाणाभावस्य प्रमाणत्वम् प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावात् प्रमाणान्तरत्वं च व्यवस्थितम्।

- नहीं होता, तब उस के निश्चायक के रूप में प्रवर्तनेवाला अभावसंज्ञक प्रमाण का प्रामाण्य कैसे संगत है ?” — क्योंकि वस्तुमात्र सत्-असत् उभयांशी होती है। प्रत्यक्षादि से सिर्फ उस के सत् अंश का
15 ग्रहण होता है, दूसरे अगृहीत रह जाने वाले असत् अंश के निश्चयार्थ प्रवर्तनेवाले अभावप्रमाण का प्रामाण्य इसी लिये अक्षुण्ण है। श्लो०वा० (अभाव० १२-१३-१४, १७) में कहा है —

[स्व-पर रूप से वस्तुमात्र सद्-असद् उभयस्वरूप]

- ‘वस्तु स्व-पररूपों से हरहमेश सत्-असत् (उभय) आत्मक है उन में से कभी कोई (एक) रूप किन्हीं को ज्ञात होता है। जिस को जब जिस (अंश) में जिज्ञासा और उद्भव होता है उस को
20 अनुभव जाग्रत होता है और (तब) उस (अंश) का व्यवहार होता है। इतर अंश तभी (किसी रूप से उस व्यवहार में) उपकारकरूप से बरतता है। (जब) उभय (अंश से) संवेदन होता है तब उभयरूप से अनुगम होता है। जब प्रत्यक्षादि व्यापृत होते हैं तब भावांश ही गृहीत होता है, अभावांश में (प्रत्यक्षादि का) उद्भव न होने से उस अंश के ग्रहणार्थ (अभावप्रमाण का) व्यापार वांछनीय होता है।।

- यदि कहें — ‘अभावांश भावांश से अभिन्न होने से उस (भावांश) के ग्रहण में उस का (अभावांश
25 का) ग्रहण भी प्राप्त हुआ’ — यह गलत है, क्योंकि दोनों सदंश-असदंश का धर्मी वस्तु एक होने पर भी उन अंशों में हम भेद का स्वीकार करते हैं, अतः एक के ग्रहण में दूसरे के ग्रहण का तर्क अयुक्त है। श्लोकवार्तिक (अभाव० १९-२०) में कहा है —

- शंका :- भाव (अंश) से अभिन्न होने के कारण, उस (असदंश) के साथ भी सम्बन्ध प्राप्त है। उत्तर :- रूपादि की तरह यहाँ भी हम अत्यन्त अभेद होना नहीं मानते हैं।। हमें तो धर्मी
30 का अभेद रहते हुए भी धर्मी का भेद मान्य है। कभी उद्भव (उद्भूतत्व) कभी अभिभव स्वरूपात्मक होने से (एक-एक का) ग्रहण जाग्रत होता है।। इत्यादि।

निष्कर्ष :- उक्त प्रकार से प्रत्यक्षादि से अगृहीत प्रमेयाभाव का ग्राहक होने के कारण (पंच)

[बौद्धमतेन शाब्दादिसमीक्षया मीमांसकादिप्रतिक्षेपः]

अत्र प्रतिविधीयते- यत् तावत् शाब्दस्य त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयाभावाच्चानुमानानन्तर्भावप्रतिपादनमभ्यधायि (३८७-७) तद् युक्तमेव । न ह्यप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावो युक्तः । 'कुतः पुनः शब्दोद्भवस्य ज्ञानस्याऽप्रामाण्यम् ?' शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावात् । न हि शब्दोऽर्थस्य स्वभावः, अत्यन्तभेदात् । नापि कार्यम्, तेन विनापि भावात् । न च तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यतिरिक्तः सम्बन्धो गमकत्वनिबन्धनमस्ति । न च संकेतबलात् वास्तवप्रतिपत्तिशक्तियुक्तानां प्रदीपानाभिवार्थप्रकाशकत्वं संभवति । न च व्यवस्थितैवार्थ-प्रतिपादनयोग्यता संकेतेन शब्दस्याभिष्यज्यत इति वक्तव्यम्, पुरुषेच्छावशादन्यत्रार्थ शब्दस्य समयादप्रवृत्तिप्रसक्तेः । दृश्यते च पुरुषेच्छावशादन्यत्रापि विषये शब्दानां प्रवृत्तिः । न च पुरुषेच्छावृत्तिः समयो वस्तुप्रतिबद्धः, तदभावेऽपि तस्य प्रवृत्तेः । न च संकेतमन्तरेण शब्दस्य वस्तुप्रत्यायकत्वम् संकेताभावप्रसक्तेः । आप्तप्रणीत-शब्दानां पुनरर्थाऽव्यभिचारेऽप्याप्तप्रणीतत्वाऽनिश्चयादेवाऽप्रामाण्यम् न पुनराप्तस्यैवाऽसम्भवात्, तत्सम्भव-बाधकप्रमाणाभावात् । ततो बाह्ये विषये शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रामाण्यमेव न संभवति । पक्षधर्मत्वा-प्रमाणों का अभाव एक स्वतन्त्र प्रमाण है । उस का प्रत्यक्षादि में अन्तर्भाव शक्य न होने से वह प्रमाणान्तर है यह निश्चित होता है ।

[शब्द प्रमाणान्तर नहीं है - बौद्धमत]

अब प्रमाणान्तरत्व का प्रतिक्षेपः - यह जो कहा गया कि (३८७-२३) शाब्द में त्रैरूप्य (पक्षसत्त्वादि) न रहने से, एवं उस का तथाविधविषय भी न होने से अनुमान में शाब्द का अन्तर्भाव नहीं है - यह तो सच्चा ही है । अप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव अयुक्त ही है । 'अरे ! शब्दजन्य ज्ञान अप्रमाण कैसे ?' प्रश्न का उत्तर :- शब्द का अर्थ के साथ प्रतिबन्ध न होने से । शब्द न तो अर्थ का स्वभाव है - अत्यन्त भेद होने से; न तो वह अर्थ का कार्य है क्योंकि अर्थ विना भी शब्द का उद्भव होता है । मतलब, अर्थ का शब्द के साथ न तादात्म्यसंबन्ध है, न तदुत्पत्तिसम्बन्ध है, न तो ज्ञापकताप्रयोजक अन्य कोई सम्बन्ध है । यदि शब्द वस्तुतः अर्थबोधकशक्तियुक्त होते तो प्रदीप की तरह संकेत की सहायता से शब्दों का अर्थप्रकाशकत्व न होता (किन्तु प्रदीपवत् स्वतः होता) ।

[शब्द में अर्थनिरूपणयोग्यता का निषेध]

यदि कहा जाय - शब्दों में अर्थप्रतिपादनयोग्यता सहज अवस्थित है, किन्तु वह संकेत से अभिव्यक्त होती है (इस प्रकार संकेत की सार्थकता है) तो यह अयुक्त है, कारण :- संकेत का ऐसा है कि वह पुरुष की स्वच्छंद इच्छा को अधीन हो कर किसी भी शब्द का किसी भी अर्थ में प्रवर्तन होता है । इसी हेतु से अराजकता फैलेगी, अन्ततः शब्द प्रवृत्ति रुक जायेगी । दिखता है न, पुरुषेच्छा के अधीन प्रसिद्ध अर्थ से अन्य अर्थों में भी शब्द की प्रवृत्ति होती है । पुरुषेच्छा अधीन संकेत भी वस्तु से व्याप्त नहीं होता, बिना वस्तु के भी वह प्रवृत्त होता रहता है । यह भी मान लिया कि संकेत के विना शब्द वस्तुनिश्चायक नहीं होता, क्योंकि तब संकेत निरर्थक ठहरेगा । यह तथ्य मानते हैं कि आप्त (विश्वस्त) प्ररूपित शब्द अर्थव्यभिचारी नहीं होता, किन्तु मुसीबत यह है कि निश्चय कैसे होगा कि ये शब्द आप्तप्ररूपित हैं ? अत एव ही शब्द अप्रमाण है, न कि आप्त कोई पुरुष

द्वयसंभवादनुमानत्वाभावप्रतिपादनं युक्तमेवेति स्थितम्। यत्र तु वक्त्रभिप्रायसूचने प्रामाण्यमस्य तत्रानुमान-
लक्षणयुक्तस्यैव, नान्यादृग्भूतस्येति न प्रमाणान्तरत्वम्।

उपमानस्य त्वपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यमेव न सम्भवति। ननु अस्यापूर्वार्थविषयता प्रागुप-
दर्शितैव। सत्यम्, उपदर्शिता न तु युक्ता। तथाहि — तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं
5 वा सादृश्यमुपदर्शितम् तच्च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणं प्रतिपादितम्। न च सामान्यं तद्योगो वा वस्तु
संभवीति प्रतिपादितम्। तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षविषयतया परैस्तस्येष्टैः कथमुपमानस्य तद्गोचरत्वेनागृहीतार्थग्राहित्वं
प्रामाण्यनिबन्धनं भवेत् ?

सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः — पूर्वं तावद् गो-गवययोर्विषाणित्वादि सादृश्यं गवि प्रत्यक्षतः
प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं 'यदेतद् विषाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तद् गव्यप्युप-
10 लब्धम्' इति स्मरति, तदनन्तरं गवि विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धानं जायते 'अनेन पिण्डेन सदृशो गौः'
इति। एवं च स्मार्त्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ? यदि च गवि प्रत्यक्षेणोभयगतं विषाणित्वादिसादृश्यं
प्राग् न प्रतिपन्नं भवेत्, प्रतिपन्नमपि यदि विस्मृतं भवेत् तदा गवयदर्शने सत्यपि परोक्षगवि नैव

होता ही नहीं इस लिये। आप्त पुरुष की संभावना में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। सारांश, पक्षधर्मत्वादि
का सम्भव न होने से शब्द में अनुमानत्व नहीं रह सकता ऐसा कथन संगत ही है — यह निश्चित है।

15 हाँ, शब्द वक्ता के अभिप्राय से जन्य (तदुत्पत्ति सम्बन्धवाले) होने से वह (शब्द) वक्ता के
अभिप्राय का ज्ञान करा सकता है किन्तु यह ज्ञान अन्य किसी प्रमाणान्तररूप न हो कर अनुमानरूप
ही हो सकता है, क्योंकि यहाँ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने से कार्यलिंगक अनुमान सावकाश है।

[उपमान अपूर्वार्थबोधक न होने से अप्रमाण — बौद्ध]

उपमान का प्रामाण्य असंभव है, क्योंकि अपूर्वार्थग्राही वह नहीं है। 'अरे ! पहले हमने उपमान
20 की अपूर्वार्थग्राहिता का उपदर्शन करा दिया है।' हाँ सच है कि आपने कराया है किन्तु वह अयुक्त
है। देखिये — आपने बताया कि उपमान का विषय सादृश्यविशिष्ट गौआ अथवा गोविशिष्ट सादृश्य
है। किन्तु सादृश्य क्या है वह कहाँ बताया ? सादृश्य तो बहुसामान्यअवयवों का योगरूप ही कहा
गया है। कई बार कह चुके हैं — सामान्य अथवा सामान्य का योग (समवाय) वस्तु ही नहीं है।
कदाचित् सामान्य का स्वीकार करें, फिर भी आप तो उसे प्रत्यक्षविषय मानते हैं, तो वह उपमान
25 का गोचर कैसे होगा ? यदि होगा तो (प्रत्यक्ष से) गृहीतार्थ का ग्रहण होने से प्रामाण्य का मूल
ही गया। सादृश्य ज्ञान का जो क्रम है उस से भी उपमान की प्रमाणान्तरता निर्मूल होती है।

[सादृश्यज्ञान की क्रमबद्धता का निरूपण]

देखिये — पहले तो दृष्टा गौ-गवय का शृंगवत्त्व आदि रूप सादृश्य गौ में प्रत्यक्ष से देखता
है। बाद में गवय का दर्शन होने पर 'यह जो शृंगवत्त्वादि सादृश्य इस पिण्ड में दिखता है वह
30 मैंने गौआ में भी देखा था' ऐसा स्मरण होता है। बाद में गौआ में शृंगवत्त्वादि सादृश्य का अनुसन्धान
होता है — 'इस पिण्ड के सदृश गौ है।' इस ढंग से पुरोवर्त्ति (गवय) पिण्ड के सादृश्य से विशिष्ट
जो गोज्ञान हुआ यह तो स्मृति है, फिर प्रमाणान्तर कैसे ? अथवा, यदि गौआ में प्रत्यक्ष से गो-

सादृश्यज्ञानमुपजायेत। अतो विषाणित्वादि सादृश्यं पूर्वमेव गवि प्रत्यक्षेणावगतमिदानीं गवयदर्शनात् तत्रैव स्मर्यते। तन्न गृहीतग्रहणात् सादृश्यज्ञानं प्रमाणम्।

अथ पूर्वप्रत्यक्षेण गोगतमेव सादृश्यमवगतम्, गवयदर्शनेन तु तद्गतमेव, उभयगतसादृश्यप्रतिपत्तिस्तु गवयदर्शनानन्तरं सादृश्यज्ञाननिबन्धनेति अगृहीतग्राहितया प्रमाणमुपमानम्। असदेतत्— पूर्वमुभयगत-सादृश्याऽप्रतिपत्तौ गवयदर्शनानन्तरमप्यप्रतिपत्तेः तदनुसन्धानप्रतिपत्तेरप्यसम्भवात्। न हि गवयपिण्डदर्शनानन्तरं प्रागप्रतिपन्नतत्सादृश्येऽश्वपिण्डे 'अनेन सदृशोऽश्वः' इति प्रतिपत्तिः कदाचिदपि भवति। तस्मात् प्रागध्य-क्षावगतसादृश्ये प्रतियोगिग्रहणाद् व्यवहारमात्रप्रवृत्तिरेव तदा, प्राक् तदप्रवृत्तिः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् तस्य, भ्रात्रादिव्यवहारवत्। न च तावता प्रामाण्यं युक्तम् प्रमाणानामियत्ताऽभावप्रसक्तेः। एवं च धूमदर्शनात् स्मर्यमाणानिसम्बन्धितयाऽध्यक्षानवगतप्रदेशे तदयोग्यव्यवच्छेदमवगमयन्ती प्रतिपत्तिरुपजायमानानुमितिः प्रमाणां यथा समासादयति, न तथा सादृश्यप्रतिपत्तिः, गवाख्यधर्मिप्रतिपत्तिकाल एव भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य 10

गवय उभयगत विषाणित्वादि सादृश्य पूर्व में नहीं देखा, अथवा देखने पर भी भूल गया है, तो ऐसे पुरुष को गवय का दर्शन होने पर भी, परोक्ष होने से गौआ में सादृश्य का ज्ञान नहीं ही होगा। फलित हुआ कि पहले गो गौआ में शृंगवत्त्वादि सादृश्य प्रत्यक्ष से देखा था वही अब गवय को देखने पर याद आता है। इस प्रकार गृहीतग्राही होने से सादृश्यज्ञान प्रमाण नहीं है।

[पूर्वकालीन गो प्रत्यक्ष से गवयसादृश्यग्रहण की उपपत्ति]

यदि कहा जाय — 'पूर्व प्रत्यक्ष के द्वारा गोनिष्ठ सादृश्य ज्ञात हुआ, गवयप्रत्यक्ष से गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञात हुआ; किन्तु उभय निष्ठ सादृश्य का ग्रहण तो सादृश्यज्ञानमूलक ही होगा। अतः यह उभयनिष्ठ सादृश्य जो अगृहीत है उस का ग्राहि होने से सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण है।' — तो यह गलत है। पहले यदि उभयगत सादृश्य गृहीत नहीं है तो गवयदर्शन के बाद भी वह अज्ञात रह जाने से, उभयानुसन्धान प्रतीति का संभव ही नहीं रहता। गवयदर्शन के बाद पूर्व में अश्व का सादृश्य अगृहीत रहने पर अश्वपिण्ड में 'अश्व उस से सदृश है' ऐसा बोध कदापि नहीं होता। अतः फलित होता है कि उभयगत सादृश्य भी पूर्व प्रत्यक्ष से ही ज्ञात हो चुका है, बाद में तो उस के प्रतियोगी गवय का दर्शन होने पर 'गवय सदृश गो है' इतने व्यवहार की ही प्रवृत्ति होती है। पहले ऐसा व्यवहार न होने का कारण इतना ही है कि यह व्यवहार प्रतियोगि सापेक्ष है जैसे भाई-पुत्रादि का व्यवहार। व्यवहारप्रवृत्ति भले बाद में हो, किन्तु गृहीतग्राही होने से प्रमाण तो नहीं है। यदि व्यवहारमात्र हेतु ज्ञान को अलग प्रमाण मानते जायेंगे तब तो प्रमाणां की संख्या की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। 25

हमारा यह कहना है कि जैसे धूमदर्शन के बाद स्मृतिगोचर अग्नि के सम्बन्धि के रूप में प्रत्यक्ष से अज्ञात ऐसे धर्मी प्रदेश में अग्नि के अभाव का छेद उडाडनेवाली (यानी अग्नि की सत्ता उजागर करनेवाली) अनुमितिरूप प्रतीति का उदय होता है और वह प्रमाणभूत मानी जाती है, वैसा साम्य सादृश्यज्ञान में प्रस्तुत में नहीं है। बहु सामान्यअवयवों के योगरूप सादृश्य की प्रतीति तो गोसंज्ञकधर्मी की प्रतीति के काल में ही पूर्वजात है। इसी लिये श्लो०वा०(उपमान० श्लो०३९) में जो कहा है 'कोई 30

सादृश्यस्य प्रतिपत्तेः। तेन 'प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे' इत्यादि (३९०-९३) वचनमयुक्ततया व्यवस्थितम्।

किञ्च, यदि सादृश्यज्ञानं गृहीतगाहित्वेऽपि व्यवहारमात्रप्रवर्तनात् प्रमाणं तर्हि वैसदृश्यज्ञानमपि सप्तमं प्रमाणं भवेत्। (तदुक्तम्-) दृश्यात् परोक्षे सादृश्यधीः प्रमाणान्तरं यदि। वैधर्म्यमतिरप्येवं प्रमाणं किं न सप्तमम्।। () तथा सोपानमालामाक्रामतः प्रथमाक्रान्तं पश्चादाक्रान्तादीर्घं महद् ह्रस्वं चेत्याद्यनेकं

5 प्रमाणं प्रसक्तमिति कुतः प्रमाणषट्कवादः सङ्गतो भवेत् ? (तदुक्तम्-)

दृश्यमानव्यपेक्षं चेद् दृष्टज्ञानं प्रमान्तरम्। तत्पूर्वमस्मादित्यादि प्रमाणान्तरमिष्यताम्।।

अप्रमाण्ये चाऽस्य पक्षधर्मत्वाद्यभावप्रतिपादनं सिद्धसाधनमेव अप्रमाणस्यानुमानत्वानभ्युपगमात्। यदा च प्रत्यक्षेण प्रतियज्ञपि गवाश्वादी भूयोऽवयवसामान्ययोगं तद्वियोगं वा व्यामूढः सदृशाऽसदृशव्यवहारं न प्रवर्त्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैरूप्यसद्भावादानुमानप्रमाणता समस्त्येव।

10 तथाहि- गवाश्वादी विषाणाद्यवयवसामान्ययोगस्तद्वियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता देश प्रत्यक्ष है.....' (३९९-९९ श्लो० वा०वचन) इत्यादि ये वचन व्यर्थ निश्चित होते हैं।

[वैसदृश्यज्ञान में सप्तमप्रमाणत्वापत्ति]

और एक विपदा यह है — सादृश्यज्ञान गृहीत प्राहि होने पर भी सिर्फ व्यवहारप्रवर्त्तन के जरिये प्रमाण माना जाय, तो वैसदृश्य व्यवहारप्रवर्त्तक वैसदृश्यज्ञान को सातवाँ प्रमाण मानना पडेगा। किसी 15 विद्वान् ने कहा है — 'दृश्य (गवय) के जरिये परोक्ष (गौ में) सादृश्यज्ञान यदि नया प्रमाण है तो इसी तरह वैसदृश्यज्ञान भी सातवाँ प्रमाण क्यों नहीं ?'।। तदुपरांत, जब सीडी चढते समय पहला सोपान चढने के बाद दूसरे का आरोहण करते हैं तब यह जो बुद्धि होती है दूसरे की अपेक्षा पहला सोपान विशाल अथवा दीर्घ अथवा छोटा है — तब इस महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व का ज्ञान भी स्वतन्त्र नया प्रमाण प्रसक्त होगा, तब आप का छः प्रमाणवाद कैसे संगत होगा ?

20 किसी विद्वान ने कहा है — '(पुरः) दृश्यमान (पिण्ड-गवय) सापेक्ष (पूर्व) दृष्ट (गौसादृश्य) का ज्ञान यदि नया प्रमाण है, तो 'इस से यह पूर्व में है' ऐसा जो (दृश्यमान पश्चिमवर्त्तीपिण्ड सापेक्ष) पूर्व (वस्तु) का ज्ञान भी स्वतन्त्र प्रमाण मान लो।। ()' उपमान को अनुमान के रूप में अप्रमाण कहने के लिये पक्षधर्मत्वादि अभाव का निरूपण किया है उस में इष्टापत्ति है। जो अप्रमाण है उस में अनुमानत्व का हमें स्वीकार नहीं है। 'तो क्या उपमान अप्रमाण ही है ?' नहीं, जब मूढमति

25 गौ और अश्वदि में प्रत्यक्षतः बहुसामान्यअवयवयोग को देखता हुआ, अथवा बहुसामान्यावयववियोग को देखता हुआ भी सदृश या विसदृश व्यवहार प्रवर्त्तन में सक्षम नहीं है, तब विषय(गवयादि) दर्शन से उस मूढमति के प्रति विषयि (सादृश्यज्ञान) का व्यवहार सिद्ध किया जाता है, तब त्रिरूपता के विद्यमान होने से अनुमानप्रमाणता मौजूद है। कैसे यह देखिये — (गौ गवयसदृशव्यवहारविषय है, क्योंकि अवयवसामान्य योगी है, जैसे काक में कोकिलसदृशव्यवहार। गौ अश्वविसदृशव्यवहारविषय है

30 क्योंकि अवयवसामान्य वियोगी है, जैसे हिरन में विसदृशव्यवहार।) गो-अश्वदि में विषाणादिअवयव सामान्ययोग अथवा उस का वियोग पूर्वदृष्ट है, अनुमान काल में स्मृतिविषय है, मतलब की है तो सही, इसलिये हेतु असिद्ध नहीं है। दृष्टान्तरूप में तो समस्त वस्तु कही जा सकती है जिस में

हेतोः। प्रवृत्तव्यवहारविषयश्च सर्व एवार्थोऽत्र दृष्टान्तोऽस्तीति नान्वय-व्यतिरेकयोरप्यभावः। ततो 'न चैतस्यानुमानत्वम्' (३९१-७) इत्यादि पक्षधर्मत्वाद्यसंभवप्रतिपादनमसंगतम्, व्यवहारसाधने पक्षधर्मत्वादेः प्रसाधनात्।

[उपमानविषयनैयायिकमतसमीक्षा - बौद्ध]

नैयायिकोपवर्णितमप्युपमानमनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रमाणं न भवति, तथाहि— 'यथा गौस्तथा 5 गवय' इतिवाक्यात् गौसदृशार्थसामान्यस्य गवयशब्दवाच्यताप्रतिपत्तेः। अन्यथा विसदृशमहिषीद्यर्थदर्शनादपि 'अयं स गवयः' इति संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः किं न भवेत् ? तस्माद् यथा कश्चित् 'योऽङ्गदी कुण्डली छत्री स राजा' इति कुतश्चिदुपश्रुत्य अङ्गदादिमदर्थदर्शनात् 'अयं स राजा' इति प्रतिपद्यते; न चासौ प्रतिपत्तिः प्रमाणम् उपदेशवाक्यादेवाङ्गदादिमतोऽर्थस्य 'राज' शब्दवाच्यत्वेन प्रतिपन्नत्वात्। तथेहापि 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्यतिदेशवाक्यात् सम्बन्धमवगत्य गवयदर्शनात् संकेतानुस्मरणे सति 10 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपत्तेरप्रमाणमुपमानम्। यदि पुनरतिदेशवाक्यात् सम्बन्धप्रतिपत्तिर्नाभ्युपगम्यते पश्चादपि 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रत्ययो न स्यात्। तदपरनिमित्ताभावात्, दृश्यते च, तस्माद् गृहीतग्रहणात्रेदं प्रमाणम्।

तत्तद्रूप से प्रवृत्त व्यवहारविषयता हो। अत एव यहाँ अन्वय-व्यतिरेक का अभाव नहीं है। इसलिये, श्लो०वा० (उपमान० ४३) कार ने जो पहले कहा है कि 'पक्षधर्मादि के असम्भव के कारण यह अनुमानरूप 15 नहीं है' इत्यादि (३९१-२८) वह असंगत है क्योंकि व्यवहारसिद्धि के अनुमान में पक्षधर्मत्वादि सिद्ध किये जा चुके हैं।

[उपमानप्रमाणान्तरवादी नैयायिकमत का निरसन]

नैयायिकों के द्वारा उपदर्शित उपमान प्रमाण की व्याख्या प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उस में अज्ञातार्थग्राहिता घट नहीं सकती। कैसे यह देखिये — 'जैसा गौ वैसा गवय' इस वाक्य से ही (गवय 20 अदृष्ट होने पर भी) गौसदृशार्थसामान्य में गवयशब्दवाच्यत्व ज्ञात हो जाता है। यदि 'ना' बोले तो विसदृश महिषी आदि अर्थ के दर्शन से भी (महिषी आदि में) 'यह वो गवय है' ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धभान क्यों नहीं हो जाता ? (क्यों सदृश अर्थ दर्शन से ही होता है ? क्योंकि पहले वह गृहीत है इस लिये।) यही कारण है कि — जैसे कोई पुरुष 'छत्रवाला, अंगदवाला, कुण्डलवाला जो होता है वह राजा है' ऐसा कहीं पर सुन आया, बाद में अङ्गदादि वाले अर्थ के दर्शन से 25 'यह वो राजा है' ऐसा बोध करता है। यह बोध इसलिये अप्रमाण है, क्योंकि पूर्वश्रुत उपदेशवाक्य से ही अङ्गदादिवाले अर्थ में 'राज' शब्दवाच्यत्व की प्रतीति हो चुकी है। मतलब कि गृहीतग्राहि है।

इसी प्रकार यहाँ 'जैसा गौ वैसा गवय' इस अतिदेशवाक्य से भी गवय के साथ गवयपद का सम्बन्ध जान कर गवय के दर्शन के बाद पूर्वगृहीत संकेतसम्बन्ध का पुनः स्मरण होने पर, 'यह वो गवयशब्दवाच्य अर्थ है' ऐसा जो भान होगा वह गृहीतग्राहि हो जाने से नैयायिक का उपमान 30 अप्रमाण है। यदि कहें — पूर्वश्रुत अतिदेशवाक्य से संकेतसम्बन्ध का भान नहीं हुआ — तो समझ लो कि गवयदर्शन के बाद भी 'यह वो गवयशब्द का वाच्य है' ऐसा भान नहीं होगा, क्योंकि यहाँ कोई नया उपाय तो उपस्थित नहीं हुआ। किन्तु गवयदर्शन के बाद वह ज्ञान (स्मरण) होता तो

अथातिदेशवाक्यात् पूर्वं गोसदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यता सामान्येन प्रतीता, गवयदर्शनानन्तरं तु गवयविशेषं तच्छब्दवाच्यत्वेन पूर्वमप्रतीतं प्रतिपद्यते इति न गृहीतग्राहिता। असदेतत् — सनिहितगवय-विशेषविषयस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षतयोपमानत्वानुपपत्तेः। गवयदर्शनोत्तरकालभावि तु 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति यद् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षबलोत्पन्नत्वात् स्मृतिरेव, न प्रमाणम्।

5 किञ्च, गवयविशेषस्य गवयशब्दवाच्यता यद्यतिदेशवाक्याद् न प्रतिपन्ना, कथं तर्हि गवयविशेषदर्शने उपजातेऽकस्मादस्य तच्छब्दवाच्यतां प्रतिपद्यते ? यस्यैवार्थस्य सम्बन्धग्रहणकाले येन सह सम्बन्धोऽनुभूतस्तस्यैवार्थस्य तेन सह सम्बन्धे तच्छब्दवाच्यता कालान्तरेऽपि दृश्यते। ततः सामान्येन संकेतकाल एव सम्बन्धः प्रतीतः, पश्चाद् गवयदर्शन उपजाते संकेतमनुस्मृत्य 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

10 एतेन- उपयुक्तोपमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे सति। विशिष्टविषयत्वेन सम्बन्धं प्रतिपद्यते।। ()
इत्यपि निरस्तम्, विशेषस्य संकेतकालानुभूतस्य व्यवहारकालानुगमादवाच्यत्वाच्च। यश्च शब्दप्रभवप्रतिपत्तावर्थः प्रतिभाति स एव शब्दवाच्यः। न च विशेषस्तत्र प्रतिभाति अक्षज्ञाने इव है (तो पहले भी वह हुआ ही होगा) इस लिये गृहीतग्राहि हो जाने से प्रमाण नहीं है।

[गवयविशेष में गवयशब्दवाच्यता की प्रतीति अगृहीत नहीं है]

15 यदि कहा जाय— 'अतिदेशवाक्य के द्वारा पहले गोसदृश अर्थ में गवयशब्दवाच्यत्व गृहीत है यह कहना ठिक है, किन्तु वह सामान्यतो गृहीत है, किन्तु गवयदर्शन के पहले गवय विशेष में गवयशब्दवाच्यता गृहीत नहीं है वह गवय दर्शन बाद ही अकस्मात् गृहीत होती है। अतः यहाँ विशेषव्यक्ति में गवयशब्दवाच्यता गृहीत न होने से उस को ग्रहण करनेवाला उपमान अप्रमाण है' — तो यह गलत है, संमुखवर्ती गवयविशेषविषयक विज्ञान तो प्रत्यक्ष है, उस में उपमान नहीं लगता। गवयदर्शन के बाद होने वाला 'यह वो गवयशब्दवाच्य अर्थ है' ऐसा जो ज्ञान है वह प्रत्यक्षबलात् उत्पन्न होने से स्मृतिरूप है, स्मृतिज्ञान गृहीतग्राहि होने से अप्रमाण होता है।

दूसरी बात — यदि गवयविशेष में गवयशब्दवाच्यता पूर्वश्रुत अतिदेशवाक्य से ज्ञात नहीं होती, तो गवयविशेष के दर्शन के बाद अकस्मात् कैसे गवयशब्दवाच्यता का भान हो जायेगा ? वह भी शक्य नहीं होगा। वास्तव में तो ऐसा मानना चाहिये कि जिस अर्थ के सम्बन्धग्रहणकाल में जिस के साथ सम्बन्ध का अनुभव हुआ है, उसी अर्थ का उस के साथ सम्बन्ध होने पर तत्तत्शब्दवाच्यता अन्यकाल में भी दिखती है। इस का मतलब यह हुआ कि संकेतकाल में ही सामान्यतया एवं विशेष व्यक्ति में भी सम्बन्ध का भान हो जाता है। बाद में गवय का दर्शन होने पर पूर्वगृहीत संकेत के अनुसार 'यह वो गवयशब्दवाच्य अर्थ है' ऐसी प्रतीति (स्मृति) होती है — ऐसा मानना पडेगा।

[व्यवहारकालीन व्यक्ति में संज्ञासंज्ञिभाव का ग्रहण अशक्य]

30 यह जो किसी विद्वान ने कहा है — 'जिस को उपमान (यानी अतिदेशवाक्य) उपयुक्त है (पूर्वश्रुत है) वह सदृश अर्थ ग्रहण करने पर विशिष्ट (पुरोवर्तिअर्थ) के विषय में सम्बन्ध (संज्ञासंज्ञिभाव) ज्ञात कर लेता है।' — यह भी निरस्त हो जाता है। कारण, संकेतकाल में अनुभूतव्यक्ति और व्यवहारकाल

विशदाभासस्य तत्राऽसंवेदनात्। संवेदने वा विकल्परूपताविरहादर्थरूपस्यैवानुकारात् तस्य च शब्दसंसर्ग-
विकलत्वात् तत्सामर्थ्यप्रभवे च ज्ञाने असतस्तत्र शब्दस्याऽप्रतिभासनाद् न विशेषः शब्दवाच्यः। या च
'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः' इति वाच्यताप्रतिपत्तिः सा दृश्य-विकल्प(ल्प्य)योरेकीकरणाद् भ्रान्तिः, अन्यथा
पूर्वानुभूताकारपरामर्शनं दृश्यमानस्य 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तिः कथं भवेत् अतिदेशवाक्य-
श्रवणसमये विशेषे सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः ? प्रतिपत्त्यभ्युपगमे वा विशेषेऽपि सामान्यवत् स्मृतिरेवेति कुतः 5
प्रामाण्यमुपमानस्य ?

यदपि 'गौरिव गवयः' इति गो-गवययोरतिदेशवाक्यात् सादृश्यमात्रप्रतिपत्तिः, (३९४-६) 'संज्ञा-
संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानात्' (३९४-६) — तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अयं स
गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तिरुपजायते, इयं च नाध्यक्षप्रतिपत्तिफलम् अश्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रभ्रष्ट-
संस्कारस्य वा तत्सद्भावेऽप्यस्यानुत्पत्तेर्विशेषशब्दवाच्यत्वस्याध्यक्षविषयत्वानभ्युपगमाच्च। अतिदेशवाक्य- 10
स्मरणसहायस्य गवयदर्शनस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वे स्मर्यमाणमतिदेशवाक्यमेव तज्जनकमभ्युपगतं भवेद् न
में दृष्टिगोचर व्यक्ति अनुगत (= एक) नहीं है। तथा, व्यवहारकालीन व्यक्ति उस में संकेत गृहीत
न होने से वाच्य भी नहीं है। शब्दबोध का यह नियम है — शब्दजन्य ज्ञान में जो भासता है
वही उस शब्द का वाच्य होता है। विशेष (स्वलक्षण) तो शब्दजन्यबोध में भासता ही नहीं है, इस
का सबूत यह है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष में वह जैसा स्पष्ट भासित होता है वैसा स्पष्ट संवेदन शब्द 15
ज्ञान में नहीं होता। यदि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष में ही स्पष्ट भासित होता है तो सार यही निकलेगा
कि विशेष शब्दवाच्य नहीं है। कारण, इन्द्रियप्रत्यक्ष से होनेवाला विशेष संवेदन विकल्परूप नहीं होगा
किन्तु अर्थस्वरूप का ही अनुकारी होगा, तथा अर्थस्वरूप तो शब्दसंसर्ग से अस्पष्ट होता है, अतः
अर्थस्वरूपालम्बन से जन्य ज्ञान में असत् शब्द के सम्बन्ध का प्रतिभास होगा ही नहीं, फिर अर्थस्वरूप
में शब्दवाच्यता होगी कैसे ? तब जो 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' ऐसी विशेष में वाच्यता की प्रतीति 20
कही जाती है वह तो दृश्य एवं विकल्प्य अर्थों के मानसिक एकीकरण से निपजने वाली होने से
भ्रान्ति के अलावा कुछ भी नहीं है। यदि इस को भ्रान्ति नहीं माने तो पूर्वानुभूत आकार की स्पर्शना
द्वारा जो वर्तमान में दिखता है उसी की 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' ऐसा भान क्यों कर होता ?
जब कि अतिदेशवाक्यश्रवण काल में विशेष के सम्बन्ध का तो कोई भान ही नहीं है। यदि विशेष
के सम्बन्ध का भान मानेंगे तब तो पूर्वानुभूत का वर्तमान में भान मान लेने पर वह स्मृतिरूप 25
हो गया, फिर उपमान प्रमाण की बात कहाँ ?

[संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान उपमानफल- नैयायिकतर्क]

यह जो पहले नैयायिकने कहा था (३९४-१७) कि 'गौ जैसा गवय' इस अतिदेशवाक्य से गो
और गवय के सादृश्यमात्र की प्रतीति होती है, संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का भान उपमान से होता है' (३९४-
२२) — तो यह भी बिना सोचे कह दिया है। कारण, गवयदर्शन के बाद 'यह वो गवयशब्दवाच्य' 30
ऐसी जो प्रतीति होती है (वह स्मृतिरूप है यह आगे स्पष्ट कहा जायेगा।) वह प्रत्यक्षज्ञान का फल
नहीं है। कारण, जिस ने अतिदेशवाक्य नहीं सुना अथवा सुना तो है लेकिन अब उस के संस्कार

दर्शनम्। न हि यत्राध्यक्षमप्रवृत्तिमत् तत्र शब्दस्मरणसहितमपि प्रवर्तते यथा चक्षुर्ज्ञानं गन्धस्मरणसहायं परिमलप्रतिपत्तौ। अतिदेशवाक्याच्च सम्बन्धाऽप्रतिपत्तावपरस्य तत्प्रतिपत्तिनिमित्तस्याभावात् 'अयं स गवय-शब्दवाच्यः' इति पूर्वानुभूतपरामर्शेन प्रतिपत्तिर्न स्यात् अपि तु 'अयं गोसदृशः' इत्येवं भवेत्। न चैतत्प्रति-पत्त्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरमुपमाख्यमेतत्प्रतिपत्तिजनकं प्रकल्पनीयम् 'यः कुण्डली स राजा' इति 5 श्रुतातिदेशवाक्यस्य तद्दर्शनानन्तरम् 'अयं स राजशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तेरप्युपमानफलत्वप्रसक्तेः। अथात्र तच्छब्दवाच्यता अतिदेशवाक्यादेव प्रतिपन्निति नातिप्रसक्तिस्तर्हि 'गौरिव गवयः' इत्यतिदेशवाक्याद् गोसदृशस्यार्थस्य गवयशब्दवाच्यतापि प्रतिपन्निति नोपमानप्रमाणफलता, 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तेः। तस्मात् स्मृतिरूपत्वादस्याः प्रतिपत्तेर्नैतस्या जनकस्य प्रमाणतेति अनुमानान्तर्भावप्रतिपादनं न दोषाय। इत्यलमतिविस्तरेण।

नष्ट हो गये, उस पुरुष के प्रति गवय का दर्शन रहने पर भी 'यह वो गवयशब्दवाच्य' ऐसा भान 10 नहीं होता, उस का दूसरा कारण यह भी है कि विशेष में शब्दवाच्यता प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानी जाती।

यदि अतिदेशवाक्यस्मरणरूप सहकारी के काल में गवय का दर्शन उक्त प्रतीति का जनक माना जाय तो उस का मतलब वास्तव में तो यही हुआ कि स्मृतिगत अतिदेशवाक्य ही उक्त प्रतीति का जनक है न कि दर्शन। जिस विषय में प्रत्यक्ष का प्रचार नहीं होता उस विषय में शब्दस्मरण रूप 15 सहकारी के योग में भी प्रत्यक्ष का प्रचार शक्य नहीं होता। उदा० - चक्षुःप्रत्यक्ष सुगन्धि परिमल को ग्रहण नहीं करता, तो गन्धस्मृतिरूप सहकारी के योग में भी वह परिमल का ग्रहण नहीं कर सकता। यदि सम्बन्ध का भान अतिदेशवाक्य से नहीं होगा तो उस के लिए और किसी निमित्त के न होने से 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' ऐसी पूर्वानुभूतार्थपरामर्शक प्रतीति न हो कर, सिर्फ 'यह गोसदृश है' इतनी ही प्रतीति उत्पन्न होगी।

20 [गवयशब्दवाच्यता स्मृतिरूप है - बौद्ध निष्कर्ष]

शंका :- 'यह गोसदृश है' इस प्रतीति के बदले हमें चाहिये 'यह वो गवयशब्द वाच्य है' ऐसी प्रतीति। यह प्रतीति आप के कथनानुसार केवल प्रत्यक्ष या शब्दस्मरणसहित प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती। इसी लिये तो हम कहते हैं कि 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' इस ढंग से प्रतीति करने के लिये उपमान प्रमाण खडा करना ही पड़ेगा।

25 उत्तर :- यदि 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' इस प्रतीति के लिये नये उपमान प्रमाण की कल्पना करेंगे तो 'जो कुण्डलयुक्त है वह राजा है' ऐसे अतिदेशवाक्य को सुननेवाले पुरुष को कुण्डली राजा के दर्शन के बाद 'यह वो राजशब्दवाच्य है' ऐसा भी उपमानप्रमाणफलात्मक भान मानना पड़ेगा। (मानते नहीं है।) यदि कहें कि - 'यहाँ राजशब्दवाच्यता का ज्ञान अतिदेशवाक्य श्रवण से ही हो चुका है अतः पुनः उस का ज्ञान गृहीतग्राहि होने से प्रमाणान्तर नहीं है' - तो 'गो जैसा गवय' 30 इस अतिदेशवाक्य से गोसदृश अर्थ में (= गवय में) गवयशब्दवाच्यता का ग्रहण भी हो चुका है, फिर नये प्रमाणान्तर की कल्पना क्यों ? सारांश, 'यह वो गवयशब्दवाच्य है' इस प्रतीति में उपमानप्रमाणफलता नहीं है। उस प्रतीति में तो स्मृतिरूपता है अत एव उस के उत्पादक में प्रमाणत्व

[बौद्धकृता अर्थापत्तिलक्षणसमालोचना]

अर्थापत्तेस्तु षट्प्रकारायाः 'प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धोऽर्थो येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनम-
 र्थापत्तिः' (३९५-८) इति लक्षणं नोपपत्तिमत्। यतोऽग्नेर्दाहकत्वेन विनाऽग्नित्वं नोपपद्यत इति तदा
 दाहकत्वं परिकल्प्यते यदि तयोः कश्चित् सम्बन्धो भवेत्। असति च तत्र सत्यप्यग्नौ दाहकत्वस्याभावः
 असत्यपि च भाव इति कथं दाहकत्वमन्तरेण वस्नेरभावसिद्धिः ? इति दाहकत्ववददाहकत्वमपि कल्पनीयं 5
 स्यात्। अतः सम्बन्धे निश्चिते सति एकमविनाभूतं सम्बन्धिनमुपलभ्य द्वितीयस्य सम्बन्धिनः प्रकल्पना
 युक्तिमती। एवं च प्रकल्पने अनुमानत्वमेव सम्बन्धनिश्चयपूर्वकत्वाद् एकस्माद् द्वितीयपरिकल्पनस्य,
 कृतकत्वदर्शनपूर्वकाऽनित्यत्वानुमानवत्। सम्बन्धश्चार्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेव तयोः प्रतिपत्तव्यः, एवं ह्यर्था-
 पत्युत्थापकस्यार्थस्याऽनन्यथाभावोऽर्थापत्तेराश्रयः सिद्धो भवेत्। अथ प्रकल्प्यमानार्थानन्यथाभवनम-
 र्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य तदैव सिद्धम् — इत्यनुमानादार्थापत्तेर्भेदः। ननु यदि तस्यानन्यथाभवनं प्रमाणान्तरात् 10
 नहीं है, फिर उस का अनुमानप्रमाण में से बहिर्भाव करने में कोई दोष नहीं है। अतिविस्तार से
 अलम्।

[सम्बन्धमूलक अर्थापत्ति अनुमान ही है - बौद्ध]

षड्विध अर्थापत्ति का जो लक्षण कहा है — जिस अर्थ के विना प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्ध अर्थ अनुपपन्न
 रहता है उस अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति है (३९५-१७) यह लक्षण संगत नहीं है। कारण स्पष्टता 15
 :- दाहकत्व के विना (अग्नि में) अग्नित्व उपपन्न नहीं होता ऐसा कह कर अग्नि में दाहकत्व की
 कल्पना तब की जा सकती है यदि अग्नित्व और दाहकत्व के मध्य कोई सम्बन्ध हो। ऐसा सम्बन्ध,
 जिस के न रहने पर, अग्नि के होते हुए भी उस में दाहकता नहीं रहे। तथा (उस सम्बन्ध के
 रहते हुए) अग्नि के न रहते हुए भी दाहकता रहे। जब तक ऐसा कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं,
 कैसे कह सकते हैं कि दाहकत्व के विना अग्नि के विरह की सिद्धि होगी ? फिर भी यदि दाहकत्व 20
 के विना अग्नि की अनुपपत्ति दिखायेंगे तो अन्य कोई अदाहकत्व के विना अग्नि की अनुपपत्ति दिखा
 कर अग्नि में अदाहकत्व की कल्पना करेगा। फलितार्थ यह हुआ कि सम्बन्ध का निर्णय होने पर
 ही, एक अविनाभूत सम्बन्धि की उपलब्धि के द्वारा दूसरे सम्बन्धि की कल्पना संगत हो सकती है।

यदि उक्त ढंग से सम्बन्ध के द्वारा एकसम्बन्धि (हेतु) के प्रयोग से जो अन्य अर्थ की (साध्य
 की) कल्पना करेंगे तो यह अनुमान ही हुआ। एक से द्वितीय (अर्थ) की कल्पना जहाँ सम्बन्ध निश्चयपूर्वक 25
 की जाती है वह अनुमान होता है जैसे कृतकत्व-अनित्यत्व के सम्बन्ध का निर्णय होने पर, कृतकत्व
 के दर्शन से अनित्यत्व का अनुमान हो जाता है। आप के मत में अर्थापत्ति प्रवृत्ति के पूर्व सम्बन्ध
 तो ज्ञात करना ही होगा, तभी अर्थापत्तिउत्थापक अर्थ का अनन्यथाभाव अर्थापत्ति का आश्रय बनेगा।
 यदि कहें — 'अर्थापत्तिउत्थापक अर्थ का प्रकल्प्यमान अर्थ के साथ अनन्यथाभाव अनुमान में भले पूर्व
 सिद्ध रहे, अर्थापत्ति में तो उसी वक्त सिद्ध होता है, यही तो अनुमान-अर्थापत्ति का भेद है' — तो 30
 यहाँ दोनों ओर आपत्ति है — यदि अर्थापत्तिउत्थापक अर्थ का अनन्यथाभाव अन्य प्रमाण से वहाँ
 सिद्ध हो कर अर्थापत्ति का आश्रय बनेगा तो यहाँ अनुमान में ही अन्तर्भाव होगा। यदि अन्य प्रमाण

प्रतिपन्नमर्थापत्तेराश्रयः तदाऽनुमानेऽन्तर्भावः, अथ न सिद्धं तदा नार्थापत्तिप्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गाद् इत्युक्तम् ।
अथार्थापत्तिरेव प्रकल्प्यार्थानन्यथाभवनं दृष्टस्य श्रुतस्य वार्थस्य प्रकल्पयति तर्हीतरेतराश्रयत्वम्— अनन्यथा-
भवनसिद्धौ तस्यार्थापत्तिप्रवृत्तिः तत्रप्रवृत्तेश्च तस्यानन्यथाभवनप्रसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् ।

ततस्तादात्म्य-तदुत्पत्तिप्रतिबन्धलक्षणानन्यथाभवननिश्चयमन्तरेणान्यतरः सम्बन्धी अन्यतोऽर्थापत्त्या
5 प्रकल्पयितुं न शक्यत इत्यन्वय-व्यतिरेकसिद्धिः । पक्षधर्मता त्वार्थापत्तिसमाश्रयोऽर्थो यत्र धर्मिणि प्रमाणतो
निश्चीयते तत्रैव स्वप्रकल्प्यं प्रकल्पयतीति न दुरुपपादा, कारण-व्यापकयोरेव प्रतिबन्धात् तयोश्चान्यत्र
सद्भावे कार्य-व्याप्ययोरपरत्राऽसम्भवात् । एवमर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् तल्लक्षणमनुमानलक्षणात् पृथग्युक्तम् ।

प्रत्यक्षपूर्विका त्वार्थापत्तियोदाहृता सा प्रमाणमेव न भवति स्मृतिरूपत्वात् । न हि पायकादन्येव
दाहकशक्तियाऽर्थापत्तिसाध्या स्यात् । वह्निस्वरूपमेव दाहादिककार्यनिर्वर्तनसमर्थं शक्तिव्यपदेशमासादयति
10 अध्यक्षेण च तत्स्वरूपं प्रतिपद्यता तदव्यतिरिक्ता शक्तिरपि प्रतिपन्नैव । न हि कारणभावादन्या भावानां

से सिद्ध नहीं है तो अर्थापत्ति का उत्थान ही नहीं होगा, अन्यथा अतिप्रसंग होगा यह बात पहले
कही जा चुकी है ।

यदि कहें — 'अर्थापत्ति स्वयं ही दृष्ट/श्रुत अर्थ का प्रकल्प्य अर्थ के प्रति अनन्यथाभाव निश्चित
कर लेती है।' — तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोषप्रवेश होगा । अनन्यथाभाव सिद्ध होने पर उस अर्थ में
15 अर्थापत्ति प्रवृत्त होगी, अर्थापत्ति प्रवृत्त होने पर उस अर्थ का अनन्यथाभाव प्रसिद्ध होगा — इस तरह
अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है ।

[अनुमानलक्षण से अर्थापत्तिलक्षण अपृथग्]

निष्कर्ष :- तादात्म्य-तदुत्पत्ति अन्यतररूप प्रतिबन्ध है । ऐसा प्रतिबन्ध ही अनन्यथाभाव है । उस
के अनिश्चित रहने पर दो में से एक सम्बन्धी की, अन्यसम्बन्धि प्रयोजित अर्थापत्ति से, कल्पना करनी
20 अशक्य है, अत एव यहाँ (अर्थापत्ति में) अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होते हैं । पक्षधर्मता भी दुरुह नहीं
है — अर्थापत्तिआश्रय (प्रयोजक) भूत अर्थ जिस धर्मी में प्रमाण द्वारा निश्चित होगा उसी में अर्थापत्ति
के द्वारा अनन्यथाभूत अर्थ की कल्पना कराता है । स्पष्ट है कि प्रतिबन्ध सिर्फ कारण का (कार्य के
साथ) एवं व्यापक का (व्याप्य के साथ) ही होता है, कारण अथवा व्यापक कहीं एक स्थल में होंगे
और कार्य अथवा व्याप्य अन्य स्थल में, ऐसा कहीं संभव नहीं है । सारांश, अर्थापत्ति का अन्तर्भाव
25 अनुमान में हो जाता है तब अर्थापत्ति का स्वतन्त्र लक्षण घडना अनुचित है ।

[प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का विषय शक्ति क्या है ?]

प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति का उदाहरण तो प्रमाणभूत ही नहीं है क्योंकि वह स्मृतिरूप है । दाहकताशक्ति
कोई अग्नि से भिन्न नहीं है जिससे कि उस को अर्थापत्ति से सिद्ध करना पड़े । दाहादिकार्यघटनसमर्थ
अग्नि का स्वरूप ही 'शक्ति' संज्ञा से पुकारा जाता है । जो अग्नि के इस स्वरूप को प्रत्यक्ष पीछानता
30 है तब उस से अभिन्न शक्ति को भी पीछान लेता है । भावों में अन्तर्गत शक्ति क्या है ? भाव निष्ठ
(दाहादि की) कारणता, यही शक्ति है । शक्ति कोई कारणता से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, कारणता भी
कार्यनियतपूर्ववृत्तिरूप ही है । शक्ति का अन्वय-व्यतिरेक वानी भावाभाव भी प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ

शक्तिः। स च कार्यात् प्राग्भाव एव। अन्वय-व्यतिरेकौ च प्रत्यक्षानुपलम्भगम्यौ। तौ च विशिष्टमेव प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षावगतत्वाच्छक्तेर्नार्थापत्तिविषयता। न च शक्तिः शक्तादन्यैव 'अस्येयं शक्तिः' इति सम्बन्धाभावप्रसक्तेः, उपकारकल्पनायामनवस्थादिदोषात् व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तशक्तिप्रकल्पनायामपि विरोधादिदूषणं प्रतिपादितमेव। तन्न प्रत्यक्षपूर्विकाया अर्थापत्तेरुदाहरणं युक्तम्।

अत एव — 'चतसृभिरर्थापत्तिभिः प्रत्यक्षादिप्रसिद्धस्यार्थस्य शक्तिः साध्यते' — (३९६-५) इत्युक्तमुक्तम्। 5
वह्नि-रूपादिदर्शनाद् दाहकशक्तियुक्तवस्तुसाधनेऽभ्युपगम्यमाने चार्थापत्तिरनुमानमेव भवेत्। विशिष्टरूपाद् विशिष्टस्पर्शानुमानाद् देशान्तरप्राप्त्या सवितुर्गन्तुरनुमानादनुमानपूर्विकाऽर्थापत्तिरनुमानमेव भवेत्। अर्थापत्ति-पूर्विका चार्थापत्तिरनुमितानुमानम् अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात्। यत्तूदाहरणम् (३९६-२) — 'शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धेरर्थान्नित्यत्वसिद्धिः' इति, तदयुक्तम्; पौरुषेयाणामपि हस्तसंज्ञादीनां सङ्केतसम्बन्धादर्थप्रतिपादन-सामर्थ्यापलब्धेः। नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् कस्यचिद् भावस्याऽसम्भवात् कथमर्थापत्त्या 10 सम्बन्धस्य नित्यत्वं साध्येत ? चक्षुरादिज्ञानान्यधानुपपत्त्या लोचनादिप्रतीतिस्त्वनुमानम्। तथाहि — येषु

के गोचर हैं, प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ दोनों ही एक प्रकार के विशिष्ट प्रत्यक्षरूप ही हैं, इस विशिष्ट प्रत्यक्ष से शक्तिरूप कारणता का ग्रहण हो सकता है फिर क्यों उसे अर्थापत्ति का विषय माना जाय ? शक्त (वस्तु) से शक्ति कोई भिन्न नहीं होती। यदि भिन्न होती तो 'इस की यह शक्ति' इस प्रकार जो पष्ठीबोध्य अभेद का मेल बैठता है वह नहीं बैठता। भेद मान कर यदि सम्बन्ध के द्वारा शक्ति का 15 भाव के ऊपर कोई उपकार होना माना जाय तो उपकार का भी उपकार... इस तरह अनवस्था दोष लगेगा। तथा स्वतन्त्र शक्तिवाद में शक्ति भाव से पृथक् या अपृथक् होने की कल्पना में विरोधादि बहुत दूषण हैं यह पहले कहा जा चुका है। निगमन :- प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति का उदाहरण असंगत है।

[प्रत्यक्षादिपूर्वक अर्थापत्ति अनुमानरूप तथा शब्दनित्यत्वनिषेध]

यही कारण है कि 'प्रथम चार अर्थापत्तियों से प्रत्यक्षादिसिद्ध अर्थ की शक्ति सिद्ध होती है' 20 यह (३९६-१९) कथन अयुक्त है। अग्नि के रूपादि (उष्ण स्पर्शादि) के प्रत्यक्ष से अग्नि में दाहक शक्ति की कल्पना तो नितरां अनुमान ही है अग्नि धर्मी, दाहशक्ति साध्य, उष्णस्पर्श हेतु। तथा, विशिष्टरूप से विशिष्ट स्पर्श का अनुमान, सूरज की देशान्तर प्राप्ति से गन्तृत्व का अनुमान, ये दोनों अनुमानपूर्वक ('अर्थापत्ति नहीं किन्तु) अनुमान ही है। अर्थापत्तिपूर्वक जो अर्थापत्ति दीखायी थी वह भी अनुमित अनुमान है। मतलब, प्रथम अर्थापत्ति तो अनुमान में अन्तर्भूत ही है उस से अनुमित अर्थ के द्वारा 25 नयी अर्थापत्ति यानी अनुमान किया जाता है। अर्थापत्तिप्रेरित अर्थापत्ति का जो उदा० दिया है (३९६-१४) 'शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध सिद्ध होने पर, उस से शब्द के नित्यत्व की अर्थात् सिद्धि होती है' — वह तो अयुक्त कथन है। अर्थ के साथ सम्बन्ध की सिद्धि शब्द के नित्यत्व पर अवलंबित नहीं है। पौरुषेय यानी अनित्य होते हुए भी हस्तसंज्ञाओं से संकेतसम्बन्ध के द्वारा अर्थप्रतिपादन का सामर्थ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पदार्थ को नित्य मानें तो उस के साथ क्रमिक अथवा युगपद् 30 अर्थक्रिया का विरोध होने से, नित्य भाव का कोई सम्भव ही नहीं है; तब अर्थापत्ति से भी सम्बन्ध का नित्यत्व कैसे सिद्ध होगा?

सत्स्वपि ये कादाचित्काः परिदृश्यमानकारणव्यतिरिक्तकारणान्तरसापेक्षास्ते, यथाऽङ्कुरादयोऽसमग्रसामग्रीकाः, कादाचित्कं चेदं रूपालोकमनस्कारादिषु सत्स्वपि चक्षुर्ज्ञानम् इति स्वभावहेतुः। न चैवं धर्मसिद्धिः, ज्ञानस्यैव धर्मित्वात्। अत्र यत् तत् कारणं तत् चक्षुरिति व्यवहियते। न चैतत्प्रतिपत्तिविषयस्य चक्षुषः स्वलक्षणत्वात् कथमस्याः प्रतिपत्तेरनुमानतेति वक्तव्यम् स्वलक्षणस्य चक्षुरादेरस्यां प्रतिपत्तावप्रतिभासनात्
5 तत्र शास्त्रकृतां विप्रतिपत्तिदर्शनात् तत्सद्भावे तस्याऽयोगात्।

[उपमानपूर्वक-अभाव-श्रुतार्थापत्तित्रयसमालोचना]

उपमानस्य चाऽप्रमाणत्वात् तत्पूर्विकाऽर्थापत्तिः प्रमाणत्वेन दूरापास्तैव। याऽपीयमभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः साऽपि न प्रमाणान्तरम्। तथाहि— देवदत्तो धर्मी बहिर्भावस्तस्य साध्यो धर्मः गृहाऽसंसृष्टजीवनं हेतुः। एवंविधस्य गृहाऽसंसृष्टजीवनस्य साध्येन व्याप्तेः स्वात्मन्येव निश्चयादनुमानमेव। कथं पुनर्देवदत्तस्यानुपलभ्यमानस्य
10 जीवनं सिद्धं येन हेतुर्भवेदिति चेत् ? न, भवदभ्युपगमेन सिद्धमङ्गीकृत्य हेतुत्वेनोपन्यासात्। परमार्थतस्तु सन्दिग्धमेव। यतो युष्माभिरप्यसिद्धेनैव जीवनेन बहिर्भावः साध्यत इति समानता न्यायस्य। श्रुतार्थापत्तिरपि

चाक्षुषादि प्रत्यक्षज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से लोचनादि बोध भी अनुमान ही है। देखिये — जिन (कारणों) के होते हुए भी, जो कालमर्यादित भाव होते हैं वे दृश्यमानकारणभिन्न कारणों के अधीन होते हैं जैसे अपूर्ण सामग्रीवाले अंकुरादि (बारीश आदि के अधीन होते हैं।) प्रस्तुत में रूप-आलोक-मन आदि
15 के होते हुए भी चक्षुर्ज्ञान कालसीमामर्यादित होता है। इस स्वभाव हेतु से चक्षु की सिद्धि होती है — यह एक अनुमान ही है। यहाँ चक्षुर्ज्ञान को ही धर्मी किया गया है, अतः धर्मी की असिद्धि का दोष नहीं है। यहाँ रूपादि से अतिरिक्त कारण के रूप में चक्षु की सिद्धि यानी उस कारण का चक्षु रूप से व्यवहार सिद्ध होता है। यदि कहें कि — 'इस अनुमान का विषय तो स्वलक्षण (चक्षु) है (न कि सामान्यलक्षण।) फिर उस का बोध (प्रत्यक्ष होने के बजाय) अनुमानरूप कैसे ?' — उत्तर यह है कि
20 इस अनुमान में चक्षु आदि स्वलक्षण तो भासता ही नहीं है। शास्त्रकारों में चक्षु इन्द्रिय के प्रत्यक्ष होने न होने में विवाद है, विवाद के रहते हुए अनुमान ही लब्धयोग होता है न कि प्रत्यक्ष।

[उपमानपूर्वक आदि अर्थापत्तियों की समीक्षा का निष्कर्ष]

जब उपमान 'प्रमाण' नहीं है तब उपमानपूर्वक अर्थापत्ति, प्रमाणत्व से जोजनों दूर प्रक्षिप्त हो कर रहेगी। जो अभावपूर्वक अर्थापत्ति है वह भी प्रमाणान्तर नहीं है। देखिये — देवदत्त धर्मी, उस
25 का बहिर्भाव साध्य धर्म, जीवित है लेकिन गृह में अनुपस्थित — यह हेतु। इस प्रकार का जीवित-गृहानुपस्थित हेतु की देवदत्त धर्मी में ही अपने साध्य के साथ व्याप्ति, बाधक न होने से निश्चित की जा सकती है — यह हुआ अनुमान। प्रश्न :- जब देवदत्त गृह में अनुपस्थित है, तब वह जिंदा है या मर गया — यह निश्चय न हो सकने से हेतु कैसे सिद्ध होगा ? उत्तर :- आपने अर्थापत्ति में उस को जीवित दर्शाया है इस लिये हमने उस का स्वीकार कर के हेतु किया है। परमार्थ से
30 कहें तो उस वक्त वह जिन्दा है या नहीं — यह संदेहास्पद ही रहेगा। जब तुमने ऐसे संदिग्ध जिंदापन के द्वारा बहिर्भाव सिद्ध करना चाहा तो हमने भी वैसा किया — न्याय तो दोनों पक्ष में समान रहता है।

प्रमाणं न भवति। तथाहि— 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्येद्वाक्यं स्वार्थप्रत्यायनद्वारेण रात्रिभोजन-
वाक्यान्तरमुपकल्पयतीत्यभ्युपगमः। न स्वार्थमेतत् प्रतिपादयति बहिरर्थे शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रामाण्यानुपपत्तेः।
अथ कुतश्चित् प्रमाणाद् दिवाभोजनप्रतिषेधे भोजनकार्यस्य पीनताविशेषस्य प्रतिपत्तिर्न तर्हि श्रुतार्थापत्तिर्भवेत्
कार्यतो रात्रिभोजनकारणप्रतिपत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात्। वाक्याद् वाक्यान्तरप्रतिपत्तिस्त्वयुक्तैव तेन सह वाक्यस्य
प्रतिबन्धाऽसम्भवात्। न हि दिवाभोजनप्रतिषेधवाक्यस्य रात्रिभोजनवाक्येन कश्चित् कार्य-कारण-भावादिकः 5
सम्बन्धः संभवतीत्युक्तम्। तद् नार्थापत्तिः प्रमाणान्तरम्।

[बौद्धप्रथिता अभावप्रमाणपरीक्षा]

अभावाख्यं तु प्रमाणं त्रिप्रकारम्— 'प्रमाणपञ्चकाभावः, तदन्यज् ज्ञानम्, आत्मा वा ज्ञानविनिर्मुक्तः'
(३९७-१०) इत्युक्तम्। तत्राद्यस्य तावत् पक्षस्यासंभव एव। यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वाद् न
किञ्चित्, स कथं प्रमेयाभावं परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात् ? अथ प्रमाणपञ्चकाभावो वस्त्वभावविषयज्ञानं 10
प्रमाणं जनयन्नुपचारादभावाख्यं प्रमाणमुच्यते। नन्वेवमपि प्रमाणपञ्चकाभावस्याऽवस्तुत्वाद् अभावज्ञान-
जनकत्वायोगात् प्रमाणत्वमनुपपन्नम्। तथाहि— वस्त्वेव कार्यमुत्पादयति नाऽवस्तु तस्य सकलसामर्थ्यवि-
कलत्वात्, सामर्थ्यं वा तस्य भावरूपताप्रसक्तेः। तथा चाभावाद् भवति ज्ञानमिति 'भावाद् न भवति'

श्रुत अर्थापत्ति भी अप्रमाण है। कैसे यह देखिये — 'पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता' यह वाक्य
'रात्री में खाता है' ऐसे वाक्यान्तर की कल्पना तब करा सकेगा जब पहले वह अपने अर्थ का प्रकाशन 15
करेगा। सही बात तो यह है वह अपने अर्थ का प्रकाशन ही नहीं कर सकता। कारण :- बाह्यार्थ
के प्रति शब्दों का प्रतिबन्ध नहीं होने से उन का प्रामाण्य ही अधटित है। यद्यपि शब्द को छोड
कर अन्य किसी प्रमाण से दिवसभोजन का निषेध ज्ञात होने पर भोजनकार्य पुष्टताविशेष का भान
हो सकता है किन्तु यहाँ शब्दश्रवण को छोड देने से, इसे श्रुतार्थापत्ति नहीं कहा जा सकेगा। पुष्टताकार्य
से यहाँ रात्रिभोजनरूप कारण की कल्पना का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। 20

एक वाक्य से अन्य वाक्य का भान अयुक्त ही है क्योंकि वाक्य का वाक्य के साथ कोई प्रतिबन्ध
नहीं होता। दिवसभोजननिषेधकवाक्य का रात्रिभोजनसूचक वाक्य के साथ कारण-कार्य भाव आदि कोई
सम्बन्ध संभवित नहीं है यह तो पहले भी कहा जा चुका है। सारांश, अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

[अभावप्रमाण के प्रथम प्रकार की समालोचना]

तीन प्रकारवाला जो अभावप्रमाण कहा गया (३९७-२)—१, प्रमाण-पञ्चकअभाव, २, निषेध्यान्य 25
वस्तु का ज्ञान, ३, ज्ञानअपरिणत आत्मा। उन में प्रथम प्रकार में पक्ष का असम्भव दोष है। कारण
:- पाँच प्रमाणों का अभाव निरुपाख्य (= तुच्छ) पदार्थ है, कुछ वस्तुरूप नहीं है। ऐसा तुच्छ शशसींगतुल्य
पदार्थ प्रमेय अभाव का परिच्छेद कर कैसे सकेगा जिस में तुच्छ होने के कारण कुछ सामर्थ्य ही
नहीं है ? परिच्छेद तो ज्ञानधर्म होता है। यदि कहें कि — 'प्रमाणपञ्चक का अभाव तुच्छ है किन्तु
वस्तु-अभावविषयक ज्ञान रूप प्रमाण का जनक है, चूँकि वह प्रमाण को उत्पन्न करता है अत एव 30
उसे उपचारतः अभावसंज्ञक प्रमाण कहा जाता है।' — तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह
भी प्रमाणत्व की उपपत्ति शक्य नहीं है क्योंकि प्रमाणपञ्चकाभाव स्वयं तो वस्तुरूप ही नहीं है, इस

इति हेतुप्रतिषेध एव तस्य कृतः स्यात्। एवं च देशकालादिप्रतिनियमो न स्यात्। अपि च- ()

शब्दस्य वृत्तेः सर्वत्र पंचानामपि न क्वचित्। प्रमाणानामभावोऽतो नार्थाभावविनिश्चयः।।

अगृहीतान्न चाभावात् प्रमेयाभावनिरणयः। तद्ग्रहोऽप्यन्यतो भावादनवस्था दुरुत्तरा।।

मेयाऽभावात् प्रमाभावनिरणयेऽन्योन्यसंश्रयः। मेयाभावात् प्रमाणस्य तस्मात् तस्य विनिर्णयात्।।

5

अज्ञातस्यापि चाक्षस्य प्रमाहेतोः प्रमाणता। प्रमाभावस्त्वसामर्थ्याज्ञातोऽभाववेदकः।।

द्वितीयपक्षे तु— यत् तदन्यज्ञानं प्रत्यक्षमेव तत् प्रमाणम् पर्युदासवृत्त्या च तदेवाभावप्रमाणशब्द-
वाच्यतामनुभवति। तथाविधेन च तेन तदन्यभावलक्षणो भावः परिच्छिद्यत एव। यत् पुनः 'इह घटो
नास्ति' इति ज्ञानं तत् प्रत्यक्षसामर्थ्यप्रभवत्वात् स्मृतिरूपतामासादयन्न प्रमाणम्। तथा हि सकलत्रैलोक्य-

- 10 लिये उस में अभावविषयकज्ञानजनकता का योग शक्य नहीं है। देखिये — वस्तु ही कार्यजनक होती है न कि अवस्तु। अवस्तु तो सर्वसामर्थ्यहीन होती है। यदि उस में कुछ सामर्थ्य मान लिया जाय तो वह अवस्तु नहीं किन्तु भावात्मक वस्तु ही प्रसक्त होगी। इस संदर्भ से स्पष्ट होता है कि 'अभाव से (ज्ञान) उत्पन्न होता है' ऐसा जो आपने कहा उस का फलितार्थ यही होगा कि भाव से (अभाव में कुछ सामर्थ्य माना तब वह भावरूप हो गया अतः भाव से) नहीं उत्पन्न होता है। (यानी भावात्मक
- 15 हेतु से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।) यह तो स्पष्ट हेतु (= कारण) का अपलाप ही हुआ। कारण का अपलाप करने पर उत्पन्न भावों में कहीं भी देश-काल का नियम नहीं होगा। कारणाधीन उत्पत्तिवाला भाव कारण के देश-काल से नियत होता है ऐसा नियम है। और कहा भी है — ()

- 'शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति सर्वत्र होती है इस लिये पाँचों प्रमाण का अभाव तो कहीं भी नहीं होता। अत एव उस से अर्थाभाव का निश्चय भी नहीं हो सकता। अभावनिश्चय न होने से प्रमेयाभाव
- 20 का निर्णय शक्य नहीं होगा। यदि (प्रमेयाभाव निश्चायक) अभाव का निर्णय अन्य प्रमाण से करेंगे तो उस का भी निर्णय अन्य अन्य प्रमाण से, (इस प्रकार) अनवस्था को पार नहीं उतरेंगे।। यदि प्रमाणअभाव का निर्णय (अनिश्चित) प्रमेयाभाव से करने जायेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि प्रमेयाभाव से प्रमाण अभाव का और प्रमाणाभाव से प्रमेयाभाव का निर्णय होने से। हाँ, अज्ञात होने पर भी इन्द्रिय प्रमा का हेतु होने से प्रमाण गिना जा सकता है, किन्तु प्रमाणाभाव सामर्थ्यहीन होने
- 25 से (तुच्छ) होने से वह अज्ञात रह कर अभावज्ञापक नहीं हो सकता।।

[अभावप्रमाण के दूसरे प्रकार का निरसन - बौद्ध]

- अभाव के तीन प्रकारों में जो दूसरा प्रकार है प्रतियोगिभिन्न (भूतलादि) का भान, वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही है (न कि अभावप्रमाण)। हाँ, पर्युदासनञ् अनुसार उसी प्रत्यक्ष को 'अभावप्रमाण' शब्द वाच्य कहा जा सकता है। प्रत्यक्षात्मक तथाकथित अभावप्रमाण से प्रतियोगिभिन्न पदार्थस्वरूप भाव
- 30 का परिबोध होता है। यदि 'यहाँ घट नहीं है' ऐसी प्रसज्यनञ् की प्रतीति ली जाय तो इस में जो घट के अभाव का भान होता है वह पूर्वजातघटप्रत्यक्ष के सामर्थ्य से उत्पन्न स्मृतिरूप ही है,

व्यावृत्तपदार्थसामर्थ्याद्भूततदाकारदर्शनानन्तरं विकल्पद्वयम् 'इदमत्रास्ति' 'इदं नास्ति' इति दर्शनसामर्थ्यभावि तद्गृहीतमेवार्थमुल्लिखदुपजायते। तत्र दर्शनमेव भावाभावयोः प्रतिपादकत्वात् प्रमाणं न तु विधि-
प्रतिषेधविकल्पौ, गृहीतग्राहित्वात्, अन्यभावलक्षणस्य भावाऽभावस्याध्यक्षेणैव सिद्धत्वात्। व्यवहार
एवान्योपलब्ध्याऽपि साध्यते — स्वयमेव वा 'नास्तीह घटः' इति विकल्पयति, न च तावता प्रमाणान्तरत्वं
यथादृष्टस्यैव विकल्पनात्। सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्वरूपस्याध्यक्षेण ग्रहणेऽपि य एव निराकर्तुमिष्टो घटादि- 5
कोऽर्थः स एव व्यवच्छिद्यते नान्यः। तेन 'न प्रत्यक्षेण घटादीनामभावो गृह्यते तस्याभावविषयत्वविरोधात्,
नाप्यनुमानेन हेत्वभावात्' इत्यादि (३९८-२।५) यदुक्तम् तन्निरस्तं दृष्टव्यम्।

तृतीयपक्षस्य पुनरसम्भव एव आत्मनोऽभावात्। भावेऽपि तस्य ज्ञानाभावे कथं वस्त्वभावावेदकत्वम्
वेदनस्य ज्ञानधर्मत्वात् ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तस्याभावात्। अथ 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' () इति
वचनात् तस्यैतद्गुणेष्यते' तर्हि 'ज्ञानविनिर्मुक्त' इति न वक्तव्यम् स्वरूपहानिप्रसक्तेः, पुरुषस्यैव च 10

प्रमाण नहीं है। स्मृति से ऐसा ज्ञान यहाँ उत्पन्न होता है जो प्रतियोगि का उल्लेखकारी होता है।
वह ज्ञान प्रत्यक्ष के बल पर उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्षगृहीत अर्थ ही उस में (प्रतियोगी के रूप
में) भासता है। पहले तो सकल त्रैलोक्यवर्ती पदार्थों से व्यावृत्त (= स्वतन्त्र) पदार्थ के संनिकर्षबल
से तत्पदार्थसमानाकार दर्शन (प्रत्यक्ष) उत्पन्न होता है, उस के बाद स्मृति के द्वारा उपरोक्त ज्ञान उत्पन्न
होता है, उस के दो प्रकार हैं — १, 'यहाँ वह है', 'वह नहीं है।' स्मृति प्रमाण नहीं है, दर्शन 15
ही भाव का या अभाव का प्रकाशक होने से प्रमाणभूत है। विधि-प्रतिषेध के उक्त दो विकल्प तो
(प्रत्यक्ष से) गृहीत का ग्राही होने से प्रमाण नहीं है। भाव का अभाव क्या है — अन्यभावस्वरूप
है, वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है न कि अभावप्रमाण से। अन्यभाव की उपलब्धि कोई स्वतन्त्र प्रमाण
नहीं है, उस से तो केवल अभाव का व्यवहार ही प्रचलित किया जाता है। अथवा अन्योपलब्धि
से भले ही 'यहाँ घट नहीं है' ऐसा स्वयं विकल्प निपजाया जाय किंतु फिर भी वह प्रमाणान्तर 20
नहीं है क्योंकि जैसा दर्शन ने पूर्व में देखा था वैसा ही विकल्प उस से निपजाया जाता है।

यह विशेष ज्ञातव्य है — प्रत्यक्ष से तो सकल त्रैलोक्य व्यावृत्त भूतलादिस्वरूप गृहीत होता है।
फिर भी उस के बाद सारे त्रैलोक्य का 'त्रैलोक्यं नास्ति' ऐसा निषेध करने की विवक्षा नहीं होती
इसलिये वैसा निषेध-उल्लेख नहीं किया जाता; किन्तु जो कुछ घटादि अर्थ के निषेध की विवक्षा रहती
है उसी का 'घटो नास्ति' इस ढंग से व्यवच्छेद किया जाता है। अत एव वह पूर्वोक्त (३९८-१२/१७) 25
आशंका कि — 'प्रत्यक्ष से तो घटादि का अभाव गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि वह (भावविषयकमात्र
होने से) अभाव विषयत्व का विरोधि है। अनुमान से भी उस का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उस
के लिये कोई हेतु नहीं है।' — इत्यादि कहा था वह सब निरस्त समझ लेना।

[अभावप्रमाण के तीसरे प्रकार की समीक्षा- बौद्ध]

अभाव का तीसरा प्रकार :- 'ज्ञान विनिर्मुक्त आत्मा' यह संभव नहीं है क्योंकि हमारे बौद्ध मत 30
में 'आत्मा' पदार्थ ही नहीं है। यदि उस की सत्ता है तो भी जब वह ज्ञानशून्य है तो वस्तु के अभाव
का आवेदन कैसे करेगा ?, वेदन तो ज्ञानधर्म है। ज्ञानशून्य आत्मा में ज्ञानधर्मस्वरूप वेदन कैसे हो

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वं भवेद् बोधरूपत्वात्। 'अभ्युपगम्यत एव' इति चेत् ? तर्हि 'बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्' इति न वक्तव्यम्। ततः प्रमाणपञ्चकाभावो ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणश्चाभावः प्रमाणं न भवति। तदन्यज्ञान-लक्षणश्चाभावः प्रत्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमभावः।

- यच्च अभावस्य प्रागभावादिभेदतश्चातुर्विध्यं वस्तुस्वरूपत्वं च प्रतिपादितम् (३९९-६) तदसंगतमेव।
- 5 यतः स्वस्वभावव्यवस्थितयः सर्व एव भावा नात्मानं परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसक्तेः। न चान्यतो व्यावृत्तस्वरूपाणामेषां भिन्नोऽभावांशः संभवति तद्भावे वा तस्यापि पररूपत्वात् भावेन ततोऽपि व्यावर्तितव्यम् इत्यपराभावपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसङ्गतो न कुतश्चित् भावेन व्यावर्तितव्यम् इति द्रव्यमेकं विश्वं भवेत्। ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः परभावाभावाच्च व्यावर्तमानस्य भावस्य पररूपताप्रसक्तिरिति पूर्वोक्त एव दोषः। न चेतरेतराभावात्मकत्वे भावानां घटाभावात्मकात् कटाद् व्यावर्तमानः पटो यथा न घटः तथा
- 10 परभावाभावादपि निवर्तमानस्य तस्य न पररूपतेति वक्तव्यम्— यतो नास्माकं घटात् पटो भिन्नः कटलक्षणाभाववशात् यतो निवर्तमानस्य ततस्तस्य घटरूपताप्रसक्तिर्भवतामिव। अपि तु स्वस्वभाववशात्

- सकता है ? यदि कहें कि — 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है' इस वचनसाक्षि से आत्मा की ज्ञानरूपता अमान्य नहीं है अतः वह वस्तु के अभाव का आवेदन कर सकता है' — अरे ! तब तो 'ज्ञानविनिर्मुक्त' ऐसा नहीं बोलना चाहिये अन्यथा स्वरूपभंग का दोष होगा। कारण :- बोधरूप होने के कारण पुरुष
- 15 ही प्रत्यक्षादि प्रमाणमय है। 'हम भी ऐसा मानते ही हैं' ऐसा कहेंगे तो फिर प्रत्यक्ष की व्याख्या में 'बुद्धिजन्म प्रत्यक्ष' ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि अब तो नित्य आत्मा ही बुद्धिस्वरूप है उस का जन्म कैसे ? निष्कर्ष — १, प्रमाणपंचकाभाव अथवा २, ज्ञानविनिर्मुक्त आत्मा स्वरूप अभाव प्रमाणभूत नहीं है। तथा ३, तदन्यज्ञानस्वरूप अभाव प्रत्यक्षरूप ही है। इस लिये अभाव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

[मीमांसकप्रथित अभावचतुर्विधता का निरसन]

- 20 तथा मीमांसकने जो अभाव के प्रागभावादि चार प्रकारों का, तथा उस के वास्तवस्वरूप का प्रतिपादन किया है (३९९-१९) वह संगत नहीं है। कारण :- सभी भाव अपने अपने स्वभाव से अवस्थित होते हैं, पर भाव से अपने को मिलाते नहीं है। अन्यथा दूसरों में मिलने से वह अपने स्वरूप को खो कर परभाव को प्राप्त कर बैठेगा। हरकोई चीज स्वतः दूसरे से व्यावृत्तस्वरूपवाली होती है, उस में कोई स्वभिन्न अभावांश होना सम्भव नहीं है। यदि उस में अभावांश भी मानेंगे
- 25 तो वह भी पररूप है, भाव को तो उस से भी व्यावृत्त रहना पड़ेगा, उस के लिये अन्य अभावांश की कल्पना करनी होगी... इस प्रकार सीलसीला चलेगा तो अनवस्था प्रसक्त होगी। फलतः किसी से भी भाव की व्यावृत्ति स्थायि नहीं बनेगी, व्यावृत्ति के न घट पाने से जगत् में से व्यावृत्ति (= भेद) का उच्छेद होने पर सारा जगत् एक द्रव्यमय बन कर रह जायेगा। फिर एक द्रव्यमय पूरे जगत् का उत्पत्ति-नाश भी एक साथ ही प्रसक्त होगा। तथा एकद्रव्यमय विश्व में किसी भी परभाव
- 30 के न रहने से, परभाव के अभाव से व्यावृत्ति अनुभव करता हुआ भाव परभाव से व्यावृत्ति न करने से पुनः परभावरूपता की अनिष्टप्राप्ति होगी। पहले यह दोष कहा जा चुका है।

परस्परतो भेदमनुभवन्ति भावा इत्युक्तं प्राक्। तेन स्वत एव घटाभावरूपः पटः न पुनर्वस्तुभूताभावांशवशात्, येन भवतामिव ततो व्यावर्तमानस्य तस्य पररूपताप्रसक्तिर्भवेत्।

स्वभावादपि परगतादस्य निवृत्तिः, न पररूपतेति चेत् ? न, उभयतो व्यावृत्तस्यापि यथा परस्य पररूपताऽभ्युपगता तथाऽस्यापि स्यात् उभयरूपता वा स्यात्, ततो निवर्तमानो भावः स्वनेव रूपेणान्यतो निवर्तते नाभावांशवशादिति कुतोऽस्मत्पक्षसमानताप्रसक्तिः ? यदि पुनरस्मदभ्युपगत एव न्यायोऽभ्युपगम्यते 5 तदाऽसदंशप्रकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च सदंशासदंशयोरात्यन्तिकभेदाभावाद् नायं दोषः, 'धर्मयोर्भेद इष्टो हि' (४००-१०) इत्यादिवचनतस्तयोर्भेदाभ्युपगमात् आत्यन्तिकभेदस्य च परस्य क्वचिदनिष्टेः।

[भावों का भेद अभावांशाधीन नहीं, स्वतः है - बौद्ध]

शंका :- सभी भाव इतरेतराभावात्मक होते हैं। कट भी घटाभावात्मक है और पट भी कट से भी व्यावृत्त ही है। लेकिन उस का मतलब यह नहीं है कि कट से व्यावृत्त घट और पट एक हो। 10 इसी तरह प्रस्तुत में परभावाभाव से व्यावृत्त वस्तु परभावात्मक नहीं बन जाती, वह तो उस से भी व्यावृत्त ही रहती है।

उत्तर :- ऐसा नहीं कहना चाहिये। कारण :- घट से पट भिन्न है तो वहाँ कटलक्षण उन में न होने से भिन्न है ऐसा नहीं है (स्वतः भिन्न हैं), अत एव कट से व्यावृत्त होने वाले पट में आप की मान्यता की तरह घटरूपता की प्राप्ति नहीं हो सकती। पहले ही हमने कह दिया है कि सभी 15 भाव अपने अपने स्वभाववश ही अन्योन्य भिन्नता का अनुभव करते हैं। अतः पट स्वतः ही घटाभावरूप है, न कि स्वनिष्ठ वस्तुभूत अभावांश की महिमा से। अत एव आप के मत की तरह कट से व्यावृत्ति रखनेवाले पट में घटरूपता की प्राप्ति का सवाल ही नहीं है।

शंका :- हमारे मत में भी, पररूपता की प्रसक्ति नहीं है क्योंकि वस्तु घटादि जैसे कटादि से व्यावृत्त है वैसे पट (पटादि) वस्तु निष्ठ स्वभाव से भी व्यावृत्त है यानी उस का भी भेद है। 20

उत्तर :- यह ठीक नहीं है। पर पदार्थ जैसे कट और पट से व्यावृत्त है फिर भी उस में पररूपता रहती है तो वैसे व्यावृत्त घट में भी पररूपता क्यों नहीं रह सकती ? अथवा उभयरूपता क्यों नहीं हो सकती ? आप के अभावांशपक्ष में ये दोष हैं। हमारे पक्ष में तो अभाव तुच्छ है, वस्तु नहीं। हमारे मत से तो भिद्यमान भाव अपने स्वरूप से ही भेदानुभव करता है न कि अभावांश के बल से। तब हमारे पक्ष की आपके पक्ष में समानता की प्रसक्ति क्यों कर होगी ? यदि हमारे पक्ष में 25 जिस न्याय (युक्ति) का आशरा लिया गया है उसी का आप भी लेते हैं तब तो आप की वस्तु में असदंश की कल्पना व्यर्थ ठहरेगी।

शंका :- वस्तु में जो सदंश है, असदंश उस से अत्यन्त भिन्न नहीं है, अतः सदंश की कल्पना की तरह असदंश की कल्पना भी सार्थक बनेगी। कोई दोष नहीं है।

उत्तर :- नहीं, आपने ही पहले (४००-२९) कहा है - 'धर्मों का अभेद होने पर भी धर्मों 30 का भेद तो मान्य है।' इस उक्ति के अनुसार सदंश और असदंश का आप को तो भेद ही मानना पड़ेगा। आपने सिर्फ असदंश एवं सदंश में ही आत्यन्तिक भेद न होने का कहा, लेकिन ऐसे तो आपने कहीं पर भी आत्यन्तिक भेद माना ही नहीं, जैसे कि श्लो०वा० (अभाव०श्लो०२४) में कहा है -

सद्गुणद्रव्यरूपेण रूपादेरेकतेष्यते। स्वरूपापेक्षया चैषां परस्परं विभिन्नता।। (श्लो०वा०अभाव०श्लो०२४)
इति वचनात्। एवं चात्यन्तिकस्य क्वचिदपि भेदस्याभावादभावरूपता भावानामन्योन्यं न सिद्ध्येत्
इत्यन्योन्याभावाभाव एव।

- एवं कारणे कार्याभावः कार्यात् कारणाच्च भेदात् तद्द्वयादपि व्यावर्तमानोऽपरापराभाववशाद्
5 व्यावर्तत इत्युभयतोऽनवस्थालतां निरवसानामातनोति, तथा कार्ये कारणाभावश्च। अथ कार्यादीनामभावः
कारणाद्यात्मकः स्वभावेनैव कार्यादिरूपविकलतया भिद्यते ततो नान्याभाववशाद्, एवं कार्यात्मा कारणा-
दीनामभावोऽपि। नन्वेवं कारणादयोऽपि कार्यादिभ्यः स्वभावेनैव भेत्यन्त इति किमपराभावांशपरिकल्पनया ?
अत एव 'कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादि न' () इत्यपि सङ्गतं स्यात् कारणादेरेव स्वरूपस्य
पर्युदासवृत्त्या कार्याद्यभावशब्दवाच्यत्वात्, तस्य च कारणादिस्वरूपस्याऽभावस्य वस्तुरूपताऽस्माकमिष्टैव।
10 प्रागभावादेश्च कारणादिभावरूपतया कारणादिविभागतो व्यवहारो लोकस्याप्येवं सिद्ध एव। 'अनुवृत्ति-
व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् तत्स्वभावो गवादिवद्' (३९९-३) इत्यत्रापि हेतुरसिद्धः साधनविकलश्च दृष्टान्तः,

'गुणवद् द्रव्य के (आश्रित) रूप में रूपादि में एकत्व मान्य है, किन्तु अपने अपने वस्तुत्व की अपेक्षा उन में परस्पर विभिन्नता है।'

- इस प्रकार — आत्यन्तिक भेद की सत्ता कहीं भी न होने से भावों की परस्पर अभावरूपता
15 कहीं भी सिद्ध नहीं हो सकेगी, फलतः अन्योन्याभाव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

[कार्याभाव कारणाभाव स्वतः व्यावृत्त न मानने पर अनवस्था]

- कारण में जो कार्याभाव कहा गया है वह न तो कार्यरूप है, न कारणरूप है, न उभयरूप
है, तब इन तीनों से विभिन्न कार्याभाव को स्वतः व्यावृत्त नहीं मानेंगे तो अन्य अन्य अभाव के
बल से व्यावृत्त मानना पड़ेगा, फिर वही अंतहीन अनवस्था रोग लागु होगा। इसी प्रकार कार्य में
20 जो कारणाभाव कहा गया है उस के लिये भी उपरोक्त रोग समझ लेना।

शंका :- कारण में कार्य का और कार्य में कारण का अभाव पृथक् नहीं है, वह कारणादिस्वरूप
ही है, वह अन्यअभाव के बल से भिन्नता अनुभव नहीं करते किन्तु स्वभाव से ही कार्यादिस्वरूपवैकल्य
के कारण भिन्न माने गये हैं। इसी प्रकार कार्य में कारणादि का अभाव भी समझ लेना।

- उत्तर :- अरे ! तब तो कारणादि भी कार्यादि से स्वतोभिन्न बने रहेंगे फिर नये नये (भेदरूप)
25 अभावांश की कल्पना करने की जरूर क्या ? ऐसा मानने पर ही आपने जो श्लो०वा० में (अभाव०श्लो०
८ में) कहा है कि 'कार्यादि का यह कौन सा अभाव है जो कारणादिरूप नहीं है ?' — (३९९-
९३) वह संगत हो सकेगा। क्योंकि —

[अभाव की वस्तुरूपता की उपपत्ति का सही तरीका]

- सच यही है कि कारणादि का स्वरूप ही पर्युदासनञ् से 'कार्यादिअभाव' शब्दवाच्य होता है।
30 उस कारणादिस्वरूप अभाव को हम भी वस्तुरूप ही मानते हैं। प्रागभावादि भी कारणादिभावस्वरूप
ही है इसी लिये उन वस्तुओं में कारण-कार्यादि विभाग से लोकव्यवहार संगत होता है। तथा वह
जो श्लो०वा० (अभाव० श्लो०९) में कहा था (३९९-९५) — अभाव वस्तुरूप है (स्वतन्त्र वस्तु है)
क्योंकि अनुवृत्ति-व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्य है जैसे गवादि — इस प्रयोग में हेतु असिद्ध है और दृष्टान्त भी

युक्तम्। यदपि 'क्षीरे दधि भवेदेवं' (३९९-१०) इत्याद्यभिधानम् तदप्यसंगतम्, यतो यदि नाम तत्प्रतिपादकं प्रमाणं न प्रवृत्तं तथापि कथं क्षीरादिषु दध्यादिसद्भावः तद्भावस्य कारणायत्तत्वात् ? तदसत्त्वग्राहकप्रमाणाभावाद्धि तदसद्व्यवहारनिवृत्तिमात्रकमेव स्यात् तत्र दध्यादिसद्भावः। निरंशैकभावरूपत्वे च पदार्थस्य 'स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यम्'... (४००-३) इत्यादि सर्वं निरस्तम्।

- 5 यच्च— 'यस्य यत्र यदोद्भूतिः...' (४००-४) इत्यादि, 'उद्भावाभिभवात्मत्वात्' (४००-१०) इति च — तत्र सदसदंशयोः सत्त्वेऽपि स्वत एव यद्युद्भवाभिभवौ तदा अपरनिमित्तानपेक्षणात् सर्वदैव स्याताम्। न ह्यनिमित्तस्य कस्यचित् कदाचिदुद्भवोऽपरस्य चाभिभवो युक्तः। न चैकाभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवः तदुद्भवनिमित्तो वा परस्याभिभवः इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। अभिभवश्च स्वरूपखण्डनम् तच्च विनाशः, स चाऽहेतुकः इति नोद्भवनिमित्तोऽभिभवः। विनाशस्य च सर्वसामर्थ्यविकलतया कथमभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवः ?
- 10 न चाभिभवावस्थायामनुपलब्धस्य तस्यैवोद्भवावस्थायामुपलम्भः सिद्धो येनोद्भवाभिभवव्यवस्था भवेत्। न च प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धेरन्यं दोष असदर्थग्राहितया तस्य भ्रान्तत्वात्। न च धर्मिणः सर्वदाऽवस्थानात् (३९९-२३) वह भी अयुक्त है। कारण :- यदि प्रागभावादिरूपता का साधक प्रमाण कोई लागू नहीं होगा तो क्षीरादि में दधि आदि का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा जब कि दधिआदि भाव तो कारणाधीन हैं ? यदि वहाँ उस के असत्त्व का ग्राहक प्रमाण नहीं मिलेगा तो इतने मात्र से दधि आदि का
- 15 सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता, सिर्फ दधि आदि के असत्त्व के व्यवहार का ही निषेध शक्य होगा। पदार्थ जब एकमात्र निरंश स्वरूप ही है तब 'स्वरूप-पररूप से नित्य सदसदात्मक...' इत्यादि जो पहले (४००-१८) श्लो०वा० के श्लोकों से कहा है वह सब निरस्त हो जाता है।

[मीमांसकोक्त उद्भवाभिभवव्यवस्था का निरसन]

- श्लो०वा० के (अभाव०श्लो०१३-१४-१७, १९-२०) 'यस्य यत्र यदोद्भूतिः...' (४००-१८) श्लोक से
- 20 ले कर 'उद्भवाभिभवात्मत्वात्'... (४००-२९) श्लोक तक जो कुछ कहा है... वहाँ हम कहते हैं कि वस्तु में सदंश-असदंश के होते हुए भी उद्भव और अभिभव यदि स्वतः ही होंगे तो अन्यनिमित्त की अपेक्षा न होने के कारण वे दोनों सर्वदा होते ही रहेंगे। निमित्तनिरपेक्ष किसी का उद्भव एवं किसी का अभिभव अल्पकालीन नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं हो सकता कि एक का उद्भव अन्य के अभिभव-निमित्त से हो, अथवा एक का अभिभव अन्य के उद्भव-निमित्त से हो, क्योंकि इस में अन्योन्याश्रय दोष लगेगा।
- 25 उद्भव के निमित्त से अभिभव का होना — यह भी असंगत है क्योंकि अभिभव का मतलब है अपनी सत्ता का भंग यानी विनाश, विनाश तो (बौद्ध मतानुसार) निरन्वय यानी निर्हेतुक होता है, फिर उद्भव कैसे अभिभव का हेतु बनेगा ? विनाश तो सर्वशक्तिशून्य होता है फिर विनाशात्मक अभिभव उद्भव का हेतु कैसे हो सकता है ?

[असदर्थग्राही होने से प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिरूप]

- 30 दूसरी बात यह है — अभिभवावस्था में जिस (द्रव्यादि) का उपलम्भ नहीं होता उसी का उद्भवावस्था में उपलम्भ कहाँ सिद्ध है जिस से कि उद्भव और अभिभव विषय में स्पष्ट निश्चय किया जा सके। यदि कहें कि — 'जिस का अभिभव अवस्था में अनुपलम्भ था उसी का उद्भवावस्था में उपलम्भ (यानी उस द्रव्यादि का एकीभाव) प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध हो सकता है अतः उक्त दोष (स्पष्ट निश्चय का अभाव)

युक्तम्। यदपि 'क्षीरे दधि भवेदेवं' (३९९-१०) इत्याद्यभिधानम् तदप्यसंगतम्, यतो यदि नाम तत्प्रतिपादकं प्रमाणं न प्रवृत्तं तथापि कथं क्षीरादिषु दध्यादिसद्भावः तद्भावस्य कारणायत्तत्वात् ? तदसत्त्वग्राहकप्रमाणाभावाद्धि तदसद्व्यवहारनिवृत्तिमात्रकमेव स्यात् तत्र दध्यादिसद्भावः। निरंशैकभावरूपत्वे च पदार्थस्य 'स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यम्'... (४००-३) इत्यादि सर्वं निरस्तम्।

- 5 यच्च— 'यस्य यत्र यदोद्भूतिः...' (४००-४) इत्यादि, 'उद्भावाभिभवात्मत्वात्' (४००-१०) इति च — तत्र सदसदंशयोः सत्त्वेऽपि स्वत एव यद्युद्भवाभिभवौ तदा अपरनिमित्तानपेक्षणात् सर्वदैव स्याताम्। न ह्यनिमित्तस्य कस्यचित् कदाचिदुद्भवोऽपरस्य चाभिभवो युक्तः। न चैकाभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवः तदुद्भवनिमित्तो वा परस्याभिभवः इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। अभिभवश्च स्वरूपखण्डनम् तच्च विनाशः, स चाऽहेतुकः इति नोद्भवनिमित्तोऽभिभवः। विनाशस्य च सर्वसामर्थ्यविकलतया कथमभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवः ?
- 10 न चाभिभवावस्थायामनुपलब्धस्य तस्यैवोद्भवावस्थायामुपलम्भः सिद्धो येनोद्भवाभिभवव्यवस्था भवेत्। न च प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धेरन्यं दोष असदर्थग्राहितया तस्य भ्रान्तत्वात्। न च धर्मिणः सर्वदाऽवस्थानात् (३९९-२३) वह भी अयुक्त है। कारण :- यदि प्रागभावादिरूपता का साधक प्रमाण कोई लागू नहीं होगा तो क्षीरादि में दधि आदि का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा जब कि दधिआदि भाव तो कारणाधीन हैं ? यदि वहाँ उस के असत्त्व का ग्राहक प्रमाण नहीं मिलेगा तो इतने मात्र से दधि आदि का
- 15 सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता, सिर्फ दधि आदि के असत्त्व के व्यवहार का ही निषेध शक्य होगा। पदार्थ जब एकमात्र निरंश स्वरूप ही है तब 'स्वरूप-पररूप से नित्य सदसदात्मक...' इत्यादि जो पहले (४००-१८) श्लो०वा० के श्लोकों से कहा है वह सब निरस्त हो जाता है।

[मीमांसकोक्त उद्भवाभिभवव्यवस्था का निरसन]

- श्लो०वा० के (अभाव०श्लो०१३-१४-१७, १९-२०) 'यस्य यत्र यदोद्भूतिः...' (४००-१८) श्लोक से
- 20 ले कर 'उद्भवाभिभवात्मत्वात्'... (४००-२९) श्लोक तक जो कुछ कहा है... वहाँ हम कहते हैं कि वस्तु में सदंश-असदंश के होते हुए भी उद्भव और अभिभव यदि स्वतः ही होंगे तो अन्यनिमित्त की अपेक्षा न होने के कारण वे दोनों सर्वदा होते ही रहेंगे। निमित्तनिरपेक्ष किसी का उद्भव एवं किसी का अभिभव अल्पकालीन नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं हो सकता कि एक का उद्भव अन्य के अभिभव-निमित्त से हो, अथवा एक का अभिभव अन्य के उद्भव-निमित्त से हो, क्योंकि इस में अन्योन्याश्रय दोष लगेगा।
- 25 उद्भव के निमित्त से अभिभव का होना — यह भी असंगत है क्योंकि अभिभव का मतलब है अपनी सत्ता का भंग यानी विनाश, विनाश तो (बौद्ध मतानुसार) निरन्वय यानी निर्हेतुक होता है, फिर उद्भव कैसे अभिभव का हेतु बनेगा ? विनाश तो सर्वशक्तिशून्य होता है फिर विनाशात्मक अभिभव उद्भव का हेतु कैसे हो सकता है ?

[असदर्थग्राही होने से प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिरूप]

- 30 दूसरी बात यह है — अभिभवावस्था में जिस (द्रव्यादि) का उपलम्भ नहीं होता उसी का उद्भवावस्था में उपलम्भ कहाँ सिद्ध है जिस से कि उद्भव और अभिभव विषय में स्पष्ट निश्चय किया जा सके। यदि कहें कि — 'जिस का अभिभव अवस्था में अनुपलम्भ था उसी का उद्भवावस्था में उपलम्भ (यानी उस द्रव्यादि का एकीभाव) प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध हो सकता है अतः उक्त दोष (स्पष्ट निश्चय का अभाव)

तद्ग्राहितया प्रत्यभिज्ञानस्य नायं दोषः, तस्याप्याद्यदर्शनोद्भूतस्वभावतयोपलभ्यमानस्य पुनरनुपलम्भपूर्वक-
मुपलब्धस्यानुपलम्भसमर्थेऽसत्तः — अन्यथा तदाप्युपलम्भप्रसङ्गात् — यत् प्रत्यभिज्ञानं तस्याऽसद्विषयतया
भ्रान्तत्वानतिक्रमात् । न चावस्थायव्यतिरिक्तोऽवस्थाता सिद्धः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलम्भात् । अनु-
पलभ्यस्वभावत्वे वा कुतस्तस्य प्रत्यभिज्ञानम् ? अव्यतिरिक्तश्चेदवस्थाविनाशे तस्यापि विनाशप्रसङ्गः,
अविनाशे विरुद्धधर्मसंसर्गादवस्थाभ्यस्तस्य भेदः, अन्यत्रापि तस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात् । यथा च प्रत्यभिज्ञा 5
न प्रमाणं तथा प्रतिपादितमेव न पुनरुच्यते । तदेवमभावस्य प्रमेयाऽसम्भवात् संभवेऽपि तस्यार्थक्रिया-
सामर्थ्यविकलतया विज्ञानजननाऽयोगाद् न तद्ग्राहकमभावाख्यं प्रमाणं संभवतीति स्थितम् ॥

एतेन संयुक्तविशेषणभावादभावग्राहीन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षं नैयायिकप्रकल्पितमपि व्युदस्तम् । तथाहि—
तत् तावदनिमित्तं न भवति कदाचित्कत्वात् । नाभावनिमित्तं तस्याऽजनकत्वात् । जनकत्वेऽपि तस्याना-
निरवकाश है' — तो यह भी गलत है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो असदर्थग्राहि होने से गलत ही है । यदि 10
कहें कि — 'धर्मी (द्रव्यादि) सदा अवस्थित होने के कारण, उस की ग्राहक प्रत्यभिज्ञा भ्रान्त नहीं हो
सकती' — तो यह फिर से कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा भ्रान्त ही होती है ! स्पष्टता :- किसी एक द्रव्य
का पहली बार दर्शन होने के काल में वह उद्भूतस्वभावरूप में उपलभ्यमान है, फिर वही बीच में
अदृश्य हो गया तब वह असत् है — यदि तब वह सत् होता तो उपलम्भ भी उस का होता — बीच
में अनुपलम्भ होने से असत् और बाद में फिर से उपलब्ध बन जाय, तब जो आप प्रत्यभिज्ञा से एकत्व 15
सिद्ध करना चाहते हो वह कैसे होगा — क्योंकि मध्य काल में असत् होने पर, पूर्वापर काल में वस्तु
एक हो नहीं सकती, अतः असदेकत्व की ग्राहक प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिक्षेत्र से बाहर नहीं है । मध्यवर्ती काल
में जब कोई वास्तव अवस्था ही नहीं है तब उस काल में अवस्था से पृथक् अवस्थाता भी कैसे सिद्ध
होगा ? यदि उस काल में वह सत् होगा तो उपलब्धिलक्षण योग्यता भी होगी, तब उस का उपलम्भ
भी होना चाहिये, यदि उस काल में वह अनुपलभ्यस्वभाववाला है तो दूसरे अर्थ में वह असत् ही 20
है फिर उस की प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है ? यदि 'अवस्थाता अवस्था से व्यतिरिक्त नहीं, अव्यतिरिक्त
है' तब तो अवस्था के विनाश से अवस्थाता का विनाश प्रसक्त होगा, विनाश नहीं मानेंगे तो अवस्थाता
में विनाश-अविनाश विरुद्धधर्मसंसर्ग प्रसक्त होने से अवस्थाता का अवस्थाभेद से भेद मानना पड़ेगा ।
जहाँ कहीं भी भेद होता है वह विरुद्धधर्मसंसर्गमूलक ही होता है ।

प्रत्यभिज्ञा क्यों अप्रमाण है — यह पहले भी कहा जा चुका है अतः पुनरुच्चार नहीं करेंगे । सारांश, 25
अभाव प्रमेय के रूप में यानी वस्तुरूप में संभवित नहीं है ! (अतः प्रमेयत्व हेतु असिद्ध है ।) कदाचित्
उस का वैसा सम्भव दीखाया जाय तो भी वह सर्व अर्थक्रियाशक्ति शून्य होने से स्वविषयक ज्ञान भी
उत्पन्न नहीं कर पायेगा, अतः उस का ग्राहक अभावसंज्ञक प्रमाण भी सम्भवबाह्य है — यह निश्चित हुआ ।

[नैयायिक कथित अभावप्रत्यक्षप्रक्रिया की समालोचना]

अभाव प्रमाणिक न होने से, नैयायिक कल्पित, 'संयुक्तविशेषणताप्रयुक्त, अभावग्राहक इन्द्रिय 30
सन्निकर्षजन्यप्रत्यक्ष वाद' भी निरस्त हो जाता है । कैसे यह देखिये — वह प्रत्यक्ष निर्निमित्त नहीं
हो सकता क्योंकि वह नित्य नहीं, अल्पकालीन है । अभाव उस का निमित्त नहीं है क्योंकि अभाव

धेयातिशयतया सहकार्यपेक्षाऽयोगात् सर्वदा तज्ज्ञानजननप्रसक्तेः तज्ज्ञानस्यैव सद्भावो भवेत्। सहकार्य-
 धेयातिशयत्वे वाऽभावस्य भावरूपता भवेत् विशेषप्रतिलम्बलक्षणत्वाद् भावस्य। 'पर्युदासरूपस्य
 तस्याभ्युपगमाददोष'श्चेत् ? न, स्वसिद्धान्तविरोधात्। तथापि तथाभूतस्य तस्याऽभ्युपगमे प्रतिषेध्यविविक्त-
 प्रदेशादिरूपतैव तस्याभ्युपगता भवेत्। प्रदेशादिश्च प्रथमाक्षसनिपातजाध्यक्षप्रतिपन्न एवेति गृहीतप्राहितया
 5 कथं तदनन्तरभाविनः स्वतन्त्रस्याध्यक्षान्तरस्य पृथक् प्रामाण्यम् अभावविषयत्वं वा भवेत् ? तस्मात्
 प्रसज्यप्रतिषेधरूपतैवाभावस्याभ्युपगन्तव्या। तस्य च तथाभूतस्य घटादिना सम्बन्धाभावात् 'घटस्याभावः'
 इति कथं घटविशेष्यता ? घटेनाऽविशेषणे च 'घटो नास्ति' इति न प्रतीतिर्भवेत् अपि तु 'अभावोऽस्ति'
 इत्येवं प्रतिपत्तिः स्यात्, एवं च घटस्याऽनिवर्तनात् न किञ्चित् कृतं स्यात्।

न चाभावः प्रदेशादेर्विशेषणं सम्भवति भावाभावयोः सम्बन्धाभावात्। न तावत् तादात्म्यलक्षणः

- 10 (तुच्छ होने से) किसी का जनक नहीं हो सकता। यदि उसे जनक माना जाय तो भी अभाव में
 किसी भी प्रकार के अतिशय का आधान शक्य न होने से उस को प्रत्यक्षजनन के लिये सहकारीयों
 की अपेक्षा रहेगी नहीं, इस स्थिति में वह अकेला सदा प्रत्यक्षज्ञान सन्तान उत्पन्न करता ही रहेगा,
 तो अभाव के बिना ही वैसा नित्य प्रत्यक्ष का सद्भाव क्यों न माना जाय ? यदि अभाव में सहकारी
 द्वारा अतिशय का आधान मानेंगे तो उस की अभाव रूपता का भंग हो कर भावात्मता प्रसक्त होगी।
 15 भाव का ही यह लक्षण है कि वह नयी नयी विशेषता से उत्कर्ष को प्राप्त करे। (जैसे पहले सादा
 वस्त्र, फिर रंगीन वस्त्र, फिर चित्रयुक्त वस्त्र इत्यादि। यदि कहें कि — 'हम अभाव को प्रसज्यात्मक
 (सर्वथा निषेधात्मक) न मान कर पर्युदासस्वरूप मान लेंगे तो उस में अतिशयाधानादि भी होगा,
 फिर कोई पूर्वोक्त दोष नहीं होगा।' — नहीं, अभाव को भावात्मक पर्युदासरूप मानने पर नैयायिक
 को अपने सिद्धान्त के साथ विरोध आयेगा। विरोध की उपेक्षा कर के भी वैसा अभाव मानेंगे तो
 20 आखिर उस का स्वरूप कैसा होगा ? निषेध्य वस्तु से शून्य प्रदेश आदि (भूतलादि) रूप ही वह
 स्वीकारना पड़ेगा। तथा, वह प्रदेशादि तो पहले ही इन्द्रियसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष से गृहीत रहेगा बाद
 में उसी का 'अभावरूप से' ज्ञान होगा तो वह गृहीतप्राहि ज्ञान ही होगा, इस स्थिति में, प्रथम प्रत्यक्ष
 के बाद होनेवाले 'अभावरूप से' द्वितीय स्वतन्त्र प्रत्यक्ष का पृथक् प्रामाण्य कैसे बचेगा ? अथवा
 तो भावप्राहि होने से उस में स्वतन्त्र अभावविषयत्व कैसे बचेगा ?
 25 सारांश, अभाव को प्रसज्यप्रतिषेध स्वरूप ही मानना होगा। प्रसज्यनिषेधस्वरूप अभाव का भावात्मक
 घटादि के साथ किसी भी सम्बन्ध (तादात्म्य-तदुत्पत्ति) का मेल नहीं बैठेगा, तब 'घट का अभाव'
 इस प्रकार घटविशेषित अभाव की विशेष्यता कैसे संगत होगी ? यदि कहें कि — घट से अविशेषित
 ही अभाव की प्रतीति मानेंगे — तो फिर 'घटो नास्ति' ऐसी घटविशेषित प्रतीति कैसे संगत होगी ?
 सिर्फ 'अभावो अस्ति' इतनी ही प्रतीति साकार बनेगी। ऐसी प्रतीति से भी घट की निवृत्ति या निषेध
 30 तो नहीं होगा, फिर 'अभाव है' इस प्रतीति ने क्या दीखाया ? — कुछ नहीं।

[अभाव में संयुक्तविशेषणता की अनुपपत्ति]

अभाव कभी किसी भूतलादि प्रदेश का विशेषण बन नहीं सकता। कारण, भाव का अभाव

तयोः सम्बन्धः अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् उपकार्योपकारकभावाभावाच्च । न तदुत्पत्तिलक्षणः । न चापरसम्बन्ध-
मन्तरेण तयोर्विशेषण-विशेष्यभावः सम्भवत्यतिप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रतीतिसामर्थ्यादेवाभिप्रेतसम्बन्धप्रकल्पना,
प्रतीतेरन्यथापि सिद्धेः । तन्नाक्षस्य संयुक्तविशेषणभावादेतत्प्रतिपत्तिजनकत्वं युक्तम् । किञ्च 'इह घटस्या-
भावः' इति स्वतन्त्रो यद्यध्यक्षप्रत्ययः कथं दर्शनानन्तरं भवेत् ? न च मानसाध्यक्षवत् स्वातन्त्र्येऽप्यानन्तर्यं
भविष्यति, तत्र स्वविषयानन्तरविषयसहकारित्वादेस्तदानन्तर्यनिमित्तस्य सद्भावात् — अत्र च तस्याऽसम्भवात् । 5
तदेवं घटविकल्पप्रदेशसामर्थ्याद्भूतेनाध्यक्षेण तत्स्वरूपग्रहणे 'सघटात् प्रदेशादयमन्यः प्रदेशः' 'नायं घटवान्'
'इह घटो नास्ति' इत्यादयः प्रतिषेधविकल्पाः प्रवर्तमाना गृहीतग्राहितया स्मृतिरूपतां विभ्रान्ता न ततः
पृथक् प्रमाणतामासादयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा शुक्लभावदर्शनानन्तरं 'शुक्लोऽयं भावः न नीलः'
इति प्रत्ययो दर्शनात् पृथक् प्रमाणं भवेत् । एवमन्येषामपि युक्ति-संभवानुपलब्ध्यादीनां प्रमाणान्तरत्वेन

के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। तादात्म्य सम्बन्ध का तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि भाव-अभाव 10
तो परस्पर अत्यन्तविरुद्धस्वरूप है, तथा उन में कोई उपकार्य-उपकारक भाव भी नहीं है। (भाव का
अभाव के साथ) तदुत्पत्तिस्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि दोनों में कारण-कार्यभाव नहीं है। अन्य
किसी सम्बन्ध के विना उन दोनों में विशेषण-विशेष्यभाव भी घट नहीं सकता। विना सम्बन्ध विशेषण-
विशेष्यभाव मानेंगे तो हिमाचल-विन्ध्याचल में विशेष्य-विशेषणभाव प्रसक्त होगा। यदि कहें कि 'प्रदेश
(भूतल) और अभाव में जो वैशिष्ट्य प्रतीति होती है उस के बल से ही उन में इष्ट (विशेष्य- 15
विशेषणभाव) सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी।' तो यह भी अयुक्त है क्योंकि विना सम्बन्ध भी
भ्रान्ति में वैशिष्ट्यप्रतीति होती है। अत एव इन्द्रिय का, अभाव के साथ संयुक्तविशेषणता सम्बन्ध
द्वारा विशिष्टप्रतीति जनकत्व मानना भी अयुक्त ही है।

[यहाँ घट का अभाव है — इस प्रत्यक्ष में आनन्तर्य क्यों ?]

दूसरी बात :- 'यहाँ घट का अभाव है' ऐसी प्रतीति यदि स्वतन्त्र प्रत्यक्षरूप है तो क्यों दर्शन 20
के बाद होती है ? स्वतन्त्र होने पर तो वास्तव में दर्शन के रूप में उस का प्रत्यक्ष होना चाहिये।
यदि कहें कि — 'स्वतन्त्र होने पर भी जैसे दर्शन के बाद मानसप्रत्यक्ष होता है वैसे अभाव का
भी होगा', — तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि मानस प्रत्यक्ष में तो आनन्तर्य का निमित्त है स्वविषय
उत्तरवर्ती विषय का सहकारित्व, अभाव प्रत्यक्ष में तो ऐसा सम्भव नहीं है। वास्तविकता यह है कि
घटशून्य प्रदेश के सामर्थ्य से निपजनेवाले प्रत्यक्ष से अभावस्वरूप का जब ग्रहण होता है तब विविध 25
प्रकार से निषेध विकल्प जाग्रत होते हैं — 'घटविशिष्ट प्रदेश से यह प्रदेश भिन्न ही है' अथवा 'यह
(प्रदेश) घटयुक्त नहीं है' अथवा 'यहाँ घडा नहीं है' इत्यादि। ये सब विकल्प स्मृति से बाह्य नहीं
हैं क्योंकि गृहीतग्राही हैं। अत एव पृथक् प्रमाण की गिनती में नहीं आ सकते — यही मानना होगा।
यदि नहीं मानेंगे तो 'शुक्लो भावः' इस प्रकार दर्शन के बाद 'श्वेत है नील नहीं' ऐसी दर्शनोत्तर
उत्पन्न प्रतीति को भी दर्शन से पृथक् नये प्रमाणरूप मानना पड़ेगा। 30

'अभाव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है' उस के लिये जो युक्तिमार्ग यहाँ कहा गया, उसी युक्तिमार्ग पर
चल कर, युक्ति (= तर्क), संभव, अनुपलब्धि आदि अन्यदर्शन कल्पित स्वतन्त्र प्रमाणों का भी निरसन

परप्रकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावो निराकरणं वा विधेयम्। तदेवं शब्दादीनां केषाञ्चित् प्रामाण्यमेव न सम्भवति, अपरेषां त्वनयोरन्तर्भावो इत्यालोच्य न्यायविदोक्तम्— 'प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् द्वे एव प्रमाणे' () इति।

[सैद्धान्तिकजैनमतेन त्रिलक्षणहेतुपरीक्षा]

- 5 अत्र प्रतिविधीयते — यत् तावत् पक्षधर्मत्वादित्रिलक्षणयोगिनो हेतोः साध्यप्रतिपत्तिरनुमानमभिहितम् तत्र विलक्षणस्य हेतोरविनाभावित्वं नावश्यंभावि, तत्पुत्रादेस्त्रैलक्षण्येऽपि गमकत्वाऽदर्शनात्। अथ यत्राऽविनाभावित्वं तत्र त्रैलक्षण्यमवश्यंभावि-इति हेतोः तल्लक्षणमुच्यते— असदेतत्, 'सर्वमनेकान्तात्मकं क्षणिकं वा सत्त्वात्' इति साध्यतः क्वचिदन्वयाभावेऽपि सत्त्वस्थानेकान्तात्मकत्वेन क्षणिकत्वेन वा विनाऽनुपपत्त्या गमकत्वदर्शनात्। तथा, 'परिणामी ध्वनिः क्षणिको वा श्रावणत्वात्' इत्यत्रापि न
- 10 क्वचिदन्वयसद्भावः। न चानित्यत्वमन्तरेण श्रावणत्वं संभवति नित्यस्य श्रवणज्ञानजनकत्वाऽसंभवात्।

अथवा यथासम्भव प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव स्वयं कर लेना चाहिये।

निष्कर्ष :- शब्दादि किसी में भी प्रामाण्य संगत नहीं होता, जो प्रमाणभूत हैं उन का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष या अनुमान में शक्य है — यही सोच कर न्यायवेदी (धर्मकीर्ति) ने कहा है — 'प्रमाण हैं तो इन में ही अन्तर्भूत होने से, प्रमाण दो ही हैं।' ()

- 15 [सैद्धान्तिक जैनमतानुसार त्रिलक्षणहेतुपरीक्षा]

अब जैनमत की ओर से बौद्धमत की समीक्षा की जाती है — अनुमान की व्याख्या में जो कहा कि पक्षधर्मत्वादि तीन लक्षणयुक्त हेतु से साध्य का बोध अनुमान है — यहाँ जैन कहते हैं कि तीन लक्षण युक्त हेतु साध्य का अवश्यमेव अविनाभावि हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि 'वह श्याम है क्योंकि उस का (मित्रा पक्षिणी का) बच्चा है' यहाँ तत्पुत्रत्व हेतु में तीनों लक्षण के होने

20 पर भी साध्यबोधकत्व नहीं दिखता है (क्योंकि हेतु सोपाधिक है)।

शंका :- जहाँ अविनाभावित्व हेतु में होता है वहाँ तीन लक्षण अवश्य होते हैं। इस लिये वे 'हेतु के लक्षण' कहे जाते हैं।

उत्तर :- गलत बात है। 'सब कुछ अनेकान्त(= परस्परविरुद्धभासि अनेकधर्मात्मक)मय है' अथवा बौद्धमत से 'सब कुछ क्षणिक है' क्योंकि (दोनों प्रतिज्ञा में) सत् है — इस साध्य की सिद्धि करते

25 समय कहीं भी अन्वय (यानी उभयसहचारवाला दृष्टान्त) नहीं मिलेगा क्योंकि यहाँ सब कुछ पक्षान्तर्गत है। फिर भी जैनमत में अनेकान्तात्मकत्व अथवा बौद्धमत में क्षणिकत्व के विना सत्त्व हेतु की सत्ता अनुपपन्न (युक्तिअसंगत) होने के कारण यहाँ सत्त्व हेतु में अन्वय के विना भी साध्यबोधकत्व मान्य रहता है। तथा, ध्वनि परिणामी है (जैन मत में) अथवा क्षणिक है (बौद्ध-नैयायिक मत में) क्योंकि श्रावण है — इस प्रयोग में भी अन्वय कहीं भी नहीं मिलता। श्रावणत्व (श्रावणप्रत्यक्षविषयत्व) ध्वनि

30 को छोड़कर अन्यत्र कहीं न होने से अन्वयदृष्टान्त असंभव है। फिर भी श्रावणत्व साध्यबोधक होता है क्योंकि अनित्यत्व या परिणामित्व के विना श्रावणत्व की उपपत्ति अशक्य है। नित्य आकाशादि कभी भी श्रावणप्रत्यक्ष के जनक हो यह सम्भव नहीं है। नियम यही है कि जिस के रहते हुए ही जिस

यस्मिन् सत्येव यद् भवति यदभावे यन्न भवत्येव कथं न तत् तस्य गमकं भवेत् ? तथा सर्वोऽपि धूमः अग्निमन्तरेण न कदाचित् प्रभवतीति व्याप्तिसाधने नान्वयः संभवति तदसिद्धौ च कुतोऽभिमतप्रदेशे धूमादग्निनिश्चयः ? अतस्त्रिलक्षणपरिकल्पनायां व्याप्तिनिश्चयस्य सर्वत्राऽसंभवात् कार्य-स्वभावहेतुद्वयस्यापि गमकत्वं न स्यात्। तथा 'नास्तीह घटः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः' इत्यत्रापि दृष्टान्ताभावात्प्रान्वयः सिद्धः। न च शशशृंगादिको दृष्टान्तः समस्तीति वक्तव्यम् तत्रापि दृष्टान्तान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः। 5

अथ शशशृंगादावनुपलम्भात् प्रवर्त्तिताभावव्यवहारोऽपि मूढः अनुपलभ्यमानेऽपि प्रदेशविशेषे घटादौ यस्तं न प्रवर्त्तयति स निमित्तदर्शनात् तत्र प्रवर्त्तते इति भवत्येव शशशृंगादिरभावव्यवहारे साध्येऽनवस्थादोष-विकलो दृष्टान्तः, तत्रानुपलम्भेनाव्यवहारस्य प्रवृत्ताऽसद्व्यवहारशशशृंगादिदृष्टान्तबलात् प्रसाधनात् प्रदेशविशेषे घटाभावस्य त्वध्यक्षसिद्धत्वात्। असदेतत् - यतो घटाभावसिद्धिर्घटाभावनर्णयः उच्यते स चेत् सिद्धः अभावव्यवहारोऽपि सिद्ध एव अभावनर्णयव्यतिरेकेणाभावव्यवहाराऽयोगात्। न च प्रदेशे घटाभावं निश्चिन्वानोऽपि तच्छब्दादिकं कश्चिन्न प्रवर्त्तयेदित्यनुपलम्भेन प्रवर्त्तत इति वाच्यम्, एवं हि भावं 10

का अस्तित्व हो, जिस के अभाव में जो कभी न रहता हो वह उस (साध्य) का बोधक होगा ही, क्यों नहीं होगा ? तथा जब व्यापक रूप से कहा जाय कि - 'सब कोई धूम अग्नि के विना कभी भी जन्म नहीं लेता' ऐसी व्याप्ति के निश्चय में अन्वय कहाँ से संभव होगा - जब कि यहाँ सभी धूम की व्याप्ति गृहीत करना है ? जब यहाँ व्याप्ति अन्वय के द्वारा सिद्ध नहीं है तो इष्ट प्रदेश 15 में धूम के बल से अग्नि का निश्चय कैसे होगा ? सारांश, त्रिलक्षणमय हेतु की कल्पना पकड़ कर रखेंगे तो व्याप्ति का निश्चय कहीं भी न हो सकेगा ! तब चाहे कार्य हेतु हो चाहे स्वभाव हेतु, व्याप्ति निश्चय के विना साध्यगमक कैसे हो पायेगा ? अनुपलब्धि हेतु भी नहीं घटेगा, जैसे कि - 'यहाँ घट नहीं हैं, क्योंकि उपलब्धि योग्यता होने पर भी अनुपलब्ध है' - इस प्रयोग में दृष्टान्त का विरह होने से अन्वय कहाँ सिद्ध है ? यहाँ असत् शशशृंग का दृष्टान्त नहीं चलेगा क्योंकि उस में भी साध्यसिद्धि 20 करने के लिये नये नये दृष्टान्त की अन्तहीन कल्पना करते रहेंगे तो अनवस्था प्रसक्त होगी।

[अभावव्यवहार के लिये शशशृंग दृष्टान्त के बारे में शंका]

शंका :- कोई मूढ ऐसा है जो शशशृंग का उपलम्भ न होने पर शशशृंग के बारे में अभाव का व्यवहार करता रहता है, किन्तु प्रदेशविशेष में घट का उपलम्भ न होने पर भी घटादि के बारे में अभावव्यवहार करना नहीं जानता, उस को अनुपलम्भरूप निमित्त को दिखा कर जब अभावव्यवहार 25 के लिये प्रेरित किया जाता है तब उस अभावव्यवहारप्रवर्तन के लिये शशशृंगादि को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर सकते हैं - इतना ही पर्याप्त है, फिर नये नये दृष्टान्त की जरूर न रहने से अनवस्था दोष निरवकाश है। वहाँ जो शशशृंग के बारे में 'असत्'पन का व्यवहार प्रवर्त्तता है उस को दृष्टान्त बनाकर उस के बल से, घट के बारे में भी अनुपलब्धि द्वारा अभाव व्यवहार का प्रसाधन करते हैं न कि घटाभाव का प्रसाधन, क्योंकि स्थानविशेष में घटाभाव तो प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। 30

[अभावप्रत्यक्ष से ही अभावव्यवहारसिद्धि - समाधान]

उत्तर :- यह गलत बात है। कारण :- घटाभाव का प्रसाधन यानी घटाभाव का निश्चय। यदि

निश्चिन्वानोऽपि कश्चित् शब्दं नोच्चारयेदिति तत्प्रवर्तनाय हेत्वन्तरं मृग्यं स्यात्। ततो घटादावप्यभावस्य साधना(र्थ) दृष्टान्तान्वेषणे तत्राप्यभावो यदि दृष्टान्तान्तरात् सिद्धस्तथा सैवाऽनवस्था। अथ तत्र साध्याविनाभूतादनुपलम्भादेर्लिङ्गाद् दृष्टान्तान्तरमन्तरेणाप्यभावनिर्णयः शब्दादिव्यवहारस्य च प्रवृत्तिः, तर्हानुपलब्धावन्वयमन्तरेणापि गमकत्वमविनाभावमात्रात् कथं नाभ्युपगतं भवेत् ?

5 एतेन 'व्यतिरेकस्यान्वये विनाभावादगमकाङ्गता' इत्यपास्तम्। तेन 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादि'ति व्यतिरेक्यपि हेतुर्गमकः सिद्धः। अथ सर्वथा परोक्षस्यात्मनोऽनुपलम्भादभावा-
ऽसिद्धेरनात्मवत्तया घटादीनां सन्देहाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितोऽस्य हेतोरनैकान्तिकत्वम्, नन्वेवं कथं सत्त्वादेः क्षणिकत्वव्याप्तिसिद्धिः यतः क्षणक्षयी ध्वनिः सिध्येत् ? अथात्र विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्य

10 वह प्रत्यक्षसिद्ध है तब तो उसी के बल पर अभावव्यवहार भी अनायास सिद्ध हो ही जाता है, क्योंकि अभाव के निर्णय के व्यतिरेक में अभावव्यवहार का व्यतिरेक होता है।

शंका :- हो सकता है, कोई मन्दबुद्धि स्थानविशेष में घटाभाव का (प्रत्यक्ष से) निश्चय कर ले फिर भी उस का शाब्दिकव्यवहार न कर पावे, तो ऐसे मन्दबुद्धि को अनुपलब्धि के निमित्त से घटाभाव के व्यवहारार्थ प्रेरणा दी जा सकती है।

15 उत्तर :- ऐसा भी मत बोलिये। कारण, इस प्रकार तो, घटाभाव के व्यवहार के लिये जैसे अनुपलम्भ प्रमाण को ढूँढते है तो वैसे ही कभी कोई मन्दबुद्धि पुरुष भाव का तो निश्चय कर ले किन्तु उस का शाब्दिक व्यवहार न कर पावे, तब उस मन्दबुद्धि को शाब्दिक व्यवहार में प्रेरित करने के लिये और कोई (अनुपलम्भ जैसा) हेतु ढूँढना पडेगा। पुनः बात तो वही खडी रही- घटादि के बारे में अभाव को साधने के लिये शशशुंग जैसे दृष्टान्त को ढूँढेंगे तो उस के अभाव को साधने के लिये और भी
20 कोई दृष्टान्त ढूँढना पडेगा... इस प्रकार अनवस्था दोष पीछा नहीं छोडेगा। यदि कहें — 'शशशुंग दृष्टान्त को छोड दो, हम तो साध्यविनाभावि अनुपलम्भादि लिङ्ग से ही अन्यदृष्टान्त का सहकार लिये विना ही अभाव का निर्णय करेंगे और उससे ही शाब्दिक आदि व्यवहार का प्रवर्तन मानेंगे।' — अरे तब तो (जब अन्वयदृष्टान्त को छोड दिया तब) अन्वय के विना ही आपने तो अविनाभावमात्र के बल से अनुपलब्धि को साध्यगमक मान कर हमारे मत का स्वीकार करलिया न ?! धन्यवाद !

25 [अन्वय के विना भी व्यतिरेकी हेतु में ज्ञापकत्व की सिद्धि]

'अन्वय के विना जो व्यतिरेक होता है वह साध्यसाधक नहीं होता' — ऐसा कथन भी पूर्वोक्त हमारे कथन से निरस्त हो जाता है। फलतः, व्यतिरेकी हेतु भी गमक है यह सिद्ध होता है — उदा० 'जीवन्त देह आत्मशून्य नहीं है, अन्यथा प्राणादिमत्त्व का लोपप्रसंग होगा।'

शंका :- आत्मा है तो भी परोक्ष है (योग्यानुपलब्धि नहीं है) अतः अनुपलब्धि से उस का
30 अभाव भले सिद्ध न हो सके, किन्तु घटादि सात्मक है या निरात्मक ऐसा संदेह तो हो सकता है, प्राणादिव्यतिरेक भी आत्मशून्यता के (आत्मा के व्यतिरेक के) जरिये होने में भी संदेह होगा, अतः संदिग्धव्यतिरेकी होने से हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा।

क्षणक्षयित्वेन व्याप्तिसिद्धिः, तर्ह्यत्रापि बाधकप्रमाणबलादेव निरात्मकाद् घटादेरविचलितस्वरूपादात्मनश्च प्राणादीनां निवृत्तेः सात्मकत्वेन तेषां व्याप्तिसिद्धिः किं नाभ्युपगम्यते ?

अथैवमपि स्वरसनिरन्वयविनश्वरबुद्धिमात्रजन्यत्वात् प्राणादेर्बुद्धिसन्तानेन व्याप्तिप्रसक्तिः। असदेतत् — बुद्धिक्षणस्य अप्राप्य स्वकार्यकालं निवृत्तेरपरबुद्धिक्षणस्य तेन उत्पत्तेरसम्भवात् सन्तानव्यावृत्तेः कुतस्तत्र प्राणादेर्वृत्तिः ? सन्तानसद्भावेऽपि निरंशस्वभावस्य शक्तिनानात्वमन्तरेण कार्यनानात्वाऽसम्भवात् कुतश्चित्त- 5 क्षणान्तरजनकः सन् प्राणादेरुपकारकः स्यात् ? अथ कारणशक्तिभेदाभावेऽपि कार्याण्येव भिद्यन्ते कथं तर्ह्यक्षणिकतायामर्थक्रियाविरोधः सिध्येत् क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाभावात्, तदभावो वा युक्तिसङ्गतः स्यात् ? नित्यस्य चाऽऽत्मनोऽसम्भवे कथं तेन सात्मकत्वं घटादिषु सन्दिग्धं येन निरात्मकाद् घटादेः प्राणादिमत्त्वादेः

उत्तर :- अरे ! ऐसे तो सत्त्व हेतु में क्षणभंगुरता की व्याप्ति भी कैसे सिद्ध होगी और उस के बल से ध्वनि में भी क्षणिकतासिद्धि कैसे होगी ? 10

शंका :- क्षणिकत्व साधक प्रयोग में व्यतिरेक का संदेह होगा तो वहाँ विपक्षबाधक प्रमाण से उस का निवारण शक्य होने से सत्त्व हेतु में क्षणभंगुरता की व्याप्ति सिद्ध हो जायेगी।

उत्तर :- ठीक, उसी तरह यहाँ भी बाधकप्रमाण के बल से, आत्मशून्य घटादि से जैसे प्राणादि की निवृत्ति होती है वैसे अविचलित स्वरूप आत्मा के विरह से जीवन्त देह में प्राणादि की भी निवृत्ति का प्रसंग आयेगा। इस बाधक प्रमाण से, प्राणादिमत्त्व में आत्मसाहचर्य की व्याप्ति निर्विवाद 15 सिद्ध क्यों नहीं होगी ?

[प्राणादि में बुद्धिसन्तान से व्याप्ति की शंका का निरसन]

शंका :- प्राणादि को आत्मप्रेरित मानने की जरूर नहीं है, बुद्धिसन्तान जब तक जीवित रहेगा, प्राणादि भी तब तक धबकते रहेंगे। अतः मान सकते हैं कि अपने स्वभाव से ही जो निरन्वयनाश होने वाली बुद्धि है उस बुद्धि मात्र से ही प्राणादि उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार प्राणादिमत्त्व की 20 व्याप्ति बुद्धि सन्तान के साथ बैठ जाती है।

उत्तर :- शंका गलत है। कारण :- प्राणादिकार्योत्पत्तिक्षण में बुद्धि क्षण का पादप्रवेश ही जब नहीं है, उसकी उत्पत्ति के पहले ही बुद्धिक्षण की ज्योत बुझनेवाली है, उस से नये बुद्धि क्षण की उत्पत्ति की आशा ही जब की नहीं जा सकती, फलतः सन्तान का प्रचलन भी शक्य नहीं रहेगा तो प्राणादि उत्पत्ति की क्या आशा करना ? क्षणभर के लिये मान ले कि सन्तान चलता है, फिर 25 भी वह सावयव या सांश नहीं है एकमात्र निरंशस्वभाव है, उस से एक ओर बुद्धिक्षण की तो दूसरी ओर प्राणादि का, इस प्रकार विचित्र कार्यों का संभव विभिन्न शक्ति के विना जब शक्य नहीं है तब, किस चित्तक्षण से किस प्रकार की शक्ति से कौन सा कार्य उत्पन्न होगा — किसे मालूम है ? तो जिस चित्तक्षण में (निरंश होने से) एक मात्र चित्तक्षणान्तरजनन शक्ति ही है उस से प्राणादि को क्या उपकार होगा ? 30

[शक्तिभेद के विना कार्यभेद मानने पर क्षणिकताभंग]

शंका :- कारण में शक्तिभेद न होने पर भी कार्यों का भेद क्यों नहीं हो सकता ?

संदिग्धो व्यतिरेको भवेत् ? तस्मात् परिणाम्यात्मव्यतिरेकेण जीवच्छरीरस्य प्राणादिमत्त्वमनुपपन्नम् निरंशस्यैकपरमाणुवत् तदुपकाराऽसम्भवाच्च कूटस्थेन निरंशक्षणिकविज्ञानपरमाणुसन्ततिरूपेण वात्मना सात्मकत्वसाधने तस्यैष्टविधातकृद् विरुद्धः प्राणादिमत्त्वादिर्हेतुः प्रसज्यते।

अथ साध्याभावे सर्वत्र साधनाभावो व्यतिरेकः। साधनसद्भावेऽपि साध्यसद्भावाभावे व्यतिरेक एव न भवेत् साधनाभावेन साध्याभावस्याऽव्याप्तत्वात्। य एव च साध्यसद्भाव एव साधनसद्भावः स एवान्वयः। स च दृष्टान्तधर्मिणमन्तरेणापि साध्यधर्मिण्यपि विपर्यये बाधकप्रमाणबलाद् निश्चीयमानः कथमसन् ? न चैवं पक्षत्वेनेच्छाव्यवस्थितलक्षणेन तत्र पारमार्थिकस्य सपक्षत्वस्य बाधा — अन्यथा साध्यधर्मिण्येव हेतुः अविद्यमानसाध्यधर्मं वर्तमानो विरुद्धः स्यात् — इति तत्र तद्युक्त एव वर्तमानः कथं न सपक्षवृत्तिः ? इति यत्र व्यतिरेकसद्भावस्तत्रावश्यमन्वयः यत्र चासौ तत्रावश्यंभावी व्यतिरेक इति नैकसद्भावे द्वितीयस्याभावः।

उत्तर :- यदि कारणभेद विना भी कार्यभेद होता है तब तो एक ही अनेकक्षणस्थायि वस्तु हो और उस से भिन्न भिन्न काल में क्रमशः अर्थक्रिया भी हो क्या विरोध है ? स्थायिभाव में क्रम या यौगपद्य से अर्थक्रिया न घटने से स्थायिभाव की सत्ता का अभाव कैसे कह सकते हैं ? यदि नित्य आत्मा की सत्ता असम्भव ही हो तब तो घटादि में सात्मकत्व की संदिग्धता का उल्लेख क्यों किया था ? (असंभव वस्तु का कभी संदेह नहीं होता।) फिर निरात्मक घटादि से प्राणादिमत्त्व के व्यतिरेक का संदेह कैसे उठाया था ? अतः स्पष्ट है कि परिणामी आत्मा के विना जीवंत शरीर में प्राणादिमत्त्व की संगति अशक्य है। निरंश नित्य परमाणु की तरह आत्मा अपरिणामी होता तो उस से किसी भाव ऊपर उपकार का होना असंभव है। प्राणादिमत्त्व में परिणामी आत्मा की ही व्याप्ति मेल खाती है। अत एव कूटस्थ आत्मा की सिद्धि के लिये प्राणादिमत्त्व हेतु कहेंगे, अथवा निरंश क्षणिकविज्ञान-परमाणुसन्तान स्वरूप आत्मा की सिद्धि के लिये (उक्त दो प्रकार से सात्मकत्व सिद्ध करने जायेंगे तो) प्राणादिमत्त्व हेतु कूटस्थनित्यत्व या क्षणिकत्व का विरोधी होने से विरुद्ध हेत्वाभास बन कर इष्ट सिद्धि में विधात कारक बन जायेगा।

[व्यतिरेक रहने पर अन्वय के अवश्यंभाव की शंका]

शंका :- व्यतिरेक की व्याख्या है जहाँ भी साध्य न हो वहाँ साधन भी न हो। साधन की सत्ता हो और साध्यसत्ता न हो — इस को कभी व्यतिरेक नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ 'साधन न हो तब साध्य भी न हो' ऐसी व्याप्ति नहीं होती। अन्वय की व्याख्या है 'साधन की सत्ता तभी होगी जब वहाँ साध्य होगा।' दृष्टान्तधर्मों के न होने पर भी, विपक्ष में बाधक के बल से साध्यधर्मों (पक्ष) में उस अन्वय का जब निश्चय शक्य हो तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्वय असत् है ? जब अन्य दृष्टान्तधर्मों न मिले तब पक्ष को ही सपक्ष मानने में क्या बाधा है ? पक्ष का लक्षण सिषाधयिषारूप इच्छा से गर्भित ही होता है, किन्तु पारमार्थिक सपक्षत्व को इच्छागर्भितस्वरूपवाले पक्षत्व के साथ क्या विरोध है ? यदि साध्यधर्मों (= पक्ष) में ही हेतु साध्यधर्म न होने पर भी विद्यमान होगा तब तो वह विरुद्ध हेत्वाभास हो जायेगा। अतः साध्यधर्म से युक्त ही पक्ष बन जाने

नन्वेवमपि 'श्व उदेष्यति सविता अद्यतनादित्योदयात्' 'जाता समुद्रवृद्धिः शशाङ्कोदयदर्शनात्' इत्यादिप्रयोगेषु हेतोः पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्वं तल्लक्षणम्। अथात्रापि कालस्य देशस्य वा तावतः पक्षत्वमिति पक्षधर्मता। न, कालस्याकाशस्य च पक्षत्वेन सौगतस्यानिष्टेः। अथापि भूतसंक्षोभादिलक्षणः कालः आकाशं वा पक्षत्वेनाभ्युपगम्यते एवेति नापक्षधर्मता। न, लोकस्य साध्यान्व-
धानुपपन्नहेतुप्रदर्शनमात्रादेव पक्षधर्मत्वाद्यनुस्मरणमन्तरेणापि साध्यप्रतिपत्तिदर्शनात्। त्रैलक्षण्यस्य तत्र सतो- 5
ऽप्यकिंचित्करत्वात्।

न च सौगताभ्युपगमेन हेतोः पक्षधर्मता सम्भवति सामान्यस्याऽवस्तुतयाऽभ्युपगतस्य हेतुत्वे शशशृंगादेरिव पक्षधर्मताऽसम्भवात्। स्वलक्षणस्य च हेतुत्वे पक्ष एव हेतुरिति नैतद्धर्मा हेतुः, अभेदे धर्मिधर्मभावस्यानुपपत्तेः
से सपक्ष भी बन गया, फिर हेतु में सपक्षवृत्तित्व क्यों नहीं होगा ? तात्पर्य, जहाँ उक्त व्याख्यावाला व्यतिरेक होगा वहाँ उक्त व्याख्यावाला अन्वय भी अवश्य होगा। जहाँ अन्वय होगा वहाँ व्यतिरेक 10
भी अवश्य होगा। सारांश, एक के भी अभाव में दूसरा नहीं रह सकता। अतः हेतु का त्रैलक्षण्य युक्तिसंगत ही है।

[पक्षधर्मत्व में हेतुलक्षणत्व का निरसन - उत्तर]

उत्तर :- पक्षधर्मत्व हेतु का लक्षण नहीं हो सकता। कारण :- आज सूर्योदय हुआ है तो कल भी सूर्योदय होगा — यहाँ आज का सूर्योदय हेतु है और साध्य सूर्योदय अग्रिम दिन में है तो हेतु 15
पक्षवृत्ति कैसे हुआ ? दूसरा भी देखो — समुद्र में ज्वार आयी हुई रहेगी, क्योंकि चन्द्र का उदय दिखता है। इस प्रयोग में हेतु ज्वार समुद्र में है चन्द्रोदय तो पूर्वदिशा में है तो पक्षवृत्तित्व कहाँ है ? इन प्रयोगों में तो हेतु में पक्षधर्मता के विरह में भी साध्यगमकत्व देखा गया है।

शंका :- दोनों प्रयोग में, पहले में दिनद्वयव्यापी काल को पक्ष बना लो, दूसरे में समुद्रदेश से लेकर चन्द्रोदय देश तक व्यापी आकाश को पक्ष कर दो, फिर हेतु में पक्षधर्मता क्यों नहीं होगी ? 20

उत्तर :- अरे, सौगत (= बौद्ध) मत में काल और आकाश द्रव्य है ही कहाँ ? (काल तो क्षणसन्तान है) आज और कल की क्षणपरम्परा एक द्रव्य कहाँ है जिस से कि वह पक्ष मान लिया जाय ? (वैसे ही आकाश तो तत् तत् स्वलक्षण ही है उस से भिन्न नहीं है, वह भी समुद्र के स्वलक्षण से भिन्न है एवं ऊर्ध्वदेश के स्वलक्षण से भिन्न है फिर एक आकाश भी कहाँ है जो पक्ष बन सके ?)

शंका :- फिर भी भूतसंक्षोभ यानी भूतचतुष्टय समुदाय रूप काल और आकाश किसी तरह 25
मान लेंगे, उन को पक्ष बना देंगे — फिर पक्षधर्मता हो जायेगी !

उत्तर :- नहीं, ऐसे भूत समुदायरूप काल या आकाश का भान या स्मरण किये बिना भी आम जनता को 'हेतु साध्य के विना अनुपपद्यमान है' — ऐसा दिखाई देने मात्र से ही साध्य का बोध हो जाता है, अतः यथाकथंचित् वहाँ त्रैलक्षण्य का मेल कर लेने पर भी वह निरर्थक व्यायाम रहेगा।

[बौद्धमत से भी हेतु में पक्षधर्मता की असंगति]

बौद्धमत में तो हेतु में पक्षधर्मता का संभव ही नहीं है। आपके मत में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण दो ही पदार्थ हैं। उन में से सामान्य को तो आप अवस्तु मानते हैं अतः उस को हेतु नहीं किया 30

स्वलक्षणस्य चान्यत्रानुगमाद् नान्वयसिद्धिः। अतद्रूपपरावृत्तस्य तस्य हेतुत्वेऽपि स्वलक्षणपक्षभावी दोषः तदवस्थ एव, अतद्रूपपरावृत्तेः स्वलक्षणादव्यतिरेकात्। व्यतिरेके अनुगतत्वे पारमार्थिकत्वे च सामान्यस्य भङ्ग्यन्तरेण हेतुत्वमभ्युपगतं भवेत्। कल्पनाविरचितस्य हेतुत्वे कुतः पक्षधर्मता ? कल्पनायाः परमार्थतो वस्त्वसंस्पर्शादित्युक्तं प्राक्। न च परपक्षे पक्षधर्मत्वं संभवति पक्षलक्षणस्यैवाऽसंभवात्। 'जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः' (न्यायबिन्दु, २-८) इति तल्लक्षणं चेत् ? नैतत्, यतो न तावत् शब्दे वादी अनित्यत्वं जिज्ञासितुमर्हति, स्वनिश्चयवदन्वेषां निश्चयोत्पादनाय तेन साधनप्रयोगात्। नापि प्रतिवादी, प्रतिपक्षसाधनाय वाद्युक्तसाधनप्रतिघाताय च तस्य प्रवृत्तेः। नापि प्राश्निकाः, तेषां विदितवेद्यतया तत्र जिज्ञासाऽसंभवात्। स्वार्थानुमाने च हेतोरलक्षणं न कथञ्चित्, तद्युक्तिः स्वयमेव तत्र जिज्ञासनात्।

10 'प्रतिपिपादयिषितविशेषो धर्मी' () इत्यपि लक्षणं प्रतिविहितम्। 'यदर्थममनुमानमुपन्यस्तं तेन तत्र जिज्ञास्यविशेषो धर्मी पक्ष' इति चेत् ? न, हेतावपि समर्थनात् प्राग् जिज्ञासनीयविशेषत्वात् पक्षत्वप्राप्तेः। 'साध्यत्वेन बुभुत्सितविशेषो धर्मी पक्ष' इति चेत् ? न, बुभुत्सितग्रहणस्यानर्थकत्वात्। 'साध्यविशेषो धर्मी' इति चेत् ? तथापि न किञ्चिद् विशेषग्रहणेन धर्मिग्रहेण वा प्रयोजनम् इति न पक्षलक्षणं

जा सकता, कदाचित् किया भी जाय किन्तु असत् किसी का धर्म बन नहीं सकता अतः वह पक्ष-धर्म भी नहीं हो सकता, जैसे असत् शशशृंगादि। यदि स्वलक्षण को हेतु करे तो, पक्ष भी स्वलक्षण हेतु भी स्वलक्षण, (एक स्वलक्षण में दूसरा स्वलक्षण वृत्ति न होने से) अतः हेतु पक्ष का धर्म नहीं बनेगा। अभेद होने पर धर्मि-धर्मभाव घट नहीं सकता। दूसरी बात, स्वलक्षण तो सर्वतो व्यावृत्त होने से अन्यत्र अनुगत है नहीं, फिर अन्यय — 'जहाँ जहाँ हेतु' यह कैसे बोल सकेंगे ? मतलब अन्ययसिद्धि नहीं होगी। अतद्व्यावृत्तिरूप से अनुगम कर के (स्वलक्षण को) हेतु बनाया जाय तो भी स्वलक्षण हेतुपक्ष में जो दोष कहा है वही तदवस्थ रहेगा, क्योंकि अतद्व्यावृत्ति कोई स्वलक्षण से अतिरिक्त 20 वस्तु नहीं है। यदि अतद्व्यावृत्ति को अतिरिक्त, अनुगत एवं वास्तविक मान ले तो प्रकारान्तर से अन्यवादी स्वीकृत सामान्यपदार्थ का ही हेतुरूप से स्वीकार प्रसक्त होगा। यदि वास्तव नहीं मानेंगे किन्तु कल्पना कल्पित सामान्य को हेतु मानेंगे तो वह पक्ष का धर्म ही नहीं हो पायेगा, क्योंकि कल्पना कभी परमार्थतः वस्तुस्पर्शी नहीं होती यह पहले कहा जा चुका है।

[पक्षधर्मता के लक्षण की अघटमानता]

25 बौद्ध धर्म के मतानुसार, हेतु में पक्षधर्मता नहीं घट सकती इतना ही नहीं, पक्षधर्मता पदार्थ भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि पक्ष का तदुक्त लक्षण ही संगत नहीं हो सकता। बौद्ध के धर्मकीर्त्तिआचार्य विरचित न्यायबिन्दु (२-८) ग्रन्थ में पक्ष की व्याख्या है — 'जिस (धर्मी) में (अज्ञात साध्यरूप) विशेष जिज्ञासाविषय है वह धर्मी पक्ष है।' — यह लक्षण भी युक्तिसंगत नहीं है। जो वादी शब्दरूप धर्मी में अनित्यत्वसाधक हेतु का प्रयोग करता है — क्या उसे अनित्यत्व की जिज्ञासा मानना उचित है ? 30 नहीं। वह तो पहले ही निश्चय कर के बैठा है, स्वनिश्चय की तरह प्रतिवादी को निश्चय कराने के लिये वह हेतु का प्रयोग करता है। क्या प्रतिवादी को अनित्यत्व की जिज्ञासा है ? नहीं, क्योंकि प्रतिवादी तो पहले से ही वादीविरुद्ध मत की सिद्धि के लिये वादीप्रयुक्त हेतु का प्रतिकार करने

परोदितमनवद्यम्। 'स्वरूपेणैव निर्देश्यः' () इत्यादिकमपि पक्षलक्षणमेकान्तवादिनोऽसङ्गतम् धर्मि-
धर्मभावस्यैकान्तवादे कथञ्चिदप्यनुपपत्तेरित्यसकृत् प्रतिपादनात्। तदेवं त्रैलक्षण्यस्याऽसंभवात्, संभवेऽपि
सति साध्याऽविनाभावित्वमात्रेणैव हेतोर्गमकत्वाद् न किञ्चित् पक्षधर्मत्वादिना रूपान्तरेणेति।

तथाहि— न क्वचित् धूमसत्ताग्निविनाभाविनीति सिद्धमविनाभावित्वम्, तत्सिद्धौ च सत्यपि पक्ष-
धर्मादिवचने तथैव गमकत्वम्। न हि वास्तवं रूपं साध्याविनाभावित्वलक्षणं हेतोरुपलभ्यमानं पक्षधर्मत्वादि- 5
वचनेऽवचने वा स्वसाध्यं न साधयति। न हि वस्तुबलायातां स्वसाध्यप्रतिपादनशक्तिं लिङ्गं
पक्षधर्मत्वादिवचनादवचनाद् वा मुञ्चति, वस्तुशक्तीनां वचनादव्यावृत्तेः। अथ त्रैलक्षण्यमपि हेतोः संभवतीति

हेतु कटिबद्ध रहता है। तो क्या प्राश्निकों (= सभासद आदि) को जिज्ञासा होती है ? नहीं, वे
तो पहले से ही ज्ञाततत्त्ववाले होने से उन को भी जिज्ञासा सम्भव नहीं। स्वार्थानुमान में तो स्वयमेव
साध्य की जिज्ञासा प्रकट होती है न कि किसी पक्ष के धर्मरूप में। अतः हेतु का पक्षधर्मता लक्षण 10
व्यर्थ है।

[पक्ष के विविध लक्षणों की अघटमानता]

न्यायबिन्दु के पक्षलक्षण के निरसन से यह भी निरस्त हो जाता है जो किसी विद्वानने कहा
है 'जिस में विशेष (साध्य) प्रतिपादनाभिलाष की विषयता है।' निरस्त होने का कारण, जैसे जिज्ञासा 15
असंगत है वैसे प्रतिपादनाभिलाष भी असंगत है। यदि कहें — 'जिस के लिये अनुमान का उपन्यास
किया जायेगा वहाँ उस की जिज्ञासा का विषयविशेषरूप धर्मो यह पक्ष है।' — नहीं, प्रयोग के पूर्व
तो हेतु भी जिज्ञासितविषयविशेष होने से उस में पक्षता की अतिव्याप्ति होगी। यदि उस के वारण
हेतु कहें कि — जो साध्यरूप से जिज्ञासित विशेष हो वह धर्मो पक्ष है — तो यहाँ 'जिज्ञासित'
का ग्रहण निरर्थक है क्योंकि साध्य कहने से ही जिज्ञासित का अर्थ उस में आ जाता है। 'तो इतना
ही कहो कि 'साध्यविशेष हो ऐसा धर्मो पक्ष है' — नहीं, 'साध्य' कह दिया फिर विशेष शब्द और 20
धर्मो शब्द भी निष्प्रयोजन है। सारांश, परोक्त पक्षलक्षण निर्दोष नहीं है। 'स्वरूप से जो निर्देश्य है
वह पक्ष' इत्यादि पक्षलक्षण भी एकान्तवादीमत में असंगत है क्योंकि एकान्तवादीमत में स्वरूपनिर्देश्य
धर्मो और धर्म, ऐसा धर्मि-धर्मभाव भी एकान्तभेद न होने से घट नहीं सकता - कई बार यह कहा
जा चुका है। उक्त रीति से हेतु का त्रैलक्षण्य संभव न होने से, कदाचित् उस का संभव हो तब
भी, सिर्फ अविनाभावमात्र से ही हेतु की गमकता सिद्ध हो जाती है तब पक्षधर्मत्वादि अन्य अन्य 25
रूपों (लक्षणों) का निरूपण व्यर्थ है।

[अविनाभाव के सिवा अन्य हेतुलक्षणों की व्यर्थता]

अविनाभाव के सिवा अन्य सभी रूपों की व्यर्थता इस प्रकार समझना :- अग्नि के विना धूम
की सत्ता कभी नहीं हो सकती अतः अविनाभावित्व यहाँ सिद्ध होता है। उस की सिद्धि होने पर
पक्षधर्मादि का उपन्यास करे ना करे, हेतु तो अविनाभावबल से ही गमक बन जायेगा। साध्याविना- 30
भावित्वात्मक वास्तव हेतुरूप, हेतु में जब तक उपलब्ध है, वह अपने साध्य को न सिद्ध करे ऐसा
होगा ही नहीं, चाहे पक्षधर्मता आदि वहाँ निरूपित हो या न हो। जो सच्चा लिंग है वह अपने

तदपि लक्षणत्वे प्रकल्प्यते। सत्यम् संभवति, किन्तु अविनाभावित्वेनैव हेतोः गमकत्वं सिद्धम् न किञ्चित्तल्लक्षणवचनेन। तथाहि— यद्गुणानुवादेन हेतोः स्वरूपं प्लक्ष्यते तदेव लक्षणत्वेनानुवादितव्यमित्य-
विनाभावित्वरूपानुवादमात्रेण हेतुलक्षणस्य परिसमाप्तेर्न पक्षधर्मत्वादि विधेयमनुवादितव्यं लक्षणत्वेन। न
च तत् तत्र संभवतीति लक्षणत्वेन वाच्यम्, तथाभ्युपगमे अबाधितविषयत्वमपि तादृग्विधे हेतौ संभवतीति
5 लक्षणान्तरत्वेन वचनीयं स्यात्। अथाविनाभावित्वं सदपि पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽगमकम्। न, व्याहतत्वात्।
तथाहि— अविनाभावित्वं स्वसाध्येन विना तस्याऽसंभव उच्यते, अगमकत्वं तु विनापि साध्यं संभवस्तस्यैवेति
कथं नान्योन्यविरुद्धयोर्व्याहृतिः ?

अथ धर्मिणोऽन्यत्राविनाभावित्वं तस्य, न पुनर्विवादाधिकरणे धर्मिणि- इति न पक्षधर्मत्वाद्यभावे
तस्य गमकत्वम्। तत् किमयं तपस्वी विवादाधिकरणो धर्मी शण्डमुद्गाह्य पुत्रं मृग्यते ? तथाहि— अन्यत्र
10 तदविनाभावित्वम् विवादाधिकरणे तु तत्रास्तीति कथमन्यस्तद्गानुच्यते ? न च धर्मः केवलो यदा हेतुस्तदा

वास्तवस्वरूप से प्राप्त स्वसाध्यनिरूपक शक्ति छोड़नेवाला नहीं है, चाहे आप पक्षधर्मतादि का निरूपण
करो या न करो। किसी (निषेधात्मक) निरूपण के डर से, वस्तु की शक्ति भाग जानेवाली नहीं।
यदि कहें — 'हेतु सच्चा हो तो उस में तीन लक्षण होते ही हैं अतः तीन रूपों को लक्षण के रूप
में मान्यता प्रदान की जाय।' — हाँ, तीनरूपों का संभव सच्चे हेतु में होता है, किन्तु जब अविनाभावित्वरूप
15 से ही हेतु में गमकता प्रसिद्ध हो जाती है तब तीनरूपों को लक्षणरूप में मान्यता प्रदान करना
कोई जरूरी नहीं है। देखिये- यह नियम है कि जिस रूप का उल्लेख करने से हेतु का स्वरूप लक्षित
हो जाता है उसी रूप का लक्षण के रूप में अभिषेक होना चाहिये। इस नियम के बल से फलित
होता है कि अविनाभावित्वरूप का उल्लेख कर देने से हेतु का लक्षण पर्याप्त बन जाता है, अतः
पक्षधर्मत्वादि रूपों का लक्षण के रूप में विधान या अनुवाद निरर्थक है। यदि कहें कि — 'वे तीन
20 रूप हेतु में लक्षण के रूप में घटते हैं अतः वैसा कहना चाहिये' — ऐसा मान लिया जाय तब
तो सच्चे अविनाभावित्वयुक्त हेतु में अबाधितविषयता भी घटती है तो फिर उस को भी एक पृथक्
लक्षण के रूप में मान्यता प्रदान करनी पडेगी। (बौद्ध उस को नहीं मानता, नैयायिक ही मानता है।)

शंका :- हेतु में अविनाभावित्व रहता है किन्तु सहकारि पक्षधर्मत्वादि के विना अकेला वह
साध्यबोधक नहीं होता।

25 उत्तर :- नहीं, आप का कथन व्याघातग्रस्त है। देखिये — अविनाभावित्व का मतलब है अपने
साध्य के विना हेतु का असंभव। अगमकत्व का मतलब है अपने साध्य के विना हेतु का सम्भव।
तो सोचिये के अविनाभावित्व है तो अगमकत्व (जो कि उस से विरुद्ध है) हेतु में कैसे रहेगा ?
परस्पर विरुद्ध होने पर व्याघात क्यों नहीं होगा ?

[विवादास्पद धर्मी में पक्षधर्मत्व की उपयोगिता का निरसन]

30 शंका :- धर्मी पक्ष को छोड़ कर अन्य स्थान में भले ही साध्य का अविनाभावित्व हो, किन्तु
विवादास्पद स्थान धर्मी (पक्ष) में तो वह निश्चित नहीं है अतः पक्षधर्मत्वादि के विना लिंग साध्य
का गमक नहीं हो सकेगा।

स केवलो न संभवतीति न तावन्मात्रस्याऽविनाभावित्वमिति । यतो धर्ममात्रवचनेऽपि साधारणस्यैवाऽविनाभावित्वम् यथा कृतकत्वमनित्यत्वमन्तरेणानुपपद्यमानं कृतकत्ववत्स्वेव भावेषु व्यवतिष्ठते । न ह्यन्यत्र तत्कृतकत्वं नाप्यविनाभावीति कृतकत्वस्याविनाभावित्वमाक्षिप्तधर्मिस्वरूपमेवेति सामर्थ्यसिद्धम् । तेन नावश्यं तत्सत्त्वं वचनेन विधातव्यम् धर्मोपरक्तधर्मिणि पृथक्पक्षधर्मत्ववचनमन्तरेणाप्यन्यथानुपपन्नत्वं कृतकस्यार्थस्य स्वरूपं जानानस्तदुपलभमान एव तदविनाभाविनमपरं स्वभावं झगित्यवगच्छति । यतो नानेन पूर्वमन्यथानुपपत्तिरूप- 5 निश्चयसमयेऽन्यत्र व्यवस्थितो धूमोऽन्यत्र व्यवस्थितेन वह्निना विनाऽनुपपन्न इत्यविनाभावः प्रतीतः । नापि तयोस्तथाविधः प्रतिबन्धः । न च प्रदेशव्यवस्थितं धूममुपलभमानोऽवश्यंतया 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्निः' इति 'तथा चेह धूमः' इति परामृश्य 'अग्निमान्' इति प्रत्येति किन्तु परिज्ञाताऽविनाभावो 'धूमदर्शनानन्तरं प्रदेशेऽग्निरत्र' इति प्राक्तनानुभवदाढ्यात् स्मरति 'असत्यत्र वह्नौ धूम एव न स्यात्' इति लिंगरूपानु- 10 स्मरणं प्रकृतस्मरणस्य तथाभावमन्तरेणाभावप्रदर्शनार्थम् ।

उत्तर :- तो क्या यह विवादास्पद धर्मो नपुंसक (अविनाभावशून्य) लिंग के साथ शादी कर के साध्यसिद्धि रूप पुत्र की कामना रखता है ? देखिये, अन्य स्थानों में अविनाभाव है और विवादास्पद धर्मो में वह नहीं है तो ऐसा लिंग अविनाभावयुक्त है ऐसा कैसे कहा जा सकेगा ? गहराई से सोचो — जब अकेले धर्म का हेतुतया निर्देश किया जाता है तब भी अकेला धर्म हेतु बना रहे ऐसा संभव नहीं रहता यानी उस में अकेले में अविनाभावित्व नहीं रहता । कारण — धर्ममात्र का निर्देश करने 15 पर भी आधारयुक्त धर्म में ही अविनाभाव रहता है । उदा० अनित्यत्व के विना अनुपपद्यमान कृतकत्व निराधार नहीं होता किन्तु कृतकत्वसहित भावोंमें ही स्थान जमाता है । अन्य स्थानों में न तो कृतकत्व रहेगा न तो उस में अविनाभावित्व । अतः कृतकत्व के अविनाभावित्व से धर्मिस्वरूप का विना बोले निर्देश प्राप्त होता है यह सामर्थ्यसिद्ध है । अतः धर्मो का (पक्षधर्मत्व का) सत्त्वनिर्देश शब्दशः करने की जरूर ही नहीं रहती । धर्माश्रय धर्मो में पृथक् पक्षधर्मत्व निर्देश किये विना भी जब श्रोता कृतक 20 अर्थ का कृतकत्व स्वरूप जाननेवाला और कृतकत्व की पहचान करनेवाला है तब कृतकत्व के अविनाभावि अनित्यत्व स्वभाव को एक झटके से समझ लेता है । इस पुरुषने पहले कभी अन्यथा अनुपपत्ति निश्चय काल में ऐसा अनुभव नहीं किया कि 'एक स्थान में (महानस में) रहा धूम, अन्य स्थान (गोष्ठादि) में रहे हुए अग्नि के विना अनुपपन्न है..... ऐसा अविनाभाव है।' वास्तव में महानसनिष्ठ धूम का गोष्ठादिनिष्ठ अग्नि के साथ अविनाभाव संभव भी नहीं है । तथा किसी प्रदेश में धूम को देख कर 25 'जहाँ जहाँ धूम वहाँ वह्नि, यहाँ धूम है' ऐसा व्याप्तिज्ञान और परामर्श कर के यह प्रदेश अग्निमान है ऐसा अनुभव कभी नहीं करता, किन्तु एक बार वह्नि का धूम में अविनाभाव जान लिया, बाद में कहीं भी धूम को देखा तो 'इस प्रदेश में अग्नि है' ऐसे पूर्वकालीन अनुभव की दृढता के प्रभाव से याद करता है — अग्नि के विरह में धूम रह नहीं सकता । इस रीति से हेतु के अविनाभावित्वरूप का पुनः स्मरण करता है । यह स्मरण भी ऐसा दिखाने के लिये होता है कि अग्निसाहचर्य के विना 30 धूम हो नहीं सकता ।

अथात्राऽप्यन्यथानुपपन्नं स्वरूपं हेतोः क्वचिदनेन निश्चेतव्यम्, यत्र च तन्निश्चीयते स सपक्षः। पुनस्तथाविधरूपवेदिनां यत्रासौ हेतुः तत्रैव ततो हेतोः तदन्यप्रतिपत्तिरिति पक्षधर्मान्वय-व्यतिरेकबलादेव हेतुर्गमक इति। नैतत् सारम्, यतोऽविनाभावित्वरूपेणैव 'सपक्षे सत्त्वम'त्राक्षिप्तमिति न रूपान्तरम्। तथाहि— अविनाभावित्वं रूपं ज्ञातं सद् गमकमिति तत् क्वचिद् ज्ञातव्यम् तेन तद्रूपपरिज्ञानोपायत्वात्, तद्रूपं सत् अविनाभावित्वमेवैकं हेतो रूपं विधीयमानं स्वात्मन्यन्तर्भावयति, ज्ञेयसत्ताया ज्ञानसत्तानिबन्धनत्वात् ज्ञानं यथा न पृथग्रूपं तथा क्वचित् सपक्षे सत्त्वमप्यपश्यतः तदविनाभावरूपग्रहणाभावः इति तदेवैकं रूपं विधीयमानमन्यत् सर्वमाक्षिपतीति न तस्माद्धेतोरन्यद्रूपं युक्तम्। अथ तैर्विना तदेवैकं रूपं हेतोर्न ज्ञायते इति रूपान्तरं कल्प्यते तर्हि न केवलं सपक्षे सत्त्वं विना तद्रूपं न ज्ञायते किन्तु बुद्धीन्द्रियादिकमपि विना तत्र ज्ञायते इति तेषामपि तद्रूपताप्रसक्तिः। अत एव 'अपक्षधर्मस्यापि हेतोर्गमकत्वे चाक्षुषत्वमपि

10 [सपक्षवृत्तित्व के बल से हेतु में साध्यकता की शंका का निरसन]

शंका :- धूम-अग्नि के प्रस्ताव में भी, हेतु के अन्यथानुपपत्तिरूप का कहीं तो उस पुरुष को निश्चय करना ही पड़ेगा। जिस प्रदेश में ऐसा निश्चय करेगा वही तो सपक्ष है। फिर, सपक्षवृत्तित्व रूप को जाननेवाला पुरुष जहाँ तथाविध हेतु को देखेगा वहाँ ही उस हेतु से धूमभिन्न अग्नि को भाँप लेगा। फलित हुआ कि पक्षधर्म तथा अन्यय-व्यतिरेक (सपक्षवृत्तित्वादि) के बल से ही हेतु साध्य का बोधक हो सकता है।

उत्तर :- यह कथन सारहीन है। कारण :- अविनाभावित्व सपक्षवृत्तित्व से गर्भित होने से उस की स्वतः सूचना कर देता है, अतः सपक्षवृत्तित्व स्वतन्त्र रूप नहीं हो सकता (क्योंकि अविनाभाव में अन्तर्भूत है।) कैसे यह देख लो — अज्ञात नहीं किन्तु ज्ञात अविनाभावरूप ही गमक होता है अतः किसी (सपक्ष) में उस को जानना तो पड़ेगा। क्या मतलब ? यही कि सपक्षवृत्तित्व सिर्फ अविनाभाव के ज्ञान में ही उपयोगी है न कि साध्यज्ञान में, अतः 'वह साध्यज्ञापक हेतु का रूप है' ऐसा ज्ञान उपयोगी नहीं है अतः वह हेतु का रूप नहीं हो सकता, फलतः अविनाभावित्व ही एक हेतु का रूप विहित किया जाय, जिस में अविनाभावित्व के भीतर सपक्षवृत्तित्व का भी अन्तर्भाव हो जायेगा। कारण, प्रमाणज्ञानसत्तामूलक हर हमेश ज्ञेयसत्ता होती है फिर भी ज्ञान ज्ञेय का पृथक् रूप (धर्म) नहीं बन जाता। वैसे ही किसी सपक्ष में हेतु-साध्य का सत्त्व न देखनेवाले को हेतु में साध्य का अविनाभाव गृहीत नहीं होता, अतः एक मात्र अविनाभावरूप का विधान करने से बाकी सब का (सपक्षवृत्तित्वादि का) विधान अनायास प्राप्त हो जाने से, हेतु के अविनाभावरूप के सिवा अन्य किसी भी रूप को मानना अनिवार्य नहीं है। यदि तर्क करे — 'अन्य रूपों के विना अविनाभावित्वात्मक हेतु के एकमात्ररूप का ज्ञान ही संभव नहीं है अतः हेतु के अन्यरूपों को भी मान्य करना जरूरी है।' — अरे तब तो, सपक्षवृत्ति के विना अविनाभावित्वरूप ज्ञात नहीं होता अतः उस को मानने की बात क्यों करते हो — बुद्धि-इन्द्रिय आदि के विना भी अविनाभाव रूप ज्ञात नहीं हो सकता अतः बुद्धि-इन्द्रियादि को भी 'हेतु के रूप' क्यों नहीं मान लेते ? यही कारण है कि किसीने जो कहा है — 'पक्षधर्म न हो ऐसा हेतु यदि गमक होगा तो चाक्षुषत्व (शब्दवृत्ति यानी पक्षवृत्ति) न होने पर भी शब्द में नित्यत्व का ज्ञापक बन बैठेगा' — ऐसा कथन भी जमींदोस्त हो जाता है।

शब्दे नित्यत्वस्य गमकं स्यात्' () इति परोक्तमपास्तम्, यतः चाक्षुषमनित्यत्वाऽविनाभावि, शब्दश्चाक्षुषो न भवतीति कुतोऽत्र दोषावकाशः ?

यदपि— 'यदि धूमोऽग्न्यविनाभावित्वमात्रादग्निं गमयेत् महाम्बुराशौ किं न गमयेत् ?' (३७६-९) इति चोद्यम्— तदप्यसंगतम्। यतो नान्यदेशे धूमोऽग्निनिधिपावकाविनाभावी सिद्धः तद्देशसाध्याविनाभावित्वात् तस्य। अत एव यद्यप्यन्यदेशस्थो हेतुर्नान्यदेशस्थसाध्याऽविनाभावी, तथाप्यपक्षधर्मोऽसौ गमको न भवतीत्यस्यार्थस्य 5 ज्ञापनार्थं पृथक् पक्षधर्मत्ववचनं लक्षणे विधेयमिति न वक्तव्यम्, साध्यान्यथानुपपन्नत्वैकरूपप्रतिपत्तेरेव तदर्थस्य लब्धत्वात्। एतेन 'न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रास्तीति अत्रैव नियत उच्यते' (३३८-९) इत्यपि निरस्तम् यद्योक्तप्रकारेण साध्याऽविनाभावित्वस्यैव त्रित्वव्यापकत्वात् तद्विकलस्य तस्य विद्यमानस्याऽप्य- किञ्चित्करत्वात्। किञ्चित्करत्वेऽप्यविनाभावित्वैकरूपनिर्णयनिमित्ततया दृष्टान्तादिवद् हेत्वनङ्गत्वात्। स्वभाव- कार्यानुपलम्भकल्पनामन्तरेणाप्यन्यथानुपपत्तिमात्राद्धेतोर्गमकत्वोपपत्तेर्नाविनाभावः त्रिसंख्येन हेतुना व्याप्तः। 10 तथाहि— वृक्षाच्छायानुमानं लोके प्रसिद्धम्। न च वृक्षस्तच्छायाकार्यं सहभावित्वात्। नापि स्वभावः

कारण, चाक्षुषत्व नित्यत्व का नहीं अनित्यत्व का अविनाभावि होता है, तथा शब्द कभी चाक्षुष नहीं होता। फिर यहाँ उक्त दोष को अवकाश ही कहाँ ?

[पक्षधर्मता के विना महासमुद्र में अग्निबोध के आक्षेप का उत्तर]

यह आक्षेप — यदि अग्नि के अविनाभावमात्र से धूम अग्नि का गमक बने तो अत्रस्थ धूम 15 महासमुद्र में भी अग्नि का गमक बन जाय (३७७-९०) — निरस्त हो जाता है। कारणः अन्यदेशस्थ धूम महासमुद्रगतअग्नि का अविनाभावी सिद्ध नहीं है, धूम (हेतु) तो स्वदेशस्थ साध्य का ही अविनाभावी होता है। यदि कहा जाय — 'इसी लिये तो, यद्यपि अन्यदेशस्थ हेतु भिन्नदेशवृत्तिसाध्य का अविनाभावी नहीं होता, तथापि वह पक्षधर्म यदि नहीं होगा तो गमक नहीं होगा इस तथ्य का प्रकाशन करने के लिये पृथक् पक्षधर्मत्व हेतु का लक्षण करना जरूरी है।' — तो ऐसा मत बोलिये। कारण, हेतु 20 का जो अत्यावश्यक यह रूप है साध्यान्यथानुपपत्ति, उस के ग्रहण में अपृथग्रूप से पक्षधर्मत्व का ग्रहण प्राप्त हो जाता है। यह जो किसीने कहा था — (स्वभावादि) त्रिविध हेतु के सिवा वह (अविनाभाव) नहीं होता अतः वह त्रिविध हेतु में ही नियमतः होता है' (३३८-९०) यह भी पूर्वोक्त विवरण से निरस्त हो जाता है। वास्तव में तो, जैसा कि ऊपर कहा है, त्रित्व अविनाभाव का व्यापक नहीं है किन्तु अविनाभाव ही त्रित्व का व्यापक है। अविनाभाव के विरह में त्रित्व के रहने से भी कोई 25 फायदा नहीं है। कुछ फायदा हो तब भी - जैसे अविनाभाव एकमात्र रूप के निर्णय में दृष्टान्त उपयोगी होने पर भी वह (दृष्टान्त) हेतु का अभ्यन्तर अङ्ग नहीं होता वैसे ही त्रित्व भी उपयोगी होते हुए भी हेतु का अङ्ग नहीं बन सकता। स्वभाव-कार्य-अनुपलम्भ ऐसे तीन भेदों की कल्पना न करने पर भी एकमात्र अन्यथाअनुपपत्ति के बल से हेतु गमक होता है, अतः अविनाभाव त्रिसंख्यकहेतु से व्याप्त नहीं है। देखिये - वृक्ष है तो छाया भी है ऐसा वृक्षहेतुक छाया का अनुमान लोग करते 30 हैं, वृक्ष न तो छाया का कार्य है - क्योंकि वृक्ष और छाया दाये बाये विषाण की तरह सहभावी होते हैं। न तो वृक्ष छाया का स्वभाव है क्योंकि वृक्ष और छाया दोनों का स्वभाव भिन्न भिन्न सुविदित

स्वभावभेदोपलब्धेः। एतेन तुलादेर्नमनाद् उन्नमाद्यनुमानं चिन्तितम्। 'परभागवान् इन्दुः अर्वाग्भागवत्त्वाद् घटादिवद्' इत्यत्रापि न तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा पराभ्युपगमेन संभवति ऊर्ध्वभागवतामधोभागवतां च परमाणूनां स्वभावभेदात् सहभावाच्च।

- 5 एकसामग्र्यधीनताकल्पनायां रूपादे रसादेरिवानुमानं कारणात् कार्यानुमानं प्रसक्तम्। तथाहि — समानकालभाविनो रूपादेर्यद् रसतोऽनुमानं तत् कारणात् रूपजनकादनुमितादनुमानम्। न च समानकालभावि रूपजनकत्वानुमानं रसहेतोरितद् इति हेतुधर्मानुमानम्, कारणात् कार्यानुमानेऽप्येवं दोषाभावात्। न चात्रैवं लोकप्रतीत्यभावदोषः, हेतुधर्मानुमानेऽपि लोकप्रतीतेरभावात्। तथाहि— तथाविधरसोपलम्भात् तत्समानकालं तथाविधं रूपम् अर्वाग्भागदर्शनाच्च परभागं लोकः प्रतिपद्यते न पुनर्विशिष्टं कारणम्। अथाऽप्रतिबन्धादे-

- है। इसी विवेचन से, तुला के एक पल्ले के नमन से दूसरे के उन्नमन का अनुमान भी सुविचारित हो जाता है। (यहाँ भी स्वभाव या कार्य हेतु नहीं है — समकालीन एवं विभिन्न हैं।) तथा 'चन्द्र पृष्ठभाग युक्त है क्योंकि अग्रभागयुक्त है जैसे घटादि' इस अनुमान में बौद्धमत में तो न तादात्म्य है न तदुत्पत्ति। कारण, ऊर्ध्वभाग (या पृष्ठभाग) एवं अधोभाग (अथवा अग्रभाग) के परमाणु भिन्न स्वभावी है फिर भी सहभावी हैं।

[एक सामग्र्यधीनता की कल्पना से कार्यानुमानप्रसङ्ग]

- 15 शंका :- तुला नमन-उन्नमन, पृष्ठभाग-अग्रभाग इत्यादि में तादात्म्यादि नहीं है किन्तु एकसामग्रीअधीनतारूप प्रतिबन्ध की कल्पना कर सकते हैं। एक पल्ले में भाररूप सामग्री से ही भिन्न पल्ले के नमन उन्नमन होते हैं- और एक ही पूर्वक्षण की स्वलक्षणपुञ्ज सामग्री से पृष्ठभाग-अग्रभाग बनते हैं। इस प्रकार तुल्यसामग्रीजन्यत्वरूप प्रतिबन्ध के आलम्बन से, एक से दूसरे का अनुमान हो सकेगा।

- उत्तर :- अरे ! यह तो रूपादि से रस के अनुमान की तरह कारण से कार्य का अनुमान प्रसक्त हुआ जो स्वभावादि तीन से तो अतिरिक्त है और बौद्ध को मान्य नहीं है। देखिये - यह जो समानकाल भावी रूपादि का रस से अनुमान होता है वह रूप रस कार्य से अनुमित जो रूप कारण, उस कारण से रसादि कार्य का अनुमान है। यदि कहें कि — 'वास्तव में तो यह रस के हेतु (स्वलक्षणादि) में रूपजनकत्व का अनुमान है, मतलब कि रसहेतु यानी रसकारण के धर्म (रूपजनकत्व) का यह अनुमान है।' — अगर ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है तो उक्त प्रकार से अनुमित रूप कारण से 25 तथाविध रूप कार्य का अनुमान माने तो भी क्या दोष है ? यदि कहें कि — 'ऐसी लोकप्रतीति नहीं है कि रूप कारण से रूप कार्य का अनुमान होता है।' — अच्छा ! तो ऐसी भी लोकप्रतीति कहाँ है कि उक्त हेतु धर्म का अनुमान होता है ? देखिये — तथास्वरूप रस के उपलम्भ से तत्समानकालीन रूप की लोगों को प्रतीति होती है। अग्रभाग के दर्शन से पृष्ठभाग का अनुमान होता है। किन्तु दोनों स्थल में किसी कारणविशेष का बोध तो लोकप्रतीति नहीं है।

- 30 शंका :- प्रतिबन्ध के बिना एक (रसादि) से अन्य (रूपादि की प्रतीति यदि होगी तो हिमाचल से विन्ध्याचल की भी प्रतीति होने का अतिप्रसंग हो सकता है अतः कारण की भी प्रतीति मान लेना चाहिये।

कतोऽन्यप्रतिपत्तावतिप्रसङ्गाः । न, अविनाभूतादन्यतोऽन्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अथ प्रतिबन्धमन्तरेणान्यस्यान्या-
ऽविनाभाव एव कुतः ? ननु प्रतिबन्धोऽप्यपरप्रतिबन्धमन्तरेणान्यस्यान्येन कुतः ? अथ प्रतिबन्धोऽपि
न वास्तवः प्रतिबद्धयोरन्यः किन्तु कारणान्तरमपरस्य कार्याभिमतस्य भावो वस्तुस्वरूपमेव । तच्च पूर्वोत्तर-
वस्तुस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चीयते, तन्निश्चयनमेव कार्य-कारणभावप्रतिबन्धनिश्चयनम् । नन्वेवं
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्येनान्यस्याविनाभावित्वनिश्चयेऽपि न दोषः ।

5

अथैकदान्येनान्यस्याविनाभावित्वदर्शनेऽपि सर्वदा सर्वज्ञानयोरेवमेव भावः इति न दर्शनाऽदर्शनाभ्यां
निश्चेतुं शक्यम् । प्रतिबन्धग्रहणे तु नायं दोषः, कर्पूरोर्णादीन्धनस्वभावानुकारिधूमस्वरूपग्राहिणा विशिष्टाध्यक्षेण
सकृदपि प्रवृत्तेनाग्निधूमयोः कार्य-कारणभावननिश्चयात् 'सर्वदाऽनग्निव्यावृत्ताग्निजन्तोऽधूमव्यावृत्तो धूमः'
इति निश्चीयते । अन्यथा अन्यदैकदाप्यग्नेर्धूमस्योत्पादो न भवेत्, अहेतोः सकृदप्यभावात् भावे वा निर्हेतुक-
ताप्रसक्तेः । तदुक्तं ▲ 'कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः' (प्र०वा०३-३४) इत्यादि । अयुक्तमेतत्— परपक्षे

10

उत्तर :- नहीं, अविनाभूत एक भाव (रसादि) से अन्य भाव (रूपादि) की प्रतीति क्यों नहीं
हो सकती ? (मतलब, तथाविध रूपादि के अविनाभावी तथाविध रसादि है इसीलिये रसादि से रूपादि
की प्रतीति (अनुमान) हो सकती है । हिमाचल विन्ध्याचल का अविनाभावि कहां है ?)

शंका :- यही तो हमारा प्रश्न है कि तादात्म्यादि प्रतिबन्ध के विना एक (रसादि) का दूसरे
(रूपादि) के साथ अविनाभाव कहाँ से होगा ?

15

उत्तर :- अरे वाह ! हम पूछते हैं कि तादात्म्यादि अन्य प्रतिबन्ध के विना एक का दूसरे के
साथ प्रथम तादात्म्यादि प्रतिबन्ध भी कहाँ से होगा ?

शंका :- वास्तव में तादात्म्यादि प्रतिबन्ध कोई प्रतिबद्धों से पृथक् चीज नहीं है जिस से कि
उस के लिये अन्य अन्य तादात्म्यादि प्रतिबन्ध ढूँढना पड़े । वह तो कार्यरूप से इष्ट अन्य भाव का
एक कारणविशेष ही है जो कि मुख्य कारणवस्तु का ही स्वरूप है । उस का निश्चय होता है
पूर्वोत्तरकालीनवस्तुस्वरूपग्राहक प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से । यह जो निश्चय है वही कार्य-कारणभावात्मक
प्रतिबन्ध का निश्चय माना गया है । अतः अन्य...अन्य...प्रतिबन्ध के विना मूल प्रतिबन्ध कहाँ से
आया — यह प्रश्न ही नहीं रहता ।

उत्तर :- अरे वाह ! तब तो हमारे मत में भी प्रतिबन्ध के विना एक का दूसरे के साथ
अविनाभाव निश्चय कहाँ से आया — यह प्रश्न भी निरवकाश है क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ से एक
का दूसरे से अविनाभाव का निश्चय सुलभ होने से कोई दोष नहीं है ।

25

[तादात्म्यादि के विना प्रतिबन्धाभाव की शंका का समाधान]

शंका :- एकबार एक चीज का दूसरी वस्तु के साथ अविनाभाव देख लिया, फिर भी सर्वत्र
सर्व काल में उन का ऐसा ही सम्बन्ध है — इस प्रकार का निश्चय, दर्शन और अदर्शन (अन्वय-
व्यतिरेक) के बल से करना शक्य नहीं है । हाँ, यदि तादात्म्यादि प्रतिबन्ध की उपलब्धि हो जाय
तो उक्त दोष नहीं रहेगा । कपूर, ऊर्णादि इन्धन के स्वभाव की अनुवृत्तिकारक धूम का जो स्वरूप
है उस को ग्रहण करने वाला एक बार भी विशिष्ट प्रत्यक्ष प्रवृत्त हो जाय तो अग्नि और धूम के

30

▲. 'स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ।।' इत्युत्तरार्द्धं प्रमाणवार्तिके ।

कार्यधर्मानुवृत्तरेवाऽयोगात्। एकदेशेन कार्यधर्मानुवृत्तावनेकान्तवादप्रसक्तेः। सर्वात्मना तदनुवृत्तौ कार्यस्य कारणरूपतापत्तेः, कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात् इत्युक्तत्वात्।

- किञ्च, सर्वदा सर्वत्राग्निजन्यो धूम इति न प्रत्यक्षमनुपलम्भसहायमपीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम् सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च। तत्पृष्ठभाविनोऽपि विकल्पस्य नात्रार्थं सामर्थ्यम् तदर्थविषयतया
- 5 तस्य गृहीतग्राहित्वेनाऽप्रामाण्याभ्युपगमात्। अनुमानमपि नैवं प्रतिबन्धग्राहकम् अनवस्थेतरैतराश्रयदोषप्रसक्तेः। न च भवत्पक्षेऽप्यविनाभावित्वग्रहणे हेतोरयं समानो दोषः; यतोऽन्यथानुपपन्नैकलक्षणो हेतुरित्यस्माकं हेतुलक्षणम्। अन्यथानुपपन्नत्वं च तादात्म्य-तदुत्पत्त्योः पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टमित्येषां च तथैकार्यसमवायि-संयोगि-समवायीत्यादीनां च तथा वीतमवीतं वीतावीतं चेत्यादीनां च सर्वहेतूनां व्यापकम्, सति गमकत्वे सर्वेषामप्येषां साध्याऽविनाभावित्वात्, तद्विकलानां च गमकत्वाऽयोगात्।

- 10 बीच कारण-कार्यभाव का निश्चय हो जाता है, इस निश्चय के बल से 'सर्व काल में अनग्निव्यावृत्त अग्नि से अधूमव्यावृत्त धूम उत्पन्न होता है' ऐसा निश्चय अनायास हो जाता है। यदि इस तथ्य का स्वीकार नहीं करेंगे तो अन्य काल में कभी भी अग्नि से धूम की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि अकारण (यानी कारणभास अग्नि) से कभी भी कार्य (धूम) की उत्पत्ति शक्य नहीं है, शक्य मानें तो कार्यमात्र निर्हेतुक प्रसक्त होगा। कहा है कि (प्र०वा०३-३४) 'कार्य धर्म (कारणसदृशधर्म) के अनुसरण
- 15 के निमित्त धूम अग्नि का कार्य (सिद्ध होता) है।'

- उत्तर :- यह सब गलत है। बौद्ध मत में कार्यधर्म की अनुवृत्ति ही अशक्य है। कार्य के सभी धर्मों (कारणसदृशधर्मों) का अनुवर्तन शक्य नहीं है। यदि एक देश (कपूरादि के गन्धादि धर्मों) से अनुवर्तन की बात करें तो यह अनेकान्तवाद में ही सम्भव है। सर्वसंपूर्णरूप से कार्यधर्म का अनुकरण मानेंगे तो कार्य कारणरूप ही बन कर रहेगा, फलतः कार्यकारणभाव का ही लोपप्रसंग आयेगा यह
- 20 पहले कह दिया है।

[अविनाभावग्रहण में अनुपलम्भसहकृत प्रत्यक्ष - असमर्थ]

- दूसरी बात :- प्रत्यक्ष को अनुपलम्भ का कितना भी सहकार मिले, वह इतना बड़ा काम तो कभी नहीं कर सकता कि सर्वकाल-सर्वदेश में धूम अग्निजन्य होता है ऐसा भाँप सके। कारण :- एक तो वह संनिकृष्ट विषय के बल से ही उत्पन्न हो सकता है, दूसरा, उस में विचार को अवकाश
- 25 नहीं है। प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होनेवाला विकल्प भी इतने बड़े काम में सक्षम नहीं है क्योंकि एक तो वह प्रत्यक्ष के विषय को ही ग्रहण करता है। दूसरा, गृहीतग्राही होने से प्रमाणरूप में स्वीकृत नहीं है। अनुमान भी इतना बड़ा काम करने में अक्षम है। यानी वह प्रतिबन्धग्राहक नहीं है क्योंकि उस अनुमान के लिये प्रतिबन्धग्रहण कौन करेगा ? यदि उस के लिये नये नये अनुमान की कल्पना करेंगे तो अनवस्था दोष होगा। यदि दूसरा अनुमान पहले अनुमान के प्रतिबन्ध को, और पहला
- 30 दूसरे अनुमान के प्रतिबन्ध को ग्रहण करने का कहेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा।

शंका :- आप के मत में भी हेतु में अविनाभावग्रहण में अनवस्था अन्योन्याश्रय दोष समानरूप से लगेगा।

तस्य च ग्राहकमूहः प्रत्यक्षानुपलम्भप्रभवः प्रमाणम् । तच्चाऽविसंवादकत्वाद् अनक्षजत्वाद् अलिङ्गजत्वाच्च स्वार्थाध्यवसायरूपं मतिनिबन्धनमस्माकम(कं) प्रमाणान्तरं परैः प्रमाणान्तरत्वेनावश्यमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावतोऽनुमानस्याप्यप्रवृत्तिप्रसक्तेः । अत एवानुमानं प्रमाणमभ्युपगच्छता 'प्रत्यक्षमनुमानं वेति द्वे एव प्रमाणे' इति न वक्तव्यम्, अनुमानाभ्युपगमे यथोक्तन्यायेन प्रमाणान्तरस्याप्यापत्तेः ।

यदपि 'गोत्वाद् विषाणी' इत्यादौ 'समुदायव्यवस्थायाः कारणं समुदायिनः' इत्यभिहितम् तत्रापि 5 व्यवस्था यदि शब्दात्मिका अथ विकल्पात्मिकाभ्युपगम्यते ? उभयथाऽपि नार्थेन प्रतिबन्धसिद्धिः । अतो न कार्यहेतुर्गमकः, नापि स्वभावहेतुरविनाभाववैकल्ये इति स्थितम् । 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इत्यनुपलब्धौ विशेषणोपादानं चानर्थकम् परचैतन्य-भूत-ग्रहादीनामदृश्यानामपि क्वचिदभावसिद्धेर्दाहादिव्यवहारदर्शनात् । यदि पुनरनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेरभावो न सिध्येत् 'नेद निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्' इत्यत्र प्रयोगेऽदृश्यानुपलम्भादभावाऽसिद्धेर्घटादीनां नैरात्म्याऽसिद्धितो 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति 10

उत्तर :- नहीं, हमारे मत में तो हेतु का लक्षण अन्यथानुपपत्ति है । यह अन्यथानुपपत्ति लक्षण ऐसा है कि अन्य अन्य दर्शनों में प्रतिपादित हेतु के लक्षण — (बौद्धमत में) तादात्म्य-तदुत्पत्ति, (वैशेषिक मत में) पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट, (नैयायिक मत में) एकार्थसमवायी-संयोगी-समवायी इत्यादि, तथा (सांख्यमत में) वीत, अवीत और वीतावीत इत्यादि — इन सभी हेतु लक्षणों का व्यापक है । मतलब अन्य दर्शनों ने जो भी हेतु का लक्षण दिखाया है उन सभी में अविनाभावित्व को लेना 15 ही पडता है । कारण :- यदि अन्य दर्शन कथित लक्षणवाला हेतु वास्तव में गमक है तो अनिवार्यरूप से वे साध्य के अविनाभावी है यह स्वीकारना पडेगा क्योंकि अविनाभावशून्य हेतु गमक नहीं हो सकता ।

[अविनाभाव का ग्राहक ऊह संज्ञक स्वतन्त्र प्रमाण - जैन मत]

यदि पूछा जाय — अविनाभावित्व का ग्राहक कौन सा प्रमाण है ? उत्तर :- प्रत्यक्ष-अनुपलम्भप्रेरित 20 ऊह ही ग्राहक प्रमाण है । हमारे मत से वह मतिज्ञानविशेषरूप स्वतन्त्र प्रमाण है । यह ऊह अविसेवादी होने से, इन्द्रियजन्य न होने से, तथा लिंगजन्य भी न होने से प्रत्यक्ष-अनुमान से इतर प्रमाण है जो स्वप्रकाशी एवं अर्थअध्यवसायि है । उक्त हेतुओं से अन्य वादियों को भी इस का स्वतन्त्रप्रमाणरूप से स्वीकार करना चाहिये । यदि नहीं करेंगे तो व्याप्तिग्राहक ऊह (यानी तर्क) प्रमाण न होने पर व्याप्ति भी प्रमाणभूत न होने से अनुमान की प्रवृत्ति रुक जायेगी । तात्पर्य, जिन्हें अनुमान प्रमाणरूप 25 से स्वीकार्य है, उन्हें चाहिये कि वे 'प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण है' ऐसा आप्रह छोड दे क्योंकि अनुमान स्वीकारने पर उक्त युक्ति के बल से ऊहात्मक अन्य प्रमाण को भी स्वीकारना पडेगा ।

[कार्य-स्वभाव-अनुपलब्धि अविनाभाव के विना निरर्थक]

यह जो कहा जाता है — 'गोत्व से शृंगवाला... इत्यादि में समुदाय की व्यवस्था का कारण समुदायि (व्यक्ति) है' ... यहाँ व्यवस्था कैसी मानते हो ? शब्दात्मक या विकल्पात्मक ? किसी भी 30 प्रकार में अर्थ के साथ व्यवस्था का प्रतिबन्ध सिद्ध न होने से कार्यहेतु गमक नहीं हो सकता । अविनाभाव से वंचित स्वभावहेतु भी गमक नहीं हो सकता यह निश्चित है । तीसरे अनुपलब्धिलिंगक अनुमान

- व्याप्तेः साकल्येनाऽसिद्धौ प्रकृतोऽपि क्षणभङ्गो भावानां न सिद्धिमासादयेत्। यथा च तादात्म्य-
तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धग्रहणं परपक्षे न संभवति तथा असकृत् प्रतिपादितम्। तेन 'त्रिसंख्यहेतुव्यतिरिक्तेषु
तथाविधप्रतिबन्धाभावादविनाभावस्य हेतुत्वव्यापकस्याभावाद्धेत्वाभासत्वम्' इति यदुक्तं (३३७-७) तन्निरस्तं
दृष्टव्यम् यथोक्तप्रतिबन्धेन त्रित्वस्याऽविनाभावस्य चाऽव्याप्तेः, उक्तन्यायेन तेनैव तयोर्व्याप्तेः। अतः
5 'संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः'...(प्र०वा०४-२०३) इत्यादि (३३९-६) सर्वमयुक्ततया व्यवस्थितम्।
यथोक्तहेतुप्रभवस्य च साध्यनिश्चयस्यानुमानत्वेऽन्यतः सम्बन्धात् सामान्याकारेण प्रतिपत्तिरनुमानमित्यादि
प्रमाणान्तरस्य तत्रान्तर्भावप्रतिपादनमयुक्तम् यथोक्तन्यायात्।

- में अनुपलब्धि की व्याख्या में जो विशेषण है 'उपलब्धिलक्षण को प्राप्त होते हुए' वह भी निरर्थक
है। कारण, अन्यव्यक्तिनिष्ठ चैतन्य, भूत का ग्रह (आवेश) आदि अदृश्य होने पर भी (यानी
10 उपलब्धिलक्षणप्राप्त न होने पर भी) उन का कहीं कहीं अभाव सिद्ध होता ही है। तथा अन्य व्यक्तिनिष्ठ
दाहादि अदृश्य होने पर भी उस से होनेवाले दाहादि का व्यवहार दिखता है, उस का अभावव्यवहार
नहीं होता।

[उपलब्धिलक्षण अप्राप्त से भी अभावानुमान]

- यदि उपलब्धिलक्षण अप्राप्त की अनुपलब्धि से अभाव की सिद्धि नहीं मानेंगे तो 'यह जीवंत
15 देह आत्मशून्य नहीं है क्योंकि प्राणादिशून्यता की प्रसक्ति होगी' — इस प्रयोग से अदृश्य (= उपलब्धिलक्षण
अप्राप्त) आत्मा की अनुपलब्धि से निरात्मकता का अभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा, फलतः घटादि में
भी निरात्मकता की सिद्धि नहीं हो सकेगी और स्थायी आत्मा सिद्ध हो जाने से बौद्धों की यह व्याप्ति
'जो सत् होता है वह क्षणिक होता है' वह भी सर्वभावों में व्यापकरूप से सिद्ध न होने के कारण,
बौद्धमान्य भी भाव क्षणभंगसिद्धि का मुख नहीं देख सकेगा।
20 बौद्धमत में तादात्म्य-तदुत्पत्ति स्वरूप प्रतिबन्ध का ग्रहण कैसे असंभव है यह तो बार बार कहा
जा चुका है। अत एव — "तीन प्रकार के हेतु से अतिरिक्त हेतु में, विवक्षित (कार्यादिरूप) प्रतिबन्ध
के न होने से, हेतुत्वव्यापक अविनाभाव न रहने से हेत्वाभासता का कलंक नहीं टलेगा।" — (३३७-
२९) ऐसा जो बौद्धों का कथन है वह निरस्त हो जाता है। पूर्वकथित तादात्म्यादि प्रतिबन्ध के लिये
यह कहना कि अविनाभाव या त्रित्व उन का व्याप्य है यह गलत है, सच तो यह है कि अविनाभाव
25 का ही तादात्म्य-तदुत्पत्ति दोनों है। त्रित्व के विना भी अविनाभाव हो सकता है, अविनाभाव के विना
त्रित्व नहीं हो सकता। यानी अविनाभाव के विना तादात्म्य-तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है।
तादात्म्य-तदुत्पत्ति प्रतिबन्ध के विना अविनाभाव हो सकता है। अत एव पहले जो (प्र०वा०४-२०३)
कहा था (३३९-१९) 'संयोगी आदि (हेतुओं) में जहाँ कोई तथाविध (तादात्म्य-तदुत्पत्ति रूप) प्रतिबन्ध
नहीं है (वे हेतु नहीं है...) वह सब अनुचित सिद्ध होता है।

- 30 [तादात्म्यादि अन्यसम्बन्धप्रयोज्य प्रतीति अनुमान कैसे ?]

बौद्ध जो कहता है कि तादात्म्यादि प्रतिबन्धवाले त्रित्व युक्त हेतु से जन्य साध्यनिश्चय अनुमान
है तो फिर अन्य सम्बन्ध (एकार्थसमवायादि) से सामान्याकाररूप से होनेवाली प्रतिपत्ति (जिस को

शब्दस्य चाप्तप्रणीतत्वेन सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थविषयस्य यथा प्रमाणान्तरत्वं तथा प्राक् (पृ० ३८७ तः) प्रतिपादितम्। अर्थापत्तेश्च प्रमाणत्वेनानुमानेऽन्तर्भावनं (४०९-२) सिद्धसाधनमेव। अभावस्य च पृथगप्रामाण्यप्रतिपादनमस्माकमभीष्टमेव (४१३-८) सदसदात्मकवस्तुतत्त्वग्राहिणाऽध्यक्षेण यथाक्षयोपशमं भावांशवदभावांशस्यापि ग्रहणात्। केवलं क्वचिदुपसर्जनीकृतसदंशस्य प्रधानतयाऽसदंशस्य ग्रहणं क्वचिच्च विपर्ययेण। न च सदंशाऽसदंशयोरेकान्तेन भेदोऽभेदो वा उभयात्मकतया जात्यन्तररूपस्य वस्तुनो विरोधादि- 5 दोषविकलस्य साधितत्वात्। तेनैकान्तभेदाभेदपक्षावाश्रित्यानवस्थादि सकलमेव दूषणजातमनास्पदम् अध्यक्ष-प्रमाणप्रसिद्धे सदसदात्मके वस्तुनि सर्वस्य दूषणत्वेनाभिहितस्य तदाभासत्वात्। उपमानादेरप्यविसंवादकस्य प्रमाणत्वे सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् अन्यसंख्याव्युदासेन प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अभ्युपगन्तव्ये अन्यथा तत्संख्यानवस्थितेः।

[परोक्षप्रमाणस्वरूप-विभागप्रदर्शकं जैनमतम्]

10

किं पुनरिदं परोक्षम् ? अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्। तेन [] -

अन्य दार्शनिक प्रमाणान्तर मानते हैं) को भी 'अनुमान' के रूप में स्वीकार कर के प्रमाणान्तर का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं - वह अयुक्त ही है, क्योंकि वहाँ न तादात्म्य प्रतिबन्ध है न तो त्रित्वयुक्त हेतु है, है तो सिर्फ अविनाभाव ही है।

[जैन मतानुसार शब्दादिप्रमाण]

15

सामान्यविशेषसमन्वितबाह्यार्थविषयक शब्द यदि आप्तभाषित है तो वह स्वतन्त्र प्रमाण है - यह पहले (३८७-१८) कहा जा चुका है। अर्थापत्ति को प्रमाणभूत मान कर उस का अनुमान में अन्तर्भाव किया जाय वह (४०९-१३) हमारे लिये सिद्धसाधन ही है। अभाव के पृथक् प्रमाण का निरसन भी हमें अभिमत ही है (४१३-२४) क्योंकि हमारे मत से प्रत्यक्ष सदसद् उभयात्मक वस्तुतत्त्व ग्राहक होता है। जैसा क्षयोपशम (ज्ञानशक्ति), कभी उस वस्तु के भावांश को तथा कभी उस वस्तु के अभावांश 20 को प्रत्यक्ष ग्रहण करता है। विशेष इतना है कि कभी सदंश गौण रहे और प्रधानतया असदंश का ग्रहण होता है, तो कभी उस से उलटा होता है। जैन दर्शन में, सदंश-असदंश परस्पर मिल कर ही एक वस्तु में रहते हैं, उन का न तो एकान्त से भेद है न अभेद है। उभयांशमिलित एकात्मक नृसिंहतुल्य जात्यन्तरस्वरूप ही वस्तु मानी गयी है। इसमें कोई विरोधादि दोष का स्पर्श नहीं है। पहले यह तथ्य साध लिया गया है। अतः अनेकान्तवाद में वे अनवस्थादि कोई दूषण नहीं लगता 25 जो एकान्तभेद या एकान्त अभेद पक्ष में परस्परविरोधी मतवादियों ने आरोपित किये हैं। कारण :- प्रत्यक्ष प्रमाण से जब वस्तुमात्र सद-असदात्मक सिद्ध होती है तब दूषण के रूप में प्रयुक्त सर्व दोष दोषाभास हैं। प्रमाणभूत जितने भी अविशदवादी उपमानादि हैं वे सब परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः शेष संख्या को हटा कर दो ही प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मान्य करने लायक है, ऐसा नहीं माने तो भिन्न भिन्न वादी अपनी अपनी ओर से अभावादि एक एक प्रमाण बढ़ाते ही 30 रहेंगे तो प्रमाण की इयत्ता को कोई लगाम ही नहीं रहेगी।

[जैनमतानुसार परोक्षप्रमाण के लक्षण और प्रकार]

प्रश्न :- यह परोक्ष ज्ञान (प्रमाण) क्या है ? उत्तर :- अविशदवादी किन्तु अस्पष्ट हो ऐसा ज्ञान

मुख्य-संब्यवहारेण संवादि विशदं मतम्। ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि परोक्षमिति संग्रहः। () इति।

यद् यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत् तथा मतम्। विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्ष-परोक्षयोः। ()

- तिमिराद्युपप्लुतं ज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणम्, तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणम् प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। यतो ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र न(?) प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात्।
- 5 अन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिर्न स्यात्, कृतस्य करणाऽयोगात्, तदेकान्तहानेः कथंचित् करणाऽनिष्टेः, तदस्य विसंवादोऽप्यवस्तुनिर्भासाद् अविसंवादोऽपीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राऽविसंवादस्तत्र प्रमाणता इतरत्र तदाभासनेति प्राक् प्रतिपादितत्वाद् न पुनरुच्यते। स्थितमेतत् प्रत्यक्षं परोक्षं च द्वे एव प्रमाणे।

अत्र च मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानानां मध्ये मति-श्रुते मुख्यतः परोक्षं प्रमाणम्। अवधि-मनःपर्याय-केवलानि तु प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तदुक्तं वाचकमुख्येन— (तत्त्वार्थ०१-९,१०,११,१२)

- 10 'मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम्। तत् प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।'

परोक्ष प्रमाण है। संग्रहश्लोक में कहा है —

'मुख्य और सांब्यावहारिक दो भेद से स्पष्ट एवं संवादी ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है। अन्य (संवादी किन्तु अस्पष्ट ज्ञान) परोक्ष है — यह संग्रह है।।' 'जो ज्ञान जिस अंश में अविसंवादी हो वह उस अंश में प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष या परोक्ष में जो विसंवादी है वह अप्रमाण है।।'

- 15 इस का भावार्थ यह है कि तिमिरादिदोषग्रस्त चक्षुजन्म द्विचन्द्रदर्शी ज्ञान चन्द्रादि के विषय में तो प्रमाण है किन्तु उस की संख्या द्वित्व के विषय में प्रमाण नहीं है। प्रमाण और अप्रमाण की इसी लिये उपरोक्त रूप से (संग्रहश्लोक में) व्याख्या की गयी है। ऐसी व्याख्या का कारण यह है कि ज्ञान जिस अंश या विषय का अनुकरण (विषयीकरण) करता है उसी अंश या विषय में प्रमाण होता ही है क्योंकि प्रमाण का कार्य है समारोपव्यवच्छेद, उस की अपेक्षया ही ज्ञान प्रमाण होता है।
- 20 अन्यथा ऐसा होगा कि दृष्ट वस्तु के (अदृष्टांश के) बारे में अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी, क्योंकि कृत का करण एवं गृहीत का ग्रहण व्यर्थ होता है। हाँ, जिस अंश में अकृतत्व या अगृहीतत्व है उस अंश का कथंचित् करण (या ग्रहण) यदि अनिष्ट होगा तो उपरोक्त दोष होगा, यदि इष्ट होगा तो एकान्तवाद की हानि प्रसक्त होगी। इस लिये द्विचन्द्रज्ञान के लिये कहा गया कि वह अवस्तु (द्वित्व संख्या) का निर्भासक होने से विसंवादी है तो चन्द्रादिवस्तुनिर्भासी होने से अविसंवादी भी
- 25 है। इस प्रकार, एक ही ज्ञान का जिस अंश में अविसंवाद है उस अंश में प्रामाण्य है और विसंवादवाले अंश में अप्रामाण्य भी है। पहले भी यह कहा जा चुका है अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण हैं। जैन दर्शन में, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-अवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ऐसे ज्ञान के पाँच प्रकार कहे गये हैं। उन में से मति और श्रुत मुख्यरूप से परोक्ष प्रमाण हैं। जब कि अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

- 30 वाचकमुख्य उमास्वामि आचार्यने 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम से एक सूत्र बनाया है। उस में उन्होंने कहा है — मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय-केवल ये ज्ञान हैं। पाँचो ज्ञान दो प्रमाणरूप हैं। पहले दो परोक्ष हैं। बाकी तीन प्रत्यक्ष हैं। इस सूत्रसमूह की व्याख्या आचार्य गन्धहस्ति आदिने विस्तार से कर दी है

अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्शयते। परोक्षप्रमाणता च मतेर्मुख्यवृत्त्याऽत्र प्रदर्शिता। संव्यवहारतस्तु विशदरूपस्य मतिभेदस्य प्रत्यक्षताऽभ्युपगतैव ॥१॥

[दर्शन-ज्ञानालम्बनयोः सामान्यविशेषाकारवत्त्वम्]

सामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्त्वे व्यवस्थिते द्रव्यास्तिकस्याऽऽलोचनमात्रं विशेषाकारत्यागि दर्शनं यत् तत् सत्यम् इतरस्य तु विशेषाकारं सामान्याकाररहितं यद् ज्ञानं तदेव पारमार्थिकमभिप्रेतम् 5 'प्रत्येकमेधोऽर्थपर्यायः' इति वचनात्। प्रमाणं तु 'द्रव्यपर्यायौ दर्शन-ज्ञानस्वरूपौ अन्योन्याऽविनिर्भागवर्तिनौ' इति दर्शयन्नाह—

अतः हम यहाँ विस्तार नहीं करते। श्रुतज्ञान तो परोक्ष है ही, चाक्षुष आदि मतिज्ञान को भी परोक्ष प्रमाण कहा है वह मुख्यवृत्ति से। (यानी अर्थ और इन्द्रियादि साधनावलम्बि है इसलिये। स्वयंभू आत्मा से प्रकट होते हैं इस लिये अवधि आदि प्रत्यक्ष हैं।) हाँ, लौकिक व्यवहार से स्पष्टस्वरूप 10 होने से मति के चाक्षुषादिभेदों को प्रत्यक्षविभाग में शामिल करने में भी कोई अस्वीकृति नहीं है, स्वीकृति है।

द्वितीयकाण्ड प्रथम गाथा व्याख्यान समाप्त

[सामान्याकार दर्शन विशेषाकार ज्ञान]

प्रमाण-प्रमेयरूप वस्तुतत्त्व सामान्य-विशेषात्मक है यह सिद्ध हो गया। तब द्वि० काण्ड की 15 पहली कारिका में जो दर्शन-ज्ञान के बारे में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के उपलक्ष में कहा था — 'एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ' वहाँ व्याख्याकारने उस के विवरण में यह कहा था कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक प्रत्येक नय का यह अर्थपर्याय यानी अपने अपने (सामान्य-विशेषरूप) अर्थ का ग्राहकत्व है। उसी का विशेष विवरण दूसरी गाथा से करना है। उस में, व्याख्याकार अवतरणिका में पहले स्पष्टीकरण करते हैं — द्रव्यार्थिकनय के अनुसार वह बोध दर्शनात्मक और सत्य है जो विशेषाकार की उपेक्षा 20 कर के सिर्फ 'किंचित्' रूप से आलोचनस्वरूप ही होता है। पर्यायार्थिक नय के अनुसार पारमार्थिक ज्ञान वह है जो सामान्याकार की उपेक्षा कर के विशेषाकार स्पर्शी होता है। नय बोध अंशग्राही होता है, इसलिये ये दोनों नय सामान्य और विशेष एक एक अंश के ग्राहक होते हैं। प्रमाण पूर्ण वस्तु ग्राही होता है अतः वह अन्योन्याऽपृथग्वर्ति द्रव्य-पर्याय उभयस्वरूप ग्राहि दर्शन-ज्ञान उभयरूप होता है। इसी तथ्य का निर्देश दूसरी कारिका में किया गया है — 25

(मूलम्) द्रव्यद्विओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्टिओ होइ ।

उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं ।।२।।

अस्यास्तात्पर्यार्थः— दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तः नापि ज्ञाने सामान्यांश इति ।

- 5 स्वभावो भूत्वा तदैव पर्यायास्तिको विशेषाकारोऽपि भवति । यदा हि विशेषरूपतया आत्मा सम्पद्यते तदा सामान्यस्वभावमपरित्यजन्नेव । विशेषाकारश्च विशेषावगमस्वभावं ज्ञानं, दर्शने सामान्यपर्यालोचने प्रवृत्तोऽप्युपात्तज्ञानाकारः, न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्यं सम्भवति । एतदेवाह— औपशमिकादिभावं प्रतीत्य इति औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावाद् वैपरीत्यं सामान्यरूपतां प्रतिपद्यते । विशेषरूपः सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवति । न ह्यस्ति सामान्यं विशेषविकलं
- 10 वस्तुत्वात् शिवकादिविकलमृत्त्ववत् । विशेषा वा सामान्यविकला न सन्ति असामान्यत्वात् मृत्वरहित-शिवकादिवत् ।।२।।

गाथार्थ :- द्रव्यास्तिक होता हुआ दर्शन में पर्यायार्थिक होता है । औपशमिकादि भावों की अपेक्षा ज्ञान में वैपरीत्य है ।।२।।

- 15 उस का तात्पर्यार्थ यह है कि दर्शन में भी विशेषांशस्पर्शित्व का सर्वथा अभाव नहीं होता । एवं ज्ञान भी सर्वथा सामान्यानवगाहि नहीं होता । दोनों ही गौणरूप से इतरांश-अवगाहि होते हैं ।

[आत्मा दर्शनमय आत्मा ज्ञानमय]

- दूसरी कारिका का शब्दार्थ एवं भावार्थ इस प्रकार है — सामान्यात्मक दर्शनमय जो द्रव्यास्तिक यानी द्रव्यार्थमय जो आत्मा है वह जब सामान्याकारमय यानी चैतन्यमय शुद्ध प्रकाशस्वरूप होता है उसी काल उसी समय में वह पर्यायास्तिक यानी विशेषाकारमय भी होता है ।
- 20 जब भी आत्मा (भिन्न भिन्न) विशेषाकाररूपेण परिणत होता है तब सामान्याकारस्वभाव का त्याग नहीं करता है । विशेषाकारपरिणत आत्मा यानी विशेषविषयकबोधस्वभाववाला ज्ञानोपयोग । सामान्य की विचारणा में प्रवृत्त दर्शन के काल में भी आत्मा ज्ञानाकार का त्याग नहीं करता । विशिष्ट आकार से विनिर्मुक्त सामान्य कभी सम्भव नहीं है ।

- यही तथ्य उत्तरार्ध में स्फुट किया है — ▲औपशमिकादि यानी औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादि 25 भावों से सापेक्ष ऐसा आत्मा विशेषरूप से परिणत होता है क्योंकि ऐसा ही ज्ञान स्वभाव है । यही विशिष्टरूप से परिणत आत्मा समानकाल में तद्विपरीतरूप से यानी सामान्यात्मकता में भी परिणत होता है । सारांश, विशेषमय परिणत आत्मा सामान्यरूप से भी परिणत होता है ।

- सामान्य कभी विशेषशून्य नहीं होता क्योंकि वह (सा०वि०उभयात्मक) वस्तुरूप है । उदा० सामान्य मिट्टी शिवक-स्थास आदि विशेषों से शून्य नहीं होती । एवं विशेष भी कभी सामान्य से विकल नहीं 30 होते, क्योंकि वे स्वयं सामान्यरूपधारी नहीं है जैसे मृत्त्व विकल शिवकस्थासादि अवस्थाएं ।

▲. कर्मों के उपशम या क्षय आ अंशतः क्षय-उपशममिश्रता से आत्मा में जो परिणाम या अध्यवसाय प्रकट होते हैं वे औपशमिकादि भाव कहे जाते हैं ।

अत्र च सामान्यविशेषात्मके प्रमेयवस्तुनि तद्ग्राहि प्रमाणमपि दर्शनज्ञानरूपम् तथापि छद्मस्थोपयोग-स्वाभाव्यात् कदाचिद् ज्ञानोपसर्जनो दर्शनोपयोगः, कदाचित्तु दर्शनोपसर्जनो ज्ञानोपयोग इति क्रमेण दर्शन-ज्ञानोपयोगौ। क्षायिके तु ज्ञान-दर्शने युगपद्वर्तिनी इति दर्शयन्नाह सूरिः-

(मूलम्) ▲मणपज्जव-णाणंतो णाणस्य य दरिसणस्स य विसेसो।

केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं।।३।।

5

मनःपर्यायज्ञानम् अन्तः = पर्यवसानं यस्य विश्लेषस्य स तथोक्तः ज्ञानस्य च दर्शनस्य विश्लेषः = पृथग्भावः, मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवत इति यावत्। तथाहि- चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात् श्रुत-मनःपर्यायज्ञानवत्। वाक्यार्थविशेषविषयं श्रुतज्ञानम् मनोद्रव्यविशेषालम्बनं च मनःपर्यायज्ञानम्। एतद्द्वयमपि अदर्शनस्वभावं मत्यवधिज्ञानदर्शनोपयोगाद् भिन्नकालं सिद्धम्।

10

तृतीयगाथाअवतरणिका :- प्रमेय तत्त्व जब सामान्यविशेष उभयात्मक है तो उस का परिच्छेदक प्रमाण भी दर्शन-ज्ञान उभयात्मक होना अनिवार्य है। फिर भी छद्मस्थ ज्ञाताओं के उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि दर्शन-ज्ञान के दो उपयोग क्रमिक ही होते हैं। कदाचित् ज्ञान का प्रमोष (अप्रकाश) हो कर दर्शनोपयोग प्रवृत्त होता है तो कभी दर्शन अप्रकाशित रहते हुए ज्ञानोपयोग प्रवृत्त होता है। दूसरी ओर क्षायिक ज्ञान और दर्शन एकसाथ ही प्रवृत्त रहते हैं - '(अथवा एक ही हैं) - इसी 15 तथ्य को आचार्य प्रदर्शित करते हैं -

गाथार्थ :- मनःपर्यायज्ञानपर्यन्त ज्ञान और दर्शन का पृथग्भाव होता है। केवलज्ञान तो दर्शन (कहो) या ज्ञान (कहो) समान ही है। (गाथा में विसेस शब्द विश्लेषार्थक है) ।।३।।

टीकार्थ :- मनःपर्यव ज्ञान जिस का अन्त यानी पर्यवसान है ऐसा विश्लेष (अलगाव) यह है मनःपर्यवज्ञानान्त विश्लेष। ज्ञान और दर्शन का विश्लेष यानी पृथग्भाव है, मतलब कि मति आदि 20 चार बोध में ज्ञान और दर्शन का उपयोग क्रमशः होता है। देखिये - चाक्षुष ज्ञान अचाक्षुष ज्ञान और अवधिज्ञान ये सब चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन से भिन्नकालीन होते हैं, क्योंकि छद्मस्थ के ज्ञानोपयोगरूप हैं। उदा० श्रुतज्ञान मनःपर्यायज्ञान से भिन्नकालीन होता है। तात्पर्य, श्रुतज्ञान वाक्यार्थ विशेषसंबन्धि होता है जब कि मनःपर्यायज्ञान मनोद्रव्यविशेष सम्बन्धि होता है, ये दोनों दर्शनस्वभावि 25 न होने, से मतिज्ञान-अवधिज्ञान और दर्शनोपयोग से भिन्नकालीन होते हैं यह सुविदित है।

'केवल' संज्ञक बोधस्वरूप केवलज्ञान तो दर्शनस्वरूप मानो या ज्ञानस्वरूप, केवलात्मक वे दोनों समान ही है, यानी दोनों समानकालीन या एककालीन ही है। (श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजीने इन दोनों को एक ही माना है, किन्तु टीकाकार ने अग्रिम गाथाओं के अनुरोध से 'समान' का अर्थ आपाततः समानकालीन ऐसा किया है - यह ध्यान में रखा जाय।)

▲. तृतीयगाथाया आरभ्य त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्ताः गाथाः यशोविजयोपाध्यायपादैः स्वोपज्ञटीकायुक्तज्ञानबिन्दुग्रन्थे १०३ परिच्छेदात् १७३ पर्यन्तपरिच्छेदेषु विशिष्टरीत्या व्याख्याताः। (ज्ञानबिन्दु पृष्ठ १३५ तः १९१ पृष्ठेषु द्रष्टव्यम्।)

केवलज्ञानं पुनः केवलाख्यो बोधः दर्शनमिति वा ज्ञानमिति वा यत् केवलं तत् समानं = समानकालं द्वयमपि युगपदेवेति भावः । तथाहि — एककालौ केवलिगतज्ञानदर्शनोपयोगौ तथाभूताऽप्रतिहताविर्भूततत्त्वभावत्वात् तथाभूतादित्यप्रकाश-तापाविव । यदैव केवली जानाति तदैव पश्यतीति सूरेरभिप्रायः ॥३॥

[केवलज्ञान-दर्शनयोः क्रमवादे पूर्वपक्षारम्भः]

5 अयं चागमविरोधीति केषांचिन्मतमुपदर्शनयन्नाह—

(मूलम्) केई भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति ।

सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाऽभीरू ॥४॥

केचिद् ब्रुवते 'यदा जानाति तदा न पश्यति जिनः' इति । सूत्रम्— 'केवलि णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं पमाणेहिं हेऊहिं संठाणेहिं परिवारेहिं जं समयं जाणइ नो तं समयं पासइ ? हंता गोयमा ! केवली णं.... ()▲' इत्यादिकम् अवलम्बमानाः ।

10

प्रयोग देखिये — केवली के ज्ञान-दर्शनोपयोग एककालीन होते हैं, क्योंकि यथार्थरूप से बेरोकटोक अपने स्वभाव से प्रकट होनेवाले हैं। उदा० सूर्य के ताप और प्रकाश दोनों यथार्थरूप से एक ही काल में प्रकट होते हैं। इस तरह मूलग्रन्थकार आचार्य का अभिप्राय यही (टीकाकार की दृष्टि से) फलित होता है कि केवली भगवंत जिस समय जानते हैं उसी समय देखते भी हैं ॥३॥

15

[पूर्वपक्षरूपेण ज्ञान-दर्शन भिन्नकालता का प्रदर्शन]

अवतरणिका :- युगपद् या अभेद मत आगमविरोधी है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है, उस का उपदर्शन कराते हुए मूलग्रन्थकार कहते हैं —

गाथार्थ :- तीर्थंकर की आशातना से न डरनेवाले कुछ लोग सूत्र को पकड कर कहते हैं कि जिन जब जानते हैं तब देखते नहीं ॥४॥

20

टीकार्थ :- केवलि णं.... सूत्र को पकडनेवाले कुछ विद्वान् कहते हैं जब जिन भगवान् जानते हैं तब देखते नहीं हैं — इस का प्रमाण यह सूत्र है 'केवलि णं....' इत्यादि जिस का शब्दार्थ यह है — हे भगवंत ! आकार, प्रमाण, हेतु, संस्थान, परिवारों (विविध स्वरूप) से इस रत्नप्रभा पृथ्वी को केवली जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं ? हाँ गौतम ! केवली.. इत्यादि ।

▲. प्रज्ञापनासूत्रत्रिशत्पदे ३१४ तम सूत्रे भणितमिदम्— केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिडुंतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ?

गोयमा ! नो तिण्ढे सम्ढे ।

से केण्ढेणं भंते ! एवं वुच्चति — 'केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं० जं समयं जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासति नो तं समयं जाणति ?

गोयमा ! सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति से तेण्ढेणं जाव णो तं समयं जाणति... इति ५३१ पृष्ठे ।

एतत्सदृशान्यन्यानि सूत्राणि भगवतीसूत्रीय चतुर्दशाऽष्टादशशतकान्तर्गताभ्यां दशमाष्टमोद्देशकाभ्यां यथाक्रममवगन्तव्यानि (इति भूतपूर्वसम्पादकौ)

अस्य च सूत्रस्य किलायमर्थः - केवली = सम्पूर्णबोधः, णं इति प्रश्नोऽभ्युपगमसूचकः। 'भन्ते' इति भगवन् ! इमां रत्नप्रभामन्वर्थाभिधानां पृथ्वीमाकारैः = समनिम्नोन्नतादिभिः प्रमाणैः = दैर्घ्यादिभिः हेतुभिः = अनन्तानन्तप्रदेशिकैः स्कन्धैः संस्थानैः = परिमण्डलादिभिः परिवारैः = घनोदधिवलय्यादिभिः 'जं समयं णो तं समयं' इति च 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २-३-५) इति द्वितीया अधिकरणसप्तमीबाधिका, तेन यं समयं जानाति = यदा जानातीत्यर्थः 'णो तं समयं' पश्यतीति न तदा पश्यतीति भावः। 5 विशेषोपयोगः सामान्योपयोगान्तरितः सामान्योपयोगश्च विशेषोपयोगान्तरितः तत्त्वाभाव्यादिति प्रश्नार्थः।

उत्तरं पुनः 'हंता गोयमा !... इत्यादिकं प्रश्नानुमोदकम्। 'हंता' इत्यभिमतस्यामन्त्रणम् 'गौतम' इति गोत्रामन्त्रणम्। प्रश्नानुमोदनार्थं पुनस्तदेव सूत्रमुच्चारणीयम्। हेतुप्रश्नस्य चात्र सूत्रे उत्तरम् - 'साकारे से णाणे अणागारे से दंसणे' () = साकारं विशेषावलम्बि अस्य केवलिनो ज्ञानं भवति—अनाकारमतिक्रान्तविशेषं सामान्यालम्बि दर्शनम्। न चानेकप्रत्ययोत्पत्तिरेकदा निरावरणस्यापि, तत्त्वाभाव्यात्। न हि चक्षुर्ज्ञानकाले 10 श्रोत्रज्ञानोत्पत्तिरुपलभ्यते। न चाऽऽवृत्तत्वात् तदा तदनुत्पत्तिः, स्वसमयेऽप्यनुत्पत्तिप्रसंगात्। ततो युगपद-

[केवली णं - सूत्र का पूर्वपक्षाभिमत व्याख्यान]

इस सूत्र का अर्थ यह है - केवली यानी सम्पूर्णज्ञानी, णं शब्द प्रश्नघोतक एवं स्वीकारसूचक है। 'भन्ते' पद का अर्थ है हे भगवन्त ! सार्थक नामवाली इस रत्नप्रभा पृथ्वी को सम-नीचा-ऊँचा इत्यादि आकार, दीर्घतादि प्रमाण, अनन्तानन्तप्रदेशवाले स्कन्धात्मक (उपादान) हेतु, परिमण्डलादि संस्थान 15 तथा घनोदधि आदि वलय (इन सब) प्रकारों से। 'जं समयं णो तं समयं' यहाँ अधिकरणार्थक सप्तमी को बाध कर के, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (= काल और मार्ग के साथ अत्यन्त संयोग के रहते हुए) इस पाणिनिसूत्र के द्वारा द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अतः 'जं समयं जानाति' वाक्यांश का अर्थ होगा 'जब जब जानता है'। 'णो तं समयं पश्यति' का भाव यह होगा कि 'उस समय देखता नहीं'। उपयोग का स्वभाव ही ऐसा होने से, विशेषोपयोग सामान्योपयोग से व्यवहित रहता है एवं सामान्योपयोग 20 विशेषोपयोग से अन्तरित रहता है। यह हुआ प्रश्न का अर्थ।

[उत्तरसूचक सूत्र का व्याख्यान]

हंता ! गोयमा... इत्यादिसूत्र के द्वारा प्रश्न की अनुमोदना के साथ उत्तर प्रस्तुत किया गया है। 'हंता' यह पद स्वजन के आमन्त्रण = सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होता है। 'गौतम' शब्द गोत्र के उल्लेखपूर्वक अपने पट्टशिष्य का संबोधन है। प्रश्न के अनुमोदन के लिये प्रश्नसूत्र का फिर से 25 उच्चारण किया गया है। से केणट्टेणं... यह सूत्र हेतुप्रश्न सूचक है जिस का उत्तर भी इसी सूत्र में दिया गया है - (क्यों केवली जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं ? इस हेतुप्रश्न का उत्तर यह है -) 'साकारे से णाणे अणागारे से दंसणे' साकार यानी विशेषावलम्बि, ऐसा उस केवली का ज्ञान होता है, अनाकार यानी विशेषविनिर्मुक्त, ऐसा सामान्यावलम्बि दर्शन होता है।

[स्वभावतः उपयोगों में कालभेद]

30

निरावरण केवली को भी एक साथ अनेक उपयोग का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है। चाक्षुषज्ञान-काल में श्रावण ज्ञान की उत्पत्ति कभी नहीं होती। - 'आवरण होने

नेकप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वभाव एव कारणम् नावरणसदभावः। संनिहितेऽपि च द्व्यात्मके विषये विशेषांशमेव गृह्यन् केवली तत्रैव सामर्थ्यात् सर्वज्ञ इति व्यपदिश्यते सर्वविशेषज्ञत्वात्, सर्वसामान्यदर्शित्वाच्च सर्वदर्शी।

यच्चैवंव्याख्यायामकिञ्चिज्ज्ञात्वं केवलिनः, होढवानं चेति दूषणम्, तत्र, यतो यदि तत् केवलं ज्ञानमेव भवेद् दर्शनमेव वा ततः स्यादकिञ्चिज्ज्ञाता, न चैवम्। आलदानमपि न सम्भवति 'यं समयं' इत्याद्युक्तव्याख्यायाः

- 5 सम्प्रदायाऽविच्छेदतोऽप्यव्याख्यानत्वाऽयोगात्। न च दुःसम्प्रदायोऽयम् तदन्यव्याख्यातृणामविसंवादात् 'जं समयं च णं समणे भगवं महावीरे' (कल्पसूत्रे) इत्यादावप्यागमे असकृदुच्चार्यमाणस्यास्य शब्दस्यैतदर्थत्वेन सिद्धत्वात्। ततो दुर्व्याख्यैषा— 'यैः समकं = यत्समकम्' इति भवतैव होढवानं कृतम्।

[पूर्वपक्षप्रदर्शितव्याख्याने दूषणनिरूपणम्]

एते च व्याख्यातारः तीर्थकरासादनाया अभीरवः तीर्थकरमासादयन्तो न बिभ्यतीति यावत्। सा

- 10 से चाक्षुषज्ञान काल में श्रावणज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती' — ऐसा नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो फिर श्रावणज्ञान काल में आवरण तदवस्थ होने से श्रावणज्ञान नहीं होगा। सारांश, एक साथ अनेक उपयोग की अनुत्पत्ति में तथा-स्वभाव ही जिम्मेदार है न कि आवरणसत्ता। भले ही केवलि के लिये सामान्य-विशेषउभयात्मक सर्व पदार्थ संनिहित हैं, फिर विशेषांश से वस्तु को ग्रहण करता हुआ केवलज्ञानी सर्व वस्तु को विशेषांश से ग्रहण करने के सामर्थ्य के कारण ही 'सर्वज्ञ' ऐसा संबोधन
- 15 प्राप्त करता है, क्योंकि वह समस्त विशेष का ज्ञाता है। इसी तरह समस्त सामान्य का दृष्टा होने से ही वह 'सर्वदर्शी' कहा जाता है।

[पूर्वपक्षकृत व्याख्यान में दूषणोद्धार]

- उक्त प्रकार से व्याख्या के ऊपर दो दूषण लगाये जाते हैं — सर्वज्ञ कुछ भी नहीं जानता, तथा केवली के ऊपर असंगत प्ररूपणा का आरोप। पूर्वपक्षी इस का निषेध करते हुए कहते हैं — यदि
- 20 केवली को अकेला ज्ञान या अकेला दर्शन ही होता तब तो उस में अकिञ्चिद्ज्ञाता का दूषण प्रसक्त होता (ज्ञान विशेषग्राही है, किन्तु सामान्यमुक्त विशेष का अस्तित्व ही नहीं है, अत एव केवली कुछ नहीं जानता यह दोष लगता है) किन्तु वह अनन्तर क्षण में दर्शन भी करता है इस लिये कोई दोष नहीं है। अत एव असंगत प्ररूपणा का आरोप भी गलत है। यदि क्रमप्रतिपादक व्याख्या जूठी
- 25 होती तब तो 'केवलीने ऐसा कहा है' इस प्रकार गलत आरोप प्रसक्त होता, किन्तु वह व्याख्या अविच्छिन्न परम्परा से समर्थित होने से गलत नहीं है। वह परम्परा दूषित नहीं है क्योंकि अन्य अन्य व्याख्याताओं के साथ अविसंवादी है। "जं समयं च णं समणे भगवं महावीरे..." (कल्पसूत्र) इत्यादि आगम शास्त्रों में बार बार जो 'जं समयं' शब्द सुनाई देता है उस का भी पूर्वाचार्य व्याख्यात अर्थ, उक्त प्रकार से ही सिद्ध है। अत एव — जिन पंडितोंने 'जं समयं' का 'यैः समकं' (जिन से समान) ऐसा अर्थ कर के भगवान के नाम पर चडा दिया है उन्होंने ही भगवान के ऊपर गलत प्ररूपणा का आरोप
- 30 लगाये रखा है।

ये (पूर्वपक्षी) व्याख्याकार श्री तीर्थकरभगवंतों की आशातना के अभीरु हैं, मतलब तीर्थकरों की अवज्ञा करते हुए नहीं डरते। १-तीर्थकर कुछ भी नहीं जानते' ऐसा आक्षेप और २-अन्यथा प्रतिपादन

च 'न किञ्चिज्जानाति तीर्थकृत' इत्यधिकेण, 'अन्यथोक्ते तीर्थकृतैवमुक्तम्' इत्यालदानम्। तथाहि— यदि विषयः सामान्यविशेषात्मकः तदा विषयि केवलं ^Aविशेषात्मकं वा भवेत् ^Bसामान्यात्मकं वा ? यदि ^Aविशेषात्मकमिति पक्षस्तदा निःसामान्यविशेषग्राहित्वात् तेषां च तद्विकलानामभावात् निर्विषयतया तदवभासिनो ज्ञानस्याभाव इत्यकिञ्चिज्ज्ञः सर्वज्ञस्ततो भवेत्। ^Bअथ सामान्यात्मकम् एवमपि विशेषविकलसामान्यरूप-विषयाभावतो निर्विषयस्य दर्शनस्याप्यभावात् किञ्चित् केवली पश्येत्। अथाऽयुगपद् ज्ञानदर्शने तस्याभ्युपगम्येते 5 तथापि — यदा जानाति न तदा पश्यति, यदा च पश्यति न तदा जानातीत्येकरूपाभावे अन्यतरस्याप्यभावात् पूर्ववदकिञ्चिज्ज्ञोऽकिञ्चिदृशीं च स्यात्। उभयरूपे वा वस्तुन्यन्यतरस्यैव ग्राहकत्वात् केवलोपयोगो विपर्यस्तो वा भवेत्। तथाहि — यद् उभयरूपे वस्तुनि सामान्यस्यैव ग्राहकं तद्विपर्यस्तम् यथा सांख्यज्ञानम्। तथा च सामान्यग्राहि केवलदर्शनमिति। तथा यद् विशेषावभास्येव ^Aतथाभूते वस्तुनि तदपि विपर्यस्तम्

को भी 'तीर्थकरने ऐसा कहा है' ऐसा दिखाना यह तीर्थकर के सिर पर आलदान है। कैसे यह देखिये 10 — जब विषयवस्तु मिलित सामान्यविशेषोभयात्मक है तब विषयग्राही केवलउपयोग ^Aकेवल विशेषात्मक होगा या ^Bकेवल सामान्यात्मक ? (यहाँ प्रश्नों में विशेषग्राही उपयोग के लिये विशेषात्मक एवं सामान्यग्राहि उपयोग के लिये सामान्यात्मक — शब्दप्रयोग समझ लेना।) (१) यदि पहला 'विशेषात्मक' होने का पक्ष माना जाय तो सर्वज्ञ में अकिञ्चिज्ज्ञत्व का आरोप इस तरह प्रसक्त होगा — सामान्यात्मक विशेष का ग्राहक होने से वह निर्विषयक ही सिद्ध हुआ क्योंकि सामान्यविकल विशेषों की सत्ता ही असिद्ध 15 है, निर्विषय ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है अतः ज्ञानाभाव सिद्ध होने से केवली अकिञ्चिज्ज्ञ प्रसक्त हुआ। (२) यदि 'सामान्यात्मक' दूसरा पक्ष होने का माना जाय तो दर्शन निर्विषयक सिद्ध होगा क्योंकि विशेषानात्मक सामान्यरूप विषय की सत्ता असिद्ध है, अतः निर्विषयक किसी दर्शन की सत्ता सिद्ध न होने से केवलि अकिञ्चिदृशीं प्रसक्त हुआ।

[क्रमशः ग्रहण के प्रतिपादन में भी पुनः दोष]

20

यदि अकिञ्चिज्ज्ञता दोष के वारणार्थ कहा जाय कि — "पहले - तीसरे आदि समय में सर्वविशेषों का और क्रमशः दूसरे-चौथे आदि समय में सर्व सामान्यों का ग्रहण, इस प्रकार सामान्यात्मक ही विशेष का एवं विशेषात्मक ही सामान्य का क्रमशः ग्रहण मानने पर 'अकिञ्चिज्ज्ञता' का आरोप नहीं रहेगा" — तो पुनः अन्य प्रकार से वह दोष प्रसक्त होगा — केवली जब जानता है तब देखता नहीं है और जब देखता है तब जानता नहीं है, इस प्रकार प्रत्येक समय में एक के न होने पर तत्संलग्न 25 दूसरे का भी अभाव प्रसक्त होने के कारण पहले की तरह केवली अकिञ्चिज्ज्ञ एवं अकिञ्चिदृशीं प्रसक्त हुआ।

अथवा केवल उपयोग विपर्यस्त यानी भ्रमात्मक प्रसक्त होगा क्योंकि उभयस्वरूप वस्तु का उभयरूप से बोध न हो कर किसी एकरूप से बोध करता है। कैसे यह देखिये — जो उभयात्मक वस्तु के होने पर सिर्फ सामान्य का ही ग्राहक है वह मिथ्या होता है जैसे सांख्यमत के प्रकृति-विकृति उभयात्मक 30 वस्तु में सिर्फ प्रकृति को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान। केवलदर्शन भी इसी प्रकार सिर्फ सामान्य का

▲. तथाभूते = द्वयात्मके

यथा सुगतज्ञानम् तथा च केवलज्ञानमिति। यथा च सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु तथा प्रतिपादितमनेकधा।

होढदानमपि सूत्रस्यान्यथाव्याख्यानादुपपन्नम्। तथाहि— न पूर्वप्रदर्शितस्तत्रार्थः किन्त्वयम्— केवली इमां रत्नप्रभां पृथिवीं यैराकारादिभिः समकं = तुल्यं जानाति न तैराकारादिभिः तुल्यं पश्यतीति किमेवं ग्राह्यम् ? 'एवम्' इत्यनुमोदना। ततो हेतौ पृष्टे सति तत्प्रतिवचनं भिन्नालम्बनप्रदर्शकम् 'तत्- ज्ञानं साकारं भवति यतो दर्शनं पुनरनाकारमिति', अतो भिन्नालम्बनावेतौ प्रत्ययाविति। इदं चोदाहरणमात्रं प्रदर्शितम्। एवं च सूत्रार्थव्यवस्थितौ पूर्वार्थकथनमालदानेव। 'जं समयं' इत्यत्र जं-शब्दे अम्-भावः प्राकृतलक्षणात्—
▲णीया लोवमभूया आणीया दो वि बिन्दु-दुम्भावा।

अत्थं वहति तं चिय जो च्विय सिं पुव्वनिदिट्ठो।। []

प्राहक होने से मिथ्या ही होगा। तथा, उभयात्मक वस्तु में सिर्फ विशेषावगाही जो ज्ञान है वह भी मिथ्या है जैसे बौद्ध का सिर्फ व्यावृत्तिप्राहक ज्ञान। केवलज्ञान भी तथैव व्यावृत्ति (विशेष) प्राहक होने से मिथ्या ही होगा। पहले अनेक बार कहा जा चुका है कि वस्तुमात्र सामान्यविशेषोभयात्मक ही होती है।

[सूत्र की विपरीतव्याख्या से होढदान दूषणप्राप्ति]

सिद्धान्ती कहते हैं कि सूत्र की विपरीत व्याख्या करनेवाले भगवान के सीर पर आल चढाने के दोष के भागी बनते हैं — कैसे यह देखिये — पहले जो 'जं समयं...तं समयं' का अर्थ 'जिस समय में... उस समय में' ऐसा किया है वह वास्तविक नहीं है। वास्तविक अर्थ ऐसा है — (गौतमस्वामी भगवान को पूछते हैं-) क्या हम ऐसा मान सकते हैं कि ' इस रत्नप्रभा पृथ्वी को केवली जिन आकार आदि से समक यानी तुल्य जानते हैं क्या उन आकारादि से समक = तुल्य नहीं देखते हैं ? (भगवान उत्तर देते हैं — हन्ता = हाँ गौतम ! केवली ...इत्यादि। यहाँ सूत्र में 'एवम्' शब्द प्रश्न की अनुमोदना का द्योतक समझना। बाद में जब गौतम गणधर पुनः प्रश्न करते हुए उस के हेतु की पृच्छा करते हैं तब जो भगवान उत्तर देते हैं वह ज्ञान-दर्शन की भिन्नविषयता का ही प्रदर्शक है। 'क्योंकि वह ज्ञान साकार होता है और दर्शन निराकार होता है।' अत एव ये दोनों प्रतीतियाँ भिन्नविषयक हैं (न की भिन्नकालीन)। यह तो आलदान का सिर्फ एक नमूना दिखाया (कि सूत्र का अर्थ जैसा करना चाहिये उस से विपरीत अर्थ कर के 'भगवान् ने ऐसा ही कहा है' ऐसा गलत जाहीर करना।) सूत्रार्थ तो कुछ और ही निश्चित हो रहा है, फिर भी वैसा पूर्वप्रतिपादित गलत अर्थ कर के भगवान के नाम पर चढा देना यह आलदान ही है।

यहाँ शब्दार्थ करने में ध्यान में लेना कि 'जं समयं' इस पदावली में जं-शब्द में 'जेहिं' ऐसी तृतीया विभक्ति का 'हिं' प्रत्यय होने के बजाय अथवा 'जस्समयं' ऐसा समास होने के बजाय 'अम्' भाव किया है वह प्राकृत भाषा की लाक्षणिकता है। प्राकृतलक्षण में कहा जाता है — "(कहीं लोप न होने पर भी) लोप प्राप्त होता है तो (कहीं शब्द में न रहते हुए भी) बिन्दु (अम्) और द्विरुक्ति

▲. नीतौ लोपमभूतौ आनीतौ द्वावपि बिन्दु-द्विर्भावौ। अर्थ वहन्ति तमेव य एव तयोः पूर्वनिर्दिष्टः।। (द्रष्टव्यं - चेड्यवंदणमहाभासे (गाथा - ६९९) - देवंनाग-सुवन्नकिन्नरगणस्सम्भूय.. इत्यत्र देवं-इति बिन्दुप्रयोगः 'स्स' इति सकारद्वित्वं च।

अभूत एव बिन्दुरत्रानीतः यथा यत्कृतसुकृते 'जंकयसुकयं' () इति लोकप्रयोगे ॥४॥

[अनुमानेन यौगपद्यस्थापनम्]

(मूलम्) केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं ॥

तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥५॥

(व्याख्या :-) केवलज्ञानावरणक्षये यथोत्पन्नं विशेषावबोधस्वभावं ज्ञानं तथा तदैव दर्शनावरणक्षये 5 सति सामान्यपरिच्छेदस्वभावं दर्शनमप्युत्पद्यताम्। न ह्यविकलकारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्युक्ता, तस्याऽ-तत्कार्यताप्रसक्तेः इतरत्राप्यविशेषतोऽनुत्पत्तिप्रसक्तेश्च। ज्ञानकाले दर्शनस्यापि संभवः तदुत्पत्तौ कारणसद्भावाद् युगपदुत्पत्त्यविकलकारणघटपटयुगपदुत्पत्तिवत्[▲]। ननु च हेतौ सत्यपि श्रुताद्यावरणक्षयोपशमे श्रुताद्यनुत्पद्यमानमपि कदाचित् दृष्टमित्यनैकान्तिको हेतुः। न, श्रुतादौ क्षीणावरणत्वस्य हेतोरभावात् श्रुतादेः क्षीणोपशान्तावरणत्वात्।
दोनों प्रयुक्त होते हैं। फिर भी उसी अर्थ का ग्रहण होता है जो (उन दोनों के न होते हुए भी) 10 पहले निर्दिष्ट किया गया रहता है।”

यहाँ भी 'जं समयं' शब्दान्तर्गत न होनेवाले भी बिन्दु (अम्) का प्रयोग है जैसे कि लौकिक भाषाप्रयोग में 'यत्कृतसुकृत' शब्द के लिये बिन्दुसहित 'जंकयसुकयं' ऐसा प्रयोग किया जाता है ॥४॥

[केवल ज्ञान-दर्शन की समकालीनता का अनुमान]

आगम की साक्षि से केवलज्ञान-केवलदर्शन की समकालीनता का प्रतिपादन कर के अब दिवाकरसुरिजी 15 पाँचवी गाथा से अनुमान के द्वारा उसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं —

गाथार्थ :- जैसे ज्ञान केवलज्ञानावरण के क्षय से प्रकट होता है वैसे ही अपने (केवलदर्शन के) आवरण का क्षय होने पर केवल दर्शन का उद्भव भी घटता है ॥५॥

व्याख्यार्थ :- केवलज्ञानावरण का क्षय होने पर जैसे विशेषावबोधस्वभावी ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे उसी काल में दर्शनावरण का क्षय होने पर सामान्यअवबोधस्वभावी दर्शन भी उत्पन्न हो सकता 20 है। परिपूर्ण कारणों की उपस्थिति रहने पर कार्य उत्पन्न न हो ऐसा हो नहीं सकता। ऐसा होगा तो उस कार्य में तत्कारणजन्यता का भंग होगा।

यदि कहा जाय — 'तत्कारणजन्यता के भंग का आपादन अनुचित है, क्योंकि श्रुतादिज्ञान के हेतुभूत श्रुतादिआवरण का क्षयोपशम सदैव विद्यमान रहने पर भी कदाचित् श्रुतादि ज्ञान का अनुद्भव दिखता है। फलतः, परिपूर्णकारण की विद्यमानता में कार्य की अनुत्पत्ति रूप हेतु तत्कारणजन्यताभंग की सिद्धि 25 में अनैकान्तिक है।' — तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्षयोपशम नहीं किन्तु क्षय ही परिपूर्ण कारण के रूप में उक्त व्याप्ति में विवक्षित है, छद्मस्थ अवस्था में श्रुतज्ञान के प्रति श्रुतावरण क्षय कारणभूत ही नहीं है अतः कारण के न होने से श्रुतादि की उत्पत्ति नहीं होती है — इस तरह व्याप्ति में कोई अनैकान्तिकता प्रसरण नहीं है। श्रुतादि का हेतु श्रुतादिआवरण का क्षयोपशम ही है और उस के रहते हुए श्रुतादि का उद्भव होता ही है। केवली में एक साथ ज्ञान-दर्शन उभय की सत्ता मानने वाले पक्ष में ज्ञान-दर्शन में 30

▲. 'यदविकलकारणं तद् भवत्येव यथाऽऽदित्यप्रकाशसमये तदविनाभावी प्रतापः। अविकलकारणं च ज्ञानोत्पत्तिकाले दर्शनमिति प्रयोगः। बृ.टी.। (भूतपूर्वावृत्तिमध्ये टीप्पणम्)

भिन्नावरणत्वादेव च श्रुतावधिबद् नैकत्वमेकान्ततो ज्ञान-दर्शनयोरेकदोभयाभ्युपगमवादेनैव ॥५॥

यज्जातीये यो दृष्टः तज्जातीय एवासावन्यत्राप्यभ्युपगमार्हो न जात्यन्तरे, धूमवत् पावकेतरभावाभावयोः, अन्यथानुमानादिव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् - इत्याह -

(मूलम्) भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण संभवइ।

5

तह खीणावरणीज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥६॥

व्याख्या :- यथा क्षीणावरणे सति मति-श्रुतावधि-मनःपर्यायज्ञानानि जिने न संभवन्तीत्यभ्युपगम्यते तथा तत्रैव क्षीणावरणीये विश्लेषतो ज्ञानोपयोगादन्यदा दर्शनं न संभवतीत्यभ्युपगन्तव्यम्, क्रमोपयोगस्य मत्याद्यात्मिकत्वात् तदभावे तदभावात् ॥६॥

न केवलं क्रमवादिनोऽनुमानविरोधः, आगमविरोधोपीत्याह-

10

(मूलम्) सुत्तम्मि चैव साई अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।

सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्टव्वयं होइ ॥७॥

एकत्व की आपत्ति भी निरवकाश हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शन दोनों के आवरण भिन्न भिन्न है। यदि वे दोनों एक होते तो उन का आवरण भी एक ही होता यतः आवरण भिन्न हैं अत एव उन दोनों में एकान्त से एकत्व नहीं है। (एकत्व का निरसन यहाँ आपाततः समझना) ॥५॥

15

छट्टी गाथा में सूत्रकार यह दिखा रहे हैं कि धूम जब भी दिखता है - अग्निजातीय की हाजरी में ही, अत एव अग्निजातीय के होने पर ही धूम का अस्तित्व माना जा सकता है न कि अन्य (जल) जातीय के होने पर। अग्निजातीय के विना धूम के अस्तित्व का स्वीकार नहीं हो सकता। इस से यह नियम फलित होता है कि जो जिस जातिवाले के रहने पर ही दिखता है वह उस जातिवाले के होने पर ही वहाँ माना जा सकता है। अन्यथा इस व्याप्ति के इनकार में अनुमानादि

20

व्यवहार का लोप प्रसक्त होगा - छट्टी कारिका में सूत्रकार अब यही कहते हैं -

गाथार्थ :- (जैसे यह) कहा जाता है कि जिन प्रभु में आवरणक्षय होने पर भी मतिज्ञान का उद्भव नहीं होता - तथैव आवरणक्षय होने पर भी विश्लेष से (पृथक् रूप से) दर्शन भी नहीं होता ॥६॥

25

व्याख्यार्थ :- जैसे आवरणक्षय होने पर भी जिन में मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानों का असंभव मान्य है वैसे ही जिन में आवरण क्षीण होने पर भी ज्ञानोपयोग से भिन्नकाल में दर्शन का भी पृथक् रूप से असंभव मान्य कर लेना जरूरी है। क्रमिक उपयोग की अवस्था में ही मति आदि होते हैं (एवं पृथक् दर्शन भी) यानी क्रमोपयोग मति आदि रूप ही होता है, अतः मति आदि के विरह में केवली में क्रमोपयोग नहीं हो सकता ॥६॥

[क्रमवाद में आगमविरोध का उपदर्शन]

क्रमिकवादी के मत में सिर्फ अनुमानविरोध ही नहीं आगमविरोध भी है, सातवीं गाथा में यह

30

कहा गया है -

गाथार्थ :- सूत्र में केवल (ज्ञान-दर्शन) को सादि एवं अनन्त ही कहा है। सूत्र की आशातना

साद्यपर्यवसाने केवलज्ञानदर्शने, क्रमोपयोगे तु द्वितीयसमये तयोः पर्यवसानमिति कुतोऽपर्यवसितता ? तेन क्रमोपयोगवादिभिः सूत्रासादनाभीरुभिः “केवलणाणे णं भंते !” () ▲ इत्यादि आगमे साद्यपर्यवसानताभिधानं केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च द्रष्टव्यम् = पर्यालोचनीयं भवति। सूत्रासादना चात्र सर्वज्ञाधिकेपदद्वारेण द्रष्टव्या अचेतनस्य वचनस्याधिकेपाऽयोगात्।

न च द्रव्यापेक्षयाऽपर्यवसितत्वम् द्रव्यविषयप्रश्नोत्तराश्रुतेः। अथ भवतोऽपि कथं तयोरपर्यवसानता, 5 पर्यायाणामुत्पादविगमात्मकत्वात् ? न च द्रव्यापेक्षयैतदिति वाच्यम्, अस्मत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वात्। ‘तद्विषयप्रश्नप्रतिवचनाभावाद् न’ इति चेत् ? तर्हि भवतोऽपि द्रव्यापेक्षयाऽपर्यवसानकथनमयुक्तम्। असदेतत्-तयोर्युगपद् रूप-रसयोरिवोत्पादाभ्युपगमाद् न ऋजुत्व-वक्रतावत्। ‘एवमपि सपर्यवसानता’ इति चेत् ? न, कथंचित् केवलिद्रव्यादव्यतिरेकतस्तयोरपर्यवसितत्वात्। न च क्रमैकान्तेऽप्येवं भविष्यति-अनेकान्तविरोधात्। न चाऽत्रापि तथाभावः, तथाभूतात्मैककेवलिद्रव्याभ्युपगमात् रूप-रसात्मैकद्रव्यवत्। अक्रमरूपत्वे च द्रव्यस्य 10 तदात्मकत्वेन तयोरप्यक्रम एव। न च तयोस्तद्रूपतया तथाभावो न स्वरूपतः, तथात्वेऽनेकान्तरूपताविरोधाद् के भीरुजनों को यह भी सोचना जरूरी है।॥७॥

व्याख्यार्थ :- केवलज्ञान एवं केवलदर्शन सादि-अनन्त कहे गये हैं। यदि उन्हें क्रमिक माने जाय तो अपने अपने दूसरे समय में प्रत्येक का अन्त मानना होगा, तब उन्हें अनन्त कैसे मान सकेंगे ? अतः क्रमोपयोगवादी यदि सूत्र की आशातना से डरते हैं तो ‘केवलणाणे णं भंते...’ () इत्यादि आगमसूत्र 15 में केवलज्ञान-केवलदर्शन को सादि-अनन्त कहा है उस के ऊपर विचारणा करनी पडेगी। हालाँकि सूत्र तो अचेतन पुद्गलमय होने से उस की आशातना साक्षात् नहीं किन्तु उस के निरूपक सर्वज्ञ भगवंत के अधिकेप के द्वारा ही समझना होगा, क्योंकि अचेतन का कोई अधिकेपण संभव नहीं होता।

[क्रमवाद में द्रव्यापेक्षया अपर्यवसितत्व अघटमान]

यहाँ द्रव्य की अपेक्षा ग्रहण कर केवलज्ञान की अनन्तता की संगति करना उचित नहीं है, क्यों 20 कि सूत्र में द्रव्य संबंधि प्रश्नोत्तर पठित नहीं है, सिर्फ केवलज्ञान संबंधि प्रश्न एवं उत्तर पठित है।

यदि कहा जाय - आप के मत से भी केवली के ज्ञानदर्शन की अनन्तता संगत नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा के पर्याय हैं, पर्याय तो उत्पत्ति-विनाशशील होते हैं। यहाँ आप द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तता कहेंगे तो हमारे पक्ष में भी इसी तरह समाधान हो जायेगा। सूत्र में द्रव्य को ले कर प्रश्न-उत्तर पठित नहीं होने से यदि हम द्रव्यापेक्षया अनन्तता नहीं कह सकते तो यह बात 25 आप को भी लागु पडेगी - फिर आप भी द्रव्य की अपेक्षा अनन्तता कैसे संगत कर पायेंगे ?

तो यह ठीक नहीं है - हम तो केवलज्ञान-केवलदर्शन की उत्पत्ति समकालीन ही मानते हैं (अतः प्रवाह से अन्तराल न होने के कारण दोनों को अपर्यवसित मान सकते हैं)। जैसे पुद्गल में रूप और रस का सहोत्पाद होता है। पुद्गल में जैसे ऋजुता-वक्रता पर्याय क्रमशः ही उत्पन्न होते हैं ऐसा यहाँ नहीं है। यदि कहें कि ‘तथापि पर्यायस्वरूप होने से उन दोनों में सान्ता-प्रसक्ति तदवस्थ 30 है’ - नहीं, वे दोनों सिर्फ पर्यायस्वरूप ही नहीं हैं, केवलिद्रव्य का तादात्म्य होने से कथंचित् आत्मस्वरूप

▲. प्रज्ञापनाष्टादशे पदे सूत्र २४१ मध्ये भणितम्- ‘केवलणाणी णं पुच्छा, गोयमा ! सातिए अपज्जवसिते’ इति ३८९ तमे पृष्ठे।

निरावरणस्याऽक्रमस्य क्रमरूपत्वविरोधाच्च, तस्याऽऽवरणकृतत्वात्।

किञ्च, यदि सर्वथा क्रमेणैव तयोरुत्पत्तिरनेकान्तविरोधः। अथ कथञ्चित् तदा युगपदुत्पत्तिपक्षोऽप्यभ्युपगतः। न च द्वितीये क्षणे तयोरभावे अपर्यवसितता छाद्यस्थिकज्ञानस्येव युक्ता। पुनरुत्पादादपर्यवसितत्वे पर्यायस्याप्यपर्यवसितताप्रसक्तिः। द्रव्यार्थतया तत्त्वे द्वितीयक्षणेऽपि तयोः सद्भावोऽन्यथा द्रव्यार्थत्वायोगात्॥७॥

5 तदेवं क्रमाभ्युपगमे तयोरगमविरोधः इत्युपसंहरब्राह्म-

(मूलम्) संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।

केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं॥८॥

भी हैं और आत्मद्रव्य अनन्त होने से वे दोनों भी अनन्त (= अपर्यवसित) हैं।

यदि एकान्त क्रमवादी कहें कि — हमारे एकान्त क्रमवाद में भी आत्मद्रव्य का तादात्म्य होने से वे दोनों अपर्यवसित घट सकते हैं।' — तो इस मत में क्रमवाद के एकान्त को अनेकान्तवाद के साथ विरोध प्रसक्त होगा। यदि आप समकालीनमत में भी अनेकान्तवाद के साथ विरोध का आपादन करें तो यह भी गलत है क्योंकि हम तो ज्ञान-दर्शनपर्यायों से तादात्म्यभावापन्न एक ही केवलद्रव्य की मान्यता रखते हैं, जैसे कि जिनमत में रूप-रसादि पर्यायों से तादात्म्यभावापन्न एक ही पुद्गलद्रव्य माना जाता है। केवलज्ञान-दर्शनपर्यायपरिणत आत्मद्रव्य अनन्त है क्रमिक नहीं है अतः तथाविधात्मद्रव्य तादात्म्यभावापन्न ज्ञानदर्शन में भी क्रमिकता का संभव नहीं रहता।

यदि कहें कि — 'आप के कथन का फलितार्थ यह है कि ज्ञान-दर्शन (पर्यायरूप होने से) अपने स्वरूप से (स्वतः) अपर्यवसित नहीं है किन्तु नित्यआत्मद्रव्य अभेदरूप उपाधि के बल से अपर्यवसित है।' — यदि इस तरह औपाधिक अपर्यवसितत्व का आपादन करेंगे तो वास्तव में ज्ञान-दर्शन अपर्यवसित न होने से उन दोनों में एकान्ततः सपर्यवसितत्व प्रसक्त होगा, फलतः अनेकान्तस्वरूप के साथ विरोध प्रसक्त होगा। दूसरा दोष यह होगा कि निरावरण केवलिके ज्ञान-दर्शन में वास्तविक समकालीनता के साथ आवरणप्रयुक्त क्रमिकता का विरोध भी प्रसक्त होगा, तब आप क्रमिकता का आग्रह करेंगे तो नित्यात्मद्रव्य अभेदप्रयुक्त अक्रमिकता नहीं मान सकेंगे।

यह भी ज्ञातव्य है कि कदाचित् आप कथञ्चित् उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति मान भी लेंगे — फिर भी क्रमिकता के जरिये दूसरे क्षण में ज्ञान-दर्शन का विरह तदवस्थ रहने से अपर्यवसितता का स्वीकार नहीं कर पायेंगे, जैसे कि छद्मस्थज्ञानोपयोग में आप को अपर्यवसितता स्वीकृत नहीं है। यदि कहें कि — 'दूसरे क्षण में पूर्वक्षण के ज्ञान-दर्शन के नाश के साथ नूतन ज्ञान-दर्शन का उत्पादन भी मान्य होने से (प्रवाहतः) अपर्यवसितता मान सकते हैं' — तब तो ज्ञान-दर्शन की तरह सर्व पर्यायों में अपर्यवसितता प्रसक्त होगी। यदि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यात्मकता के जरिये उन में द्वितीयादि क्षण में अपर्यवसितता मान्य करेंगे तो द्वितीयादि क्षण में भी उन्हीं ज्ञान-दर्शन की वास्तव सत्ता मान्य करना होगा, अन्यथा उन में द्रव्यार्थता की संगति नहीं होगी॥७॥

क्रमोपयोगद्वय पक्ष में आगमविरोध का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं —

गाथा-व्याख्यार्थ :- केवलदर्शन का क्रमिक उद्भव मानने पर, उस काल में ज्ञान की सत्ता नहीं

व्याख्या :- क्रमोत्पादे सति केवलदर्शने न तदा ज्ञानस्य संभवः, तथा केवलज्ञाने न दर्शनस्य, तस्मात् सनिधने केवलज्ञानदर्शने ॥८॥

[ग्रन्थकर्तुः स्वपक्षनिरूपणम्]

अत्र प्रकरणकारः क्रमोपयोगवादिनं तदुभयप्रधानाक्रमोपयोगवादिनं च पर्यनुयुज्य स्वपक्षं दर्शयितुमाह—

(मूलम्) दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं

5

होज्ज ? समं उप्पाओ; 'हंदि दुए णत्थि उवओगा' ॥९॥

(व्याख्या-) सामान्य-विशेषपरिच्छेदकावरणापगमे समाने कस्य प्रथमतरमुत्पादो भवेत् ? अन्यतरस्योत्पादे तदितरस्याप्युत्पादः स्यात्, न चेद् अन्यतरस्यापि न स्यादविशेषाद् इत्युभयोरप्यभावप्रसक्तिः । 'अक्रमोपयोगवादिनः कथम्' इति चेत् ? समम् = एककालम् उत्पादः तयोर्भवेत्, सत्यक्रमकारणे कार्यस्याऽप्यक्रमस्य भावाद् इत्यक्रमौ द्वावुपयोगौ । अत्रैकोपयोगवाद्याह— हंदि दुवे णत्थि उवओगा इति द्वावप्युपयोगौ नैकदेति ज्ञायताम् 10 सामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकत्वात् केवलस्येति ॥९॥

होगी, एवं केवलज्ञान के काल में दर्शन की सत्ता नहीं होगी । इस प्रकार वे दोनों केवलज्ञान-केवलदर्शन सपर्यवसान हो जायेंगे ॥८॥

प्रकरणकर्ता क्रमोपयोगवादी एवं ज्ञान-दर्शनोभयप्रधान अक्रमोपयोगवादी पक्षद्वय में दोषारोपण करने के बाद अब अपने पक्ष का निरूपण करते हैं —

15

[समकालीन उपयोगद्वय का अभाव अभेद साधक]

गाथार्थ :- दर्शन-ज्ञान के आवरणों का क्षय तुल्य होने पर कौन प्रथम ? (उत्तर :- अत एव) समान काल में उत्पाद होगा । (ग्रन्थकार—) अरे ! दो उपयोग नहीं होते ॥९॥

व्याख्यार्थ :- जब सामान्यबोधक दर्शन के आवरण का एवं विशेष के बोधक ज्ञान के आवरण का क्षय निर्विशेष है तब क्रमिकवाद में कौन पहले उत्पन्न होगा— इस प्रश्न का संतोषकारक उत्तर 20 अशक्य है । कारण, एक की उत्पत्ति होने पर अन्य की भी उत्पत्ति अनिवार्य है । यदि अन्य की उत्पत्ति नहीं होगी तो एक की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों में कोई सबल-दुर्बल भाव नहीं है । फलतः दोनों की उत्पत्ति प्रतिबद्ध हो जायेगी । यदि युगपद् वादी को यहाँ पूछा जाय कि आप के मत में क्या तत्त्व है ? तो वह कहेगा कि उन दोनों का एक ही काल में उत्पाद मानेंगे ! जिन के कारणों में क्रमिकता नहीं है तो उन कार्यों में भी क्रम संभव नहीं । यानी दोनों उपयोग एक 25 साथ प्रवृत्त होंगे । यहाँ टीप्पण करते हुए मूल ग्रन्थकार — जो कि स्वयं अभेदवादी यानी दो पृथक् नहीं किन्तु एकोपयोगवादी है — कहते हैं — अरे ! दो उपयोग ही नहीं होते एक साथ ! इतना समझ लो ! ▲केवल उपयोग स्वयं एक ही होता है और वही सामान्य-विशेष अशेष वस्तु का ग्राहकस्वरूप होता है ॥९॥

▲. व्याख्याकार ने पहले (पृ.४७८) में प्रश्न उठवा था— जुगवं दो नत्थि उवओगा... उस के समाधान में कहा था — मानस विकल्पद्वय के यौगपद्य का यहाँ निषेध है, इन्द्रियज्ञान और मनोविज्ञान के यौगपद्य का निषेध नहीं है ।

यदेव ज्ञानं तदेव दर्शनमित्यस्मिन्नेव वादे सर्वज्ञतासंभव इत्याह —

(मूलम्) जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णु।

जुज्जइ सयावि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ।।१०।।

(व्याख्या) यदि आकारात्मकं वस्तु भवनं, भवनात्मकं वा आकारात्मकं सामान्य-विशेषयोरविनिर्भागवृत्तित्वात्

- 5 सर्व साकारं जानंस्तदात्मकं सामान्यं तदैव पश्यति तत् पश्यन् वा तदव्यतिरिक्तं विशेषं तदैव जानाति उभयात्मकवस्त्वबोधैकरूपत्वात् सर्वज्ञोपयोगस्य; तदा सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च तस्य सर्वकालं युज्यते, प्रतिक्षणमुभयात्मकैकरूपत्वात् तस्य। अथवा सर्व सामान्यं साकारं वा वस्तु न पश्यति न जानाति च तथाभूतयोस्तयोरसत्त्वात् जात्यन्धवत् आकाशवद्वा। अथवा सर्व न जानाति एकदेशोपयोगवृत्तित्वाद् मतिज्ञानिवत्। युगपत् क्रमेण चैकान्तभिन्नोपयोगद्वयादिमते न सर्वज्ञता सर्वदर्शिता चेत्याशय आचार्यस्य।

10 [ज्ञान-दर्शन अभेदपक्ष में सर्वज्ञता की घटमानता]

ज्ञान-दर्शन अभेद पक्ष में सर्वज्ञता की संगति का प्रदर्शन करते हैं —

गाथार्थ :- सर्वज्ञ यदि एक समय में सर्व साकार वस्तु को जानता है तो हर हमेशा वह (जानता ही रहे यह) युक्त ही है। अथवा तो (कहना होगा कि) वह कुछ भी नहीं जानता।।१०।।

व्याख्यार्थ :- यदि यह मान्य है कि — आकारात्मक वस्तुमात्र ही भवन (भूधात्वर्थ सत्ता सामान्य)

- 15 है, अथवा भवनात्मक (सामान्यरूप) जो कुछ भी है वह साकार है, क्योंकि सामान्य एवं विशेष परस्पर मिल-जुल कर रहते हैं — तो मतलब यह हुआ कि सभी साकार वस्तु को जानने के लिये प्रवर्तमान ज्ञान उसी क्षण में साकार (विशेष) अभिन्न सामान्य का दर्शन भी करता ही है; अथवा सामान्य को देखने में प्रवृत्त उपयोग उसी समय सामान्याभिन्न विशेष का ग्रहण करता ही है। कारण, सर्वज्ञ का उपयोग (निरावरण होने से) उभयात्मकवस्तुबोधात्मक ही होता है। इस स्थिति में स्पष्ट है कि
- 20 केवली में प्रतिक्षण सर्वज्ञत्व एवं सर्वदर्शित्व का होना न्यायसंगत ही है क्योंकि सर्वज्ञ केवली भी प्रतिक्षण ज्ञान-दर्शन उभयोपयोगात्मक एकरूप होता है।

यदि यह अमान्य है तो उस के विकल्प में अर्थापत्ति से यही फलित होगा कि साकार या निराकार (सामान्य) किसी भी पदार्थ को केवली न तो देखता है न तो जानता है, क्योंकि साकारभिन्न निराकारग्राही अथवा निराकार भिन्न साकारग्राही दर्शन या ज्ञान खपुष्पवत् असत् है, उदा० जात्यन्ध

25 पुरुष अथवा आकाश। ऐसा नहीं है कि आकाश या जात्यन्ध पुरुष देखता तो है किन्तु जानता नहीं है (अथवा जानता तो है लेकिन देखता नहीं है।) जब देखता नहीं तो जानता भी नहीं (अथवा जानता नहीं तो देखता भी नहीं) यह व्यतिरेक उदाहरण समझना।

चतुर्थपाद में ग्रन्थकार कहते हैं कि — अथवा तो कुछ नहीं भी जानता है, (सर्वग्राही नहीं है) क्योंकि केवली का उपयोग एकदेशीय यानी अंशग्राहिवृत्तिवाला (स्वरूपवाला) है जैसे मतिज्ञानी का मतिज्ञान

- 30 उपयोग। मतिज्ञानी का मतिज्ञान अंशग्राहि ही होता है सर्वग्राही नहीं होता। ग्रन्थकार आचार्य दिवाकरसूरिजी का तात्पर्य यह है कि चाहे क्रमशः चाहे युगपत्, एकान्तभिन्न उपयोगद्वय (यानी ज्ञान सिर्फ विशेषग्राही,

[ज्ञान-दर्शनोपयोगविषये पूज्यानां मतत्रयम्]

अत्र च जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमणपूज्यानामयुगपद्भाविउपयोगद्वयमभिमतम्। मल्लवादिनस्तु युगपद्भावि तद्द्वयमिति। सिद्धान्तवाक्यान्यपि 'सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं' (प्रज्ञापना० द्वितीयपदे सू० ५४ गा०१६०)▲ तथा 'केवलणाणुवउत्ता जाणंति' (गाथा-१६१)● इत्यादीनि युगपदुपयोगवादिना स्वमतसंवादकत्वेन व्याख्यातानि। क्रमोपयोगवादिना तु 'सव्वाओ लद्धीओ..' (वि०आ०भा०३०८१)* 5 इत्यादीनि स्वमतसंवादकत्वेन। प्रकरणकारोऽपि स्वमतसंवादकान्येतान्यन्यानि च व्याख्यातवान्।।१०।।

साकारानाकारोपयोगयोर्नैकान्ततो भेद इति दर्शयन्नाह सूरिः-

(मूलम्) परिशुद्धं सायारं अवियत्तं दंसणं अणायारं।

ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं।।११।।

दर्शन सिर्फ सामान्यग्राही इस तरह पृथक् पृथक् दो उपयोग) माननेवालों के मत में न तो सर्वज्ञता 10 न्यायसंगत है न तो सर्वदर्शिता।।११।।

[श्रीजिनभद्रगणि-मल्लवादि-सिद्धसेनदिवाकरसूरि के मतभेद]

व्याख्याकार यहाँ भिन्न भिन्न तीन मतों के प्ररूपक एवं उन के मतों का आधार प्रकट करते हुए कहते हैं - श्री विशेषावश्यकभाष्यकर्त्ता श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणपूज्य को क्रमशः उपयोगद्वय मान्य है। मल्लवादीसूरि (द्वादशारनयचक्रग्रन्थकर्त्ता) को युगपद् उपयोगद्वय (भिन्न) मान्य हैं। युगपदुपयोगद्वयवादीयोंने 15 विविध सिद्धान्तवाक्यों का व्याख्यान भी अपने मत की पुष्टि करे इस ढंग से किया है - उदा० प्रज्ञापना उपांगसूत्र के 'सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं' (द्वितीयपद सूत्र ५४ गाथा १६०) (सिद्धों का लक्षण है साकार-अनाकार उपयोग) तथा 'केवलणाणुवउत्ता जाणंति'... (गाथा-१६१) केवलज्ञान में उपयुक्त रह कर सर्वभाव-गुणभावों को जानते हुए एवं अनन्त केवलदृष्टियों से सर्वत्र देखते हुए - इत्यादि सिद्धान्तवाक्यों का व्याख्यान। (याद रहें-) पहले दिवाकरसूरिजी हुए। उन के बाद मल्लवादी, बाद में जिनभद्रगणी। 20

क्रमोपयोगवादीने 'सव्वाओ लद्धीओ...' (वि.आ.भा.३०८१) (यतः सर्व लब्धियाँ साकार उपयोग में प्राप्त होनेवाली हैं अत एव सिद्धत्वलब्धि भी साकार उपयोग में उपयुक्त को प्राप्त होती है।) इत्यादि सिद्धान्तवाक्यों का व्याख्यान अपने मत की पुष्टि हो इस प्रकार किया है।

सन्मतिप्रकरणकर्त्ता श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरिने भी इन उपरोक्त एवं अन्य सिद्धान्तवाक्यों का व्याख्यान अपने मत की पुष्टि हो इस प्रकार किया है।।१०।। 25

[आवरणक्षय के बाद उपयोगभिन्नता नहीं]

सूरिदिवाकर अब यह दिखाना चाहते हैं कि केवली के साकार और अनाकार उपयोगों में कोई एकान्तभेद नहीं है -

गाथार्थ :- साकार (उपयोग) परिशुद्ध = व्यक्त होता है, अनाकार दर्शन अव्यक्त होता है। आवरण

▲. असरीरा जीवधणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य। - इति पूर्वार्धम् १६० गाथायाः। ●.जाणंता सव्वभावगुणभावे। पासंता सव्वओ खलु केवलदिद्धीहिऽणंताहि।।संपूर्णा।। इमे द्वे अपि गाथे औपपातिकसूत्रे आवश्यकनिर्वृक्तिमध्ये नमस्कारनिर्वृत्तौ वि.आ.भा. टीकायां चोपलभ्येते। *जं सागारोवओगलाभाओ। तेणेह सिद्धलद्धी उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स।। संपूर्णा।। (भूतपूर्वप्रकाशने)

ज्ञानस्य हि व्यक्तता रूपं दर्शनस्य पुनरव्यक्तता। न च क्षीणावरणे अर्हते व्यक्तताऽव्यक्तते युज्यते। ततः सामान्यविशेषज्ञेयसंस्पर्शी उभयैकस्वभाव एवायं केवलिप्रत्ययः। न च ग्राह्यद्वित्वाद् ग्राहकद्वित्वमिति तत्र संभावना युक्ता, केवलज्ञानस्य ग्राह्यानन्त्येनानन्ततापत्तेः। अन्योन्यानुविद्धग्राह्यांशद्वयभेदाद् ग्राहकस्य तथात्वकल्पने एकत्वानतिक्रमात्र दोष इति।

- 5 सुरेरयमभिप्रायः— न चैकस्वभावस्य प्रत्ययस्य शीतोष्णस्पर्शवत् परस्परविभिन्नस्वभावद्वयविरोधो, दर्शनस्पर्शनशक्तिद्वयात्मकैकदेवदत्तवत् स्वभावद्वयात्मकैकप्रत्ययस्य केवलिन्यविरोधात्, अनेकान्तवादस्य प्रमाणोपपन्नत्वात्॥१११॥ क्रमाक्रमोपयोगद्वयाभ्युपगमे तु भगवतः इदमापन्नमिति दर्शयति—

(मूलम्) अदिदुं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि।

एगसमयम्मि हंदी वयणवियण्णो न संभवइ॥११२॥

- 10 क्षीण हो जाने पर सुव्यक्त-अव्यक्त भेद उचित नहीं है॥१११॥

व्याख्यार्थ :- ज्ञान का स्वरूप है व्यक्तता यानी प्राकट्य। दर्शन का स्वरूप है अव्यक्तता यानी तिरोहितभाव। अर्हत् केवली भगवंत में ज्ञानावरण-दर्शनावरण दोनों एक साथ क्षीण हो जाने पर प्राकट्य एवं तिरोहितभाव परस्परविरुद्ध होने से न्यायसंगत नहीं हो सकते। अतः सिद्ध होता है कि केवलिभगवंत की प्रतीति सामान्य-विशेषोभय ज्ञेयपदार्थग्राही होने से उभयपदार्थ ग्राहक एकस्वभावमय ही है। यानी एक ही उपयोग उभय का ग्राहक है। ऐसी संभावना करना अनुचित है कि ग्राह्य पदार्थ (सा०वि०) दो होने से उन के ग्राहक उपयोग भी दो भिन्न होना चाहिये। कारण, जैसे सामान्य एवं विशेष दो ग्राह्य हैं ऐसे तो लोकत्रय, चतुर्गति, पंचविध इन्द्रिय आदि क्रम से ग्राह्य पदार्थ अनन्त होने के कारण केवलीभगवंत में अनन्त उपयोग स्वीकारने का संकट खड़ा होगा। हाँ, यदि एक ही उपयोग में, परस्पर संश्लिष्ट सा०वि० रूप ज्ञेयांशों के अनेक (दो) होने से उन के ग्राहक एक उपयोग में परस्पर अनुविद्ध अनेक अंशों की कल्पना की जाय तो कोई हानि नहीं है क्योंकि यहाँ अनेकांशगर्भित उपयोग का एकत्व खंडित नहीं होता।

[एक उपयोग की साकारनिराकारोभयग्राहकता अविरोद्ध]

यहाँ दिवाकरसूरि के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये व्याख्याकार अभयदेवसूरि कहते हैं — उपयोगत्वेन एकस्वभावयुक्त प्रतीति में परस्परभिन्न साकार-अनाकार पदार्थद्वयग्राहक उभयस्वभावता मानने में शीतोष्णस्पर्शद्वयवत् विरोध को अवकाश नहीं है। शीतोष्ण स्पर्शद्वय एक-दूसरे के नाशक होने से उन में विरोध सावकाश है, किन्तु साकारग्राहकता एवं अनाकारग्राहकता एक दूसरे के नाशक नहीं है किन्तु उपष्टम्भक हैं अतः उन का विरोध नहीं है। जैसे द्रव्यतः एक ही देवदत्त पुरुष में दर्शनशक्ति-स्पर्शनशक्ति परस्पर अविरोद्ध होती है, एकसाथ रहती है, इसी तरह केवली की एक प्रतीति में सामान्य ग्राहकता - वि०ग्राहकता स्वभावद्वययुक्तता होने में विरोध नहीं हो सकता। कारण, एक में अनेकता स्वीकारनेवाला अनेकान्तवाद अनेक प्रमाणों की कसोटी में उत्तीर्ण सिद्ध हुआ है॥१११॥

- 30 क्रमाक्रमोपयोगद्वयपक्ष में, केवली प्रभु पर कैसा दोषारोप है यह दिखाते हैं —

[भेदपक्ष में अदृष्ट/अज्ञात का भाषण दोषरूप]

गाथार्थ :- केवली हर हमेश अदृष्ट एवं अज्ञात के बारे में बोलते हैं, अरे रे ! एक समय

अदृष्टमेव ज्ञातं जात्यन्धहस्तिपरिज्ञानवत् अज्ञातमेव च दृष्टमलातचक्रदर्शनवत् सर्वकालमेव केवली भाषते इत्येतदापन्नमक्रमोपयोगपक्षे। क्रमवर्त्युपयोगपक्षे तु एकस्मिन् समये जानाति यत् तदेव भाषते ज्ञातं न च दृष्टम् समयान्तरे तु यदा पश्यति तदापि दृष्टं भाषते न ज्ञातम् बोधानुरूप्येण वाचः प्रवर्तनात्। बोधस्य चैकांशावलम्बित्वादक्रमोपयोगपक्षे, क्रमोपयोगपक्षे तु तत्त्वाद् भिन्नसमयत्वाच्च। तत एकस्मिन् समये ज्ञातं दृष्टं च भाषत इत्येष वचनविशेषो भवदर्शने न सम्भवतीति गृह्यताम्॥१२॥

5

तथा च सर्वज्ञत्वं न सम्भवतीत्याह-

(मूलम्) अण्णायं पासंतो अद्दिट्ठं च अरहा वियाणंतो।

किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु ति वा होइ॥१३॥

अज्ञातं पश्यन्नदृष्टं च जानानः किं जानाति किं वा पश्यति न किञ्चिदपीति भावः। कथं वा

में (तथाविध) वचन विशेष का कोई सम्भव नहीं रहता॥१२॥

10

व्याख्यार्थ :- केवली भगवंत जिन वस्तुतत्त्वों का निरूपण करते हैं वे यदि जात्यन्धहस्तीज्ञान की तरह ज्ञात है तो भी दृष्ट नहीं है और अलातचक्रदर्शन की तरह दृष्ट हैं तो भी ज्ञात नहीं है। अक्रमिक पृथक् पृथक् उपयोगद्वय वादी के पक्ष में ऐसी असंगति प्रसक्त है। कारण, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग भिन्न हैं अतः केवली भगवंत जब बोलते हैं उस काल में यदि ज्ञानोपयोग से ज्ञात वस्तु का तो प्रतिपादन करेंगे, किन्तु उस काल में दर्शनोपयोग होने पर भी वह ज्ञात वस्तु ज्ञानोपयोग से दृष्ट नहीं है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग से दृष्ट वस्तु का निरूपण करेंगे उस काल में ज्ञानोपयोग के होने पर भी वह दृष्ट वस्तु दर्शनोपयोग से ज्ञात नहीं है।

क्रमिक उपयोगद्वयवादी के मत में भी यही दुविधा आयेगी - जिस समय में केवली ज्ञानोपयोग से जानते हैं उस काल में वे ज्ञात किन्तु अदृष्ट वस्तु का ही निरूपण करेंगे क्योंकि उस काल में दर्शनोपयोग होता नहीं। जब दूसरे समय में दर्शनोपयोग आविर्भूत हुआ उस समय केवली उस से दृष्ट किन्तु अज्ञात वस्तु का ही निवेदन कर पायेंगे क्योंकि उस काल में ज्ञानोपयोग नहीं है। उसका भी कारण यह है कि वाणी की प्रवृत्ति तो बोध (उपयोग) के मुताबिक ही हो सकती है। अक्रमिक उपयोगद्वय पक्ष में बोध (अन्यतर उपयोग) एकतर अंशावलम्बि ही होता है न कि उभयांशग्राहि। तथा क्रमोपयोगद्वय पक्ष में भी उपयोग की क्रमिकता के कारण समय का भेद होने से नतीजा यही आयेगा कि 'केवली भगवंत एक ही समय में ज्ञात एवं दृष्ट वस्तुतत्त्व का ही निरूपण करते हैं' ऐसा वचनविकल्प यानी ऐसा तथ्यनिरूपण सम्भवित नहीं हो सकता। इतना समझ के रखो॥१२॥

अत एव इस स्थिति में सर्वज्ञता भी संभवित नहीं यह दिखाते हुए प्रकरणकार कहते हैं -

[भेदपक्ष में केवली में असर्वज्ञता की प्रसक्ति]

गाथार्थ :- अरिहंत केवली यदि अज्ञात को देखते हैं और अदृष्ट को जानते हैं, उन्होंने जाना क्या ? क्या देखा ? वह सर्वज्ञ कैसे ?॥१३॥

30

व्याख्यार्थ :- मूल गाथा में किं-शब्द क्षेप में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि यदि केवली भगवंत एक उपयोग से देखते तो हैं लेकिन जानते कुछ भी नहीं तो उन्होंने देख देख कर क्या

तस्य सर्वज्ञता भवेत् ?।।१३।।

ज्ञान-दर्शनयोरेकसंख्यात्वादप्येकत्वमित्याह—

(मूलम्) केवलणाणमणंतं जहेव तह दंसणं पि पण्णत्तं।

सागारग्गहणाहि य णियम परित्तं अणागारं।।१४।।

- 5 अत्र तात्पर्यार्थः— यद्येकत्वं ज्ञान-दर्शनयोर्न स्यात् ततोऽल्पविषयत्वाद् दर्शनमनन्तं न स्यादिति 'अणन्ते केवलणाणे अणंते केवलदंसणे' ▲() इत्यागमविरोधः प्रसज्येत। दर्शनस्य हि ज्ञानाद् भेदे साकारग्रहणादनन्तविशेषवर्तिज्ञानादनाकारं = सामान्यमात्रावलम्बि केवलदर्शनं यतो नियमेनैकान्तेन परीतं = अल्पं भवतीति कुतो विषयभेदादन्तता ?।

युगपदुपयोगद्वयवादी 'अनन्तं दर्शनं प्रज्ञप्तम्' इत्यस्यां प्रतिज्ञायां 'साकारग्गहणाहि य णियमऽपरित्तं'

- 10 इत्यकारप्रश्लेषात् साकारे = विशेषे गतं यत् सामान्यं तस्य यद् ग्रहणं = दर्शनं तस्य नियमो =

देखा ? अंश मात्र। एवं एकोपयोग से वे जानते तो हैं लेकिन देखते कुछ भी नहीं तो उन्होंने जान जान कर क्या जाना ? — अंश मात्र। मतलब, ज्ञान के बिना न तो कुछ देखा, दर्शन के बिना न तो कुछ जाना ? फिर केवली में सर्वज्ञता भी कैसे टीक पायेगी ? फलितार्थ :- इन आपत्तियों से बचने हेतु केवली के ज्ञान-दर्शन को एक ही स्वीकारना होगा।।१३।।

- 15 [भेद पक्ष में केवलदर्शन के आनन्त्य का लोप]

ज्ञान भी केवली में अनंत है एवं दर्शन भी अनन्त हैं — इस प्रकार दोनों में अनन्तसंख्याग्राहित्व समान होने से भी ज्ञान-दर्शन का अभेद मानना अनिवार्य है — यह सब १४ वीं कारिका से कहा जा रहा है —

गाथार्थ :- जैसे (सूत्र में) केवल ज्ञान को अनन्त कहा है वैसे दर्शन को भी। अन्यथा साकार ग्रहण की अपेक्षा अनाकार उपयोग नियमतः अल्प सिद्ध होगा।।१४।।

- 20 व्याख्यार्थ :- गाथा का तात्पर्य यह है कि ज्ञान-दर्शन उपयोगों को यदि अभिन्न नहीं कहेंगे तो विषय-अल्पता के कारण दर्शन की अनन्तता का विलोप होगा। अतः 'केवलज्ञान अनंत है केवलदर्शन अनन्त है' ऐसा कहनेवाले आगमसूत्र के साथ विरोध प्रसक्त होगा।

दर्शन का विषय सामान्य है जैसे द्रव्यत्व अथवा द्रव्यसामान्य, किन्तु एक एक द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादि सामान्य के साथ संलग्न विशेष अनेक हैं जैसे कि पृथ्वीद्रव्य, जल द्रव्यादि एवं मिट्टी-पाषाणादि पृथ्वीद्रव्य।

- 25 इस से फलित होता है कि सभी सत्तादि सामान्य की संख्या के मुकालबे में तत्संलग्न विशेषों की संख्या कई गुणी यानी अनन्तगुणी हैं यह हकीकत है। यदि सामान्यग्राही दर्शन को ज्ञान से भिन्न मानेंगे तो दर्शन के ग्राह्य विषयों की संख्या ज्ञानग्राह्य अनन्त विशेषों की अपेक्षा अवश्यमेव अल्प अल्पतर या अल्पतम ही रह जायेगी। इस स्थिति में ज्ञान के समान दर्शन में आगमोक्त अनन्तता (अनन्तविषयता) कैसे संगत होगी ?

- 30 [यौगपद्यवादी के मत में दर्शन में आनन्त्य की उपपत्ति]

इस संदर्भ में समकालीन उपयोगद्वयवादी मूलगाथा के उत्तरार्थ की जिस तरह से व्याख्या करते

▲. 'अणंते णाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स... इत्यादि भगवतीसूत्रे ५-४-१८५।

ऽवश्यंभावस्तेनाऽपरीतम् = अपरिमाणमिति 'साकारगतग्रहणनियमेनाऽपरीतत्वाद्' इति हेतुमभिधत्ते। यच्चापरीतं तदनन्तं यथा केवलज्ञानम्। अपरीतता च दर्शनस्य द्रव्य-गुण-कर्मादिः साकारस्य च सकलस्य द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिना स्वसामान्येन तावत्परिमाणेनाऽशून्यत्वात् सामान्यविकलस्य पर्यायस्याऽसंभवात्। विशेषतादात्म्यव्यवस्थितसामान्यस्य दर्शनविषयानन्त्येन दर्शनस्याऽपरीतत्वं नासिद्धमिति - भवति तस्याऽनन्त्यसिद्धिरिति व्यवस्थितः॥१४॥

5

क्रमवादिदर्शने ज्ञान-दर्शनयोरपर्यवसितत्वादिकं नोपपद्यत इति यत् प्रेरितमेकत्ववादिना, तत्परिहारार्थमाह-

(मूलम्) भण्णइ जह चउणाणी जुज्जइ णियमा तहेव एयं पि।

भण्णइ णं पंचणाणी जहेव अरहा तहेयं पि॥१५॥

यथा क्रमोपयोगवृत्तोऽपि मत्यादिचतुर्ज्ञानी अपर्यवसितचतुर्ज्ञान उत्पद्यमानतज्ज्ञानसर्वदोषलब्धिको व्यक्तबोधो

हैं उस का दिग्दर्शन व्याख्याकार करते हैं - 'दर्शन अनन्त कहा गया है' यह प्रतिज्ञा समझो। 'साकार गत ग्रहण का नियम से अपरीतत्व' यह हेतु है। ऐसा हेतु - मूल गाथा के 'णियमऽ(अ)परीतं' इस पद में अकार (अवग्रह) का प्रक्षेप करने से प्राप्त है। हेतु की व्याख्या - साकार यानी विशेष, साकार में गत यानी साकार से संश्लिष्ट, यानी सामान्य। उस का ग्रहण यानी दर्शन, उस का नियम यानी अवश्यंभाव, उस की वजह से अपरीत यानी अपरिमित (होने से)। तात्पर्य यह है कि दर्शन का विषय सामान्य अवश्यमेव अनन्त विशेषों से संश्लिष्ट होता है अत एव वह अपरिमित यानी अनन्त 15 है। इसलिये दर्शन अनन्त कहा गया है - यह निगमन हुआ। दृष्टान्त है केवलज्ञान, जो अपरीत होता है वह अनन्त होता है यह व्याप्ति उस में सुगृहीत है।

दर्शन की अपरीतता इस प्रकार है - साकार यानी विशेषात्मक जितने भी द्रव्य-गुण-कर्मादि है वे सभी द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि स्वनिष्ठ सामान्य से संश्लिष्ट होने के कारण सामान्य भी उतनी ही (जितनी विशेषों की संख्या है) संख्या से व्याप्त हैं, क्योंकि सामान्यरहित पर्यायों (विशेषों) का स्वतन्त्र 20 अस्तित्व नहीं है। विशेषों से तादात्म्य रखनेवाले सामान्यरूप दर्शनविषयों की अनन्त संख्या अक्षुण्ण होने से दर्शन की अपरीतता असिद्ध नहीं है। इस प्रकार दर्शन के आनन्त्य की सिद्धि होती है - और हेतु सुनिश्चित हुआ॥१४॥

इस प्रकार समकाल उपयोग द्वयवादीने दो उपयोग मानने पर भी दर्शन में अनन्तता की संगति कर के दीखायी। तो क्रमोपयोगवादी भी एकोपयोगवादी को या समकालतावादी को कहता है कि आपने 25 जो 'क्रमवादी के मत में ज्ञान-दर्शन की अपर्यवसितता घटती नहीं' - ऐसा आरोप किया है उस का परिहार सुन लो - (मूल १५वीं गाथा से दिखाते हैं)

[क्रमवादपक्ष में शक्तिः अपर्यवसितत्वादि की संगति]

गाथार्थ :- (क्रमवादी :-) जैसे चतुर्ज्ञानी संगतिमान् है वैसे यह भी नियमा (घटता है)। (अभेद-वादी :-) जैसे अरिहंत पंचज्ञानी नहीं है वैसे यह भी (दो उपयोग नहीं होते)॥१५॥ 30

व्याख्यार्थ :- क्रमवादी कहता है - जैसे मति आदि चार ज्ञान छद्मस्थ में एक साथ व्यक्तिरूप से नहीं होते फिर भी छद्मस्थ पुरुष में शक्ति अक्षुण्ण होने से वह अपर्यवसित चतुर्ज्ञानी कहा जाता

ज्ञातदृष्टभाषी ज्ञाता दृष्टा संज्ञेयवर्ती चावश्यमेव युज्यते तच्छक्तिसमन्वयात् तथैतदपि एकत्ववादिना यदपर्यवसितादि केवलनि प्रेर्यते तद् युज्यत एव।

अत्रैकत्ववादिना प्रतिसमाधानं भण्यते यथैवार्हन्न पञ्चज्ञानी भवति तथैतदपि क्रमवादिना यदुच्यते भेदतो ज्ञानवानिति च तदपि न भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः।

5

[छद्मस्थ-केवलिनोः वैजात्यम् इति दिग्म्बरः]

अत्र च छद्मस्थे किलोपयोगक्रमस्य दृष्टत्वात् केवलनि च छद्माभावात् न क्रमवान् ज्ञानदर्शनोपयोग इत्ययमत्रार्थो विवक्षित इति केचित् प्रतिपन्नाः। न हि यो यज्जातीये दृष्टः सोऽतज्जातीयेऽपि भवति अतिप्रसङ्गात्, अन्यथा छद्मस्था अपि केवलित्वत् क्रमोपयोगित्वात् सर्वज्ञाः स्युः, सोऽपि वा न भवेत्,

10 है (अवधि-मनःपर्यव तो सपर्यवसित होते हैं किन्तु उन का मति-श्रुतज्ञान तो शक्तितः अपर्यवसित होता है।) एवं शक्तितः तत् तत् ज्ञान की सदा जायमान उपलब्धिवाला, प्रगट बोधवाला, ज्ञात-दृष्ट का प्ररूपक, ज्ञाता और दृष्टा, तथा शक्तितः समस्तज्ञेयव्यग्राही अवश्य होता है यह घट सकता है - इसी तरह व्यक्तरूप से नहीं किन्तु शक्तितः यह भी अपर्यवसितत्वादि सब कुछ केवली में क्रमवाद पक्ष में भी घटता है जिन के लिये एकत्ववादीने प्रश्न उठाये हैं।

[पंचज्ञानाभाव की तरह उपयोगद्वयाभाव - अभेदवादी]

15 एकत्ववादी इस के प्रत्युत्तर में उत्तरार्ध गाथापाद से कहता है - अरिहंत केवली जैसे शक्ति के माध्यम से भी पंचज्ञानी नहीं होते (चतुर्ज्ञानी भी नहीं,) इसी तरह क्रमवाद भेदपक्षाभिमत ज्ञानी एवं दर्शनवान् भी (उपयोगद्वययुक्त) नहीं होते। तात्पर्य यह है कि यदि केवली में क्रमवाद अथवा भेदवाद में शक्तितः सर्वदा दो उपयोग मानेंगे तो शक्तितः पाँच ज्ञान भी क्यों नहीं मान सकते ? जैसे शक्त्या पाँच ज्ञान नहीं होते तो दो उपयोग भी नहीं हो सकते।

20 [छद्मस्थ में जो है वह केवली में भी हो - ऐसा नियम नहीं - दिग्म्बर]

छद्मस्थ की तरह केवली को कवलाहारी नहीं माननेवाले दिग्म्बरवादी यहाँ अपने पक्ष की पुष्टि के लिये भूमिका निर्माण करते हुए कहते हैं -

छद्मस्थ में भले ही क्रमोपयोग सिद्ध हो, किन्तु केवली में ज्ञान-दर्शनोपयोग क्रमिक नहीं हो सकता क्योंकि छद्मस्थ एवं केवली में वैजात्य है, छद्मस्थ में जो सावरणत्व है वह केवली में नहीं है। अभेदवादी के मूलग्रन्थ का यही तात्पर्य होना चाहिये। किसी एकजातीय में जो धर्म सिद्ध है वह अन्यजातीय में भी होना अनिवार्य नहीं है, अन्यथा (बालजातीय मनुष्य में धूलीक्रीडा होती है तो उसी युवा (अबाल) जातीय नर में भी धूलीक्रीडा मानने की आपत्ति आयेगी यह) अतिप्रसंग होगा। यदि अन्य जातीय में भी तद्धर्म होने की अनिवार्यता मानेंगे तो सर्वज्ञ मनुष्य में जैसे क्रमोपयोग उपरांत सर्वज्ञता मानी जाती है वैसे छद्मस्थ पुरुष में भी क्रमोपयोग उपरांत सर्वज्ञता मानने की आपत्ति होगी। अथवा छद्मस्थ जैसे क्रमोपयोग के साथ असर्वज्ञ होता है वैसे केवली भी क्रमोपयोग के साथ 30 असर्वज्ञ प्रसक्त होगा। अथवा केवली में क्रमोपयोग के साथ निरावरणता होती है तो छद्मस्थ में भी क्रमोपयोग के साथ निरावरणता प्रसक्त होगी। अथवा छद्मस्थ में क्रमोपयोग के साथ सावरणता होने

तत एव सर्वज्ञवन्निरावरणास्ते, सोऽपि वा सावरणः तत एव, एकज्ञानिनो वा ते सोऽपि वा चतुर्ज्ञानी स्यात् ।

[केवलिनि कवलाहारनिषेधः - दिगम्बरमतम्]

अत एव छद्मस्थे भुजिक्रियादर्शनात् केवलिनि तद्विजातीये भुजिक्रियाकल्पना न युक्ता, अन्यथा चतुर्ज्ञानित्वाऽकेवलित्व-संसारित्वादयोऽपि तत्र स्युः । न देहित्वं तद्भुक्तिकारणं तथाभूतशक्त्यायुष्कर्मणोः 5 तद्धेतुत्वाद् एकवैकल्ये तदभावात् । औदारिकव्यपदेशोऽप्युदारत्वाद्, न भुक्तेः । यदपि—एकेन्द्रियादीनामयोगि-पर्यन्तानामाहारिणां सूत्रोपदेशात् केवलिनः कवलाहारित्वं केचित् प्रतिपन्नाः—तदपि सूत्रार्थाऽपरिज्ञानात्, तत्र ह्येकेन्द्रियादिभिः सह भगवतो निर्देशाद् निरन्तराहारोपदेशाच्च शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारत्वेन विवक्षितम् । अन्यथा क्षणत्रयमात्रमपहाय समुद्रघातावस्थायां निरन्तराहारो भगवांस्तेनाहारेण भवेत् । यदपि— 10 ‘यथासंभव-माहारव्यवस्थिते सह निर्देशेऽपि कवलाहार एव केवलिनो व्यवस्थाप्यते युक्त्या, अन्यथा 10 से केवली में भी वह प्रसक्त होगी क्योंकि वह भी क्रमोपयोगी है। अथवा — केवली में क्रमोपयोग के साथ जैसे एक ही (केवल) ज्ञान होता है वैसे छद्मस्थों में भी एक ही ज्ञान प्रसक्त होगा। अथवा छद्मस्थ में क्रमोपयोग के साथ चार ज्ञान होते हैं वैसे केवली में भी चार ज्ञान प्रसक्त होंगे। इस प्रकार छद्मस्थ में जो होता है उस का केवली में होना अनिवार्य नहीं — इस तथ्य की पुष्टि कर के दिगम्बर अब केवली में कवलाहार के निषेधवाद का निरूपण करता है — 15

[केवली में कवलाहारनिषेध की युक्तियाँ - दिगम्बर]

दिगम्बर :- यही कारण है — छद्मस्थ में भोजनक्रिया को देख कर केवली प्रभु में भी भोजनक्रिया की (कवलाहार की) कल्पना करना अनुचित है। अन्यथा, केवली में चार ज्ञान, अकेवलित्व, संसारित्व आदि की भी कल्पना प्रसक्त होगी। केवली में कवलाहारसाधक कोई कारण ही नहीं है। शरीरित्व है लेकिन वह भोजन का आपादक नहीं है। अथवा शरीरित्व केवलीगत भुक्तिक्रियाकारणक नहीं है, 20 (बहुव्रीहिसमास लेना)। देहधारण शक्ति और आयुष्यकर्म इन दोनों के संयोजन से ही भोजन या शरीरधारण होता है, केवलि में यदि इन में से एक का भी अभाव होगा तो जरूर भोजन या देहधारण का विरह होगा। मतलब कि भोजन से ही देहधारण होता है ऐसा प्रमाणित नहीं है। ‘भोजन के प्रभाव से ही ‘औदारिक’ ऐसी केवली देह की संज्ञा संगत होगी’ — इस में भी तथ्य नहीं है क्योंकि उदार (अत्यन्त मनोहर) पुद्गलों के प्रभाव से ही केवली शरीर को ‘औदारिक’ संज्ञा प्राप्त है। 25

[आहारी सूचक सूत्र लोमाहार का विधायक - दिगम्बर]

जो लोग ऐसा मान बैठे हैं कि — सूत्र का यह विधान है कि ‘एकेन्द्रिय से ले कर अर्थांगि केवली पर्यन्त सब ‘आहारी’ होते हैं, इस लिये केवली भी कवलाहारी है — यह भी सूत्र के अर्थ के अज्ञान का सूचक है। उक्त सूत्र में तो एकेन्द्रियों आदि के साथ साथ जो केवली का भी निर्देश सूचित है उसी से, तथा उस सूत्र में निरन्तर आहार का सूचन है, उसी से यह फलित होता है 30 कि वहाँ कवलाहार की बात नहीं है — (एकेन्द्रियों को कवलाहार नहीं होता) किन्तु वहाँ शरीरनिर्माणहेतु पुद्गलों का ग्रहण ही ‘आहार’ रूप से अपेक्षित है। यदि यहाँ कवलाहार की विवक्षा होती तो केवली

तच्छरीरस्थितेरभावादिति — तदपि न युक्तिक्रमम्; यतो यदि नामाऽस्मदादेः प्रकृताहारमन्तरेणौदारिकशरीरस्थितेः प्रभूतकालमभावात् केवलिनोऽपि तथाऽनुमीयते तर्हि सर्वज्ञतापि तस्य कथमवसातुं शक्या दृष्टव्यतिक्रम-
प्रकल्पनाऽयोगात्। श्रूयते च प्रकृताहारमन्तरेणाप्यौदारिकशरीरस्थितिश्चिरतरकाला प्रथमतीर्थकृतप्रभृतीनाम्।
न च तदियत्तानियमप्रतिपादकं प्रमाणमस्ति— इति सूत्रभेदकरणनिमित्ताऽसंभवात् यथा-न्यासमेव सूत्रार्थ-
5 परिकल्पनमस्तु। एवं च निरन्तराहारवचनमप्यनुल्लंघितं भवेत्।

अथापि स्याद्— अतिशयदर्शनाद् निरवशेषदोषावरणहानेरत्यन्तशुद्धात्मस्वभावप्रतिपत्तिवत् प्रकृताहारविकला
औदारिकशरीरस्थितिरत्यन्तिकी क्वचिद् यदि भवेत् तदाऽसम्भवन्मुक्तीनां केवलिनानां प्रमाणतः प्रतिपत्तेः
समुद्घात अवस्था में मध्यक्षणत्रय को (जिस में सूत्रकारों ने आहार का निषेध किया है) छोड़ कर
सदा काल कवलाहार मानने का संकट खड़ा होगा। (फिर देशनादिकार्य के लिये समय ही नहीं मिलेगा)

10 [कवलाहार के विना शरीरस्थितिभंगकल्पना अयुक्त]

यदि कवलाहारवादी कहें — “यद्यपि एकेन्द्रियादि के साथ केवली का निर्देश है, फिर भी जैसे पशु-मनुष्य समानरूप से आहारी होने पर भी पशु तृणाहारी और मनुष्य मुख्यरूप से अन्नाहारी ऐसा विवेक करना पडता है — उसी तरह सम्भवानुसार विवेक करना चाहिये कि एकेन्द्रियादि को लोमाहार एवं केवली (मनुष्य) को कवलाहार होता है। (जैसे आहार संज्ञा एकेन्द्रिय को लोमाहार कराती है
15 किन्तु पशु-मनुष्य को कवलाहार में प्रेरित करती है।) यही युक्ति से संगत है। ऐसा न मानने पर केवली के शरीर की कवलाहार के विना दीर्घकाल तक अवस्थिति नहीं बनी रहेगी।” — तो दिगम्बर कहते हैं कि यह भी तर्कसंगत नहीं है। यदि हम लोगों की औदारिकशरीर अवस्थिति कवलाहार के विना दीर्घकाल तक न टिकने का देख कर केवली के लिये भी हम वैसी कल्पना कर लेंगे तो हम लोगों में ज्ञान की अल्पता को — ससीमता को देख कर केवली में भी ससीम ज्ञान की प्रसक्ति
20 होने पर उस में सर्वज्ञता की संगति भी कैसे जान पायेंगे ? क्योंकि दृश्यमान वस्तु में अन्यथा कल्पना की तो आप मना करते हैं। यह भी याद करिये की प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव आदि केवलीयों की औदारिक शरीरस्थिति कवलाहार के विना भी दीर्घकाल तक प्रसिद्ध रही थी।

[कवलाहारविरह में शरीरस्थिति का कालनियम नहीं]

ऐसा नहीं कह सकते कि — ‘वह तो सिर्फ सालभर के लिये ही रही बाद में तो कवलाहार
25 कर लिया था अतः वर्ष से ज्यादा नहीं टिक सकती’ — क्योंकि एक वर्ष के लिये जब शरीरस्थिति कवलाहार के विना अक्षुण्ण रही तो हजारों लाखों वर्ष या लाखों पूर्व तक भी रह जाय तो क्या बिगडता है ? क्योंकि यहाँ कोई सीमांकन (= नियम) तो नहीं है कि इतने दिन तक ही कवलाहार के विना शरीर टिक सकता है, बाद में नहीं। अतः सूत्र में एकेन्द्रियादि और केवली में आहार के विषय में भेद करने के लिये कोई आधार न होने से सूत्र के निर्देशानुसार ही उस के अर्थ की
30 कल्पना करना उचित है जिस से कि निरन्तराहार के कथन का भी उल्लंघन नहीं होगा।

[केवलीमुक्ति के असम्भवदोष का आपादन - श्वेताम्बर]

यदि आशंका की जाय — “दिगम्बर अभिप्रेत अतिशयदर्शन प्रयुक्त केवलिकवलाहाराभाव निरापद्

‘अशरीरा जीवघणा’ (प्रज्ञा० २-५४-१६१) इत्याद्यागमविरोधः प्रसज्येत— असदेतत्, यतः किमेवं ^Aसर्वज्ञस्याऽसत्त्वं प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् ^Bउत्तातिशयदर्शनस्य तदहेतुत्वम् ? न ^Aतावदाद्यः पक्षः, धर्मिणोऽभावे तद्धर्मस्य प्रस्तुतस्य साधयितुमशक्तेः। ^Bनापि द्वितीयः, औदारिकशरीरस्य चिरतरकालावस्थायित्वस्याऽविरोधात्। न चातिशयदर्शनस्य तदहेतुत्वे केवलिभुक्तिसिद्धिः। न च ‘यदतिशयवत् तदात्यन्तिकमतिशयमनुभवति’ इति सर्वत्र साध्यते किन्तु व्याप्तिदर्शनमात्रमेतत्, अतः कियत्कालावस्थितिमात्रं केवलानां शरीरस्थितेरिष्टं 5 नात्यन्तिकम्। न च संयोगस्यात्यन्तिकी स्थितिः संभवति सत्यपि प्रकर्षदर्शने जीव-कर्मणोरनादित्वेऽपि विश्लेषप्रतिपत्तेः। संश्लेषस्थितिनियमस्य चानिष्टेरसंख्येयकालादूर्ध्वं पुद्गलपरिणतेः सर्वस्य अन्यथाभवनाद्।

नहीं है। जैसे अतिशय दर्शन यानी चरमसीमाप्राप्त सकल दोष-आवरणों का क्षय होने पर साधक को आत्यन्तिक शुद्धात्मस्वभाव का उद्भव होता है वैसे यदि कवलाहार के विना चरमप्रकर्षप्राप्त अन्तविहीन औदारिक आत्यन्तिक शरीर अवस्थिति किसी पुण्यात्मा केवली को उपलब्ध हो जाय तब तो यह अनिष्ट 10 होगा कि केवली की सशरीर आत्यन्तिक स्थिति सदाकाल शाश्वत बन जायेगी, तब उस केवली को मुक्ति भी प्राप्त नहीं होगी, मुक्ति का असंभव हो जायेगा — आप से ही निर्दिष्ट अतिशयदर्शनरूप चिरतरकालावस्थायि शरीरस्थिति यहाँ प्रमाणभूत बन जायेगी। फलतः दूसरा एक संकट होगा कि सिद्धान्त में जो ‘असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य’ (प्रज्ञा० २-५४-१६१) कह कर अशरीरी मुक्त केवली भगवंतों का निर्देश किया है उस आगम के साथ विरोध प्रसक्त होगा।” — 15

[केवलीमुक्ति असंभव दोष का परिहार - दिगम्बर पूर्वपक्ष]

तो दिगम्बर कहते हैं कि यह कथन (आपत्तिनिर्देश) गलत है। उक्त आपत्तिनिर्देश के समक्ष दो विकल्प प्रश्न खड़े होंगे। — ^Aक्या उस आपत्ति के द्वारा आप सर्वज्ञ का ही निह्नव कर रहे हो ? या ^Bअतिशयदर्शन आत्यन्तिकता (आत्यन्तिकशरीरस्थिति) का हेतु नहीं होता यह दिखाना चाहते हो ?

^Aप्रथम विकल्प मानेंगे तो आश्रयासिद्धि दोष होगा। जब धर्मो सर्वज्ञ केवली ही असिद्ध है तब 20 उस में कवलाहाररूप प्रस्तुत धर्म का साधन शक्य नहीं होगा।

^Bदूसरा विकल्प मान लेंगे तो अतिशयदर्शन के द्वारा आत्यन्तिक शरीरावस्थिति शाश्वतरूप से ही होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि वह आत्यन्तिकता चिरतरकाल(आयुःपर्यन्त)अवस्थायित्वरूप भी हो सकती है जिस के साथ अतिशयदर्शन का कोई विरोध नहीं है। अतिशयदर्शन के द्वारा हम यह सिद्ध नहीं करना चाहते कि जो सातिशय होता है वह आत्यन्तिक अतिशयरूप ही होता है। हम 25 तो इतना ही नियम दिखाना चाहते हैं कि जो सातिशय है वह चिरतरकालस्थायी हो सकता है। अत एव केवली भगवंत के शरीर की जीवनपर्यन्त अवस्थिति, विना आहार के भी हो सकती है — इतना ही हम सिद्ध करना चाहते हैं न कि आत्यन्तिक (शाश्वत) शरीरस्थिति। आत्यन्तिक शरीरस्थिति में तो यह भी एक बड़ा बाधक है, जीव के साथ शरीरसंयोग कभी भी शाश्वत नहीं हो सकता, संयोगमात्र अनित्य (सान्त) होता है, जैसे :- जीव-कर्म का अनादि प्रकृष्टसंयोगदर्शन सुविदित है फिर 30 भी उन का मुक्तिअवस्था में (१४वे गुणस्थान के अन्तिम क्षण में) वियोग होता है वह सर्वमान्य है। संयोग की शाश्वतता का नियम जैन सिद्धान्त में इष्ट भी नहीं है क्योंकि सिद्धान्त में कहा है कि

औदारिकशरीरस्य च निराहारस्य चिरतरकालस्थायिनः उत्तरकालमशेषकर्मक्षयाद् विनिवृत्तावस्ति साधनं सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् ।

- इदमेव च तत्त्वव्यवस्थायां सर्वत्राभ्युपगन्तव्यम् । न ह्यध्यक्षाद्यवगतस्याप्यर्थस्यैतदन्तरेण तत्त्वव्यवस्थितिः, अनुभूतस्यापि बाधक-प्रत्ययप्रवृत्तौ मिथ्यात्वरूपतया व्यवस्थापनात् । ततः सुनिश्चितासंभवद्-
 5 बाधकप्रमाणत्वादेव प्रमाण-प्रमेयतत्त्वसिद्धिः — बाधकप्रमाणनिश्चयात् तद्विपरीतार्थप्रतिपत्तिः — उभयोरनिश्चये दृष्ट-श्रुतयोरर्थयोः संशीतिरिति व्यवस्था । सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वं च प्रकृताहारवैकल्येऽपि सर्वज्ञौदारिकशरीरचिरस्थायित्वप्रतिपादकागमस्य समस्त्येवेति न किञ्चित् तस्य कवलाहारपरिकल्पनया ।
 केवली च कवलाहारमश्नन् किं ^Aबुभुक्षया उत ^Bशरीरस्थित्यन्यथानुपपत्त्या आहोस्वित् ^Cस्वभावतो-
 10 ^Dऽश्नातीति वक्तव्यम् । ^Aन तावदाद्यः पक्षः बुभुक्षया दुःखरूपत्वात् तन्मूलदोषराशिनिवृत्तौ तस्या असम्भवात् ।
 अनिवृत्तौ वा तत्प्रभवस्य दुःखसमूहस्य सद्भावे आत्यन्तिकसौख्यानुपपत्तिर्भगवति स्यात् । न च क्षुत्तुल्या

पुद्गल का कोई भी परिणाम (चाहे वर्णादि हो चाहे संयोग) असंख्य काल बीत जाने पर अवश्य विपरीत परिवर्तन को प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर, केवली की निराहार चिरतरकालस्थायी शरीर परिणति, सकल कर्म क्षीण हो जाने के उत्तरकाल में निवृत्त हो जाती है — इस तथ्य का एक बलवत् साधन है — सुनिश्चितरूप से बाधकप्रमाण का असंभव ।

15 [सुनिश्चितरूप से- बाधक प्रमाण का असंभव बलवान् - दिगम्बर]

यही एक ऐसा बलवत् साधन है जो सर्वत्र तत्त्वव्यवस्था करने में स्वीकारार्ह है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने पर भी कोई भी अर्थ तब तक तात्त्विकरूप से सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उस के लिये बाधक प्रमाण का असंभव सुनिश्चित न हो। अनुभवारूढ अर्थ भी बाधकप्रमाणग्रस्त हो जाने पर 'मिथ्या' घोषित हो जाता है। अतः प्रमाण-प्रमेय तत्त्वों की सिद्धि पूर्णतया बाधकप्रमाण के असंभव
 20 के सुनिश्चय पर ही निर्भर है। बाधक प्रमाण के सद्भाव में, प्रतीयमान अर्थ के मिथ्यात्व का ग्रहण हो जाता है। यदि बाधक प्रमाण का सद्भाव या अभाव सुनिश्चित नहीं होगा, संशयग्रस्त होगा तो दृष्ट या श्रुत अर्थ भी संशयग्रस्त रहेगा। यही व्यवस्था न्यायक्षेत्र में है।

केवली भगवंत में प्रकृत कवलाहार के विरह में भी औदारिक शरीर के चिरतरकालस्थायित्व का निर्देशक आगम भी बाधक प्रमाण के संभव से मुक्त है यह सुनिश्चित है, अत एव केवली के
 25 कवलाहार की कल्पना मूल्यहीन है।

[कवलाहार का तीन विकल्पों से निरसन - दिगम्बर]

दिगम्बर कहते हैं — केवली को कवलाहार का प्रयोजन क्या है ? ^Aबुभुक्षा, ^Bशरीरावस्थिति का कवलाहार के विना असंभव, ^Cस्वभावतः ?

^Aप्रथम विकल्प उचित नहीं है — बुभुक्षा तो दुःख ही है, केवली में दुःख का मूल दोषवृन्द
 30 का उच्छेद हो चुका है अतः भूख का दुःख हो नहीं सकता। यदि दोषवृन्द पूर्णतया उच्छिन्न न होने का मानेंगे तो तज्जन्य दुःख समुदाय भी केवली में मान्य करना होगा, फलतः केवली में आत्यन्तिक सुख का आविर्भाव नहीं मान सकेंगे। भूख तो दुःख ही है इस में तो कोई संदेह नहीं, क्योंकि शास्त्रों

शरीरवेदनेत्युक्तम्। ^Bबुभुक्षामन्तरेणापि शरीरं स्थापयितुमिच्छुरश्नातीति चेत् ? न, अनन्तवीर्यस्य भगवतः शरीरस्थितिमिच्छोः प्रकृताहारमन्तरेणापि तत्स्थापनासामर्थ्याऽविरोधात्। शरीरतिष्ठापयिषापि बुभुक्षाक्त् क्लेश एवेति न प्रथमपक्षादस्य विशेष इति न द्वितीयः पक्षोपि।

^Cनापि तृतीयपक्षाभ्युपगमोऽपि युक्तः, प्रकृताहारविकल्पस्यैव विवक्षितकालभाविशरीरस्थितिस्वभाव-कल्पनस्यैव दोषाभावाद् अन्यथाऽशिष्टव्यवहारेष्वपि तत्स्वभावकल्पनायाः प्रसङ्गात्। तीर्थप्रवर्तनस्य तु 5 व्यापारव्याहारलक्षणस्य तत्कालभावि विवक्षाचिकीर्षाऽभावेऽपि सद्भावो न विरुध्यते, तीर्थप्रवर्तनस्य सद्भावनाविशेषोत्पन्नविशिष्टफलरूपत्वात्। सकलक्लेशोपरमेऽपि च तीर्थप्रवर्तनं स्वयमभ्युपगतं परेण, में 'छुहासमा नत्थि वेयणा' भूख जैसी कोई वेदना नहीं — ऐसा सुभाषित सुविदित है।

^Bदूसरा विकल्प — भूख का शमन नहीं किन्तु अपने देह की चिरकालीन स्थिति बनायी रखने की इच्छावाले केवली भगवन्त कवलाहार करते हैं। — यह विकल्प भी अनुचित है क्योंकि भगवान् 10 तो अनन्तबलवीर्यशाली है, कवलाहार के बिना भी अपने शरीर की स्थिति बनाये रखने की इच्छा करें तो आसानी से शरीरस्थिति बना सकते हैं, ऐसा प्रबल सामर्थ्य केवली में स्वीकार लेने में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि भूख की तरह शरीरधारणच्छा भी क्लेश ही है जो केवली में हो नहीं सकती। अतः प्रथम विकल्प और दूसरे विकल्प में तत्त्वतः भेद न रहने से प्रथम विकल्प अनुचित ठहरने पर दूसरा भी विकल्प अनुचित सिद्ध हो जाता है। 15

^Cतीसरे विकल्प का स्वीकार भी अयुक्त है। जब स्वभाव को ही कवलाहारप्रयोजक मानना है तो उस के बदले आयुःपर्यन्त चिरकालीन शरीरस्थिति को ही स्वाभाविक मान लेने में क्या बिगडता है ? यदि कवलाहारात्मक एक अशिष्ट प्रवृत्ति को स्वाभाविक मान लेंगे तो फिर अन्य भी अपशब्दभाषणादि अशिष्टप्रवृत्ति स्वभावतः होने की कल्पना प्रसक्त होगी।

[स्वाभाविकतीर्थस्थापनप्रवृत्ति के प्रश्न का उत्तर — दिगम्बर] 20

यदि प्रश्न हो — कवलाहार की स्वभावतः प्रवृत्ति जब नहीं मानेंगे तो स्वभावतः तीर्थस्थापनप्रवृत्ति भी कैसे मान सकेंगे ?

उत्तर यह है कि तीर्थप्रवृत्ति का व्यापार तो व्याहार स्वरूप है, व्याहार यानी जल्पन-देशना। यद्यपि देशनाकाल में न तो बोलने की इच्छा होती है न तो तीर्थ की चिकीर्षा — तीर्थस्थापना करने की इच्छा भी नहीं होती है — फिर भी तीर्थस्थापना प्रवृत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। कारण, 25 तीर्थस्थापना प्रवृत्ति तो — पूर्वावस्था (छद्मस्थ अवस्था) में जो प्रकृष्टभावना सर्वजीवों को संसार सागर तीराने के लिये की गयी थी — उसी का फलविशेषरूप है अतः वह स्वाभाविक होने में कोई दोष नहीं है। आश्चर्य है कि एक ओर आपने स्वयं मान लिया है कि तीर्थप्रवृत्ति होती तो है, यद्यपि केवली को कोई क्लेश बचा नहीं है जिस को मिटाने के लिये तीर्थप्रवृत्ति आवश्यक कही जा सके। दूसरी ओर क्लेश (भूखादि) की उपशान्ति के लिये आप स्वभावतः कवलाहारप्रवृत्ति मानते हैं यह 30 कैसा विरोधाभास ?! हकीकत यह है कि केवली में न तो कोई क्लेश बचा है न तो उस के शमन की कांक्षा बची है फिर कवलाहार की कल्पना क्यों ? यदि फिर भी ऐसी कल्पना करते रहेंगे तो

प्रकृताहारदिकं तु क्लेशोपशमनार्थं कथं तत्त्वभावतः कल्पयितुं युक्तम् ? न च भगवति क्लेशः नापि तदुपशमनवाञ्छा तस्येति कवलाहारपरिकल्पनायां भगवति पक्षत्रयेपि दोषानतिवृत्तेः प्रकारान्तरस्य चाऽसंभवाद् न तत्र प्रकृताहारकल्पना युक्तिसंगता।

[दिगम्बराभिप्रायनिरसनम् व्याप्यभिप्रायश्च]

- 5 अत्र प्रतिविधीयते - यदुक्तम् (४६२-६) 'छद्मस्थे उपयोगक्रमस्य दृष्टत्वात् केवलिनि च छद्माभावादुपयोगक्रमाभावः।' तत्र क्रमोपयोगस्य क्षयोपशमकार्यत्वात् केवलिनि च तदभावात् क्रमोपयोगस्यापि तत्कार्यस्याभावः। तथाहि— यद् यत्कारणं तत् तदभावे न भवति, यथा चक्षुरभावे चक्षुर्ज्ञानम्। क्षयोपशमकारणश्च क्रमोपयोग इति क्षायिकोपयोगवति केवलिनि क्रमोपयोगाभावः। अथ क्षयोपशमाभावे भवतु तत्र मतिज्ञानादिक्रमवदुपयोगाभावः केवलज्ञानदर्शनयोस्तु क्षायिकत्वात् कथं क्षयोपशमाभावे तयोः क्रमाभावः? — उच्यते, यद् यदाऽविकलकारणं

- 10 उक्त तीनों विकल्पों में जो दोष दिखाये गये हैं वे बरकरार रहेंगे। चौथा कोई विकल्प है नहीं। अतः निष्कर्ष यह है कि केवली में कवलाहार की कल्पना युक्तिसंगत नहीं।

[दिगम्बरमतनिरसनप्रारम्भ - श्वेताम्बर उत्तरपक्ष]

- दिगम्बरमत का प्रतिकार करते हुए श्रीव्याख्याग्रन्थकार अभयदेवसूरि कहते हैं — केवली में कवलाहार निषेध के लिये दिगम्बर विद्वान् ने मूलग्रन्थ का तात्पर्य निकाल कर जो कहा (४६२-२३) कि — 'छद्मस्थ में (ही) उपयोग की क्रमिकता दृष्टिगोचर है किन्तु केवली में छद्म न होने से उपयोगक्रम भी नहीं हो सकता' — वहाँ एक तथ्य भूलने जैसा नहीं है कि उपयोग की क्रमिकता छद्ममूलक नहीं होती किन्तु क्षयोपशममूलक होती है। केवली में अत एव छद्माभाव मूलक क्रमाभाव नहीं होता किन्तु क्षयोपशमाभावमूलक ही उपयोगक्रमाभाव होता है। मतलब, कारण (क्षयोपशम) के न होने से कार्य (उपयोगक्रम) भी नहीं होता। यहाँ यही नियम प्रस्तुत बनता है कि जो भी कार्य जिस कारण से निष्पन्न होता है वह उस कारण के विरह में नहीं निष्पन्न होता है। उदा० चक्षु-कारण के विना चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रस्तुत में, क्रमोपयोग का कारण क्षयोपशम है, अतः क्षायिकोपयोगवन्त केवली में क्षयोपशम के न होने से क्रमोपयोग कार्य नहीं होता। (छद्म और कवलाहार में ऐसा कारण-कार्यभाव नहीं है अत एव केवली में छद्म के विरह से कवलाहार न होने की दिगम्बर मान्यता का यहाँ भंग हो जाता है।)

[क्षयोपशम क्रमोपयोग का कारण न होने की शंका - दिगम्बर]

- 25 दिगम्बर शंका — क्षयोपशम तो क्रमोपयोगवाले मत्यादि चार ज्ञानों का कारण है (न कि क्रमोपयोग का) अतः क्षयोपशम न होने पर मति आदि चार ज्ञानों का यानी उन के क्रमोपयोग कार्य का न होना मंजूर है किन्तु केवलज्ञानदर्शन तो क्षायिक (यानी आवरणक्षयमूलक) है, उन का क्रमोपयोग क्षयोपशम का कार्य नहीं है, तो क्षयोपशम के न होने पर केवल-ज्ञान-दर्शन के क्रमोपयोग का अभाव कैसे माना जाय ?

- 30 [कारणसामग्री बलवती होने से समकालोत्पत्ति - उत्तर]

श्वेताम्बर उत्तर :- केवल ज्ञान-दर्शन में क्रमोपयोग नहीं हो सकता इस को समझने के लिये पहले यह नियम देख लो — 'जो कार्य जब पूर्ण कारण सामग्रीयुक्त होता है वह कार्य उस वक्त

तत् तदाऽवश्यंतया प्रादुर्भवति यथा अन्त्यावस्थाप्राप्तक्षित्यादिसामग्रीसमयेऽङ्कुरः, अविकलकारणं च केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनम्, स्वावरणक्षयलक्षणाऽविकलकारणसद्भावेऽपि तदा तस्यानुत्पत्तावतद्धेनु- कताप्रसक्तेः, देश-कालाकारनियमो न भवेत्। अनायत्तस्य तदसम्भवात् इति प्रतिपादितत्वात् (३६९-३)। क्रमोत्पत्तिस्वभावप्रकल्पनायां क्षायिकत्वं तस्य परित्यक्तं स्यात्। अध्यक्षसिद्धे च क्रमे तत्स्वभावप्रकल्पना युक्तिसंगता, अन्यथातिप्रसङ्गः सर्वभावव्यवस्थाविलोपप्रसक्तेः। न च यो यज्जातीये वृष्टः सोऽन्यत्राऽ- 5 तज्जातीये न भवति (४६२-७) इत्येतदत्र विवक्षितम्— किं तर्हि— ‘कारणाभावे कार्यं न भवति — अवश्य उत्पन्न होता है। उदा० चरमसीमा को प्राप्त भूमि आदि पूर्ण कारण सामग्री काल में अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है।’ प्रस्तुत में, इसी नियम का पालन होगा। देखिये — केवलज्ञानोपयोग समय में केवलदर्शन भी अपनी दर्शनावरणक्षयादिरूप पूर्ण कारण सामग्री संश्लिष्ट ही है अतः केवलज्ञानोपयोग समय में केवलदर्शन का होना अनिवार्य है, फिर क्रम कैसे घटेगा ? यदि दर्शनावरणक्षयादिरूप पूर्ण 10 कारण सामग्री के रहते हुये भी केवलज्ञान के समसमय में केवलदर्शन का उद्भव नहीं होगा तो सिद्ध होगा कि केवलदर्शन दर्शनावरणक्षयादि का कार्य नहीं है। उस के अलावा भी और कोई कारण नहीं है अतः अमुक ही देश में केवलदर्शन की उत्पत्ति का कोई सुनिश्चित नियम नहीं बनेगा, तथा अमुक ही काल में, अमुक नियताकारविशिष्ट ही केवलदर्शन की उत्पत्ति का भी कोई स्पष्ट नियम नहीं बन पायेगा। कारण, जो पदार्थ कारणसामग्री अधीन नहीं होता उस के लिये सुनिश्चित देश- 15 काल-आकार के नियम का भी सम्भव नहीं घट सकता — यह पहले भी (५६८-२९) कहा जा चुका है। यदि केवलदर्शन की क्रमोत्पत्ति के लिये स्वभाव कारण की कल्पना की जाय; तब तो उस के क्षायिकत्व को जलांजलि देना पड़ेगा क्योंकि वह आवरणक्षयजन्य नहीं है स्वभावतः है। सच बात तो यह है कि यदि केवल उपयोगों का क्रम प्रत्यक्षसिद्ध होता तब तो उस के प्रति कारण के रूप में स्वभाव की कल्पना में औचित्य होता; (क्योंकि आवरणक्षय के रहते हुए भी समकालीनता न हो 20 कर क्रम ही प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब अन्य गति के न होने से स्वभाव ही शरणभूत बन सकता था, तब तो क्रम है या नहीं उस का भी विवाद नहीं होता।) किन्तु जब समकालीनता या क्रम दोनों परोक्ष ही है तब स्वभाव और क्रमोपयोग के कारण-कार्यभाव की कल्पना कर ले, तो अन्यत्र कई जगह अग्नि आदि की उत्पत्ति के पीछे भी स्वभाव की कारणता की कल्पना कर लेने का अतिप्रसंग हो जाने से सर्वत्र स्वभावेतर कारण और कार्यों की निश्चित व्यवस्था लुप्त हो जायेगी। 25

[बलवान् कारणसामग्री से कार्योत्पत्ति अवश्य]

दिगम्बर के प्रति व्याख्याकार की यह स्पष्टता है कि छद्म और क्रमोपयोग के बारे में हम ऐसा नियम प्रदर्शन (४६२-२५) नहीं इच्छते हैं कि ‘एकजातिवाले के किसी एक देश-काल में रहते हुए (छद्मस्थता के रहते हुए) जो (क्रमोपयोग) दिखता है वह अन्य देश-काल में जब नहीं रहता, (केवलज्ञानकाल में छद्मस्थत्व नहीं रहता) तब वह भी (क्रमोपयोग भी) नहीं रहता।’ (यदि ऐसा नियम हम दिखाते 30 तब तो छद्मस्थता के विरह में केवली में कवलाहार के न होने की बात जोरों से दिगम्बर कर सकते थे।) अरे ! हम तो यही नियम दिखाना चाहते हैं कि कारण (क्षयोपशम) के विरह में कार्य (क्रमोपयोग)

अविकलकारणं चाऽविलम्बितोत्पत्तिकम्' एतदत्र प्रतिपादयितुमभिप्रेतमाचार्यस्य ।

[केवलि-कवलाहारबाधक-साधकप्रमाणनिदर्शनम्]

तेन यदि केवलिनो भुक्तिकारणाभावः सिद्धो भवेत्, प्रतिबद्धत्वं वा स्वकार्यकरणे कारणस्यावगतं भवेत् तदा तदभावनिश्चयः स्यात् । न चैतदुभयमपि भवस्थकेवलिनि सिद्धम्, अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य 5 क्षुधेदनीयकर्मोदयस्य तत्र सद्भावात् । तेनाऽतज्जातीयत्वेऽपि केवलिनि भुक्तिप्रकल्पनायां चक्षुर्ज्ञानत्वाऽकेवलित्वा-पन्त्यादेर्दूषणस्यानवकाशो (४६२-४), भुक्तिकारणस्येव तत्कारणस्य तत्राभावाद् निर्निमित्तस्य च चतुर्ज्ञा-नित्वादेः कार्यस्याऽसम्भवात् ।

यच्च- अतज्जातीयत्वं केवलिनि प्रतिपादितम् (४६२-७) तत् ^Aकिमस्मदाद्यपेक्षया ^Bआहोस्विदात्मी-यच्छद्मस्थावस्थापेक्षया ? ^Aतत्राद्ये विकल्पे सिद्धसाध्यता । ^Bद्वितीयपक्षेऽपि ^Aघातिकर्मक्षयापेक्षया तत्तस्याभ्युपगम्यते 10 ^Bआहोस्विद् भुक्तिनिमित्तकर्मक्षयापेक्षया ? ^Aप्रथमपक्षे सिद्धं विजातीयत्वम् न तु तावता तस्य भुक्तिप्रतिषेधः अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य भुक्तिकारणस्य तथाविजातीयत्वेऽपि स्वकार्यनिर्वर्तकत्वात् । ^Bद्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः

नहीं होता। (हम छद्मस्थता और क्रमोपयोग के बीच कारण-कार्यभाव मानते ही नहीं, क्षयोपशम और क्रमोपयोग के बीच ही कारण-कार्यभाव मानते हैं।) अतः मूल ग्रन्थकार आचार्य को यही नियमप्रदर्शन अभिमत है कि पूर्णकारणसामग्री के रहने पर विना विलम्ब कार्यात्पत्ति होती है। (यानी आवरणक्षयादि 15 रूप पूर्ण कारणसामग्री केवलज्ञानोपयोग के समय में रहती है तो केवलज्ञानोपयोग के समकाल में ही केवलदर्शन का उद्भव होना ही चाहिये।)

[केवली में भुक्ति का कारण क्षुधावेदनीय का उदय]

अत एव — यदि केवली में भुक्ति-कारण का नास्तित्व सिद्ध होता, अथवा अपने कार्य की सिद्धि के प्रति भुक्ति कारण को कोई प्रतिबन्ध लगा ज्ञात होता तब तो केवली में भोजनाभाव का निश्चय 20 सुगम होता। (छद्मस्थता भुक्ति कारण ही नहीं है।) किन्तु दो में से एक भी भवस्थ केवली में सिद्ध नहीं है (न तो कारणाभाव सिद्ध है न तो कारणप्रतिबन्ध सिद्ध है) क्योंकि प्रतिबन्धमुक्त सामर्थ्ययुक्त क्षुधावेदनीयकर्मोदय केवली में कवलाहार का कारण अक्षुण्ण है। अत एव 'अछद्मस्थजातीय केवली में यदि भोजन की कल्पना करेंगे तो चतुर्ज्ञानित्व-अकेवलित्व आदि की कल्पना की भी विपदा होगी' (४६३-१८) इत्यादि दिगम्बरप्रयुक्त दोष भी निरवकाश हैं। केवली में जैसे भुक्ति का कारण मौजूद 25 है वैसे यदि चतुर्ज्ञानित्व, अकेवलित्व अथवा संसारित्वादि का कारण मौजूद होता तभी वे दोष सावकाश होते, किन्तु वह मौजूद ही नहीं है। विना निमित्त कारण केवलि में चतुर्ज्ञानित्वादि कार्यों का सम्भव नहीं है।

[केवलि में दिगम्बरमान्य अतज्जातीयत्व की समीक्षा]

दूसरी बात, — 'जिस जातिवाले के रहते हुए जो दिखता है वह अतज्जातीय की उपस्थिति 30 में नहीं होता' ऐसी जो व्याप्ति आपने दिखायी थी — उस में, केवली में अतज्जातीयता से अभिप्रेत क्या है ? ^Aहम आदि की अपेक्षा से अतज्जातीयत्व (भिन्नजातीयत्व) विवक्षित है या ^Bकेवली की पूर्वकालीन छद्मस्थावस्था की अपेक्षा से ? ^Aप्रथम विकल्प में सिद्धसाध्यता दोष है (उस में हमारी

अतज्जातीयत्वस्यैवाऽसिद्धत्वात् तन्निमित्तस्य कर्मणो भवस्थकेवलिनि पर्यन्तसमयं यावदनुवृत्तेः। यदपि 'न देहित्वं भुक्तिकारणं तथाभूतशक्त्यायुष्क-कर्मणोस्तद्धेतुकत्वाद् एकवैकल्ये तदभावात्।' - (४६३-५) इति तदप्यसंगतम्। यतो न देहित्वमात्रं प्रकृतभुक्तिकारणम् अपि तु विशिष्टकर्मादयसामग्री, तस्याश्च ततोऽद्याप्यव्यावृत्तेः कुतस्तदभावः ? तथाभूतशक्त्यायुष्क-कर्मणोश्चैकस्यापि वैकल्याऽसिद्धेः 'एकवैकल्ये तदभावात्' (४६३-५) इत्यसिद्धम्।

5

यच्च— 'औदारिकव्यपदेशोऽप्युदारत्वाद् न भुक्तेः'— इति (४६३-६) तदपि न दोषावहम् औदारिकशरीरित्वे स्वकारणाधीनाया भुक्तेरप्रतिषेधात्। व्यपदेशस्योदारत्वनिमित्तत्वेऽपि स्वकारणनिमित्तप्रकृतभुक्तिसिद्धेः। यदपि — 'एकेन्द्रियादीनामयोगिपर्यन्तानामाहारिणां सूत्र उपदेशः...' इत्याद्यभिधानम् (४६३-६) तदप्यसंगतम्;

कुछ भी हानि नहीं है) क्योंकि हम आदि की अपेक्षा से केवली में भिन्नजातीयता हमें इष्ट ही है किन्तु ऐसे भिन्नजातीय केवली में कवलाहार के साथ विरोध नहीं है। दूसरे विकल्प में, केवली में 10 उन की छद्मस्थावस्था की अपेक्षया जो भिन्नजातीयता है वह घातीकर्म के क्षय से प्रयुक्त है या भोजनप्रेरककर्मक्षय से प्रयुक्त है ? प्रथम पक्ष में भिन्नजातीयता सिद्ध होने पर भी भोजन का प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तथाविध भिन्नजातीयता (घातीकर्मक्षय) रहने पर भी प्रतिबन्धशून्य शक्तिशालि भोजनकारण क्षुधावेदनीयकर्मादय अपने कार्य भोजन को निष्पन्न कर के ही रहेगा। द्वितीयपक्ष भी अयुक्त है क्योंकि भोजनप्रेरकवेदनीय कर्म का क्षय (स्वरूप वैजात्य) केवली में खपुष्पतुल्य है, क्योंकि 15 भोजनप्रेरक वेदनीय कर्म भवस्थ केवली में चरम समय तक जिन्दा रहता है।

दिगम्बरने जो यह कहा था कि 'शरीरस्थिति भोजन की कारण नहीं होती किन्तु आत्मा की देहधारण शक्ति एवं आयुष्कर्म ही उस का कारण होता है (४६३-२०), क्योंकि इन दोनों में से एक भी यदि नहीं रहता तो भोजन भी नहीं रहेगा।' — यह कथन भी गलत है, क्योंकि हम सिर्फ शरीरित्व को ही भोजन का कारण नहीं मानते किन्तु विशिष्टकर्मादय (क्षुधावेदनीयकर्मादय-आहारपर्याप्ति आदि) 20 सामग्री को भोजन का कारण मानते हैं जो कि केवली में सिद्ध है, तो फिर कारणसामग्री के रहने पर कवलाहार का निषेध कैसे सिद्ध होगा ? अरे आप जो आत्मशक्ति एवं आयुष्कर्म को भोजन का कारण मानते हैं वे दोनों भी केवली में मौजूद होने से भोजन प्रसक्त होता है तो 'एक के विरह में भी भोजन नहीं होगा' ऐसा कहाँ से सिद्ध होगा ?

[दिगम्बर के औदारिक-आहारित्वादि कुतर्कों का निरसन]

25

यह जो दिगम्बरों ने कहा है — 'केवली के शरीर का भी 'औदारिक' शब्दव्यवहार भोजनमूलक नहीं है किन्तु उदार यानी मनोहरपुद्गलों के कारण है'— (४६३-२४) यह कथन हमारे मत में दोषापादक नहीं है, क्योंकि औदारिकशरीरधारी केवली में स्वकारणाधीन भोजन का निषेध शक्य नहीं है चाहे औदारिक का 'उदार' अर्थ भले हो। उदारत्व को 'औदारिक' शब्दव्यवहार का निमित्त बना देने पर भी स्वकारणमूलक कवलाहार की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। 30

दिगम्बरोंने जो यह कहा है (४६३-२७) — "एकेन्द्रिय से लेकर अयोगी केवली पर्यन्त जीवों के लिये सूत्र में जो आहारित्व का निर्देश किया गया है वह कवलाहार को ले कर नहीं किन्तु देह

एकेन्द्रियादिसहचरितत्वनिरन्तराहारोपदेशत्वाद्यन्तरेणापि “विग्गहगइमावण्णा”..... (▼) इत्यादिसूत्रसंदर्भस्य केवलिभुक्तिप्रतिपादकस्यागमे सद्भावात्। न च तस्याऽप्रामाण्यम् सर्वज्ञप्रणीतत्वेनाभ्युपगतसूत्रस्येव प्रामाण्योपपत्तेः। न च तत्प्रणीतागमैकवाक्यतया प्रतीयमानस्याप्यस्याऽतत्प्रणीतत्वम् अन्यत्रापि तत्प्रसक्तेः।

यदपि— ‘शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारत्वेनाभिमतमत्र’ (४६३-८) इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम्, विग्रह-
5 गत्यापन्न-समवहतकेवल्ययोगिसिद्धव्यतिरिक्ताशेषप्राणिगणस्य शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमेवाहारशब्दवाच्यमिह सूत्रेऽभिप्रेतम्— इति कोऽन्यः सामयिकशब्दविदो भवतोऽभिधातुं समर्थः ?

यदपि— ‘निरन्तराहारित्वं केवलिनस्तेनाहारेण समुद्घातक्षणत्रयमपहाय भवेत्’ — (४६३-९) इत्युक्तम् तदप्यसंगतम्; विशिष्टाहारस्य विशिष्टकारणप्रभवत्वात् तस्य च प्रतिक्षणमसंभवात्। यस्तु पुद्गलादानलक्षणो

योग्य पुद्गल के ग्रहण (लोमाहार) को ले कर है... इत्यादि” — वह भी अयुक्त है।

10 कारण, जिस सूत्र में एकेन्द्रियादि सहपठितत्व एवं निरन्तराहार का निरूपण है वह एक मात्र सूत्र ही हमारा आधार है ऐसा नहीं है, जिस में एकेन्द्रियादि सहपठितत्व एवं निरन्तराहार का निर्देश नहीं है ऐसा भी ▼विग्गहगइमावण्णा ...इत्यादि सूत्र संदर्भ आगमों में उपलब्ध है जो केवली के कवलाहार का समर्थक है। उस सूत्र संदर्भ का भाव यह है कि विग्रहगतिप्राप्त जीव, समुद्घातापन्न केवली, अयोगी तथा सिद्ध इतने को छोड़ कर शेष जीवमात्र आहारक हैं। यह सूत्र अप्रमाण नहीं है, सर्वज्ञभाषितसूत्र
15 की तरह इस का भी प्रामाण्य सुघटित है। सर्वज्ञभाषितागम के साथ इस सूत्र की एकवाक्यता सुप्रतीत होने पर भी यदि इस सूत्रगाथा को प्रमाण न मानी जाय तो अन्य सर्वज्ञभाषित सूत्रों की प्रामाण्यता भी लुप्त हो जायेगी। (एकवाक्यता का मतलब यह है सर्वज्ञभाषित गणधरग्रथित अन्य सूत्रों में जैसे आहारी-अनाहारी आदि विषयों का निर्दोष निरूपण है वैसे ही इस सूत्रगाथा का विषय भी उन से संवादी है, विसंवादी नहीं है।) प्रस्तुत सूत्रगाथा में कहीं भी एकेन्द्रियादि का या निरन्तराहार का
20 उल्लेख नहीं है, अतः समुद्घातापन्न और अयोगी केवली को छोड़ कर शेष सयोगी केवली में आहारकता कवलाहार से पूर्ण संगत होती है।

दिगम्बर यहाँ जो कहते हैं कि (४६३-३९) — ‘यहाँ भी देहप्रायोग्यपुद्गलग्रहणस्वरूप आहार ही विवक्षित है न कि कवलाहार!’ — वह भी अयुक्त है। कारण, ऐसी विवक्षा मानने पर तो उक्त सूत्रगाथा के लिये दिगम्बरों को यही कह देना चाहिये कि कवलाहार किसी भी जीव को नहीं होता, विग्रहगतिप्राप्त
25 समुद्घातापन्नकेवली-अयोगिकेवली और सिद्धों को छोड़ कर शेष सभी जीव शरीरयोग्यपुद्गलग्रहण स्वरूप आहार से ही आहारक होते हैं। ऐसा प्रलाप तो दिगम्बर ही कर सकते हैं (जो शरीरयोग्यपुद्गलग्रहण से ही सभी जीवों को आहारक कहने का साहस करते हैं।) उन के अलावा ऐसा कौन शास्त्रीयशब्दार्थवेत्ता ऐसा कहने का साहस करेगा ?

दिगम्बरने जो यह कहा था — (४६४-८) ‘केवली में कवलाहार से आहारकता मानेंगे तो
30 निरन्तराहारसूचक सूत्र के द्वारा केवलीसमुद्घात की मध्यवर्ती तीन क्षणों को छोड़ कर शेष पूरे काल

▼. विग्गहगइमावण्णा केवलिनो समुहया अयोगी वा। सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारणा जीवा।। इति गाथा सूत्रकृतसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे तृतीयाध्ययनटीकायामृद्धता श्री शीलाङ्काचार्येण व्याख्याता च। इति पूर्वसम्पादकौ।

लोमाद्याहारस्तस्य प्रतिक्षणं सद्भावेऽप्यदोषात् ।

यदपि— 'यथासंभवमाहारव्यवस्थितेः केवलिनः कवलाहारः, अन्यथा शरीरस्थितेरभावात् व्यवस्थाप्यते'
— इत्यभिधानम् (४६३-९) तद्युक्तमेव । न हि देशोनपूर्वकोटिं यावद् विशिष्टाहारमन्तरेण विशिष्टौदारिक-
शरीरस्थितिः संभविनी । न च तच्छब्दस्थावस्थातः केवल्यवस्थायामात्यन्तिकं तच्छरीरस्य विजातीयत्वं येन
प्रकृताहारविरहेऽपि तच्छरीरस्थितेरविरोधो भवेत्, ज्ञानाद्यतिशयेऽपि प्राक्तनसंहननाद्यधिष्ठितस्य तस्यैवाऽऽ- 5
पातमनुवृत्तेः । अस्मदाद्यौदारिकशरीरविशिष्टस्थितेर्विशिष्टाहारनिमित्तत्वं प्रत्यक्षानुपलम्भप्रभवप्रमाणेन सर्वत्राधि-
में निरन्तर कवलाहार मानना पडेगा' — वह भी प्रलापमात्र है । सामान्य कारणों के रहते हुए कार्यसामान्य
होता है और कारणविशेष के रहते हुए कार्यविशेष होता है यह सर्वमान्य तथ्य है । तो यहाँ कवलाहार
विशिष्ट कार्य है जो कि कारणविशेष (क्षुधावेदनीयकर्मोदय) से जन्य है, कारण विशेष सदाकाल नहीं
होता अतः निरन्तर कवलाहार का आपादन व्यर्थ है । पुद्गलग्रहणस्वरूप लोमाहार कार्य कारणसामान्य 10
(काययोग) जन्य है अतः उस को निरन्तर मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है । मतलब कार्यसामान्य
लोमाहार सतत होता रहेगा, कार्यविशेष कवलाहार तभी होगा जब कारणविशेषरूप क्षुधावेदनीय कर्म
का उदय प्रवृत्त होगा ।

[कवलाहार के विना देशोनपूर्वकोटियावत् शरीरस्थिति का असम्भव]

दिगम्बरोंने जो यह कहा था — (४६४-१३) 'एकेन्द्रियादि से ले कर केवली (पंचेन्द्रिय) तक 15
आहार व्यवस्था जो जहाँ घट सके वैसी मानना चाहिये अतः केवली में कवलाहार व्यवस्था उचित
है क्योंकि कवलाहार के विना शरीर-अवस्थिति दुर्घट बन जाय' — (ध्यान रखा जाय कि दिगम्बरने
ऐसा जो कहा है वह स्वमत के रूप में नहीं किन्तु पराशंका के रूप में प्रस्तुत कर के बाद में
उस का खंडन किया है — व्याख्याकार यहाँ उस का आशंकित बयान स्वीकार करते हुए उसकी ओर
से किये गये खंडन का प्रत्युत्तर दे रहे हैं —) वह तो युक्तिसंगत ही है । कारण, केवली का उत्कृष्ट 20
पर्याय देशोनपूर्व कोटि वर्ष (१ पूर्व = ७०५६० x १०^९ वर्ष) होता है, विशिष्ट (कवलात्मक) आहार
के विना इतने दीर्घ काल तक केवली के औदारिक शरीर की विशिष्ट स्थिति प्रवर्तमान रहना असंभव
है । ऐसा नहीं है कि छद्मस्थावस्था युक्तशरीर के बाद केवलीअवस्थायुक्त शरीर में सर्वथा वैजात्य (रूपान्तर)
हो जाता है — जिस से कि प्रकृत (कवलरूप) आहार के विना भी दीर्घकालीन शरीरस्थिति मानने
में विरोध टल जाय । ज्ञान-वचनादि का अतिशय जरूर होता है किन्तु (जैसे ज्ञान होने से पेट नहीं 25
भर जाता वैसे) ज्ञानातिशय होने के प्रभाव से संहननादि में कोई चमत्कारिक बदलाव नहीं आ जाता ।
पूर्वावस्था में जैसे संहननादि होते हैं वे ही केवली में शरीरत्यागपर्यन्त जारी रहते हैं ।

[धूम से अग्नि के अनुमान के विलोप की आपत्ति]

सर्वत्र प्रत्यक्ष (अन्वय) एवं अनुपलम्भ (व्यतेरिक) निष्पन्न प्रमाण से यह स्पष्टरूप से निर्णीत
किया हुआ है कि हम लोगों की औदारिकशरीरस्थिति विशिष्ट (कवल) आहारमूलक ही होती है । 30
(कुछ दिन उपवास करते हैं तो देहलता मुरझाने लगती है और कुछ दिन पारणा करते हैं तो देहलता
विकसित होती है । यह सुनिश्चित तथ्य है ।) अत एव यदि हमारे जैसे अन्य लोगों (केवली आदि)

गतमिति विशिष्टाहारमन्तरेण तत्स्थितेरन्यत्र सद्भावे सकृदपि तत्स्थितिस्तन्निमित्ता न भवेत्, अहेतोः सकृदपि सद्भावाभावात्। यदि पुनर्विशिष्टाहारनिमित्ताप्यस्मदादिषु विशिष्टशरीरस्थितिः पुरुषान्तरे तद्व्यतिरेकेणापि भवेत् तर्हि महानसादौ धूमध्वजप्रभवोऽपि धूमः पर्वतादौ तमन्तरेणापि भवेदिति धूमादेरन्याद्यनुमानमसङ्गतं भवेद्, व्यभिचारात्।

- 5 अथैतज्जातीयो धूम एतज्जातीयान्निप्रभवः सर्वत्र सकृत्प्रवृत्तेनैव प्रमाणेन व्यवस्थाप्यते। तत्कार्यताप्रतिपत्तिबलादग्निस्वभावादन्वयत्र तस्य भावे सकृदप्यग्नेर्न भावः स्याद् अग्निस्वभावाऽजन्मत्वात् तस्य। भवति चाग्निस्वभावाद् महानसादौ धूम इति सर्वत्र सर्वदा तत्स्वभावादेव तस्योत्पादेऽतदुत्पत्तिकस्याऽधूमस्वभावत्वादिति न धूमादेरन्याद्यनुमाने व्यभिचारः। तर्ह्ययं प्रकारः प्रकृतेऽपि समानः, विशिष्टौदारिकशरीरस्थितेर्विशिष्टाहारमन्तरेणापि भावे तच्छरीरस्थितेरेवासौ न भवेत्। न चात्यन्तविजातीयत्वं तस्या
- 10 इति प्रतिपादितम्। सर्वथा समानजातीयत्वं तु महानस-पर्वतोपलब्धधूमयोरप्यसंभवि। ततोऽस्मदादेरिव केवलिनोऽपि प्रकृताहारमन्तरेणौदारिकशरीरस्थितिश्चिरतरकाला न संभवतीत्यनुमानं प्रवर्तत एव। अन्यथा

में शरीरस्थिति को विशिष्टाहार के विना ही मान लेना अनुचित है क्योंकि तब तो एक भी शरीरस्थिति में विशिष्टाहारमूलकत्व का निश्चय नहीं हो पायेगा, कारण के विना अथवा अकारणात्मक पदार्थ से एक बार भी कार्य का अस्तित्व संभव नहीं है। यहाँ इस तरह विपक्षबाधक प्रस्तुत है — हम लोगों

15 में दिखाई देने वाली विशिष्टाहारमूलक विशिष्ट शरीर स्थिति यदि अन्य किसी (केवली आदि) पुरुषों में विशिष्टाहार के विना भी संभव हो; तो पाकशाला में अग्नि के विना न दिखाई देनेवाला धूम कहीं अन्य पर्वतादि में अग्नि के विना भी हो सकता है ऐसा कहा जा सकेगा। नतीजा यह होगा कि धूमादि से अग्निआदि का अनुमान लुप्त हो जायेगा, क्योंकि वहाँ व्यभिचारदोष सिर उठायेगा।

[धूम से अग्निअनुमान के समर्थन की प्रस्तुत में तुल्यता]

- 20 दिग्गम्बर कहते हैं — एक बार भी प्रवृत्त प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह निश्चय करना बहुत आसान है कि एतज्जातीय अग्नि से एतज्जातीय धूम का सृजन होता है। प्रमाण से इस तरह के कारण-कार्यभाव की उपलब्धि के प्रभाव से यह भी निश्चित किया जा सकता है कि यदि धूम अग्निस्वभाववस्तु से भिन्न किसी जलादि के द्वारा उत्पन्न होगा तो एक बार भी धूम का अग्नि से जन्म अशक्य हो जायेगा क्योंकि वह अग्निस्वभाववस्तु से जन्म नहीं रहा। किन्तु यह दिखाई देता है कि पाकशालादि में अग्निस्वभाव
- 25 वस्तु से ही धूम का उद्भव होता है अतः किसी भी देश-काल में धूम अग्नि से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि जो अग्नि से उत्पन्न नहीं होता वह धूमस्वभाव नहीं होता। इस से अब यह निर्बाध कह सकते हैं कि धूम से अग्नि के अनुमान में कोई व्यभिचार दोष का स्पर्श नहीं होगा।

- श्वेताम्बर इस के प्रत्युत्तर में कहते हैं — यही आलाप प्रकृत केवलीकवलाहारसिद्धि के लिये भी समान है। देखिये — विशिष्टाहार के विना यदि विशिष्टौदारिक शरीरस्थिति का संभव होगा तो वह 'विशिष्टशरीरस्थिति'
- 30 कहलाने के योग्य ही नहीं होगी। 'केवली की शरीरस्थिति सर्वथा विजातीय होने से वह विशिष्टाहार के विना भी हो सकती है' ऐसा प्रलाप अनुचित है क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि केवली की शरीर स्थिति का सर्वथा वैजात्य ही असिद्ध है। यदि दिग्गम्बर कहें कि — 'सर्वथा विजातीयत्व नहीं है तो सर्वथा

धूमादेरग्न्याद्यनुमानमपि न स्यात्। यदपि— (४६४-२) 'कुतस्तस्यैवं सर्वज्ञतादिसिद्धिः ?' इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम् घातिकर्मक्षयप्रभवसर्वज्ञतादेः प्रकृताहारेण तत्कार्येण वा चिरकालभाव्यौदारिकशरीरस्थित्यादिना विरोधाऽसंभवात् सर्वज्ञतासिद्धिनिबन्धनस्य च प्रमाणस्य प्रतिपादितत्वात् (प्र० खण्डे) प्रकृताहारप्रतिपादकस्य च।

यदपि— (४६४-३) निराहारौदारिकशरीरस्थितेः प्रथमतीर्थकरप्रभृतिनामतिशयश्रवणात् तदियत्तानियमप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च' इति तदप्यपर्यालोचिताभिधानम् तस्य प्रामाण्ये तदियत्तानियमस्यापि तत एव सिद्धेः, तदधिकनिराहारतच्छरीरस्थितेः सूत्रे निषेधाद्, निरशनकालस्य तावत् एवोत्कृष्टताप्रतिपादनात्।

यदपि— (४६४-४) 'सूत्रभेदकरण-कारणाऽसंभवात्...' इत्यादि, तदप्यसंगतम् चिरतरकालस्थितिरेव सजातीयत्व (हम लोगों की शरीरस्थिति और केवली की शरीरस्थिति में) भी कहाँ सिद्ध है ? (जिस से कि कहा जा सके कि केवलीशरीर सर्वथा अस्मदादिशरीरस्थितितुल्य होने से अस्मदादिशरीरस्थिति की तरह केवली की शरीरस्थिति भी विशिष्टाहार के बिना नहीं हो सकती ?) तो उस के प्रत्युत्तर में श्वेताम्बर कहते हैं कि सर्वथा साजात्य तो पाकशालीय धूम और पर्वतीय धूम में भी कहाँ है ? (जिस से कि कहा जा सके कि पर्वतीय धूम सर्वथा पाकशालीयधूमतुल्य होने से वह अग्नि के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता।) यदि धूम के बारे में अंशतः साजात्य से काम लेंगे तो प्रस्तुत में भी अंशतः साजात्य को ले कर कहा जा सकता है कि हम लोगों की औदारिक शरीरस्थिति की तरह केवली की भी दीर्घकालीन औदारिकशरीरस्थिति कवलाहार के बिना कभी नहीं हो सकती — ऐसा अनुमान आसानी से प्रवर्त सकता है। अन्यथा, धूमादि से अग्निआदि के अनुमान का भी समानरूप से विलोप होगा।

दिगम्बरने जो यह तर्क लगाया था — 'हम लोगों में सर्वज्ञता नहीं होती तो तुल्यशरीरस्थितिवाले केवली में सर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकेगी' — (४६४-२०) वह भी गलत है। सर्वज्ञता का कारण है घातीकर्मक्षय न कि तुल्यशरीरस्थिति आदि। केवली में घाती कर्म क्षीण हो चुके हैं अतः उस में सर्वज्ञता बेरोकटोक सिद्ध है — कवलाहार या उस के कार्य के साथ चिरकालीन औदारिकशरीरस्थिति आदि से उस का कोई विरोधभाव सिद्ध नहीं है। प्रथमखंड में सर्वज्ञतासिद्धिकारक प्रमाण का सद्भाव दर्शाया हुआ है और कवलाहारसाधक प्रमाण भी सूत्रकृतांग का विग्गहगइमावण्णा... आप्तप्रमाण इसी प्रस्ताव में कहा जा चुका है।

[केवलि की निराहार शरीरस्थिति की सीमा के सूचक सूत्र]

दिगम्बरोंने केवलिभुक्ति निषेध में जो यह कहा था (४६४-२७) — 'प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव आदि के बारे में निराहार औदारिकशरीर स्थिति का अतिशय शास्त्र में सुनने को मिलता है, एवं उस निराहार शरीरस्थिति की इयत्ता (एक महिना — दो महिना इत्यादि सीमा) बोधक प्रमाण नहीं मिलता है इस से फलित होता है कि केवली अवस्था में भोजन नहीं होता।' — वह भी आँख मुँद के कह दिया है। कारण, अतिशयबोधक जो सूत्र है उसे यदि प्रमाण मानते हैं तो उसी सूत्र से एक संवत्सरादि काल सीमा का नियम भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि एक संवत्सरादिकाल से अधिक निराहार शरीर स्थिति का उन्हीं सूत्रों में निषेध भी सूचित किया गया है। तीर्थकर ऋषभदेव का अनशन का उत्कृष्ट काल सिर्फ एक संवत्सर बताया गया है।

तच्छरीरस्य सूत्रभेदकरणकारणम् प्रकृताहारमन्तरेण तत्स्थितेरसंभवस्य प्रतिपादनात्। भूयांसि च प्रकृताहारप्रतिपादकानि केवलिनः सूत्राण्यागमे[▲] उपलभ्यन्ते प्रतिनियतकालप्रकृताहारनिषेधकानि च।

यथा प्रथमतीर्थकृत एव चतुर्दशभक्तनिषेधेनाष्टापदनगे दशसहस्रकेवलिसहितस्य निर्वाणगतिप्रतिपादकानि सूत्राणि। *यदपि (४६४-६) 'अतिशयदर्शान्निर्वशेषदोषावरणहानेः...' इत्याद्याशंक्य विकल्पद्वयमुत्थाप्य परिहृतम् (४६५-९) तत्रापि नास्माभिः सर्वज्ञत्वादेरभावः साध्यते येन धर्मिणोऽभावात् प्रकृतसाध्यसिद्धिर्न भवेत्, किन्तु यद्यतिशयदर्शान्निर्वशेषप्रतिपत्तिवद् आत्यन्तिकी शरीरस्थितिस्तस्य साध्येत तदा मुक्तेरभावः

तथा दिगम्बरने जो यह कहा था (४६४-२८) - 'एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिपर्यन्त जीवों के लिये निरंतराहार का प्रतिपादक जो सूत्र है उस में एकेन्द्रियादि को लोमाहार एवं पंचेन्द्रियमनुष्य केवलीयों के लिये कवलाहार को ले कर सूत्र के अर्थ में जो विभाजन किया जाय, उस में कोई कारण (= प्रयोजन या निमित्त ही संभव नहीं) - वह भी असंगत है कवलाहार के विना केवली की शरीरस्थिति की अनुपपत्ति ही सूत्रभेद करने के लिये बड़ा निमित्त है। आगमों में सूत्रकृतांगादि में केवली के कवलाहार के सूचक अनेक सूत्र एवं नियतकालीन पच्यक्खाण (आहारत्याग) के सूचक भी अनेक सूत्र (कल्पसूत्रादि) उपलब्ध हैं। उदा० 'प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव १४ भक्त (भोजनटंक) का पच्यक्खाण कर के 'अष्टापद' संज्ञक पहाड के ऊपर दस हजार केवलियों के साथ मोक्ष में गये' ऐसा कल्पसूत्र में स्पष्ट कहा है। सोचिये कि भगवान् ऋषभदेव का केवलीपर्याय १००० वर्ष न्यून एक लाख पूर्व है - यदि केवलज्ञान होने के साथ ही उन्होंने भोजनत्याग कर दिया होता तो मुक्तिगमन अवसर में सिर्फ १४ भोजनटंक त्याग (छह दिन का ही अनशन) ही क्यों बताया ? छह दिन के अंतिम भोजनपच्यक्खाण से ही सूचित होता है कि उस के पहले के केवलीपर्याय में उन्होंने अवश्य भोजन किया होगा।

[मुक्तिलोप की आशंका पर विकल्पद्वय का प्रत्युत्तर]

दिगम्बर विद्वानने जो (४६५-९) हमारी ओर से यह आशंका खड़ी की थी - 'निरवशेष दोषावरणक्षय से शुद्धात्म स्वभावप्राप्ति की तरह दृश्यमाण अतिशय से केवली में कवलाहार के विना भी आत्यन्तिक शरीरस्थिति होगी तो केवली की मुक्ति भी नहीं होगी...' इत्यादि आशंका कर के क्या आप सर्वज्ञ की सत्ता का विरोध कर रहे हैं... (४६५-१८) इत्यादि दो विकल्प का उत्थान कर के उस का निरसन किया था... उस का श्वेताम्बर की ओर से यह प्रत्युत्तर है कि सर्वज्ञ की सत्ता का निरसन करने की हमारी कोई चेष्टा ही नहीं है जिस से कि सर्वज्ञरूप पक्ष की असिद्धि होने से कवलाहारसाध्यसिद्धि व्यर्थ बन सके। हमने तो आप की मान्यता पर आपत्तिप्रदान के रूप में सिर्फ यह प्रसङ्गसाधन प्रस्तुत किया है कि नैर्मल्य (शुद्धात्मस्वभाव) प्राप्ति की तरह यदि आप (दिगम्बर) अतिशय के बल पर निर्भर करते हुए आत्यन्तिक शरीरस्थिति को सिद्ध करना चाहते हैं तो शरीरस्थिति सादि-अनन्त हो जाने से मोक्ष का लोप हो जायेगा। यह मोक्षोच्छेद का दोष आप की अभिप्रेत उस व्याप्ति के बल पर प्रसक्त किया गया है जिस

▲. सूत्राणि चैतानि सूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धतृतीयाध्ययने, भगवतीसूत्रप्रथमशतक-प्रथमोद्देशके, प्रज्ञापनासूत्र-आहारपदे लभ्यन्ते यथाक्रमं पृ.३४२-३६०। पृ.१९-३०। पृ.४९८-५२४। इति पूर्वसम्पादकीयटिप्पणी। * श्रीकल्पसूत्रे (सू० २२७ मध्ये) 'उष्णिं अद्वावयसेलसिहरंसि दसहिं अणगारसहस्सेहिं सद्धिं चोदसमेणं भत्तेणं अपाणएणं... जाव सन्वदुक्खप्पहीणे।।'।

प्रसज्यत एवेति प्रसङ्गसाधनं भवदभिप्रेतव्याप्तिबलान् क्रियते इति न प्रागुक्तदोषावकाशः (४६५-१)।

द्वितीयपक्षेऽपि (४६५-३) न 'केवलिभुक्तिः सिध्यति नाप्यनाहारौदारिकशरीरस्य चिरतरकाल-स्थायित्वं विरुध्यते' इति यद्वृषणमुक्तम् तदनुक्तोपालम्भरूपम्। न ह्येवं केवलिभुक्त्यादिकमस्माभिः साध्यते किन्तु प्रदर्शितप्रमाणान् सर्वज्ञप्रणीतागमाच्च। 'न च यदतिशयवत्....' (४६५-४) इत्याद्यप्यसंगतम् संवत्सरमात्रशरीरस्थितिसिद्धावपि केवलिनामतोऽतिशयात् प्रभूतरकालस्थित्यसिद्धेः। न च तावत्कालप्रकृता- 5
हारविरहप्रतिपादकमपि केवलानां सूत्रमुपलभ्यते। यच्च (४६५-६) 'संयोगस्यावस्थानमात्यन्तिकं न भवति' इत्यादि तत् सिद्धमेव साधितम्। यच्च (४६६-२) 'सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं प्रकृताहारविरहेऽपि चिरतरमौदारिकशरीरस्थितेः प्रतिपादकस्य सूत्रस्यास्त्येव' इत्युक्तम् तदपि प्रकृताहारविरहे केवलिप्रकृतशरीरस्थितेः प्रतिपादकस्य सूत्रस्यैवाभावादयुक्तम्। यदपि (४६४-२१) 'आहारविरहातिशयप्रतिपादकं सूत्रं प्रथमतीर्थकृदादेः'

व्याप्ति से आप आत्यन्तिक शरीरस्थिति का प्रसञ्जन करते हो। अतः उन दोनों विकल्पों के द्वारा (४६५- 10
१४) आप जो दोष देना चाहते हैं (४६५-१५) वे निरवकाश ही हैं।

[विगगहगइमावण्णा... इत्यादि सूत्रों से कवलाहार सिद्धि]

दिगम्बर विद्वानने दो विकल्प कर के, प्रथमविकल्प का खण्डन कर के (जिस का यहाँ अभी ही प्रत्युत्तर दे दिया है) दूसरे विकल्प में (४६५-२२) भी जो दो दोष लगाये थे — केवलिभुक्ति की असिद्धि और निराहार औदारिकशरीरस्थिति के चिरकालावस्थिति में विरोधाभाव, वह भी हमारे द्वारा अकथित 15
मान्यता के ऊपर प्रहार है। 'अतिशयदर्शन शरीरस्थिति का अहेतु है' यह दीखाने मात्र से केवलीभुक्ति की सिद्धि हो जायेगी ऐसा स्वप्न हम नहीं देखते हैं किन्तु विगगहगइमावण्णा...ऐसा जो प्रमाण हमने दिखाया है उस से, उपरांत सर्वज्ञभाषित (अन्य आगम) प्रमाणों से हम केवलि कवलाहार की सिद्धि कर दिखाते हैं। यह जो आपने कहा था — 'अतिशययुक्त होता है वह आत्यन्तिक ही होता है ऐसा सिद्ध करने का हमारा प्रयास नहीं...' (४६५-२५) इत्यादि, वह भी असंगत है क्योंकि जैसे वहाँ आत्यन्तिकता 20
के बदले कियत्कालावस्थिति को आप सिद्ध करते हैं वैसे ही हमारे पक्ष द्वारा कियत्कालभोजन भी सिद्ध किया जा सकता है। उपरांत कियत्कालशरीरस्थिति की सिद्धि करने पर भी वहाँ संवत्सरमात्र कालीन निराहारशरीरस्थिति की सिद्धि मानना ही उचित है, केवलि की उस से ज्यादा निराहारशरीरस्थिति किसी भी प्रमाण या अतिशय से सिद्ध नहीं है। ऐसा कोई सूत्र भी उपलब्ध नहीं है जो चिरतर काल तक (केवलज्ञान से ले कर मोक्ष होने के काल तक) कवलाहाराभाव का साधक हो। 25

[दिगम्बरकथित बाधकप्रमाण के असम्भव की असिद्धि]

यह जो कहा था कि (४६५-३२) — कोई भी संयोग की स्थिति आत्यन्तिक नहीं होती (अतः सर्वज्ञ की मुक्ति रुकेगी नहीं) उस में हमें कोई बाध नहीं है, सिद्ध साधन ही है। यह जो कहा था कि (४६६-१३) — 'कवलाहार के विना भी चिरतरकालीन औदारिकशरीरस्थिति का सूचक जो सूत्र है उस में सुनिश्चित रूप से बाधक प्रमाण का असंभव सिद्ध है' — वह भी अत्यन्त अयुक्त 30
है क्योंकि श्वेताम्बर या दिगम्बर किसी भी शास्त्र में कवलाहार के विना केवली के शरीर की चिरतरकालीन स्थिति का सूचक एक भी सूत्र उपलब्ध नहीं है। तथा (४६४-२१) आहाराभाव के अतिशय (यानी

तदपि तच्छब्दस्थावस्थायां न पुनः केवल्यवस्थायाम्। असंभवद्बाधकप्रमाणत्वं चासिद्धमनुमानस्य तदाहार-
प्रतिपादकस्य बाधकस्य प्रदर्शितत्वात् (४७६-९) सूत्रसमूहस्य च व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यङ्गेषु तद्बाधकस्योप-
लम्भात्।

किञ्च, सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं न प्रमाणलक्षणम् तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। तथाहि—
5 बाधकप्रमाणाभावो यद्यन्यतः प्रमाणादवसीयते तर्हि तत्रापि बाधकप्रमाणाभावनिश्चयात् प्रामाण्यनिश्चयः
तदभावनिश्चयश्चान्यतोऽबाधितप्रमाणाद् इत्यनवस्थाप्रसक्तिः। अथ बाधानुपलम्भाद् बाधकाभावनिश्चयः।
न, उत्पत्त्यमानबाधकेऽपि बाधकोत्पत्तेः प्राग् बाधानुपलब्धिसम्भवाद् न बाधका(?धा)नुपलम्भाद् बाधा-
(?धका)भावनिश्चयः। न चाऽनिश्चितलक्षणं प्रमाणं प्रमेयव्यवस्थानिबन्धनम् अतिप्रसङ्गात्। अथ
संवादादसंभवद्बाधकप्रमाणत्वनिश्चयः — तर्हि संवादित्वमेव प्रमाणलक्षणमभ्युपगमार्हं किमबाधितत्वलक्षण-

10 एक वर्ष तक उपवास) का ऋषभदेवचरित्र में सूचक जो सूत्र है वह भी उन की छद्मस्थावस्थाकाल
संबन्धी है न कि केवलीअवस्था संबन्धी। अत एव दिगम्बरोक्त अनुमान में बाधक प्रमाण के असंभव
का कथन भी असिद्ध है क्योंकि केवलि अवस्था में कवलाहारप्रतिपादक कल्पसूत्रादि का बाधकसूत्र (४७६-
९९) दिखाया जा चुका है। भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि अंगशास्त्रों में दिगम्बरानुमानबाधक सूत्रसमूह
की स्पष्ट उपलब्धि होती है। (भगवतीसूत्र शतक-२, उदेश-२, के स्कन्दकतापसाधिकार में भगवान सर्वज्ञ
15 महावीर स्वामी को 'वियडभोती' इस विशेषण के द्वारा नित्यभोजी बताया गया है। जैसे — 'तेषां
कालेण तेषां समयेण समणे भगवं महावीरे वियडभोती या वि होत्था।')

[सुनिश्चित बाधकप्रमाण के असंभव की समीक्षा]

यह भी विमर्श जरूरी है कि सुनिश्चित बाधक प्रमाण का असंभव प्रमाणलक्षण हो सकता है ?
यानी तथाविध असंभव को प्रमाणभूत कहा जा सकता है ? हम कहते हैं नहीं। कारण, वैसे असम्भव
20 का ज्ञान अशक्य है। कारण है अनवस्था :- बाधक प्रमाण के अभाव का जिस प्रमाण से बोध होगा
उस प्रमाण में प्रामाण्य का निश्चायक अन्य बाधकप्रमाणाभाव टूटना पड़ेगा, उस में भी प्रामाण्य का
निश्चयकारक अन्य अबाधितप्रमाण टूटना होगा। इस सीलसीले का अन्त नहीं आयेगा। यदि बाध
की अनुपलब्धि से ही प्रथम बाधकप्रमाणाभाव का निर्णय मानेंगे तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि भावि
में जहाँ बाधकोत्पत्ति निश्चित है वहाँ बाधकोत्पत्ति के पहले बाध की अनुपलब्धि तो हो सकती है
25 किन्तु बाधकाभाव का निश्चय शक्य नहीं, कदाचित् कर लिया जाय तो भी अप्रमाण ठहरेगा। अतः
बाधानुपलब्धि से बाध के अभाव का निश्चय असम्भव है। यदि कह दे कि अनिश्चित ही बाधकाभाव
को प्रमाण हो जाने दो — तो वह नहीं बन सकता। जिस प्रमाण का लक्षण यानी स्वरूप (अर्थात्
प्रामाण्य) स्वयं अनिश्चित है उस से प्रमेय की व्यवस्था नहीं हो सकती, अन्यथा भ्रान्त प्रतीतियों
से भी प्रमेय की व्यवस्था का अतिप्रसंग आ पड़ेगा।

30 [संवादित्व ही प्रमाण का लक्षण उचित]

यदि संवाद से बाधक प्रमाण के असम्भव का निश्चय किया जाय तो संवादित्व को ही प्रमाण का
लक्षण स्वीकारना चाहिये फिर बाधकप्रमाणाभाव का लक्षण टूटने की जरूर क्या ? यह भी जान लो कि

प्रतिज्ञानेन ? तच्च संवादित्वमतीन्द्रियार्थविषयस्यागमस्याप्तप्रणीतत्वाद् निश्चीयते तत्प्रणीतत्वनिश्चयश्चाग-
मैकवाक्यतया व्यवस्थितस्य केवलिभुक्तिप्रतिपादकसूत्रसमूहस्य सिद्ध एवेति भवत्यागमादपि केवलिभुक्ति-
सिद्धिः। तेन 'सूत्रभेदकृप्तिः कवलाहारपरिकल्पनायां केवलिनः' इति दोषाभावः, यथोक्तन्यायात् तत्सिद्धेः।

यदपि— 'केवली प्रकृताहारमश्नन्...' इत्यादि पक्षत्रयमुत्थाप्य तत्र दोषाभिधानम् (४६६-७) तदप्यसंगतम्।
यतः प्रथमपक्षे बुभुक्षयाऽश्नतो दुःखिताप्रसक्तिर्दोषः उद्भावितः स चादोष एव, असातानुभवस्य वेदनीय- 5
कर्मप्रभवस्यायोग्यवस्थाचरमक्षणं यावत् संभवात्, तत्कारणस्यासातवेदनीयकर्मोदयस्याऽप्रतिबद्धत्वात्
अविकलकारणस्य च कार्यस्योत्पत्त्यप्रतिषेधात्, अन्यथा तस्य तत्कारणत्वायोगात्। न च दग्धरज्जुसंस्थानी-
यत्वात् तस्य स्वकार्याऽजनकत्वम् तत एव सातवेदनीयस्थापि स्वकार्याऽजनकत्वप्रसक्तेः सुखानुभवस्यापि
भगवत्यभावप्रसंगात्। यथा च दग्धरज्जुसंस्थानीयायुष्कर्मोदयकार्यं प्राणादिधारणं भगवति तथा प्रकृत-
मप्यभ्युपगम्यतां विशेषाभावात्। न च बुभुक्षया दुःखरूपत्वाद् भगवत्यसंभवः प्रतिपादयितुं शक्यः 'एकादश 10
जिने' (तत्त्वार्थ- ९-११) इति सूत्रात् क्षुदादिपरिषहेकादशकस्य केवलिनि सिद्धेः।

यदपि (४६७-९) — 'अनन्तवीर्यत्वं प्रकृताहारमन्तरेणापि शरीरस्थितिकारणमभिधीयते' — तदपि छद्म-
स्थावस्थायां भगवत्यपरिमितबलश्रवणात् समस्त्येव। न च प्रकृताहारमन्तरेण तत्तस्यामवस्थायां शरीरस्थिति-
आगमिक सिद्धान्तों के संवादित्व का निश्चय हरहमेश अतीन्द्रियार्थनिरूपक शास्त्र के आप्तरचितत्व के ऊपर
ही निर्भर रहेगा। 'कोई भी सिद्धान्त आप्तरचित है' ऐसा निर्णय भी तभी होगा जब उसकी आगम के 15
साथ एकवाक्यता रहेगी। प्रस्तुत में केवलीभुक्ति बोधक सूत्रवृन्द में आगम-एकवाक्यता सिद्ध ही है, अतः
आगम से केवली के कवलाहार की सिद्धि भी निर्विवाद है। अत एव एकेन्द्रियादि में लोमाहार से आहारकता
स्वीकारने पर भी केवलज्ञानी में आहारकता की संगति के लिये पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर सूत्रभेद
के द्वारा कवलाहार की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्तिसमूह से वही सिद्ध होता है।

[बुभुक्षाविकल्प में दोषापादन का निरसन]

कवलाहार के प्रयोजन पर बुभुक्षा, शरीरस्थिति और स्वभाव ऐसे तीन विकल्प (४६६-२७) का
उद्भावन कर के उन में दिग्म्बरने जो दोषापादन किया है वह भी गलत है। बुभुक्षाशमन के लिये
भोजन करने पर केवली में जो दुःखित्वप्रसज्जनात्मक दोष बताया है वह दोष नहीं वास्तविकता है,
क्योंकि केवली को अयोगीअवस्था के चरमसमय तक वेदनीय (असाता) कर्म जन्य असाता का अनुभव
संभावित है। केवली में असातानुभवसम्पादक असातावेदनीय कर्म का विपाकोदय प्रतिबन्धित नहीं है। 25
जिस कार्य के कारण परिपूर्ण हैं उसके द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता। परिपूर्ण
कारण से यदि स्वकार्योत्पत्ति नहीं होगी तो उस को 'कारण' कौन कहेगा ? — 'केवली का वेदनीय
कर्म दग्धरज्जुतुल्य है, दग्ध रज्जु से किसीको बन्धन की पीडा नहीं हो सकती। ऐसे ही दग्धरज्जुतुल्य
वेदनीयकर्म भी पीडात्मक स्वकार्य करने में असमर्थ हो जाता है' — इस दिग्म्बर युक्ति का उत्तर
यह है कि यदि वेदनीय कर्म से पीडा नहीं होगी तो सातावेदनीयकर्मोदय से भी सातास्वरूप स्वकार्य 30
नहीं हो पायेगा। फलतः दुःखिता की तरह भगवान में सुखिता का भी दुष्काल हो जायेगा। सच
तो यह है कि जैसे दग्धरज्जुतुल्य आयुष कर्म के उदय का प्राणधारणरूप कार्य निर्बाध होता है (वेदनीय

कारणम् अन्यथा कर्मक्षयार्थमनशनादितपस्युद्यमवतः प्राणवृत्तिप्रत्ययं तस्यामवस्थायामशनाद्यभ्यवहरणमसङ्गतं स्यात्। न च प्राक् क्षायोपशमिकं तस्य वीर्यं कैवल्यावस्थायां तु क्षायिकं तदिति विशिष्टाहारमन्तरेणापि शरीरस्थितिनिबन्धनम्; तत्सद्भावेऽपि शरीरस्थितिनिमित्तशयनोपवेशादिवत् प्रकृताहारस्याप्यविरोधात्। न चोपवेशादिकमपि शरीरस्थित्यर्थं तत्राऽसिद्धम् समुद्घातावस्थानन्तरकालं पीठफलकादिप्रत्यर्पणश्रुतेस्तद्ग्रहण-
5 मन्तरेण तत्प्रत्यर्पणस्याऽसंभवात् तद्ग्रहणस्य च यथोक्तप्रयोजनमन्तरेणाभावात् अन्यथाऽप्रेक्षापूर्वकारितापत्तेः।

की तरह आयुष कर्म भी अघाती होने से उसे भी दग्धरज्जुतुल्य मानने में कौन सा बाध है ?) वैसे दग्धरज्जुतुल्य वेदनीयकर्मोदय से साता/असाता कार्य भी ऋजु भाव से स्वीकार लेना चाहिये— यानी क्षुधा की पीडा एवं उस के शमनार्थ भोजन भी केवली में निर्बाध सिद्ध होता है, क्योंकि अघातीकर्म के रूप में आयुष्कर्म एवं वेदनीय कर्म में कोई फर्क नहीं है।

10 ऐसा प्रश्न अनुचित है कि — भूख दुःखात्मक है, केवली भगवान् में उस का सम्भव कैसे ? श्री तत्त्वार्थसूत्र (जो श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों को मान्य है उस) में 'एकादश जिने (९-११) इस सूत्र से केवलि में भी क्षुधादि ग्यारह परिषहों का स्पष्ट विधान है।

[अनन्तवीर्यता के साथ कवलाहार अविरुद्ध]

दिगम्बरने जो यह कहा था — (४६७-११) 'कवलाहार के विना भी केवली अनन्तवीर्यशाली
15 होने से शरीरस्थितिकार्य बन सकता है।' — उत्तर यह है कि शास्त्रों में श्रुत है कि भगवान् छद्मस्थावस्था में भी प्रचंडबलशाली होते हैं। जब छद्मस्थावस्था में अनन्तवीर्य सिद्ध है तो छद्मस्थावस्था में भी कवलाहार के विना हजारों वर्षपर्यन्त शरीरस्थिति क्यों नहीं टिकती ? यदि उस अवस्था में भी कवलाहार नहीं मानेंगे तो कर्मक्षय के लिये भगवान् जब अनशनादि तप का उद्यम करते हैं तब छद्मस्थावस्था में दो तप के बीच प्राणवृत्तिसंरक्षण के लिये अशनादिआहारग्रहणस्वरूप पारणा क्यों करते हैं ? वह तो
20 अयुक्त हो जायेगा। यदि कहा जाय — 'छद्मस्थावस्था में तो क्षायोपशमिक वीर्यलाभ होता है इस लिये (क्षायोपशम प्रवृत्त रखने के लिये) आहार करना जरूरी है, केवलि-अवस्था में क्षायिक वीर्य होता है (जो स्वतः प्रवृत्त होता है) अतः कवलाहार के विना भी वह शरीरस्थिति का कारण है। — तो यह भी गलत कथन है, क्योंकि क्षायिक वीर्य के होते हुए भी शरीरस्थिति के लिये (विश्रामार्थ) शयन-उपवेशनादि क्रियाएँ करनी पडती हैं तो आहारग्रहणक्रिया करनी पडे उस में क्या विरोध है ? शरीरस्थिति
25 के लिये सोने-बैठने की क्रिया केवली में नहीं होती ऐसा नहीं है, समुद्धातक्रिया के बाद अन्तकाल में केवली पहले से गृहीत पीठ-फलकादि का प्रत्यर्पण कर देते हैं ऐसा शास्त्रों[▲] में निर्देश है। ग्रहण करते होंगे तभी वापस देते होंगे। शरीरस्थिति (विश्रामादि) प्रयोजन न हो तो पीठादि ग्रहण की जरूर नहीं रहती। यदि विना प्रयोजन ही ग्रहण कर लेंगे तो प्रेक्षापूर्वकारिता कलंकित होगी।

▲. काययोगे जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा गच्छेज्ज वा चिद्धेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयट्ठेज्ज वा उल्लंघेज्ज वा पलंघेज्ज वा, पडिहारियं पीढ-फलण-सेज्जा-संधारणं पच्चप्पिणेज्जा ।। इति प्रज्ञापनोपांगे समुद्घाताख्ये षट्त्रिंशत्पदे एकोनत्रिंशत्सूत्रमध्ये।

यदपि (४६७-२) — 'बुभुक्षया देहं तिष्ठापयिषोः क्लेशवत्त्वे न कश्चिद् विशेषः' — तदप्यसारम् क्लेशस्य भगवत्पद्याप्यामुक्तिगमनात् सर्वथाऽनिवृत्तेः। तत्स्वभावपरिकल्पनया दोषप्रसज्जनमभ्युपगमादेव निरस्तम्। तदेवं बाधकप्रमाणाभावात् साधकस्य च सद्भावात् सिद्धा केवलिभुक्तिः — इत्यलं प्रसक्ताऽनुप्रसक्त्या ॥१५॥

क्रमेण युगपद्वा परस्परनिरपेक्षस्वविषयपर्यवसितज्ञानदर्शनोपयोगौ केवलिन्यसर्वार्थत्वाद् मत्यादिज्ञान-चतुष्टयवद् न स्तः इति दृष्टान्तभावनायाह—

(मूलम्) पण्णवणिज्जा भावा समत्तसुयणाणदंसणाविसओ।

ओहि-मणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा विसओ ॥१६॥

(व्याख्या) मति-श्रुतयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयतयाऽभिन्नार्थत्वे श्रुतस्याऽसर्वार्थग्रहणात्मकत्वभावनया मतिरपि तथा भावितैवेति श्रुतज्ञानस्यैव गाथायामसर्वार्थत्वभावना प्रदर्शिता। प्रज्ञापनीयाः = शब्दाभिलाष्याः भावाः

[केवली में भूख-प्यासादिक्लेश के अभाव का कथन सारहीन]

यह जो कहा था (४६७-१३) — 'बुभुक्षा की तरह शरीरस्थिति बनाये रखने की प्रवृत्ति भी क्लेश ही है — केवली में क्लेश नहीं हो सकता' — वह तो सारहीन कथन है। जब तक भगवान् का मोक्ष नहीं होता तब तक केवली में भूख-प्यास-शरीरक्लमादि क्लेशों की सर्वथा निवृत्ति तो अशक्य ही है क्योंकि वेदनीय एवं नाम-कर्म विपाकोदयी है। उस में केवली को कोई न्यूनता या कलंक नहीं लग जाता। (अन्यथा शरीरसंग भी स्वयं क्लेशरूप होने से केवली को कलंकित मानना पडेगा।) 15

इस प्रकार दिगम्बर के तीन प्रयोजन प्रश्नों में से भूखशमन और शरीरस्थिति दोनों का निरसन हो गया। तीसरा प्रश्न था, क्या स्वभाव से कवलाहार करते हैं — इस विकल्प का हमें स्वीकार ही नहीं है अतः उस में जो स्वभावतः अशिष्टव्यवहारप्रवृत्ति का दोषापादन किया था वह भी निरस्त हो जाता है।

निष्कर्ष — केवली-कवलाहार में कोई बाधक प्रमाण है नहीं, साधक आगमवचन के प्रमाण बहुत 20 हैं अतः केवलिभुक्ति निर्बाध सिद्ध हो जाती है। और ज्यादा तर्क-प्रतितर्क करने की जरूर नहीं है ॥१५॥

[मति और श्रुत ज्ञान समविषय, अवधि-मनःपर्याय भिन्नविषय]

१६ वीं कारिका में एक दृष्टान्तभावना कही जा रही है — जैसे क्रमशः अथवा एकसाथ मति आदि चार ज्ञानों का उपयोग केवली में नहीं हो सकता क्योंकि वे असम्पूर्णार्थग्राही हैं, वैसे ही परस्पर निरपेक्ष अपने अपने विषय में केन्द्रित ज्ञान-दर्शन उपयोग द्वय भी अन्योन्य असम्पूर्णार्थग्राही होने से 25 केवली में वे एकसाथ या क्रमशः नहीं घट सकते —

गाथार्थ :- समस्तश्रुतज्ञानसम्बन्धिदर्शना का विषय (सिर्फ) शब्दवाच्य भाव ही हैं। अवधि एवं मनःपर्यायज्ञान का विषय तो अन्योन्य भिन्नस्वरूपवाले (भाव) हैं ॥१६॥

व्याख्यार्थ :- (यहाँ पूर्वार्थ में ज्ञान शब्द वाक्य के लिये और दर्शनाशब्द बुद्धि के लिये प्रयुक्त है यह ध्यान में लेना) गाथा में तो श्रुतज्ञान के असम्पूर्णार्थकत्व की ही भावना प्रदर्शित की गयी 30

= द्रव्यादयः समस्तश्रुतज्ञानस्य = द्वादशाङ्गवाक्यात्मकस्य दर्शनायाः = दर्शनप्रयोजिकायास्तद्वाक्योपजाताया बुद्धेर्विषय आलम्बनम्। मतेरपि त एव शब्दानभिधेया विषयः शब्दपरिकर्मणानपेक्षस्य ज्ञानस्य यथोक्तभाव-विषयस्य मतित्वात्। अवधि-मनःपर्याययोः पुनरन्योन्यविलक्षणा भावा विषयः, अवधेः पुद्गलाः मनःपर्याय-ज्ञानस्य मन्यमानानि द्रव्यमनांसि विषयः इति असर्वार्थान्येतानि मत्यादिज्ञानानि परस्परविलक्षणविषयाणि
5 च अत एव भिन्नोपयोगरूपाणि॥१६॥

एवमसकलार्थत्वं भिन्नोपयोगपक्षे दृष्टान्तसमर्थनद्वारेण प्रदर्शयोपसंहारद्वारेणाक्रमोपयोगात्मकमेकं केवलम्, अन्यथा सकलार्थता तस्यानुपपन्नेति दर्शयितुमाह—

(मूलम्) तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ ण उ णाणदंसणजिणाणं।

सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा॥१७॥

10 (व्याख्या) यस्मात् केवलं सकलं = सकलविषयं तस्मात् न तु = नैव ज्ञान-दर्शनप्रधानानां निर्मूलि-
ताशेषघातिकर्मणां जिनानां छद्मस्थवस्थोपलब्धतत्तदावरणक्षयोपशमकारणभेदप्रभवमत्यादिचतुर्ज्ञानेष्विव ज्ञान-
है, किन्तु उपलक्षण से मति की भावना भी असम्पूर्णार्थकत्वरूप से समझ लेना है। कारण, जैसे श्रुत सर्वद्रव्य-असर्वपर्याय ग्राही है वैसे मति भी सर्वद्रव्य-असर्वपर्यायग्राही है, यानी दोनों अभिन्नार्थक हैं
मतलब समसंख्यकार्यग्राही हैं। अतः गाथा पूर्वार्ध में श्रुत के असम्पूर्णार्थग्रहणात्मकता के निरूपण से
15 मति का भी निरूपण संगृहीत है। प्रज्ञापनीय यानी शब्द के द्वारा प्रतिपादन के योग्य द्रव्यादि भाव।
समस्त श्रुतज्ञान यानी द्वादशाङ्गवाक्यसमुदाय। दर्शना यानी दर्शनप्रयोजक बुद्धि जो कि द्वादशाङ्गवाक्यों से ही निष्पन्न होती है। ये ही द्रव्यादिभाव जब शब्द के विना ही ज्ञात (ज्ञान विषय) होते हैं तब
शब्दपरिकर्मणा यानी शब्द के सांकेतिक व्यवहार से निरपेक्ष होनेवाले ज्ञान के विषय बनते हैं, ऐसा
सर्वद्रव्य-असर्वपर्याय को विषय करने वाला ज्ञान मतिज्ञानरूप होता है। उपरान्त, अवधिज्ञान का विषय
20 पुद्गलद्रव्य है जब कि मनःपर्यायज्ञान का विषय सिर्फ मननक्रियान्वित द्रव्यमनःपुद्गल होता है। ये
चारों ज्ञान परस्पर भिन्नोपयोग रूप हैं एकोपयोगरूप नहीं है, क्योंकि असम्पूर्णार्थग्राही एवं अन्योन्य
भिन्न विषय के ग्राहक हैं॥१६॥

[केवलज्ञान सकलार्थ - निरावरण - अनन्त - अक्षय]

9६ वीं गाथा के द्वारा उक्त प्रकार से भिन्नोपयोगवादीयों के पक्ष में असम्पूर्णार्थकता का दृष्टान्तप्रदर्शन
25 द्वारा निदर्शन कर के अब उपसंहार द्वारा 9७ वीं गाथा में मूल ग्रन्थकार यह दिखाना चाहते हैं
कि केवलोपयोग 'एक' एवं 'अक्रमिक' होता है, अन्यथा उस में सकलार्थकता संगत नहीं होगी।

गाथार्थ :- अत एव ज्ञानदर्शनयुक्त केवलीयों में चार ज्ञानों की तरह भेद घट नहीं सकता, क्योंकि
केवल (उपयोग) सम्पूर्ण, आवरणमुक्त, अनन्त और अक्षय होता है॥१७॥

व्याख्यार्थ :- केवलोपयोग यतः सकलविषयक है, अतः ज्ञानदर्शन की मुख्यतावाले सर्वघातीकर्मों
30 के निर्मूलनकारी जिनों में, छद्मस्थावस्थान्तर्गत स्वस्वआवरण के क्षयोपशमरूप कारणभेदमूलक भेदवाले
मति आदि चार ज्ञानों की तरह पृथक् पृथक् क्रमिकता या अक्रमिकरूप से भी भेद करना उचित
नहीं है। भेद का अनौचित्य दिखाने के लिये सकल-अनावरण-अनन्त-अक्षय पदों की हेतु-हेतुमद्भावगर्भित

दर्शनयोः पृथक् क्रमाऽक्रमविभागो युज्यते। कुतः पुनः सकलविषयत्वं भगवति केवलस्य ? अनावरणत्वात्, न ह्यनावृतमसकलविषयं भवति। न च प्रदीपादिना व्यभिचारो अनन्तत्वात्। अनन्तत्वं च द्रव्य-पर्यायात्मकानन्तार्थग्रहणप्रवृत्तोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकोपयोगवृत्तत्वेनाऽक्षयत्वात्। यथा च सकलपदार्थविषयं सर्वज्ञज्ञानं तथा प्राक् प्रदर्शितम्।

ततोऽक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकमिति स्थितम्। न चाक्रमोपयोगद्वयात्मकत्वे कथं तस्य केवलव्यपदेश 5 इति क्रमाक्रमभिन्नोपयोगवादिना प्रेर्यम्, इन्द्रियालोक-मनोव्यापारनिरपेक्षनिरावरणात्मसत्तामात्रनिबन्धनतथा-विधार्थविषयप्रतिभासस्य तथाविधव्यपदेशविषयत्वात्। अद्वैतैकान्तात्मकं तु तद् न भवति सामान्य-विशेषोभयानुभयविकल्पचतुष्टयेऽपि दोषानतिक्रमात्। तथाहि— न तावत् सामान्यरूपतया तदद्वयम् सामान्यस्य विशेषनिबन्धनत्वात् तदभावे तस्याप्यभावात्। नापि विशेषमात्रत्वात् तदद्वयम् अवयवावयवविकल्प-द्वयानतिक्रमात्। न तावत् तद् अवयवरूपम् अवयव्यभावे तदपेक्षावयवरूपताऽसंभवात्। न चावयविरूपम् 10

व्याख्या की जाती हैं — भेद न होने का कारण सकलविषयकत्व है। प्रश्न :- भगवान में सकलविषयकत्व किस कारण से आया ? उत्तर :- अनावरण से, आवरण नष्ट हो जाने पर ज्ञान में परिमितविषयता नहीं होती। यहाँ व्यभिचार शंका :- प्रदीप अनावृत हो फिर भी वह सकलविषयकप्रकाशक नहीं होता। इस शंका का निवारण :- ज्ञान अनन्त है केवली का, अतः अनावृत ज्ञान सकलविषयक ही होगा। प्रदीप की शक्ति सीमित होने से वह सान्त है अतः वह सकलविषयक भले न हो। प्रश्न :- भगवान 15 का ज्ञान अनन्त क्यों है ? उत्तर :- अक्षय होने से। अर्थसमुदाय द्रव्य-पर्यायोभयात्मक है, (वे अनन्त होते हैं,) उन के ग्रहण के लिये तत्पर केवली का उपयोग स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होने से ध्रौव्यांश के द्वारा अक्षय होता है। सर्वज्ञ का ज्ञान सकलपदार्थग्राही कैसे होता है वह पहले प्रथम खंड में कहा जा चुका है।

[अक्रमिक अभिन्न ज्ञानदर्शन में 'केवल' शब्दप्रयोग की उपपत्ति] 20

निष्कर्ष यह फलित हुआ — केवली में अक्रमिक ज्ञान-दर्शनोभयात्मक एक उपयोग होता है (यानी दोनों में कथंचिद् अभेद है।) यदि क्रमिक या अक्रमिक भिन्न भिन्न ज्ञान-दर्शनोपयोगवादी ऐसा पूछे कि अक्रमिक अभिन्न उपयोगद्वयात्मक एक बोध मानेंगे तो उस में 'केवल' शब्द व्यवहार कैसे संगत होगा ? केवल शब्द का अर्थ तो भिन्नतासूचक है। उत्तर यह है कि 'केवल' शब्द भिन्नतासूचक नहीं है किन्तु 'केवल' शब्द का वाच्य विषय है — इन्द्रिय, प्रकाश एवं मन की प्रवृत्ति से निरपेक्ष, निरावरण, 25 एकमात्र आत्मसत्ता से ही होनेवाला परिपूर्ण विषयप्रतिभास।

[एकान्त ज्ञानाद्वैतवाद अमान्य]

यहाँ एकान्त अद्वैतवादी की तरह ज्ञानाद्वैतरूप उपयोग में हमारा तात्पर्य नहीं है। कारण, एकान्त अद्वैतवाद में चार में से एक भी विकल्प दोषमुक्त नहीं है। एकान्त अद्वैत तत्त्व १-सामान्य है, २-विशेष है, ३-उभयरूप है या ४-अनुभयरूप है ? १—एकान्त अद्वैत सामान्यरूप नहीं है क्योंकि ऊपर-नीचे की 30 तरह सामान्य-विशेष का भी परस्पर सापेक्ष ही अस्तित्व होता है अतः विशेष के बिना कोई सामान्य नहीं होता। २—एकान्त अद्वैत मात्र विशेषात्मक भी नहीं है क्योंकि उस के ऊपर दो विकल्प ऊठते

अवयवाभावे तद्व्यपस्याऽसम्भवात्। न च तद्द्वयातिरिक्तविशेषरूपम् असद्विशेषप्रसङ्गात्। न चैकान्तव्यावृत्तोभयरूपम् उभयदोषानतिक्रमात्। न चानुभयस्वभावम् असत्त्वप्रसक्तेः। न च ग्राह्य-ग्राहकविनिर्मुक्ताद्वयस्वरूपम् तथाभूतस्यात्मनः कदाचिदप्यननुभवात् सुषुप्तावस्थायामपि न ग्राह्य-ग्राहक-स्वरूपविकलमद्वयज्ञानमनुभूयते ॥१७॥

5 ज्ञान-दर्शनोपयोगद्वयात्मकैककेवलोपयोगवादी स्वपक्षे आगमविरोधं परिहरन्नाह-

(मूलम्) परवत्तव्वयपक्खाअविसिद्धा तेसु तेसु सुत्तेसु।

अत्थगईअ उ तेसि वियंजणं जाणओ कुणइ ॥१८॥

(व्याख्या) परैः = वैशिषिकादिभिर्यानि वक्तव्यानि = प्रतिपाद्यानि तेषां पक्षाः = अभ्युपगमाः “युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिः” () “नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः” () इत्यादयः, तैरविशिष्टाः = अभिन्नाः

10 भगवन्मुखाभोजनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु “जं समयं पासइ णो तं समयं जाणइ” () इत्यादिषु अभ्युपगमाः

हैं - विशेष अवयरूप है या अवयवीरूप ? दोनों में से एक भी निर्दोष नहीं है। अवयवात्मक नहीं है, क्योंकि अवयवी के बिना अवयव किस का ? अवयवीरूप भी नहीं है क्योंकि अवयव के बिना उस का संभव ही नहीं है। यदि कहें कि - ‘अवयव-अवयवविभाव रहित ही विशेषरूप अद्वैत मानेंगे’ - तो ऐसा अव०अवयवविभाव रहित तो असत् खपुष्पादि ही होते हैं, तो आप का विशेष भी 15 उस के बराबर हो कर रहेगा। तथा ३-एकान्तभिन्न सामान्य-विशेषोभयरूप भी नहीं है क्योंकि उभयपक्ष कथित दोष यहाँ इकट्ठे हो जायेंगे। ४-एकान्त अनुभयस्वरूप तो खपुष्पादिवत् असत् होता है।

यदि एकान्त अद्वैत ऐसा है जो न तो ग्राह्य है न किसी का ग्राहक है - तो अनुभव विरोध होगा क्योंकि तथाप्रकार की वस्तु का या आत्मा का किसी को अनुभव ही नहीं है, अनुभव के बिना 20 किसी को भी अनुभव नहीं होता ॥१७॥

[अन्यदार्शनिक सूत्रों का सादृश्य, फिर भी अर्थ में विशेषता]

अवतरणिका :- ज्ञान-दर्शन उपयोगद्वय से अभिन्न एक ही केवल उपयोग है इस पक्ष के वादी, अपने पक्ष में प्रसज्जित आगम के विरोध का निराकरण करते हुए कहते हैं -

माथार्य :- तत्तत् सूत्रों में परकीय वक्तव्य पक्ष अभिन्नता है (सदृश अभिप्राय हैं।) ज्ञाता (पुरुष) 25 अर्थसामर्थ्य से उन की व्यक्ति = व्याख्या करते हैं ॥१८॥

व्याख्यार्थ :- पर यानी वैशिषिकादि जैनेतर दर्शन उन के सिद्धान्त, उदा० “एकसाथ अनेकज्ञान उत्पन्न नहीं होते” तथा “विशेषण अग्राहकबुद्धि विशेष्य ग्राहक नहीं होती” - इत्यादि की, भगवान् के मुखकमल से प्रस्फुटित तत्तत् सूत्र - उदा० “जं समयं ...जिस समय देखता है उस समय नहीं जाणता है।” इत्यादि तत्तत् सूत्रों से (वैशिषिकादिमत से) अभिन्नता यानी सदृश अभिप्राय प्रतिभासित होते हैं।

30 वैशिषिकादि की तरह ही अपने (जैन के) सदृश प्रतिभासित सूत्रों की व्याख्या करना मुनासिब नहीं है क्योंकि वहाँ प्रमाणबाध है। अत एव अर्थसामर्थ्य (अर्थ की वास्तविकता) के आधार पर उन

प्रतिभासन्ते। न च ते तथैव व्याख्येयाः प्रमाणबाधनात्। तस्मात् अर्थगत्यैव = सामर्थ्येनैव तेषां व्यक्ति = सकलवस्तुव्याप्यनेकान्तात्मकैककेवलावबोधप्रभवद्वादशांगैकश्रुतस्कन्धाऽविरोधेन व्याख्यां ज्ञको = ज्ञाता करोति। श्रुतावधिमनःपर्यायकेवली त्रिविधो “जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ”। () न त्वेवं केवलकेवली, तस्याऽसर्वज्ञताप्राप्तेः — इति सुरेरभिप्रायः॥१८॥

यद्यक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकं केवलम् किमिति मनःपर्यायज्ञानवत् तद् ज्ञानत्वेनैव न निर्दिष्टम् ? 5 तस्मात् “केवलणाणे केवलदंसणे” () इति भेदेन सूत्रनिर्देशात् क्रमेण युगपद्वा भिन्नमुपयोगद्वयं केवलावबोध-रूपम् — इत्याशंक्याह—

(मूलम्—) जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाण।

तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्धिं॥१९॥

(व्याख्या) यतो मनःपर्यायज्ञानविषयगतानां परमनोद्रव्यविशेषाणां विशेषरूपतया बाह्यस्य चिन्त्यमानस्य 10

की व्यक्ति यानी व्याख्या, विरोध न हो इस ढंग से करनी चाहिये। ‘विरोध न हो’ इस का मतलब यह है कि केवलज्ञानरूप बोध अनेकान्तात्मक यानी सर्वत्र अनेकान्तदृष्टा होता है, अनेकान्त सर्व पदार्थों में व्यापकरूप से अनुस्यूत होता है, केवलज्ञानस्वरूप बोध एक ही होता है एवं वह सर्वपदार्थव्यापि अनेकान्तसिद्धान्त से पूर्णतः व्याप्त होता है। ऐसे केवलज्ञानस्वरूपबोध से ही द्वादशांग श्रुत का जन्म होता है। वह श्रुत पृथक् पृथक् असंकलित तन्तुओं के जैसा नहीं होता किन्तु परस्पर संबद्ध अखंड 15 एक महावस्त्रमय महाश्रुतस्कन्धरूप होता है। (अर्थात् हजारो ताने-बाने से व्याप्त एक महाकाय वस्त्र की तरह होता है। अत एव उस के एक तन्तु से सम्बद्ध कोई भी परिकर्म पूरे वस्त्र को आँच न आवे इस ढंग से करना पडता है इसी तरह) उस के एक एक सूत्र कि व्याख्या भी पूरे श्रुतस्कन्ध के अन्य सूत्रों के साथ ‘विरोध न हो’ इस ढंग से ही करनी चाहिये। ग्रन्थकर्ता आचार्य का इस गाथा से सूचित अभिप्राय यह है कि जैसे श्रुतकेवली, अवधि केवली और मनःपर्याय केवली ये तीन 20 केवली ‘जिस समय देखते हैं उस समय जानते नहीं हैं’ (यह सच है।) किन्तु केवलज्ञानकेवली में ऐसा नहीं होता, अन्यथा उस की सर्वज्ञता को जफा पहुँचेगी॥१८॥ (मतलब, जं समयं... सूत्र की व्याख्या केवलज्ञान प्रतिपादक सूत्र वाच्य सर्वज्ञता से विरोध हो इस ढंग से नहीं करनी चाहिये)॥१८॥

अवतरणिका :- केवल अक्रमिक उपयोगद्वयात्मक एक ही है तो क्यों उस का निर्देश सूत्रों में मनःपर्यायज्ञान की तरह सिर्फ ज्ञानत्वरूप से ही न हुआ ? यतः सिर्फ ज्ञानत्वेन ही निर्देश न हो 25 कर आगमों में ‘केवलज्ञान- केवलदर्शन’ इस तरह पृथक् पृथक् निर्देश हुआ है इस से फलित होता है केवल बोधस्वरूप एक नहीं किन्तु दो पृथक् पृथक् उपयोग हैं चाहे एकसाथ होते हो या क्रमशः — इस आशंका के उत्तर में १९ वीं गाथा में आचार्य कहते हैं —

[मनःपर्यवज्ञान के विषयों का दर्शनबोध क्यों नहीं — उत्तर]

गाथार्थ :- यतः मन के विषयभूत द्रव्य पदार्थों का दर्शन ही नहीं होता, इस लिये अवश्यमेव 30 मनःपर्यायज्ञान का ज्ञानरूप में ही निर्देश हुआ है॥१९॥

घटादेर्लिङ्गिनो गमकतोपपत्तेः दर्शनं = सामान्यरूपं नास्ति द्रव्यरूपाणां चिन्त्यमानालम्बनपरमनोद्रव्यगतानां चिन्त्यविशेषाणां विशेषरूपतया बाह्यार्थगमकत्वात् तद्ग्राहि मनःपर्यायज्ञानं विशेषाकारत्वात् ज्ञानमेव, ग्राह्यदर्शनाभावाद् ग्राहकेऽपि तदभावः। ततो मनःपर्यायाख्यो बोधो नियमाद् ज्ञानमेवागमे निर्दिष्टो न तु दर्शनम्। केवलं तु सामान्यविशेषोपयोगैकरूपत्वात् केवलं ज्ञानं केवलं दर्शनं चेत्यागमे निर्दिष्टम्।।१९।।

5 तथा पुनरप्येकरूपानुविद्धामनेकरूपतां दर्शयन्नाह-

(मूलम्-) चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलाण समयमि दंसणविअप्पा।

परिपठिया केवलणाणदंसणा तेण ते अण्णा।।२०।।

(व्याख्या) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां स्वसमये दर्शनविकल्पाः- भेदाः परिपठिताः तेन दर्शनमध्ये पाठात् दर्शनमपि केवलं ज्ञानमध्ये पाठाद् ज्ञानमपि, अतो भिन्ने एव केवलज्ञानदर्शने। न चात्यन्तं तयोर्भेद

10 व्याख्यार्थ :- यतः मनःपर्यायज्ञान के विषयभूत परकीय मनोद्रव्य (पुद्गल) तत्त्वों का 'विशेष' स्वरूप से ही भान हो सकता है और जब वे मनोद्रव्य विशेषरूप से गृहीत हो तभी वे लिङ्ग बन कर मनःपर्यायज्ञान में चिन्तारूढ बाह्य घटादि लिङ्गि के गमक भाव से यानी बोधकता से संगत होते हैं, अत एव उन मनोद्रव्यों का दर्शन या सामान्यस्वरूप, मनःपर्यायज्ञान में भासित नहीं होता है इसलिये आगम में मनःपर्याय का सिर्फ ज्ञानरूप से ही निर्देश किया गया है। (तात्पर्य यह है

15 कि मनःपर्याय ज्ञान तो विशेषरूप से ही मनोद्रव्य का ज्ञाता होता है। यदि ये मनोद्रव्य मनःपर्यायज्ञान से विशेषरूप से गृहीत नहीं होंगे तो वे मनोद्रव्य मनःक्रिया विषयभूत बाह्य घटादि लिङ्गी के ज्ञापक ही नहीं हो पायेंगे।) मतलब कि, चिन्तन के आलम्बन भूत परकीय मनोद्रव्य जो कि चिन्तन से भिन्न नहीं है वे मनःपर्यायज्ञान से गृहीत हो कर, विशेषरूप से ही बाह्य चिन्तनविषयभूत घटादि के ज्ञापक बनते हैं। यही हेतु है कि विशेष का ही ग्राहक होने से मनःपर्याय ज्ञान विशेषाकार ही

20 होता है अतः वह विशेषग्राही होने से ज्ञानरूप से ही निर्दिष्ट होता है। जिस बोध का ग्राह्यरूप से जब दर्शन यानी सामान्य, विषयभूत नहीं है तो उस ग्राहक बोध में भी दर्शन का यानी सामान्याकार का अभाव होना युक्तियुक्त है।

जब कि केवल बोध तो सामान्य-विशेषोभयग्राहक होने से एकबोधात्मक होने पर भी उपयोगद्वयात्मक होने से आगमों में उस का 'केवलज्ञान-केवलदर्शन' इस प्रकार उभयरूप से निर्देश किया गया है।।१९।।

25 [एकरूप केवलोपयोग की ज्ञानदर्शनोभयरूपता - जैनमत]

अवतरणिका :- अनेकान्तकरूप एक बोध का निरूपण कर के अब एकरूप से आश्लिष्ट अनेकरूपता का निदर्शन करते हैं -

गाथार्थ :- आगम में चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवल ऐसे दर्शनभेद परिगणित हैं अतः वे केवलज्ञान और केवलदर्शन भिन्न हैं।।२०।।

30 व्याख्यार्थ :- अपने जैन शास्त्रों में दर्शन के चार विकल्प यानी भेद दिखाये गये हैं १-चक्षुदर्शन, २-अचक्षुदर्शन, ३-अवधिदर्शन, ४-केवलदर्शन। इस तरह दर्शन के भेदों में पठित होने के कारण केवल भी एक दर्शन है। पाँच मतिआदि ज्ञान में पठित होने से केवल एक ज्ञान तो है ही। इस से सिद्ध

एव केवलान्तर्भूतत्वेन तयोरभेदात्। न चैवमभेदादद्वैतमेव सूत्रयुक्तिविरोधात्, तत्परिच्छेदकस्वभावतया कथंचिदेकत्वेऽपि तथा तद्व्यपदेशात्॥२०॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेणाह-

(मूलम्-) दंसणमोग्गहमेत्तं 'घटो' त्ति णिव्वण्णणा हवइ गाणं।

जह एत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तियं चव॥२१॥

5

(व्याख्या) अवग्रहमात्रं मतिरूपे बोधे दर्शनम् 'इदम्'— 'तत्' इत्यव्यपदेश्यम्, 'घटः' निश्चयेन वर्णना = निश्चयात्मिका मतिः ज्ञानं यथेह— यथेहापि इति दार्ष्टान्तिकं योजयति 'जह एत्थ' इत्यादिना केवल-योरप्येतन्मात्रेणैव विशेषः, एकान्तभेदाभेदपक्षे तत्स्वभावयोः पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्; अजहद्वृत्त्यैकरूपयोरे-
वाभिनिबोधिकरूपयोस्तत्तद्रूपतया तथाव्यपदेशसमासादनात् कथंचिदेकानेकात्मकत्वोपपत्तेः, भेदैकान्ते तयो-
रप्यभावापत्तेः॥२१॥

10

हो गया कि वे दोनों केवलदर्शन और केवलज्ञान भिन्न हैं। उन दोनों में ऐकान्तिक भेद नहीं मान लेना, दोनों एक केवल में अन्तर्भूत होने से अभिन्न ही है। — 'इस प्रकार अभेद होने से अद्वैत ही सिद्ध होगा' — ऐसा भी मत समझना, क्योंकि पूर्वोक्त भेदप्रतिपादक सूत्र एवं भेदसाधक युक्तिओं के साथ विरोध प्रसक्त होगा। वे दोनों परिच्छेदक यानी बोधात्मक स्वभाववाले होने से कथंचिद् एक जरूर है फिर भी सूत्र और युक्तियों के बल से उन का भिन्नरूप से व्यवहार भी मान्य है॥२०॥

15

[ज्ञान और दर्शन के भेद की सदृष्टान्त स्पष्टता]

अवतरणिका :- दृष्टान्त के द्वारा उसी भेद को समझाते हैं —

गाथार्थ :- अवग्रहमात्र दर्शन है, 'घट' इस प्रकार का निश्चय ज्ञान है। वैसे ही यहाँ केवलों का भी इतनामात्र ही भेद है॥२१॥

व्याख्यार्थ :- मतिस्वरूप बोध में 'किञ्चित्' ऐसा जो अवग्रह होता है वही दर्शन है ▲क्योंकि 20
'यह या वह' किसी विशेष प्रकार से वहाँ बोध नहीं होता। 'घट' इस प्रकार के शब्दोल्लेख से गर्भित जो निश्चयात्मक वर्णना यानी मति ही ज्ञान है (इस प्रकार मतिबोध में दर्शन और ज्ञान का विभेद है।) जैसे यह मतिबोध में दर्शन-ज्ञान का भेद है उसी तरह केवल बोध में भी स्वरूपमात्र से ही इतना दर्शन-ज्ञान का भेद है।

इन दोनों का एकान्तभेद या एकान्त अभेद दोनों पक्ष पूर्वोक्त अनेक दोषों को आमन्त्रण देनेवाले 25
हैं। सूत्रों के साथ विरोध एवं युक्तिओं का विरोध ये पूर्वोक्त दोष हैं। मति बोध का द्विविध स्वरूप है, दोनों ही एक-दूसरे के साथ मिलेजुले ही हैं, एकदूसरे से दूर भागनेवाले नहीं है। वे दोनों स्वरूप (सामान्य और विशेष) को ले कर, एक 'दर्शन' नाम से और दूसरा 'ज्ञान' नाम से प्रसिद्धि में आते हैं। अत एव उन दोनों में कथंचिद् एकानेकात्मकता दुर्घट नहीं। यदि उन दोनों में एकान्ततः भेद माना जाय तो दोनों ही शून्य बन जायेंगे क्योंकि एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही अकल्प्य है। 30

▲. पहले (पृ० ३२४ में) प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण करने के प्रस्ताव में (पृ० ३२५-२४ में) दर्शन को अवग्रह से विभिन्न दिखाया है — यहाँ एकदेशिमत प्रदर्शन समझना - (ब्र० गाथा २३ - अवतरणिका)।

इतश्च कथञ्चिद् भेदः—

(मूलम्-) दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि॥

तेण सुविणिच्छियामो दंसण-णाणाण अण्णत्तं॥२२॥

(व्याख्या) दर्शनपूर्व ज्ञानम्, ज्ञाननिमित्तं तु दर्शनं नास्तीत्युक्तम्, यतः सामान्यमुपलभ्य पश्चाद् विशेषमुपलभते न विपर्ययेणेत्येवं छद्मस्थावस्थायां हेतु-हेतुमद्भावक्रमः। तेनाप्यवगच्छामः कथञ्चित्तयोर्भेदः इति[▲]। अयं च क्षयोपशमनिबन्धनः क्रमः केवललिनि च तदभावादक्रम इत्युक्तम् (४६८-५)॥२२॥

यदुक्तम् — 'अवग्रहमात्रं मतिज्ञानं दर्शनम्' इत्यादि तदयुक्तम् अतिव्याप्तेः, इत्याह-

(मूलम्) जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं ति मण्णसि विसेसियं णाणं।

मइणाणमेव दंसणमेवं सइ होइ निप्फण्णं॥२३॥

एवं सेसिंदियदंसणम्मि नियमेण होइ ण य जुत्तं।

अह तत्थ णाणमेत्तं घेण्णइ चक्खुम्मि वि तहेव॥२४॥

(व्याख्या) यदि मत्यवबोधे अवग्रहमात्रं दर्शनं विशेषितं ज्ञानम् इति मन्यसे मतिज्ञानमेव दर्शनमित्येवं

[छद्मस्थ को दर्शनमूलक ही ज्ञान होता है, केवल में नहीं]

अवतरणिका :- ज्ञान-दर्शन के कथञ्चिद् भेद में एक और युक्ति है —

15 गाथार्थ :- दर्शनपूर्वक ज्ञान तो होता है किन्तु ज्ञानमूलक दर्शन नहीं होता। इस आधार पर निश्चय करते हैं कि दर्शन और ज्ञान में भेद है॥२२॥

व्याख्यार्थ :- दर्शनमूलक, दर्शन के बाद ज्ञान होता है; किन्तु ज्ञानमूलक, ज्ञान के बाद दर्शन नहीं होता, यह कहा जा चुका है। कारण सामान्य की उपलब्धि के पश्चात् विशेष का उपलम्भ होता है, किन्तु उस से उल्टा— विशेषोपलब्धि के बाद सामान्य का उपलम्भ नहीं होता। इस प्रकार छद्मस्थावस्था में दर्शन-ज्ञान के बीच कारण-कार्यभावगर्भित क्रम है। इस से सुनिश्चित होता है कि दर्शन और ज्ञान में कथञ्चिद् भेद है। यहाँ स्पष्ट है कि जो क्रम है वह छद्मस्थावस्था में क्षयोपशममूलक है। केवली को क्षयोपशम न होने से ज्ञान-दर्शन में क्रमाभाव है यह पहले कहा जा चुका है (४६८-१४)॥२२॥

अवतरणिका :- २१ वीं गाथा में एकदेशी के मत से कहा गया था कि 'मतिज्ञान का अवग्रहरूप एक भेद दर्शन है' वह अतिव्याप्ति दोष के कारण अयुक्त है —

25 गाथार्थ :- यदि (ऐसा आप मानते हैं) अवग्रहमात्र दर्शन है और विशेषित ज्ञान है, तो यही प्राप्त हुआ की मतिज्ञान ही दर्शन है॥२३॥ इस तरह तो अन्य इन्द्रियों के (अवग्रह) भी दर्शन में नियम हुआ, वह युक्त नहीं है। वहाँ (शेष इन्द्रियों का) ज्ञान ही समझना है तो चक्षु में भी वैया हो॥२४॥

व्याख्यार्थ :- मतिरूप बोध में यदि अवग्रहमात्र दर्शन और विशेषित (यानी ईहादि) ज्ञानरूप

▲. श्री यशोविजयोपाध्यायेन 'दंसणणाणा ण'.... इति णकारस्य विभाजनं कृत्वा 'दर्शन-ज्ञाने नाऽन्यत्वं = न क्रमापादितभेदं केवललिनि 'भजेते' इति शेषः' — इत्थं ज्ञानबिन्दुग्रन्थे व्याख्यातम्।

सति प्राप्तम् न चैतद् युक्तम्। 'स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः' (तत्त्वार्थ० २-९) इति सूत्रविरोधात्॥२३॥

एवं शेषेन्द्रियदर्शनेष्ववग्रह एव दर्शनम् इत्याभ्युपगमेन मतिज्ञानमेव तदिति। न च तद् युक्तम् पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। अथ तेषु श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु दर्शनमपि भवत् तद् ज्ञानमेव मात्रशब्दस्य दर्शनव्यवच्छेदकत्वात्। अत एव तत्र 'श्रोत्रज्ञानम्' इत्यादिव्यपदेश उपलभ्यन्ते 'श्रोत्रदर्शनम् घ्राणदर्शनम् इत्यादिव्यपदेशस्तु नागमे क्वचित् प्रसिद्धः तर्हि चक्षुष्यपि तथैव गृह्यताम् 'चक्षुर्ज्ञानम्' इति न तु 'चक्षुर्दर्शनम्' इति। अथ तत्र 5 दर्शनम् इतरत्रापि तथैव गृह्यताम्। 'ज्ञान-दर्शनयोरुपलम्भरूपत्वे अविशेषप्रसङ्गस्तयोः' इति चेत् ? एवमेतत्तद्भूतया, स्वभावभेदात् तु भेद इति॥२४॥

नन्ववग्रहस्य मतिभेदत्वात् मतेऽथ ज्ञानरूपत्वात् अवग्रहरूपस्य दर्शनस्याभाव एव भवेत् ? — उच्यते

(मूलम्) गाणं अपुट्टे अविसए य अत्थम्मि दसणं होइ।

मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु॥२५॥

10

(व्याख्या) अस्प(?स्पृ)ष्टेऽर्थरूपे चक्षुषा य उदेति प्रत्ययः स चक्षुर्दर्शनं ज्ञानमेव सत्, इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादौ अर्थे मनसा ज्ञानमेव सद् अचक्षुर्दर्शनम्, मुक्त्वा मेघोन्नतिरूपाद् लिङ्गाद् भविष्यद् वृष्टौ

है ऐसा प्रतिवादी मानेंगे तो मतिज्ञान ही (यानी उस का एक प्रकार ही) दर्शन है यह फलित हुआ। यह नितान्त गलत है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में (२-९ में) उपयोग का साकार-अनाकार दो भेद बता कर साकार के आठ और दर्शन (अनाकार) के चार भेद दिखाया है — उस के साथ विरोध होगा॥२३॥ 15

चक्षु इन्द्रिय की तरह अन्य इन्द्रियों का अवग्रह भी अवश्य दर्शनरूप मानना पड़ेगा, क्योंकि अवग्रह मतिज्ञान ही है। वह योग्य नहीं है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के साथ विरोध होता है। यदि कहा जाय — 'श्रोत्रादि इन्द्रिय का दर्शन होते हुए भी 'ज्ञान' ही कहना उचित है, गाथा (२४) में ज्ञानमात्र में 'मात्र' शब्द से दर्शन का व्यवच्छेद किया गया है। अत एव 'श्रोत्रज्ञान' इत्यादि शब्दप्रयोग चलता है 'श्रोत्रदर्शन-घ्राणदर्शन' इत्यादि शब्दप्रयोग आगमों में कही भी प्रसिद्ध नहीं है। — तो फिर 'चक्षुर्ज्ञान' 20 को मानो चक्षुर्दर्शन को मत मानो। यदि वहाँ चक्षुर्दर्शन मान्य है तो अन्य इन्द्रियों का भी दर्शन स्वीकार लो। 'ज्ञान और दर्शन को सिर्फ उपलम्भात्मक ही मानेंगे तो दोनों में कोई फर्क नहीं रहेगा'- ऐसी शंका मत करना, उपलम्भसामान्य स्वरूप से उन में कोई फर्क नहीं है, हाँ सामान्य-विशेषरूप स्वभावभेद से फर्क जरूर है॥२४॥

[अवग्रह मतिज्ञान का भेद है तो 'दर्शन' से नया क्या लेना ?]

25

अवतरणिका :- प्रश्न अवग्रह तो मति का भेद है, मति ज्ञानरूप है, तो फिर अवग्रहरूप दर्शन के नाम से बचा क्या ? — उत्तर में गाथा २५ प्रस्तुत है —

गाथार्थ :- अस्पृष्ट/अविषयभूत अर्थ संबंधी (प्रतीति) दर्शन होता है। भावि आदि विषयों संबंधी लिंग से होनेवाली (प्रतीति) को छोड़ कर॥२५॥

व्याख्यार्थ :- जैन दर्शन में चक्षु को और मन को अप्राप्यकारी बताया गया है। अतः चक्षु से 30 अस्पृष्ट रूपादिअर्थ के बारे में जो प्रतीति होती है उसे ज्ञानरूप होते हुए भी चक्षुदर्शन कहा जाता है। एवं, इन्द्रियों की जहाँ पहुँच नहीं है ऐसे सूक्ष्म परमाणु आदि विषयों के बारे में मन से होनेवाले

नदीपुराद् वोपर्यतीतवृष्टौ वा लिङ्गिविषयं यद् ज्ञानं तस्यास्प(स्पृष्ट)विषयार्थस्याप्यदर्शनत्वात् ॥२५॥

यद्यस्पृष्टाऽविषयार्थज्ञानं दर्शनमभिधीयते ततः -

(मूलम्) मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।

भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥२६॥

5 (व्याख्या) एतेन = लक्षणेन मनःपर्यायज्ञानमपि दर्शनं प्राप्तम् परकीयमनोगतानां घटादीनामालम्ब्यानां तत्राऽसत्त्वेनाऽस्पृष्टेऽविषये च घटादावर्थे तस्य भावात् । न चैतद् युक्तम् आगमे तस्य दर्शनत्वेनाऽपाठात् । भण्यते अत्रोत्तरम् - णोइंदियम्मि मनोवर्गणाख्ये = मनोविशेषे प्रवर्तमानं मनःपर्यायबोधरूपं ज्ञानमेव न दर्शनम् यस्मादस्पृष्टा घटादयो नास्य विषयो लिङ्गानुमेयत्वात् तेषाम् । तथा चागमः 'जाणइ बज्जे णुमाणाओ' (वि.आ.भा.८१४)।

10 ननु च परकीयमनोगतार्थाकारविकल्पस्योभयरूपत्वात् किमिति तद्ग्राहिणो मनःपर्यायावबोधस्य न ज्ञान को अचक्षुदर्शन कहा जाता है। - इस में इतना अपवाद है कि गगन में मेघोन्नतिरूप लिंग को देख कर निकट भविष्य में होनेवाली वृष्टि के अनुमानबोध को, अथवा नदी में आयी हुई बाढ़ को देख कर उपरिदेश में अतीत वृष्टिरूप लिंगी के अनुमान बोध को अचक्षुदर्शन नहीं कहा जाता। यद्यपि भावी या भूत वृष्टि रूप अर्थ अस्पृष्ट एवं इन्द्रियों का अविषय भी है किन्तु वह दर्शनरूप
15 नहीं है ॥२५॥

[मनः पर्यायज्ञान में दर्शनव्याख्या की अतिव्याप्ति का निरसन]

अवतरणिका :- अस्पृष्ट अथवा अविषयभूत पदार्थ संबन्धि ज्ञान को दर्शन कहेंगे तो मनःपर्यायज्ञान में अतिव्याप्ति का निर्देश कर के उस का वारण दिखाते हैं -

गाथार्थ :- (शंका) (तेण =) पूर्वोक्त कथन से तो मनःपर्याय ज्ञान दर्शन बन जायेगा। वह योग्य
20 नहीं है। उत्तर:- नो इन्द्रिय संबंधी होने से ज्ञानरूप है, क्योंकि घटादि उस के (साक्षात्) ग्राह्य नहीं है ॥२६॥

व्याख्यार्थ :- पूर्व गाथा में जो दर्शन का लक्षण कहा (अस्पृष्ट / अविषय संबंधी ज्ञान 'दर्शन' है) उस की तो मनःपर्यायज्ञान में भी प्राप्ति (यानी अतिव्याप्ति) होगी। कारण, अन्य व्यक्ति के मन से चिन्तित घटादिस्वरूप उस का विषय न तो मनःपर्यायज्ञानी के चक्षु से स्पृष्ट है न तो वे
25 घटादि मनःपर्यायज्ञानी के मन के विषय हैं (= मानसप्रत्यक्ष विषय नहीं है।) यहाँ इष्टापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आगमशास्त्रों में तो स्थान स्थान पर उस का ज्ञानरूप से ही निर्देश है, न कि 'दर्शन' रूप से। इस का उत्तर यह है कि मनःपर्यायज्ञान 'मनोवर्गणा' संज्ञक मनोविशेषरूप अर्थ का ग्राहक है अत एव वह दर्शन नहीं किन्तु ज्ञानमय ही है। मतलब कि वह मनोद्रव्य विशेषात्मक होने से अपनी आत्मा से स्पृष्ट अथवा स्पृष्ट-जातीय हो कर ही मनःपर्यायज्ञान के विषय बनते हैं अस्पृष्ट हो कर
30 नहीं। जो अस्पृष्ट घटादि पदार्थ हैं वे तो उस के ग्राह्य नहीं है, वे तो लिंगानुमेय होते हैं। विशेषावश्यकभाष्यादि आगम (गाथा - ८१४) में भी कहा है कि बाह्य घटादि को अनुमान (मतिज्ञान प्रकार) से जानता है।

दर्शनरूपता ? न, मनोविकल्पस्य बाह्यार्थचिन्तनरूपस्य विकल्पात्मकत्वेन ज्ञानरूपत्वात् तद्ग्राहिणो मनः-पर्यायज्ञानस्यापि तद्रूपतैव । घटादेस्तु तत्र परोक्षतैवेति दर्शनस्याभाव एव । मनोविकल्पाकारस्थोभयरूपत्वेऽपि छाद्यस्थिकोपयोगस्य परिपूर्णवस्तुग्राहकत्वाऽसंभवाच्च न मनःपर्यायज्ञाने दर्शनोपयोगसंभवः ॥२६॥ किञ्च,

(मूलम्) मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो ।

एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं, दंसणं कत्तो ॥२७॥

5

(व्याख्या) मति-श्रुतज्ञाननिमित्तश्छद्यस्थानामर्थोपलम्भ उक्त आगमे । तयोरेकतरस्मिन्नपि न दर्शनं संभवति न तावदवग्रहो दर्शनम् तस्य ज्ञानात्मकत्वात् । ततः कुतो दर्शनम् ? नास्तीत्यर्थः । अस्पृष्टेऽविषये चार्थे ज्ञानमेव दर्शनं नान्यदिति प्रसक्तम् ॥२७॥

[अर्थाकार विकल्पग्राहक मनःपर्याय दर्शनरूप क्यो नही ? प्रश्न का उत्तर]

प्रश्न :- परकीय मन का जो अर्थाकार (बाह्यघटादिसदृशाकार) विकल्प है वह भी मनःपर्यायज्ञान का ग्राह्य ही है । वह अर्थाकार विकल्प न तो स्पृष्ट है न तो विषयभूत है, अतः अस्पृष्ट-अविषयभूत अर्थाकार विकल्प का ग्राहक मनःपर्यायज्ञान 'दर्शन' की व्याख्या के मुताबिक 'दर्शन क्यो नही ?

उत्तर :- बाह्यार्थचिन्तनरूप जो मनोविकल्प है वह तो स्वयं ज्ञानरूप है अतः ज्ञान का (विशेष का) ग्राहक मनःपर्याय भी ज्ञानरूप ही हो सकता है । चिन्त्यमान बाह्यार्थ घटादि तो मनःपर्यायादि से परोक्ष पदार्थ ही है अतः उस का ग्रहण (अनुमान से होता है) मनःपर्याय से जब शक्य नहीं, तब 'दर्शन' की आपत्ति कैसे ? हालाँकि परकीयमनोगत अर्थाकारविकल्प अस्पृष्ट एवं अविषयभूत जरूर है — जो लोग उसे मनःपर्यायज्ञान का ग्राह्य नहीं मानते हैं (सिर्फ मनोद्रव्य को ही ग्राह्य मानते हैं) उन्हें तो 'दर्शन' की आपत्ति नहीं । जो लोग उसे मनःपर्यायज्ञान का ग्राह्य मानते हैं वे उस के 'दर्शनरूप' न होने में अन्य तर्क दिखाते हैं — मनःपर्यायज्ञान छाद्यस्थिक उपयोगरूप है और छद्यस्थोपयोग कभी पूर्णवस्तु का ग्राहक बन नहीं सकता, इस लिये उस को 'दर्शनोपयोगरूपता' का सम्भव नहीं है । (उदा० श्रुतज्ञान) ॥२६॥

[मति-श्रुतमूलक अर्थोपलम्भ में दर्शन निरवकाश]

और एक बात है —

गाथार्थ :- छद्यस्थों को अर्थोपलब्धि मति या श्रुत के निमित्त से ही होती है । उन में से एक में भी दर्शन (का भेद) नहीं है । तो दर्शन कैसे रहेगा ? ॥२७॥

व्याख्यार्थ :- आगम ग्रन्थों में (नंदीसूत्रादि में) छद्यस्थों को होनेवाला अर्थावबोध कभी मतिज्ञानमूलक या कभी श्रुतज्ञानमूलक होता है — ऐसा कहा हुआ है । उन दोनों में, एक भी ज्ञान में कोई भी प्रकार 'दर्शन' रूप कहा जा सके ऐसा नहीं है । कारण अवग्रह यद्यपि अत्यन्त फीका होता है फिर भी वह होता है ज्ञानस्वरूप । अब दर्शन के रूप में उन दोनों में कौन बचा ? कोई नहीं । इस से मानना पड़ेगा कि अस्पृष्टार्थक एवं अविषयार्थक ज्ञान ही सच कही तो दर्शन है, दूसरा कोई नहीं

॥२७॥

30

ननु श्रुतमस्पृष्टे विषये किमिति दर्शनं न भवेत् ? इत्याह—

(मूलम्) जं पच्चक्खग्गहणं ण इन्ति सुयणाणसम्मिया अत्था।

तम्हा दंसणसद्धो ण होइ सयले वि सुयणाणे।।२८।।

(व्याख्या) यस्मात् श्रुतज्ञानप्रमिताः पदार्थाः = उपयुक्ताध्ययनविषयाः तथाभूतार्थवाचकत्वात् श्रुतशब्दस्य, प्रत्यक्षं न गृह्यन्ते अतो न श्रुतं चक्षुर्दर्शनसंज्ञम्। मानसमचक्षुर्दर्शनं श्रुतं भविष्यति — इत्येतदपि नास्ति, अवग्रहस्य मतित्वेन पूर्वमेव दर्शनतया निरस्तत्वात्।।२८।।

नन्वेवमवधिदर्शनस्याप्यभावः स्यात् — इत्याह—

(मूलम्) जं अप्पुड्ढा भावा ओहिण्णाणस्स होंति पच्चक्खा।

तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्धो वि उवउत्तो।।२९।।

यस्मादस्पृष्टा भावा अण्वादयोऽवधिज्ञानस्य प्रत्यक्षा भवन्ति चक्षुर्दर्शनस्यैव रूपसामान्यम् ततस्तत्रैव दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः।।२९।।

[अस्पृष्टविषयक श्रुत दर्शनरूप क्यों नहीं — प्रश्न का उत्तर]

प्रश्न :- श्रुत भी अस्पृष्टार्थक है तो वह 'दर्शन' क्यों नहीं ? उत्तर :-

गाथार्थ :- श्रुतज्ञानप्राप्त्यर्थ प्रत्यक्षग्रहण (के विषय) नहीं होते, अतः सकल श्रुतज्ञान के लिये 'दर्शन' शब्द (प्रयुक्त) नहीं हो सकता।।२८।।

व्याख्यार्थ :- यतः, 'श्रुत' शब्द अध्ययनोपयोगी अर्थों का वाचक होने से श्रुतज्ञानप्रमाण से गृहीत होनेवाले अध्ययनोपयोगी पदार्थ प्रत्यक्षप्रमाण से गृहीत नहीं होते, अत एव 'श्रुत' के लिये 'चक्षुर्दर्शन' की संज्ञा प्रयुक्त नहीं होती। तो क्या मानसश्रुत के लिये 'अचक्षुर्दर्शन' संज्ञा उचित है ? नहीं, मानस ज्ञान तो अवग्रहरूप होने पर मतिज्ञानस्वरूप बन जाने से, अवग्रह में दर्शनरूपता का तो निषेध पहले ही (गाथा २७ में) किया जा चुका है। 'अचक्षुर्दर्शन' मन से होता है किन्तु वह मानस ज्ञानरूप नहीं होता, 'मानस अचक्षुर्दर्शन' दर्शन का एक भेद है किन्तु 'श्रुत' तो ज्ञानात्मक होने से उसे अचक्षुर्दर्शन रूप नहीं मान सकते।

[अवधिज्ञान के लिये अवधिदर्शनशब्द उचित]

शंका :- यदि इस तरह ज्ञान को ही 'दर्शन' संज्ञा दी जाय तो मुख्य 'अवधिदर्शन' पदार्थ लुप्त हो जायेगा। उत्तर :-

गाथार्थ :- अस्पृष्ट भाव अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष होते हैं, अतः अवधिज्ञान के लिये दर्शनशब्द भी उपयोगी है।।२९।।

व्याख्यार्थ :- अणु-परमाणु आदि जो अस्पृष्ट पदार्थ हैं वे उसी तरह अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष होते हैं जैसे हम लोगों को चक्षुर्दर्शन से सामान्यरूप का दर्शन होता है। अत एव अवधिज्ञान के लिये 'अवधिदर्शन' शब्दप्रयोग अस्पृष्टार्थविषयकप्रत्यक्षत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त के अवलम्बन से उचित ही है।।२९।।

केवलावबोधस्तु ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयात्मको ज्ञानमेव सत् दर्शनमप्युच्यते, इत्याह—

(मूलम्) जं अप्पुट्टे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा।

तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं।।३०।।

(व्याख्या) यतोऽस्पृष्टान् भावान् नियमेन = अवश्यंतया केवली चक्षुष्मानिव पुरःस्थितं चक्षुषा पश्यति जानाति चोभयप्राधान्येन, तस्मात् तत् केवलावबोधस्वरूपं ज्ञानमप्युच्यते दर्शनमप्यविशेषतः = 5 उभयाभिधाननिमित्तस्याऽविशेषात् न पुनर्ज्ञानमेव, सदविशेषतोऽभेदतो दर्शनमिति सिद्धम्। यतो न ज्ञानमात्रमेव तत्, नापि दर्शनमात्रं केवलम्, नाप्युभयाक्रमरूपं परस्परविविक्तम्, नापि क्रमस्वभावम्, अपि तु ज्ञान-दर्शनात्मकमेकं प्रमाण् अन्यथोक्तवत् तदभावप्रसङ्गात्।

छद्मस्थावस्थायां तु प्रमाण-प्रमेययोः सामान्य-विशेषात्मकत्वेऽप्यनपगतावरणस्यात्मनो दर्शनोपयोगसमये ज्ञानोपयोगस्याऽसम्भवाद् अप्राप्यकारिनयन-मनःप्रभवार्थावग्रहादिमतिज्ञानोपयोगप्राक्तनी अवस्था अस्प(स्पृ) 10 ष्टावभासिग्राह्य-ग्राहकत्वपरिणत्यवस्था व्यवस्थितात्मप्रबोधरूपा चक्षुरचक्षुर्दर्शनव्यपदेशमासादयति। द्रव्य-

[केवलबोध भी उभयोपयोगात्मक एक है]

अवतरणिका :- केवलावबोध भी ज्ञान-दर्शनोपयोगाभ्यात्मक होने से ज्ञानरूप होते हुए 'दर्शनरूप' भी कहा जाता है — यही कहते हैं —

गाथार्थ :- केवली अवश्य अस्पृष्ट भावों को यतः जानता है और देखता है, अत एव कोई 15 विशेष भेद न होने से ज्ञानरूप और दर्शनरूप भी सिद्ध है।।३०।।

व्याख्यार्थ :- नेत्रशाली व्यक्ति जैसे समक्षवर्ती वस्तु को चक्षु से देखता है और जानता भी है क्योंकि उस के चाक्षुष बोध में दोनों ही प्रधानतया संमिलित है, उसी तरह केवली भी अवश्य अस्पृष्ट भावों को जानते हैं और देखते हैं। अत एव वह केवलावबोध 'ज्ञान' भी कहा जाता है 'दर्शन' भी, क्योंकि ज्ञान का प्रवृत्तिनिमित्त परिच्छेदात्मकत्व और दर्शन का प्र०नि० अस्पृष्टत्व दोनों ही निर्विशेषरूप 20 से केवलावबोध में विद्यमान है, अतः अकेला ज्ञान ही है ऐसा नहीं। ज्ञानस्वरूप होते हुए भी अविशेष-यानी अभेद होने से दर्शनरूप भी सिद्ध है।

न तो वह ज्ञानमात्ररूप है, न तो सिर्फ दर्शनमात्र है, न तो अक्रमिक (युगपद्) द्वित्वसंख्यायुक्त — परस्पर व्यावृत्तस्वरूप है, न कि क्रमिक स्वभाववाले हैं — किन्तु एक ही है इसलिये अक्रमिक ज्ञानदर्शनोभयात्मक एक प्रमाणस्वरूप है। ऐसा न मानने पर उस की सत्ता का लोप प्रसक्त होगा, 25 जो पहले कहा जा चुका है।

[चक्षुदर्शनादि नवविध उपयोग की व्याख्या]

व्याख्याकार जैनमतानुसार क्रमश नव उपयोगों की व्याख्या करते हैं —

(१-२) चक्षु-अचक्षु दर्शन :- जैनमतानुसार प्रमाण या प्रमेय सामान्यविशेषोभयात्मक होते हैं। तथापि छद्मस्थावस्था में आवरणक्षय न होने से आत्मा को जब दर्शनोपयोग प्रवर्तता है तब ज्ञानोपयोग का 30 होना असम्भव है, अतः दर्शन ज्ञान से भिन्न होता है। अप्राप्यकारी चक्षुरिन्द्रिय एवं मन के व्यापार

भावेन्द्रियालोकमतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिसामग्रीप्रभवरूपादिविषयग्रहणपरिणतिश्चात्मनोऽवग्रहादिरूपा 'मतिज्ञान'शब्दवाच्यतामश्नुते। श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम-वाक्यश्रवणादि-सामग्रीविशेषनिमित्तप्रादुर्भूतो वाक्यार्थपरिणतिग्रहणस्वभावो वाक्याऽश्रवणनिमित्तो वाऽऽत्मनः 'श्रुतज्ञान'मिति शब्दाभिधेयतामाप्नोति। रूपिद्रव्यग्रहणपरिणतिविशेषस्तु जीवस्य भव-गुणप्रत्ययावधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतो लोचनादि-
5 बाह्यनिमित्तनिरपेक्षः 'अवधिज्ञानम्' इति व्यपदिश्यते तज्ज्ञैः। अवधिदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतस्तु स एव तद्द्रव्यसामान्यपर्यालोचनस्वभावोऽवधिदर्शनव्यपदेशभाग् भवति।

अर्धतृतीयद्वीपसमुद्धान्तर्वृत्तिसकलमनोविकल्पग्रहणपरिणतिः मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिविशिष्टसामग्रीसमुत्पादिता चक्षुरादिकरणनिरपेक्षस्यात्मनः 'मनःपर्यायज्ञानम्' इति वदन्ति विद्वांसः। छात्रस्थिको-
10 पयोगं चात्मा स्वप्रदेशावरणक्षयोपशमद्वारेण प्रतिपद्यते। न त्वनन्तज्ञेयज्ञानस्वभावस्यात्मनः एतदेव खण्डशः-
प्रतिपत्ति-लक्षणं पारमार्थिकं रूपम्, सामान्यविशेषात्मकवस्तुविस्तरव्यापि युगपत्परिच्छेदस्वभावद्वयात्मकैकेकेवला-
से उत्पन्न होने वाले अर्थावग्रहादिभेदयुक्त मतिज्ञान उपयोग की पूर्वकालीन जो आत्मा की ज्ञानोपयोगाभिमुख यानी निश्चितस्वरूपवाली, आत्मप्रबोधरूप, एवं जिस में ग्राह्य-ग्राहकभावपरिणति का स्पष्टावभास नहीं होता ऐसी जो आत्मा की अवस्था है वही चक्षुजन्य चक्षुदर्शन संज्ञक एवं मनोजन्य अचक्षुदर्शन संज्ञक होती है।

15 (३) मतिज्ञान :- द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय-प्रकाश-मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम इत्यादि सामग्री से जन्य ऐसी आत्मा की रूपादिविषयग्रहणपरिणति जो अवग्रह-इहा-अपाय-धारणारूप है उसका निर्देश मतिज्ञानशब्द से होता है।

(४) श्रुतज्ञान :- श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम तथा वाक्यश्रवणादि सामग्रीविशेषरूप निमित्त से उत्पन्न होने वाला आत्मा का वाक्यार्थग्रहणपरिणामात्मक स्वभाव श्रुतज्ञानशब्द का वाच्यार्थ है - कभी वाक्यश्रवण
20 के विना भी वह होता है।

(५) अवधिज्ञान :- भवनिमित्तक अथवा संयमादिगुणनिमित्तक एवं अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जन्य नेत्रादिबाह्यनिमित्त निरपेक्ष ऐसी जो जीव की रूपिद्रव्यग्रहणपरिणति है वही 'अवधिज्ञान' शब्दप्रयोग की आधारशीला है। यह तज्ज्ञों का कथन है।

(६) अवधिदर्शन :- अवधिदर्शनावरणकर्मक्षयोपशम से जन्य ऐसी आत्मा की रूपिद्रव्यसामान्यपर्यालोचनात्मक
25 परिणति 'अवधिदर्शन' शब्द की वाच्य है।

[मनःपर्यव - केवलज्ञान - केवलदर्शन उपयोगों की व्याख्या]

(७) मनःपर्यायज्ञान :- जम्बुद्वीप-लवणसमुद्र-धातकीखंड - कालोदधिसमुद्र- अर्धपुष्करवरद्वीप इन को अढी द्वीप कहते हैं। इन में रहे हुए सकल मनोयुक्त जीवों के मानसिक विकल्पों के ग्रहण की परिणतिवाला एवं मनःपर्यायज्ञानावरणकर्म क्षयोपशमादि विशिष्टसामग्रीजन्य चक्षुरादिन्द्रियनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को विद्वान्
30 लोग 'मनःपर्याय' ज्ञान कहते हैं। (मनःपर्याय या मनःपर्यव एक ही है)।

चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-अवधिज्ञान-अवधिदर्शन और मनःपर्याय ज्ञान इतने सात उपयोग छद्मस्थों को होते हैं। आवरणग्रस्त आत्मा हरहमेश इन में से किसी भी एक परिणाम को

वबोधतात्त्विकरूपत्वात् तस्य । तच्च तस्य स्वरूपं केवलज्ञानदर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूतं करण-क्रमव्यवधानातिवर्ति सकललोकालोकविषयत्रिकालस्वभावपरिणामभेदानन्तपदार्थयुगपत्सामान्यविशेषसाक्षात्करणप्रवृत्तं केवलज्ञानं केवलदर्शनम् इति च व्यपदिश्यते ।

तेन— “अवग्रहरूप आभिनिबोधो दर्शनम् स एव चेहादिरूपो विशेषग्राहको ज्ञानम् तद्व्यतिरिक्तस्या-
परस्य ग्राहकस्याभावात् । तस्यैवैकस्य तथाग्रहणात् तथाव्यपदेशाद् उत्फण-विफणावस्थासर्पद्रव्यवत् । 5
ततस्तयोरवस्थयोरव्यतिरेकात् तस्य च तद्रूपत्वादेक एवाभिनिबोधो दर्शनं मतिज्ञानं चाभिधीयते इति—
सूत्रकृतोऽभिप्रायः ।” — इति यत् कैश्चिद् व्याख्यातं तदसङ्गतं लक्ष्यते, आगमविरोधात् युक्तिविरोधाच्च ।
न ह्येकान्ततोऽभेदे पूर्वमवग्रहो दर्शनं पश्चाद् ईहादिकं ज्ञानम्, तयोश्च तत्रान्तर्भाव इति शक्यमभिधातुम्,
कथंचिद्भेदनिबन्धनत्वादस्य । आत्मरूपतया तु तयोरभेदोऽभ्युपगम्यत एव । न चैकस्यैव मतिज्ञानस्यो-

अपने अपने प्रदेशावरणों के (कर्म के) क्षयोपशम से ही प्राप्त करता है । किन्तु विशेष ध्यान देने 10
योग्य तथ्य यह है कि अनन्तज्ञेयज्ञानस्वभावी (परिपूर्णज्ञानस्वभावी) आत्मा का यह (छाद्मस्थिक उपयोग)
स्वरूप पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये सब खण्डित ज्ञानपरिणाम है, अखण्ड नहीं है ।

(८-९) केवलज्ञान-केवलदर्शन :- आत्मा का अखण्ड पारमार्थिकस्वरूप तो ऐसा तात्त्विक केवलावबोधरूप
होता है जो सामान्य-विशेषात्मक सकलवस्तु स्पर्शी होता है एवं एक साथ परिच्छेद करनेवाले (ज्ञान-
दर्शन) रूप उभयात्मक एक अवबोध (= केवलावबोध) रूप ही होता है । आत्मा का ऐसा केवलावबोध 15
स्वरूप, केवलज्ञान-दर्शनावरणरूप कर्मद्वय के क्षय से उत्पन्न होता है । विना किसी करण (इन्द्रिय) के
होता है, क्रममुक्त होता है एवं किसी भी व्यवधान (देश-काल-स्वभाव व्यवधान) से मुक्त होता है ।
सम्पूर्ण लोक एवं अलोक में रहे हुए जितने भी ज्ञेय हैं उन के त्रैकालिक जितने भी स्वभावपर्याय
हैं (जो कि अनन्त ही हैं) ऐसे अनन्त पदार्थों का सामान्य-विशेषोभय प्रकार से साक्षात्कार कर लेने
वाला होता है । इसी को केवलज्ञान और केवलदर्शन कहा जाता है । 20

[सूत्रकार के अभिप्राय का अन्यथा व्याख्यान अनुचित]

उक्त विवरण से यह समझने में देर नहीं होगी कि अभी जो किसीने आचार्याभिप्राय का मनमाने
ढंग से फलितार्थ निकाला है वह कितना गलत है — वह गलत अभिप्राय अभी दिखा रहे हैं —
“आभिनिबोध एक अवबोध है, उस का एक रूप अवग्रह है वही ‘दर्शन’ है । उसी का दूसरा रूप
ईहा-अपाय-धारणा है वही विशेषग्राही होने से ‘ज्ञान’ है । दोनों अवस्थाओं में ग्राहक तो आभिनिबोध 25
एक ही है, और कोई ग्राहक नहीं है । वही एक आभिनिबोध दोनों प्रकार से ग्रहण करनेवाला है ।
इसी लिये उस का दो रूपों से (दर्शन-ज्ञान रूपों से) व्यवहार होता है । जैसे एक ही सर्प कभी
फण को खोलता है कभी मुकुलित करता है दोनों अवस्था में सर्पद्रव्य एक होता है । सर्प से दो
उत्फण-विफणावस्थाएँ भिन्न नहीं होती । सर्प भी उन दो अवस्थाओं में एकरूप अनुवृत्त है । इसी तरह
एक ही आभिनिबोध अवग्रहावस्था में ‘दर्शन’ और ईहादि अवस्था में ‘मतिज्ञान’ कहा जाता है । सूत्रकार 30
सिद्धसेन दिवाकर सुरिजी का ऐसा अभिप्राय है ।” —

व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसा अभिप्राय व्याख्यान गलत है क्योंकि उसमें आगम का विरोध

- भयमध्यपातादुभयव्यपदेशः, अवग्रहस्य दर्शनत्वे 'अवग्रहादिधारणापर्यन्तं मतिज्ञानम्' इत्यस्य व्याहतेः। तस्य वाऽदर्शनत्वे 'अवग्रहमात्रं दर्शनम्' इत्यस्य विरोधात्। आगमविरोधश्च तद्व्यतिरेकेण दर्शनानभ्युपगमे। तदभ्युपगमे वाऽष्टाविंशतिमतिज्ञानव्यतिरिक्तदर्शनाभ्युपगमात् कुतो ज्ञानमेव दर्शनं छद्मस्थावस्थायाम् ? केवल्यवस्थायां तु क्षीणावरणस्याऽऽत्मनो नित्योपयुक्तत्वात् सदैव दर्शनावस्था वर्तमानपरिणतेर्वस्तुनोऽवगमरूपायाः
- 5 प्राक् तथाभूतानवबोधरूपत्वाऽसंभवात्, तथाभूतज्ञानविकलावस्थासंभवे वा प्रागितरपुरुषाऽविशेषप्रसङ्गात्।

- और युक्ति का भी विरोध सीर उठाता है। पहले युक्ति विरोध कैसे हैं यह समझ लिजिये- अवस्था (दर्शन-ज्ञान) और अवस्थावान् (आभिनिबोध) ऐसा जो यहाँ दोनों का अभेद दर्शाया है वह एकान्तअभेद होने पर नहीं घट सकता क्योंकि एकान्त अभेद होने पर 'पहले दर्शन और बाद में ज्ञान (इस तरह भेद द्वारा निरूपण) और उन दोनों का एक में अन्तर्भाव' ऐसा कथन ही अशक्य है। दो अवस्था
- 10 और अवस्थावान् में सर्वथा नहीं किन्तु कथंचिद् आपेक्षिक भेद के होने पर ही वैसा कथन उचित हो सकता है। हाँ, दर्शन और ज्ञान दोनों एक आभिनिबोध की नहीं किन्तु एक आत्मा की दो अवस्था मान ले तो दोनों ही एकात्मरूप होने से उन दोनों का अभेद तो स्वीकार्य ही है। वही तो हमारा मत है।

- यदि कहा जाय - 'मतिज्ञान तो एक ही है किन्तु अवग्रहात्मक दर्शन और ईहादिरूप ज्ञान
- 15 दोनों में उस का प्रवेश व्याख्यानुसार होता है इस लिये उसमें दर्शन-ज्ञान उभय व्यवहार न्यायोचित है' - तो यह गलत है क्योंकि अवग्रह यदि दर्शन रूप माना जाय तो 'अवग्रह से ले कर धारणा तक चारों भेद मतिज्ञानरूप है' इस शास्त्रवचन का व्याघात होगा। यदि मतिज्ञान को दर्शन में शामिल नहीं करते तो उस के एक भेद स्वरूप 'अवग्रह' को दर्शन (गाथा २९) कहने पर विरोध प्राप्त होगा।

[दर्शन-मतिज्ञान का अभेद मानने पर आगमविरोध]

- 20 अवग्रहरूप आभिनिबोध दर्शन है... इत्यादि जो आचार्याभिप्राय के रूप में कहा गया था - उस में आगमविरोध होने का कहा गया था, तो युक्तिविरोध के प्रदर्शन के साथ साथ ज्ञान से जुदा दर्शन को न मानने में आगमविरोध भी प्रसक्त है - (शास्त्रों में ज्ञान-दर्शन अलग दिखाये हैं इस लिये स्पष्ट ही आगमविरोध है।) ज्ञान से दर्शन को जुदा मान ले तब तो मतिज्ञान के २८ भेद से जुदा ही दर्शन मान्य हो जाने से, छद्मस्थावस्था में ज्ञान एवं दर्शन को एक कैसे माना जाय ?
- 25 हाँ, केवली अवस्था में दोनों को एक मान सकते हैं क्योंकि दोनों के आवरणों का क्षय हो जाने से केवलि आत्मा हर हमेशा एक साथ उभय में उपयुक्त रहता है वह दोनों के ऐक्य को सूचित करता है। मतलब, ज्ञान की तरह दर्शनावस्था भी सदा निरन्तर जारी है। केवली अवस्था तो वर्तमानपरिणामविशिष्ट वस्तु की निरूपिका है, मतलब कि ज्ञानमयावस्थारूप है। अब ऐसा तो संभव नहीं है कि केवली को जैसी ज्ञानमय अवस्था किसी एक विवक्षित क्षण में जो है वह उस के पूर्व
- 30 क्षण में तथाविध वस्तु के अवबोधात्मक नहीं थी। यदि पूर्वक्षण में तथाविध वस्तु के ज्ञान से शून्य पूर्वावस्था की कल्पना सच मानेंगे तो उस पूर्व क्षण में केवलीभिन्न सामान्य मनुष्य और केवली में फर्क क्या रहेगा ? दोनों ही तथाविधवक्षित ज्ञानमयावस्था से तुल्यरूप से शून्य है।

ततो युगपज्ज्ञान-दर्शनोपयोगद्वयात्मकैकोपयोगरूपः केवलावबोधोऽभ्युपगन्तव्यः- इति सूरेरभिप्रायः॥३०॥

‘द्वयात्मक एक एव केवलावबोध’ इति दर्शयन्नाह-

(मूलम्) साइ अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।

परतित्थियवत्तव्वं च एगसमयंतरुप्पाओ॥३१॥

(व्याख्या) द्वे अपि ते ज्ञान-दर्शने यदि युगपद् न नाना भवतस्तदा स्वसमयः = स्वसिद्धान्तः 5
‘साद्यपर्यवसिते’ इति घटते। यस्तु ‘एकसमयान्तरोत्पादः’ तयोः ‘यदा जानाति तदा न पश्यति’
इत्येवमभिधीयते स ‘परतीर्थिकशास्त्रं’ नार्हद्वचनम् नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वाद् इति सूरेरभिप्रायः॥३१॥

एवंभूतं वस्तुतत्त्वं श्रद्धधानः सम्यग्ज्ञानवानेव पुरुष सम्यग्दृष्टिः-इत्याह-

(मूलम्) एवं जिणपण्णत्ते सदहमाणस्स भावओ भावे।

पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसदो हवइ जुत्तो॥३२॥

10

निष्कर्ष, सूत्रकार आचार्य का यही अभिप्राय है कि केवलावबोध युगपद् ज्ञानदर्शनोभयोपयोगानुस्यूत
एक उपयोगरूप ही है। (छद्मस्थावस्था में भले ही दो उपयोग भिन्न हो, केवली अवस्था में दोनों एक
ही है - यह सार है।)

[केवल उपयोग युगपद् एक होने का समर्थन]

अवतरणिका :- ‘उभयात्मक केवलावबोध एक ही है’ इस तथ्य की दृढता के लिये ३१ वीं गाथा 15
में कहते हैं -

गाथार्थ :- एवं (यानी उक्त अभेद-रीति से ही) दो ही वे सादि और अनन्त घटित होते हैं
- यह स्वसमय (स्वसिद्धान्त) है, समयान्तर से (क्रमिक) दोनों की उत्पत्ति (वाला मत) पर (अजैन)
तीर्थिकों का प्रतिपादन है॥३१॥

व्याख्यार्थ :- दोनों ही ज्ञान-दर्शन युगपद् होते हुए यदि पृथक् नहीं है तभी अपना जैन सिद्धान्त 20
दोनों के ‘सादि-अनन्त’ होने का घटता है। उस के विपरीत यदि कहा जाय कि - ‘जब जानता
है तब देखता नहीं - इस प्रकार ज्ञानदर्शन का उद्भव समयान्तर से होता है’ - यह तो जैनेतरदर्शन
का मत हुआ, न कि भगवान का वचन। कारण, एक अंश ग्राहक नय का (दुर्नय का) अभिप्राय
ही उस मत का प्रवर्तक है। सिद्धसेन दिवाकर सूरि का यही तात्पर्य है॥३१॥

[सम्यग्दर्शन भी आभिनिबोधरूप है]

25

अवतरणिका :- ३२ वीं कारिका में सूत्रकार कहते हैं कि उपरोक्तप्रकार से (उभयोपयोगात्मक
एकोपयोगवाला केवलीरूप) वस्तुपरमार्थ को सदहनेवाला (श्रद्धा करने वाला) सम्यग्ज्ञानी पुरुष ही सही
कहा जाय तो सम्यग्दृष्टि हो सकता है -

गाथार्थ :- उपरोक्त प्रकार से तत्त्वतः जिनोक्त तत्त्वों की श्रद्धा करनेवाले पुरुष के ‘आभिनिबोध’
के लिये ‘दर्शन’ शब्दप्रयोग युक्त है॥३२॥

30

व्याख्यार्थ :- पूर्वोक्त रीति से जिनप्ररूपित पदार्थों की श्रद्धा करनेवाले पुरुष का जो आभिनिबोधिक

(व्याख्या) एवं = अनन्तरोक्तविधिना जिनप्रज्ञप्तान् भावान् श्रद्धधानस्य पुरुषस्य यदाभिनिबोधिकं ज्ञानं तदेव सम्यग्दर्शनम्, विशिष्टावबोधरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वाद् इति भावः॥३२॥

ननु यदि सम्यग्ज्ञाने सम्यग्दर्शनं नियमेन, दर्शनेऽपि रुचिलक्षणे सम्यग्ज्ञानं किमिति न स्यात् ? न, एकान्तरुचावपि सम्यग्ज्ञानप्रसक्तेः - इत्याह-

5

(मूलम्) सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं ।

सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं॥३३॥

(व्याख्या) सम्यग्ज्ञाने नियमेन सम्यग्दर्शनम्, दर्शने पुनः भजनीयं = विकल्पनीयं सम्यग्ज्ञानम् । एकान्तरुचौ न संभवति अनेकान्तरुचौ तु सम्यग्दर्शने समस्ति । यतश्चैवमतः सम्यग्ज्ञानं चेदं सम्यग्दर्शनं च विशिष्टरुचिस्वभावमवबोधरूपमर्थतः = सामर्थ्याद् उपपन्नं भवति॥३३॥

10

अत्र साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं सूत्रे प्रदर्शितम् अनुमानं च तथाभूतस्य तस्य प्रतिपादकं संभवति । तथाहि- घातिकर्मचतुष्टयप्रक्षयाऽऽविर्भूतत्वात् केवलं सादि । न च तथोत्पन्नस्य पश्चात्तस्यावरणमस्ति

ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है, क्योंकि विशिष्टावबोधस्वरूप रुचि ही 'सम्यग्दर्शन' शब्द की वाच्य है॥३२॥

[सभी दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप नहीं होते]

प्रश्न - पूर्व गाथा में जो सम्यग्दर्शन की बात हुई वहाँ यह प्रश्न है कि सम्यग्ज्ञान को आपने
15 आभिनिबोधिक ज्ञान स्वरूप बताने पर यह नियम फलित हुआ कि सम्यग्ज्ञान के होने पर अवश्य सम्यग्दर्शन होता है, तो रुचिस्वरूप दर्शन के होने पर अवश्य सम्यग्ज्ञान भी क्यों न हो ?

उत्तर :- दर्शन यानी रुचि वह एकान्तगर्भित भी होती है, अनेकान्तगर्भित भी। यदि दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान की नियमतः सत्ता मानेंगे तो एकान्तरुचिवाले जीव में भी सम्यग्ज्ञान की सत्ता को मानना पड़ेगा। ३३ वीं गाथा से इस तथ्य का निरूपण किया गया है-

20

गाथार्थ :- सम्यग्ज्ञान के रहते हुए अवश्य दर्शन होता है, दर्शन के होने पर वह (सम्यग्ज्ञान) विकल्पाधीन है। यह (सम्यग्दर्शन) सम्यग्ज्ञानरूप है जो अर्थतः सिद्ध होता है॥३३॥

व्याख्यार्थ :- जिस जीव को सम्यग्ज्ञान होता है उस को (सम्यग्) दर्शन अवश्य होता है किन्तु दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान के लिये होने न होने का विकल्प है। एकान्तरुचि = एकान्तवाद यानी किसी भी विधि-निषेध-प्रतिपादन-मान्यता-क्रिया आदि के लिये आग्रह-अतिरेक के होने पर सम्यग्ज्ञान
25 का होना सम्भव नहीं है, अनेकान्तवाद की रुचि रूप अनाग्रहिता के होने पर सम्यग्ज्ञान जरूर होता है। इस का फलितार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन भिन्न नहीं है, अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि विशिष्ट (यानी अनेकान्तगर्भित) रुचि यह ज्ञान स्वरूप अवबोध का ही एक स्वभाव है॥ (इस तरह मिथ्यादर्शन भी मिथ्याज्ञान से एकात्मक हो सकता है)॥३३॥

[केवलज्ञान एकान्त से अनुत्पाद स्वरूप भी नहीं]

30 केवलज्ञान-केवलदर्शन अभेदवाद की चर्चा संपूर्ण हुई। ३४ वीं गाथा से सूत्रकार यह दिखाना चाहते हैं कि केवलज्ञान एकान्ततः उत्पाद-व्ययरहित नहीं है।

अतोऽनन्तमिति न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्य। न हि घटस्याऽविनाशे कपालानामुत्पादो दृष्ट इत्यनुत्पादव्ययात्मकं केवलमित्यभ्युपगमवतो निराकर्तुमाह—

(मूलम्) केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते।

तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति॥३४॥

(व्याख्या) केवलज्ञानं साधपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे इत्येतावन्मात्रेण गर्विताः केचन विशेषं पर्यायं 5 पर्यवसितत्वस्वभावं विद्यमानमपि नेच्छंति ते, न च सम्यग्वादिनः॥३४॥ यतः—

(मूलम्) जे संघयणाइया भवत्थकेवलि विसेसपज्जाया।

ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगयं तओ होइ॥३५॥

(व्याख्या) ये वज्रऋषभनाराच-संहननादयो भवस्थस्य केवलिनः आत्म-पुद्गलप्रदेशयोरन्योन्यानुवेधाद् 10 व्यवस्थितेः विशेषपर्यायाः ते सिध्यत्समयेऽपगच्छन्ति, तदपगमे तदव्यतिरिक्तस्य केवलज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यद्वारेण

कुछ लोग केवलज्ञान के सादि-अपर्यवसित्व का आपाततः ऐसा भाव निकालते हैं कि — “सूत्र में केवलज्ञान को सादि और अपर्यवसित कहा है — वह अनुमान से इस तरह संगत हो सकता है — केवलज्ञान सादि है क्योंकि वह घाती चार कर्मों के क्षय से प्रकट होता है। एक बार आवरणक्षय से उत्पन्न हो गया तो पुनः उस को आवरण नहीं लगता है इसी लिये वह अनन्त है, यानी फिर फिर उत्पन्न नहीं होता। पूर्ववस्तु विनाश के विना नूतन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती यह नियम है, 15 उदा० दिखता है कि घट का विनाश हुए विना खप्पर की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार केवल ज्ञान पुनः उत्पाद और नाश से अलिप्त होता है, यानी अपर्यवसित होता है।” — कुछ लोगों की ऐसी सूत्रोत्तीर्ण मान्यता का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

गाथार्थ :- सूत्र में दर्शाया है केवलज्ञान सादि-अपर्यवसित होता है। इतने मात्र से गर्वान्वित कुछ (लोग केवलज्ञान के पर्यायस्वरूप) विशेष को नहीं मानते हैं॥३४॥ 20

व्याख्यार्थ :- सूत्र में जो केवलज्ञान को सादि-अपर्यवसित दिखाया है उस का भावार्थ ‘हम पूरा समझ गये’ ऐसा गर्व धारण करनेवाले कुछ विद्वान् केवलज्ञान के विशेष का यानी पर्यवसितत्वस्वरूप पर्याय का इनकार कर बैठते हैं — वे सम्यग्वादी नहीं हैं॥३४॥ कारण यह है —

[केवलज्ञान का कथंचिद् विनाश सयुक्तिक है]

गाथार्थ :- भवस्थकेवली के जो संघयणादि विशिष्ट पर्याय हैं वे सिद्धिगमनकाल में नहीं रहते, 25 अतः विगत (= विनाश) भी (केवलज्ञान का) है॥३५॥

व्याख्यार्थ :- जब तक केवलज्ञानी का मोक्ष नहीं हुआ तब तक केवली भी संसार में रहता है। तब अघाती नामादि कर्म के उदय से वज्रऋषभनाराच संघयणबल आदि भी असाधारण पर्यायस्वरूप से सहवर्ती होते हैं। कर्मों के पुद्गलरूप प्रदेश और आत्मप्रदेश ये दोनों संसारपर्यन्त अवस्था में अन्योन्य बंधे हुए रहते हैं — एकीभाव से रहते हैं। केवलज्ञान भी तब तक कर्मादयजनित संघयणबल-वीर्य 30 से लिपटा हुआ रहता है। जब अघाती कर्मों का विनाश होता है तब कर्मप्रतिबद्ध संसारी आत्मा

विगमाद्, अन्यथावस्थातुरवस्थानामात्यन्तिकभेदप्रसक्तेः, केवलज्ञानं ततो विगतं भवति— इति सूत्रकृतोऽभिप्रायः ॥३५॥

विनाशवत् केवलज्ञानस्योत्पादोऽपि सिध्यत्समय इत्याह—

(मूलम्) सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।

5

केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥३६॥

(व्याख्या) सिद्धत्वेनाशेषकर्मविगमस्वरूपेण पुनः पूर्ववदुत्पन्न एष केवलज्ञानाख्योऽर्थपर्याय उत्पाद-विगम-ध्रौव्यात्मकत्वाद् वस्तुनः, अन्यथा वस्तुत्वहानेः। यत् त्वपर्यवसितत्वं सूत्रे केवलस्य दर्शितं तत् तस्य केवलभावं सत्तामात्रमाश्रित्य कथंचिदात्माऽव्यतिरिक्तत्वात् तस्य, आत्मनश्च द्रव्यरूपत्वात् ॥३६॥

ननु केवलज्ञानस्यात्मरूपतामाश्रित्य तस्योत्पाद-विनाशाभ्यां केवलस्य तौ भवतः, न चात्मनः केवलरूपतेति

10 कुतः तद्द्वारेण तस्य तावित्याह—

कथंचिद् नष्ट हो कर सिद्ध आत्मा का नया जन्म होता है। संसारी आत्मा कथंचिद् नष्ट होने से उस से अनन्य ऐसा संसारी केवलज्ञान भी आत्मद्रव्यविनाशप्रयुक्त विनाश का अनुभव करता है। यदि इस तथ्य का इनकार किया जाय, तो आत्मरूप अवस्थायान् द्रव्य का और उस की अवस्थाएँ केवलज्ञानादि का एकान्त भेद प्रसक्त होगा। (संघयणबल-वीर्यादि अवस्थाओं का नाश होने पर अवस्थायान् आत्मद्रव्य के विनाश से कथंचित् केवलज्ञान का भी नाश मानना अभेदवाद में युक्तिसंगत है।) इस प्रकार केवलज्ञान कथंचित् सपर्यवसित भी है, एकान्ततः अपर्यवसित नहीं ॥३५॥

[केवलज्ञान कथंचित् उत्पत्तिशील है]

अवतरणिका :- सिद्धिगमनकाल में केवलज्ञान का जिस तरह नाश प्रदर्शित किया उसी तरह अब उत्पत्ति भी प्रदर्शित करते हैं —

20 गाथार्थ :- वह (केवल ज्ञानरूप) अर्थपर्याय सिद्धत्वरूप से पुनः उत्पन्न होता है। सूत्र में केवलत्व की अपेक्षा से केवल को (अपर्यवसित) दिखाया है ॥३६॥

व्याख्यार्थ :- सर्वकर्मविनाशरूप जो सिद्धत्व है उस अवस्था में केवलज्ञान संज्ञक अर्थपर्याय पूर्ववत् नया उत्पन्न होता है। जैनदर्शन में तो वस्तुमात्र उत्पाद-व्यय-स्थैर्य तीन गुणधर्मों से लिप्त ही होती है; तो संसारीअवस्थावाला केवलज्ञान नष्ट हो कर सिद्धावस्था का केवलज्ञान नया उत्पन्न होवे उस में क्या आश्चर्य ? जिस वस्तु में उत्पादादि नहीं वह 'वस्तु' ही नहीं हो सकती। उत्पादादि तीन गुणधर्मों में से स्थैर्यांश (ध्रुवांश) की विवक्षा करे तो केवलज्ञान अविनष्ट एवं अनुत्पन्न हो सकता है। अत एव आगमसूत्र में केवलज्ञान को (प्रज्ञापना पद -१८, सूत्र २४९) केवलभाव यानी सत्तामात्र की दृष्टि से 'अपर्यवसित' दर्शाया गया है। आत्मा द्रव्यार्थतया नित्य है और केवलज्ञान नित्य आत्मा से जुदा नहीं है अतः वह भी नित्य माना जाय तो संगत ही है ॥३६॥

30

[आत्मा और केवलज्ञान में भेदाशंका]

अवतरणिका :- प्रश्न :- यदि केवलज्ञान आत्मा से जुदा नहीं है, तब आत्मा के उत्पाद-व्यय को ले कर केवलज्ञान के उत्पादव्यय तो दिखा सकते हैं, किन्तु आत्मा केवलरूप है नहीं, तो उस

(मूलम्) जीवो अणाइ-निहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं।
 इअ थोरम्मि विसेसे कह जीवो केवलं होइ।।३७।।
 तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
 उवसमियाईलक्खणविसेसओ केइ इच्छन्ति।।३८।।

(व्याख्या) जीवोऽनादिनिधनः केवलज्ञानं तु साद्यपर्यवसितम् इति स्थूरे = विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे 5
 विशेषे छायाऽऽतपवदत्यन्तभेदात् कथं जीवः केवलं भवेत् ? जीवस्यैव तावत् केवलरूपता असंगता
 दूरतः संहननादेरिति भावः।।३७।।

तस्माद् विरुद्धधर्माध्यासतोऽन्यो जीवो ज्ञानादिपर्यायेभ्यः, अन्ये च ततो ज्ञानादिपर्याया लक्षणभेदाच्च
 तयोर्भेदः। तथाहि- ज्ञानदर्शनयोः क्षायिकः क्षायोपशमिको वा भावो लक्षणम् जीवस्य तु पारिणामिकादिर्भावो
 लक्षणम् इति केचित् = व्याख्यातारः प्रतिपन्नाः।।३८।।

10

एतन्निषेधायाह-

(मूलम्) अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्थो एणंतपक्खण्डिसेहे।
 तह वि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोअणं वोच्छं।।३९।।

के द्वारा केवलज्ञान के उत्पाद-व्यय कैसे मान सकते हैं ? इस प्रश्न को दो गाथा से प्रस्तुत करते हैं-

गाथार्थ :- जीव अनादिअनंत है, केवलज्ञान तो सादि-अनंत है। इस प्रकार स्थूल भेद के रहते 15
 हुए आत्मा केवलात्मक कैसे हो सकता है।।३७।। अत एव जीव जुदा है और ज्ञानादि पर्याय भी
 जुदे हैं। औपशमिकादि लक्षणभेद से कुछ लोग ऐसा मानते हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ :- जीव तो अनादि-अनंत है जब कि केवलज्ञान तो सादि अनंत है। इस प्रकार जब
 विरुद्ध धर्मों (अनादि-सादि) का अध्यासरूप इतना बड़ा भेद धूप-छाँव की तरह विद्यमान है तब जीव
 केवलात्मक कैसे माना जाय ? तात्पर्य यह है कि जीव की केवलरूपता ही मेल नहीं खाती तो 20
 संघयणादिरूपता से तो कैसे मेल बैठेगा।।३७।। इसी कारण से यानी विरुद्धधर्माध्यास का विघ्न होने
 से जीव ज्ञानादिपर्याय से भिन्न है और ज्ञानादिपर्याय जीव से भिन्न हैं। दोनों के लक्षण उक्त प्रकार
 से भिन्न भिन्न है इसलिये उन दोनों में भेद ही है। देखिये- ज्ञान-दर्शन का लक्षण है क्षायिक (कर्मक्षय
 से निपजा हुआ) भाव अथवा क्षायोपशमिक (क्षय एवं उपशम से मिश्र) भाव। जीव का लक्षण उन
 से भिन्न ही है वह है अनादि पारिणामिक भाव (अनादि काल से जीवत्व परिणाम बना हुआ है)। 25
 कुछ व्याख्याताओं का यह अभिप्राय है कि इस प्रकार लक्षण भिन्न भिन्न होने के कारण जीव और
 केवलज्ञान भी भिन्न है।।३८।।

[आशंकानिरसन- एकान्त से भेद या अभेद नहीं]

अवतरणिका :- कुछ वादियों ने जीव और केवलज्ञान के भेद का जो समर्थन किया है, अभेद
 पर आक्षेप किया है उस का अब सूत्रकार निषेध कर रहे हैं -

30

(व्याख्या) यद्यप्ययं पूर्वमेव द्रव्य-पर्याययोर्भेदाभेदैकान्तपक्षप्रतिषेधलक्षणोऽर्थः प्रयुक्तो = योजितः
▲‘उप्पाय-ट्टिइ-भंगा’ (प्र०काण्ड—गा०१२) इत्यादिना अनेकान्तव्यवस्थापनात्, तथापि केवलज्ञाने अनेकान्ता-
त्मकैकरूपप्रसाधकस्य हेतोः साध्येनानुगमप्रदर्शकप्रमाणविषयमुदाहरणमिदमुत्तरगाथया वक्ष्ये ॥३९॥
तदेवाह—

5 (मूलम्) जह कोइ सट्टिवरिसो तीसइवरिसो णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्वो वरिसविभागं विससेइ ॥४०॥

(व्याख्या) यथा कश्चित् पुरुषः षष्टिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्य त्रिंशद्वर्षः सन् नराधिपो जातः उभयत्र
= मनुष्ये राजनि च जातशब्दोऽयं प्रयुक्तो वर्षविभागमेवाऽस्य दर्शयति। षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य
नराधिपपर्यायोऽयं जातः अभेदाध्यासितभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य नराधिपपर्यायात्मकत्वेन चायं पुरुषः पुनर्जातो
10 भेदानुषक्ताभेदात्मकत्वात् सामान्यस्य। एकान्तभेदेऽभेदे वा तयोरभावप्रसङ्गात्रिाश्रयस्य पर्यायप्रादुर्भावस्य

गाथार्थः :- एकान्तपक्षनिषेधसूचक अर्थ तो पहले दिखा दिया है, तथापि हेतु की संघटना-दर्शक
उदाहरण हम दिखाते हैं ॥३९॥

व्याख्यार्थः :- सूत्रकार का अभिप्राय है कि — हाँलाकि द्रव्य और पर्याय के एकान्त भेद या
एकान्त अभेद पक्ष का निरसन तो पहले प्रथमकाण्ड की उप्पाय-ट्टिइ-भंगा...(गा.१२) से द्रव्यलक्षणव्याख्या
15 में कर दिया गया है; फिर भी केवलज्ञान में अनेकान्तात्मकैकरूपता साध्य के साधक उदाहरण उत्तर
गाथा में कहेंगे ॥४०॥ यही अब कहते हैं —

[अनेकान्त का उदाहरण पुरुष जो राजा बना]

गाथार्थः :- जैसे कोई साठ साल का पुरुष तीस साल से राजा बना। यहाँ (गाथा में) दोनों
जगह ‘जात’ शब्दप्रयोग वर्षविभाग सूचित करता है ॥४०॥

20 व्याख्यार्थः :- ‘जैसे कोईपुरुष समुचे आयुष से साठ साल का हुआ। तीस साल की आयु में
राजा बना।’ इस प्रकार के वाक्यप्रयोग में मनुष्यपर्याय और राजापर्याय दोनों जगह ‘जात’ (हुआ)
ऐसे शब्दप्रयोग से भिन्न भिन्न वर्षसमुदाय प्रदर्शित होता है। (फिर भी दोनों जगह एक ही पुरुष
का अभेद है।) यहाँ गहराई से सोचा जाय तो पता चलेगा कि साठ (६०) साल के सामान्य पुरुष
को ‘राजा बने ३० साल हुए’ ऐसा जब निर्देश होता है तब साठ साल के पुरुष द्रव्य से अभिन्न
25 राजपुरुष का तीस साल का पर्याय दिखा कर दर्शाया जाता है कि यह राज्यपर्याय सामान्यपुरुष
के अभेद से अध्यासित राजपुरुष में ३० साल का भेद दिखा कर राज्यपर्याय का सूचन करता है।
उस से यह भी निर्दिष्ट होता है कि ६० साल वाला वही ३० साल पहले राजा-पर्यायरूप से पुनर्जन्म
को प्राप्त करनेवाला है। यहाँ ३० साल के राज्यपर्याय से भेद का सूचन करने के साथ ६० साल
के पुरुष से पुनः अभेद स्थापित किया जाता है। मतलब, अभेदानुषक्त भेद का पर्याय के साथ निदर्शन
30 किया जाता है एवं भेदानुषक्त अभेद का पुरुष द्रव्य के साथ निर्देश किया जाता है। यदि इस तरह

▲. दव्वं पज्जवित्ठयं दव्वित्ठत्ता य पज्जवा णत्थि । उप्पाय-ट्टिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणमेयं ॥ प्रथम का०गाथा १२ ॥ सम्पूर्णा गाथा ॥

तद्विकलस्य वा सामान्यस्याऽसंभवात् संशय-विरोध-वैयधिकरण्याऽनवस्थोभयदोषादीनामनेकान्तवादे च प्रागेव निरस्तत्वात् ॥४०॥

दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाह-

(मूलम्) एवं जीवद्रव्यं अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा ।

रायसरिसो उ केवलिपज्जाओ तस्स सविसेसो ॥४१॥

5

(व्याख्या) एवमनन्तरोक्तदृष्टान्तवद् जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितभव्यजीवरूपं सामान्यं यतः, राजत्व-पर्यायसदृशः केवलित्वपर्यायः तस्य तथाभूतजीवद्रव्यस्य विशेषः। तस्मात् तेन रूपेण जीवद्रव्यसामान्यस्यापि कथंचिदुत्पत्तेः सामान्यमप्युत्पन्नं, प्राक्तनरूपस्य विगमात् सामान्यमपि तदभिन्नं कथंचिद् विगतं, पूर्वोत्तरपिण्ड-घटपर्यायपरित्यागोपादानप्रवृत्तैकमृद्द्रव्यवत्। केवलरूपतया जीवरूपतया वा अनादिनिधनत्वाद् नित्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिक्षणभाविपर्यायानुस्यूतस्य च मृद्द्रव्यस्याध्यक्षतोऽनुभूतेर्न दृष्टान्ताऽसिद्धिः, तस्मात् 10

न मान कर द्रव्य (सामान्य) का पर्याय के साथ या पर्याय का द्रव्य के साथ एकान्तभेद या एकान्त अभेद ही माना जाय तो दोनों में से एक की भी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। कारण, द्रव्यरूप आश्रय के विना निराधार पर्याय रहेगा कहाँ ? और पर्याय (विशेष) के विना अकेला सामान्य (द्रव्य) कौन से काम में आयेगा ?

इस तरह एकानेकात्मकता, अन्योन्यात्मकता या ज्ञानात्मा दर्शनात्मा में भेदाभेदात्मकता को मानना 15 यही अनेकान्त सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के ऊपर जो संशय, विरोध, व्यधिकरणता, अनवस्था, उभयपक्षीय आपत्ति आदि दोषों का आरोपण किया जाता है उन सभी का पूर्वग्रन्थ में (प्रथम काण्ड, द्वितीय खंड में अन्तिम गाथाओं के विवरण में) निरसन किया जा चुका है ॥४०॥

[राजदृष्टान्त का जीव-केवलिपर्याय में उपनय]

अवतरणिका :- दृष्टान्त राजा में अनेकान्त से द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद दिखाकर अब प्रस्तुत जीव- 20 केवलीपर्याय में उस की संगति कर दिखाते हैं -

गाथार्थ :- उक्त प्रकार से जीव द्रव्य भी सामान्यरूप से अनादि-अनन्त है। राजदृष्टान्त तुल्य यहाँ विशेषरूप से उसी का केवलीपर्याय है ॥४१॥

व्याख्यार्थ :- पूर्वोक्त राजपर्याय के दृष्टान्त की तरह, विशेष को गौण कर के सामान्य को मुख्य करने पर, यानी सामान्य से किसी भी भव्यजीव को ले कर कह सकते हैं कि जीवद्रव्य अनादि- 25 अनन्त है। अत एव उसी भव्य जीवद्रव्य में विशेष की मुख्यता कर के कह सकते हैं कि राजापर्यायतुल्य केवलित्वपर्याय उस जीवद्रव्य का विशेषरूप है, क्योंकि वहाँ भव्यजीवद्रव्य की केवलीपर्यायरूप से कथंचिद् उत्पत्ति होना मान्य है। अर्थात् सामान्य ऐसा जीवद्रव्य भी केवलिपर्याय विशेषरूप से उत्पन्न हो सकता है। उपरांत यह भी कहा जा सकता है कि सामान्यस्वरूप जीवद्रव्य का नाश हुआ, क्योंकि केवलिपर्यायविशेषरूप से जीव की नयी उत्पत्ति हुई है। उदाहरण :- एक ही मिट्टी द्रव्य पूर्वकालीन 30 पिण्ड (सामान्यस्वरूप) रूप का परित्याग कर के घट पर्याय को गृहीत करता है। इसी तरह जीवद्रव्यस्वरूप

केवलं कथंचित् सादि कथंचिदनादि कथंचित् सपर्यवसानं कथंचिदपर्यवसानं सत्त्वाद् आत्मवद् इति स्थितम् ॥४१॥

न द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिन्नमेव - इत्याह-

(मूलम्) जीवो अणाइनिहणो 'जीव' ति य णियमओ ण वत्तव्वो।

5 जं पुरिसाउयजीवो देवाउयजीवियविसिद्धो ॥४२॥

(व्याख्या) जीवोऽनादिनिधनो 'जीव' एव विशेषविकल इति नियमतो न वक्तव्यम् यतः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद् विशिष्टो। 'जीव एव' इति त्वभेदे पुरुषजीव... इत्यादिभेदो न भवेत्, केवलस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययाभिधानाऽनिबन्धनत्वाद्। निर्निमित्तस्यापि विशेषप्रत्ययाभिधानस्य संभवे सामान्यप्रत्ययाभिधानस्यापि निर्निमित्तस्यैव भावात् तन्निबन्धनसामान्याभ्युपगमोऽप्युक्तः स्यादिति सर्वाभावः। न च विशेषप्रत्ययस्य
10 बाधारहितस्यापि मिथ्यात्वम्, इतरत्रापि तत्प्रसक्तेरिति प्रतिपादनात् ॥४२॥

से अथवा केवलीस्वरूप से भी अन्योन्य अभिन्न होने के कारण अनादिअनन्तत्व स्वीकार करने योग्य है। क्षण-क्षण में नये नये पर्यायों में अनुवर्तमान मिट्टी द्रव्य की प्रत्यक्षानुभूति होती है अतः दृष्टान्त असिद्ध नहीं है। इसी दृष्टान्तसाम्य के आधार पर कह सकते हैं कि केवलज्ञान कथंचित् सादि, कथंचिद् अनादि; कथंचिद् सपर्यवसान, कथंचिद् अपर्यवसान है क्योंकि सत् है जैसे आत्मा ॥४१॥

15 [द्रव्य-पर्याय का कथंचिद् भेद मान्य]

अवतरणिका :- द्रव्य पर्यायों से एकान्त भिन्न नहीं होता यह कहते हैं -

गाथार्थ :- अनादिनिधन जीव 'जीव' ही है ऐसा नियम भाव नहीं दिखाना। यतः पुरुषायुषवाला जीव देवायुषवाले जीव से (कुछ) भिन्न होता है ॥४२॥

व्याख्यार्थ :- अनादिनिधन जीव 'जीव ही है' यानी किसी भी विशेष से रहित है ऐसा नियमभाववचन
20 बोलने के लायक नहीं है, क्योंकि पुरुषमनुष्यायुषभोगी जीव भाविदेवायुषभोगी जीव से कुछ विशेषता (भेद) रखता है।

तात्पर्य यह है कि - अविशिष्टरूप से 'यह जीव ही है' इस प्रकार भेदमुक्त भेदोच्छेदक यानी विशेषावस्था का व्यवच्छेदक अर्थ बताया जाय तो पुरुष (मनुष्य) जीव, देवजीव इत्यादि भेद यानी विशेष की संभावना ही रद्दबातल हो जायेगी। यदि कहें कि - 'देव' इत्यादि विशेषप्रतीति या शब्दव्यवहार
25 का मूल भी केवल जीवत्व सामान्य ही है - तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि कहें कि - विशेष प्रतीति या शब्दव्यवहार का 'स्वतन्त्र विशेष' जैसा कोई निमित्त ही नहीं है। (यदि है तो वह सामान्य ही है।) - तो दूसरा कोई कह सकेगा कि 'जीव' इस प्रकार सामान्यप्रतीति या शब्दव्यवहार का भी कोई 'सामान्य' निमित्त नहीं है। (जो कुछ निमित्त है वह 'विशेष' ही है।) फलतः सामान्यप्रतीति/ शब्दव्यवहार के निमित्तभूत 'सामान्य' का अंगीकार अयोग्य ठहरेगा। (इसी तरह 'विशेष' का भी अंगीकार
30 अयोग्य ठहरेगा) नतीजा यह होगा कि सामान्य-विशेष कुछ भी नहीं होने पर वस्तुमात्र का अभाव (शून्यवाद) प्रसक्त होगा। यदि सामान्यवादी कह दे कि - 'विशेषप्रतीति मिथ्या है भले ही उस का

केवलज्ञानस्य कथंचिदात्माऽव्यतिरेकाद् आत्मनो वा केवलाऽव्यतिरेकात् कथंचिदेकत्वं तयोरित्याह—
(मूलम्) संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं पाणं।

तह राग-दोस-मोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया।।४३।।

(व्याख्या) आत्मन एकत्वात् कथञ्चित् तदव्यतिरिक्तं केवलमप्येकम् केवलस्य वा ज्ञान-दर्शनरूपतया द्विरूपत्वात् तदव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपः असंख्येयप्रदेशात्मकत्वादात्मनः केवलमप्यसंख्येयम् अनन्तार्थ- 5 विषयतया केवलस्याऽनन्तत्वादात्माप्यनन्तः। एवं राग-द्वेष-मोहा अन्येऽपि जीवपर्यायाः छद्मस्थावस्था-भाविनः संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रकारा आलम्ब्यभेदात् तदात्मकत्वात् संसार्यात्माऽपि तद्वत् तथैव स्यात्। सोमिलब्राह्मणप्रश्न-प्रतिवचने चागमे एतदर्थप्रतिपादकं च सूत्रम्— ‘एगे भवं दुवे भवं’ इत्यादि अ[^] (भग०श०१८, उ.१०, सू० ६४७) इत्यादि प्रकृतार्थसंवादि सिद्धम्। रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्। यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदो यथा केवलावबोधः, तथा च रागादयः, इति स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि 10

निर्बाध अनुभव होता हो’ — तो विशेषवादी भी कहेगा कि सामान्यप्रतीति भी मिथ्या है..इत्यादि प्रतिपादन के द्वारा सामान्याभाव भी प्रसक्त होगा।।४२।।

[केवलज्ञान और आत्मा का अन्योन्य कथंचिद् अभेद]

अवतरणिका :- केवलज्ञान आत्मा से सर्वथा (यानी कथंचित्) जुदा नहीं है, अथवा आत्मा केवलज्ञान से सर्वथा (यानी कथंचित्) जुदा नहीं है, इस प्रकार उन दोनों के एकत्व को दिखा रहे हैं — 15

गाथार्थ :- केवलज्ञान संख्यात - असंख्यात - अनन्तसंख्यक भी है। तथा दूसरे भी (= ज्ञानादि से अन्य) राग-द्वेष-मोह जीवपर्याय हैं।।४३।।

व्याख्यार्थ :- केवलज्ञान एक है क्योंकि आत्मा एक है और उस से वह जुदा नहीं है। अथवा, केवलज्ञान ज्ञान-दर्शन उभयरूप होने से द्विरूप है और उस से जुदा न होने से आत्मा भी द्विरूप है। आत्मा असंख्यप्रदेशात्मक होने से, आत्माभिन्न केवल असंख्यरूप भी है। तथा आत्मा अनन्तरूप 20 भी है क्योंकि केवलज्ञान से वह जुदा नहीं है और केवलज्ञान अनन्तार्थविषयक होने से अनन्तरूप है।

आत्मा की छद्मस्थावस्था को लक्ष में रख कर कहें तो इस तरह भी आत्मा अनन्त है क्योंकि राग-द्वेष-मोह भी छद्मस्थावस्था में आत्मा के ही विकृत पर्याय ही हैं। रागादि के विषयों के संख्य-असंख्य-अनन्तभेद होने से रागादि पर्यायों के भी संख्य-असंख्य-अनन्त भेद हैं, इन विकारों से अभिन्न होने से संसारि आत्मा भी संख्य-असंख्य-अनन्त है ऐसा कहने में कुछ भी गलत नहीं है। श्री भगवतीसूत्र 25 आगम में सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नोत्तर प्रसंग में इसी (उपरोक्त) अर्थ के सूचक सूत्र हैं —

[श्री भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का भावार्थ]

सूत्र का भावार्थ यह है — “सौमिल ब्राह्मण भगवान महावीर से पूछते हैं — भंते ! आप एक हैं ? दो हैं ? अक्षय हैं ? अव्यय हैं ? अवस्थित हैं ? अनेक भूतभावभव्य हैं ? — इस के उत्तर में भगवान् कहते हैं — “हे सोमिल ! मैं एक हूँ... यावत् अनेकभूतभावभव्य भी हूँ।” सोमिल पुनः 30 हेतु पूछता है — भंते ! ऐसा क्यों कहते हैं कि ‘मैं एक हूँ...यावत् अनेकभूतभावभव्य हूँ ?’ भगवान्

सिद्धमिति यत् परेणोक्तम्— “अनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि केवलिनि सत्त्वात्, यत् सत् तत् सर्वमनेकान्तात्मकमिति प्रतिपादकस्य शासनस्याऽव्यापकत्वात् कुसमयविशासित्वं तस्याऽसिद्धम्” — () इति तत् प्रत्युक्तं दृष्टव्यम् ॥४३॥

(इति तत्त्वबोधविधायिन्यां सम्मतिटीकायां द्वितीयं काण्डम्)

- 5 उत्तर में हेतु कहते हैं — “हे सोमिल ! मैं द्रव्यार्थता (की अपेक्षा) से एक हूँ, ज्ञान-दर्शनार्थता (की अपेक्षा) से द्विविध हूँ, प्रदेशार्थता (की अपेक्षा) से मैं अक्षत भी हूँ, अव्यय भी हूँ, अवस्थित भी हूँ। उपयोगार्थता (की अपेक्षा) से मैं अनेकभूतभावभव्य भी हूँ। इस हेतु से कहता हूँ कि मैं एक हूँ.. यावत् अनेकभूतभावभव्य भी हूँ।” इन सूत्रों से, ४३गाथाप्रतिपादित अर्थ का संवाद सिद्ध होता है।
- प्रश्न :- रागादि के एक से लेकर अनन्त भेद कैसे ? उत्तर :- आत्मा के पर्याय हैं इसलिये।
- 10 व्याप्ति है कि जो भी आत्मा के पर्याय होते हैं वे एकादि-अनन्तभेदशाली होते हैं जैसे केवलावबोध। रागादि भी (छद्मस्थावस्था में) आत्मा के पर्याय हैं।

[श्री अरिहन्तों में कुसमय-विशासकत्व युक्तिसंगत]

- इस प्रकार जब अरिहंत की आत्मा भी (प्रथम काण्ड — १२ वीं गाथा में कहा है कि) स्थिति-उत्पत्ति-व्यय-त्रितयात्मक है यह सिद्ध होता है तब जो अन्य किसीने कहा है कि — “सर्वज्ञ केवलि
- 15 में कुसुमयविशासकत्व (जो सन्मतिप्रकरण प्रथम काण्ड की प्रथम गाथा में अर्थतः) कहा गया है वह असिद्ध है — क्योंकि खुद केवलि में ही अनेकान्तात्मकता नहीं है। फिर भी आपने सत्त्व हेतु को अनेकान्तव्याप्य दिखाने के लिये कह दिया है कि जो भी सत् होता है वह अनेकान्तात्मक होता है — इस प्रकार का शासन (= विधान) अरिहंत केवली में अनेकान्तात्मकता के न होने से अव्याप्तिदोषग्रस्त है — इसीलिये केवली में अथवा उस के शासन में कुसमयविशासकत्व असिद्ध है” — ऐसा जो अन्य
- 20 किसीने कहा है वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि उपरोक्त प्रकार से केवली में अनेकान्तरूपता की सिद्धि विस्तार से हमने कर के दिखा दिया है, अतः उक्त व्याप्ति भी संगत ही है, अतः कहीं भी एकान्तरूपता ठीक न पाने से सर्व-अनेकान्तरूपताप्रतिपादक जिनों का शासन, एकान्तवाद प्ररूपक कुसिद्धान्तों का विशासक (= भंजक) (प्रथमकाण्ड गाथा-१) निर्बाध सिद्ध होता है ॥४३॥

- इस प्रकार अमदावाद समीप अमीयापुर स्थित तपोवन संस्कारपीठ मध्ये श्री सिद्धसेनदेवाकर
- 25 सूरिविरचित श्री सन्मतितर्कप्रकरण-द्वितीय काण्डे श्री अभयदेवसूरिविरचित तत्त्वबोधविधायिनी टीका का आ०जयसुंदरसूरिकृत हिन्दीविवेचन पूर्ण हुआ। भद्रमस्तु श्री जिनशासनस्य।

फागुन वदि ८ वि०सं० २०६४ तपोवन

▲. श्रीभगवत्पंगे सम्पूर्णमिदं सूत्रम्— एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अब्बए भवं अवड्डिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ? सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं । से केणड्ढेण भंते ! एवं बुच्चइ जाव- भविए वि अहं ? सोमिला ! दव्वड्डयाए एगे अहं, नाण-दंसणड्डयाए दुविहे अहं, पएसड्डयाए अक्खए वि अहं, अब्बए वि अहं, अवड्डिए वि अहं, उवयोगड्डयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं । से तेणड्ढेणं जाव- भविए वि अहं ।

परिशिष्ट - १ व्याख्यानन्तर्गत उद्धृतपाठ-अकारादि

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति	उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
अगृहीतविशेषणा च विशेष्ये... ()	८०/१	अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्त... ()	२३५/६
अगृहीतान्न चाभावात्... ()	४१४/३	अवश्यं भाविनं नाशं... (व्यासेन)	२७६/६
अज्ञातस्यापि चाक्षस्य... ()	४१४/५	अवश्यंभावनियमः कः.. (प्र०वा० ३-३२) ..	३३८/६
अणन्ते केवलपाणे अणन्ते... ()	४६०/६	अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा... ()	४९/६
अत्यन्ताऽसंभविनो न... ()	३३७/२	अशरीरा जीवघणा (प्रज्ञा०२-५४-१६१)...	४६५/१
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन...		अश्वं विकल्पयतो... ()	१६७/५
(श्लो०वा०शब्दपरि० ६२)	३८८/११	इदानीं तनमस्ति त्वं न... ()	१३९/७
अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः... ()	३२७/७	इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्य...	
अनुमातुरयमपराधो... (वा.भाष्य-२-१-३८) ..	३५१/८	(न्यायद० १-१-४)	२१६/१०
अनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि... ()	५०६/३	इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नम् (न्यायद० १-१-४) ..	३१७/९
अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयो... ()	८०/७	उपमानमपि सादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे...	
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र...		(शाबर०१-१-५)	३८९/१४
(न्या० विनिश्चय०१२४)	३७३/१	उपयुक्तोपमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे... ()	४०६/१०
अन्वयेन विना तस्माद्... ()	३८९/९	उप्पाय-डिङ्-भंगा (प्र०काण्ड गा०१२-३०) ..	५०२/२
अन्वयो न च शब्दस्य...		ऋषीणामपि यद् ज्ञानं... (वाक्य०प्र०	
(श्लो०वा०शब्द०८५)	३८९/५	का०लो० ३०)	२७३/३
अप्सु गन्धो रस- (श्लो०अभा०श्लो०६) ..	३९९/११	एकयोनयश्च पाकजाः(वात्स्या०भा०४-१-५) ..	२२३/२
अभावोऽपि प्रमाणाभावः....		एकसाम्प्रयधीनत्वाद् रूपादे...	
(शा०भा०१-१-५)	३९७/९	(प्र०वा०४-२०३)	३३९/३
अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्था...		एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं...	
(श्लो०वा०अर्था०५)	३९७/१	(श्लो०वा०उप०श्लो०४६)	३९१/१०
अयमेवेति यो ह्येष भावे... ()	३३४/७	एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य...	
अर्थः सहकारी यस्य... ()	२८४/७	(प्र०वा०३-४३)	१७५/३
अर्थवत्प्रमाणम् (वात्स्या० भा० पृ०१)		एकादश जिने (तत्त्वार्थ० ९-११)	४७९/१०
२८४/७, २८९/२, ३१७/१०		एकादिव्यवहारहेतुः संख्या	
अर्थस्याऽसंनिकृष्टस्य... ()	३९७/८	(प्रशस्त० पा० भा० पृ०१११ पं०३) ..	२१८/४
अर्थस्याऽसंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि... () ..	३३०/२	एगो भवं दुवे भवं... 'जाव अणेगभूय... सोमिला !	
अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात्... () ..	४५/२	एगो वि... से केणट्टेणं... सोमिला !	
अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो... (शा०भा०१-१-५) ..	३९५/५	दब्बट्टयाए एगो अहं,...	
अर्थेन घटयेदेनां नहि... (प्र०वा०२/३०५-३०६)		(भग०श०१८, उ.१०, सू० ६४७)	५०५/८
..... १८६/५, १९८/७		एवं यत् पक्षधर्मत्वं... (कुमा०)	३७५/१

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति	उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
एष प्रत्यक्षधर्मश्च..(श्लो.वा.निरा.श्लो.११४) २७१/२		जंकयसुकयं ()	४५१/१
एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न.... ()	१७०/४	जाणइ बज्जे गुमाणाओ (वि.आ.भा.८१४) ४९०/८	
कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् (न्या.बि.१/४) . १७७/१		जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः	
कारणेन कार्यमनुमीयते (वा०भा०१-१-५) .. ३५०/८		(न्यार्याबिदु. २-८)	४३०/४
कार्यं धूमो हुतभुजः... (प्र०वा०३-३४) .. ४३७/१०		जुगवं दो णत्थि उवओगा (आव. नि.-९७९) ७६/६	
कार्यं धूमो हुतभुजः... (प्र०वा०३-३४)	३७२/५	ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेश...	
कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा...		(शाबर-भाष्य १-१-५)	३८२/४
(प्र०वा० ३-३१)	३३८/५	णीया लोवमभूया आणीया... ()	४५०/६
कार्यादीनामभावः को भावो... ()	४१८/८	ततो भवत्प्रयुक्तेऽस्मिन्...	
कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा० २-३-५) ४४७/४		(श्लो.वा.निरा.श्लो.१७२)	३५४/६
किल सामग्री करणम्... ()	५३/३	ततोऽपि विकल्पात् तदध्यवसायेन... ()	४१/४
केवल एव धर्मो.... ()	३२९/४	तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं....	
केवलणाणुवत्ता जाणंति (गाथा-१६१) ४५७/४		(न्या०सू०१-१-५)	३४०/६
केवलणाणं णं भंते ! ()	४५३/२	तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातात्... (श्लो०वा०अर्था०३) ३९६/९	
केवलि णं भंते ! इमं.... ()	४४६/८	तदा प्रवर्तने चक्षुषो.... ()	१४१/६
को हि भावधर्मं हेतुमिच्छन्...		तद्दृष्टावेव दृष्टेषु.... ()	१४९/२
(प्र.वा.३-१९१ टी.)	८३/१२	तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसा... ()	२९२/८
क्लेशेन पक्षधर्मत्वं यस्तत्रापि... (कुमारील) . ३७५/३		तल्लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम् (सां०का०-५)	३८१/७
क्षीरे दधि भवेदेवं दधि...		तस्मात् तन्मात्रसम्बद्धः स्वभावो...	
(श्लो०वा०अभाव०लो०५-६) ३९९/१०		(प्र०वा०३-२३)	३३९/११
क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति...		तस्मादननुमानत्वं शाब्दे...	
(श्लो०वा०अभाव०श्लो०२-३-४) .. ३९९/५		(श्लो०वा०शब्दपरि० ९८)	३८७/९
गम्भीरध्वानवत्त्वे सति (न्या.वा.१-१-५).... ३५१/९		तस्माद् यत् स्मर्यते तत्...	
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न...		(श्लो० वा० उप० श्लो० ३७) ... ३९०/११	
(श्लो०वा०उप०श्लो०४५)	३९१/९	तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या.... (प्र.वा.२-२२)... ९३/७	
गवये गृह्यमाणं च न...		तस्योपकारकत्वेन वर्तते...	
(श्लो०वा०उप०श्लो०४४)	३९१/८	(श्लो०वा०अभाव०श्लो०१४)	४००/५
गवयश्चोपमिताया गोः... (श्लो०वा०अर्था०४) ३९६/११		तामभावोत्थितामन्या... (श्लो०वा०अर्था०) ... ३९७/३	
चक्षुः-श्रोत्र-मनसाम... ()	२९८/६	तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् व्यतिरेकस्य....	
चक्षुषो घटेन संयोग- ()	३०१/२	(श्लो०वा०शब्द०८८)	३८९/८
चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् ()	४१५/९	त्रिरूपालिङ्गाल्लिङ्गिनि... ()	३८३/३
जं समयं च णं समणे... (कल्पसूत्र)	४४८/५	त्रिरूपालिङ्गादर्थदृग्... ()	८४/६
जं समयं पासइ नो... ()	४८५/३	दृश्यमानव्यपेक्षं चेद् दृष्टज्ञानं... ()	४०४/६

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति	उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
दृश्यात् परोक्षे सादृश्यधीः... ().....	४०४/३	नान्यथेदंतया ()	२३६/७
दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद्....(श्लो०वा०अर्था०२)	३९५/७	नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति..(प्र०वा०२-३२७)	९८/४
द्विष्टसम्बन्धसंवितिः नैकरूप... ()	९८/८	नावश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ति ()	३४९/७
धर्मयोर्भेद इष्टो हि (श्लो०अभा०श्लो०२०)	४१७/१०	नास्तिता पयसो दधि... (श्लो०वा०अभाव०श्लो०३)	३९९/६
धर्मस्याऽव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र.. ()	३२९/६	निःसामान्यानि सामान्यानि ()	३६३/२
धर्मा धर्मविशिष्टच... (श्लो०वा०शब्दपरि०५६)	३८८/१०	निराकारमेव ज्ञान... ()	१९/८
न च स्मरणतः पश्चादि....(श्लो०वा०प्रत्यक्ष० श्लो०२३५ उत्त०२३६ पूर्वा०)	१४१/२	नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् (न्या.सू.२-१-३८)	३५१/९
न च स्याद्भवहरोऽयं... (श्लो०वा० अभाव० श्लो०७)	३९८/१०	नैव दानादिचित्तात्.... ()	१६९/५
न चाऽवस्तुनः एते....(श्लो०वा० अभाव०श्लो०८)	३९९/१	नो चेद् भ्रान्तिनिमित्त (प्र०वा०३-४४)	१९८/७
न चापि लिंगतः पश्चादि.... ()	१४२/३	नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन... (प्र.वा.३-४४)	१७५/४
न चैतस्यानुमानत्वं पक्ष... (श्लो०वा० उप०श्लो०४३)	३९१/७	पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतः क्वचित् ()	१९०/८
न तावत्त्र देशेऽसौ न... (श्लो०वा० शब्द०८७)	३८९/७	पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो.... (प्र.वा.३-१)	३३४/३
न तावदिन्द्रियेणैषा... (श्लो०वा० अभाव०श्लो०१८)	३९८/४	पश्यन्नपि न पश्यति (द्र.द्वि.खंडे १७६-४) ..	१७०/९
न प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां.... (प्र०वा०२-६३)	३८७/२	पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन.... (कुमारील)	३७५/२
न विकल्पानुबद्ध्यस्य... ()	१६४/२	पीनो दिवा न भुङ्क्ते... (श्लो०वा०अर्था०५१)	३९६/१०
न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रा... ()	३३८/१	पूर्ववत् कार्यात् कारणानुमानं... (गोमाचार्य) .	३५६/५
न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य.... ()	४१/५	पृथिव्यादिगुणा रूपादयस्तदर्थाः ()	२१७/२
नदीपुरोऽप्यधोदेशे दृष्टः... (कुमारील)	३७४/१०	पृथिव्यादिग्रहणेन त्रिविधं... ()	२१७/५
ननु भावादभिन्नत्वात्.... (श्लो०वा० अभाव०श्लो० १९)	४००/९	प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र.... (श्लो०वा० शब्दपरि०६३)	३८९/१
नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये... ()	३८८/३	प्रतिपिपादयिषितविशेषो धर्मा ()	४३०/९
नाऽगृहीतविशेषणा... ()	४८४/९	प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव... (प्र०वा०२-१२३)	१६५/५, २१६/७
नाऽसिद्धे भावधर्मोऽस्ति (प्र.वा.३-१९१ उ.)	८३/११	प्रत्यक्षस्याभावविषयत्वविरोधाद् न... () ...	३८४/५
नाऽसिद्धे भावधर्मोऽस्ति (प्र०वा०३-१९१ उ.)	३४९/५	प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव... (श्लो०वा० अभाव०११)	३९८/१
नाननुकृतान्वय-व्यतिरेकं... ()	३८५/६	प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो.... (श्लो०वा०अभाव०श्लो०१७)	४००/६
नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं... ()	१८३/७	प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे.... (श्लो० वा० उप० श्लो० ३९)	३९०/१३, ४०४/१

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति	उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये....		य एव श्रेयस्करः स...	
(श्लो० वा० उप० श्लो० ३८) ...	३९०/१२	(मीमांसा दर्शन-१।१।२)	१६९/८
प्रमाण-तर्कसाधनोपा... (न्या०सू०१-२-१) ..	३४१/१	यः प्रागजनको बुद्धेरूप... ()	२३५/१२
प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्त्ररूपे....		यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्ने... (श्लो०वा०शब्द०८६) ३८९/६	
(श्लो०वा०अभाव०१)	३९८/१	यत्राप्यतिशयो दृष्टः (त.सं.का.३३८७)	२६८/४
प्रमाणमविसंवादि (प्र.वा.१-६)	३०/९, ३९/४	यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य... ()	१९०/३
प्रमाणमविसंवादि ज्ञान... (प्र०वा०१-३)	१९४/७	यत्संनिधाने यो दृष्ट... ()	२२९/३
प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो...		यथा लोकप्रसिद्धं च... (कुमारील)	३७५/४
(श्लो०वा०अर्था०१-२)	३९५/६	यदा ज्ञानं प्रमाणं... (वात्स्या.भा.१-१-३) ..	२५६/७
प्रमाणस्य प्रमाणेन... ()	६/७	यदि चाऽविद्यमानोऽपि भेदो....	
प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्रा... (श्लो०वा०अर्था०८) ३९७/२		(श्लो.वा.निरा.श्लो.१७१)	३५४/५
प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्		यद् यथैवाविसंवादि... ()	४४२/२
(न्यायद०२-१-१६)	२२६/५	यद्वाऽनुवृत्तिव्या... (श्लो०वा०अभाव०श्लो०९) ३९९/३	
प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्		यस्य ज्ञाने प्रतिभासस्तस्य... (अध्ययन)	१८२/८
(न्या०सू०१-१-६)	३९२/२	यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा... (श्लो०वा०	
प्राक् शब्दयोजनात्... ()	३२६/५	अभाव०श्लो०१३)	४००/४
प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् तदेव... ()	४०/१	यावज्जीवेत् सुखं जीवे ()	१६९/४
प्रामाण्यं व्यवहारेण (प्र०वा०१-७)	१४५/७	यावदर्था वै नामधेयशब्दाः (वा.भा.१-१-४) २२५/७	
प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं... (प्र.वा.१/७) ..	१७७/५	युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्	
बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्		(न्यायद० १-१-१६)	२६०/२, ४८४/८
(न्याय० १-१-१५)	१८/८	येऽपि सातिशया दृष्टाः... (त.सं.का.३१६०) २६८/५	
भविष्यंश्चैषोऽर्थो न... ()	१४०/५	यो ज्ञानप्रतिभासमन्वय... ()	२३४/६
भूतेभ्यः (न्यायद.१-१-१२)	२५९/४	रजतं गृह्यमाणं हि... ()	२७५/४
भ्रान्ति-संवृति-संज्ञानम... ()	२४२/१	रूपादिस्वलक्षणविषय... ()	१४/५
भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा		रूवं पुण पासइ... (आव.नि.गा.५) २९७/७, ३०१/२	
(न्या०बि०धर्मो०टीका)	८९/४, १७८/५	लिखितं साक्षिणो भुक्तिः...	
मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय... (तत्त्वार्थ०१-		(याज्ञ० स्मृ०२।२२)	४/५, ६४/६
९, १०, ११, १२)	४४२/१०	वर्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम् ()	१९३/९
मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध....		वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य (प्र०वा०१-१४)	१०१/७
(त.सू.१-१३)	३२६/४	वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामे....	
मायोपमाः सर्वे धर्माः ()	११८/७	(वाक्यप०प्र०का०श्लो० १२५)	१२०/३
मुख्य-संव्यवहारेण संवादि... ()	४४२/१	विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद्... ()	१५४/२
मेयाऽभावात् प्रमाभावनिर्णये... ()	४१४/४	विग्नाहगइमावण्णा ()	४७२/१

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्था...(सूत्रकृ.टीका) ...	१५/१
विवक्षातः कारकाणि भवन्ति... ()	५०/१
विशेषणं विशेष्यं...(प्र.वा.२-१४५) २०१/७, २३६/३	
विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये... ()	३२८/१
व्यक्त्याकृतिजातयस्तु...(न्याय सू.२-२-६५) २२४/२	
व्यावहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य... ()	१४५/८
शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः...	
(शाबरभाष्य १-१-५)	३८७/४
शब्दत्वं गमकं...(श्लो०वा०शब्दपरि०६४) ..	३८९/२
शब्दस्य वृत्तेः सर्वत्र... ()	४१४/२
शब्दादुदेति यद् ज्ञान... ()	३८७/५
शब्देनाऽव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रति... ()	२३६/९
शिरसोऽवयवा निम्ना...	
(श्लो०वा०अभाव०श्लो०४)	३९९/७
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं... ()	१७०/५
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा... (श्लो.वा.सू.२	
श्लो.१९१-१३/१४)	१७०/३
श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका ()	२६०/६
स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः (तत्त्वार्थ० २-९) ...	४८९/१
संकेतस्मरणोपायं इष्ट...(प्र.वा.२/१४६) ...	२३६/४
संकेतस्मरणोपायं दृष्टं...(प्र.वा.२-१७४)	२०२/१
संयोग्यादिषु येष्वस्ति...(प्र०वा०३-९)	३३९/५
संयोग्यादिषु येष्वस्ति...(प्र०वा०४-२०३) ..	४४०/५
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां...(प्र.वा.२, १२४)	१६५/७
सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां....	
(मीमांसाद० १-१-४)	२६३/२
सदुणद्रव्यरूपेण रूपादेरे....	
(श्लो०वा०अभाव०श्लो०२४)	४१८/१
सन्तानविषयत्वेन वस्तु... ()	४१/७
सम्बद्धं वर्तमानं च....(श्लो.वा.प्र.श्लो.८४) २७१/१	
सम्यगर्थे च संशब्दो...(श्लो.वा.सूत्र ४	
प्रत्यक्ष० श्लो.३८)	२६३/४

उद्धरणांशः	पृष्ठ/पंक्ति
सर्व एवायमनुमाना.... ()	३५४/२
सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं... () . १७०/८, १७८/४	
सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं... (न्यायबिदु १) १५६/२	
सर्वमालम्बने भ्रान्तम् ()	१८९/१०
सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं... ()	२५२/२
सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि	
(प्र०वा०२-३०८)	२५२/२, ५/३
सव्वाओ लद्धीओ.. (वि०आ०भा०१०८१) ४५७/५	
सहभाविनो गुणाः,.... ()	७७/३
सांख्यव्यवहारिकस्य प्रमाण... ()	४६/८
साकारे से पाणे... ()	४४७/८
सागारमणागारं लक्षणमेयं.... (प्रज्ञापना०	
द्वितीयपदे सू० ५४ गा०१६०)	४५७/३
सादृश्यस्य च वस्तुत्वं...(श्लो०वा०उपमान०	
श्लो० १८)	३९०/५
सामान्यतस्तु दृष्टादती.... (सां०का०६)	३६२/९
सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषा...	
(द्रष्टव्यं वैशे०द०-२।२।१७)	३२०/६
सामान्यविषयत्वं हि...	
(श्लो.वा.शब्द.५५ उ०)	३८८/९
सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं... ()	७७/५
सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः	
(वा.भा.पृ.१-पं.१२)	२३२/७
स्मृत्यनुमानागम-संशय-प्रति...	
(वा.भा.१-१-१६)	३४६/२
स्वभावेऽप्यविनाभावो भाव..(प्र०वा०३-३९) ३७२/७	
स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं.....	
(श्लो०वा०अभाव०श्लो०१२)	४००/३
स्वरूपस्य स्वतो...(प्र.वा.१-६)३१/१, ९७/२, १९७/७	
स्वरूपेणैव निर्देश्यः ()	४३१/१
हिताहितप्राप्ति-परिहारयोः ()	४५/२
हेतुना यः समग्रेण...(प्र०वा० ३-७)३५०/२, ३५६/१	
हेत्वाभासास्ततोऽपरे। (प्र० वा० ३-१)	३३६/१

परिशिष्ट-२ द्वितीयकाण्ड- चतुर्थखंडे मूलगाथा - अकारादि

गाथा-आद्यांश	गाथा/पृष्ठ	गाथा-आद्यांश	गाथा/पृष्ठ
अण्णायं पासंतो अद्धिट्ठं च	१३/४५९	णाणं अपुट्ठे अविसेए	२५/४८९
अद्धिट्ठं अण्णायं च	१२/४५८	तम्हा अण्णो जीवो अण्णे	३८/५०१
अह पुण पुव्वपयुत्तो	३९/५०१	तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ	१७/४८२
एवं जिणपण्णत्ते	३२/४९७	दंसणणाणावरणक्खए	९/४५५
एवं जीवहव्वं अणाइ	४१/५०३	दंसणपुव्वं णाणं णाण-	२२/४८८
एवं सेसिंदियदंसण	२४/४८८	दंसणमोग्गहमेत्तं घडोत्ति	२१/४८७
केई भणति जइया	४/४४६	दव्वड्डिओ वि होऊण	२/४४४
केवलणाणावरणक्खय	५/४५१	पण्णवणिज्जा भावा समत्त	१६/४८१
केवलणाणामणंतं	१४/४६०	परवत्तव्वयपक्खा	१८/४८४
केवलणाणं साई	३४/४९९	परिसुद्धं सायारं	११/४५७
चक्खु-अचक्खु-अवहि	२०/४८६	भण्णइ खीणावरणे जह	६/४५२
जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं	२३/४८८	भण्णइ जह चउणाणी	१५/४६१
जइ सव्वं सायारं जाणइ	१०/४५६	मइसुयणाणणिमित्तो	२७/४९१
जइ कोइ सट्ठिवरिसो	४०/५०२	मणपज्जवणाणंतो णाणस्स	३/४४५
जं अप्पुट्ठा भावा ओहि	२९/४९२	मणपज्जवणाणं दंसणं ति	२६/४९०
जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ	३०/४९३	संखेज्जमसंखेज्जं	४३/५०५
जं पच्चक्खग्गहणं ण	२८/४९२	संतम्मि केवले दंसणम्मि	८/४५४
जं सामण्णग्गहणं दंसण	१/२	साई अपज्जवसियं ति	३१/४९७
जीवो अणाइणिहणो केवल	३७/५०१	सम्मण्णाणे णियमेण	३३/४९८
जीवो अणाइणिहणो जीवत्ति	४२/५०४	सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो	३६/५००
जेण मणोविसयगयाण	१९/४८५	सुत्तम्मि चेव साई अपज्ज-	७/४५२
जे संघयणाईया भवत्थ	३५/४९९		

अस्त नहि, अमर बना भानु

मानव जीवन के प्रत्येक पल की अप्रमत्त रूप से सदुपयोग करके, प्रत्येक रक्तबिंदु का कस निकालकर उन्होंने साधना का अपार अमृत घूटा। उनके जीवन की प्रत्येक पहेली से, कलम के द्वारा आलेखित अक्षरों से, प्रवचन की वाणी से यह अमृत बरसकर अनेकों के जीवन को तंदुरस्त बनाता रहा। वि.सं.१९६७ के चैत्र वद-६ के दिन उद्भव पायी हुई यह पवित्र जीवन गंगा वि.सं.२०४७ के चैत्र वद १३ के दिन काल समुद्र में मिल गयी तब तक ८२ वर्ष के कालपट पर बहकर उसने अद्भुत और आह्लादक हरित सौंदर्य का सर्जन किया।

प्रभुशासन की ७७वीं पाट को उन्होंने सुयोग्य रूप से शोभायमान बनाया है। गुरुप्रेम की उज्ज्वल विरासत को उन्होंने अच्छी तरह से संभाला है। सकल संघ को उन्होंने सुयोग्य नेतृत्व दिया है। कड़वे घूँट पीटकर भी उन्होंने सभी को अमृत ही पिलाया है।

वीरशासन के गौरववंत गगन का यह देदीप्यमान भानु 'अस्त नहीं लेकिन तेजप्रभा से अमर हो गया है।' भुवनभानुसूरि ज्वर्यंत बने रहो !

“ગૌતમ-વીરજી યાદ અપાવે

ગુરુ-શિષ્યની જોડી”



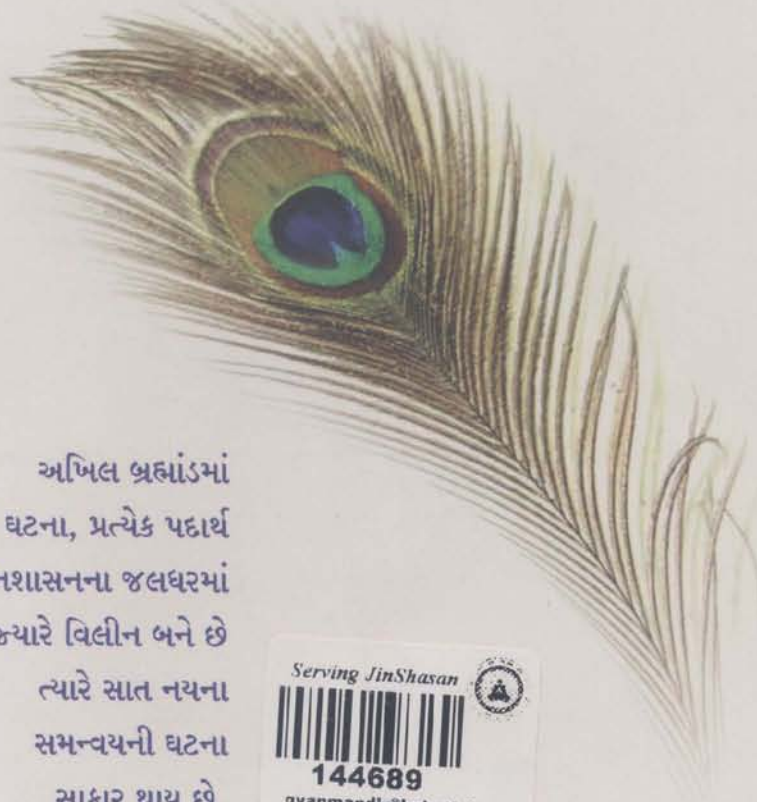
પૂ. આ. શ્રી ભુવનભાનુસૂરીશ્વરજી મ. સા.

પ. પૂ. આ. શ્રી પ્રેમસૂરીશ્વરજી મ. સા.



પ. પૂ. આ. શ્રી જયઘોષમૂરીસ્વસ્થ્ય મ. સા.

વિરાટ વાદળ ભણી
પોતાના સમગ્ર અસ્તિત્વને ઓગાળવા
દોટ મૂકતાં નાનલડાં સૂર્યકિરણના
આ અપ્રતિમ શૌર્યને
વાદલડી સાત રંગોના
નવલાં નજરાણાથી
નવાજે છે.



અખિલ બ્રહ્માંડમાં
ઘટતી પ્રત્યેક ઘટના, પ્રત્યેક પદાર્થ
જિનશાસનના જલધરમાં
જ્યારે વિલીન બને છે
ત્યારે સાત નયના
સમન્વયની ઘટના
સાકાર થાય છે.
જિનશાસનની
આ ઉજ્જવળ યશોગાથાને
વાર્ણવતું મેઘધનુષ
એટલે

સન્મતિ - તર્કપ્રકરણ



પ્રત્યેક ક્ષંડ કા મૂલ્ય - ૬૦૦/- રૂપયે
સમ્પૂર્ણ સેટ મૂલ્ય ૩૦૦૦/- રૂપયે